वीर सेवा मन्दिरका त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ४३ : कि० १ जनवरी-मार्च १९९०

इस अंक में—

प्रकाशक :

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

परिग्रही को आत्मदर्शन कहाँ ?

वे बोले—"आत्मा के निकटस्थ पुरुष—जिनको शुद्ध-सिद्धत्व और अरहन्तादि पद की लब्धि संनिकट होती है, वे निःसन्देह ही पुण्यात्मा होते है। शास्त्रो में उल्लिखित मोक्षप्राप्त महापुरुष तीर्थंकरादि भी इसमे प्रमाण है। तद्रूव मोक्षगामी महापुरुषो के वैभवशाली सुख-समृद्ध घरानों मे उत्पन्न होने के अनेकों कथानक है। आज लोक में भी तदनुरूप देखने मे आ रहा है कि अधिकांशतः पुण्योदयी और धन-वैभव संपन्न व्यक्ति ही आत्म-चर्चा के रसिक परिलक्षित होते हैं और यह बात जँचती भी है। क्योंकि अभाव-ग्रस्त जनसाधारण के वश की बात नही कि वह आत्मचर्चा कर सके। और आज के इस अर्थ-युग मे तो ऐसा सर्वथा ही दुःसाध्य है। क्योंकि जन साधारण को तो जीवनोपयोगी सामग्री जुटाने की चिन्ता ही व्याकुल बनाए रहती है। उन्हें आत्मचिन्तन के लिए समय और निश्चिन्तता ही कहां ? जो उधर मुड सकें। हां, जिन गृहस्थो को पुण्योदय से 'रोटी-कपडा और मकान' आदि की चिंता न हो—जिन्हे खाद्यरूप यथेच्छ फलादि और अन्य व्यजन उपलब्ध हो, भांति-भाति के ढेर से वस्त्र-आभूषणादि उपलब्ध हो और जो धन-वैभव के रूप मे प्रभूत बैंक-बैलेन्स और अनेक भवनो, जमीन-जायदादों के स्वामी हो, वे चाहें तो (दैनिक आवश्यकता पूर्तियो की चिन्ता से मुक्त होने के कारण) आत्मचर्चा मे लग सकते है। फलतः आज जो हो रहा है, अनुकूल ही हो रहा है—'वैभव वाले आत्मार्थी है और वैभवहीन विभव-संचय के चक्कर में।"

पर, हमारे विचार से बात कुछ और ही है। जैन दर्शन मे आत्मचर्चा और आत्मचिन्तन मे व्यक्ति के विशेष या साधारण होने या न होने को वैसी प्रमुखता नही दी गई जैसी प्रमुखता उसकी परिग्रह-हीनता, परिग्रह मे निःस्पृहता परिग्रह मे निर्लिप्तता को। **जिन-आगम में तो वीतरागता की ओर बढ़ने वालों को ही आत्म-दर्शन का अधिकार दिया गया है।** कही भी ऐसा कथन नही है कि कोई व्यक्ति अन्तरग या बाह्य परिग्रहो को जकड कर पकडे रहा हो और आत्म-दृष्टा बना हो। स्वय ससार के साधन जुटाना और स्वप्न आत्मा के देखना-दिखाना यह तो सरासर धोखा और बेईमानी ही होगी।

माना, कि तीर्थंकरादि पुण्यपुरुष विभूति-संपन्न थे। पर, जैसा इकतरफा सोचा जाता है वैसा तो नही है। अन्यों की दृष्टि मे तीर्थंकर आदि भले ही बाह्य मे वैभवशाली रहे हो, वे स्वय मे तो उस विभूति से निःस्पृही ही थे और प्रतीत भी वैसे ही होते थे। जबकि आज के अधिकाश विभूतिधारी बाह्य और अन्तरंग दोनो ही रूपो मे विभूति-प्रिय देखे और अनुभव किए जा रहे हैं। जब तीर्थंकरादि परिग्रह से दूर हटते गए तब अधिकांशत. आज के लोग परिग्रह को आत्मसात् किए आत्मा को देखने की बाते किए जा रहे है। कुछ लोगो ने तो आत्म-चर्चा को बढावा देने का बहाना बना धर्म-प्रचार के नाम पर अर्थ अर्जन कर ऊँचे-ऊँचे विस्तृत विशाल भवन तक निर्माण करा उनका आधिपत्य तक स्वीकार कर लिया हो—मठाधीश जैसे बन गए हो। उन्होने आगमो की नई-नई व्याख्याएँ रच दी हो तब भी आश्चर्य नही। भला, ये कैसा आत्म-दर्शन ? चेली-चेला बनाकर अपने 'अह' को पोषण देना तो आम बात हो गई है।

लोग कहते है कि पैसे के बिना कोई काम नहीं होता। शायद, आज तो पूजा-पाठ, पचकल्याणक प्रतिष्ठाएँ आदि भी अधिकांशत. मूर्तियो की अपेक्षा पैसो के द्वारा 'अह' पोषण की अधिक हो रही हैं—वैभव प्रदर्शन भी इसी मे अन्तर्हित है। पर, हमारा मानना है कि शुद्ध आत्मचर्चा का आनन्द और आत्मदर्शन ये दो काम ऐसे है जो वैभव की बढवारी या लीनता मे बिगडते है। ये दोनों कार्य संपन्न हो सकें इसीलिए तीर्थंकरोंवत् बारह भावनाओं का चिंतवन कर, पर से ममत्व त्याग, दिगम्बरत्व धारण करने का उपदेश दिया गया है। फलतः—जो लोग पहिले क्रमशः स्वय अन्तरग-बहिरग परिग्रहो के त्यागरूप दिगम्बरत्व की ओर बढ़े, वे ही आत्मदर्शन और आत्मोपलब्धि की बातें करे।

स्मरण रहे कि अपरिग्रह ही जैन का दूसरा नाम है। बिना स्वय अपरिग्रह की ओर बढ़े धर्म के किसी एक अग का भी पालन नही हो सकता और ना ही किसी वाचन का किसी पर असर हो सकता है। क्योकि आत्मदर्शन तो अनुपम और दुःसाध्य कार्य है। आज के साधुओं तक को भी परिग्रही-वृ । होने से आत्मदर्शन नही हो रहा—वे भी दुनियादारी मे फँसे है— सभी नहीं तो अधिकाश। फिर गृहस्थो की बात तो दूर की है। तथा परिग्रह को कसकर पकड़े लोगों को 'सम्यग्दर्शन प्राप्त करो' और 'आत्मा को देखो' जैसे उपदेश का तो तुक ही कहां ?

—सम्पादक

ओम् अर्हम्

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वर्ष ४३ किरण १

वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२
वीर-निर्वाण संवत् २५१६, वि० सं० २०४७

जनवरी-मार्च १९९०

मुनिवर-स्तुति

कबधौं मिलै मोहिं श्रीगुरु मुनिवर, करिहैं भव-दधि पारा हो ।
भोग उदास जोग जिम लीनो, छांड़ि परिग्रह भारा हो ।।
इन्द्रिय-दमन नमन मद कीनो, विषय कषाय निवारा हो ।
कंचन-कांच बराबर जिनके, निन्दक बंदक सारा हो ।
दुर्धर-तप तपि सम्यक् निज घर, मन-वच-तन कर धारा हो ।।
ग्रीषम गिरि हिम सरिता तीरें, पावस तरुतल ठारा हो ।
करुणा भीन, चीन त्रस-थावर, ईर्या पंथ समारा हो ।।
मार मार, व्रतधार शील दृढ़, मोह महाबल टारा हो ।
मास छमास उपास, बास बन, प्रासुक करत अहारा हो ।।
आरत रौद्र लेश नहिं जिनकें, धरम शुकल चित धारा हो ।
ध्यानारूढ़ गूढ़ निज आतम, शुध उपयोग विचारा हो ।।
आप तरहिं औरन को तारहिं, भवजलसिंधु अपारा हो ।
'दौलत' ऐसे जैन जतिन को, नितप्रति धोक हमारा हो ।।

प्रद्युम्नचरित में उपलब्ध राजनैतिक-सन्दर्भ

□ डॉ० (श्रीमती) विद्यावती जैन

पज्जुण्ण चरिउ (प्रद्युम्नचरित) तेरहवीं सदी के अन्तिम चरण का एक पौराणिक महाकाव्य है, जो अद्यावधि अप्रकाशित है। उसमें महाभारत के एक यशस्वी, तेजस्वी वीर-पुरुष-प्रद्युम्न के चरित का मर्मस्पर्शी वर्णन हुआ है। उसके मूल लेखक महाकवि सिद्ध हैं। कुछ दैविक विपदाओं के कारण इस रचना के कुछ अश नष्ट-भ्रष्ट हो जाने के कारण सिद्ध कवि के सम्भवतः सतीर्थ्य-महाकवि सिंह ने अपने गुरु के आदेश से उसका पुनरुद्धार, पुनर्लेखन एवं संशोधन-कार्य किया था। इस कारण वह ग्रन्थ परवर्तीकालोंमें महाकवि सिंह द्वारा विरचित मान लिया गया।

प्रस्तुत ग्रन्थ अपभ्रंश-भाषा अथवा पुरातन-हिन्दी की एक अनूठी कृति है। उसे अपभ्रंश पुरातन हिन्दी की महाकाव्य शैली में लिखित सर्वप्रथम स्वतन्त्र रचना मानी जा सकती है। भाषा, शैली एवं परवर्ती-साहित्य की अनेक प्रवृत्तियों के मूल-स्रोत तो प्रस्तुत ग्रन्थ में उपलब्ध है ही, १३वीं सदी की विभिन्न राजनैतिक, भौगोलिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एव धार्मिक परिस्थितियो की दृष्टि से भी यह ग्रन्थ अपना विशेष महत्त्व रखता है। इसमे कुल १५ सन्धियाँ एवं ३०८ कडवक है। यहाँ उक्त ग्रन्थ के सभी पक्षों पर स्थानाभाव के कारण प्रकाश डालना तो सम्भव नही, किन्तु जो प्रासगिक राजनैतिक सन्दर्भ उसमे उपलब्ध हैं, उन पर सक्षेप मे विचार किया जा रहा है।

जैसा कि महाभारत के कथानक से भी स्पष्ट है कि युग पुरुष प्रद्युम्न, जो कि "प्रद्युम्नचरित" का भी प्रधान नायक है, दुर्भाग्य से अपने जन्म-काल से ही अपहृत होकर युवा-जीवन के दीर्घकाल तक संघर्षों से जूझता हुआ इधर-उधर भटकता रहा। कवि सिद्धसिंह ने इसका बहुत ही मार्मिक वर्णन प्रस्तुत किया है। इस कारण प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रद्युम्न के सघर्षों एव युद्धों की विस्तृत चर्चा हुई है। प्रसंग-प्राप्त-अवसरों पर जिन राजनैतिक तथ्यों के उल्लेख प्राप्त होते हैं। वे निम्न प्रकार हैं—

१. शासक-भेद,

२. राज्य के प्रमुख अंग, एवं, ३. युद्ध।

१. शासक-भेद

राजा-प्रभुसत्ता में हीनाधिकता के कारण राजाओं की परिभाषा में आचार्यों ने अनेक भेद-प्रभेद किए हैं। इस दृष्टि से प्रद्युम्नचरित मे शासकों के लिए विभिन्न प्रसंगो मे चक्रवर्ती[१], अर्द्धचक्रवर्ती,[२] माण्डलिक,[३] नराधिप,[४] नरनाथ,[५] नरपति,[६] एवं नरेन्द्र[७] जैसे विशेषणो के प्रयोग किए गए है।

आदिपुराण[८] के अनुसार चक्रवर्ती उस शासक को कहते है, जो पृथिवी के छह खण्डो का अधिपति होता था और जिसके अधीनस्थ बत्तीस हजार राजा होते थे। कवि सिद्ध ने भी चक्रवर्ती की यही परिभाषा दी है[९] तथा पोदनपुर नरेश को चक्रवर्ती[१०] एव महाराज श्रीकृष्ण को अर्द्धचक्रवर्ती के नाम से अभिहित किया है। अर्द्धचक्रवर्ती को उन्होंने तीन-खण्डो का अधिपति बतलाया है।[११] कवि द्वारा प्रयुक्त नराधिप, नरपति, नरनाथ, नरेन्द्र एव राजा शब्द पर्यायवाची प्रतीत होते हैं। कवि द्वारा वर्णित शासको के निम्नकार्यों पर प्रकाश पडता है—

१. शत्रु-राजाओं को पराजित करके भी वे उन्हें क्षमा प्रदान कर देते थे।[१२]

२. विशेष परिस्थितियो में वे परनारियों का अपहरण भी कर लेते थे।[१३]

३. विजेता राजा अपने अधीनस्थ राजाओं को विजयोत्सव के समय पर आदेश भेजकर बुलाता था।[१४]

४. प्रजा-कल्याण एव राज्य की समृद्धि तथा यश के लिए उपयोगी कार्य करते थे।

२. माण्डलिक :

महाकवि जिनसेन[१५] ने उस शासक को माण्डलिक कहा है, जिसके अधीन ४०० राजा रहते थे। किन्तु आगे चलकर सम्भवतः यह परम्परा बदल गई और माण्डलिक उस शासक को कहा जाने लगा, जो किसी सम्राट या अधिपति के अधीन रहकर किसी मण्डल-विशेष अथवा एक छोटे प्रान्त के शासक के रूप में काम करता था।

कवि सिद्ध ने माण्डलिक को भृत्य कहा है।[१६] इसका

तात्पर्य यही है, कि वह किसी बड़े शासक द्वारा नियुक्त किया जाता था, जो उसके राज्य के प्रदेशविशेष का एक शासक के रूप में यथानिर्देशानुसार कार्य किया करता तथा सुनिश्चित शर्तों के अनुसार जिसे भुगतान मिलता था महाकवि सिद्ध ने अपनी आद्य-प्रशस्ति मे "भुल्लण" को बम्हणवाडपट्टन का भृत्य कहा है, जो बल्लाल-नरेश का एक माण्डलिक था प्रद्युम्नचरित में वटपुर के राजा कनकरथ को भी कवि ने माण्डलिक[१७] कहा है।

३. सामन्त

कवि ने प्रद्युम्नचरित में सामन्त[१८] शब्द का उल्लेख किया है. जो शासकों की सम्भवत: एक बहुत छोटी इकाई थी। कवि सिद्ध ने सामन्तो का जिस ढग से वर्णन किया है, उससे निम्न तथ्यो पर प्रकाश पड़ता है—

१. सामन्तगण अपने अधिपति राजा के आज्ञापालक होते थे।[१९]

२. वे अपने राजाओं के इतने पराधीन रहते थे कि मांगे जाने पर अपनी रानियो को भी उन्हें समर्पित करने को बाध्य हो जाते थे[२०] तथा,

३. मनोनुकूल कार्य करने पर अधिपति राजा विशेष अवसरों पर उन्हें वस्त्राभूषण प्रदान कर सम्मानित भी करते थे।[२१]

राज्य के अङ्ग

१. मन्त्री—मानसोल्लास[२२] मे राज्य के ७ अगों मे से अमात्य अथवा मंत्री को प्रमुख स्थान दिया गया है। महाकवि विबुध श्रीधर (१२वी सदी) ने अमात्य को स्वगपिवर्ग के नियमों को जाननेवाला,[२३] स्पष्टवक्ता,[२४] नयनीति का ज्ञाता,[२५] वाग्मी,[२६] महामति,[२७] सद्गुणों की खान,[२८] धर्मात्मा,[२९] सभी कार्यों मे दक्ष.[३०] सक्षम[३१] एवं वीर[३२] कहा है।

कविसिद्ध ने भी अमात्य के इन्ही गुणो को प्रकाशित किया है।[३३] प्रद्युम्नचरित में उल्लिखित ऐसे अमात्यो अथवा मन्त्रियों मे सुमति नामक एक मन्त्री का नाम उल्लेखनीय है।[३४]

२. सेनापति—युद्ध-प्रसंगों मे कवि सिद्ध ने सेनापति[३५] का विशेष रूप से उल्लेख किया है। क्योंकि युद्ध मे उसका विशेष महत्त्व होता है। जय अथवा विजय उसीकी कुशलता, चतुराई, दूरदर्शिता एवं मनोवैज्ञानिकता पर निर्भर करती है। इस कारण राजा किसी अनुभवी एव परम-विश्वस्त योद्धा को ही सेनापति नियुक्त करता था और सम्भवत: उसे अमात्य की श्रेणी का सम्मान दिया जाता था। युद्ध के पूर्व राजा मन्त्रियों के साथ-साथ सेनापति से सलाह लेकर ही युद्ध की घोषणा करता था। कवि ने सेनापतियों के नामों के उल्लेख नही किये, किन्तु युद्ध-प्रसगों में उसने सेनापतियों को पर्याप्त महत्त्व दिया है।[३६]

३. तलवर—राज्य मे शान्ति एवं शासन-व्यवस्था बनाए रखने के लिए तलवर के पद को महत्त्वपूर्ण बतलाया गया है। वह राजा का विश्वास-पात्र होता था। प्रद्युम्नचरित के उल्लेखों से ध्वनित होता है कि उसकी सलाह के अनुसार ही राजा किसी को दण्डित करने अथवा पुरस्कृत करने का अपना अन्तिम निर्णय करता था।[३७]

प्रद्युम्नचरित के एक प्रसग के अनुसार परदारागमन करने वाले एक व्यक्ति को पकड़कर जब तलवर उसे राजा के सम्मुख प्रस्तुत करता है, तब राजा उसे उसी क्षण शूली पर लटका देने का सीधा आदेश दे देता है[३८] आजकल के आरक्षी महानिदेशक से उक्त तलवर की तुलना की जा सकती है।

४. दूत—राज्य के हित मे शासक विदेशों से सांस्कृतिक अथवा सौजन्यपूर्ण सम्बन्ध रखने के लिए विविध प्रकार के दूतो की नियुक्ति करता था। प्राचीन-साहित्य मे वर्णित दूतो में निम्नप्रकार के गुणों का होना अनिवार्य था।[३९]

१. **व्यक्तिगत गुण**—मनोहरता, सुन्दरता, आतिथ्य-भावना, निर्भीकता, वाक्पटुता, शालीनता, तीव्र-स्मरण शक्ति एवं प्रभावशाली वक्तृत्व-शक्ति।

२. **सन्धिवार्त्ता से सम्बद्धगुण**-कुशल सूझ-बूझ, शान्ति, धैर्यवृत्ति एव प्रत्युत्पन्नमतित्व।

३. **सुविज्ञता**—विविध भाषाओं का ज्ञान, परिग्राहक राष्ट्र की प्रथाओ एव परम्पराओं से परिचय आदि।

४. **अपने शासक के प्रति मनोवृत्तियां यथा**—निष्ठा, देशभक्ति, आज्ञाकारिता आदि।

कौटिल्य-अर्थशास्त्र मे तीन प्रकार के दूत बतलाए गए है—(१) निरटष्टार्थ (२) परमितार्थ एवं (३) शासनहर।[४०]

कवि सिद्ध ने इनमें से शासनहर नामक दूत का उल्लेख किया है। इस कोटि के दूत आवश्यकता पड़ने पर शत्रुदेश के प्रमुख राजपुरुषों से येनकेन-प्रकारेण सम्बन्ध जोड़कर उनकी अन्तरंग बातों की जानकारी प्राप्त करने के प्रयत्न किया करते थे, साथ ही, वे राजा के गुप्त-संदेशों को भी यत्र-तत्र प्रेषित किया करते थे।

प्रद्युम्नचरित मे उल्लिखित दूत राजा मधु का सदेश लेकर उसके शत्रु शाकम्भरी नरेश-राजा भीम के पास इस उद्देश्य से पहुंचता है कि निरपराध सैनिको की हत्या के पूर्व ही यदि दोनों पक्षों में शान्ति-समझौता हो सके, तो उत्तम है कवि ने उसका वर्णन निम्नप्रकार किया है :—

"वह दूत राजा भीम के पास इस प्रकार पहुंचा-मानों रौद्रसमुद्र मे से मकर ही उछल पड़ा हो।[४१]"

विवाह का निमन्त्रण भी दूत के द्वारा ही भेजा जाता था। उसे कवि ने "कक्कारा"(—वर्त्तमान हल्कारा) कहा है।[४२] इसी प्रकार दुर्योधन ने भी कृष्ण के पास जिस व्यक्ति के द्वारा अपना लेख-पत्र भेजा, उसे कवि ने लेख[४३] धारी के नाम से अभिहित किया है। विशेषण कुछ भी हो, वस्तुत: वे सभी "शासनहर दूत" की कोटि के ही दूत हैं।

३. कवि का सैन्य-प्रचार एवं युद्ध-विद्या सम्बन्धी ज्ञान :

कवि सिद्ध ने प्रद्युम्नचरित में युद्ध वर्णन के प्रसंगो में विविध प्रकार की शब्दावलियों के प्रयोग किए हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि वह युद्ध-विद्या का अच्छा ज्ञाता था। उसकी शब्दावलियों में से अच्छोह,[४४] कटक,[४५] सण्णाह,[४६] कण्णिय,[४७] सडंगु[४८], खन्धावार,[४९] चतुरंगिणी सेना,[५०] एवं चमु[५१] के प्रयोग प्रमुख है। कृष्ण एवं शिशुपाल[५२]-युद्ध, राजामधु एवं भीम-युद्ध,[५३] प्रद्युम्न एवं कालसबर-युद्ध,[५४] तथा प्रद्युम्न एवं कृष्ण के युद्ध[५५] वर्णनों से भी हमारे उपर्युक्त अनुमान का समर्थन होता है।

शस्त्रास्त्र—अनादिकाल से मानव अपने अस्तित्व की सुरक्षा के लिए विविध प्रकार के संघर्षो को करता आया है सम्भवत: इसलिए नृतत्त्वशास्त्र की एक परिभाषा के अनुसार हथियारो के विधिवत् प्रयोग करने वाले को "मानव" कहा गया है। सिन्धुघाटी में जब खुदाई की गई तो उसमें विविध प्रकार के आभूषण आलेख, मुहरें एवं भवन सम्बन्धी सामग्री के साथ-साथ विविध प्रकार के हथियारों की भी उपलब्धि हुई है, इससे हथियारों की प्राचीनता पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

वैदिक-काल में धनुर्विद्या को अत्यधिक महत्व दिया गया है, इसलिए उसे धनुर्वेद की संज्ञा प्रदान की गई। उसी समय से लोहे के प्रयोग के उदाहरण भी मिलते हैं। वहां धनुष को कोदण्ड सारंग, इषु एवं कार्मुक जैसे नामों से सम्बोधित किया गया है। इतना ही नहीं, उसके 'इषु-कृत' एवं 'इषुकार' जैसे शब्द-प्रयोगों से भी पता चलता है कि उस समय धनुष-बाणों के निर्माण करने सम्बन्धी उद्योग-धन्धे भी पर्याप्त-मात्रा में प्रचलित हो गए थे।

यूनान के सुप्रसिद्ध इतिहासकार "हेरोडोटस" ने लिखा है कि ई० पू० ५वीं सदी मे फारस की सेना में भारतीयों का भी एक दल सम्मिलित था, जो धनुषवाण चलाने मे अत्यन्त कुशल माना जाता था।[५६] कौटिल्य ने बाणो के साथ अन्य अनेक हथियारो के भी उल्लेख किए है। महाभारत, जो कि युद्ध-विद्या का एक महान ऐतिहासिक ग्रन्थ-रत्न है, उसमें भिन्दिपाल, शक्ति, तोमर, नालिका जैसे अनेक हथियारों के उल्लेख मिलते हैं। शस्त्रास्त्रो की यह परम्परा परवर्त्तीकालों मे उत्तरोत्तर विकसित होती रही।

कवि सिद्ध ने सम्भवत: पूर्व-साहित्यावलोकन तो किया ही, साथ ही उसे समकालीन प्रचलित युद्ध-सामग्री की भी जानकारी थी, क्योंकि प्रद्युम्नचरित मे कवि ने प्राच्य-कालीन युद्ध-सामग्री के साथ-साथ समकालीन अनेक शस्त्रास्त्रों के उल्लेख लिए हैं। विविध बाणों, सिद्धियों एवं विद्याओं के प्रकार भी उसमें उल्लिखित हैं। इनकी वर्गीकृत सूची यहां प्रस्तुत की जा रही है।

चुभनेवाले हथियार—खुरुप[५७], कुन्त[५८], बल्लभ[५९], भाला[६०]।

काटने वाले हथियार—खड्ग[६१], रथांगचक्र[६२], चक्र[६३]।

चूर-चूरकर डालने वाले हथियार—शैल[६४], सब्बल[६५], शूल[६६], मुद्गर[६७], घन[६८]।

दूर से फेंके जाने वाले अस्त्र—मोहनास्त्र[६९] दिव्यास्त्र[७०]

आग्नेयास्त्र[71], वारुणास्त्र[72], गिरिदुअस्त्र[73], तमप्रसार[74], नागपाश[75], हृल्प्रहरणास्त्र[76], प्रहरणास्त्र[77]।

विविध प्रकार के बाण—पचाणणुवाण[78], घोरणि-वाण[79], *कणयबाण[80], शुक्लबाण[81], दिव्य-धनुष[82]*, इक्षु-कोदड[83], मुसुंढि[84]।

देवी-सिद्धियां :

विद्याएं—प्रज्ञाप्तिविद्या[85], गृहकारिणी-विद्या[86], सैन्य-कारिणी-विद्या[87], जयसारी-विद्या[88], इन्द्रजालविद्या[89], आलोचनी-विद्या[90]।

शक्तियां—तीन बुद्धिया एवं तीन शक्तियां[91] कवि ने इनके नामों के उल्लेख नहीं किए हैं।

इस प्रकार यहां प्रद्युम्नचरित के कुछ राजनैतिक सन्दर्भों को उदाहरणार्थ किया गया। कवि ने समकालीन परिस्थितियों को ध्यान मे रखकर उनका अपनी कृति मे प्रयोग किया है। उनके आधार पर तत्कालीन परिस्थितियों का विस्तृत अध्ययन किया जा सकता है।

सन्दर्भ-सूची

१. पज्जुण्णचरिउ, ४।१०।११४ २. वही, १०।१६।५
३. वही, ६।११।१ ४. वही, १४।५।५
५. वही, १४।५।११ ६. वही, १३।५।१४
७. वही, १३।५।१४ ८. आदिमपुराण, ६।१६६
९. प० च० ४।१०।१४ १०. वही, ४।१०।१४
११. वही, १०।१६।५ १२. वही, १।१२।१०
१३. वही, ६।१६।३ १४. पज्जुण्णचरिउ ६।१६।१०
१५ पज्जुण्णचरिउ, ६।१६।११ १६. आदि पुराण,
१७. पज्जुण्णचरिउ १।४।१० १८. वही, ६।११।४
१९. वही, ६।१०।४, ६।१४।५, ६।१८।१
२०. पज्जुण्णचरिउ ६।१८।१ २१. वही, ६।१८।९-१०
२२. वही, ६।१८।३-४ २३. मानतोल्लास, अनुक्रम २०
२४. वड्ढमाणचरिउ, ३।७।६ २५. वही, ३।७।१४
२६. वही, ३।८।५ २७. वही, ३।९।१२
२८. वही, ३।९।१२ २९. वही, ३।९।१३
३०. वही, ३।१२।११ ३१. वही, ३।१२।९
३२. वही, ३।१२।११ ३३. वही, ३।१२।११
३४. प० च०, ६।१२।१३ ३५. वही, ६।१६।८
३६. वही, ६।९।७, १५।२।१ ३७ वही, ६।९।७
३८. पज्जुण्णचरिउ, ७।३।२
३९. दे० राजनय के सिद्धान्त : डा० गांधी जी राय (पटना, १९७८) पृ० १८०-१८१
४०. कौटिल्य अर्थ-शास्त्र, ११।१५।१, पृ० ५९
४१. प्रद्युम्नचरित, ६।१३।११-१२ ४२. वही, १४।३।७
43. वही, 3।9।11 44. वही, 3।2।5
45. वही, 2।14।6 46. वही, 2।15।12
47. वही, 2।17।9 48. वही; 13।15।8
49. वही, 6।12।8 50. वही, 6।14।1
51. वही, 12।28। 52. वही, 2।17।20
53. वही, 6।14।1-15 54. वही, 9।17।23
55. वही, 12।25-28, 13।1।13
56. भारत के प्राचीन शस्त्रास्त्र और युद्धकला, (राष्ट्रीय शैक्षणिक अनुसन्धान एव प्रशिक्षण परिषद, 1965), पृ० ५
57. प्रद्युम्नचरित, 2।11।9
58. वही, 6।10।7 59. वही, 6।10।7
60. वही, 2।17।9 61. वही, 4।17।7, 6।10।7, 8।5।8
62. वही, 2।19।16 63. वही, 2।12।9
64. वही, 2।17।12 65. वही, 2।17।10
66. वही, 2।17।10 67. वही, 2।16।12
68. वही, 6।10।8 69. वही, 13।12।2
70. वही, 13।12।8 71. वही, 13।13।1
72. वही, 13।14।1 73. वही, 9।20।9
74. वही, 75. पज्जुण्णचरिउ, 2।20।7
76. वही, 2।7।12 77. वही, 3।12।1
78. वही, 2।15।9 79. वही, 2।18।7
80. वही, 2।10।6 81. वही' 9।20।8
82. वही, 9।20।8 83. वही, 11।3।7
84. वही, 9।13।2 85. वही, 10।17।3
86. वही, 8।5।14 17. वही, 8।5।14
88. वही, 8।14।7 89. वही, 8।14।7
90. वही, 9।17।4 91. वही, 6।8

विचारणीय :

ईसा मसीह और जैन धर्म

☐ **एम० एल० जैन, नई दिल्ली**

निकोलस नोटोविच नामक रूसी यात्री ई० सन् १८७७-७८ में भारत-तिब्बत यात्रा पर निकला मध्य एशिया, फारस, अफगानिस्तान, और पंजाब होता हुआ कश्मीर आया और वहां से लद्दाख की राजधानी लेह पहुंचा। वहां पर वह बौद्ध मठ 'हिमिस' गया जहां पर उसे पता चला कि तिब्बत की राजधानी ल्हासा में ईसा मसीह के जीवन का इतिवृत्त तिब्बती भाषा[1] मे मौजूद है और उसकी प्रतिलिपि के अंश हिमिस मठ के पुस्तकालय मे भी है। उसके अनुनय पर प्रमुख लामा ने उसे वे पढ़कर सुनाए जिनका अनुवाद उसका दुभाषिया करता जाता था और नोटोविच नोट लेता जाता था। इन्ही टिप्पणियो का अग्रेजी अनुवाद सन् १८९० मे प्रकाशित हुआ जिसका पुनर्संस्करण सन् १९८१ मे कलकत्ता के नवभारत पब्लिशर्स ने निकाला। यह है—The unknown life of jesus christ.[3]

इस विवरण को पढ़ने से पाया जाता है कि तेरह वर्ष की आयु प्राप्त करने पर जब माता-पिता ने उसको दाम्पत्य सूत्र मे बांधना चाहा तो ईसा विवाह स्थल पर न पहुचकर चोरी-छुपे चुपचाप भारत की राह पर चल पड़ा और सिन्धु नदी पार करके आर्यावर्त में प्रविष्ट हुआ। तब तक वह चौदह साल का हो चुका था।[4]

पंजाब पहुंच कर राजपूताना (राजस्थान) मे आया और यहां वह जैन मदिरो मे ज्ञानार्जन के लिए घूमता रहा। नोटोविच के अनुसार जैनधर्म बौद्ध और ब्राह्मण धर्मों के बीच की कड़ी है। इसका प्रचार-प्रसार ईसा से ७०० वर्ष पहले से चला आ रहा है। यह जैनमत अन्य मतों का खण्डन करता है और उन्हें मिथ्यात्व में भरा हुआ बतलाता है इसी कारण जैन शब्द का अर्थ है कि उसके सस्थापकों ने प्रतिद्वन्द्वी मतों पर विजय प्राप्त करली है। ऐसे जैन धर्म के अनुयायियों ने जब देखा कि ईसा एक चैतन्य नवयुवक है तो उसे अपने यहां रहने का निमंत्रण दिया परन्तु वह नही रुका और अपनी ज्ञान पिपासा को शांत करने के लिए तत्समय चर्चित जगन्नाथ (पुरी) की तरफ बढ़ चला।

जगन्नाथ में ईसाने छह वर्षों तक संस्कृत भाषा, दर्शन, आयुर्वेद, गणित आदि का अध्ययन किया परन्तु वर्ण व्यवस्था में शूद्रों की दुर्दशा देखकर उसका प्रकट विरोध करने लगा। परिणाम में ब्राह्मणो का कोप-भाजन बन गया और जान बचाकर भागा तथा नेपाल में जाकर शरण ली। नेपाल में ईसा ने बौद्ध धर्म का अध्ययन किया।[5] यह अध्ययन छह वर्षों तक चला। तब तक वह भी छब्बीस साल का हो चला था।

भारत से इस प्रकार, जैन, वैदिक व बौद्ध दर्शनों का सार अपने मानस मे संजोकर वह फारस होता हुआ तीस वर्ष की आयु मे अपने वतन यहूदीस्तान मे प्रकट हुआ। मार्ग में मूर्ति पूजा, नर बलि आदि कुरीतियों के विरुद्ध प्रचार भी करता गया।

आगे का इतिहास तो लोक विदित है। ईसा के सिद्धान्त भारत की श्रमण सस्कृति से जो इतनी समानता रखते है उसका कारण जैन व बौद्ध धर्मों का प्रभाव है यह बात नोटोविच द्वारा उद्घाटित तिब्बती ग्रथ मे अंकित इतिहास से साबित हो जाती है। अतः ईसाई धर्म को अनार्यों या म्लेच्छो का धर्म कहना बड़ी भारी भूल लगती है। ईसाई धर्म भारत का स्वदेशीय धर्म है और है भारत की श्रवण सस्कृति का परिस्थिति जन्य रूपान्तरण।

अब तो यह भी माना जाने लगा है कि शूली पर चढ़ाए जाने के बाद भी ईसा जीवित रहा और उसके मृतप्राय: शरीर को लेकर उसकी माता मरियम ने न जाने किस आशा व देवी प्रेरणा के साथ चलकर भारत में शरण ली। यहां वह पूर्ण स्वस्थ हो गया। यह उसका पुनर्जन्म ही था परन्तु वह शत्रुओं की ओर वापस न जा सका।[6]

मरी (अब पाकिस्तान) मे माता मरियम का प्राणान्त हुआ और ईसा कश्मीर में ब्रह्मलीन।

आश्चर्य यह है कि उसके इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण जीवन काल के वृत्तान्त के बारे मे धर्म ग्रन्थ बाइबल और ईसाई धर्म के अनुयायी दोनों चुप हैं और आज लगभग दो हजार वर्ष के पश्चात् भी भारत के आध्यात्मिक ऋण को स्वीकार करना पसन्द नही करते। वे तो नोटोविच को उसकी खोज के जग जाहिर करने मे भी हतोत्साहित ही करते रहे।

खोज अब इस बात की होनी चाहिए कि क्या जैन आख्यानकारों ने भी इस विषय पर आगे-पीछे कही थोड़ा बहुत वर्णन किया है। राजस्थान के इतने पुरातन मंदिर तो अब ध्वस्त हो चुके होगे जिनमे ईसा दर्शनार्थ व ज्ञानार्जन के लिए गया था परन्तु प्राचीन ग्रंथावशेषों में इस बारे मे कोई संकेत मिल पाना संभावना की सीमा के अन्तर्गत है। क्या कोई तपस्वी मनीषी इसकी खोज में समय लगाएगा? यदि उसे सफलता मिली तो धर्मों के इतिहास पर नया प्रकाश पड़ेगा।

संदर्भ-सूची :

१. C. L. Datta की पुस्तक लदाख, मुंशीराम मनोहरलाल, नई दिल्ली, १६७३ पृ० ५६ से पाया जाता है कि लदाख के सम्राट् सेन में नामग्याल (१६००-१६४५ AD) के समय मे लामा स्तेगता साग रसपा ने सन् १६४० मे इस मठ की स्थापना की थी। यह मठ तिब्बत और भूटान के अध्यात्म नेताओ के वर्चस्व को स्वीकार करता रहा है। लदाख का यह मठ वैभवशाली और राज्य संरक्षित रहा है।

२. इस बात की पुष्टि निकोलस रोरिच द्वारा १६२५ मे प्राप्त तिब्बती लेखों से होती है देखिए—(i) Fida Hassnain & Dahan leni The Fifth Gaspel Dastgir Srinagar, (1988) पृ० 79-80; (ii) Grant Francis & Roerich, Himalayas pp 148-153 (iii) Johan Forsstorm; The King of the Jews. p 176 (iv) Miguel Serrano; The Serpent of Paradise, pp 142-143 मे नाथनामावलि मे चर्चित ईशानाथ का वर्णन है।

३. निकोलस नोटोविच की इस खोज ने ईसाई जगत मे बड़ी हलचल पैदा कर दी थी। इसलिए ब्रिटिश सरकार ने इस बात की जांच करने के लिए प्रो० मेक्समूलर और आगरा के प्रो० आर्चीबाल्ड को कहा। Nineteenth Century oct 1894 और April 1896 मे उसने अपने नतीजे प्रकाशित कराए जिनका सार यह था कि निकोलस नोटोविच एक धोखेबाज आदमी है किन्तु अभेदानंद ने अपनी पुस्तक Kashmir & Tibbet (1922) p 269 मे इस बात का समर्थन किया कि हेमिस मठ में वे तिब्बती हस्तलेख मौजूद हैं जिनमें ईसा के भारत आने का वर्णन है। Fifth Gospel pp 181-186।

४. वह व्यापारियो के काफिले के साथ सिंध की ओर इस उद्देश्यसे निकला था कि बौद्ध धर्मकी शिक्षा ग्रहण करे। उपरोक्त The Fifth Gospel p. 179।

५. ब्राह्मणो और क्षत्रियों का कोप भाजन ईसा इसलिए बना कि वह वैश्यों व शूद्रो के साथ घुल-मिल गया था और उन पर किए जा रहे अत्याचारो का प्रतिरोध करने लगा था। पुरोहित कहते थे कि शूद्रों और वैश्यों को केवल मौत ही आजादी दिला सकती है किन्तु ईसा ने शूद्रों को कहा कि उठो और अपनी शक्ति को पहचानों, सारा संसार ही तुम्हारा है। एक दिन आएगा जब ब्राह्मण व क्षत्रिय शूद्र हो जाएगे। इस पर क्रुद्ध होकर ब्राह्मण एकत्र हुए और उसका वध करने के लिए हत्यारा नियुक्त किया। वह वहां बौद्ध धर्म में पारगत हो गया और वहां के शीर्षलामा ने संघाराम के निवासियों को कहा कि यह यहूदी पैगम्बर है और दुनियां इसको सुनेगी और उसके नाम की प्रशंसा करेगी। उपरोक्त Fifth Gospel, pp. 181-189.

६. ईसवी सन् ईसा के शूली पर चढ़ाए जाने के दिन से लेते हैं परन्तु ईसा शूली पर मरा नही था। अतः ईसवी सन् के बाद भी उसका जीवित रहना पाया जाता है। वह १२० साल की आयु पाकर ई० सन् १०६ में मरा ई० सन् ७८ मे तो बौद्ध परिषद् ने उसे बोधिसत्व का दर्जा दिया था। उपरोक्त Fifth Gospel अध्याय ४।

निर्विकल्पता का विचार

डॉ० सुपार्श्व कुमार जैन

निर्विकल्पता का तात्पर्य है सभी प्रकार के संकल्पों-विकल्पों से रहितता। इसमें मानव का सम्पूर्ण उपयोग स्व की ओर उन्मुख होता है, न कि आवश्यकताओ की पूर्ति हेतु आर्थिक क्रियाओं के क्रियान्वयन की ओर।

मामवीय आवश्यकताए आकाश की तरह असीम एवं सागर की तरगों की तरह अनन्त होती है। एक आवश्यकता भी पूर्ण नहीं हो पाती कि दूसरी अन्य आवश्यकतायें सामने खड़ी हो जाती हैं, जिन्हें मानव अपने अल्प जीवन-काल में सीमित साधनों द्वारा सन्तुष्ट नही कर पाता। जितनी भी आवश्यकतायें सन्तुष्ट की जाती है, उससे प्राप्त होने वाली सवेदना सुख की भांति आभासित होती है, वह वास्तविक सुख नही है।

सुख और दुःख दोनो ही ऐंद्रिय है 'ख'=इन्द्रियां, सु=सुहावना अर्थात् जो इन्द्रियों को सुहावना लगे, उस अनुभव को सुख कहते हैं। चूंकि इन्द्रियां अशाश्वत है अत: इन्द्रियो का सुहावना लगने का परिणाम या अनुभवन भी अशाश्वत है तथा इस सुख के अनुभवन मे मृगमरीचिका की तरह आकुलता भरी है जिसे व्यक्ति समझ नही पाता। 'दु' का अर्थ है बुरा या असुहावना, अत: इन्द्रियो को जो बुरा या असुहावना लगे, उस प्राप्त अनुभवन को दुःख कहते हैं। दुःख से छूटने की बात तो सभी कहते है किन्तु भ० महावीर ने सासारिक सुख से भी मुक्ति का विवेचन किया जो निस्सन्देह अद्वितीय है। वस्तुतः सांसारिक सुख पराधीन, नाशवान, दुःख पूर्ण और विपत्ति के कारण है, अतः वे आनन्ददायो कैसे हो सकते है ? यही कारण है कि भ० महावीर ने वास्तविक सुख के अनुभवों से अपरिचित प्राणियों पर दया करके उसके सच्चे मार्ग का अनुसधान कर उसकी प्राप्ति का उपाय बतलाया है।

आनन्द—आ समन्तात् नन्दीति आनन्दः अर्थात् जो परिणाम या अनुभवन व्यक्ति को सर्व ओर से समृद्धिशाली बनावे, वह आनन्द है। सर्वविधि सम्पूर्ण विकल्पो के हट जाने पर व्यक्ति को जो निर्विकल्प व अनाकुल अनुभव होता है वह आनन्द है। धर्म की तरह आर्थिक जीवन का लक्ष्य भी इसी आनन्द को प्राप्त करना होना चाहिए।

मुक्ति के प्रयास मे और भी उलझती जाती हुई कफ मे पड़ी हुई मक्खी के समान इन्द्रिय-विषयाभिलाषी मनुष्य दुःख से मुक्ति व सुख-प्राप्ति के लिए जितनी भी क्रियायें करता है, वे सब क्रियायें दुःख रूप ही होती जाती हैं। घी से शान्त न होने वाली प्रज्वलित अग्नि की भांति मनुष्य कभी भी इच्छाओं की सन्तुष्टि से तृप्त नहीं होता। जब इन्द्रिय विषयों से तृप्ति नही होती तो विकल्प उत्पन्न होते हैं, विकल्पों से आकुलता बढ़ती है और आकुलता से दु.ख होता है, अत: आवश्यकताओं को घटाना चाहिए व विषयों की ओर से परांगमुख होना चाहिए। आकुलता दु.ख की जननी है और निराकुलता सुख की। सविकल्पता आवश्यकता और आकुलता सापेक्ष होती है तो निर्विकल्पता आवश्यक्ता और आकुलता निरपेक्ष। अतः यह सच्चा सुख निर्बाध, शाश्वत और इन्द्रिय-निरपेक्ष होता है। आ० अमितगति के अनुसार इस ससार में परम सुख निस्पृहत्व (इच्छारहितपना) अवस्था है और परम दुःख सस्पृहत्व या इच्छाओ का दास हो जाना है।" इसलिए भ० महावीर ने कहा कि प्रत्येक जीव (व्यक्ति) को समस्त चिन्ताओं को छोड़कर निश्चिन्त होकर अपने मन को परमपद मे धारण करना चाहिए।

वास्तविक सुख-प्राप्ति हेतु निर्विकल्पता प्राप्त करना है; निर्विकल्पता प्राप्ति हेतु अन्तरंग परिग्रहों को घटाना है, इस हेतु वाह्य परिग्रहों को छोड़ना होगा और ऐसा करने के लिए अपनी आवश्यकताओं को क्रमशः कम करने जाना चाहिए। इस प्रकार भ० महावीर दर्शन में दो उपाय दृष्टिगोचर होते हैं—

(१) निवृत्तिमूलक उपाय इसे त्यागमार्ग या श्रमण-मार्ग भी कह सकते हैं। समस्त आवश्यकताओं एवं परिग्रहों से एक ही झटके मे मोहममत्व को छोड़कर अरण्यवास स्वीकार करते हुए निजात्म-स्वरूप में ही रमण करना निवृत्ति या श्रमण मार्ग है। यह निर्विकल्पता की प्राप्ति का साक्षात कारण या साधन है।

(२) प्रवृत्तिमूलक उपाय—इसे गृहस्थमार्ग कहते हैं। पापरूप अशुभ कार्यों को छोड़कर शुभ रूप वैधानिक व नैतिक प्रवृत्तियों को व्यावहारिक जीवन मे उतारना। जो एकदम आवश्यकताओं को नही छोड सकते, उनके लिए सहेज रूप में क्रमश: निम्न ग्यारह कार्य करना पड़ते हैं जिन्हें 'प्रतिमा' नाम से कहा गया है :—

(३) सर्वप्रथम व्यक्ति को शराब, मास शहद तथा पांच उदम्बर फलो का भक्षण, सप्तव्यसन एवं हिंसादि पाचो पापों तथा इनसे सम्बन्धित कार्यों को छोड़ देना चाहिए।

(४) बारह प्रकार के आचरण पालना चाहिए। इस प्रकार पापाचरणो से पूर्ण निवृत्ति व शुभाचरण मे प्रवृत्ति होने लगती है।

(५) अनुकूल व प्रतिकूल संयोगो मे साम्यभाव धारण करना चाहिए, इससे शारीरिक व आत्मिक ऊर्जा (शक्ति) का ह्रास न होकर केन्द्रीयकरण होता है।

(६) आठ दिनो मे एक बार उपवास रखना इससे आत्मिक शक्ति का प्रादुर्भाव होता है और राष्ट्रीय खाद्यान्न की समस्या सुलझती है।

(७) सारा जीवन उच्च विचार के सिद्धान्त पर चलकर पूर्णतः शाकाहारी होना चाहिए। अभक्ष्य शाक-सब्जियों को भी छोड़ना चाहिए।

(८) रात्रि में खाद्य, स्वाद्य, लेह्य व पेय रूप आहार का क्रमशः त्याग एव दिन मे मैथुन को छोड़ देना चाहिए। दिवा मे मैथुन भी अकालमरण का निमित्त है।

(९) रात्रि मैथुन को छोड़कर पूर्णत: ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए।

(१०) आवश्यक धन-सम्पत्ति व मकान आदि रखकर व्यापारिक कृषि सम्बन्धी कार्य अपने पुत्र को छोड़कर निश्चिन्त हो जाना।

(११) आवश्यकता के अनुरूप रखे गये धन-सम्पत्ति से भी अपना स्वामित्व हटा लेना।

(१२) रिश्तेदारों की तो बात ही क्या उमे अपने घरेलू व्यापार विवाह आदि मे सम्बन्धित अनुमति देना छोड़ते हुए एकान्तवास करना चाहिए, तथा

(१३) सम्पूर्ण वस्त्रादिक का परिग्रह भी छोड़कर अरण्यवास करना चाहिए और अधिकांश समय स्वोपयोग को आत्मोन्मुखी बनाकर निर्विकल्पता को प्राप्त करना चाहिए। भ० महावीर का कहना है—जो समस्त विकल्पो से रहित परम अवस्था को प्राप्त होते हैं वे ही सच्चे सुख का अनुभव करते हैं।

इस प्रकार भ० महावीर द्वारा आध्यात्मिक दृष्टि से प्रतिपादित निर्विकल्पता या आवश्यकताहीनता का विचार आर्थिक जगत में अनेको समस्याओं का समाधान करता है क्योंकि निस्पृहत्व भाव से सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक आदि समस्याओ का स्वतः निराकरण हो जाता है और स्वहित के साथ-साथ परहित मे वृद्धि होती है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप पुरुषार्थ-चतुष्टय से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि व्यक्ति का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति होनी चाहिए, न कि अर्थ या काम की प्राप्ति। अर्थ व काम की प्राप्ति यदि धर्ममूलक है तो सुखदायी होते है अन्यथा नही। इस वास्तविक तथ्य को जानकर प्रतीति कर जब तक गृहस्थावस्था मे है तब तक न्याय व नीति धर्मपूर्वक कार्य सम्पादित करना चाहिए, अनन्तर उपर्युक्त रीति से आवश्यकताओं व परिग्रह को हटाते हुए निर्विकल्प अवस्था की प्राप्ति हेतु अग्रसर होना चाहिए। भ० महावीर ने स्वय इस मार्ग का अनुसरण किया और परमपद को पाया।

पं० नाथूराम प्रेमी का साहित्यिक अवदान

□ श्री मुन्नालाल जैन, दमोह

बहुमुखी प्रतिभासम्पन्न पं० नाथूराम "प्रेमी" का हिन्दी साहित्य तथा प्राचीन वाङ्मय के सम्वर्धन मे महत्त्वपूर्ण योगदान है। उनका जन्म अगहन सुदी ६ वि० सम्वत् १९३९ में सागर जिलान्तर्गत देवरी नगर मे हुआ था। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा देवरी में हुई थी। बाद मे अध्ययन हेतु नागपुर भी रहे।

उनके कर्मक्षेत्र की शुरुआत देवरी के स्कूल में अध्यापक के रूप में हुई। देवरी के प्रसिद्ध साहित्यकार सैयद अमीर अली "मीर" से प्रभावित होकर उन्होने शृंगार रस से परिपूर्ण कविताएं लिखना प्रारम्भ किया। और 'प्रेमी' उपनाम से प्रसिद्ध हो गए।

इसी बीच बम्बई-प्रांतिक-दिगम्बर-जैन-सभा, बम्बई में लिपिक के रूप में सेवारत हुए। वही से (प्रेमी) जी के व्यक्तित्व का बहुमुखी विकास प्रारम्भ हुआ। उन्होंने बम्बई मे ही संस्कृत, प्राकृत, अंग्रेजो, गुजराती, मराठी, बंगला, और हिन्दी आदि अनेक भाषाओ का उच्चकोटिक ज्ञान प्राप्त करके अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो तथा लेखों के सम्पादन और अनुवाद किये, तथा अनेक स्वतन्त्र लेख लिखे। वे अपने युग के सर्वाधिक प्रतिष्ठित और समीक्षा प्रधान पत्रों "जैनमित्र" एवं "जैन-हितैषी" का सम्पादन भी करते रहे। "प्रेमी" जी ने "जैन-ग्रन्थ रत्नाकर-कार्यालय नाम से हीराबाग, गिरगांव, बम्बई मे एक प्रकाशन सस्था की स्थापना की तथा उनके माध्यम से अनेक प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण पुस्तकों का प्रकाशन किया। उन्होने इस सस्थान से अनेक उच्चकोटि की पुस्तकों का प्रकाशन कर हिन्दी साहित्य के प्रसार-प्रचार और सम्वर्धन मे उल्लेखनीय योगदान दिया। "माणिकचन्द्र-जैन-ग्रन्थमाला" बम्बई के माध्यम से भी संस्कृत और हिन्दी के प्राचीन लुप्तप्राय वाङ्मय को प्रकाशित कराने में भी "प्रेमी" जी का विशेष योगदान रहा।

"प्रेमी" जी ने समाज-सुधार जैसे आन्दोलनों मे भी बड़े चाव से भाग लिया और इनमे महत्त्वपूर्ण सफलता भी प्राप्त की। विधवा-विवाह आन्दोलन मे "प्रेमी" जी ने समय-समय पर हिस्सा लेकर और अपने भाई का एक विधवा के साथ विवाह करके अपने हृदयगत विचारों को जीवन्त उदाहरण के रूप मे समाज के सामने प्रस्तुत किया।

"प्रेमी" जी महात्मा गांधी, सैयद अमीर अली "मीर", गोपालदास जी बरैया माणिकचन्द्र जी जैन, पं० पन्नालाल जी बाकलीवाल, काशीनाथ रघुनाथ "मित्र" आदि व्यक्तित्वों से प्रभावित रहे और उनके साथ उनका सम्पर्क रहा।

"प्रेमी" जी के समकालीन साहित्यकारों ने सर्व श्री डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, प्रेमचन्द्र, जयशकर प्रसाद, प० बनारसीदास चतुर्वेदी, मैथिलीशरण गुप्त, उदयशकर भट्ट, जैनेन्द्र कुमार जैन, चतुरसेन शास्त्री, सुदर्शन जी, डा० बलदेव उपाध्याय, प्रो० मूलराज जैन, पदुमलाल पुन्नालाल बक्शी, आदि थे।

"प्रेमी" जी ने पुराने महान् साहित्यकारो को प्रकाश मे लाने का महत्त्वपूर्ण कार्य तो किया ही है साथ ही नवीन उदित हो रहे तत्कालीन साहित्यकारों की प्रारम्भिक रचनाओ को संशोधित करके शुद्ध रूप में प्रकाशित कर उनकी साहित्यिक प्रतिभा को उजागर किया। आपने प्रकाशन का क्रम डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी की 'स्वाधीनता' नामक रचना से श्रीगणेश किया था। "प्रेमी" जी के "हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय' से हिन्दी के अधिकांश लेखको की प्रारम्भिक रचनाएं निकलीं। प्रेमचन्द्र जी की सबसे प्रारम्भिक रचनाएं "नवनिधि' और सप्तसरोज" करीब-करीब एक साथ ही निकली थी। "प्रेमी" जी ने सर्व श्री जैनेन्द्र कुमार जैन, चतुरसेन शास्त्री, सुदर्शन जी,

डा० रामकुमार वर्मा, शांतिप्रिय द्विवेदी, गुलाब राय, सियारामशरण गुप्त रामचन्द्र वर्मा आदि की रचनाओं को प्रकाशित कर इन्हें जनप्रिय बनाकर हिन्दी साहित्य के भण्डार में अभूतपूर्व सी वृद्धि की है।

श्री "प्रेमी" जी द्वारा प्रणीत मौलिक-ग्रन्थ

(१) अर्द्धकथानक,
(२) जैन साहित्य और इतिहास,
(३) जैनधर्म और वर्णव्यवस्था,
(४) तारणबन्धु,
(५) दिगम्बर जैन ग्रन्थकर्त्ता और उनके ग्रन्थ,
(६) भट्टारक मीमासा,
(८) विद्वद्रत्नमाला,
(८) हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास,

अनूदित-ग्रन्थ :

(१) कर्नाटक जैन कवि,
(२) धूर्ताख्यान,
(३) नाटक समयसार,
(४) पुण्यास्रव कथाकोष,
(५) पुरुषार्थ सिद्धयुपाय,
(६) प्रतिमा (उपन्यास)
(७) प्रद्युम्न चरित,
(८) मोक्षमाला,
(९) रवीन्द्र कथाकुन्ज,
(१०) शिक्षा,
(११) सज्जनचित्त वल्लभ, ।

सम्पादित-ग्रन्थ :

(१) जिनशतक,
(२) दौलत-पद-संग्रह,
(३) बनारसी विलास,
(४) ब्रह्म विलास ।

ग्रन्थों की भूमिकाएं :

(१) आराधना,
(२) नीतिवाक्यामृत ।

सम्पादित-पत्रिकाएं :

(१) जैनमित्र,
(२) जैन-हितैषी, ।

स्फुट-महत्त्वपूर्ण-आलेख :

(१) तीर्थों के झगड़ों पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार,
(२) दक्षिण के तीर्थक्षेत्र,
(३) हमारे तीर्थक्षेत्र ।

श्री "प्रेमी" जी ने, अनेक संस्थाओं के संचालन में भी योगदान दिया है।

इस प्रकार पं० नाथूराम जी "प्रेमी" के दिव्य कृतित्व पर समग्रस्थ से विचार करने पर स्पष्ट होता है कि उनका भारतीय साहित्य, विशेषतः हिन्दी साहित्य के सम्बर्धन में महत्त्वपूर्ण अवदान है। ऐसे विराट् व्यक्तित्व के धनी श्री "प्रेमी" जी के विषय मे अभी तक किसी भी प्रकार से व्यवस्थित शोध-खोज का कार्य नहीं हुआ है। इसीलिए मैंने संकल्प किया है कि—ऐसे महारथी-हिन्दी-सेवी-साहित्यसृष्टा और साहित्यकार-प्रोत्साहनकर्त्ता "पं० नाथूराम "प्रेमी" का साहित्यि अवदान" विषय पर अपनी पी-एच० डी० उपाधि के शोध-प्रबन्ध के माध्यम से उनकी साहित्य सेवा के सार्वभौम उदात स्वस्थ को साहित्य जगत में उजागर करूं।

विश्वास है आप सभी सुधीजनों के कृपापूर्ण मार्गदर्शन और सक्रिय सहयोग से मैं अपनी इष्टपूत्ति मे सफल होऊंगा।

शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय
दमोह (म० प्र०)

(वर्ष ४२ कि० १ से आगे)

महाराष्ट्र में जैनधर्म

☐ डॉ० भागचन्द्र भास्कर, नागपुर

महाकवि स्वयंभू ने अपने ग्रन्थो की रचना उसी के आश्रय मे रहकर की। पुन्नागवंशी जिनसेन ने भी ७८३ मे रचे अपने हरिवंश पुराण के अन्त मे ध्रुव का उल्लेख किया है। वीरसेनाचार्य के ग्रन्थ भी इसी शासनकाल की देन है। ध्रुव के पुत्र जगत्तुंग के शासनकाल मे उनकी साहित्यिक गतिविधियाँ चलती रही है। बाद मे जगत्तुंग ने मान्यखेट (मलखेड, मैसूर) को अपनी राजधानी बनाया जो अकलंक स्वामी विद्यानन्द, अनन्तकीर्ति, जिनसेन, गुणभद्र, महावीराचार्य, अनन्तवीर्य आदि अनेक जैनाचार्यों का कार्यक्षेत्र रहा है। राष्ट्रकूटों की राजधानी यद्यपि मान्यखेट रही है पर उनके अधिकार क्षेत्र मे महाराष्ट्र का भाग भी आता है। मलखेड़ बलात्कारगण का मुख्य केन्द्र था। इसी की दो शाखायें महाराष्ट्र मे स्थापित हुई—कारंजा और लातूर।

बलात्कारगण के प्रधान आचार्यों मे कुन्दकुन्द, उमास्वामी जटासिंहनंदि, माघनंदि, जिनचन्द, प्रभाचन्द, अकलंक, माणिक्यनन्दि आदि आचार्यों का उल्लेख आता है। कारंजा शाखा का प्रथम उल्लेखनीय आचार्य अमरकीर्ति हैं। उनकी शिष्य परम्परा मे विशालकीर्ति, विद्यानन्द, देवेन्द्रकीर्ति, धर्मचन्द्र, धर्मभूषण आदि आचार्य हुए हैं। ये सभी १४–१५वी शती के आचार्य हैं। लातूर शाखा का प्रारम्भ अजितकीर्ति से हुआ जिनके गुरु कारंजा शाखा के भ० कुमुदचन्द्र थे। इन्होने शक स० १५७३ में एक जिनमूर्ति की स्थापना की थी।

औरंगाबाद के समीप देवगिरि की स्थापना जैनाचार्य हेमाद्रि के अनुसार यादव नरेश भिलम्मा प्रथम ने ११८७ ई० में की और उसे अपनी राजधानी बनाया। मुहम्मद तुगलग ने उसे दौलताबाद नाम दिया। यहीं पास ही उसमानाबाद के नजदीक नदी के किनारे धारसिव नाम की सात गुफाये हैं जिनमे चार गुफाये जैनो की है। इनका समय कला की दृष्टि से लगभग सप्तम शताब्दी निर्धारित किया गया है। सिंहन यादव काल मे जैनाचार्य पार्श्वदेव ने समयसार नामक संगीत ग्रन्थ लिखा। यहाँ के कूचिराज ने लक्ष्मी जिनालय का निर्माण कराया चैत्यवंदन मे देवगिरि सुरगिरि के नाम से उल्लिखित है। परभणी भी यादवकालीन केन्द्र रहा है।

नासिक और उसके आसपास का भाग भी जैन सांस्कृतिक केन्द्र के रूप मे विख्यात है। क्षहरातवंशी महाराज नहपान कुषाणों सूबेदार था जो बाद मे उज्जैन और सौराष्ट्र का अधिपति बना तथा गौतमीपुत्र सातकर्णी पैठन का सातवाहन नरेश था। ६५ ई० के आसपास गौतमीपुत्र सातकर्णी ने नहपान को युद्ध में पराजित किया। नहपान के राज्य मे नानगोल (ठाणा जिला नारगोल) गोवर्धन (नासिक का समीपवर्ती पर्वत) त्रिरश्मि (नासिक) जुन्नार आदि भाग सम्मिलित रहे है। नहपान के दामाद ऋषभदत्त (द्वितीय शतक का प्रथम भाग) द्वारा लिखित एक अभिलेख नासिक मे प्राप्त हुआ है जिसमे उसे नहपान का भट्टारक कहकर ससम्मान उल्लेख किया गया है। इस लेख मे जैन वैदिक आदि सभी धार्मिक तीर्थों को दान दिये जाने की बात अंकित है। नहपान के लिए भट्टारक जैसे शब्दों का प्रयोग उसके जैन होने का संकेत करते हैं। विबुध श्रीधर के श्रुतावतार के अनुसार नहपान ने जैन दीक्षा ली और भूतबलि के नाम से विख्यात हुए। राजश्रेष्ठि सुबुद्धि भी उसी के साथ दीक्षित हुए जो पुष्पदंत के नाम से विश्रुत हुए। ये दोनों आचार्य धरसेनाचार्य के शिष्य बने और उन्होंने षट्खण्डागम की रचना की।

ई० पू० प्रथम शती मे आन्ध्र सातवाहन वंश का उदय हुआ। प्रतिष्ठानपुर (पैठन) उनकी राजधानी बनी।

इस वंश के अधिकांश नरेश ब्राह्मण धर्मानुयायी थे पर उनमें हाल (शिमुक) की सम्भावना जैन होने की अधिक है। उनके गाहा सत्तसई ग्रन्थ पर जैनधर्म का प्रभाव स्पष्ट झलकता है इससे प्राकृत की लोकप्रियता का भी पता चलता है। जैनाचार्य शर्ववर्म द्वारा कातंत्र व्याकरण तथा काणभूति की प्राकृत कथा के आधार पर गुणरूप की बृहत्कथा भी इसी के राज्यकाल में लिखी गई। हाल के ५२ योद्धाओ मे से अधिकांश ने पैठन मे जैन मन्दिरो का निर्माण कराया। कहा जाता है कालकाचार्य ने पैठन की यात्रा की थी और वहाँ पर्यूषण पर्व मनाया था।

नासिक के पास वजीरखेड़ मे दो ताम्रपत्र उल्लेखनीय हैं। सन् ६१५ मे राष्ट्रकूट सम्राट इन्द्रराज ने अपने राज्याभिषेक के अवसर पर जैनाचार्य वर्धमान को अमोघ वसति और उरिअम्म वसति नामक जिन मन्दिरो की देखभाल के लिए कुछ गाँव दान मे दिये थे। अमोधवसति से यह अनुमान लगाना कठिन नही है कि यह मन्दिर इन्द्रराज के प्रपितामह अमोघवर्ष की प्रेरणा से बनाया गया होगा।

यादववशीय राजा सेउणचन्द्र का एक लेख सन् ११४२ का नासिक के पास अजमेरी गुहामन्दिर मे प्राप्त हुआ है जिसमे चन्द्रप्रभु मन्दिर मे प्रदत्त दान का वर्णन है। धूलिया के समीप मुलतानपुर मे सन् ११५४ के आस-पास का लेख मिला है उसमे पुन्नाट गुरुकुल के आचार्य विजयकीर्ति का नाम अंकित है।

नासिक के समीप ही लगभग ६०० फीट ऊँची अकाई तकाई नामक पहाड़ी है। वस्तुत. ये एक साथ जुड़ी हुई दो पहाड़ियां है। यहां सात जैन गुफाये है, बड़ी अलकृत है। पहली गुफा दो मंजली है। दूसरी गुफा भी लगभग ऐसी ही है, पर इसमे एक बन्द बरामदा है जिसमे इन्द्र और अम्बिका की मूर्तियां रखी हुई है। मन्दिर मे एक जिन मूर्ति भी है। शेष दोनों गुफायें भी लगभग ऐसी ही हैं। तीसरी गुफा के पीछे के भाग में पार्श्वनाथ और शांतिनाथ की प्रतिमाये उकेरी हुई मिलती है कायोत्सर्ग मुद्रा में। चौथी गुफा का तोरणद्वार अत्यन्त कलात्मक है। ये गुफायें शाहजहाँ के सेनापति खानखानाकी सेना द्वारा तोड़ दी गयी थी इसलिए कलात्मकता छिन्न-भिन्न हो गई है।

नासिक के ही उत्तर-पश्चिम में चामरलेण नाम की छोटी-सी पहाड़ी है जिस पर जैन गुफायें उपलब्ध हुई हैं। इनका समय लगभग सातवी शताब्दी है। एक गुफा मे पार्श्वनाथ की बृहत्काय आवक्ष प्रतिमा उल्लेखनीय है। ये गुफायें उसमानाबाद के पास है।

पूना के उत्तर-पश्चिम में लगभग पच्चीस मील दूर एक वामचन्द्र स्थान है जहाँ जैन गुफा है। आज उसे शैव मन्दिर के रूप परिवर्तित कर दिया गया है।

वार्सी से लगभग २२ मील दूर प्राचीन जैन तीर्थक्षेत्र कुंथलगिरि एक सिद्धक्षेत्र है जहाँ से कुलभूषण और दिश-भूषण नामक मुनि मुक्त हुए। वशस्थ लवणणियरे पच्छिम भायभिकुण्थुगिरि सिहरे, कुलदिसभूषण मुणी णिव्वाणभया-णमो तेसि······निर्वाणकाण्ड। इस पहाड़ी पर आदिनाथ की मूलनायक विशाल प्रतिमा है। इसका समय लगभग १२-१३वीं शती निश्चित किया जा सकता है।

अर्धपुर (नादेड जिला) के प्राचीन जैन मन्दिर भी प्रसिद्ध रहे है लगभग इसी समय के। पर अब इनके मात्र अवशेष शेष है। इसी जिले मे एक कटहार नामक स्थान है जहाँ सोमदेव का बनाया हुआ अति प्राचीन दुर्ग है। मालखेड़ के राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण तृतीय ने इस दुर्ग का विस्तार करवाया था और कन्दहार की उपाधि ग्रहण की थी। इस दुर्ग मे एक भव्य जिनालय है जिसे सोमदेव या कृष्ण तृतीय ने बनवाया होगा। जैन स्तोत्र तीर्थमाला चैत्यवदन में जिस कुतीविहार का उल्लेख आया है शायद वह वही कदहार होगा। कुछ लोग इस नासिक के समीप गोदावरी तट पर भी अवस्थित बताते हैं जहाँ पाण्डुलेण आदि गुफायें हैं। नांदेड मे चालुक्य नरेशों की एक शाखा राज्य करती थी। बाद मे यही वारंगल के काकातीय राजवंश का भी शासन रहा। इसी समय का यहां एक जैन मन्दिर है।

वर्तमान कराड प्राचीन काल का करहाटक होना चाहिए जो कृष्णा और ककुदमती के संगम पर बसा हुआ है। यहा कदम्ब वश का शासन रहा है जो सातवाहनों का सामत था और बाद मे स्वतत्र शासक के रूप मे स्थापित हुआ था। करहाटक उन्हीं की राजधानी रही है। इस समूचे वश के शासक यद्यपि सर्वधर्म समभावी रहेहैं

पर अभिलेखों आदि के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जैन धर्म के प्रति उनका विशेष झुकाव था। इन शासकों में मृगेशवर्मन (४५०-७८ ई०) का नाम विशेष उल्लेखनीय है उसके अनेक ताम्रपत्र और अभिलेख उपलब्ध होते हैं जिससे उसका जैनधर्म के प्रति झुकाव सिद्ध होता है। एक ताम्रपत्र में जैनधर्म के तीन समुदायो के लिए दान देने का उल्लेख आया है—१. तेतीस निवर्तन जमीन मातृसरित से लेकर इगिनी संगम तक कूर्चक संप्र- को दी, २. कालवेगा गाँव का एक भाग श्वेत पट अर्थात् श्वेतांबर संप्रदाय को दी, ३. और उसी का दूसरा भाग दिगम्बर सम्प्रदाय को प्रदान किया। हालमणि अभिलेख भी इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है। साधारण तौर पर यह माना जाता है कि श्वेतांबर सम्प्रदाय का अस्तित्व दक्षिण में नही था पर इस अभिलेख से इस भ्रम का खंडन हो जाता है। इतना ही नही बल्कि यह भी कहा जा सकता है कि श्वेतांबर सम्प्रदाय दक्षिण मे लोकप्रियहोने लगा था अन्यथा मृगेश वर्मा उसकी ओर आकर्षित नही होता। इसी तरह के कुछ अन्य अभिलेखों और साहित्यिक प्रमाण मिलते हैं जिनसे दक्षिण भारत में श्वेतांबर सम्प्रदाय का अस्तित्व भलीभांति सिद्ध होता है। जैसा हम जानते हैं यापनीय सम्प्रदाय का सस्थापक श्रीकलश स्वय श्वेतांबर सम्प्रदाय का पोषक था और दक्षिणवासी था इससे इस समय को और भी पीछे लाया जा सकता है। वलभि-वाचना के बाद जैनधर्म गुजरात से दक्षिण की ओर गया होगा और वैसी स्थिति मे श्वेतांबर सम्प्रदाय का वहां अस्तित्व होना असगत नही हो सकता।

दक्षिण का कदब वंश आंध्र सातवाहनों का सामंत था और उसने वनवास देश मे दूसरी शती के मध्य करहाटक (वर्तमान करहद) को राजधानी बनाकर शासन की स्थापना की। इस वश के द्वितीय राजा शिवस्कध ने अपने भाई शिवायन के साथ आचार्य समन्तभद्र से जैन दीक्षा ली। मयूरवर्मन ने हल्सी (पलासिका) को उपराजधानी बनाकर शासन किया और जैनधर्म को संरक्षण प्रदान किया। हल्सी से प्राप्त एक अभिलेख में भानुवर्मा और उसके अधीनस्थ कर्मचारी पडक "भोजक" के दान का उल्लेख है यह दान भानुवर्मा के बड़े भाई रविवर्मा के राज्य के ग्यारहवें वर्ष में प्रत्येक पूर्णिमा के दिन जिन भगवान की पूजा के दिन दिया गया था यह भूमि पलासिका ग्राम के कर्दमपटी की थी। (Epigraphica Indica Vol. 6 Page 27-29) हरिवर्मा एक लेख में कूर्चक सम्प्रदाय को दान देने का उल्लेख है और उसी में वारिषेणाचार्य संघ का भी उल्लेख है जिसके प्रधान चंद्रक्षोत मुनि थे (वही, पृ० ३०-३१) हरिवर्मा के ही एक अन्य लेख में चैत्यालय के लिए ग्रामदान का उल्लेख है। यह चैत्यालय अहरिष्टी नाम के श्रमण संघ की सम्पत्ति के रूप में मान्य था। (वही, पृ० ३०-३१) हरिवर्मन के पूर्ववर्ती राजा काकुत्स्यवर्मन, शांतिवर्मन और रविवर्मन भी जैनधर्म के अनुयायी थे जिनके राज्य मे जैनाचार्य श्रुतकीर्ति, दामकीर्ति, कुमारदत्त, हरिदत्त आदि जैसे विद्वान अभिभावक थे। यहा यह उल्लेखनीय है कि पलासिका (हल्सी) सौराष्ट्र की पलासनी और पश्चिमी बंगाल की पलासी नगरी से कोई भिन्न नगरी होनी चाहिए। जो महाराष्ट्र और कर्नाटक की सीमा पर स्थित रही होगी।

सांगली क्षेत्र के अन्तर्गत तेरडाल ११-१२वी शती मे जैनधर्म का प्रभावक केन्द्र रहा है। समीपवर्ती क्षेत्र बेलगाँव पर रट्ट शासको का आधिपत्य था। ये शासक राष्ट्रकूटों के सामंत थे। ८७५ ई० मे अमोघवर्ष के सामत मेरद्रि के पुत्र पृथ्वीराम रट्ट ने सौदत्ती में जिन मन्दिर का निर्माण कराया था। और उसके संचालन के लिए दान भी दिया था। तेरदल में प्राप्त एक शिलालेख से पता चलता है कि यहां का मांडलिक गोक (११८७ A.D.) जैनाचार्य द्वारा सर्पदंश से मुक्त किया गया था और फलतः उसने नेमिनाथ का मन्दिर बनवाया और उसके संचालनार्थ दान दिया। कार्तवीर्य रट्ट शासक द्वितीय के काल में (११२३-२४ A. D.)। इस शुभावसर पर माघनन्दि सैद्धान्तिक को विशेष रूप से आमन्त्रित किया गया था। वे कोल्हापुर के रूपनारायण वसदि के मण्डलाचार्य थे। इसी वंश का कार्तवीर्य चतुर्थ शिलाहार नरेश के राज्य में स्थित एकसाम्बी के नेमीश्वर जिनालय के दर्शनार्थ गया जिसे यापनीय आचार्य विजयकीर्ति के संरक्षकत्व में शिलाहार सेनापति कालन ने अपने गुरू कुमारकीर्ति त्रैविद्य के उपदेश से बनवाया था। कार्तवीर्य चतुर्थ के मंत्री एवं सेनापति बूचिराज और मल्लिकार्जुन भी जैन धर्मावलम्बी

थे। बूचिराज ने बेलगांव में रट्ट जिनालय भी बनवाया और मल्लिकार्जुन के पुत्र केशीराज ने सौंदंती में मल्लिकार्जुन जिनालय बनवाया। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि मुनि चन्द्रदेव इस राजा के धर्मगुरू और उसके युवराज के शिक्षक थे। उन्होंने संघकाल में प्रधानमंत्री का पदभार संभाला और शस्त्र भी उठाये शत्रुदमन के लिए। बाद में उन्होंने कोट्टलिंग में मन्दिर बनवाये और फिर जिन दीक्षा धारण की। (An. Ref. Inde-Ep. 53-54 p. 31).

कोंकण के शिलाहारों का बेलगांव और कोल्हापुर मे शासन था। उनमें से प्रसिद्ध जैन राजा गण्डरादित्य १००७–९ A D.) ने इरुकुडी में एक जिनालय बनवाया। उसका निम्बदेव देवरल नामक सेनापति आजुरिका (वर्तमान आजरे) में पद्मावती का भक्त था और माणिक्यनन्दि का शिष्य था। उसने अनेक ग्राम दान दिये। उसके सेनापति बोप्पण कालन व लक्ष्मीधर भी परम जैन भक्त थे जिन्होने अनेक जैन मन्दिर बनवाये। भोज द्वितीय (११६५–१२०५ A.D.) भी जैन था। विशालकीर्ति पंडित देव उसके गुरू थे। इसी के शासनकाल मे सोमदेव ने १२०५ A.D. मे शब्दार्णव चंद्रिका नामक टीका गण्डरादित्य द्वारा निर्मित आजुरिका ग्राम के त्रिभुवन तिलक नेमि जिनालय में पूरी की थी—

"श्री कोल्हापुर देशान्तर भवर्त्यार्जुरिका महास्थान-युधिष्ठिरावतार महामण्डलेश्वर श्री गण्डरादित्यदेवनिर्मापित त्रिभुवनतिलक जिनालये ·····। (शब्दार्णव चंद्रिका)

इसी राजा ने राजधानी क्षुल्लकपुर (कोल्हापुर) मे अनेक जिनालय बनवाये ((J.B.B.R.A.S.Vol. VIII Old series pp. 10) सेनापति बोप्पण के सदर्भ मे किदारपुर शिलालेख एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है। रूपनारायण जिन मन्दिर कुंदकुंद आम्नायी सरस्वती गच्छी निम्बदेव ने ही बनवाया था और उसी के ११३५ A D. में कवडेगोल्ला मे पार्श्वनाथ मन्दिर का भी निर्माण कराया था। गण्डरादित्य का ही दूसरा नाम रूपनारायण था। इसी मन्दिर में उत्कीर्ण शिलालेख में एक चैत्यागार का उल्लेख है। अय्याबोडे (बीजापुर का अइहोल) के व्यापारी वीर वणणजस ने उस मन्दिर के लिए काफी दान दिया (Ep, Ind. Vol. XIX pp. 30) सांगली के पास तेरदल में प्राप्त शिलालेख से पता चलता है कि निम्बदेव ने रूपनारायण मन्दिर के लिए बड़ी भारी सम्पत्ति दान दी थी। (Ind. Ant. Vol XIV P. 19; Ep Ind. Vol. 3 pp. 207).

चालुक्य सामंत शिलाहार वंश के राजा गण्डरादित्य द्वारा कोल्हापुर अभिलेख के अनुसार उसके सामंत नोलंब को सन् १११५ में दो ग्राम दिये गये थे। इसमें नोलम्ब को सम्यक्त्व रत्नाकर तथा पद्मावती देवी लब्धवरप्रसाद जैसे विशेषणों से सम्मानित किया गया है। (Ep. Ind. Vol. 19 Page 30) इससे नोलम्ब का जैन होना असंदिग्ध है। कोल्हापुर के ही सन् ११३५ के एक अन्य लेख मे राजा गण्डरादित्य के सामत निम्बदेव द्वारा ही एक जैन मन्दिर के निर्माण का तथा वीरवलज लोगो के संघ द्वारा आचार्य श्रुतकीर्ति को दान दिये जाने का वर्णन है। कोल्हापुर के महालक्ष्मी मन्दिर मे प्राप्त एक लेख में भी सामत निम्बदेव के जिन मन्दिर निर्माण का उल्लेख मिलता है जिसे माघनंदि ने बनवाया था (Ep. Ind. Vol. 27 Page 176) यहां यह उल्लेखनीय है कि यह मन्दिर आज वैष्णवों के अधिकार मे है।

शुक्रवार गेट के पास ही एक दूसरा अभिलेख ११४३ A D. का मिला है जिसमें हाविशहेरिडिगे (आधुनिक हेरले) मे निर्मापित जैन मन्दिर के लिए वासुदेव द्वारा प्रदत्त दान का उल्लेख है। यह वासुदेव महानन्दि विजयादित्य का शिष्य और गण्डरादित्य का पुत्र था। माघनन्दि सैद्धांतिक अगाध पांडित्य के धनी थे (तेरडाल शिलालेख Ep. Karnatica vol. 14, page 23)। श्रमण बेलगोल शिलालेख में भी उनका उल्लेख मिलता है (Ep. Karnatka vol. II, p. 17) श्रुतकीर्ति, त्रैविद्य, गण्डविमुक्त देव, माणिक्यनंदि पंडित, आनन्दी सिद्धान्तदेव, निम्बदेव, कामदेव, केदारनाकरस आदि जैसे विद्वान मुनि और श्रावक उनके शिष्य थे। (Ep. Ind. vol. III, pp. 207-11)। उन्होंने कोल्हापुर में तीर्थ की स्थापना की थी। मठ भी बनवाया था। रूपनारानण मन्दिर की देखभाल के लिए उन्होने श्रुतकीर्ति त्रैविद्य को नियुक्त किया था। कवडेगोल मन्दिर भी इन्हीं के संरक्षकत्व मे व्यवस्थित थे। माणिक्यनंदि भी माघनन्दि के शिष्य थे।

अरहनंदि के संदर्भ में वामणी (कोल्हापुर) पार्श्वनाथ मन्दिर में प्राप्त अभिलेख से जानकारी मिलती है (Ep. Ind. Vol. III, pp. 211)। यहा चोधरे कामगावुण्ड द्वारा निर्मित जैन मन्दिर भी उल्लेखनीय है। नामगादेवी के आग्रह पर नेमगावुंड ने तीर्थंकर चन्द्रप्रभ मन्दिर हाविन हेरिडिगे (1118 A.D.) मे बनवाया।

बेलगांव मे प्राप्त दो अन्य लेखों के अनुसार रट्टवंश के कार्तवीर्य चतुर्थ तथा उनके बन्धु मल्लिकार्जुन ने स्वयं उनके मन्त्री बीचण ने एक रट्ट जिनालय स्थापित किया था। उन्होंने इस मन्दिर के प्रधान भट्टारक शुभचन्द्र को शक सं० ११२७ मे कुछ भूमिदान किया था (Ep. Ind Vol. 13, P. 15)। ये शुभचन्द्र मूलसंघ के पुस्तकगच्छीय मलधारिदेव के शिष्य नेमिचन्द्र के शिष्य थे। बेलगांव के हल्सी गांव में प्राप्त लेख के अनुसार कदम्बा युवराज काकुत्स्थवर्मा द्वारा श्रुतकीर्ति सेनापति को प्रदत्त दान का उल्लेख है। यह दान खेट ग्राम में किया गया था। फ्लीट ने इसका समय पांचवी शती निर्धारित किया है। (Ep Ind. Vol. 6, P. 22-24).

मध्यकाल के पूर्व भी कोल्हापुर जैन सांस्कृतिक केन्द्र के रूप मे विख्यात रहा है : सम्राट खारवेल के बाद दक्षिणापथ मे पैठन के सातवाहनों का उत्कर्ष हुआ जो द्वितीय शती तक अवस्थित रहा। इस बीच मूलसंघ के पट्टधर आचार्य अर्हद्बली (38-66 A D.) ने वेण्यानदी के तट पर स्थित महिमानगरी (कोल्हापुर का महिगानगढ़) मे एक विशाल जैन सम्मेलन का आयोजन किया और आवश्यकता प्रतीत होने पर सघ को नन्दि, वीर, अपराजित, देव, पंचस्तूप सेन, भद्र, गुणधर, सिंह चद्र, आदि विविध नामों से संघ स्थापित किये (इन्द्रनन्दि श्रुतावतार, ९१-९६)। इन सघों की स्थापना के पीछे धर्मवात्सल्य, एकता और प्रभावना की अभिवृद्धि मुख्य उद्देश्य था।

कोल्हापुर (अलक्तपुर) मे प्राप्त एक अन्य दानपत्र के अनुसार मूलसंघ काकोपल आम्नायी सिंहनदि मुनि को अलक्तकनगर के जैन मन्दिर के लिए कुछ ग्राम दान दिये गये हैं। दान देने वाले थे पुलकेशी प्रथम के सामन्त सामियार जिन्होंने अनेक जैन मन्दिरों की प्रतिष्ठा कराई थी और गंगराज माधव द्वितीय तथा अविनीत ने कुछ ग्रामादि दान में दिये थे।

११-१२वीं शती के चिकहुलसोगे के शिलालेखों से ज्ञात होता है कि वहां मूलसंघ का देशीगण भी काफी लोकप्रिय था। इसके दिवाकरनंदि चन्द्रकीर्ति, पूर्णचन्द्र, दामनंदि, तपकीर्ति आदि आचार्य कोल्हापुर के आसपास ही रहते थे। यहां अनेक जैन वसदियां थीं जिन्हें कंगाल्व नरेशों द्वारा संरक्षण प्राप्त था। देशी गण का प्रमुख गच्छ पुस्तकगच्छ है। हनसोगेनेल पुस्तकगच्छ का ही एक उपभेद है। इस गण की एक शाखा का नाम इंगुलेश्वरवलि है जिसके आचार्यगण प्रायः कोल्हापुर के आसपास रहते थे (Ep. Kar. Vol. VIII & IV; जैन शिलालेख संग्रह भाग २, पृ० ३५६-५८)। यापनीय संघ भी कोल्हापुर बेलगांव आदि समीपवर्ती स्थानों में लोकप्रिय था। यह बेलगांव स्थित टोड्डवसदि जैन मन्दिर मे प्राप्त एक अभिलेख से प्रमाणित होता है। मलखेड़ के पास नगई (गुलवर्गा) भी प्रसिद्ध दिगम्बर जैन मन्दिर है जो कदाचित् बलात्कारगण का केन्द्र रहा होगा।

कोल्हापुर से लगभग २०० कि० मी० दूर स्थित वादामी (प्राचीन नाम वातापी) का उदय पश्चिमी चालुक्य वंश के रूप मे पचम शताब्दी मे हुआ। इसका सम्बन्ध विजयादित्य चालुक्य से रहा। उसी के वश मे उत्पन्न दुर्विनीत ने जयसिंह के माध्यम से वातापी साम्राज्य की नीव डाली। इसका वास्तविक राज्य संस्थापक पुलकेशी प्रथम था जो जैनधर्म का कट्टर भक्त था। उसके सामन्त और सहयोगी भी जैन धर्मावलम्बी थे। उसने ५४२ ई० मे अलक्तकनगर मे एक जिनालय बनवाया जिसमे उत्कीर्ण शिलालेख मे कनकोपल शाखा के जैनाचार्य सिंहनंदि, चित्तकाचार्य नागदेव और जिननदि के नामो का उल्लेख है। ऐहोल भी इस काल का प्रमुख जैन केन्द्र रहा है। इसी वश के कीर्तिवर्मन प्रथम ५६५-५९७ A.D.) ने जैनमन्दिर में अभिषेकादि के लिए विपुल दान दिया था। इसी के राज्यकाल मे ५८५ ई० मे जैनाचार्य रविकीर्ति ने ऐहोल के पास मेगुटी मे एक जैन मन्दिर बनवाया था और जैन विद्यापीठ की स्थापना की थी। शायद इसी के शासनकाल मे अलक्तक नगर में चालुक्यों के लघुहव्व

नामक उपराजा की पत्नी ने प्रकाण्ड जैन दार्शनिक भट्ट अकलंक को जन्म दिया। बादामी की प्रसिद्ध गुफाओं का निर्माण भी इसी समय हुआ प्रौढ़ संस्कृत में लिखी रविकीर्ति की प्रशस्ति निश्चित ही संस्कृत साहित्य की अनुपम देन है। अकलंक देव संघ के आचार्य थे और विक्रमादित्य साहसतुंग के गुरु थे। इसी वंश के विजयादित्य द्वितीय (६९७-७३३ ई०) के शिलालेख में जैन तीर्थ क्षेत्र कोप्पण का उल्लेख है। आचार्य अकलंक के सधर्मा पुष्पसेन और उनके शिष्य विमलचन्द्र तथा कुमारनंदि और अकलंक के प्रथम टीकाकार बृहत् अनन्तवीर्य भी इसी राजा के आश्रयकाल में रहे है। इसी राजा ने शंख-जिनालय पुलिगेरे जैन मन्दिर आदि के लिए भी पुष्कल दान दिया। यह वंश जैनधर्म का संरक्षक-सा रहा है।

कल्याण के चालुक्य सम्राट भुवनैकमल्ल का १०७१ ई० का एक शिलालेख नान्देड़ के पास तडखेल ग्राम में मिला जिसके अनुसार सेनापति कालिमय्य तथा नागवर्मा ने निकलंक जिनालय को भूमि, उद्यान आदि अर्पित किये थे। इसी वंश के सम्राट त्रिभुवनमल्ल के समय (१०७८ ई०) एक अभिलेख सोलापुर के समीप अक्कलकोट में मिला है जिसमें जैनमठ के लिए भूमिदान देने का उल्लेख है। चालुक्यों के प्रतिस्पर्धी मालवा के परमार वंशीय राजा भोज के सामन्त यशोवर्मन द्वारा कल्कलेश्वर के जिन-मन्दिर को प्रदत्त दान का वर्णन कल्याण (बम्बई के पास) में प्राप्त एक ताम्रशासन में मिलता है।

इस प्रकार महाराष्ट्र में जैनधर्म ई० पू० तृतीय-चतुर्थ शती से लेकर मध्ययुग तक अविकल रूप से लोकप्रिय रहा है। जैन कला और साहित्य के विविध आयाम इस काल-खण्ड में दिखाई देते है। एलोरा की गुफाओं की कलात्मकता और व्यापकता इतिहास की अनुपम देन है। अनेक गण-गच्छों की स्थापना और उनके विकास का श्रेय भी महाराष्ट्र को जाता है। जैनाचार्यों का भी यह कर्मक्षेत्र रहा है। भट्टारक सम्प्रदाय का भी विकास यहां उल्लेखनीय है। मध्ययुग में ही यहाँ ग्रन्थ भण्डारों की स्थापना और भित्तिचित्रों की सरचना हुई है। शैव, वैष्णव और लिंगायत सम्प्रदायों के हिंसक व्यवहार से यद्यपि महाराष्ट्र में जैनधर्म को अनेक घातक संघात सहन पड़े है, फिर भी उनके अस्तित्व को समाप्त नहीं किया जा सका। मुस-लिम आक्रमण भी उत्तरकाल में हुए उस पर, फिर भी वह अपने अस्तित्व को बचाए रखने में सक्षम रहा।

मराठी के विकास में प्राकृत का योगदान बहुत अधिक रहा है। मराठी साहित्य का भी प्रारम्भ जैन कवियों से हुआ है। उन्होंने १६६१ ई० में इस क्षेत्र में अधिक कार्य किया है। जिनदस, गुणदास, मेघराज, कामराज, सूरिराज, गुणनंदि, पुष्पसागर, महीचन्द्र, महाकीर्ति, जिनसेन, देवेन्द्र-कीर्ति, कललप्पा, भामापन आदि जैन साहित्यकारों ने मराठी में साहित्य तैयार किया है। यह साहित्य अधिकांश रूप में अनुवादित दिखाई देता है।

जनजातियों के सर्वेक्षण से पता चलता है कि महा-राष्ट्र में उनके बीच जैनधर्म काफी लोकप्रिय रहा है। जैनकलार, कासार आदि कुछ ऐसी जनजातियां यहां हैं जो एक समय जैनधर्म में परिवर्तित हुई थी पर कदाचित् उन्हें ढंग से अपनाया नहीं जा सका और फलतः वे वैदिकधर्म की ओर पुनः झुक गईं। यद्यपि उनके आचार-विचार में आज भी जैनधर्म की झलक दिखाई देती है फिर भी हम उन्हें जैन कहने में संकोच करते है। यदि इन जनजातियों बीच जैनधर्म का चिराग जलता और वे एक जैन जाति के रूप स्वीकार कर लिए जाते तो संख्या पर काफी असर होता। साथ ही उनका जीवनस्तर भी बढ़ जाता।

महाराष्ट्र में जैन समाज विदर्भ, मराठावाड़ा, पश्चिम महाराष्ट्र और दक्षिण महाराष्ट्र में बटा हुआ है। वर्तमान में दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदाय संयुक्त रूप से महाराष्ट्री संस्कृति के अंग बन गये है। दिगम्बर संप्रदाय यहां का मूल सम्प्रदाय दिखाई देता है। केतकर के 'महा-राष्ट्री जीवन' ग्रन्थ से भी यह तथ्य उद्घाटित होता है। ग्रामीण भाग में उनकी संख्या अधिक है। कृषि और व्यापार उनके प्रमुख व्यवसाय है। वैदिक संस्कृति से मिलता-जुलता उनका आचार हो गया है फिर भी सांस्कृ-तिक धरोहर को सम्हाले हुए है अतः उनकी स्वतंत्र पहि-चान भी बनी हुई है। ज्ञानेश्वरी तथा महानुभाव साहित्य में जैनों का ससम्मान उल्लेख हुआ है। मराठी संतों पर जैनधर्म का प्रभाव स्पष्टतः दिखाई देता है। १९४१ की

(शेष पृ० १८ पर)

संस्कृत जैन काव्य शास्त्री और उनके ग्रन्थ

☐ डॉ० कपूरचन्द्र जैन, खातौली

काव्य-सौन्दर्य की परख करने वाला शास्त्र 'काव्य-शास्त्र कहा जाता है। यद्यपि इसके लिए विभिन्न कालों में 'काव्यालंकार', 'अलंकार शास्त्र', 'साहित्यशास्त्र', 'क्रियाकल्प' आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है, किन्तु सर्वाधिक प्रचलित नाम काव्यशास्त्र ही है।

इस शास्त्र के उद्गम के विषय मे कुछ निश्चित कह पाना सम्भव नहीं है। भारतीय परम्परा आचार्य भरत से इसका आरम्भ मानती है। राजशेखर कृत काव्य-मीमांसा में वर्णित एक पौराणिक आख्यायिका के अनुसार भगवान् श्रीकण्ठ शिव ने इस काव्यविद्या का उपदेश परमेष्ठी वैकुण्ठादि चौसठ शिष्यों को किया था। उनमें से प्रथम शिष्य स्वयम्भू-ब्रह्मदेव ने इस विद्या का द्वितीय वार उपदेश अपनी इच्छा से उत्पन्न शिष्यो को किया इन शिष्यों में सरस्वतीपुत्र काव्यपुरुष भी एक था। ब्रह्मा ने उसे भूः, भुवः और स्वर्गलोक में काव्यविद्याप्रचार करने की आज्ञा दी। काव्यपुरुष ने अठारह भागों में विभक्त काव्यविद्या का उपदेश अपने शिष्यो को दिया[1] किन्तु इस आख्यान को प्रामाणिक नही माना जा सकता।

भारतीय ज्ञान विज्ञान के उद्गमस्थान वेदो मे भी काव्यशास्त्र के बीज पाये जाते है वहां उपमा रूपकादि अलकार का उल्लेख हुआ है। निरुक्त तथा व्याकरण वेदाङ्गो मे उपमा का विवेचन आया है। पाणिनि की अष्टाध्यायी तथा पातञ्जलि के महाभाष्य मे भी अलकार का वर्णन आया है, तथापि यहा काव्यशास्त्र का क्रमबद्ध और सुश्लिष्ट शास्त्रीय निरुपण प्राप्त नही होता। भरत से ही इसका शास्त्रीय और क्रमबद्ध निरुपण आरम्भ हुआ। भरत का समय ई० पू० द्वितीय शती से ई० की द्वितीय शती के बीच डॉवाँडोल है। तदनन्तर भामह, दण्डरुद्र, वामन, अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ पण्डितराज जगन्नाथ आदि उल्लेखनीय काव्यालोचक हुए। इस प्रकार भारतीय काव्यशास्त्रीय परम्परा सुदृढ और विस्तृत रही है।

जैन साहित्य की भाषा प्राकृत है, इसी भाषा में मूल आगम और सिद्धान्त ग्रन्थ सुरक्षित हैं। दार्शनिक ग्रन्थों की भी प्राकृत मे कमी नही है। साथ ही कथा, उपन्यास जैसा ललित साहित्य भी इस भाषा मे पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध होता है। तथापि काव्यशास्त्र विषयक ग्रन्थो की इसमे अत्यन्त कमी है। छन्द विषयक तो ४-६ ग्रन्थ उप-लब्ध हैं, पर अलंकार विषयक एक ही ग्रन्थ अब तक प्रकाश मे आया है।

'अलंकार दप्पण' नामक इस लघु ग्रन्थ को प्रकाश में लाने का श्रेय प्राचीन पोथियो के महान्वेषक अन्वेषकाचार्य स्व० अगरचन्द्र नाहटा को है। उन्होंने जैसलमेर के ग्रन्थ भण्डार से इसकी ताडपत्रीय प्रति प्राप्त कर अपने भ्रातृ-पुत्र श्री भंवरलाल नाहटा से संस्कृत छाया और हिन्दी

(पृ० १७ का शेषांश)

जनसंख्या के आधार पर यह कहा जा सकता है कि महा-राष्ट्र में जैनों की सख्या सभी प्रदेशों से अधिक है। लग-भग दस लाख जैन यहां हैं। प्रतिशत की दृष्टि से महा-राष्ट्र में २६.४२ संख्या है। बम्बई, बेलगाव और कोल्हा-पुर मे ही लगभग सात लाख जैन है। इसके बाद सांगली ठाणा, नासिक, जलगांव शोलापुर, नागपुर, पूना, आदि शहरों का नाम आता है। महाराष्ट्र इस दृष्टि से एक महत्वपूर्ण प्रदेश कहा जा सकता है जहां जैन संस्कृति आज भी सर्वाधिक पुष्पित फलित दिखाई दे रही है। अभी इसका पृथक्-पृथक् क्षेत्र में मूल्याकन शेष है। साहित्य, कला, संस्कृति आदि विविध दृष्टियो से इस तथ्य पर विचार किया जाना अपेक्षित है। यहां हमने स्थानाभाव के कारण मात्र एक झलक प्रस्तुत की है।

☐☐

अनुवाद कराकर 'मरुधरकेसरी अभिनन्दन ग्रन्थ' में प्रकाशित कराया था।

इस ग्रन्थ में कुल १३४ गाथायें है, कर्ता का कोई पता नहीं चलता अलंकार सम्बन्धी विवरण के आधार पर ८वी से ११वी शती के मध्य लिखित और १३वीं शती के पूर्वार्ध में प्रतिलिखित होने का अनुमान श्री नाहटा ने लगाया है।' जैसलमेर के जैन भण्डार में उसकी प्रति प्राप्त होने से लेखक का जैन होना असमीचीन नही है।

कवि ने सर्वप्रथम श्रुतदेवता को नमस्कार किया है, तदनन्तर काव्य में अलंकार के औचित्य और उद्देश्य का वर्णन करते हुए कहा है—

'सव्वाइ कव्वाइ सव्वाइ जेण होंति भव्वाइं।
तमलकार भणिमोऽलकार कुकवि-कव्वाणं॥
अच्चंतसुन्दर पिहु निरलंकार जणम्मि कीरंते।
कामिणि-मुह व कव्व होइ पसण्णपि विच्छाअ॥
(अ० द० २-३)

अर्थात् कुकवि के भी काव्यो को सुशोभित करने वाला अलंकार है और जैसे सुन्दर स्त्री का मुख निरलकार होवे पर अत्यन्त सुन्दर और विमल होने पर भी शोभारहित होता है, वैसे ही प्रसाद गुण युक्त होने पर भी निरलकार काव्य शोभा रहित होता है।

आगे ५ पद्यों मे वर्णनीय ४० अलकारो के नाम गिनाये हैं, अनन्तर प्रत्येक अलंकार के लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। किन्ही के मात्र लक्षण और किन्ही के उदाहरण काव्य की न्यूनता-घोतक हैं। उल्लिखित अलंकार है—उपमा रूपक, दीपक, रोध, अनुप्रास, आशिय, विशेष, आक्षेप, जातिव्यतिरेक, रसिक, पर्याय, यथासख्य, समाहित, विरोध, संशय, विभावना, भाव, अर्थान्तिरन्यास, परिकर, सहोक्ति, उर्जा, अपह्नुति, प्रेमातिशय, उद्वर्त, परिवृत्त, द्रव्योत्तर, क्रियोत्तर, गुणोत्तर, बहुश्लेष, व्ययदेश, स्तुति, समज्योति, अप्रस्तुतप्रशंसा अनुमान, आदर्श, उत्प्रेक्षा, ससिद्धि, आशीष, उपमारूपक, निदर्शनाउत्प्रेक्षा, आभेद, उपेक्षा, वलित, यमक तथा सहित। ये ४६ अलंकार है, किन्तु गाथा में अलंकारो की संख्या ४० बताई गई है। श्री नाहटा ने इसका समाधान दिया है कि प्रेमातिशय से गुणोत्तर तक ६ अलकारो को प्रेमातिशय के अन्तर्गत ही मानना चाहिए।'

रसिक, प्रेमातिशय, द्रव्योत्तर, क्रियोत्तर, गुणोत्तर उपमारूपक आदि अलकार अन्य अलंकार-ग्रन्थों मे नही पाये जाते। यह भी नहीं कहा जा सकता कि कवि ने इनकी उदभावना स्वयं की है या किसी प्राचीन अलंकार-ग्रन्थ के अनुकरण पर ऐसा लिखा है। शोधार्थियों को उस ओर दत्तावधान होकर प्राकृत अलंकार शास्त्र पर शोध करना चाहिए।

प्राकृत के अन्य छन्दग्रन्थों में उल्लेखनीय हैं—

१. वृत्तजातिसमुच्चय	विरहांक	६-८वी शती
२. कविदर्पण	अज्ञात	१३वी शती
३. गाहालक्खण	नन्दिताढ्य	१०वी शती
४. छन्दकोष	रत्नशेखरसूरि	१४वीं शती
५ छन्दकन्दली	कविदर्पण का अज्ञात टीकाकार	
६. प्राकृतपैङ्गल	संग्रह	१४वीं शती
७. स्वयम्भूछन्द	स्वयम्भू	८वी शती'

जैन संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने अपने काव्यों मे यत्र तत्र काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है और स्वतंत्र रूप से भी ग्रन्थ लिखे हैं। आचार्य जिनसेन ने 'काव्य' की व्युत्पति और परिभाषा करते हुए लिखा है—

'कवेर्भावोऽथवा कर्म काव्यं तज्ज्ञैर्निरुच्यते।
तत्प्रतीतार्थमग्राम्य सालङ्कारमनाकुलम्॥'

स्वतन्त्र काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों और ग्रन्थकारों का परिचय प्रस्तुत है?

वाग्भट प्रथम

वाग्भट प्रथम का वाग्भटालंकार कदाचित पहला प्राप्त काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है। यों तो वाग्भट नाम के ४ कवियों का उल्लेख जैन साहित्य मे हुआ है किन्तु काव्यशास्त्र के क्षेत्र मे 'वाग्भटालंकार' के लेखक वाग्भट प्रथम और 'काव्यानुशासन' के लेखक वाग्भट द्वितीय कहे जाते हैं। अन्य दो वाग्भटों के सक्षिप्त परिचय के विना यह लेख पूरा नहीं होगा।

एक वाग्भट ने आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अष्टाङ्ग—हृदय की रचना की है। ये सिन्धुदेशवासी थे और पिता

का नाम सिंह गुप्त था। कुछ विद्वानों के मतानुसार ये बौद्धधर्मानुयायी थे। पं० आशाधर ने अष्टाङ्गहृदय पर टीका लिखी थी जो आज अप्राप्य है इसी कारण विद्वान् इन्हें जैन मानते हैं। समय अत्यन्त प्राचीन है।[७]

दूसरे वाग्भट प्रसिद्ध महाकाव्य 'नेमिनिर्वाण' के कर्ता है। जैनसिद्धान्त भवन आरा और श्रवणबेलगोल के जिनदास शास्त्री के पुस्तकालय मे प्राप्त प्रति की प्रशस्ति के अनुसार वाग्भट (बाहड़) छाहड के पुत्र और प्राग्वाट या पोरवाड़ कुल के थे जन्म अहिच्छत्रपुर मे हुआ।[८] वाग्भटालंकार' मे 'नेमिनिर्वाण' के पद्य दिये गये हैं अत: वाग्भट प्रथम (वि० सं० ११७९) ई० ११२२) के पूर्व इनका समय स्वीकार किया जाना चाहिए।

वाग्भट प्रथम के पिता का नाम सोमश्रेष्ठी था। सिंहदेवगणि के कथनानुसार वे महाकवि और एक राज्य के महात्मा थे। कविचन्द्रिका टीका के कर्ता वादिराज ने उन्हे 'महामात्यपदभृत्' लिखा है।[८] वाग्भट ने यत्र तत्र जयसिंह की प्रशंसा की है[९] और एक जगह लिखा है कि ससार मे तीन ही रत्न है अणहिलपाटक नगर, महाराज जयसिंह और 'श्रीकलश' नाम का उनका हाथी।,[१०] अत: सिद्ध है कि ये अणहिलपाटक या पुर नगरवासी थे और राजा जयसिंह के समकालीन जयसिंह का राज्यकाल १०९३-११४३ ई० स्वीकार किया जाता है। अत: वाग्भट प्रथम १२वी शती के पूर्वार्द्ध मे हुए। हेमचन्द्र ने द्वयाश्रय काव्य मे वाग्भट को जयसिंह को अमात्य बताया है।[११]

वाग्भटालकार के अतिरिक्त इनकी अन्य कोई रचना उपलब्ध नही है। उक्त ग्रन्थ मे जगह-जगह स्वरचित प्राकृत-संस्कृत के उदाहरण कवि की उभयभाषाविज्ञता के समुज्ज्वल निदर्शन है। इसका अपरनाम काव्यलकार भी है। पांच परिच्छेद और २६० पद्य है, काव्यशास्त्रीय सभी विषयो का सक्षेप मे विवेचन है। अनुष्टप का बाहुल्य है। प्रथम परिच्छेद मे काव्य-स्वरूप हेतु बतलाते हुए यह भी बताया गया है कि काव्य-रचनार्थ कौन सी परिस्थितियां अनुकूल हैं। द्वितीय परिच्छेद में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और भूत इन चार काव्य-भाषाओ का वर्णन कर छन्दोबद्ध गद्यनिबद्ध तथा गद्यपद्यमिश्र ये तीन काव्य के भेद कहे गये हैं। पश्चात् पद, वाक्य और अर्थदोषों का निरूपण है। तृतीय में दसगुणों की सोदाहरण विवेचना चतुर्थ में ४ शब्दालंकारों, ३५ अर्थालकारों तथा वैदर्भी गौणी आदि रीतियों का वर्णन है। पंचम में नव-रसों, नायक-नायिका भेदों तथा अन्य आनुषंगिक विषयों का निरूपण है।

परवर्ती काल में यह अत्यन्त लोकप्रिय हुआ जिसका निदर्शन इस पर लिखी गई टीकाएं हैं इनमे 'जिनवर्धन सूरिकृत टीका (१४०५-१४१९ ई०) सिंहदेवगणिकृत क्षेमहंसगणिकृत, गणेशकृत, राजहंस उपाध्याय १३५०-१४०० ई०) समयसुन्दरकृत (१६२६ ई०) अवचूरिकृत, कृष्णशर्मकृत, वामनाचार्यकृत तथा ज्ञानप्रमोदगणिकृत टीकाएं अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

वाग्भट द्वितीय

यद्यपि अब परम्पराप्राप्त हेमचन्द्र और उनके काव्यानुशासन का विवेचन समीचीन था किन्तु वाग्भटो की परम्परा में वाग्भट द्वितीय का विवेचन असमीचीन नही होगा। वाग्भट द्वि० का काव्यानुशासन महत्त्वपूर्ण कृति है। इन्होने वाग्भटालंकार-कर्ता का उल्लेख किया है और कहा ही कि वे दस गुणों का प्रतिपादन करते है पर वस्तुत. तीन ही गुण हैं। काव्यानुशासन की टीका की उत्थानिका से ज्ञात होता है कि ये नेमिकुमार के पुत्र थे नेमिकुमार के पिता का नाम मक्कल (मोकल) और माता का नाम महादेवी था। नेमिकुमार कौन्तेयकुलदिवाकर, महान विद्वान, धर्मात्मा और महा यशस्वी थे। उन्होने मदपाट मे प्रतिष्ठित पार्श्वनाथ जिनका यात्रा महोत्सव किया था, जिससे उनका यश भुवनव्यापी हो गया था। राहड़पुर मे नेमिभगवान का और नलोरवपुर मे ऋषभ जिनका बाइस देवकलिकाओ सहित विशाल मन्दिर का निर्माण कराया था।[१२] उनका कुल धन और विद्या से सम्पन्न था। काल के सन्दर्भ मे कोई सकेत उन्होने नही दिया है। डॉ० कृष्णकुमार ने इन्हें १२वी शती के बाद स्वीकार किया है।[१३] पर श्री प्रेमी ने नेमिनिर्वाण, चन्द्रप्रभचरित, नाममाला, राजमती परित्याग आदि ग्रन्थो के उल्लेख का आधार लेकर उन्हे १४वी शती का विद्वान् माना है।[१४] जो समीचीन जान पड़ता है। डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री भी यही समय मानने के पक्ष में हैं।[१५]

ये दिगम्बराचार्य थे या श्वेताम्बराचार्य यह प्रश्न भी कम विवादास्पद नहीं है। काव्यानुशासन में ऋषभदेव चरित का एक श्लोक है जिसमें जिनसेन (मुनिसेन) और पुष्पदन्त का उल्लेख है साथ ही बृहत्स्वयम्भू स्तोत्र (लव समन्तभद्र) का एक श्लोक दिया गया है और नेमिनिर्वाण चन्द्रप्रभचरित, राजमती परित्याग आदि ग्रन्थों का उल्लेख है, जो सभी दिगम्बर परम्परा के ग्रथ हैं अतः उन्हें दिगम्बराचार्य ही मानना होगा।

'काव्यानुशासन' के अतिरिक्त 'छन्दोऽनुशासन' प्राप्त है पर ऋषभदेवचरित अप्राप्त है। तीन ही इनकी रचनाए है। काव्यानुशासन की वृत्ति से ज्ञात होता है कि ये नाटकादि के भी अशेष विद्वान् थे सम्भव है अन्य रचनाएँ रही हों, जो आज अप्राप्त है।

छन्दोऽनुशासन की प्रति पाटण के ज्ञान भण्डार मे है। इसमे लगभग ५४० श्लोक हैं और स्वोपज्ञ वृत्ति भी है। ५ अध्यायों में विभक्त उसका वर्ण्यविषय निम्न है। (१) सज्ञा (२)-समवृत्ताख्य (३) अर्धसमवृत्ताख्य (४) मात्रासमक और (५) मात्राछन्दक।"[१६]

काव्यानुशासन निर्णयसागर से छपा है, यह हेमचन्द्र के काव्यानुशासन की शैली मे लिखा है। सूत्रो पर वृत्ति स्वय वाग्भट ने लिखी है और उसका नाम अलकार तिलक दिया है। काव्यमीमांसा, काव्यप्रकाश आदि प्राचीन काव्य-ग्रन्थो के मतों और विवेचनाओं का ही सग्रह है, मौलिकता कम ही है इसके पांच अध्यायों मे प्रथम मे काव्य-प्रयोजन, हेतु, भेद का, दूसरे मे सोलह-पद-दोष, १४ वाक्यदोष, १४ अर्थदोष, १० गुणों का तीन में अन्तर्भाव वैदर्भी आदि शैलियो, तृतीय मे ६३ अर्थालंकारों, चतुर्थ मे छः शारदालकारों और पचम में नव-रस, नायक-नायिका भेद तथा रसदोषो का विवेचन है।

(क्रमशः)

सन्दर्भ-सूची

१. काव्यमीमांसा: अनु० केदारनाथ शर्मा, बिहार राष्ट्र-भाषा परिषद् पटना १९६५, प्रथम अध्याय
२. 'मरुधरकेशरी अभिनन्दन ग्रन्थ', जोधपुर-ब्यावर १९६८, पृष्ठ ४३०।
३. वही, पृष्ठ ४३०
४. विशेष विवरण को देखे—प्राकृत साहित्य का इतिहास : डॉ० जगदीशचन्द्र जैन, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी।
५. आदिपुराण : अनु० पन्नालाल साहित्याचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली, १/९४।
६. जैन साहित्य और इतिहास : नाथूरामप्रेमी, बम्बई १९४२, पृ० ४८३।
७. वही. पृ० ४८३
८. वही, पृ० ४८५
९. 'इन्द्रेण किं यदि स कर्णनरेन्द्रसूनुरैरावणेन किमहो यदि तद्द्विपेन्द्रः
दम्भोलिनाप्यलमलं यदि तत्प्रतापः स्वर्गोऽप्ययननुमुधा यदि तत्पुरी सा ॥
जगदात्म कीर्ति शुभ्रं जनयन्तुदाम धामदोः परिघः।
जयति प्रतापपूषा जयसिह : क्षमाभृदाधिनाथः ॥
वाग्भटालकार ४।७६-४५
१०. अर्णाहिल्लपाटकपुरमवनिपति : कर्णदेवनृपसूनुः।
श्रीकलशनामधेयः करी च रत्नानि जगतीह ॥
वही ४।१४८
११. A. द्रयाश्रुवकाव्य २०।९१-९२
B. जहसिह सूरि कृत कुमारपाल भूपाल चरित के अनुसार कुमारपाल का महामात्य उदयन था और अमात्य वाग्भट पर यह आश्चर्य की बात है कि वाग्भट ने कहीं कुमारपाल का उल्लेख नहीं किया है।
१२. जैन साहित्य और इतिहास : पृष्ठ ४८६-८७
१३. अलकारशास्त्र का इतिहास : डॉ० कृष्णकुमार साहित्य भण्डार मेरठ १९७५, पृष्ठ २१८
१४. जै० सा० और इतिहास : पृष्ठ ४८७-८८
१५. तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा : सागर भाग ४। पृष्ठ ३८
१६. वही, पृष्ठ ४०

(गतांक से आगे)

शुद्धि-पत्र

धवल पु० ३ (संशोधित संस्करण)

□ जवाहरलाल सिद्धान्तशास्त्री, भीण्डर

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३६६	—	सू. पृ. अ. [कोठे के अंतिम कालम की छठी पंक्ति]	सू. पृ. प.
३७२	१७	बादर वनस्पतिकायिक पर्याप्त	बादर वनस्पतिकायिक प्रत्येक शरीर पर्याप्त
३८२	१८	अप्कायिक जीवो का	अप्कायिक पर्याप्त जीवों का
३८२	२१	प्रत्येक जीवो का	पर्याप्त जीवो का
३८२	३१	असंख्यातवां भाग	संख्यातवां भाग
३८३	१२	विष्कम्भ सूची असख्यातगुणी	विष्कम्भसूची से असख्यातगुणी
३८४	४	दवमसखेज्जगुण	दव्वमसखेज्जगुण
३८४	२६	सूक्ष्मवायुकायिक	वायुकायिक
३९०	२०	अद्धासमास के लिए	अद्धासमास सम्बन्धी
३९१	३१	आवे उसके लिए	आवे तत्सम्बन्धी
३९२	२७	असंयतदृष्टियो	असंयतसम्यग्दृष्टियों
३९९	२०	छोड़रूप	जोड़रूप
४०८	१७	सम्यग्मिथ्यादृष्टि	असयतसम्यग्दृष्टि
४१०	२५	ओव	जीव
४११	११	अ᳒ज्जगुणो/असंखेसव्व	असंखेज्जगुणो/असखेच
४१२	२४	वैक्रियिकमिश्रकाययोगियो का	वैक्रियिकमिश्रकाययोगि मिथ्यादृष्टियों का
४१४	३	णज्जदे	जाणिज्जदे
४१६	६	उवसामगो	उवसामगा
४२६	२०	भागरूप ध्रुवराशि	भाग की ध्रुवराशि
४३२	१७	पंज में	पुंज मे
४३२	२७	संख्यात	असंख्यात
४३७	१२	व पदरस्स	वि पदरस्स
४३८	२३	राशि में से एक	राशि सम्बन्धी अवहारकाल मे से एक
४४०	१७	एसे	इसे
४४४	२४	जगच्छ्रेणी से	विष्कम्भसूची से

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
४४५	६	विसेसाहिया २८।	विसेसाहिया २८। मदिसुदणाणि-उवसामगा संखेज्जगुणा/खवगा संखेज्जगुणा [देखो परि-शिष्ट पत्र २६]
४४५	२३	अठाईस हैं। मनःपर्ययज्ञानी	अठाईस हैं। मति श्रुतज्ञानी उपशामक जीव अवधिज्ञानी क्षपकों से सख्यातगुणे हैं। इनसे मति-श्रुतज्ञानी क्षपकजीव संख्यातगुणे है। मनःपर्ययज्ञानी
४४५	२३	अवधिज्ञानी क्षपकों से	मति-श्रुतज्ञानी क्षपकों से
४४६	३	पडिबद्धत्तादो। दुणाणि	पडिबद्धत्तादो। आभिणिणाणी सुदणाणी अप-मत्त-संजदा संखेज्जगुणा। तत्थेव पमत्त-सजदा संखेज्जगुणा। दुणाणि [देखो परि-शिष्ट पत्र २७]
४४६	६	णेदव्वं। जाव	णेदव्वं जाव
४४६	१४	व्यभिचारी	व्यभिचार
४४६	१६	अवधिज्ञानी प्रमत्तसयतों से दो ज्ञान वाले	अवधिज्ञानी प्रमत्तसंयतों से मति-श्रुतज्ञानी अप्रमत्तसंयत जीव संख्यातगुणे है। इन्हीं दो ज्ञानो वाले प्रमत्तसंयतजीव उक्त अप्रमत्त-संयतो से संख्यातगुणे हैं। इनसे
४६७	११	प्रमत्तसंयत आदि	प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसयत आदि
४७३	१८	अभव्यसिद्धिक	भव्यसिद्धिक
४७६	२१	उपशमसम्यग्दृष्टि,	उपशमसम्यग्दृष्टियो मे
४८५	२२	संख्यात	असंख्यात
४८७	१२	बन्धक जीव	मिथ्यादृष्टिजीव

विशेष निवेदन इतना है कि ध० पु० ३ पृ० २०६ पर "संतपमाणाणवत्था" का हिन्दी अर्थ सिद्धान्ततः गलत नही होते हुए भी मूलानुगामी नही है। अतः पुनः देख लें। संत का अर्थ सत्त्व (अस्तित्व-विद्यमानता) है जबकि सातपृथिवी अर्थ निकालना चाहें तो "सत्त" शब्द ही ठीक होगा, जैसा कि पूर्व मुद्रित प्रति मे है। इतना सब कुछ होने पर भी संतपमाणाण वत्था या सत्तपमाणाणवत्था का अर्थ विचारणीय निश्चित है। यहां पर क्या कोई पाठान्तर नहीं पाया गया ? होता तो लिखते ही। इसका अर्थ तो 'सात पृथिवियो के प्रमाण (सख्या) की अनवस्था', ऐसा होता है। "एग" शब्द इसी वाक्य में आ गया है, अतः उसके परिप्रेक्ष्य में सप्त पृथिवी का वाचक "सत्त" ही होना निश्चित होता है, इतना तो निर्विवाद है। पर तब भी अर्थ पुनः मीमांसणीय अवश्य है।

दूसरा निवेदन यह है कि पृष्ठ २५७ पर विशेषार्थ में—

"परन्तु धवलाकार ने··········· ·· ···परिधि के प्रमाण के ऊपर से" यह लगभग ३½ पंक्तियो का मेटर काट देना ही ठीक प्रतीत होता है।

क्योंकि—

विशेषार्थ में जो कहा है कि—परन्तु धवलाकार ने १३½ अंगुल से अधिक के स्थान में १३½ अंगुल से कुछ कम ग्रहण किया है। यह बात उचित नहीं बैठती है, क्योंकि एक तो यहाँ (मूल में) परिधि निकाली भी नहीं गई है और साधिक १३½ अंगुल परिधि मे ही आते हैं न कि क्षेत्रफल में। पर यहां तो ७६०५६६४१५० प्रवर योजनो मे १३½ अंगुलों को मिलाने के लिए कहा है। मिलाने में यानी योग करने में समान इकाई वाली चीज ही सदा मिलाई जाती है। ऐसा नहीं कि वर्गगज में गज भी मिला दिये जायें। उसी तरह ये देशोन १३½ अंगुल भी प्रतरांगुल (वर्गांगुल) स्वरूप ही होने चाहिए, क्योंकि इनका क्षेत्रफल में प्रक्षेप (मिलाना या जोड़ना) करने के लिए कहा गया है। '१३½ अंगुल' इस संख्या की समानता देखकर इन्हें परिधि विषयक कैसे समझ लिया जाय? यह तो अनुचित बात है, अतः विशेषार्थ में से—"परन्तु धवलाकार ने.................ऊपर से" इतना प्रकरण अपनेतव्य है। फिर भी पृष्ठ २५६ में १३½ अंगुलों के मिलाने की प्रक्रिया तथा उसमे भी देशोनत्व की गणित किन नियमों से हुई, यह विचारणीय अवश्य है। जम्बूद्वीप की परिधि ३१६२२७ योजन ३ कोश १२८ धनुष और साधिक १३½ अंगुल होती है।

यथा—जम्बूद्वीप का विष्कम्भ १०००० योजन; $\sqrt{१०००००^२ \times १०}$ =३१६२२७ यो०, ३ कोश, १२८ धनुष, १३½ अंगुल साधिक=परिधि।

क्षेत्रफल— परिधि=साधिक ३१६२२७¾ योजन; व्यास=१००००० योजन ; क्षेत्रफल=परिधि × व्यास/४
३१६२२७¾ × $\frac{१०००००}{४}$

=साधिक ७६०५६६४१५० वर्गयोजन (प्रतरयोजन) जम्बूद्वीप का क्षेत्रफल

[जंबूदीवपण्णत्ति पृ० ३]

अथवा :—

"जम्बूद्वीप का सूक्ष्म क्षेत्रफल=सूक्ष्मपरिधि × व्यास का चौथाई

३१६२२७ यो० ३ को. १२८ धनुष १३½ अंगुल साधिक × २५००० यो.

=७६०५६६४१५० वर्गयोजन १ वर्गकोश, १५१५ वर्ग धनुष, २ वर्ग हाथ, १२ वर्ग अंगुल [त्रिलोकसार गा. ३११ पृ. २६० सं० रतनचन्द्र मुख्तार]

यानी ७६०५६६४१५० प्रतरयोजन व साधिक १ वर्गकोश

□ □ □

अनेकान्त के स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

प्रकाशन स्थान—वीर सेवा मन्दिर; २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२
प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर के निमित्त श्री बाबूलाल जैन, २ अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-२
राष्ट्रीयता—भारतीय।
प्रकाशन अवधि—त्रैमासिक।
सम्पादक—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज, नई दिल्ली-२
राष्ट्रीयता—भारतीय।
मुद्रक—गीता प्रिंटिंग एजेंसी, न्यू सीलमपुर, दिल्ली-५३
स्वामित्व—वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज, नई दिल्ली-२
मैं बाबूलाल जैन, एतद् द्वारा घोषित करता हूं कि मेरी पूर्ण जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है।

बाबूलाल जैन
प्रकाशक

अज्ञात जैन कवि हरीसिंह की रचनाएँ

☐ डॉ० गंगाराम गर्ग

अद्यावधि पूर्णतः अज्ञात हरिसिंह जयपुर राज्य के प्रमुख नगर दौसा (देवगिरि) के रहने वाले थे। कवि के वर्तमान वंशज दौसा निवासी श्री मगनलाल खुवड़ा ने महावीर स्मारिका ८५ के अपने एक लेख में उन्हें जयपुर नगर के संस्थापक सवाई जयसिंह का दीवान बतलाया है किन्तु अन्तर्साक्ष्य के आधार पर यह प्रमाणित नहीं होता। अपनी एक फुटकर रचना की प्रशस्ति में कवि ने आमेर के शासक जयसिंह के सेवक 'नैनसुख' को अपने काव्य-प्रेरक के रूप मे स्वीकार किया है—

अम्बावती राज महाराज, जैसिंह सेवक है सुषनैन।
जाकै उदै सुमति घटि आई, कीयो प्रसाद अर्थ सुष लैन। ६

दौसा में निर्मित देवालय मे भी कवि ने 'नैनसुष' का सहयोग स्वीकार किया है—

देवगरी नगरी चतुर बसै महाजन लोक।
तहा देवकी थांपना, भई नैनसुष जोग।२२
बोध पच्चीसी

पं० भंवरलाल जी न्यायतीर्थ ने वीरवाणी में प्रकाशित अपने एक लेख "पं० टोडरमल के समय मे जैन दीवान" मे नैनसुख खिदूका (दीवानकाल सं० १८१४ से ३५) नामक एक दीवान का उल्लेख किया है। सम्भवतः यही नैनसुख राज्य कर्मचारी हरिसिंह के अधिकारी दीवान थे; किन्तु इनका दीवानकाल ब्रह्म पच्चीसी के रचनाकाल के अनुसार संवत् १७८ के आसपास प्रारम्भ होना चाहिए। दौसा नगर में स्थित 'पार्श्वनाथ चैत्यालय' मे विद्यमान स्तम्भ-लेख के अनुसार कवि हरिसिंह के पांच छोटे भाई थे—शंकर, श्री चंदकिशोर, नन्दलाल, मनरूप और गोपाल;

हरिसिंह की रचनाएं दीवान जी मन्दिर भरतपुर मे विद्यमान एक गुटके मे उपलब्ध हैं रचनाएं इसप्रकार है—

ब्रह्मपच्चीसी : दोहा और छप्पय छंदों में लिखी यह रचना आषाढ़ कृष्ण ११, संवत १७८३ को पूर्ण हुई। ब्रह्मपच्चीसी के प्रारम्भ में ऋषभदेव और शारदा की वन्दना की गई है। अष्ट सिद्धि, नवनिधि के दाता तथा ब्रह्म रूप को दिखाने वाले प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की छवि कवि को बडी आकर्षक लगी है—

छत्र फिरै चमर जुगलदिसि जाकै ढरै, छहौषंड आन जाकी,
आग्या सब मानिबो।
अंतेवर छिनवै सहस्यतणां भोग रहै, अष्ट सिद्धि नवनिधि,
चहै सोई आनिबो।
इन आदि विभौ विराग होय, कीनौ त्याग एकाकी मुनिवर
रहत पद ठानिवो।
तातैं भवि सिव सुषदाई, ब्रह्म रूप लषौ आंन भव दुषकारी
छांडो सब जानिबो।

सम्यक् पच्चीसी : सावन सुदि ११ संवत् १७८३ की यह रचना कवित्त, कुण्डलियां, दोहा और चाल छंदों में लिखी गई है। कवि ने इस रचना में पुद्गल के मोह मे अनुरक्त जीवात्मा को सम्यक् दर्शन की प्रेरणा दी है—

मोह पिसाचीनो बल्यो आतमराम अयान।
सम्यक् दरसन जब भयो, तब प्रगटयो सुभ ज्ञानं १४।।
असुचि अपावनि देहमनि, ताके सुष ह्वै लीन।
कहा भूल चेतन करी, रतनत्रय निधि दीन। १५।।

बोध पच्चीसी : इस रचना मे जिन दर्शन के प्रभाव का अनुभव कराते हुए धर्म की महिमा गाई गई है।

छवि देषि भगवान की, मन मैं भयो करार।
सुर नर फणपति को विभौ, दीसै सबै असार।८
छबी देषि भगवान की, जो हिय मैं आनद।
भयो कहा महिमा कहू तीन लोक सुषकंद।।

जकड़ी : ५ छन्द की इस छोटी सी रचना मे जैन तत्त्वों में आस्था रखने का उपदेश दिया गया है—

जिन धर्म कथित सुमार्ग रे जिय, तास निज सुष गाइयै।
सो परम ब्रह्म अनादि कबहूं, सम्यक् भाव न भाइयै।।

फुटकर गीत संग्रह :

हरिसिंह ने लोक धुनों में कुछ गीत भी लिखे है। 'सिपाहीड़ा की ढाल' संज्ञक एक गति में पंचपरमेष्ठी के ध्यान, और अनुप्रेक्षा धारण करने की प्रेरणा दी गई है। दो अन्य गीतो मे क्रमशः ऋषभदेव के जन्मोत्सव और गिरिनार की महिमा गाई गई है। राजुल विषयक एक गीत में नेमिनाथ की बारात और उनके वैराग्य धारण करने का प्रसंग कहा गया है। फुटकर गीतो मे राजस्थानी भाषा की प्रधानता है। नेमिनाथ के 'दूलह' रूप तथा उनकी निकासी का चित्र कितना भव्य है—

कोई गावै कोई नांचै हरष स्यो, कोई मगल कर धार,
बाजा वाजै प्रभु मदिर अति घनां, ताको सोर न पाय।
मोड़ मस्तग प्रभु जी कै बांधियो, रतन जटित कनकाइ।
निरत करत आगैं गुनि जन चलै, पाछै ज्ञानी लारजी।
गज पर चढ़ि प्रभु सोभा अति वनी, चाले जूनानेर हे।

समवशरण सम्बन्धी एक गीत मे रुक्मिणी से प्रेरित होकर कृष्ण और बलभद्र के समवशरण मे जाने का वर्णन किया गया है।

पद संग्रह :

हरिसिंह की काव्य-कीर्ति का प्रमुख आधार सारंग, विहाग, विलावल, कान्हड़ो आदि २० रागो मे लिखित भक्तिपूर्ण पद है। इन पदो मे कवि का आत्म-निवेदन शरणागति की भावना, नाम-स्मरण मे आस्था पदे-पदे दृष्टिगोचर होती है। ससार-चक्र से ऊबे हुए भक्त को जिन-दर्शन की उत्कट लालसा है—

मोहि देषन जिनवर चावरी।
उतम नर भव कुल श्रावक को, पायो मैं यह दावरी।।
कीये परावर्त्तन बहुतेरे, तामैं कहूं न मिलावरी।
भाग विशेष मिलै अब स्वामी, गहि बरन नहि रहाउंरी।।
स्वपर प्रकास ज्ञांन की महिमा, ताकौं देत बतावरी।
अैसी मूरति नूप बिराजत, हूं ताकी बलि जाउंरी।।
इह भवसागर तारन तुम बिन, और कछू न उपावरी।
हरिसिंह आयो तुम सरणैं, अब जु रजा है रावरी।।

जन्म-जन्मान्तरो के पापों को जड़ से उखाड़ फिकवाने के लिए आतुर हरिसिंह प्रभु की शरणागति के लिए बड़े आतुर हैं—

अब हूं कब प्रभु पद परसौ।
नैन निहारि करौं परनामैं, मन बच तन करि हितसौं।
भव भव के अघ लागे तिनकै, मूर उषारौ जरसैं।
सरणैं राषउ जिन स्वामी, और न मांगौं तुम सौं।।
यह बीनती दास हरी की कृपा करौं यह मुझसौ।

प्रभु-नाम के स्मरण से सती अजना और श्रीपाल का हित हो जाने के कारण नाम-स्मरण मे हरिसिंह की आस्था भी बढ़ी हुई है। प्रभु-दर्शन की सभावना वह नाम-स्मरण से ही मानते हैं—

प्रभु जी बेगि दरसन देहु।
भये आतुरवत भविजन, ये अरज सुनि लेहु।।
इह ससार अनत, आतपहरन कौं प्रभु मेह।
तुम दरस तैं परषि आतम, गये सिवपुर गेह।।
नाम तुम जन अजना से, किये सिवतिय नेह।
पतित उदधि श्रीपाल उधारे, नाम के परचेह।।
इह प्रतीति विचारि मन धरि, कियो निश्चै येह।
सकल मंगल करन प्रभु जी, हरी नमत करेह।।

भक्तिपरक पदों के अतिरिक्त हरीसिंह ने विरहिणी राजुल की व्यथा को भी अपने स्वर दिये हैं। विवाह-वेदी पर आने से पूर्व नेमिनाथ के विरक्त हो जाने पर उनकी वाग्दत्ता पत्नी राजुल भी अपना शृंगार हटाकर प्रिय की अनुगामिनी बनी है—

प्रभु बिन कैसे रहौगी माई, उन बिनु कछु न सुहाई।
कौन सुनैं हियकी मेरी अब, बिरह भयो दुषदाई।।
इह संसार गहन वन तामैं, प्रभु बिन कौन सहाई।
छिन छिन आव बितीत होत है, काल गयो अनभाई।।
सरणैं जाय करौ पिय सेवा, फिरि औसर नहि पाई।
तामैं अब हम पियसौं मिलिहैं, दोउ भव सुषदाई।।
तोड़ सिंगार केस सब तोड़े राजुल गिरि पर जाई।
तप करि कीयो कारिज अपनो, नाम 'हरी' मन भाई।।

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि हरिसिंह मुक्तक और गेय दोनों प्रकार के जैन काव्य मे अपना उचित स्थान रखते हैं।

—१०-ए, रणजीतनगर,
भरतपुर

कुछ स्मृतियाँ

१. धर्म प्रभावना कैसे हो ?

वीतराग के आगम में परिग्रह के त्याग का विधान है—साधु को पूर्ण अपरिग्रही होने का और गृहस्थ को ममत्वभाव से रहित परिग्रह के परिमाण का उपदेश है। इन्हीं विचारधाराओं को लेकर जब जीवन यापन किया जाता है तब धार्मिकता और धर्म दोनों सुरक्षित होते हैं। तीर्थंकर की समवसरण विभूति से भी हमे इसको स्पष्ट झलक मिलती है अर्थात् तीर्थंकर भगवान छत्र, चमर, सिंहासन आदि जैसी विभूति के होने पर भी पृथ्वी से चार अंगुल अधर चलते है और बाह्य आडम्बर से अछूते रहते हैं—अन्तरंग तो उनका स्वाभाविक निर्मल होता ही है। इसका भाव ऐसा ही है कि वहाँ धर्म के पीछे धन दौड़ता है और धर्म का उस धन से कोई सरोकार नही होता। पर, आज परिस्थिति इससे विपरीत है यानी धर्म दौड़ रहा है धन के पीछे।

ऐसी स्थिति मे हमें सोचना होगा कि आज धर्म की मान्यता धर्म के लिए कम और अर्थ के लिए अधिक तो नही हो गई है ? तीर्थ यात्राओ मे तीर्थ (धर्म) की कमी और सांसारिक मनौतियो की बढ़वारी तो नही है ? मात्र छत्र चढ़ा कर त्रैलोक्य का छत्रपति बनने की मांग तो नहीं है ? जिन्हें तीर्थकरो ने छोड़ा था उन भौतिक सामग्रियों से लोग चिपके तो नही जा रहे ? कही ऐसा तो नही हो गया कि पहिले जहाँ धर्म के पीछे धन दौड़ता था वहाँ अब धन के पीछे धर्म दौड़ने लगा हो ? कतिपय जन अपने प्रभाव से जनता को बाह्य आडम्बरों की चकाचौंध मे मोहित कर कुदेवादि की उपासना का उपदेश तो नही देने लगे ? जहां तीर्थंकरो की दिव्यध्वनि के प्रचार-प्रसार हेतु वीतरागी पूर्णश्रुतज्ञानी गणधरों की खोज होती थी वहां आज उनका स्थान रागी, राजनीति-पटु और जैन तत्वज्ञान शून्य-नेता तो नही लेने लगे ? आदि। उक्त प्रश्न ऐसे हैं जिनका समाधान करने पर हमें स्वय प्रतीत हो जायगा कि धर्म का ह्रास क्यो हो रहा है।

धर्म प्रभावना का शास्त्रों मे उपदेश है और समाज के जितने अंग हैं—मुनि, व्रती श्रावक, विद्वान् और अव्रती सभी पर धर्म की बढ़वारी का उत्तरदायित्व है। स्वामी समन्तभद्र के शब्दों में—

'अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्ययथायथम्।
जिनशासनमाहात्म्यप्रकाश स्यात्प्रभावना ॥'—१८

अर्थात् अज्ञान-तिमिर के प्रसार को दूर करके, जिन शासन की–जैसा वह है उसी रूप में महत्ता प्रकट करना—प्रभावना है। प्रभावना में हमे यह पूरा ध्यान रखना परमावश्यक है कि उसमें धर्ममार्ग मलिन तो नही हो रहा है। यदि ऐसा होता हो और उपास्य-उपासक का स्वरूप ही बिगड़ता हो तथा सांसारिक वासनाओ की पूर्ति के लिए यह सब कुछ किया जा रहा हो तो ऐसी प्रभावना से मुख मोड़ना ही श्रेष्ठ है। क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव कभी भी किसी भी अवस्था में सांसारिक सुख वृद्धि के लिए धर्म-सेवन नही करता और न वह मान बड़ाई ही चाहता है। कहा भी है—

'भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागमलिंगिनाम्।
प्रणामविनयंचैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः ॥'

सम्यग्दृष्टि जीव भय-आशा-स्नेह अथवा लोभ के वशीभूत होकर भी कुदेव कुशास्त्र और कुगुरुओं को प्रणाम विनय (आदि) नही करते हैं। आगे ऐसा भी कहा है कि राग-द्वेष से मलीन—लोकमान्य चार प्रकार के देवों को देव मान कर किसी भी प्रसंग की उपस्थिति में उनकी पूजा आरती वीतराग धर्म की दृष्टि से करना देवमूढ़ता है। इसी प्रकार धर्म मूढता और लोक मूढ़ता के त्याग का भी जिन शासन मे उपदेश है। यहां तो वीतरागता मे सहायक साधनो—सु-देव, सुशास्त्र और सुगुरु की पूजा-उपासना की आज्ञा है, आर्षज्ञाताओं से धर्मोपदेश श्रवण की आज्ञा है। यदि हम उक्त रीति से अपने आचरण में सावधान रहते हैं तो धर्म-प्रभावना ही धर्म-प्रभावना है। अन्यथा यन्त्र-मंत्र-तन्त्र करने और सांसारिक सुखो का प्रलोभन देने वालों की न पहिले कमी थी और न आज कमी है। हमें सोचना है कि हम कौन-सा मार्ग अपनाएँ ?

सम्यग्ज्ञान मे ये तीनो ही नही होते। सम्यग्ज्ञानी जीवादि सात तत्त्वों को यथार्थ जानता है। ज्ञान के विषय मे आचार्य कहते है—

अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात्।

निःसन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ॥

प्रयोजनभूत जीवादि सात तत्त्वों को यथातथ्य जानने वाला ज्ञान-सम्यग्ज्ञान होता है। अतः श्रावक व मुनि दोनों को भौतिक ज्ञान की ओर प्रवृत्त न हो—मोक्षमार्ग में सहायक सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए और धर्म प्रभावना होना चाहिए।

२. क्या हम श्रावक निर्दोष हैं?

मुनि-पद की अपनी विशेष गरिमा है और इसी गरिमा के कारण इस पद को पंच परमेष्ठियो मे स्थान मिल सका है—'णमो लोए सव्वसाहूणं।'—जब कोई व्यक्ति किसी मुनिराज की ओर अंगुली उठा है तो हमें आश्चर्य और दुःख दोनों होते है। हम सोचते है कि यदि हमें अधिकार मिला होता तो हम ऐसे निन्दक व्यक्ति को अवश्य ही तनखैया' घोषित कर देते जो हमारे पूज्य और इष्ट की निन्दा करता हो। आखिर, हमें सिखाया भी तो गया है कि—"मुनिराज का पद ही गरिमापूर्ण है।" क्या हम यह भी भूल जायें कि—"भुक्तिमात्र प्रदानेन का परीक्षा तपस्विनां" वाक्य हमारे लिए ही है और सम्यग्दृष्टि श्रावक सदा उपगूहन अंग का पालन करते है, आदि।

उस दिन हमने एक हितचिंतक की बातें सुनी, जो बड़े दुखी और चिन्तित हृदय की पुकार जैसी लगी। इनमें मुनि-संस्था के निर्मल और अक्षुण्ण रखने जैसी भावना स्पष्ट थी।

बातें समय-संगत थीं और विचार कर सुधार करने में सभी की भलाई है। हमारी दृष्टि मे तो पहिले हम श्रावक ही अपने मे सुधार करें। सम्भवतः हम श्रावक ही मुनिमार्ग को दूषित कराने में प्रधान सहयोगी हैं। हम श्रावक जहां इक्के-दुक्के मुनिराज को अपनी दृष्टि से—कहीं किन्हीं अंशों में कुछ प्रभावक पाते है, उनकी अन्य शिथिलताओं को नजरन्दाज कर जाते हैं और साधु को इतना बढ़ावा देने लग जाते हैं कि साधु को स्वयं में एक संस्था बनने को मजबूर हो जाना पड़ता है। साधु के यश के अम्बार लगे रहें और वह भीड़ से घिरा चारों ओर अपने जय-घोष सुनता रहे, तो इस युग मे तो यश-लिप्सा से बचे रहना उसे बड़ा दुष्कर कार्य है। फलतः साधु स्वयं संस्था और आचार्य बन जाता है और भक्तगण उसके आज्ञाकारी शिष्य। नतीजा यह होता है कि साधु की अपनी दृष्टि वैराग्य से हटकर प्रतिष्ठा और यश पर केन्द्रित होने लगती है। उसकी दृष्टि में परम्परागत आचार्य भी फीके पड़ने लगते हैं। बस, साधु की यही प्रवृत्ति उच्छृङ्खल और उद्दण्ड होने की शुरुआत होती है।

जनता दूसरों का माप अपने से करती है। हमे बोलने की कला नहीं और अमुक साधु बहुत बढ़िया—जन-मन-मोहक प्रवचन करते है या हम अपना भ्रमण-प्रोग्राम घोषित कर चलते हैं तो अमुक साधु बिना कुछ कहे ही एकाकी, मौन विहार कर देते हैं तो हम आकर्षित होकर उन्हें हर समय घेरने लगते है—उनकी जय-जयकार के अम्बार लगा देते हैं। पत्रकार प्रकाशन-सामग्री मिलने से उस प्रसंग को विशेष रूपों मे छपाने लगते है। बस, कदाचित् साधु को लगने लगता है कि मुझसे उत्तम और कौन? उसका मोह (चाहे वह प्रभावना के प्रति ही क्यों न हो) बढने लगता है और वह भी ऐसे कार्यों को प्राथमिकता देने लग जाता है जिसे जनता चाहती हो उसके भक्त चाहते हों और जिससे उसका विशेष गुणगान होता हो। वह देखता है—लोगों की रुचि मन्दिरो के निर्माण मे है तो वह उसी मे सक्रिय हो जाता है, साहित्य मे जन-रुचि है तो वह साहित्य लिख-लिखाकर उसके प्रकाशन मे लग जाता है या बाहरी शोध-खोज की बातें करने लगता है अपनी खोज और कर्तव्य को भूल जाता है। आज अविचल रहने वाले साधु भी हैं और वे धन्य हैं।

मुनियों की जयन्तियाँ मनाने उन्हें अभिनन्दन ग्रंथ या अभिनन्दन-पत्रादि भेंट करने कराने जैसे सभी कार्य भी श्रावकों से ही सम्पन्न किये जाते हैं। कैसी विडम्बना है कि—'मारे और रोने न दे'? हम ही बढ़ावा दें और हम ही उन्हें उस मार्ग में जाने से रोकने को कहें? ये तो ऐसा ही हुआ जैसे साधु कमरे में बैठ जाय और गृहस्थ आपस में ऊपर एक पंखा फिट कराने की बातें करें? साधु मना करें तो कहें—महाराज यह तो हम श्रावकों के लिए ही लगवा रहे हैं आदि। जब पंखा लग जाय तब वे ही श्रावक बाहर आकर कहें कि ये कैसे महाराज हैं—'पंखे का उपयोग करते हैं?'

हमने देखा पू० आ० श्री धर्मसागर जी का 'अभिनदन-

ग्रन्थ।' लोगों का कहना है आचार्य श्री इसमें सहमत न थे और अन्त तक इससे दूर रहे उन्होंने नहीं स्वीकारा जब कि कई मुनि श्रावकों की भक्ति के वशीभूत हो अपने स्वयं के पद को भूला बैठते हैं। किसी मुनि के जन्म की रजत, स्वर्ण या हीरक-जयंती मनाई जाती है तो काल गणना माता के गर्भ निःसरण काल से की जाती है—जैसे कि आम संसारी जनों में होता है। जब कि, मुनि का वास्तविक जन्म दीक्षा काल से होता है—वीतराग अवस्था के धारण से होता है और आगम में भी मुनि अवस्था को ही पूज्य बताया गया है। क्या मुनि कोई तीर्थकर है; जो उनको कल्याणकों से तौला जाय? पर, क्या कहें श्रावक तोलते है और मुनि तुलते हैं। आखिर जरूरत क्या है—घिसे-पिटे दिनों को गिनने की? क्या इससे मुनि-पद ज्यादा चमक जाता है? धन्य हैं वे परम वीतरागी मुनि, जो इस सबसे दूर रहते हैं—'हम उनके हैं दास, जिन्होंने मन मार लिया।'

हमे यह सब सोचना होगा और मुनियों के प्रति चिंता व्यक्त न कर, पहिले अपने को सुधारना होगा। काश, हम श्रावक उन्हें चन्दा न दें तो मुनि रसीद पर हस्ताक्षर न करें, आदि। यदि हम ठीक रहें और श्रावक संघ को कर्तव्य के प्रति सजग रखने का प्रयत्न करें तो सब स्वयं ही सही हो—पदेन सभी मुनि उत्तम है।

कैसी बिडम्बना है कि हम अपने नेताओं को और अपने श्रावक-पद को तो सही न करें और पूज्य मुनियों की तथा परायों की चिंता मे दुबले होते रहें।

३. शोध-खोज और हमारा लक्ष्य :

शोध की दिशा बदलनी होगी। आज जो जैसी शोध हो रही है और जैसी परिपाटी चल रही है, उससे धर्म दूर-दूर जाता दिखाई दे रहा है। यह ठीक है कि जैनधर्म शोध का धर्म है पर उसमें शोध से तात्पर्य आत्म-शोध (शोधन) से है, न कि जड़ की गहरी शोध से। जड़ की गहरी शोध तो आज बहुत काल से हो रही है और इतनी हो चुकी है कि दुनियां बिनाश के कगार तक जा पहुंची है—परमाणु-खतरा सामने है। प्रकारान्तर से हम जैनी भी आज जो खोजें कर रहे है, वे पाषाण और प्राचीन लेखन आदि की खोजें भी सीमाओं को पार कर गई है। उनसे हमारे भण्डार तो भरे, पर हम खाली के खाली, जहां के तहां और उससे भी गिरे बीते रह गए और आत्म-लक्ष्य न होने से किसी गर्त में जा पहुंचे। यदि यही दशा रही तो एक दिन ऐसा आयगा कि कोई उस गर्त को मिट्टी से पूर देगा और हम मर मिटेंगे—जैनी नाम शेष न रहेगा —मात्र खोज की जड सामग्री रह जायगी। या फिर क्या पता कि वह भी रहे न रहे। पिछले कई भण्डार तो दीमक और मिट्टी के भोज्य बन ही चुके हैं।

प्राचीन पूर्वाचार्य बड़े साधक थे उन्होने स्वयं को शुद्ध किया और खोजकर हमें आत्म-शुद्धि के साधन दिए। आज भण्डारों से पूर्वाचार्यों कृत इतने ग्रंथ प्रकाश में आ चुके हैं कि अपना नया कुछ लिखने-खोजने की जरूरत ही नहीं रही। हम प्रकाश मे आए हुए मूल ग्रन्थों का तो जीवन मे उपयोग न करें और मनमानी नई पर-खोजों में जुटे रहें, वह भी दूसरों के लिए। यह कहां की बुद्धिमानी है? हमे अपने जीवन मे आचार पर बल देना ही हमारी सच्ची खोज होगी।

यह हम पहिले भी लिख चुके हैं और आज भी लिख रहे है कि यदि वास्तव मे शोध-खोज का मार्ग प्रशस्त करना है तो हम शुद्ध पंडित परम्परा को जीवित रखने का प्रयत्न करें—जिससे हमें भविष्य में आत्म-शोध का मार्ग मिलता रहे। आचार्यों द्वारा कृत प्राचीन शोधों से हमे वे ही परिचित कराने में समर्थ हैं। इसमें अत्युक्ति नहीं कि भविष्य मे पूर्वाचार्यों द्वारा शोधित ऐसे जटिल प्रसंग हमें सरल भाषा में कौन उपस्थित करा सकेगा, जैसे प्रसंग आयु के उतार पर बैठे हमारे विद्वानो ने जुटाए हैं। षट्खंडागम—धवलादि, समयसार, षट्प्राभृत संग्रह, बंधमहाबंध तथा अन्य अनेक आगमिक ग्रंथों के प्रामाणिक हिन्दी रूपांतर प्रस्तुत करने वाले इन विद्वानों को धन्य है और इनकी खोजें ही सार्थक हैं। हमारा कर्तव्य है कि उन ग्रंथो का लाभ लें—उन्हें आत्म-परिणामों मे उतारें और आगामी पीढ़ी को उनसे परिचित करायें। बस आज इतनी ही शोध आवश्यक है और यही जैन और जैनत्व के लिए उपयोगी है—अन्य शोधें निरर्थक हैं। वरना, देख तो रहे हैं—जैनियों के ढेर को आप। शायद ही उसमे से किसी एक जैनी को पहिचान सके आप।

एक सज्जन बोले—हमे याद है, जब हमने एम. ए.

कर लिया तो हमारे सामने भी कई हितैषियों द्वारा शोध-प्रबंध लिख कर डिग्री प्राप्त कर लेने की बात आई थी और चाहते तो हम डिग्री ले भी सकते थे। पर, हमने सोचा—शोध तो आत्मा की होनी चाहिए। प्रयोजनभूत तत्त्वों और आगमिक कथनों को तो आचार्यों ने पहिले ही शोध कर रखा है। क्यों न हम उन्ही से लाभ लें? यदि हमने प्रचलित रीति से किसी नई शोध का प्रारम्भ किया तो निःसन्देह हमारा जीवन उसी मे निकल जायगा और अपनी शोध—आत्म शोध कुछ भी न कर सकेंगे। बस, हमने उसमे हाथ न डाला; अब यह बात दूसरी है कि परिस्थितियो वश हम अपनी उतनी खोज न कर सके, जितनी चाहिए थी। फिर भी हमे सतोष है कि हम जो है, जैसे हैं, ठीक है। पूर्वाचार्यों की शोध में सतुष्ट, आस्थावान और विवादास्पद एकांगी शोधो से दूर।

क्या कहें, शोध और सभाल की बातें? एक दिन एक सज्जन आ गये। बातें चलती रही कि बीच मे—बिखरे वैभव की रक्षा और शोध का प्रसग छिड़ गया। वे बोले—पडित जी, क्या बताएं? मै अमुक स्थान पर गया। कितना मनोरम पहाड़ी प्रदेश है वह, कि क्या कहू? मैंने देखा वहां हमारी प्राचीन सुन्दर खडित-अखडित मूर्तियो का वैभव विखरा पड़ा है, कोई उसकी शोध-सभाल करने वाला नही—बड़ा दुख होता है इस समाज की ऐसी दशा को देखकर। वे चेहरे की आकृति से, अपने को बडा दुखी जैसा प्रकट कर रहे थे, जैसे सारी समाज का दुख-दर्द उन्हीं ने समेट लिया हो।

बस, इतने मे क्या, हुआ कि सहसा उन्होने पाकिट से सिगरेट निकाली, माचिस जलाने को तैयार हुए कि मुझसे न रहा गया—मन ने सोचा, वाह रे इनका प्राचीन वैभव। वचनों ने तुरन्त कहा—'कृपा करके बाहर जाकर पीजिए।' वे सहमे। जैसे शायद उस क्षण उन्हें अपनी शोध-सभाल का ध्यान आया हो—क्षण भर के लिए ही सही। वे विरमत हुए और बात समाप्त हो गई। मैंने सोचा—काश, ये अन्य शोध-संभालों के बजाय आत्म-शोध करते होते। आप इस प्रसग में कैसा क्या सोचते हैं?

जब देश में हिंसा का वातावरण बन रहा है, लोग मछली-पालन और पोल्ट्रीज फार्म कायम करने जैसे धन्धो द्वारा जीवों के वध में लगे हैं तब कुछ लोग उस वध के निषेध मे भी लगे है। कुछ ऐसे भी हैं जो पशु-पक्षियो पर रिसर्च कर ग्रन्थो के निर्माण मे लगे हैं। गोया, अनजाने मे वे मांस-भक्षियों को विविध जीवो की जानकारी दे रहे हों, क्योंकि परमाणु खोज की भांति उसमे भी जीवरक्षा की गारण्टी नहीं है—मास भक्षी ऐसी जानकारी का दुरुपयोग भी कर सकते है। हमने बहुत से आफसैट पोस्टरो को देखा है, जो प्लेट पर अण्डे की जर्दी लगाकर छापे जाते है। अहिंसा के पुजारी बनने वाले कतिपय प्रचारक इसी विधि के पोस्टर बनाने-बनवाने मे सन्नद्ध है, आदि।

हम निवेदन कर दे कि यह अनेकान्त के ४३वे वर्ष की प्रथम किरण है। गत बीते वर्ष में हम स्खलित भी हुए होगे जिसका दोष हमारे माथे है। हम यह भी जान रहे है कि जो मोती चुनकर हम देते रहे हैं उनके पारखी थोडे ही होगे। एक-एक मोती चुनने मे कितनी शक्ति लगानी होती है इसे भी कम लोग ही जानते होगे। धर्म और तत्त्वज्ञानशून्य वर्ग तो हमारे कार्य को निष्फल मानने का दुःसाहस भी करता होगा। पर, इसकी हमे चिन्ता नही। यतः सभी हस नही होते। हां, एक बात और, अब तक हमारे महासचिव, सस्था की कमेटी आदि ने हमे पूरा-पूरा सहयोग दिया है। लेखको के सहयोग से तो पत्रिका को जीवन ही मिलता रहा है। हम सभी के आभारी है और नए वर्ष मे सभी का स्वागत करते है।

—'संपादक'

—द्वन्द-युद्ध—

दोनों ने एक दूसरे को चैलेंज जैसा दे रखा है। एक ओर हैं परिग्रही—आत्मोपलब्धि की चर्चा करने वाले और दूसरी ओर है अकेला अपरिग्रह। अपरिग्रह कहता है कि मेरे अपनाए बिना आत्मोपलब्धि असंभव है और वे हैं—वाचन और पाचन को बेचैन—भोगों में रस लेते, आत्मोपलब्धि की रट लगाए।

हमारे ख्याल से तो तीर्थंकरों ने भी अरूपी आत्मा की ओर ऐसी दौड़ें नहीं लगाईं। पहिले उन्होंने बारह भावनाओं का चिन्तवन कर इन्द्रियगम्य—नश्वर शरीर-भोगों को पहिचान कर छोड़ा तब आत्मा में रह सके। देखें—कौन जीतता है?

'निष्काम साधक'

(श्री यशपाल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ)

☐ समीक्षक—डॉ० महेन्द्र सागर प्रचण्डिया

प्रकाशक : श्री यशपाल जैन अभिनन्दन समारोह समिति द्वारा सस्ता साहित्य मण्डल, ६१७७, कनाट सरकस, नई दिल्ली।

पृष्ठ-संख्या : बड़े आकार के आठ सौ अट्ठाईस। १०० से अधिक चित्र आर्ट पेपर पर, नयनाभिराम प्रकाशन।

मूल्यमान् : रु० २५१-०० मात्र।

गुणों के समूह को द्रव्य कहते है। जीव-अजीव, धर्म-अधर्म, आकाश और काल नामक षट्द्रव्यो के समूह को कहते है संसार। ससार में कोई वदनीय है तो वह है गुण। गुण सदा शाश्वत रहते हैं। जीव अथवा प्राण एक अविनाशी द्रव्य है, गुण है। प्राण जब पर्याय धारण करता है तब कहलाता है प्राणी। पर्याय बदलती रहती है।

अभिनन्दन ग्रंथ शाब्दिक वंदना का समवाय है। इसमें जिस व्यक्ति पर आधारित अभिनन्दन ग्रंथ रचा जाता है, उसके गुणों का वर्णन किया जाता है। विवेच्य अभिनंदन ग्रंथ साहित्य-वारिधि, पद्मश्री, श्री यशपाल जी जैन के गुणों की मंजूषा है। इसका विशालकाय होना इस बात का प्रमाण है कि उनमें 'गुणो' का परिमाण कितना विराट और वजनीक है। अभिनन्दन-परम्परा में नागरिक-प्रमुख भारतरत्न श्रीमती इन्दिरा अभिनन्दन ग्रन्थ विशालतम प्रकट हुआ है और संतजगत में अभिनन्दन ग्रन्थ पहल करता परमवद्य आचार्य देशभूषणजी महाराज पर आधारित अभिनन्दन ग्रन्थ। साहित्यिकों-सामाजिकों में जितने अभिनन्दन-ग्रंथ प्रकट हुए है, उनमे 'निष्काम साधक' निस्सदेह निराला है। निरुपमेय है।

हिन्दी मे सम्पादन की परम्परा आधुनिक हिन्दी साहित्य के पुरोधा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी द्वारा प्रवर्तित है। अभिनन्दन-ग्रन्थों के सम्पादन मे लीक, बडी करने वालों मे अगुआ रहे है राजसम्मानित सांसद प० बनारसी दास चतुर्वेदी। 'निष्काम साधक' के प्रधान सम्पादक है—पं० बनारसीदास चतुर्वेदी। 'निष्काम साधक' के विषय में उनकी क्या और कैसी धारणा रही है, उसका आस्वादन उन्हीं की शब्दावली मे द्रष्टव्य है, यथा :

"इस ग्रंथ मे बहुत-कुछ ऐसा है, जो पाठकों को प्रेरणा दे सकता है। यशपालजी के जीवन में बड़े उतार-चढ़ाव आए हैं, उन्होने अच्छे-बुरे दोनों तरह के दिन देखे है; किंतु उनकी सबसे बडी विशेषता यह है कि उन्होंने नीति के मार्ग को कभी नहीं छोड़ा। इतना ही नही, जिसे उन्होंने ठीक माना, उस पर दृढतापूर्वक चलते भी रहे हैं।"

"हम निस्सकोच कह सकते हैं कि यशपालजी में कुछ ऐसी विशेषतायें है जो सामान्यतः दूसरों में नही मिलतीं। वह परिश्रमशील है, मुक्त भाव से लिखते हैं और मुक्त भाव से अपनी बात भी कहते है। अपनी लेखनी और अपनी वाणी पर उन्होने कभी कोई अकुश स्वीकार नही किया।

वर्तमान युग मे जबकि मूल्यों का संकट उपस्थित हो गया है, यह काम आसान नही कि व्यक्ति जो चाहे, वह कहे और जो चाहे, वह लिखे; पर यशपालजी ने वह रास्ता आरम्भ से ही चुना है और अब भी उसी रास्ते पर निर्भीकतापूर्वक चले जा रहे हैं। इसमें जो खतरे है, उनकी उन्होंने कभी परवाह नही की।

"इस ग्रंथ की सबसे बडी विशेषता यह है कि इसमे एक परम आस्थावान् आशावादी, मूक और मुक्त व्यक्ति की कहानी है। इस ग्रंथ को जो भी पढ़ेगा, उसे कुछ न कुछ अवश्य मिलेगा।" सम्पादक की शब्दावली में 'निष्काम साधक' की राम-कहानी साफ और सुथरी शैली मे कही गई है।"

ग्रंथ का प्रारम्भ सन्देश और शुभ कामनाओं से होता है, जिसमे अनेक महापुरुषों के उद्बोधक विचार और वरिष्ठ जनों के मंगल-वचन तथा देश-विदेश से प्राप्त शुभ कामनाएँ संग्रहीत हैं। सन् १९७२ में षष्ठि-पूर्ति के अवसर पर श्री यशपालजी को एक विशाल हस्त-लिखित ग्रंथ

'समन्वयी साधु साहित्यकार' भेंट किया गया था। उसके लिए मंगल कामनाएँ भेजने वाले महानुभावों में से जो हमारे बीच नहीं रहे, उनके उद्गार—'अशेष आशीष' उपखंड में दे दिए गए हैं। शेष तथा अन्य 'जीवेम शरद: शतम्' उपखंड में सम्मिलित किए गए हैं। इन भावोद्गारों को पढ़कर पता चलता है कि यशपालजी के प्रति देश-विदेश में कितनी अधिक आत्मीयता है।

'व्यक्तित्व और कृतित्व' अध्याय में भारत तथा अन्य देशों के उन व्यक्तियों के संस्मरण दिए गए हैं, जिन्हें यशपालजी के सम्पर्क में आने का अवसर मिला था। इन सभी संस्मरणों को तीन उपखंडों में विभाजित किया गया है। 'पुण्य पुरुषों की कलम से' की सामग्री 'समन्वयी साधु साहित्यकार' हस्तलिखित ग्रंथ के उन हितैषियों की है, जिनका निधन हो गया है। अन्य संस्मरणों को 'समकालीनों की दृष्टि मे' दिया गया है। पारिवारिक उपखंड मे परिवार के सदस्यों की भावनाएँ संकलित हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि सारे सस्मरण यशपालजी की मानवीय गुणवत्ता तथा उनके द्वारा की गई मानवीय मूल्यों की उपासना पर प्रकाश डालते हैं।

'निष्काम साधक' का अगला अध्याय है 'प्रवासी भारतीयों के बीच' यशपालजी को संसार के लगभग ४२ देशों में जाने का सुयोग मिला है। विभिन्न देशो मे उनके योगदान के सम्बन्ध में जो लेख प्राप्त हुए है, उन्हें इस खंड में दिया गया है। उस सबसे स्पष्ट हो जाता है कि यशपालजी जहां कहीं गए हैं, भारतीय संस्कृति, भारतीय दर्शन और हिन्दी साहित्य का सन्देश लेकर गए हैं। इस सन्देश-थाती का विभिन्न देशों के निवासियों विशेषकर प्रवासी भारतीयों पर कितना गहरा प्रभाव पड़ा है, उसका अनुमान इस खंड में प्रकाशित सामग्री को बांचकर लगाया जा सकता है।

'जीवन के विविध सोपान' नामक अगले अध्याय में श्री यशपालजी स्वयं अपने जीवन-विकास की कहानी लिखते हैं। ग्रामीण परिवेश तथा परिवार से उन्हें जो संस्कार बचपन में प्राप्त हुए हैं, उन्हें किस प्रकार पचाया और परिपुष्ट किया है, उस सबका विस्तारपूर्वक उल्लेख इस अध्याय की सामग्री में किया गया है। इस अध्याय में सम्पादित सामग्री की सबसे बड़ी उपलब्धि है पाठकों को सद्-असद् प्रवृत्तियों का अवबोध और उसके द्वारा जीवन को उन्मार्ग से हटाकर सन्मार्ग की ओर उन्मुख करना। इसी अध्याय में 'चित्रावली भी दी गई है, जिनमें बड़े और विरल महापुरुषों के साथ यशपालजी दर्शाये गए हैं।

'निष्काम साधक' का अगला अध्याय है—'रचना संसार।' श्री यशपालजी ने समाज तथा देश की जो सेवा की है, उसका माध्यम रहा है उनकी लेखनी। उन्होंने विविध विधाओं में साहित्य रचा है। कहानियों, कविताओं, संस्मरणों, बोध-कथाओं, निबंधों तथा यात्रा-वृत्तान्तों आदि-आदि के द्वारा उन्होने हिन्दी साहित्य के भंडार को समृद्ध किया है। सकड़ों कृतियों में से कतिपय रचनाएँ बानगी के रूप मे इस अध्याय में दी गई हैं। इससे यशपालजी का साहित्यिक व्यक्तित्व ही उजागर नहीं हुआ है, अपितु उनकी अभिव्यक्ति क्षमता और भाषा-विषयक विलक्षणता का भी आभास हो जाता है।

'जननी जन्म भूमिश्च' नामक अध्याय मे श्री यशपाल जी की जन्म-भूमि ब्रज भूमि के विषय मे उन मूर्धन्य विद्वानो की रचनाओं का संकलन किया गया है, जिनसे वहां की संस्कृति, साहित्य और धर्म का महत्त्व मुखर हो उठा है। ब्रज की विभूतियों का भी सहज में अवबोध हो जाता है।

'जैन संस्कृति' अगला अध्याय है। यशपालजी का जन्म जैन परिवार में हुआ, उनमें जिनधर्म के प्रति गहरी आस्था है। इस अध्याय में जिनधर्म, दर्शन और संस्कृति को उजागर करने वाली रचनाओं को संकलित किया गया है। लेखक रहे हैं जैन जगत के जाने-माने मनीषी।

'भारतीय संस्कृति' ग्रंथ का अगला अध्याय है। इसमे उन विरल विद्वानों के अमूल्य निबंधों का संकलन है, जिनका महत्त्व आज भी ज्यों-का-त्यों सुरक्षित है। सर्वोदय (मो० क० गांधी), प्राचीन भारतीय परम्परा में त्रेत परात्पर-तत्त्व (श्री अरविन्द), भारतीय संस्कृति में अद्वैत का अधिष्ठान (साने गुरुजी) मन की महिमा (स्वामी मुक्तानन्द परमहंस), अणुव्रत की क्रान्तिकारी पृष्ठभूमि (आचार्य तुलसी), दृश्य से द्रष्टा की ओर यात्रा (आचार्य

रजनीश) सुखी इसी जीवन में (स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती), भारतीय दर्शन (युवाचार्य महाप्रज्ञ), अहिंसा सार्वभौम (जैनेन्द्र कुमार), श्री अरविन्द और माताजी के जीवन-दर्शन का प्रधान प्रभाव (डा० इन्द्रसेन), भारतीय संस्कृति-स्वरूप चिन्तन (डा० बल्देव उपाध्याय), भारतीय संस्कृति के अवदान (डा० प्रभाकर माचवे), भारतीय ललित कलाओं का आकलन (प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी), भारतीय संस्कृति और श्रमण परम्परा (डा० हरीन्द्रभूषण जैन), लोककल्याण के लिए विनोबा के सिद्धान्तो की सार्थकता (सुशील अग्रवाल), भारत का एक बिश्वासी खेल : छक्का चपेटा (कृष्णानन्द गुप्त), सात निषेधात्मक सूत्र (चन्द्रगुप्त वार्ष्णेय), तथा भारतीय जीवन में लोक-शक्ति का अधिष्ठान (सिद्धराज ढड्ढा) जैसे सुधी लेखकों की अमृतवाणी को शब्दायित किया गया है। इन सभी सिद्धान्तो ने श्री यशपालजी के जीवन को प्रभावित किया है। कहा जा सकता है कि जैन सिद्धान्तों से अनुप्राणित गांधी-दर्शन की छाप उनके जीवन पर सर्वाधिक पड़ी है।

इसी प्रकार 'निष्काम साधक' मे अगला अध्याय है 'हिन्दी का वैभव।' श्री यशपालजी का सम्पूर्ण जीवन साहित्य की सेवा मे ही व्यतीत हुआ है। उन्होने अर्द्ध शताब्दी की सुदीर्घ अवधि मे कहानिया, कविताएँ, निबध, यात्रा-विवरण आदि अनेक विधाओ मे हिन्दी साहित्य की धाराओं को परिपुष्ट किया है। इस अध्याय में हिन्दी के आधुनिक साहित्य का मूल्यांकन प्रस्तुत किया गया है।

ग्रंथराज का अन्तिम अध्याय है 'परिशिष्ट' रूप का। जिसमें विवेच्य श्री जैन की जीवन-यात्रा की तालिका प्रस्तुत की गई है, जो इतिहास के क्रमिक विकास पर अच्छा प्रकाश डालती है। परिशिष्ट दूसरे मे आपकी रचनाओं की तालिका दी गई है।

इतने विशाल महाग्रथ के प्रकाशन से जहां एक ओर श्री यशपालजी की आदर्श जीवन-यात्रा का क्रमबद्ध विकास-आभास मिलता है, वहां दूसरी ओर भारतीय संस्कृति साहित्य, इतिहास, कला, दर्शन और धर्म का विरल भंडार एक स्थान पर उपलब्ध हो जाता है। अन्वेषण-क्षेत्र के अध्येताओं के लिए प्रस्तुत महाग्रंथ एक सन्दर्भ-ग्रथ की नाई अपनी उपयोगिता रखता है। ग्रथ की साज-सभार इतनी आकर्षक और मूल्यवान है कि दर्शक और पाठक का मन पन्ने पलटते अघाता नही। हर पन्ने मे मानवीय मूल्यो का प्रकाश विकीर्ण होता दीख पडता है।

इतने विशाल किन्तु विचारवंत सामग्री का सवाहक 'निष्काम साधक' महाग्रथ का सम्पादन और प्रकाशन निश्चित ही हिन्दी ससार के गोरव को बर्द्धमान करता है और मानवीय मूल्यो का महत्व-वर्द्धन।

इत्यलम्।

मगल कलश
३९४, सर्वोदय नगर,
आगरा रोड, अलीगढ़-१

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

कागज प्राप्ति :—श्रीमती अंगूरी देवी जैन (धर्मपत्नी श्री शान्तिलाल जैन कागजी) नई दिल्ली-२ के सौजन्य से

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द । ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २५ ००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : स० पं० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, सात विषयों पर शास्त्रीय तर्कपूर्ण विवेचन २-००

Jaina Bibliography Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References) In two Vol. (P. 1942) Per set 600-00

सम्पादन परामर्शदाता : श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीरसेवामन्दिर के लिए मुद्रित, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५३

BOOK-POST

वीर सेवा मन्दिरका त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ४३ : कि० २ अप्रैल-जून १९९०

इस अंक में—

प्रकाशक :

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

सावधान !

कहीं जैन डूब न जाय

—त्यागियों और श्रावकों द्वारा "चारित्तं खलु धम्मो" वाक्य को पूर्ण आचरण में न लाया जाना—उनके द्वारा योग्य चारित्र के पालन की उपेक्षा किया जाना जैन को ले डूबेगा।

—*धर्म के मूलरूप दिगम्बरत्व*—*अपरिग्रहत्व से लोगों* की अरुचि होना और मूल से विपरीत—सीमित आवश्यकताओं से अधिक परिग्रह का रुचि पूर्वक संचय, संरक्षण और संवर्धन कर उसमें गृद्धता रखना जैन को ले डूबेगा।

—आगम में इस आत्मा को वर्ण, रस, गंध, स्पर्श रहित अरूपी-अदृश्य कहा है इस मान्यता के खिलाफ आत्मा को देखने-दिखाने, पहिचानने-पहिचनवाने की बातें करना तत्त्वार्थ-अश्रद्धान का ही द्योतक है। क्या, पर-संग रहित अरूपी आत्मा को—वह भी भोगों में रत रहते, देखने-दिखाने की बातें छल और मिथ्यात्व नहीं ?

—आश्चर्य है कि *लोग भाग्योदय से प्राप्त अपनी ज्ञानेन्द्रियों* का उपयोग पहिले अपनी पहुँच योग्य—*अनित्य (रूपी) पदार्थों* की असारता के चिंतन में लगाकर तीर्थंकरोंवत् विरक्त तो नहीं होते—उल्टे, अपनी पहुँच से बाहर अरूपी आत्मा को पाने की चर्चायें करते हैं वह भी भोगों में रत रहकर। ये भी मिथ्यादृष्टि जैसा उल्टा प्रयास जैन को ले डूबेगा।

—लोग मानते हैं कि सम्यग्दर्शन और आत्म-दर्शन पहिचान से परे हैं– किसको हैं, किसको नहीं, यह सर्वज्ञ जाने। फिर भी वे शून्य में हाथ मारने जैसी इन दोनों को रटन लगाए हैं। चारित्र पालन और परिग्रह परिमाण या परिग्रह-त्याग पर उनकी दृष्टि नहीं जाती। दृष्टि जाय भी तो कैसे ? उसमें त्याग और श्रम जो है और इन्हें चाहिए संग्रह, मौज और यश। बस, इनका ऐसा व्यवहार जैन को ले डूबेगा।

—*स्मरण रहे, आत्मसाक्षात्कार तो अनासक्ति में स्वयं होता है*—आत्मा के प्रति आत्मा को पकड़ के प्रयत्न की अपेक्षा नहीं। आश्चर्य है कि आसक्त लोग आसक्तों को आत्मदर्शन के स्वप्न दिखा 'परस्परं प्रशंसन्ति' से पापबन्ध कर रहे हैं।

—जैनधर्म निवृत्ति प्रधान है। तीर्थंकरों जैसे महापुरुषों ने पहिले बारह भावनाओं के माध्यम से दृश्य-संसार, शरीर, भोगों की असारता को विचारा, उनसे निवृत्ति ली तब अपने में रह सके। पर आज निवृत्ति के स्थान पर प्रायः परिग्रह में प्रवृत्ति का लक्ष्य है। पर-द्रव्य से राग कर अनाप-शनाप धन, जायदाद, यश-ख्याति अर्जन में लीन होकर आत्मा को देखने-दिखाने की रटना लगाई जा रही है, जो चारित्र के अभाव में जैन को ले डूबेगी। सावधान !

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

ओम् अर्हम्

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वर्ष ४३ किरण २ | वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ | वीर-निर्वाण संवत् २५१६, वि० सं० २०४७ | अप्रैल-जून १९९०

अनेकान्त-महिमा

अनंत धर्मणस्तत्त्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः ।
अनेकान्तमयीमूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम् ।।
जेण विणा लोगस्स विववहारो सव्वहा ण णिव्वडइ ।
तस्स भुवनेक्कगुरुणो णमो अणेगंतवायस्स ।।'
परमागमस्य बीजं निषिद्ध जात्यन्ध-सिन्धुरभिधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।'
भद्दंमिच्छादंसण समूह महियस्स अमयसारस्स ।
जिणवयणस्स भगवओ संविग्गसुहाहिगमस्स ।।'

अनन्त-धर्मा-तत्त्वों अथवा चैतन्य-परम-आत्मा को पृथक्-भिन्न-रूप दर्शाने वाली, अनेकान्तमयी मूर्ति—जिनवाणी, नित्य-त्रिकाल ही प्रकाश करती रहे—हमारी अन्तर्ज्योति को जागृत करती रहे ।

जिसके बिना लोक का व्यवहार सर्वथा ही नहीं बन सकता, उस भुवन के गुरु—असाधारणगुरु, अनेकान्तवाद को नमस्कार हो ।। जन्मान्ध पुरुषों के हस्तिविधान रूप एकांत को दूर करने वाले, समस्त नयों से प्रकाशित, वस्तु-स्वभावों के विरोधों का मन्थन करने वाले उत्कृष्ट जैन सिद्धान्त के जीवनभूत, एक पक्ष रहित अनेकान्त—स्याद्वाद को नमस्कार करता हूँ ।।

मिथ्यादर्शन समूह का विनाश करने वाले, अमृतसार रूप; सुखपूर्वक समझ में आने वाले; भगवान जिन के (अनेकान्त गर्भित) बचन के भद्र (कल्याण) हों ।। □□

क्या नवग्रह पूजा शास्त्र सम्मत है ?

□ उदयचन्द्र जैन एम. ए., सर्वदर्शनाचार्य, वाराणसी

ज्योतिष शास्त्र के अनुसार ग्रह ९ होते है। उनके नाम इस प्रकार हैं—सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु और केतु। ज्योतिषियो के अनुसार ये ग्रह व्यक्तियों को ही नही, किन्तु राष्ट्रों को भी समय-समय पर फल देते रहते है। कानपुर, वाराणसी आदि कई स्थानों से प्रकाशित होने वाले दैनिक जागरण मे प्रत्येक सोमवार को प्रसिद्ध ज्योतिषी के० ए० दुबे पद्मेश के ग्रहों के सम्बन्ध में एक या दो वक्तव्य निकलते रहते हैं। जैसे—वक्री ग्रह बड़ी दुर्घटना करायेंगे। १७ मई तक बुध और शनि का वक्री होना कोई बड़ी दुर्घटना करा-येगा। रेल, यान, सड़क या अन्य दुर्घटनाओ से कई हजार व्यक्ति प्रभावित होंगे। वक्री ग्रह मौसम को भी प्रभावित करेंगे। बुध का पूर्व में उदय होना महा उत्पात कारी होगा। ४ मई से शनि वक्री चल रहा है और वक्री शनि २३ सितम्बर ९० तक रहेगा। शनि के साथ बुध भी वक्री है। लेकिन जब बुध का पहले ही पूर्व दिशा मे उदय हो और शनि वक्री रहे तो अनेक प्रकार की दुर्घटनायें होती हैं। हिंसा व आगजनी की घटनाएँ देश के अनेक अंचलो में होंगी। दिल्ली मे भी कुछ विशेष अप्रिय घटनाएँ घट सकती हैं। बुध के उदय हो जाने तथा शनि के वक्री होने के कारण कुछ खाद्यान्न वस्तुओं मे मन्दी आयेगी।

इस प्रकार से ग्रहों को लेकर सामान्य भविष्यवाणी के अतिरिक्त व्यक्तिगत भविष्यवाणी भी निकलती रहती है। जैसे—शरद पवार अपना कार्यकाल न पूरा कर सकेंगे। क्योकि शनि इन वर्षों में मकर और कुंभ मे रहेगा। बृहस्पति इन वर्षों में कई बार षडाष्टक योग बनायेगा। शनि और बृहस्पति का षडाष्टक योग उन्हें पद मुक्त होने के लिए बाध्य करेगा। इस कारण वे अपना पाँच वर्ष का कार्यकाल पूरा नही कर सकेंगे। यहाँ यह दृष्टव्य है कि दुबे जी ग्रहों को लेकर विभिन्न प्रकार की भविष्यवाणी तो करते रहते हैं किन्तु वे ग्रहों की शान्ति के लिए कोई उपाय बतलाते हों यह देखने में नहीं आया है।

ज्योतिष के अनुसार व्यक्तियों पर ग्रहों का जो प्रभाव होता है उसकी शान्ति के लिए ज्योतिषी कई प्रकार के उपाय बतलाते हैं। जैसे—विभिन्न प्रकार के मूंगा, रुद्राक्ष आदि का धारण, दान, पुण्य आदि। पता नहीं इस प्रकार के उपायो से ग्रहो की शान्ति होती है या नही। ग्रहों के सम्बन्ध में एक बात यह भी विचारणीय है कि जन्म के समय जन्मकुण्डली मे जो ग्रह जिस रूप मे पड़ जाते है क्या वे जीवन भर उसी रूप मे उस जीव को फल देते रहते है। ग्रहों के सम्बन्ध में इतनी भूमिका बतला देने के बाद अब हम प्रकृत विषय पर विचार करते हैं।

यहाँ विचारणीय यह है कि ग्रह जड़ है या चेतन। जैनधर्म के अनुसार ग्रह चेतन है। अर्थात् वे ज्योतिषी देव है। आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र मे बतलाया है—सूर्याचन्द्रमसौ ग्रह नक्षत्र प्रकीर्णकतारकाश्च। अर्थात् सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और तारे ये पांच प्रकार के ज्योतिषी देव हैं। किन्तु आधुनिक विज्ञान के अनुसार ग्रह जड़ (अचेतन) है। ग्रह चाहे जड़ हो या चेतन दोनों ही स्थितियो मे वे अपना प्रभाव चेतन और जड़ पदार्थों पर कैसे डालते है अर्थात् अच्छा या बुरा फल कैसे देते हैं यह बात विशेषरूप से विचारणीय है। जैन दर्शन के अनुसार एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में कोई क्रिया या प्रतिक्रिया नही कर सकता है। निश्चयनय से सब द्रव्य अपने में ही परिणामों का कर्ता है और पुद्गल द्रव्य अपने परिणामों का कर्ता है।

यहां एक बात यह भी विचारणीय है कि जीवों को जो शुभ या अशुभ फल मिलता है वह ग्रहों के द्वारा

मिलता है या कर्मों के द्वारा। जैन दर्शन तो कहता है कि सब जीव अपने अपने कर्मों का फल भोगते रहते हैं। सन्त कवि तुलसीदास ने भी कहा है कि 'कर्म प्रधान विश्व करि राखा। जो जस करइ तो तस फल चाखा।' जैन दर्शन के अनुसार ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ये आठ कर्म होते हैं। और जब तक ये कर्म सत्ता में बने रहते हैं तब तक यह जीव चारों गतियो में भ्रमण करता हुआ जन्म, जरा, मरण आदि के विविध दुःखों को भोगता रहता है।

हिन्दू धर्म का पञ्चामृत भिषेक, भगवान् के चरणों मे पुष्प, फल आदि चढ़ाना आदि अनेक बातें जैनधर्म में आ गई हैं। हिन्दू धर्म में ग्रहो की शान्ति के लिए कुछ उपाय बतलाये गये है। इसी से प्रभावित होकर किसी जैन विद्वान् ने भी ग्रहो की शान्ति के लिए नवग्रह पूजा का विधान बतला दिया है। यहाँ प्रश्न यह है कि यदि ग्रहो की शान्ति करना है तो क्या देवशास्त्र गुरुपूजा, चोबीस तीर्थंकर पूजा, सिद्ध पूजा, शान्तिनाथ पूजा, पार्श्वनाथ पूजा, महावीर पूजा आदि पूजाओ के करने से ग्रहो की शान्ति नही होगी और नवग्रह पूजा करने से नवग्रह जन्य अरिष्ट की शान्ति हो जायगी। हमारी समझ से ऐसा सोचना गलत है। जैन धर्म के किस शास्त्र मे ऐसा लिखा है कि नवग्रह फल देते है और उनकी पूजा करने से तज्जन्य अरिष्ट की शान्ति हो जाती है।

अब हम नवग्रह की जो पूजा है उस पर विचार करते हैं। श्री पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर दिल्ली से प्रकाशित 'नित्य पूजन पाठ प्रदोप' नामक पुस्तक मेरे सामने है। उस पुस्तक मे नवग्रह पूजा के लेखक का नाम नही दिया गया है। पूजन के किसी भी भाग मे लेखक का नाम नहीं मिला। सम्भव है कि पुस्तक मे लेखक का नाम भूल से छूट गया हो अथवा पुस्तक के सम्पादक को भी लेखक का नाम ज्ञात न हो। इसके लेखक की जानकारी न होने से यह जानना कठिन है कि नवग्रह पूजा की रचना किसने की और कब की। इतना तो अवश्य प्रतीत होता है कि इस पूजा के रचयिता सस्कृतज्ञ भी रहे हैं। इसी कारण उन्होंने नवग्रह पूजा की स्थापना का पद्य संस्कृत में लिखा है और सम्पूर्ण पूजा हिन्दी में लिखी है।

नवग्रह पूजा के प्रारम्भ में जो संस्कृत पद्य है उसमें पूजा का प्रयोजन इस प्रकार बतलाया गया है—'भव्यविघ्नोपशान्त्यर्थं ग्रहार्चा वर्ण्यते मया।' अर्थात् भव्य जीवों के विघ्नों की शान्ति के लिए मेरे द्वारा ग्रहों की पूजा का वर्णन किया जाता है। यहाँ 'ग्रहार्चा' शब्द ध्यान देने योग्य है।

हिन्दी पद्य में भी लिखा है—

आदि अन्त जिनवर नमो धर्म प्रकाशन हार।
भव्य विघ्न उपशान्ति को ग्रह पूजा चित धार॥
काल दोष परभाव सों विकल्प छूटे नाहिं।
जिन पूजा में ग्रहन की पूजा मिथ्या नाहिं॥
इस ही जम्बू द्वीप मे रवि शशि मिथुन प्रमान।
ग्रह नक्षत्र तारा सहित ज्योतिष चक्र प्रमान॥
तिनही के अनुसार सो कर्मचक्र की चाल।
सुख दुःख जाने जीव को जिनवच नेत्र विशाल॥

यहाँ कोई शंका करे कि नवग्रह पूजा मिथ्यात्व तो नही है तो 'जिनपूजा में ग्रहन की पूजा मिथ्या नाहिं' यह कह कर शंका का समाधान कर दिया गया है। तथा कर्मचक्र की चाल भी ग्रहों के अनुसार बतला दी गई है। यहाँ ध्यान देने योग्य विशेष बात यह है कि जिनपूजा के बहाने ग्रहो की पूजा की गई है।

समुच्चय पूजा के बाद प्रत्येक ग्रह का अर्घ है। अर्घ में पृथक्-पृथक् तीर्थंकर के पृथक्-पृथक् ग्रहजन्य अरिष्ट का निवारक चन्द्रप्रभु को चन्द्रग्रह जन्य अरिष्ट का निवारक और वासुपूज्य को मंगलग्रह जन्य अरिष्ट का निवारक बतलाया गया है। विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरहनाथ, नमिनाथ और महावीर इन आठ तीर्थंकरो को बुध ग्रह जन्य अरिष्ट का निवारक बतलाया गया है। इसी प्रकार ऋषभनाथ, अजितनाथ, सभवनाथ, अभिनन्दननाथ, सुमतिनाथ, सुपारसनाथ, शीतलनाथ और श्रेयांसनाथ इन आठ तीर्थङ्करों को गुरुग्रह जन्य अरिष्ट का निवारक बतलाया गया है। पुष्पदन्त को शुक्र ग्रह जन्य अरिष्ट का निवारक, मुनिसुव्रतनाथ को

शनिग्रह जन्य अरिष्ट का निवारक तथा नेमिनाथ को राहु ग्रह जन्य अरिष्ट का निवारक बतलाया गया है। मल्लिनाथ और पार्श्वनाथ को केतु ग्रह जन्य अरिष्ट का निवारक बतलाया गया है।

यहाँ यह विचारणीय है कि कही एक तीर्थङ्कर एक ग्रह के अरिष्ट का निवारण करने में समर्थ है तथा कहीं दो तीर्थङ्कर एक ग्रह का अरिष्ट निवारण करते है और कही आठ तीर्थङ्कर मिल कर एक ग्रह का अरिष्ट निवारण करते हैं। बुध ग्रह जन्य अरिष्ट का निवारण करने के लिए आठ तीर्थङ्करों की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार गुरु ग्रह जन्य अरिष्ट का निवारण करने के लिए भी आठ तीर्थङ्करों की आवश्यकता पड़ती है। केतु ग्रह जन्य अरिष्ट का निवारण दो तीर्थङ्कर कर देते है। शेष छह ग्रहो के अरिष्ट का निवारण एक एक तीर्थङ्कर द्वारा हो गया है। सम्भवत: बुध और गुरु ग्रह जन्य अरिष्ट बहुत भारी होता है। तभी तो आठ आठ तीर्थङ्कर मिल कर इनके अरिष्ट निवारण मे समर्थ होते है।

यह कैसे जान लिया गया कि पद्मप्रभु सूर्य ग्रह जन्य अरिष्ट के निवारक है। चन्द्रप्रभु चन्द्र ग्रह जन्य अरिष्ट के निवारक हैं। वासुपूज्य मंगल ग्रह जन्य अरिष्ट क निवारक है। पुष्पदन्त शुक्र ग्रह जन्य अरिष्ट के निवारक है। मुनि सुव्रतनाथ शनि ग्रह जन्य अरिष्ट के निवारक हैं। नेमिनाथ राहु ग्रह जन्य अरिष्ट के निवारक हैं। मल्लिनाथ और पार्श्वनाथ केतु ग्रह जन्य अरिष्ट के निवारक हैं। जबकि विमलनाथ आदि आठ तीर्थङ्कर बुध ग्रह जन्य अरिष्ट का निवारण करते है और ऋषभनाथ आदि आठ तीर्थङ्कर गुरु ग्रह जन्य अरिष्ट का निवारण करते है।

नवग्रह पूजा के लेखक ने नवग्रह जन्य अरिष्ट के निवारण के लिए तीर्थङ्करों का जो विभाजन किया है उसका आधार क्या है। क्या किसी शास्त्र मे ऐसा लिखा है अथवा लेखक की यह कोरी कल्पना है। यदि कल्पना के आधार से ही विभाजन करना था तो निम्न प्रकार से विभाजन किया जा सकता था जो युक्तिसगत होता। प्रथम छह ग्रह जन्य अरिष्ट के निवारण में क्रमशः तीन-तीन तीर्थङ्कर समर्थ है तथा शेष तीन ग्रह जन्य के अरिष्ट निवारण में शेष दो दो तीर्थङ्कर समर्थ हैं। (६×३=१८, ३×२=६, १८+६=२४)। इस प्रकार नवग्रह जन्य अरिष्ट निवारण के सम्बन्ध में चौबीस तीर्थंकरों का विभाजन युक्तिसंगत हो जाता।

नवग्रह पूजा की जयमाला के एक पद्य में लिखा है—'पंच ज्योतिषी देव सब मिल पूजें प्रभु पाय।' पता नही किस शास्त्र मे ऐसा लिखा है कि पाँच प्रकार के ज्योतिषी देव मिल करके प्रभु के चरणों की सेवा करते है। नवग्रह पूजा के बाद नवग्रह शान्ति स्तोत्र दिया गया है। उसमे लिखा है—

जिनेन्द्राः खेचरा ज्ञेयाः पूजनीया विधि क्रमात्।
पुष्पैर्विलेपनैर्धूपैर्नैवेद्यैस्तुष्टि हेतवे ॥
जन्म लग्न च राशि च यदि पीडयन्ति खेचराः।
तदा सम्पूजयेद् धीमान् खेचरान् सह तान् जिनान् ॥

इसका तात्पर्य यही है कि जिस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् पूजनीय हैं उसी प्रकार आकाश स्थित नवग्रह भी पूजनीय है।

नवग्रह शान्ति स्तोत्र के बाद नव ग्रहों के जाप्य भी दिये गये है। भिन्न-भिन्न ग्रहों की शान्ति के लिए जाप्यों की सख्या सात हजार से लेकर तेईस हजार बतलाई गई है। सूर्य ग्रह की शान्ति सात हजार जाप्यो से हो जाती है तो शनि ग्रह की शान्ति तेईस हजार जाप्यों से होती है। ग्रहो के जाप्यो की सख्या मे इस प्रकार का अन्तर सम्भवत: ग्रहो के बलाबल की दृष्टि से किया गया होगा। जो ग्रह अधिक बलवान् है उसकी शान्ति के लिए तेईस हजार जाप्यो का विधान किया गया है और कम बलवान् ग्रह की शान्ति के लिए सात हजार जाप्यो का विधान है।

इस प्रकार नवग्रह पूजा के सम्बन्ध में विचार करने के बाद इस लेख के उपसंहार में जैनागम के प्रकाण्ड मनीषी आचार्य कुन्दकुन्द की वाणी के कुछ अशो को यहां उद्धृत करना आवश्यक प्रतीत हो रहा है। उन्होंने समयसार मे लिखा है—

जो भण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥

(शेष पृ० ७ पर)

महान सम्राट अशोक का संवत्सर ?

□ श्री अभय प्रकाश जैन

सम्राट अशोक अपने काल का सबसे शक्तिशाली राजा था। सभी प्रमुख राजाओ ने अपने अपने संवत् चलाये लेकिन अशोक संवत् मैंने कही नही पढ़ा था। मेरे मन में उत्सुकता थी कि अशोक ने अपना संवत् अवश्य चलाया होगा, लेकिन पुष्टि हेतु प्रमाण नही मिल पा रहे थे। अशोक से सम्बन्धित साहित्य मे काल गणना के कुछ प्रमाण मिले फिर सूत्र पकड़ते-पकडते "गुप्त सवत्सर" भी "हिमवन्त थेरावली" मे मिल ही गया। उसमे लिखा है "निर्वाण से २३६ वर्ष बीतने पर[1] मगधाधिपति अशोक ने कलिग पर चढ़ाई की वहाँ के राजा क्षेमराज को अपनी आज्ञा मनवा कर वहाँ पर अपना गुप्त सवत्सर चलाया।[1]

इस सन्दर्भ से कम से कम यह तो पता चला कि अशोक ने अपना कोई सवत्सर स्थापित किया था। इस संवत्सर के विषय मे "अस्ति नास्ति" के दो पक्ष विचारार्थ सामने आते है पहला पक्ष—अशोक ने २६० ई० पू० (पुराण मतानुसार) कलिग पर क्रूर आक्रमण किया था। उसी वर्ष अशोक की कनिष्ठा महिषी तिष्यरक्षिता ने कुमार "तिष्य गुप्त" को जन्म दिया प्रतीत होता है। इसी अवसर पर "गुप्त सवत्सर" की सम्भावना मन को छू लेती है। दूसरा पक्ष –अद्यावधि कोई ऐसी संवत् शृंखला नही मिली, जिसे "गुप्त संवत्", "कुणाल संवत्" या "अशोक संवत्" नाम दिया जा सके। अत: प्रस्तुत विचारसारिणी को छोड़कर आगे बढ़ते है।

निरन्तर अध्ययन मनन के पश्चात् भी मुझे यह विश्वास नहीं होता था कि अशोक ने कोई संवत्सर नही चलाया होगा अथवा उसके अनुयायी उसके नाम से 'काल गणना' स्थापित नहीं कर पाये। इस बीच मेरी दृष्टि 'पपोसा गुहा' अभिलेख पर पड़ी।[2]

उसका पाठ है—

(क) राशो गोपाली पुत्रस [राज्ञ: गोपाली पुत्रस्य]

(ख) वहसपति मित्रस [वृहस्पति मित्रस्य]

(ग) कातुलेन गोपालिया [मातुलेन गोपालिका]

(घ) वैहिदरी–पुत्रेन [वैहिदरी पुत्रेण]

(ङ) आसाढ़ सेने न लेनं [आसाढ़ सेने न लपनं]

(च) कारित [ ] दस [कारितं उदाकस्य दश·]

(छ) मे सवछरेवपिक [छ ?] त्र अरहं [मे सवत्सरे कशपीपान अर्हं]

(ज) [तानं] [० ताना]

(द्वितीय)

(१) अहिच्छत्राया राज्ञो शोनकापन पुत्रस्य बंगपालस्य
अहिच्छत्राया राज्ञ: शौनकापन पुत्रस्य बगपालस्य

(२) पुत्रस्य राज्ञो तेवणी पुत्रस्य भागवतस्य पुत्रेण पुत्रस्य
राज्ञ: त्रैवर्णी पुत्रस्य भागतस्य पुत्रेण

(३) वैहिदरी पुत्रेण आसाढ़ सेनेन कारितं [।।]
वैहिदरी पुत्रेष आसाढ़ सेनेन कारिते [लपनम्] ।।

समूचे अभिलेख पाठ से ज्ञात होता है कि [क] वृहस्पति मित्र के मामा [ख] आसाढ सेन ने [ग] दसवें सवत्सर मे 'लपन' गुफा का निर्माण कराया अब प्रश्न उठता है वृहस्पति मित्र कौन है। प्राय: शोध विद्वानों का अनुमान है कि हाथी गुम्फा अभिलेख मे चर्चित वृहस्पति मित्र यहां वांछनीय है। परन्तु वह वृहस्पति मित्र भी तो अद्यावधि परिचय निरपेक्ष ही रह गया है। इतिहास मनीषी डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल ने पुष्य नक्षत्र के अधिपति वृहस्पति को सूत्र मानकर वृहस्पति मित्र को शुंगवंशी पुष्पमित्र से अभिन्न ठहराया है। इधर डॉ० म० म० मीराशी ने शुंगवंशी पुष्पमित्र के प्रपौत्र ओद्राक के सामन्त वृहस्पति मित्र को खोज निकाला है और उसे "मित्रकुलोत्पन्न" ठहराते हुए मित्रान्त नामा कुछ एक व्यक्तियों

की ओर संकेत भी दिया है।[४] अर्थात् वृहस्पति मित्र के अस्तित्व के लिए पूरा का पूरा ढांचा परिकल्पित किया है। मेरे विचार से ये सब अटकलबाजियां हैं निराधार अनुमान हैं।

शुंगवंशी पुष्पमित्र "वृहस्पति मित्र" का नामांतरण है ऐसे उदाहरण अन्यत्र उपलब्ध नहीं है जिनके अनुसरण पर यह उड़ान सहीमानी जा सके। अत: यह मानना अमान्य है। हमें केवल वृहस्पति मित्र चाहिए, गुरु मित्र या पुष्पमित्र कदापि नहीं।

शुंगवंशीय ओद्रक के सामंत मित्रान्त नामक व्यक्ति भी यहां अभिप्रेत नही हैं। वृहस्पति के गरिमावर्धक 'मातुलपद' की सूचना भी तब तक अर्थहीन है जब तक उसका भागनेय निश्चित रूपेण प्रतिष्ठित न हो जाय। यहां खटक पैदा करने वाली बात यह है कि शुंगवंश ब्राह्मण वंश है, उनके सामंत भी जहां रिश्तेदारियां स्थापित की जा सकें ब्राह्मण ही सभाव्य है। ब्राह्मण वंश [राजा या सामंत] वैदिक धर्म को छोड़कर किसी पौरुषेय धर्म [जैसे बौद्ध, जैन आदि] को आसानी से अगीकार नही करेगा। यही सोचकर इस स्थापना में सारवत्ता न होने से, इसे स्वीकार करना अति जटिल हो गया है।

मेरा अपना मत कुछ और है—

मूल पाठ की छठी पंक्ति मे अक्षरो के घिस पिट जाने से अपठित स्थान [.] रिक्त छोड़कर 'उदाकस्य' शब्द से उसकी पूर्ति की गई है। यदि पूर्ति करना ही अभिप्रेत है तो उदाकस्य के विकल्प में "अशोकस्य" पद द्वारा रिक्त स्थान भरा जा सकता है।

यदि ऐसा संभाव्य है तो पाठ होगा "लपन कारितं अशोकस्य दशमे संवत्सरे।" पुराण मतानुसार अशोक श्री का निधन[५] सप्तर्षि संवत् १२२६=२१६ ई० पू० के साल में हो गया। चूंकि जैन मत मरणोपरान्त[६] काल गणना मे विश्वास करता है अत: यहा "अशोक संवत्" स्वयमेव प्रासंगिक हो जाता है। "अशोकस्य दशमे संवत्सरे" का फलितार्थ होगा ई० पू० २१६-१०=२०६ मे आषाढ़ सेन ने अभिलेख तैयार कराया।

अब वृहस्पति मित्र की खोज भी सुगम हो गई है। अशोक पौत्र अर्थात् कुणाल पुत्र 'सम्प्रति' दादा की अक्षत आयुष्य में उज्जयिनीश्वर हो गया था सम्प्रति दीर्घायु न था। वीर निर्वाण संवत् ३०० में वह दिवंगत हुआ। निर्वाण संवत् [ई० पू० ५२७] ३००=२२७ ई० पू० में उनका निधन जैन शास्त्र सम्मत है। उसके बाद उसका पुत्र "वृहस्पति" उज्जयिनीश्वर[७] बन सका। उसने केवल १३ वर्ष शासन[८] किया, अर्थात् २२७-१३=२१४ ई० पू० तक उसने शासन किया।

(१) २१४ ई० पूर्व से वृहस्पति तथा २०६ ई० पूर्व से आषाढ़सेन में वर्तमान काल सगति के आधार पर दोनों करीब-करीब हो जाते है।

(२) वृहस्पति' और 'आषाढसेन' के बीच मातुल-भागनेय का सम्बन्ध अब प्रबल तर्कानुप्राणित और गरिमा सूचक है एवं मान्य है।

(३) जैन धर्म इन्हें और अधिक निकटता प्रदान करता है। पपोसा गुहा लेख से "अशोक संवत्" को सुदृढ़ विचार भूमि तो अवश्य मिल गई परन्तु विस्तृत प्रयोग क्षेत्र के अभाव में उसे "सवत्सर शृंखला" मे पिरोया नही जा सकता। अब उसका प्रयोग क्षेत्र ढूंढ़ते हैं। वह इस प्रकार है—

शिरिक और शिवदिन्ना का लेख

अभिलेख स०	स्थान	भाषा	स्थिति
८८	मथुरा	सस्कृत	भग्न

इस अभिलेख मे संवत् २९९ का उल्लेख है यह संदर्भ वीर निर्वाण संवत् का नही है। "महाराजस्य राजातिराजस्य" के वैशिष्ट्य से किसी उच्चतर महाराजा का संकेत मिलता है। यह विक्रम संवत् भी नही है। प्राय: विद्वान सवत् या संवत्सर पढ़ कर विक्रम संवत् के बारे में सोचने लगते है उत्तरोत्तर हो रहे अनुसंधान से ये धारणाएँ निर्मूल हो गई हैं। हमारा ध्यान "राजातिराज" पढ़कर सम्राट अशोक की तरफ जाता है।

जैन अनुवाद—सब सिद्धों और अर्हन्तों को नमस्कार हो। महाराज और राजातिराज के सवत्सर २००+९+९९=२९९ के शीत ऋतु को दूसरे महीने के पहिले दिन भगवान महावीर की प्रतिमा अर्हत मन्दिर मे (इत्यादि)

जैन शिलालेख संग्रह—विजयमूर्ति पृ० ५४ एम.ए.

मेरा अपना सुदृढ़ अनुमान है कि यह संवत् अशोक संवत् २९९ संभाव्य है जिसका ईस्वी साल २९९–२१९ =८० है।

इतिहास मनीषियों, अनुसंधान करने वालों के सामने एक अवसर है कि वे जैन साहित्य का अभीष्ट मथन करके अशोक सवत् पर एक निश्चित सर्वमान्य शोध करें और अमृततत्त्व को सामने लायें।

एन-१४ चेतकपुरी, ग्वालियर-४७४००९

संदर्भ-सूची

१. ५२७—२३९=२८८ ई० पू० वा वर्ष अशुद्ध है। महावंश के अनुसार अशोक ने २७६ ई० पू० मे राज्य हस्तगत किया और उसका अभिषेक २६८ ई० पू० में हुआ।

२. अशोक के गुप्त संवत् चलाने की बात ठीक नहीं जंचती। इसी उल्लेख से इसकी अति प्राचीनता के सम्बन्ध में शंका उत्पन्न होती है।
मुनि श्री कल्याण विजय 'वीर निर्बाण संवत्' और काल गणना पृ० १७१

३. (क) भारतीय अभिलेख—डॉ० सूबेसिंह राणा पृ. ६४
(ख) जैन शिलालेख संग्रह—II भाग श्री विजयमूर्ति पृ० १२/१३

४. सात वाहन वश और पश्चिमी क्षत्रियों का इतिहास पृ० ४७।

५. षड्विंशत्तुसभा राजा अशोको भविता नृषु—वायु पृ० ९९/३३२।

६. 'वीर निर्वाण संवत्' मौर्यंकालोच्छिन्ने 'मृते विक्रम-राजनि।'

७. दिव्यावदान पृ० ४३३।

८. भारतवर्ष का वृहद् इतिहास—भगद्दत्त द्वितीय भाग पृ० २७३।

(पृ० ४ का शेषांश)

जो मण्णदि जीवेमि य जीविज्जामि य परेहिं सत्तेहिं।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो॥

जो जीव ऐसा मानता है कि मैं दूसरे जीवो को मारता हूं और दूसरे जीवों के द्वारा मैं मारा जाता हू ऐसा मानने वाला जीव मूर्ख तथा अज्ञानी है। किन्तु ज्ञानी जीव की धारणा इसके विपरीत है। वह मानता है कि न तो मैं किसी का घात कर सकता हूं और न अन्य कोई जीव मेरा घात कर सकता है। इसी प्रकार जो जीव ऐसा मानता है कि मैं दूसरे जीवो को जीवित करता हूं तथा दूसरे जीवो के द्वारा मैं जीवित किया जाता हूं ऐसा मानने वाला जीव मूर्ख तथा अज्ञानी है। किन्तु ज्ञानी जीव की श्रद्धा इसके विपरीत है। वह मानता है कि न तो मैं किसी जीव को जीवित कर सकता हूं और न अन्य कोई जीव मुझे जीवित कर सकता है। इस कुन्दकुन्द वाणी का तात्पर्य यही है कि सभी जीव अपने-अपने कर्म के उदय से सुखी और दुःखी होते हैं तथा किसी भी प्रकार से अन्य जीव दूसरे जीवों को सुख और दु.ख नही दे सकता है। ऐसा जैन दर्शन का विशिष्ट सिद्धान्त है।

जब जैन दर्शन की ऐसी मान्यता, तब आकाश में स्थित नवग्रह भूमण्डल पर स्थित जीवों का इष्ट और अनिष्ट किस प्रकार करते है तथा ग्रहों की शान्ति क्या नवग्रह पूजा के करने से हो जाती है, यह समझ में नही आ रहा है। इस विषय में अन्य विद्वानो से निवेदन है कि वे इस लेख के सन्दर्भ मे अपने विचार प्रकट करने का कष्ट करें। जिससे यदि मैंने कुछ गलत लिखा है तो मैं अपनी गलती का सुधार कर सकूं। मेरी तो यही भावना है—

जैनेन्द्रं धर्मचक्र प्रसरतु सततं सर्व सौख्य प्रदायि।

शुभाशुभ और शुद्ध भाव

☐ श्री नरेन्द्र कुमार शास्त्री, भीसीकर, शोलापुर

भक्ति या संयम तप इनमें जितनी शुभोपयोग प्रवृत्ति होती है उसमे प्रशस्त रागरूप जो अंश होता है वह सवर निर्जरा का कारण नही बन सकता। जो रागांश होता है वह आस्रव-बंध का कारण माना गया है। जीवों के जो निर्जरा प्रति समय होती रहती है वह निर्जरा मोक्षमार्ग के सप्ततत्त्वों में जो निर्जरा तत्व माना गया है उस रूप नहीं है। हर समय जो कर्म जीवो के निर्जरित होते हैं उसको उदय कहा है जो नवीन कर्माश्रव के निमित्त होते हैं। संवर पूर्वक निर्जरा जो आश्रव-बंध निरोध सहित होती है उसी को मोक्षमार्ग मे निर्जरा तत्व कहा है। भक्ति (शुभराग) में उसके साथ जितना सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र (शुद्धिरूप वीतरागांश) है वह सवर निर्जरा का कारण होता है। वह रत्नत्रय वीतरागता रूप आत्मा का शुद्ध परिणाम है वह शुद्धोपयोग है वही सवर निर्जरा का कारण है अन्य नहीं। उस भक्ति में जो प्रशस्त रागरूप शुभोपयोग परिणाम है वह तो नियम से आश्रवबंध का ही कारण है। यदि केवल भक्ति या व्रत नियम निर्जरा का कारण माना जावे तो मिथ्यादृष्टि (द्रव्यलिंगी अभव्य) की भक्ति-व्रत संयम भी निर्जरा का कारण मानना पड़ेगा।

अनेकान्तात्मक वस्तु गोलरूप नही है। गोल वस्तु का कही से भी आदि अन्त बनाया जा सकता है परन्तु वस्तु का आदि अन्त नही है विवक्षित पर्याय से आदि अन्त रूप है। परन्तु पर्याय परम्परा से अनादि अनत है। पर्याय परम्परा का आदि अन्त नहीं है, गोल नही है। विस्तार रूप काल रूप उर्ध्वता अनादि अनंत है।

बिना सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र के संवर निर्जरा का प्रारम्भ नही होता। गुणस्थान ४ से १० तक मिश्रपरिणाम होते हैं (राग वीतरागता रूप) यद्यपि गुणस्थान ४ से ६ तक तारतम्येन शुभोपयोग कहा है उसके लिए निबन का दृष्टान्त दिया है। अर्थात् वीतरागता-शुद्धोपयोग-रत्नत्रयरूप अंश कम और दान पूजा भक्ति व्रतशीलरूप प्रशस्तराग शुभोपयोग अंश की प्रधानता रहती है इसलिए तारतम्येन शब्द प्रयोग बाहुल्य सूचित करता है। बिना वीतरागता रूप शुद्धोपयोग के संवर निर्जरा का प्रारम्भ सम्भव नहीं हैं। भक्ति में जितनी वीतरागता वह संवर निर्जरा का कारण है और जितनी सरागता वह आश्रव-बंध का कारण है।

भक्ति मे जो निदान रहित निष्कांक्षित भावरूप वीतरागता है वह शुभोपयोग रूप न होकर शुद्ध उपयोगमय है—आत्मा का शुद्ध परिणाम है। सम्यग्दर्शन परिणाम को शुद्धोपयोग रूप आत्म परिणाम कहा है (उवओग सुद्धप्पा) उसमे जो वीतरागता है वह सम्यक् चारित्र है। व्रत संयम रूप चारित्र के अभाव मे असयमी सम्यग्दृष्टि को भी मोक्षमार्ग रूप वह सम्यक् चारित्र रहता है। "भक्ति" यह मदराग रूप शुभोपयोग मय विशुद्धिपरिणाम हैं। उसमे जो मद राग है वह नियम से आश्रवबंध का ही कारण है और जो शुद्धिरूप वीतरागता है वह नियमतः संवर निर्जरा का कारण है। यदि ऐसा न माना जावे तो आगे ७ से १०वे गुणस्थान तक शुद्धोपयोग कहा है वहां जो आश्रवबंध होता है वह शुद्धोपयोग के कारण मानने का प्रसग आयेगा इसलिए शुभोपयोग मे संवर निर्जरा मानना तथा शुद्धोपयोग से आश्रवबंध मानना ये दोनो तत्वदृष्टि से असंगत है।

गुणस्थान ११-१२ मे वीतरागता है शुद्धोपयोग है परन्तु वहां अल्पज्ञता भावयोग द्रव्ययोग ईर्यापथ आश्रव का कारण है।

गुणस्थान १३ में पूर्ण वीतरागता है सर्वज्ञता है तथापि भावयोग न होते हुए भी द्रव्यकाययोग ईर्यापथ आश्रव का कारण है।

(मन वचन काय की प्रवृत्ति) योग शुभ अशुभ=अशुद्ध

ही होते हैं कभी शुद्ध नहीं। शुभः पुण्यस्य, अशुभः पापस्य =वे पुण्य पाप ही के कारण है कदापि संवर निर्जरा के कारण नहीं हैं। उपयोग ३ प्रकार के हैं—१. प्रशस्त राग (शुभ), २. अप्रशस्तराग (अशुभ), ३. वीतरागता रूप (शुद्ध)।

❀ रागांश आश्रवबंध का ही कारण है जो बंध मार्ग संसार मार्ग है।

❀ वीतरागांश (रत्नत्रय परिणाम) संवर निर्जरा का कारण है जो मोक्षमार्ग है।

आगम में सम्यग्दृष्टि के भोग भी निर्जरा के कारण कहे हैं परन्तु वह उपचार नय कथन है। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि की भक्ति भी उपचार से ही निर्जरा का कारण है—मिथ्यात्व नहीं है। परन्तु नयनिक्षेप का विवेक जागृत न रखते हुए उस भक्ति को परमार्थ से निर्जरा का कारण माना जावे तो वह आगम का श्रुत का अवर्णवाद है।

भक्ति में जितना निष्कांक्षित अंश है वह वीतराग रूप रत्नत्रय का अंश है उसको संवर निर्जरा का कारण मानना सुसंगत है। और भक्ति में जो मन वचन काय प्रवृत्तिरूप प्रशस्त राग—कर्मचेतना अंश है वह नियम से आश्रवबंध का कारण है। कर्म चेतना के साथ जितना ज्ञान चेतना रूप वीतराग अंश है वह संवर निर्जरा का कारण है। एक ही उपयोग परिणाम रूप राग-वीतराग रूप मिश्र-परिणाम होता है। राग पर वीतरागता का आरोपित नय निक्षेप दृष्टि से उपचार कर संवर निर्जरा का कारण कहना उपचार नय है। उसी प्रकार मंद राग का वीतराग स्वरूप रत्नत्रय पर आरोपित नय दृष्टि से उपचार कर "सम्यक्त्वं च"=सम्यक्त्व को देवायु का कारण कहना उपचार नय है। आगम मे प्रयोजन वश उपचार नय से कथन अनेक जगह पर किया है परन्तु उस उपचार कथन को परमार्थ समझना यह आगम का अर्थ विपर्यास है। योग—कर्मधारा (अशुद्धोपयोग) बंध मार्ग है। शुद्ध उपयोग—ज्ञानधारा मोक्षमार्ग है। गुणस्थान ४ से अशुद्ध और शुद्ध उपयोग=कर्मधारा-ज्ञानधारा इनका मिश्रभाव रहता है। शुभ योग सहित प्रशस्त राग रूप उपयोग (चेतना, परिणाम) शुभोपयोग है। अशुभ योग सहित अप्रशस्त रागरूप उपयोग अशुभोपयोग है। ये दोनों अशुद्ध है कर्मधारा रूप है। इनके सिवा विराग भाव सहित उपयोग है वह शुद्धोपयोग है वही ज्ञानधारा रूप है। उसी से संवर निर्जरा मोक्ष है।

मिथ्यादृष्टि को शुभ+अशुभ योग नय मिश्रधारा रूप उपयोग रहता है वह नियम से आश्रवबंध का कारण है। "स आश्रवः।" कारण का कार्य में उपचार कर योग को ही आश्रव कहा है।

सम्यग्दृष्टि को भी गुणस्थान ४ से १० तक योग से सांपरायिक आश्रव रहता है किन्तु इसके साथ वीतराग रूप ज्ञानधारा मय मिश्रभाव भी रहता है। जिसके कारण एक ही उपयोग में रागांश (आश्रवबंध) और वीतरागांश (संवर निर्जरा) दोनों का सम्मिश्रण रहता है। मिथ्यादृष्टि का मिश्रभाव सिर्फ अशुद्धरूप ही होता है जबकि सम्यग्दृष्टि का मिश्रभाव शुद्धाशुद्ध रूप होता है।

मिथ्या दृष्टि को बंधा हुआ कर्म प्रति समय जो निर्जरित होता है उसको उदय कहते हैं—सविपाक निर्जरा कहते हैं वह मोक्षमार्ग के प्रयोजन भूत सप्ततत्वों वाली संवर-निर्जरा नहीं है।

भक्ति पूजा तो योग प्रवृत्ति रूप है अतः उसका फल लौकिक आश्रवबंध ही है। उसको जो परम्परा से मुक्ति का कारण कहा है उसका हेतु उसके साथ रही शुद्धोपयोग भावना है जो रत्नत्रय रूप ज्ञान चेतना है वही परम्परा मुक्ति का कारण है। जितनी योग प्रवृत्ति है वह आश्रवबंध का कारण है कदापि संवर निर्जरा का और परम्परा मुक्ति का कारण नहीं है। उपचार नय से कहना अलग बात है परमार्थ से मुक्ति का कारण नहीं है।

अष्टद्रव्य पूजा के मंत्रो में भावना तो मोक्ष फल की रहती है वह निषिद्ध नही है वह वीतरागता रूप है। पूजा क्रिया कर्मधारा योगप्रवृत्ति रूप है उसका फल नियमतः लौकिक सद्गति स्वर्गादि है। लौकिक फल की आशा से पूजा करना निदान मिथ्यात्व है।

भक्ति मे जो अशुभ की निवृत्ति होती है वह भक्ति के कारण नहीं, किन्तु रत्नत्रय रूप वीतरागता के कारण होती है। प्रवृत्ति (राग) आश्रव-बंध का कारण है। निवृत्ति (वीतरागता) संवर निर्जरा का कारण है।

(श्री रतनलाल कटारिया के सौजन्य से)

त्रिशष्ठि शलाका पुरुष—राम, लक्ष्मण, रावण

कु॰ विभा जैन (द्वारा डॉ॰ कस्तूरचन्द जैन)

भगवान महावीर के समय से लेकर बीसवीं शताब्दी के अन्त तक २४०० वर्षों के दीर्घकाल में जैन मनीषियों ने जैन-साहित्य में विपुल वाङ्मय का निर्माण किया है। इस अवसर्पिणी अवधि में उत्पन्न हुए तिरसठ शलाका-पुरुषों में तीर्थंकरों के समान ही राम का नाम अति विख्यात है। बल्कि यह कहने में भी अत्युक्ति न होगी कि भारतवर्ष में उत्पन्न हुए महापुरुषों में राम का नाम ही सबसे अधिक लोगों के द्वारा आहुत होता है। प्राचीन समय से लेकर अब तक राम का नाम इतना अधिक प्रसिद्ध क्यों हुआ? लोग बात-बात में राम की दुहाई क्यों देते हैं, और अत्यन्त श्रद्धा एवं भक्ति के साथ राम-राज्य का स्मरण क्यों किया जाता है? इन प्रश्नों के उत्तर पर जब हम गहराई के साथ विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि राम के जीवन में ऐसी अनेक घटनाएँ घटी हैं जिससे उनका नाम प्रत्येक भारतीय की रग-रग में समा गया है, और यही कारण है कि वे इतने अधिक लोकप्रिय महापुरुष सिद्ध हुए हैं।

राम का महत्व प्रथमतः हमें वाल्मीकि रामायण मे मिलता हैं जिसमें राम को अवतारी पुरुष माना गया है। महाभारत में उनका अवतारी स्वरूप है। राम आदि से अन्त तक मनुष्य ही हैं। बौद्ध महात्मा बुद्ध राम का पुनर-अवतार मानते हैं। इसी प्रकार जैनियों में राम कथा के पात्रों को अपने धर्म में एक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। राम (पद्म), लक्ष्मण और रावण न केवल जैन धर्मावलम्बी माने जाते हैं, लेकिन तीनों ही जैनियों के शिशिष्ट शलाकापुरुषों में माने गये हैं।

इन त्रिशिष्ट महापुरुषों का वर्णन इस प्रकार है :—

२४ तीर्थंकर (जैन धर्मोपदेशक) १२ चक्रवर्ती (भरत के छः खण्डों के सम्राट) तथा ६ बलदेव ६ वासुदेव और ६ प्रतिवासुदेव ये किसी राजा की विभिन्न रानियों के पुत्र होते हैं। इनकी जीवनियाँ जैन धर्म में रामायण, महाभारत तथा पुराणों का स्थान लेती है।

रामचन्द्रजी का जीवन आलौकिक घटनाओं से भरा हुआ है। वे एक मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में पूजे जाते हैं। पिता—राजा दशरथ के वे परम आज्ञाकारी थे। माता कैकयी के कहने से कि भरत को राज्य और राम को वनवास की आज्ञा मिली। वे सहर्ष वन को जाने के लिए तत्पर हो जाते हैं। उन्हें पता था कि मेरे रहते हुए भरत का राज्य कभी भी वृद्धिगत नहीं हो सकेगा इसलिए उन्होने बनवास करना ही श्रेयस्कर समझा था। वनवासके समय उन्होंने कितने ही संकटग्रस्त राजाओं का संरक्षण किया।

लंकाधिपति रावण ने दण्डकवन से सीता का अपहरण किया था उसे वापस करने के लिए रामचन्द्रजी ने रावण से धर्मयुद्ध किया था। इस धर्मयुद्ध में रावण के अनुज विभीषण, वानरवंश के प्रमुख सुग्रीव तथा हनुमान और विराधित आदि विद्याधरों ने पूर्ण सहयोग किया था। भूमिगोचरी राम-लक्ष्मण द्वारा गगनगामी विद्याधरों के साथ युद्ध पर विजय प्राप्त करना, यह उनके अलौकिक आत्मबल का परिचायक है। रावण मरण होने पर रामचन्द्र जी उसके परिवार से आत्मीयपन व्यवहार करते हैं। उन्होंने उद्घोष किया था कि मुझे अन्याय का प्रतिकार करने के लिए ही रावण से युद्ध करना पड़ा।

लोकापवाद के कारण सीता का परित्याग करने से वे अधिक चर्चा में आये। आज हजारों वर्षों के बाद भी लोग राम राज्य की याद करते हैं। जब लोकापवाद की चर्चा राम के सामने आयी तो वे विचार करते हैं कि—एक ओर लोकापवाद सामने खड़ा है, एक ओर निर्दोष प्राण-

प्रिया का दुसह वियोग ? कितनी विकट स्थिति है ? राम अत्यन्त असमंजस्य में पड़ जाते हैं, कुछ समय के लिए किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं और कहते हैं कि यदि मैं सीता का परित्याग नहीं करता हूं तो इस मही पर मेरे समान और कोई कृपण न होगा।

"अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्"—तत्वार्थ० अ० ७ सूत्र ३८ अर्थात् जो पर अनुग्रह के लिए अपनी वस्तु का त्याग किया जाता है उसे दान कहते हैं। लोगों में फैले हुए अपवाद को दूर करने के लिए अपनी प्राणों से भी प्रिय वस्तु सीता का यदि मैं परित्याग नहीं कर सकता तो मुझसे बड़ा और कौन कृपण होगा।

इस स्थिति में सीता का परित्याग राम के लिए सच-मुच महान त्याग का आदर्श उपस्थित करता है। यह एक ऐसी घटना है जिससे राम सच्चे राम बने और कल्पान्त में स्थायी उनका यश आज भी दिग्दिगन्त व्यापी है। यदि उनके जीवन में यह घटना न घटती तो लोग राम राज्य को इस प्रकार याद न करते।

लक्ष्मण की महत्ता का कारण राम का साहचर्य है। वे उनके प्रेम के पीछे अपना समस्त सुख न्योछावर करते हुए पाते हैं। राम को वनवास के लिए उद्यत देख लक्ष्मण उनके पीछे हो लेते है। यद्यपि पहले पिता के प्रति उन्हें कुछ रोष उत्पन्न होता है, पर बाद मे यह सोचकर सन्तोष कर लेते हैं कि न्याय-अन्याय बड़े भाई समझते है। मेरा कर्तव्य तो इनके साथ जाना है। वनवास में लक्ष्मण, राम तथा सीता को सुख-सुविधा का पूरा ध्यान रखते हैं। राम के अनन्य आज्ञाकारी है। लंका मे युद्ध के समय जब इन्हें शक्ति लगती है तब राम बड़े दुःखी हो जाते है, करुण-विलाप करते हैं, पर विशल्या के स्पर्श से उनकी व्यथा दूर हो जाती है।

जैन राम कथाओं के अन्तर्गत लक्ष्मण के विषय में एक बड़ी ही विसंगति है। ग्रन्थकार कहते हैं कि लक्ष्मण नरक में गए परन्तु इस धारणा को कहीं भी पुष्ट नही किया गया कि वे क्यों नरक में गये ? हमारे विचार में यह तर्क निकलता है कि जिसमें क्रोध, मान, माया, मोह, लोभ ये पाँच अवगुण होते हैं वह नरक का गामी है। इन पाँच कषायों को जैन धर्म ही नहीं सभी धर्मानुयायी मानते हैं। इसमें लक्ष्मण को राम के प्रति अगाध स्नेह, क्रोध एवं अहंकार तीनों गुण विद्यमान हैं। इन गुणों के कारण ही लक्ष्मण नरक गामी कहे जा सकते हैं। इस बात को गोस्वामी तुलसीदास ने अपने "राम चरित मानस" में पुष्ट किया है—

"काम, क्रोध, लोभ पर विजय प्राप्त करने के लिए अर्थात् अपनी नैतिकता बनाये रखने के लिए संयम की नितान्त आवश्यकता है।"

भगवतगीता के अनुसार काम, क्रोध, लोभ नरक के द्वार हैं—

"त्रिविधि नरकस्य द्वारं नाशनमात्मनः।
काम: क्रोधस्तथा लोभस्तास्मादेतत् त्रयं त्यजेत।"
(६, ११)

तुलसी गीता की यह शिक्षा दुहराते नहीं थकते—
काम, क्रोध, मद, मोह सब, नाथ नरक के पन्थ।
सब परिहरि रघुबीरहि, भजहु भजहिं जेहि सन्त॥

डॉ० बुल्के कहते हैं कि लक्ष्मण नरक में इस कारण गये कि उन्होंने हिंसा की। हिंसा और अहिंसा के सम्बन्ध प्रश्न उठता है कि क्या राम ने हिंसा नहीं की, राम ने भी हिंसा की जब म्लेच्छों से युद्ध किया तथा रावण के साथ युद्ध में भी हिंसा हुई, यह बात स्पष्ट नहीं होती कि लक्ष्मण हिंसा के कारण नरक गये। वह तो क्रोध, मान, मोह के कारण गये हैं।

यदि उपन्यास के विरुद्ध क्षण मात्र हिंसा होने से सभी का कल्याण हो सकता है तो वह हिंसा नहीं कहलावेगी। रामचन्द्रजी ने क्षण मात्र में शक्ति का प्रयोग कर अन्याय का उन्मूलन किया तथा सत्य, नीति, न्याय की विजय दिला ी।

राम भक्ति में पल्लवित होने के पश्चात् रावण के चरित्र, चित्रण में अन्तर आ गया है और यह कहा गया है कि रावण ने मोक्ष प्राप्त करने के उद्देश्य से सीता का हरण किया था। जैन रामकथाकारों ने रावण का चरित्र ऊपर उठाने का प्रयास किया है। रावण में केवल एक दुर्बलता।

(शेष पृ० १४ पर)

भूले-बिसरे जैन भक्त कवि

□ डॉ० गंगाराम गर्ग

पिछले कई वर्षों से शोधकों एवं साहित्य-रसिको के प्रयत्न से हिन्दी का अप्रकाशित जैन साहित्य चर्चित हुआ है; फिर भी कई काव्य-कृतिया अभी तक प्रकाश की किरणें नहीं देख पाई हैं। 'हितकर', 'सेढ़ू', 'गंगा' और 'मरकत' रीतिकालीन जैन भक्तिकाव्य-परम्परा के ऐसे ही अज्ञात कवि हैं—

'हितकर' (हेतराम) :

दिगम्बर जैन मन्दिर (बड़ा) दीग के एक गुटके मे रागमाला के क्रम से अन्य कवियो क साथ भैरूं, विलास, आसावरी, सारंग, धनाश्री, कल्याण, ईभन आदि राग-रागनियों में 'हितकर' छाप से कई पद मिलते है। इसी गुटके के अन्त में चौबीस म्हाराजन की बधाई 'हेतराम' के नाम से पृष्ठ ९८ से १०३ तक अंकित है। शायद हेतराम का ही अपर नाम 'हितकर' हो। 'चौबीस म्हाराजन की बधाई' मे तीर्थंकरो के जन्मोत्सव, जन्म स्नान, वाद्य व नृत्य का वर्णन है। इसके एक दो पदों मे 'हितकर' की छाप भी प्राप्त होती है—

ए री आनन्द है घर घर है द्वार।
समुद्विजे राजा घरां री, हेली पुत्र भयो सुकुमार।
जा के जनम उछाह को री, आयो इन्द्र सहित परिवार।
जाचक जन कौं मोद सौ हेली, दीनौ द्रव्य अपार।
नामकरन सब नें रह्यो री, हेली हितकारी सुखकार॥

ढूंढारी भाषा का पर्याप्त पुट 'हेतराम' या 'हितकर' के जयपुर क्षेत्र से सम्बद्ध होने को प्रमाणित करता है। अपने आराध्य से जन्म-मरण का सकट मिटवाने को यह प्रार्थना बड़ी दैन्यपूर्ण है—

म्हे तो थाका सूं, या ही अरज करां छां हो जिनराज।
जामन मरन महा दुख संकट, मेट गरीब नेवाज।
म्हे थांका ते म्हांका साहब, थांकै म्हांकी लाज।
या बिधि सौं भव उदधि पार हौं, 'हितकरि' करिस्यौ काज।

राग सारग 'तिताल' में लिखित एक अन्य पद में 'हितकर' का आराध्य के प्रति पूर्ण समर्पण भाव भी दृष्टिगत होता है—

अरज करां छां जिनराज।
तारण तिरण सुन्यौ मोहि तार्यौ, थांनै म्हां की लाज।
भव भव भक्ति मिलौ प्रभु थांकी, याही बंध्या आज।
निज आतम ध्याउं शिव पाउ, हितकरि करिस्यां काजजी॥

वीतरागी नेमिनाथ का सामीप्य-लाभ पाने की राजुल की व्यग्रता का अनुभव सभी जैन भक्तों ने किया है। उसमें संत कवियो की विरह भावना जैसी मर्म स्पर्शिता विद्यमान है। 'हितकर' का यह पद कितना वेदनापूर्ण है—

तन की तपति जबहि मिटि हैं मेरी,
नेम पिया कूं दृष्टि भर देखूंगी।
जब दरसन पाऊंगी उनको, जनम सुफल करि लेखूंगी।
अष्ट जाम ध्यान उनको रहत है, ना जानूं कब भेटूंगी।
'हितकरि' जो कोई आनि मिलावै, जिनके पाय सीस टेकूंगी।

प्राप्त पदो मे से अधिकांश पदों का आकार छोटा होने के कारण उनमे भाव-गाम्भीर्य अधिक है। पावस ऋतु का एक मनोहर चित्र है—

चहुं ओर बदरिया बरसें अरी ए हेली री,
घरड़ घरड़ घन घरसै।
नेम प्रभू गिरनारि विराजै, देखन कूं जिय तरसै।
घुमड़ घुमड़ घनश्याम श्वेत रंग, बिजुरी चमकत दरसै।
राजुल कहै 'हितकर' जिन देखूं जबही मम मन सरसै।

सेढ़ू :

भरतपुर के पंचायती दिगम्बर जैन मन्दिर में सेढ़ू द्वारा लिपीकृत दो काव्य नवलशाह का दो वर्द्धमान पुराण और रामचद का 'चतुर्विंशति जिन पूजा' उपलब्ध है। दोनो ग्रन्थों का लिपिकाल सवत् १८७७ एव संवत् १८८८ है। सुवाच्य अक्षरों में दोनो ग्रन्थो के लिखे होने के कारण

सेढू का लिपि-कौशल प्रशंसनीय है। सेढूं ने एक कवित्त में जहां दीग के दो परोपकारी सेठ अभेराम व चेयन की प्रशंसा की है वहां दूसरे कवित्त में कामां के तेरापथी जैन मन्दिर की ख्याति भी अभिव्यक्त की है। इस तरह भरतपुर, कामां व दीग तीनों ही स्थान कवि के कार्यक्षेत्र प्रतीत होते हैं।

सेढू के फुटकर १२ दोहे, कुछ कवित्तो के अतिरिक्त सारंग, सोरठ, गौरी, धनाश्री, काफी, ईमन और बसत रागो मे ६० पद प्राप्त होते हैं। सेढूं जिनेन्द्र के पूजा-अर्चन और नामस्मरण में बड़ी रुचि रखते हैं—

जिनराज देव मोहि भावै हो।
कोई कछु न कहो, क्यों भाई और न चित्त सुहावें हो।
जाको नाव लेत इक छिन मैं, कोट कलेस नसावें हो।
पूजत चरन कंवल नितता के, मन वांछित रिध पावें हो।
तीन काल मन वच तन पूजें, सेढ़ूं तिन जस गावें हो।।

राग-द्वेष जन्य कष्टों से पीड़ित होकर 'सेढू' भक्ति-भाव की ओर मुड़े है। जिनेन्द्र के आश्रय में उन्हें बड़ा विश्वास है—

कौन हमारो सहाइ, प्रभू बिन कौन हमारो सहाइ।
और कुदेव सकल हम देखे, हांहां करत बिहाइ।
निज दुख टालन कौ गम नाहीं, सो क्यों परं नसाय।
राग रोस कर पीड़ित अति हो, सेवग क्यों सुखदाय।
या तें संकलप विकलप छाड़ें, मन परतीत जुलाइ :
'सेढू' यो भव भव सुखदाई, सेवौ श्री जिनराइ।।

भक्तिकाव्य परम्परा के सभी भक्त कवियो के समान सेढू को भी आराध्य के नाम-स्मरण में अपार शक्ति प्रतीत होती है, अतः वह मन, मर्म और वचन से उसमे निष्ठावान् है—

श्री जिन नाम अधार, मेरे श्री जिन नाम अधार।
आगम विकट दुख सागर मैं से, ये ही लेह उबार।
या पटंतर और नहिं दूजो, यह हम नहचैं धार।
या चित धर ते पशु पंषी भी, उतरे भव दधि पार।
नर भव जन्म सफल नहीं ता विन, और सब करनी छार।
'सेढू' मन और वचन काय करि, सुमिरत क्यों न गवार।

गंगा :

गंगादास द्वारा लिपिकृत आदित्यवार कथा दिगम्बर जैन मन्दिर करोली मे उपलब्ध है। शायद इन्होंने 'गंगा' उपनाम से पद लिखे हों।

'गंगा' नाम से पूर्णतः अज्ञात जैन कवि के पंचायती दिगम्बर जैन मन्दिर भरतपुर के एक गुटके में ५० पद प्राप्त है। इन पदों मे भक्ति और राजुल विरह दोनों की प्रधानता है।

अपने आराधक के प्रति अगाध विश्वास 'गंगा' के कई पदों में दृष्टिगोचर होता है—

अजी मोहे बल नाथ तिहारो।
जगपति या संसार में, सब कार्य असारो।
जनम जरामृत आद तें, सुख को नहिं पारो।
सरणागत प्रतिपाल जी, मम द्रष्टि निहारो।
लख चौरासी जोंन सौं, मोहि पार उतारो।
दीनानाथ सुनो यही, अरजी प्रति पालो।
'गंगा' चाहे सो करौं, हों दास तिहारो।।

'गगा' का आत्म निवेदन भी करुणापूर्ण है। अपने गरीब नवाज से उनका कहना है—

अरज सुनो महाराज दीन की, अरज सुनो महाराज।
भव्य भाव सें इन कर्म्मनि घेरो, राख लेहु महाराज।
गणधर तुव गुण पार न पावैं, चार ज्ञान के राज।
सो हम मंदमती नित हित कौं, विनती करत स्वकाज।
तुम पद सेवत पाप नसावत, पूजत विघन विलात।
'गंगा' भाग उदै अब पाये, अब सुनों गरीब निवाज।

भैरव, ईमन, परज, जगलो, सोहनी, विलावल, चर्चरी, जैजैवन्ती विनास, कान्हरो और षमावच आदि रागों में लिखित विभिन्न पदो मे कुछ पद राजुल विरह से सम्बन्धित भी मिलते हैं। नेमिनाथ के विरक्त होने पर राजुल भी मोक्ष सुख पाने का निश्चय कर लेती है—

कौंन भांति समझाउं, अब मैं कौन भाँति समझाउं
सिद्ध रमनी अटकै...टेक।
रथ फेरूं फेरूं गिर कौ अब, उन बिन क्यों सुख पाऊं।
मोकों त्याग राग अक्षय सुख, क्यों करमन बिरमाऊं।

दुख जारउ या जग के अब, मंतक की चोट बचाऊं।
या कारन प्रभु करत तपस्या, क्यों न मैं चरनन ध्याऊं।
यहै धार चित्त में राजुल, अब मैं पाप बहाऊं।
'गंगा' हाथ जोर कर भाषी, प्रभु मैं दीक्षा पाऊं।

मरकत :

इनका जन्म मध्य प्रदेश के ईसागढ़ में हुआ। ईशागढ़ में जन्मे अनेक पदों के रचयिता भागचंद और 'मरकत' को ठोस प्रमाणों के अभाव में एक नही माना जा सकता। 'मरकत विलास' की प्रशस्ति के अनुसार 'मरकत' ने अपनी युवावस्था बजरंग गढ में साधर्मियों के साथ पूजा, स्वाध्याय और तत्वचर्चा में व्यतीत की। 'मरकत' मंदसौर और शेरगढ़ भी रहे। इन्होंने अपना 'मरकत विलास' माघ कृष्ण सप्तमी संवत् १९७० को इन्दौर में पूर्ण किया। मध्य प्रदेश के कई स्थानों मे घूमते रहने से 'मरकत' का व्यवसाय राजकीय सेवा प्रतीत होता है।

चैत्र पूर्णमासी संवत् १९२३ वि० को अतिशय क्षेत्र बैनाड़ा तथा उसके बाद शान्तिनाथ मन्दिर झालरा पाटन जाने का उल्लेख मिलने के कारण कवि का सम्बन्ध राजस्थान से भी माना जा सकता है।

सोनी जी की नसियां अजमेर के शास्त्र भण्डार में संगृहीत 'मरकत विलास' के भक्तिपूर्ण पदों में से एक पद है—

सुनो जिनराज या अरजी, करो मो ऊपरै मरजी।
पड़ो संसार की धारा, न सूझै वार का पारा।
पुकारो दीन हुई हारा, करो भव सिन्धु से पारा। 'टेक'
करम मो दुख अति दीना, सुरस निज कर को हर लीना।
प्रभु मैं आयो तुम सरना, हरो मेरी जन्म अरु मरना।
तिरो नहि जब तक संसारा, सेवा निज दीजै भव सारा।
हरो अज्ञान अंधियारा, करो रवि ज्ञान उजियारा।
करो प्रभु मोह का नासा, रतनत्रय कीजै परकासा।
अरज मेरी हृदय धारो, 'मरकत' का कारज यहै सारो।

भक्तिपूर्ण पदों के अतिरिक्त मरकत के ३२ दोहे तथा एक गद्य रचना द्रव्य संग्रह की वचनिका भी उपलब्ध है।

दीग, भरतपुर व अजमेर के शास्त्र भंडारो में प्राप्त 'हितकर', 'सेढू', 'गंगा' और 'मरकत' के भक्तिपूर्ण पद जैन भक्ति स्तोतस्विनी के अगाध और विस्तृत प्रवाह के अभिव्यंजक हैं। □□

(पृ० ११ का शेषांश)

है सीता के प्रति आसक्ति। वह एक भक्त जो जैन धर्मावलम्बी है। जो नलकूबर की पत्नी उपरम्भा का प्रेम प्रस्ताव अस्वीकार करता है और केवली का उपदेश सुनकर यह धर्म प्रतिज्ञा करता है कि मैं विरक्त परनारी का स्पर्श नहीं करूंगा। अपने जीवन के अन्तिम दिनो मे वह सीता का राम के प्रति प्रेम देखकर सीता हरण पर हार्दिक पाश्चात्ताप करता है।

यहाँ रावण के चारित्र में हमे "मुंह मे राम बगल में छुरी" वाली उक्ति चरितार्थ होती है क्योंकि यहां हमें रावण का दोहरा चरित्र दिखाई पड़ता है। वह किसी कार्य को करने अथवा प्रण लेने से पूर्व उसके परिणाम तथा कुपरिणाम के विषय मे सोच लेता है। उसने जब नलकूबर की पत्नी उपरम्भा का प्रेम प्रस्ताव ठुकरा दिया था तब दोहरा चरित्र दिखाई देता है एक तरफ तो उसने उसकी विद्या प्राप्त करने की बात सोची कि विद्या प्राप्त कर उसको वापिस नलकूबर के पास भेजने की दूसरे रावण उसको चाहता नही था।

दूसरी बात रावण ने केवली भगवान के निकट यह प्रण लिया था कि जो स्त्री मुझे नही चाहेगी मैं उसका स्पर्श भी नही करूंगा। उसने यह सोचकर यह प्रण लिया था कि मुझे देखकर कौन स्त्री मुझे नही चाहेगी क्योंकि मैं तो इतना बलवान, सौन्दर्ययुक्त तथा बलवान हूं। मुझे अपनाना अस्वीकार ही नहीं कर सकती तथा मोहित हुए बिना नही रह सकती अर्थात् मुझे वह अवश्य ही चाहेगी।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि रावण के चरित्र में दोहरा चरित्र पाया जाता है। वह किसी कार्य को करने से पहले परिणाम के विषय में सोच लेता है। कहा जाता है कि प्रतिवासुदेव सदैव वासुदेव का विरोध करते हैं। वासुदेव अपने भाई बलदेव के साथ ही युद्ध करते हैं और प्रतिवासुदेव का वध करते हैं। बलदेव अपने भाई की मृत्यु के कारण शोकाकुल होकर जैन दीक्षा लेते हैं और मोक्ष प्राप्त करते हैं। राम, लक्ष्मण, रावण ये क्रमशः बलदेव, वासुदेव और प्रतिवासुदेव कहे गये हैं। □□

दशलक्षण पर्व : क्या यह शास्त्र सम्मत है ?

□ डॉ कपूरचन्द जैन, प्रवक्ता एवं अध्यक्ष

जैन समाज में प्रमुख रूप से मनाये जाने वाले पर्वों में दशलक्षण, रत्नत्रय, अष्टाह्निका, आदि की गणना होती है। ये पर्व शाश्वत पर्व हैं, यत: ये किसी व्यक्ति विशेष या घटना से सम्बन्धित नहीं है। ये आध्यात्मिक भावों से सम्बन्धित हैं और सदा से चले आ रहे हैं। अत: अनादि हैं तथा सर्वदा चलते रहेंगे। इनमे भी पर्यूषण या दशलक्षण पर्व ही सबसे प्रमुख हैं।

यह पर्व दि० जैन परम्परानुसार भाद्रपद शुक्ल पंचमी से चतुर्दशी पर्यन्त १० दिन मनाया जाता है, जबकि श्वेताम्बर परम्परा मे भाद्रपद कृष्ण १२ या १३ से भाद्रपद शुक्ल चतुर्दशी या पचमी तक कुल ८ दिन मनाया जाता है[1] इसका अन्तिम दिन संवत्सरी कहलाता है।

इस पर्व के लिए 'पर्युषण' और 'दशलक्षण ये दो नाम प्रचलित हैं। दिगम्बर परम्परा मे 'दशलक्षण' और श्वेताम्बर परम्परा मे 'पर्यूषण' अधिक प्रयुक्त है। इनके अर्थ औरपर्व के कारणो पर विचार ही प्रस्तुत निबन्ध का विषय है।

'दशलक्षण का अर्थ है 'दश लक्षणों या स्वरूपो वाला'। दि० जैन शास्त्रों में संवर के हेतुओं में तीसरा हेतु 'धर्म' कहा गया है उमास्वामी ने लिखा है—'स गुप्तिसमिति-धर्मानुपेक्षापरिषहजयचारित्रैः'[2] अर्थात् वह संवर गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषह, जय और चारित्र से होता है। आगे गुप्ति, समिति बता कर धर्म का स्वरूप कहना चाहिए था पर सीधे उसके—उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौं च सत्यसंवरतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणिधर्मः[3] कहा गया है अर्थात् उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य धर्म है। यहां धर्म एक वचन है, स्पष्ट है कि ये सभी मिलकर धर्म हैं। दूसरे शब्दों में इतने रूपों वाला धर्म है।

यह तो धर्म का उल्लेख हुआ दशलक्षण पर्व का नही। पर्व को भाद्रपद मे मनाये जाने के कारण का उल्लेख जैन शास्त्रों में प्राप्त नही होता।

हां भाद्रपद शुक्ल पंचमी को पृथ्वी पर पुनर्मनुष्यावास होने का उल्लेख जैन शास्त्रो मे बहुधा मिलता है।

जैन दर्शन के अनुसार भरत और ऐरावत क्षेत्रों में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालों का चक्र घूमता रहता है।[4] उत्सर्पिणी वृद्धि का और अवसर्पिणी ह्रास का सूचक है इन दोनों के छह छह भेद है। वर्तमान मे अवसर्पिणी का पंचम काल चल रहा है।

पंचम काल में एक एक हजार वर्ष पश्चात् इक्कीस कल्कि होते हैं जो मुनियों के पाणिपुट में रखे गये प्रथम ग्रास को भी कर रूप में मांगते हैं। अन्तिम जल मन्थन नाम का कल्कि होगा, उसी समय अन्तिम वीरांगद साधु, सर्वश्री आर्यिका, अग्गिल श्रावक तथा पंगुसेना श्राविका होगी तब पंचम काल के तीन वर्ष, ८ माह, १ पक्ष शेष रह जाने पर कल्कि ग्रास को कर रूप में लगा। अत: चारों तीन दिन के सन्यास पूर्वक कार्तिक वदी अमावस्या को स्वाति नक्षत्र में मृत्यु को प्राप्त होगे और उसी दिन आदि मध्य और अन्त मे क्रमशः धर्म राजा एवं अग्नि का नाश हो जायगा। इसके बाद मनुष्य मत्स्यादि का भक्षण करने वाले और नग्न होंगे।[5] यहां मरे हुए जीव नारकी और तिर्यंच होंगे तथा नरक और तिर्यंच गति से आये जीव ही यहां जन्म लेंगे।[6]

छठे काल के अन्त में संवर्तक वायु से पर्वत, भूमि, वृक्ष आदि नष्ट ही जाते हैं, जीव या तो मूर्छित हो जाते हैं या मर जाते हैं। कुछ जीव बिलों आदि में घुस जाते हैं। अन्त मे पवन, अति शीत, साररस, विष, अग्नि, धूल और धुआं इन सात की, सात सात दिन (४९ दिनों) वर्षा होती है जिससे प्रलय छा जाता है।[7]

उत्सर्पिणी के पहले काल मे जल, दूध, घी, अमृत रस आदि से भरे हुए मेघ एक एक सप्ताह बरसते है। यहा 'त्रिलोकसार' की निम्न गाथा विचारणीय है—

उस्सप्पणीयपढमे पुक्खरखीरघदमिदर सा मेघा।
सत्ताहं बरसंति य णग्गामत्तादि आहारा ॥[८]

इसका सीधा अर्थ है कि पुष्कर जल, क्षीर, दूध, घी, अमृत तथा रस वाले मेघ एक एक सप्ताह या सप्ताह भर बरसते है किन्तु व्याख्याकार माधवचन्द्र ने अपनी संस्कृत व्याख्या[९] तथा श्रद्धेय प० कैलाशचन्द्र शास्त्री ने अपने लेख में सात रूप सप्ताह उक्त मेघों की वर्षा होने का उल्लेख किया है।[१०] प० जी ने इसी आधार पर श्रावण कृष्ण प्रतिपदा से ४६ दिन मानकर भाद्रपद शुक्ल पचमी को पृथ्वी पर मनुष्यावास की बात कही है, जो समीचीन नही जान पड़ती।[११]

इसी प्रकार तिलोयपण्णत्ती मे ४ प्रकार के मेघों का ७-७ दिन बरसने का उल्लेख है[१२] इस प्रकार इस आधार पर जो भाद्रपद शुक्ल पचमी को मनुष्यावास की बात कही जाती है वह ठीक नही।

इस पर्व के लिए बहुतायत से प्रयुक्त होने वाला दूसरा शब्द 'पर्यूषण है। पर्यूषण शब्द परि उपसर्ग पूर्वक—उष् से ल्युट् (अन्) प्रत्यय करने पर बना है।[१३] उष् का अर्थ निवास करना है। अत: पर्यूषण का अर्थ होगा—'परि समन्नात उष्यते स्थाप्येतेचम् यस्मिन् तत् 'पर्यूषणम्' डॉ० देवेन्द्र मुनि शास्त्री ने परि उपसर्ग पूर्वक वस् से अन् प्रत्यय करके पर्यूषण की उत्पत्ति मानते हुए इसका अर्थ किया है आत्मा के समीप रहना।[१४]

पर यह पर्यूषण पर्व का उल्लेख नही पर्यूषण कल्प का उल्लेख है। पर्यूषण के लिए प्रयुक्त होने वाला मूल शब्द 'पज्जोसवण' है भगवती आराधना में साधु के दस कल्प बताते हुए कहा गया है—

आचेलक्कुद्देसियसेज्जाहररायपिंड किरियम्मे।
जेट्ठपडिक्कमण वि य मांस पज्जो सवणकप्पो ॥[१५]

इसी प्रकार आवश्यक निर्युक्ति-मलयगिरिवृत्ति आदि में भी उक्त दस कल्पों का उल्लेख कुछ शब्दों के हेरफेर के साथ मिलता है—

'आचेलक्कुद्देसिय, सिज्जायररायपिंड कि इकम्मे।
वयजेटटपडिक्कमणो मास पज्जोसवणकप्पे ॥

दोनों स्थानो पर अन्तिम कल्प 'पज्जो सवण' है जिसका सस्कृत रूपान्तर पर्यूषण प्रतीत होता। भगवती आराधना के टीकाकार अपराजित सूरि ने 'पज्जोसवण' का अर्थ 'वर्षा काल के चार मासों में एक स्थान पर रहना' किया है। पं० आशाधर ने 'पज्जो' शब्द का ही उक्त अर्थ करते हुए 'सवणकप्पो' का अर्थ 'श्रमणों का कल्प' किया है।[१६]

पज्जोसवण कल्प को वर्षावास कहा गया है। इसके लिए पर्यूषण शब्द संस्कृत में व्यवहृत है और 'परियाय ववत्थवणा, पज्जोसमणा, पागइया, परिवसना, पज्जुसणा, वासवास, पढमसमो-सरण, ठवणा तथा जेट्ठोमाह इसके पर्यायवाची बताये गये है।[१७]

यद्यपि ये सभी नाम एकार्थक है तथापि व्युत्पत्ति भेद के आधार पर इनमे किंचित अर्थभेद भी है।[१८] किन्तु अर्षावास (वर्षाकाल के चार माह एक स्थान पर रहना) अर्थ सभी में निहित है। साधुओं को आषाढी पूर्णिमा तक नियत स्थान पर पहुंच श्रावण कृष्ण पचमी मे वर्षावास आरम्भ करना चाहिए। उचित स्थानादि न मिलने पर श्रावण कृष्ण दशमी अन्यथा अमावश्या को, उतने पर भी उचित क्षेत्र न मिले तो पांच-पांच दिन बढाते हुए भाद्रपद शुक्ला पंचमी को अवश्य ही पर्यूषण कल्पारम्भ करना चाहिए। यदि उचित क्षेत्र न मिले तो वृक्ष के नीचे ही कल्पारम्भ करे। पर इस तिथि का उल्लंघन किसी भी दशा मे नही करना चाहिए। पंचमी दशमी या पन्द्रहवी इन पर्वों मे ही कल्पारम्भ करना चाहिए अपर्व मे नही।[१९]

इस प्रकार भाद्रपद शुक्ल पचमी से पर्यूषण कल्प का आरम्भ हो सकता है। पर पर्युषण पर्व का उल्लेख नही मिलता जो दस या आठ दिन मानाया जावे। यह कैसे आरम्भ हो गया? 'कल्पसूत्र' तथा 'समवायांग' में भ० महावीर द्वारा आषाढी पूर्णिमा से ५० दिन बाद संवत्सरी मनाने का उल्लेख है, पर जैन परम्परा तो महावीर से भी पूर्ववर्ती है।

प्रवक्ता एव अध्यक्ष संस्कृत विभाग,
श्री कुन्दकुन्द महाविद्यालय, खतौली (उ०प्र०)

(सन्दर्भ पृ० १६ पर)

पर्युषण और दशलक्षणधर्म

☐ पं० पद्मचन्द्र शास्त्री 'संपादक'

जैनों के सभी सम्प्रदायों में पर्युषण पर्व की विशेष महत्ता है। इस पर्व को सभी अपने-अपने ढंग से सोल्लास मनाते हैं। व्यवहारत: दिगम्बर श्रावकों में यह दश दिन और श्वेताम्बरों में आठ दिन मनाया जाता है। क्षमा आदि दश अंगों में धर्म का वर्णन करने से दिगम्बर इसे 'दशलक्षण धर्म' और श्वेताम्बर आठ दिन का मनाने से अष्टाह्निका (अठाई) कहते हैं।

पर्युषण के अर्थ का खुलासा करते हुए राजेन्द्र कोष में कहा है :—

"परीति सर्वत क्रोधादिभावेभ्य उपशम्यते यस्यां सा पर्युपसमना" अथवा "परि: सर्वथा एकक्षेत्रे जघन्यत: सप्त-दिनानि उत्कृष्टत: षण्मासान् (?) वसनं निरुक्तादेव पर्युषणा।" अथवा "परिसामस्त्येन उषणा।"

—अभि० रा० भा० ५ पृ० २३५-२३६।

जिसमे क्रोधादि भावों को सर्वत: उपशमन किया जाता है अथवा जिसमे जघन्य रूप मे ७० दिन और उत्कृष्ट रूप से छह मास (?) एक क्षेत्र में किया जाता है, उसे पर्युषण कहा जाता है। अथवा पूर्ण रूप से वास करने का नाम पर्युषण है।

पज्जोसवण, परिवसणा, पज्जुसणा, वासावासो य (नि० चू० १०) ये सवशब्द एकार्थवाची है।

पर्युषण (पर्युपशमन) के व्युत्पत्तिपरक दो अर्थ निकलते हैं—(१) जिसमें क्रोधादि भावों का सर्वत: उपशमन किया जाय अथवा (२) जिसमें जघन्य रूप में ७० दिन और उत्कृष्ट रूप में चार मास पर्यन्त एक स्थान मे वास किया जाय। (ऊपर के उद्धरण मे जो छह मास का उल्लेख है वह विचारणीय है।)

प्रथम अर्थ का सम्बन्ध अभेदरूप से मुनि, श्रावक सभी पर लागू होता है, कोई भी कभी भी क्रोधादि के उपशमन (पर्युषण) को कर सकता है। पर, द्वितीय अर्थ में साधु की अपेक्षा ही मुख्य है, उसे चतुर्मास करना ही चाहिए। यदि कोई श्रावक चार मास की लम्बी अवधि तक एकत्र वास कर धर्म साधन करना चाहे तो उसके लिए भी रोक नही। पर, उसे चतुर्मास अनिवार्य नही है। अनिवार्यता का अभाव होने के कारण ही श्रावकों मे दिगम्बर दस और श्वेताम्बर आठ दिन की मर्यादित अवधि तक इसे मानते है और ऐसी ही परम्परा है।

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराएँ ऐसा मानती है कि उत्कृष्ट पर्युषण चार मास का होता है। इसी हेतु इसे चतुर्मास नाम से कहा जाता है। दोनो ही सम्प्रदाय के साधु चार मास एक स्थान पर ही वास करते हुए तपस्याओ को करते है। यत:—उन दिनो (वर्षाऋतु) मे जीवोत्पत्ति विशेष होती है। और हिंसादि दोष की अधिक सम्भावना रहती है और साधु को हिंसादि पाप सर्वथा वर्ज्य है।—उसे महाव्रती कहा गया है।

"पज्जुसवणा कप्प का वर्णन दोनो सम्प्रदायो में है। दिगम्बरों के भगवती आराधना (मूलाराधना) में लिखा है :—

"पज्जोसमणकप्पो नाम दशम:। वर्षाकालस्य चतुर्षु-मासेषु एकत्रावस्थानं भ्रमण त्याग:। त्रिंशत्यधिकं दिवस-शत एकत्रावस्थानमित्ययमुत्सर्गः। कारणापेक्षया तु हीनाधिकं वाऽवस्थानम्।

पज्जोसवण नामक दसवां कल्प है। वर्षाकाल के चार मासों मे एकत्र ठहरना—अन्यत्र भ्रमण का त्याग करना, एक सौ बीस दिन एक स्थान पर ठहरना उत्सर्ग मार्ग है। कारण विशेष होने पर हीन वा अधिक दिन भी हो सकते हैं। भगवती आरा० (मूला रा०) आश्वास ४ पृ० ६१६।

श्वेताम्बरो में 'पर्यूषणाकल्प' के प्रसग में जीतकल्प सूत्र में लिखा है :—

'चाउम्मासुक्कोसे' सत्तरि राइंदिया जहण्णेणं ।
ठितमट्ठितगेमतरे, कारणे बच्चासितऽण्णयरे ।।—
—जीत क० २०६५ पृ० १७६

विवरण—'उत्कर्षतः पर्युषणाकल्पश्चतुर्मासं यावद्-भवति, अषाढ पूर्णिमायाः कार्तिकपूर्णिमां यावदित्यर्थः—अशिवादौ कारणे समुत्पन्ने एकतरस्मिन् मासकल्पे पर्युषणाकल्पे वा व्यत्यासितं विपर्यस्तमपि कुर्युः ।
—अभि० रा० भाग० ५ पृ० २४५

पर्यूषण कल्प के समय की उत्कृष्ट मर्यादा चतुर्मास (१२० दिन रात्रि) है। जघन्य मर्यादा भाद्रपदशुक्ला पंचमी से प्रारम्भ कर कार्तिक पूर्णिमा तक (सत्तर दिन) की है।—कारण विशेष होने पर विपर्यास भी हो सकता है—ऐसा उक्त कथन का भाव है।

इस प्रकार जैनो के सभी सम्प्रदायो मे पर्व के विषय में अर्थ भेद नहीं है और ना ही समय की उत्कृष्ट मर्यादा में ही भेद है। यदि भेद है तो इतना ही है कि (१) दि० श्रावक इस पर्व को धर्मपरक १० भेदों (उत्तम, क्षमा, मार्दवार्जव, शौच, सत्य, संयम, तपस्त्याग, अकिंचन्य, ब्रह्मचर्याणि धर्मः) की अपेक्षा मनाते है और प्रत्येक दिन एक धर्म का व्याख्यान करते हैं। जबकि श्वेताम्बर सम्प्रदाय के श्रावक इसे आठ दिन मनाते है। वहा इन दिनों मे कही कल्पसूत्र की वाचना होती है और कही अन्तकृत सूत्रकृतांग की वाचना होती है। और पर्व को दिन की गणना आठ होने से 'अष्ट'—आह्निक (अष्टाह्निक अठाई) कहते हैं। साधुओ का पर्यूषण तो चार मास ही है।

दिगम्बरों में उक्त पर्व भाद्रपद शुक्ला पंचमी से प्रारम्भ होता है और श्वेताम्बरो में पंचमी को पूर्ण होता है। दोनों सम्प्रदायों में दिनों का इतना अन्तर क्यो? ये शोध का विषय है। और यह प्रश्न कई बार उठा भी है। समझ वाले लोगों ने पारस्परिक सौहार्द वृद्धि हेतु ऐसे प्रयत्न भी किए हैं कि पर्यूषण मनाने की तिथियां दोनो मे एक ही हो। पर, वे असफल रहे हैं।

पर्यूषण के प्रसंग में और सामान्यतः भी, जब हम तप प्रोषध आदि के लिए विशिष्ट रूप से निश्चित तिथियों पर विचार करते हैं तब हमें विशेष निर्देश मिलता है कि—

"एवं पर्वसु सर्वेसु चतुर्मास्यां च हायने ।
जन्मन्यपि यथाशक्ति स्व-स्व सत्कर्मणां कृति ।।"
धर्म स० ६९ पृ० २३८

—वर्ष के चतुर्मास के सर्व पर्वों मे और जीवन में भी यथाशक्ति स्व-स्व धार्मिक कृत्य करने चाहिए। (यह विशेषतः गृहस्थ धर्म है)। इसी श्लोक की व्याख्या में पर्वों के सम्बन्ध में कहा गया है कि—

"तत्र पर्वाणि चैवमुचुः—
"अट्ठमि चउद्दसि पुण्णिमा य तहा मावसा हवइ पव्वं
मासंमि पव्व छक्क, तिन्नि अ पव्वाई पक्खंमि ।।"

"चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठ पुण्णमासी त्ति सूत्रप्रामाण्यात्, महानिशीथेतु ज्ञान पचम्यपि पर्वत्वेन विश्रुता। अट्ठमी, चउद्दसीसुं नाण पंचमीसु उववासं न करेइ पच्छित्तमित्यादिवचनात्। एषु पर्वसु कृत्यानि यथा—पौषधकरणं प्रति पर्वं तत्करणाशक्तो तु अष्टम्मादिषु नियमेन। यदागमः,—
'सव्वेसु कालपव्वेसु, पसत्थो जिणमए हवइ जोगो ।
अट्ठमि चउद्दसीसु अ नियमेण हवइ पोसहिओ ।।'
—धर्म स० (व्याख्या) ६६

—पर्व इस प्रकार कहे गये हैं—अष्टमी चतुर्दशी, पूर्णिमा तथा अमावश्या, ये मास के ६ पर्व हैं और पक्ष के ३ पर्व हैं। इसमे 'चउद्दसट्ठमद्दिठपुण्णिमासु' यह सूत्र प्रमाण है। महानिशीथ में ज्ञान पंचमी को भी पर्व प्रसिद्ध किया है। अष्टमी, चतुर्दशी और ज्ञान पचमी को उपवास न करने पर प्रायश्चित का विधान है।—इन पर्वों के कृत्यों मे प्रोषध करना चाहिए। यदि प्रति पर्व में उपवास की शक्ति न हो तो अष्टमी, चतुर्दशी को नियम से करना चाहिए। आगम में भी कहा है—'जिनमत में सर्व निश्चित पर्वों में योग को प्रशस्त कहा है और अष्टमी, चतुर्दशी के प्रोषध को नियमतः करना बतलाया है।

उक्त प्रसंग के अनुसार जब हम दिगम्बरों में देखते हैं तब ज्ञात होता है कि उनके पर्व पंचमी से प्रारम्भ होकर (रत्नत्रय सहित) मासान्त तक चलते हैं, और उनमें आगम विहित उक्त सर्व (पंचमी, अष्टमी, चतुर्दशी और पूर्णिमा)

पर्व आ जाते हैं।' जब कि श्वेताम्बरों में प्रचलित पर्व दिनों में अष्टमी का दिन छूट जाता है—उसकी पूर्ति होनी चाहिए। बिना पूर्ति हुए आगम की आज्ञा 'नियमेण हवइ पोसहिओ' का उल्लंघन ही होता है। वैसे भी इसमे किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि पर्यूषण काल मे अधिक से अधिक प्रोषध की तिथियो का समावेश रहे। यह समावेश और जैनियों के विभिन्न पन्थों की पूर्व तिथियों में एकरूपता भी, तभी सम्भव हो सकती है जब पर्व भाद्रपद शुक्ला पंचमी से ही प्रारम्भ माने जायँ।

कल्पसूत्र के पर्यूषण समाचारी में लिखा है—'समणे भगवं महावीरे वीसाणं सवीसइराए मासे वइक्कते वासावासं पज्जोसेवइ।' इस 'पज्जोसेवइ' पद का अर्थ अभिधान राजेन्द्र पृ० २३६ भा० ५ में 'पर्यूषणामाकार्षीत्' किया है। अर्थात् 'पर्यूषण' करते थे। और दूसरी ओर कल्पसूत्र नवम क्षण मे श्री विजयगणि ने इस पद की टीका करते हुए इसकी पुष्टि की है (देखें पृ० २६८)—

'तेनार्थेन तेन कारणेन हे शिष्या: ? एवमुच्यते, वर्षाणां विंशति रात्रियुक्ते मासे अतिक्रान्ते पर्यूषणमकार्षीत्।' दूसरी ओर पर्यूषणाकल्प चूर्णि मे 'अन्नया पज्जोसवणादिवसे आगए अज्जकालगेण सालिवाहणं भणिओ भद्दवजुण्हपंचमीए पज्जोसवणा'—(पज्जोसविज्जइ) उल्लेख भी है।

—अभि० पृ० २३८

उक्त उद्धरणो मे स्पष्ट है कि भ० महावीर पर्यूषणा करते थे और वह दिन भाद्रपद शुक्ला पंचमी था। इस प्रकार पंचमी का दिन निश्चित होने पर भी 'पंचमीए' पद की विभक्ति में सन्देह की गुंजाइश रह जाती है कि पर्यूषणा पचमी मे होती थी अथवा पंचमी से होती थी। क्योकि व्याकरण शास्त्र के अनुसार 'पंचमीए' रूप तीसरी पचमी और सातवी तीनों ही विभक्ति का हो सकता है।

यदि ऐसा माना जाय कि केवल पंचमी मे ही पर्यूषण है तो पर्यूषण को ७-८ या कम-अधिक दिन मनाने का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता, और ना ही अष्टमी के प्रोषध की अनिवार्यता सिद्ध होती है जबकि अष्टमी को नियम से प्रोषध होना चाहिए। हां, पंचमी से पर्यूषण हो तो आगे के दिनो मे आठ या दस दिनों की गणना को पूरा किया जा सकता है। सम्भवत: इसीलिए कोषकार ने 'भाद्रपद शुक्ल पंचम्यां अनतरं' पृ० २५३ और 'भाद्रपद शुक्ला पंचम्या कार्तिक पूर्णिमां यावदित्यर्थ:' पृ० २५४ मे लिख दिया है। यहां पंचमी विभक्ति की स्वीकृति से स्पष्ट होता है कि 'पचमीए' का अर्थ 'पचमी से' होना चाहिए। इस अर्थ की स्वीकृति से अष्टमी के प्रोषध के नियम की पूर्ति भी हो जाती है। क्योंकि पर्व मे अष्टमी के दिन का समावेश इसी रीति में शक्य है। 'अनन्तर' से तो सन्देह को स्थान ही नही रह जाता कि पंचमी से पर्यूषण शुरू होता है और पर्यूषण के जघन्य काल ७० दिन की पूर्ति भी इसी भाँति होती है।

दिगम्बर जैनो मे कार्तिक फाल्गुन और आषाढ मे अन्त के आठ दिनो में (अष्टमी से पूर्णिमा) अष्टाह्निका पर्व माने हैं ऐसी मान्यता है कि देवगण नन्दीश्वर द्वीप मे इन दिनो अकृत्रिम जिन मन्दिरों में बिम्बों के दर्शन-पूजन को जाते हैं। देवो के नन्दीश्वर द्वीप जाने की मान्यता श्वेताम्बरों में भी है। श्वेताम्बरो की अष्टाह्निका की पर्व तिथिया चैत्र सुदी ८ से १५ तक तथा असोज सुदी ८ से १५ तक हैं। तीसरी तिथि जो (सम्भवत:) भाद्र वदी १३ से सुदी ५ तक प्रचलित है, होगी। यह तीसरी तिथि सुदी ८ से प्रारम्भ क्यो नहीं? यह विचारणीय ही है—जबकि दो बार की तिथियां अष्टमी से शुरू हैं।

हो सकता है—तीर्थंकर महावीर के द्वारा वर्षा ऋतु के ५० दिन बाद पर्यूषण मनाने से ही यह तिथि परिवर्तन हुआ हो। पर यदि ५० दिन के भीतर किसी भी दिन शुरू करने की बात है तब इस अष्टाह्निका को पंचमी के पूर्व से शुरू न कर पचमी से ही शुरू करना युक्ति सगत है। ऐसा करने से 'सवीसराए मासे वइक्कते (बीतने पर)' की बात भी रह जाती है और 'सत्तरिराइंदिया जहण्णेणं' की बात भी रह जाती है। साथ ही पर्व की तिथियां (पंचमी, अष्टमी, चतुर्दशी) भी अष्टाह्निका मे समाविष्ट रह जाती हैं जो कि प्रोषध के लिए अनिवार्य है।

एक बात और स्मरण रखनी चाहिए कि जैनो मे पर्व सम्बन्धी तिथि काल का निश्चय सूर्योदय काल से ही करना आगम सम्मत है। जो लोग इसके विपरीत अन्य

कोई प्रक्रिया अपनाते हो उन्हे भी आगम के वाक्यों पर ध्यान देना चाहिए—

'चाउम्मास अवरिसे, पक्खि अ पचमीट्ठमीसु नायव्वा।
ताओ तिहीओ जार्सि, उदेइ सूरो न अण्णाउ ॥१
पूआ पच्चक्खाणं पडिकमण तइय निअन गहण च।
जीए उदेइ सूरो तीइ तिहीए उ कायव्व ॥२॥'

—धर्मस० पृ० २३६

वर्ष के चतुर्मास में चतुर्दशी पंचमी और अष्टमी को उन्ही दिनों में जानना चाहिए जिनमें सूर्योदय हो, अन्य प्रकार नहीं। पूजा प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण और नियम निर्धारण उसी तिथि मे करना चाहिए जिसमें सूर्योदय हो।

□□

१. मुनियो का वर्षावास चतुर्मास लगने से लेकर ५० दिन बीतने तक कभी भी प्रारम्भ हो सकता है अर्थात् अषाढ़ शुक्ला १४ से लेकर भाद्रपद शुक्ला ५ तक किसी भी दिन शुरू हो सकता है।

—जैन-आचार (मेहता) पृ० १८७

(पृ० १६ का शेषांश)

संदर्भ-सूची :

१. जैन दर्शन मनन और मीमांसा : मुनि नथमल चुरू। १९७७ पृ० १३४
२. तत्त्वार्थसूत्र : उमास्वामी, वाराणसी ६/२
३. वही ६/६
४. वही ३/२७
५. त्रिलोकसार : नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, श्री महावीर जी वी० नि० स० २५०१, गाथा ८५-८६।
६. वही गाथा ८६३
७. वही गाथा ८६४-८६७
८. वही गाथा ८६८
९. 'उदकक्षीरघृतमृतारसान् सप्त सप्ताह वर्षन्ति···' वही गाथा ८६८ की व्याख्या।
१०. सन्मतिवाणी : इन्दौर मे पं० जी का लेख, 'पर्युषण : श्रमणकल्प, 'श्रावक सकल्प'।
११. वही।
१२. तिलोय पण्णत्ती : यतिवृषम, सोलापुर ४/१५८६-१५९३।
१३. संस्कृत हिन्दी कोष : आप्टे, दिल्ली १९७७, पृ० ५९५
१४. मरुधर केसरी अभिनन्दन ग्रंथ : व्यावर, १९६८ पृ० २९०।
१५. भगवती आराधना : शिवकोटि, कलकत्ता १९७६, गाथा ४२१।
१६. सम्मतिवाणी : प० कैलाशचन्द जी का लेख।
१७. मरुधर केसरी अभिनन्दन ग्रंथ : पृ० २९१।
१८. वही पृ० २९१।
१९. "आषाढपुण्णिमाए ठियाण जाति·········
अपवे णवट्टति"
कल्पसूत्रचूर्णि : सम्पा० मुनि पुण्यविजयजी पृ० ८९।

संस्कृत के पूर्वमध्यकालीन जैनकवि जटासिंहनन्दि : परिचय एवं काल-निर्णय

☐ डॉ० कमल कुमारी, आरा

किसी भी व्यक्ति के कार्यों का वर्णन वैशिष्ट्य एवं उसके गुणों का संकीर्तन तो सुलभ है किन्तु स्वयं मे उन प्रेरक तत्त्वों को समाहित करना दुर्लभ-सा प्रतीत होता है :—

गुणानां व विशालानां सत्काराणां च नित्यश ।
कर्तारः सुलभाः लोके विज्ञातारस्तु दुर्लभाः ॥

मैंने अधिकांशतः कवियो के रचनात्मक कार्यों का अध्ययन किया तथा उसके माध्यम से ज्ञान-विज्ञान की बातों को स्वय में तथा अन्य लोगों मे प्रसारित प्रचारित करने का प्रयास किया किन्तु किसी भी कवि की वर्णन शैली एवं वर्ण्यविषय ने मुझे उतना प्रभावित नही किया जितना जैन कवि जटासिहनन्दि ने। इस कवि की निष्काम सेवा ने बरबस मुझे उसके कर्तृत्व एव व्यक्तित्व को उद्भासित करने के लिए उत्प्रेरित कर दिया है।

सस्कृत के जैन साहित्य के इतिहास के अध्ययन प्रसग मे ही नही विश्वसाहित्य के अध्ययन प्रसंग मे भी महाकवि जटासिंहनन्दि का नाम बड़े आदर के साथ लिया जा सकता है। दक्षिण भारतीय जैन कवि समन्तभद्र, देवनन्दि पूज्यपाद, नागपर्व, पुलकरिकेसोम, सदाक्षरदेव, आदि की प्रमुखता के साथ-साथ महाकवि जटासिहनन्दि की प्रमुखता अपने आप मे अद्वितीय एवं अलौकिक है। इस कवि की एकमात्र रचना वराङ्गचरितम् ही अद्यावधि उपलब्ध है। मेरे अध्ययन का स्रोत डॉ० ए० एन० उपाध्ये द्वारा सपादित ग्रन्थ है। सर्वप्रथम तो कवि की जीवन वृत्ति ने ही मुझ पर अमिट छाप छोड़ी, क्योकि उस कृति के आद्योपान्त अध्ययन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसने आत्मख्याति से दूर रहकर शुद्ध साधक-साधु वृत्ति से एकान्त-साहित्य-साधना की है तथा अपने ग्रन्थ मे उसने ऐसा कोई भी साक्ष्य प्रस्तुत न किया है, जिससे अगली पीढ़ी ग्रन्थकार का नाम भी जान सके—उस महापुरुष की यह निरपेक्ष-वृत्ति किसी भी साहित्यिक रसिक को सहज श्रद्धापूर्वक आकर्षित कर सकती है। कलापक्ष एवं भावपक्ष की दृष्टि से तो उक्त कृति उत्कृष्ट कोटि की है ही, समकालीन भारतीय संस्कृति, इतिहास एवं भूगोल की दृष्टि से भी वह एक प्रामाणिक कृति है।

वैसे प्राच्य-शास्त्रागारो मे भारतीय विद्या की अमूल्य निधि भरी पड़ी है। १७-१८वीं सदी से प्राच्य-भारती के देश-विदेश के सुधी विद्वानों का ध्यान उस ओर आकर्षित हुआ और उनके प्रयासो से अनेक ग्रन्थरत्नो का उद्धार हुआ, किन्तु जितना साहित्य अभी प्रकाश मे आया है उसका सहस्रगुणा भाग अद्यावधि अन्धकाराछन्नावस्था मे ही है और वह उद्धारको की प्रतीक्षा कर रहा है। जटासिहनन्दि के सही उद्धारक डा० ए० एन० उपाध्ये ही हैं जिनकी पैनी दृष्टि ने आज वैसे महाकाव को जिसकी रचना को लोग भ्रमवश रविषेण की समझ बैठे थे, ढूंढ निकाला।

वि० स० १९८५ तक इस कवि के विषय मे किसी को कोई भी जानकारी नही थी। सर्वप्रथम पं० नाथूराम जी प्रेमी ने जब आचार्य रविषेण कृत पद्मचरितम् का प्रकाशन किया तथा उसकी भूमिका मे जिनसेन (प्रथम) कृत हरिवंशपुराण की प्रशस्ति के पूर्वाचार्य स्मरण-प्रसंग मे प्राप्त वराङ्गचरित का उल्लेख किया, तो साहित्य-जगत् मे प्रसन्नता की एक लहर उत्पन्न हो गई, किन्तु प्रेमी जी ने उक्त व० च० को भ्रमवश रविषेण कृत बतलाया। डा० उपाध्ये ने एतद्विषयक गहरी छान-बीन की तथा प्रेमी जी के उक्त मत का मात्र खण्डन ही नही किया,

अपितु घोर परिश्रम के बाद उसकी कुछ ताडपत्रीय हस्त-प्रतियों को उपलब्ध कर अन्तर्बाह्य साक्ष्यो के आधार पर यह सिद्ध किया कि व० च० का कर्ता जटा अथवा जडिय, जडिल या जटिल अथवा जटासिंहनन्दि था।

अद्यावधि प्राप्त साक्ष्यों में व० च० ग्रन्थ एवं इसके ग्रन्थकार का सर्वप्रथम एक साथ उल्लेख उद्योतन सूरि (वि० सं० ८३५) रचित—"कुवलयमालाकहा" मे उपलब्ध होता है, जिसमें व० च० के कर्ता जडिय का वर्णन है। अपभ्रंश कवियों मे धवल (११वी सदी) एवं धनपाल (वि० सं० १४४४) ने व० च० को जडिय कृत न मानकर जडिलमुनि कृत कहा है। कन्नड़ कवि चामुण्डराय (वि० सं० १०३१–१०४१), नयसेन (वि० स० ११६६), जन्म (वि० सं० १२९२) एवं महावल (वि० स० १३११) ने व० च० के कर्ता को जटासिंहनन्दि मुनि के नाम से स्मरण किया है। इतना ही नही आचार्य जिनसेन द्वितीय (लगभग वि० सं० ८९५), कन्नड़ कवि पम्प (वि० सं० ९२०) एव पार्श्वपंडित (वि० सं० १२६२) ने वराङ्गचरित के कर्ता को आचार्य जटाचार्य के नाम से स्मरण किया है।

इन सभी साक्ष्यो से स्पष्ट है कि एक ही कवि को विविध नामो से स्मरण करने की परम्परा कोई नवीन नहीं है। इसका अभ्यास प्राचीनकाल से ही रहा है। कभी-कभी तो ग्रन्थ अथवा ग्रन्थकारो के अपर नामो मे शब्द अथवा वर्ण्यसाम्य भी दृष्टिगत नही होता। इसका कारण यह है कि कवि अथवा काव्य का जो विशिष्ट गुण लोक को सर्वाधिक प्रभावित एव चमत्कृत कर देता है, उसी के आधार पर लोक मे उसका नाम प्रचलित हो जाता है। उदाहरणार्थ महाकवि कालिदास का अपरनाम 'दीपशिखा', रावणवध का अपरनाम 'भट्टिकाव्य', भारवि का अपरनाम 'आतपत्र' आदि प्रसिद्ध हैं। इस आलोक मे यदि व० च० के कर्ता के नाम का अध्ययन किया जाय तो जटासिंहनन्दि का मूल नाम सिंहनन्दि रहा होगा, किन्तु जटिल जटाजूटधारी होने से ही उन्हे आचार्य जटा, जडिय, जटिल जैसे नामों से भी अभिहित कर दिया गया होगा।

काल निर्णय :—

जैसा कि पूर्व में लिखा जा चुका है कि जटिल अथवा जटासिंहनन्दि ने अपने व० च० में स्वविषयक किसी भी प्रकार की सूचना नही दी है, अत: उसके काल को निर्णय करने मे अन्तर्साक्ष्यो के अभाव मे अनेक कठिनाइयां है। अत: इस स्थिति मे बाह्य साक्ष्यो का अवलम्बन लेकर ही कुछ विचार किया जा सकता है। इसके लिए निम्न साधन सामग्री का अध्ययन आवश्यक है :—

(१) परवर्ती कवियो द्वारा जटिल अथवा जटासिंहनन्दि का स्मरण।

(२) दक्षिण भारत स्थित कोप्पल-ग्राम मे प्राप्त शिलालेख एवं

(३) व० च० में वर्णित सैद्धान्तिक तथा दार्शनिक सामग्री एव अन्य वर्णनों का पूर्ववर्ती आचार्यों एवं महाकवियो द्वारा वर्णित सामग्री के साथ तुलनात्मक अध्ययन।

उत्तरावधि :—

(क) व० च० एव उसके कर्ता जटिल अथवा जटासिंहनन्दि का उल्लेख करने वाले कवियों मे उद्योतनसूरि का नाम सर्वप्रथम है। उन्होंने अपनी कुवलयमालाकहा मे पूर्ववर्ती कवियों के स्मरण प्रसंग मे पद्मचरित के कर्ता रविषेण के पूर्व जडिय अथवा जटिल का नामोल्लेख किया है।[१] इस आधार पर प्रतीत होता है कि जडिय अथवा जटासिंहनन्दि रविषेण के पूर्ववर्ती कवि है। रविषेण का समय वि० स० ८३४ निश्चितप्राय ही है।[२]

(ख) उद्योतनसूरि के उक्त उल्लेख के अतिरिक्त भी नवी सदी से तेरहवी सदी तक के पूर्वोक्त संस्कृत-प्राकृत, अपभ्रंश एवं कन्नड कवियों ने भी व० च० एवं उसके कर्ता का उल्लेख जितने आदर एव श्रद्धा के साथ किया है उससे यह स्पष्ट है कि जटिल अथवा जटासिंहनन्दि अपनी काव्य कला से दक्षिण भारत के साथ-साथ उत्तर भारत को प्रभावित कर पर्याप्त ख्याति अर्जित कर चुके थे और सम्भवत: उसी से प्रभावित होकर उद्योतनसूरि ने उनका उल्लेख किया होगा। कवि-काल मे यातायात के साधनों एवं सुदूरवर्ती स्थानो तक बिस्तृत कवि-कीर्ति को ध्यान मे रखते हुए यह निष्कर्ष निकालना कठिन नहीं है कि जटासिंहनन्दि एवं उद्योतनसूरि के मध्य पर्याप्त समय का अन्तर होना चाहिए।

(ग) कोप्पल ग्राम में प्राप्त शिलालेख, जिसकी चर्चा पूर्व में ही की जा चुकी है, उसमे जटासिंहनन्दि का स्पष्ट उल्लेख है।[१] पुरातत्त्ववेत्ताओं ने उसे ईसा की १०वी सदी का शिलालेख है किन्तु प्रो० उपाध्ये ने विविध तर्कों के आधार से उसे जटासिंहनन्दि के स्वर्गारोहण के सौ-दो सौ वर्षों के बाद उत्कीर्ण किये जाने का निर्णय किया है। उपाध्ये के तर्कों का चूंकि अभी तक खण्डन नही किया जा चुका है इससे प्रतीत होता है कि विद्वानों को उनका निर्णय मान्य है और इस प्रकार इस शिलालेख के अनुसार जटासिंहनन्दि का समय वि० स० ८३५ के पूर्व ही सम्भव है, बाद में नही।

इस प्रकार उक्त तीनो तथ्यों के आधार पर जटासिंहनन्दि की उत्तरावधि वि० सं० ८३५ सिद्ध होती है।

पूर्वावधि :—

(घ) कवि के जीवन अथवा रचनाकाल की पूर्वावधि के निश्चय के लिए भी कोई ठोस प्रमाण नही मिल सके है, क्योंकि कवि ने स्वय ही न तो अपने किसी गुरु का उल्लेख किया है और न ही किसी पूर्ववर्ती ग्रन्थकार, राजा, महाराजा, समकालीन नगरसेठ अथवा अपने किसी आश्रयदाता का ही उल्लेख किया है। इस कारण पूर्वावधि के निर्धारण मे अनेक कठिनाइयाँ है, फिर भी कुछ ऐसे साधन है, जिनके आधार पर पूर्वावधिविषयक कुछ अनुमान किये जा सकते है। ऐसे साधनो में सर्वप्रथम व०च० में वर्णित सैद्धान्तिक, आचारात्मक एव दार्शनिक विषयो को लिया जा सकता है।

जटासिंहनन्दि ने व० च० मे सैद्धान्तिक दृष्टि से जहाँ आचार्य उमास्वाति रचित रचनाओं का आश्रय ग्रहण किया है,[२] वही समन्तभद्र के स्वयम्भू स्तोत्र के कुछ श्लोको का कुछ अनुकरण भी किया है।[३] इसी प्रकार व० च० के कुछ दार्शनिक वर्णन प्रसंग सिद्धसेनकृत सन्मति प्रकरण के तुलनीय हैं।[४] साथ ही सामयिक पाठ आदि की व्याख्या संस्कृत के "सामयिक पाठ" नामक ग्रन्थ के सदृश है।[५] कुछ विद्वानों के अनुसार संस्कृत का सामयिक पाठ पांचवीं सदी के आचार्य "पूज्यपाद" कृत है।[६] इन समकक्षताओं को देखकर यह अनुमान तो किया जा सकता है कि जटासिंहनन्दि के समक्ष पूर्वोक्त उमास्वाति, समन्तभद्र, कुन्दकुन्द, पूज्यपाद एव सिद्धसेन कृत रचनाएँ अवश्य रही होंगी किन्तु दुर्भाग्य यह है कि उक्त आचार्यों का समय भी अद्यावधि विवादास्पद ही बना हुआ है।[९] फिर भी उक्त आचार्यों में से सिद्धसेन, जिनके 'सन्मति प्रकरण' के अनेक स्थल व० च० के वर्णनो से अधिक मेल खाते हैं, उक्त सभी आचार्यों मे परवर्ती सिद्ध होते है। प्रो० उपाध्ये प्रभृति विद्वानो ने उनका समय ईसा की सातवी सदी का अनुमान किया है।[१०]

(ङ) व० च० का महाकवि भारविकृत किरातर्जुनीयम् के साथ तुलनात्मक अध्ययन करने से विदित होता है कि किरातर्जुनीयम् के स्थापत्य का व० च० पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। किरातर्जुनीयम् के छन्द वैविध्य ने तो उसे प्रभावित किया ही है, साथ ही युद्ध एव वस्तु-वर्णन भी उसके समकक्ष हैं। महाकवि भारवि का समय वि० सं० की सातवी सदी का पूर्वार्ध लगभग निश्चित ही है।[११]

(च) आचार्य जिनसेन-द्वितीय ने सिद्धसेन, समन्तभद्र, यशोभद्र, प्रेमचन्द्र और शिवकोटि के बाद जटाचार्य का स्मरण किया है।[१२] आचार्य जिनसेन का समय पूर्व में बतलाया ही जा चुका है।

इस प्रकार उक्त सन्मति प्रकरण (सिद्धसेन) एवं किरार्जुनीयम् (भारवि) के व० च० के पड़े हुए प्रभाव के लक्ष्य कर तथा जिनसेन द्वितीय के पूर्वाचार्य स्मरणाक्रम पर दृष्टिपात करने से यही प्रतीत होता है कि जटासिंहनन्दि विक्रम की सातवी सदी के पूर्व नही हो सकता और इस प्रकार उसकी पूर्वावधि विक्रम की सातवी सदी सिद्ध होती है।

निष्कर्ष :—

उक्त सभी तथ्यो के आधार पर व० च० के रचयिता का समय विक्रम की सातवी सदी से नहीं सदी के मध्य सिद्ध होता है। उद्योतनसूरि के उल्लेखानुसार जटासिंहनन्दि विक्रम की नवीं सदी के पूर्वार्ध का सिद्ध होता है, किन्तु उद्योतनसूरि के काल तक व० च० की जिस प्रकार की सर्वत्र ख्याति फैल चुकी है, यदि उसकी कालावधि

(शेष पृ० २९ पर)

विचारार्थ :—

नये प्रकाशन पर साधुवाद

☐ श्री मुन्नालाल जैन, 'प्रभाकर'

वीर सेवा मन्दिर से प्रकाशित 'परम अध्यात्म तरंगिणी' को देखा बहुत सुन्दर ग्रन्थ है इसके साथ इसकी प्रस्तावना भी देखी बहुत अच्छी लिखी है। संस्था ने अप्राप्य टीका को प्रकाश मे लाकर पुण्य का कार्य किया है। प्रस्तावना की बीजभूत परमात्मा, धर्म तथा वस्तु आदि की परिभाषाये पढ़ी तो कुछ समझने मे बड़ी कठिनाई पड़ी क्योकि वे परिभाषाये आगम में कही गई परिभाषाओ से मेल खाती नही दिखी और न कहीं आगम प्रमाण ही दिखे। परिभाषाएँ किस अपेक्षा से दी है यह खुलासा नहीं है? उदाहरण के तौर पर कुछ परिभाषायें जैसे—

(१) परमाध्यात्मतरगिणी की प्रस्तावना पृष्ठ १० पर जीव बीज भूत परमात्मा की परिभाषा इस प्रकार की है—'यद्यपि संज्ञी पंचेन्द्रिय अवस्था से ही पुरुषार्थ चालू हो सकता है—यह जीव बीज भूत परमात्मा है वट के बीजों की तरह वट वृक्ष बनने की शक्ति को तरह परमात्मा बनने की शक्ति इसमें है जिसको अपने पुरुषार्थ से इसे व्यक्त करना है।' इसका कोई आगम प्रमाण नही दिया, जबकि आगम मे मात्र संज्ञी पंचेन्द्रिय मे ही नही प्रत्येक जीव में परमात्मा बनने की शक्ति कही है चाहे वह निगोद में हो चाहे किसी भी पर्याय में।

प्राचीन आचार्यों ने जो सैद्धान्तिक परिभाषाएं लिखी हैं उनको हम यदि बदलेगे तो जो भाव आचार्यों का है वह नहीं आ सकेगा। आचार्यों ने ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है कि हम उसमे से एक भी शब्द घटा बढा नही सकते यदि ऐसा करेंगे तो सिद्धान्त का घात हो जायगा, भाव बदल जायगा अथवा कोई न कोई दोष आ जायगा जो किसी भी वस्तु के लक्षण मे नही होना चाहिए। वे दोष निम्न लिखित हैं—अव्याप्ति, अतिव्याप्ति तथा असम्भव। प्रस्तावना में जीव बीज भूत परमात्मा की जो उपर्युक्त परिभाषा है उसमें अव्याप्ति, अतिव्याप्ति दोनों दोष पाये जाते हैं जैसे यदि संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव को ही परमात्मा बीज भूत माना जायगा तब असैनी उसमे बाहर हो जायेंगे और—

सब जीवों में परमात्मा बनने की शक्ति का अभाव मानना पड़ेगा और लक्षण के जीव के एक देश मे रहने से अव्याप्ति दोष आयेगा जबकि आगम में परमात्मा बनने की शक्ति मात्र संज्ञी जीव में ही नही अपितु प्रत्येक जीव में है अर्थात् (२) अतिव्याप्ति दूषण ये है कि अभव्य सज्ञी पंचेन्द्रिय जीव जो मुनि व्रत धारण करके नवमें ग्रीवक तक पहुंच जाता है परन्तु वह सम्यग्दर्शन ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र को प्राप्त नही कर सकता और न परमात्मा बन सकता जबकि उपर्युक्त लक्षण के अनुसार वह भी शक्ति व्यक्त कर सकता है। छहढाला मे कहा है—'मुनि व्रत धार अनन्त बार ग्रीवक लो उपजायो। पै निज आतम ज्ञान बिना सुख लेश न पायो॥' (जैसा कि प्रस्तावना मे—देकर खुलाहा किया है) यदि सज्ञी पचेन्द्रिय जीव को ही बीज भूत परमात्मा मानेंगे तो अभव्य को भी मोक्ष मानने का प्रसंग आयेगा परन्तु आगम में कहा है अभव्य कभी भी मोक्ष प्राप्त नही कर सकता क्योंकि अभव्य मे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यग्चारित्र प्रगट करने की योग्यता नही। अभव्य की परिभाषा मे कहा है कि जिस शक्ति के निमित्त से आत्मा के सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र प्रगट होने की योग्यता न हो उसे अभव्यत्व गुण कहते हैं।

वट के बीजों की तरह वट वृक्ष बनने की शक्ति सज्ञी पचेन्द्रिय व अभव्य जीव मे शक्ति होते हुए भी पुरुषार्थ से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र को प्रगट करने की योग्यता (अभव्य सज्ञी पंचेन्द्रिय) मे नहीं है जिसके बिना तीन काल मे भी (कभी) परमात्मा नही बन सकता ये अतिव्याप्ति दोष आ गया। सारांश यह निकला प्रत्येक

जीव में शक्ति होते हुए भी अभव्यत्व गुण के होने से बहुत तो सज्ञी पंचेन्द्रिय जीव पुरुषार्थ करके सम्यग्दर्शन गुण को प्राप्त नही कर सकते जो मोक्ष अर्थात् परमात्मा बनने का मुख्य कारण है। वैसे चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सभी गुण-स्थानवर्ती जीव परमात्मा बनने की योग्यता रखते हैं किन्तु मुख्य कारण सम्यग्दर्शन है जिसके बिना परमात्मा बन ही नही सकता। इसके सिवाय क्षपक श्रणी मांडने वाला साधु अवश्य ही थोड़े ही काल मे परमात्मा बन जायगा इसलिए अभव्य सज्ञी पचेन्द्रिय जीव मे सच्चा पुरुषार्थ करके परमात्मा बनने की योग्यता नहीं है इसलिए ऐसा कहना चाहिए था कि परमात्मा बनने की शक्ति तो प्रत्येक जीव मे है न कि संज्ञी पचेन्द्रिय जीव में परन्तु उस शक्ति को व्यक्त करने की योग्यता प्रत्येक संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव मे नही है वे ही सज्ञी पचेन्द्रिय जीव व्यक्त कर सकते है जिनमे भव्यत्व गुण है अभव्यत्व गुण वाले सज्ञी पचेन्द्रिय जीव भी नही कर सकते। आगम में सर्वत्र परमात्मा बनने का उपदेश दिया है वहां (भव्य जीवो) को सबोधन किया है। अभव्य जीवों को कहीं संबोधन नही किया क्योकि उनमे परमात्मा बनने के पुरुषार्थ करने की योग्यता ही नहीं। अब यहाँ प्रश्न खड़ा होता है कि फिर इस जीव को सुख की प्राप्ति कैसे हो ? इसको जानने के लिए हमे पहले सुख की तथा दुःख की परिभाषा समझनी होगी। उसके लिए प० दौलतराम जी ने कहा है—'आतम को हित है सुख सो सुख आकुलता बिन कहिए।' अर्थात् दु ख का स्वरूप आकुलता है तथा आकुलता का अभाव ही सुख है, इसके अतिरिक्त सुख नाम की कोई वस्तु नही है। सुख तो जीव का स्वभाव है लेकिन मोह कर्म का सम्बन्ध जीव के साथ अनादि काल से चला आ रहा है जिसके निमित्त से इस जीव के अनेक प्रकार के विकृत परिणाम होते है तथा अनेक प्रकार की पर पदार्थों को ग्रहण करने की इच्छाये उत्पन्न होती हैं और जब तक वे इच्छाये पूर्ण नही होती तब तक यह जीव दुःी रहता है जब कभी पुण्य के उदय से कोई इच्छा पूर्ण भी हो जाती है तब यह जीव सुख का अनुभव करता है परन्तु वह क्षणिक है क्यो कि वे इच्छायें अनन्त है एक के बाद एक उत्पन्न होती ही रहती हैं। इसका उत्पन्न होना बन्द जब होता है तब इनकी उत्पत्ति का कारण कर्म का अभाव हो जाता है तब यह जीव हमेशा के लिए सुखी हो जाता है। कर्म के अभाव बिना संसार में कोई भी जीव परम सुखी नही हो सकता उस सुख की प्राप्ति धर्म के अर्थात् अपने स्वरूप के आश्रय से होती है। इस धर्म का आविष्कार नही होता जैसे परमाध्यात्म तरगिणी पृष्ठ १० पर कहा है—'जीव का दुःख कैसे दूर हो इसके लिए जिस विज्ञान का आविष्कार हुआ उसी का नाम धर्म है।' धर्म की यह परिभाषा कही नहीं बतायी। कुन्दकुन्दाचार्य ने धर्म की परिभाषा इस प्रकार की है 'वस्तु स्वभावो धर्मं' अर्थात् वस्तु का जो स्वभाव है वही उस वस्तु का धर्म है जीव नामा वस्तु का धर्म चेतनत्व जाननपना है पुद्गल का धर्म रूप, रस, गध तथा स्पर्श है और उस धर्म का आविष्कार नही होता वह तो उसमे स्वतः होता है वह धर्म (गुण) वस्तु के आश्रय बिना नही होता जैसा मोक्ष शास्त्र मे भी कहा है द्रव्याश्रया न गुणा:' गुण अर्थात् गुणद्रव्य के बिना नही होते। यदि धर्म (गुण) का आविष्कार मानेगे तो धर्म के आविष्कार से पहिले कोई वस्तु ही न होगी अर्थात् ससार शून्य हो जायगा जबकि आगम में छै द्रव्यो के समूह को ससार कहा है और संसार में ऐसा कोई भी द्रव्य नही जिसका कोई न कोई धर्म नही धर्म अवश्य होता है धर्म का आविष्कार नही होता। जैसे अग्नि का धर्म उष्णता है उष्णता के बिना अग्नि का अभाव होता है इन छै द्रव्यो में धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल ये चार द्रव्य हमेशा से शुद्ध है बाकी दो द्रव्य जीव और पुद्गल इन दो द्रव्यो का अनादि से एक क्षेत्रावगाह सबन्ध चला आ रहा है इसी लिए इा दो द्रव्यो को संयोग संबन्ध के कारण अशुद्ध कहा है दोनो का सयोग सबन्ध होने पर भी दोनो का अस्तित्व भिन्न-२ है एक द्रव्य का गुण कहो, स्वभाव कहो या धर्म कहो दूसरे द्रव्य के धर्म रूप नही परिणमता क्योकि प्रत्येक द्रव्य में अगुरु लघु गुण विद्यमान है जिसके कारण एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप, एक गुण दूसरे गुण रूप नही परिणमता और न गुणों में कमी बेसी होती ऐसा हर जगह आगम मेंकहा है।

सभी ६ द्रव्यों में पांच द्रव्य तो सुखी दुःखी होते नही

क्योंकि उनमें चेतना (गुण) धर्म नहीं है जिसके कारण सुख दुःख का अनुभव नही होता और न उनमे अनुभव करने की शक्ति है और न योग्यता। केवल एक जीव द्रव्य ही ऐसा है जिसको सुख दुख का अनुभव होता है क्योकि अकेले जीव मे ही चेतना गुण है जिसके कारण वह सुख दुःख का अनुभव करता है और उस सुख दुख अनुभव करने का .रण पर द्रव्य का सयोग तथा उसका उदय है, जिसकी कर्म संज्ञा है वह कर्म आठ प्रकार का है जिसमे मोह कर्म दो प्रकार का है एक दर्शन मोह दूसरा चारित्र मोह दर्शनमोह के कारण से परद्रव्यो को आपा तथा अपना मानता है तथा शरीर जो जीव से भिन्न परपदार्थ है उसको भी आपा मानता है और जो ये चिन-पिंड है उसको आपा नही मानता। स्त्री, पुत्र, मकान, धन आदि परपदार्थों को अपने मानता है तथा जो जाननपना इसका अपना स्वभाव (धर्म) है उसको अपना नही मानता उसी चारित्रमोह के उदय के कारण पर पदार्थो के परिणमन में इष्ट अनिष्ट कल्पना करता है जिसको राग-द्वेष कहते है यह राग द्वेष इस जीव की विकारी पर्याये है जो चारित्रमोह के उदय से उत्पन्न होती और विनशती रहती हैं इसकी स्थिति एक समय की होती है एक समय के पश्चात् दूसरी पर्याय की उत्पत्ति हो जाती है और पूर्व पर्याय विनश जाती है ये विकारी पर्याये अशुद्ध जीव मे होती है। अशुद्ध जीव कर्म के सम्बन्ध के कारण से है न कि राग-द्वेष के कारण ये तो विकारी पर्याये है जो कर्म का सम्बन्ध हटने पर स्वय ही इनकी उत्पत्ति रुक जाती है। ये राग-द्वेष द्रव्य (वस्तु) नही है जो किसी के पास कम और किसी के पास ज्यादा हो ये तो पर्याये हैं और इन (पर्यायो का) कभी भी अभाव नही किया जा सकता हा पर्यायों के कारण का अभाव होता है और इन रागद्वेष पर्यायो का कारण चारित्रमोह है तथा उस चारित्रमोह का कारण कषायो के अनुसार परणति है कहा भी है—'आतम के अहित विषय कषाय इनमें मेरी परणति न जाय।' इस परिणति का कारण इच्छा है और उस इच्छा का कारण विपरीत आशय है जो दर्शनमोह के कारण से होता है जिसके कारण आने पर (चितपिंड) को आपा न मान कर शरीर को आपा मानता है तथा अपने ज्ञायक (जानन पन) भाव को अपना न मानकर शरीर, धन, स्त्री, पुत्र आदि को अपने मानता है इसका कारण दर्शन मोह है ऐसा छै ढाले में भी कहा है तथा आगम में अन्य जगह भी कहा है परन्तु परमाध्यात्म तरगिणी पृष्ठ ११ पर 'रागद्वेष (पर्याय) को दुःख कहा है जो आगम में कहीं नहीं कहा।' आगम मे तो दुःख का लक्षण आकुलता बताया है, आकुलता का कारण इच्छा — इच्छा का कारण विपरीत आशय (मिथ्यादर्शन) कहा है और उस मिथ्यात्व के अभाव का कारण तत्त्व विचार में उपयोग को लगाना है जिसके निमित्त से दर्शन मोह का अभाव होता है ऐसे निमित्त नैमेत्तिक संबध बन रहा है जब यह जीव अपने उपयोग को सब तरफ से हटा कर सात तत्त्वो के स्वरूप के विचार में लगाता है जिससे दर्शन मोह धीरे-धीरे गलित होता रहता है तथा गलित होते होते क्षय, उपशम तथा क्षयोपशम दशा को प्राप्त हो जाता है तब इसकी विपरीत मान्यता शरीर को आपा और पर पदार्थों का अपना मानना मिट जाता है और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान प्रगट हो जाता है और सम्यग्दर्शन के होते ही जो ज्ञान है वही सम्यग्ज्ञान कहलाने लगता है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान के होने पर आपे (चितपिंड) को आपा मानने लगता है अभी भी चारित्र मोह बाकी रह जाता है जिसके कारण राग-द्वेष उत्पन्न होते है जिनका अभाव अपने स्वरूप का आश्रय लेने से होता है अर्थात् अपने उपयोग को अपनी आत्मा के स्वरूप के जानने मे लगाने से होता है और चारित्रमोह के अभाव होने से राग-द्वेष की उत्पत्ति रुक जाती है ऐसा आगम मे कहा है परन्तु अध्यात्म तरगिणी पृ० ११ पर दु.ख की परिभाषा आकुलता न कह कर राग-द्वेष कहा है जो आत्मा की विकृत अवस्था (इष्टानिष्ट कल्पना है) जिसके कारण इच्छाये उत्पन्न होती है और इन इच्छाओ के पूर्ण न होने से आकुलता होती है वह आकुलता ही दुःख का स्वरूप है।

पृष्ठ १३ पर लिखा है—'राग-द्वेष शरीर में अर्थात् पर मे अपनापना मानने से होता है' यह मानना भी (मिथ्यादृष्टी) जीव की पर्याय है सो मिथ्यादर्शन के उदय

के कारण से होती है। यहा याद रखना चाहिए कि अपना पना मानना तथा राग-द्वेष ये सब पर्यायें है और पर्याय की उत्पत्ति का कारण पर्याय नही होती पर्यायो की उत्पत्ति के कारणभिन्न-भिन्न है। पर मे अपनापना मानना श्रद्धा गुण की अशुद्ध पर्याय है और राग-द्वेष चारित्र गुण की बिकारी पर्याय है। ये पर्याये गुणो से पृथक नही की जा सकती। यदि पर्यायों का अभाव माना जायगा तो गुणो का भी अभाव हो जायगा क्योंकि पर्याये गुणो की अवस्थाये है और गुणो की कोई न कोई अवस्था हमेशा रहती है और गुणो के समुदाय का नाम ही द्रव्य है गुणों के अभाव मे द्रव्य के अभाव होने का प्रसग आ जायगा। क्यों जमा घटा दो पृथक्-२ पदार्थों मे होता है एक ही द्रव्य के गुण और पर्यायों मे नही होता जैसे पृ० ११ मे कहा है—'जीवात्मा–रागद्वेष=परमात्मा।' जो आगम के विरुद्ध है आगम मे तो द्रव्य का लक्षण सत कहा है और उस सत को उत्पाद, व्ययध्रौव्य युक्त सत् कहा है अर्थात् द्रव्य की अवस्थाये उत्पन्न होती रहती है और विनशती रहती है। ये पर्यायें दो प्रकार की होती है शुद्ध और अशुद्ध शुद्ध पर्यायो में द्रव्य स्वय निमित्त होता है और अशुद्ध पर्यायो मे परद्रव्य-कर्म कारण होता है तथा कारण के विना कार्य नही होता—(अशुद्ध पर्यायो) की उत्पत्ति नही होती। कर्म के अभाव होने से जीवात्मा परमात्मा कहलाने लगता है मोक्षशास्त्र मे भी कहा है—'ससारिणो मुक्ताश्च' अर्थात् जीव दो प्रकार के है ससारी और मुक्त। कर्म सहित जीव ससारी है और कर्म रहित मुक्त (परमात्मा) इसलिए जीवात्मा और परमात्मा की परिभाषा जो इस प्रस्तावना में की है वह आगम के विरुद्ध है।

पचाध्यायी में राग-द्वेष के विषय मे श्लोक न० ८८३ में भी राग-द्वेष विकारी पर्यायों को औदयिक भाव कहा है जो पर-द्रव्य, मोह कर्म के कारण से उत्पन्न होती है।

कालुष्यं तत्र रागादिर्भावश्चौदायिको यतः,
वाकाच्चारित्रमोहस्य, दृड्मोहस्याथ नान्यथा।८८३

इनकी उत्पत्ति मोह कर्म के उदय से होती है और मोह कर्म के पृथक हो जाने पर राग-द्वेष (अशुद्ध पर्यायो) की उत्पत्ति रुक जाती और शुद्ध पर्यायों की उत्पत्ति होने लगती है जिनका कारण स्वय ज्ञान गुण है।

श्लोक ८८६ मे भी कहा है जिस समय ज्ञान होता है उस समय ज्ञान ही होता है राग-द्वेष नही होते क्यो एक साथ दो पर्यायें नही होती ज्ञान पर्याय का कारण ज्ञान गुण है तथा रागद्वेष पर्यायों का कारण कर्म है। प्रस्तावना मे वस्तु की परिभाषा में पृ० १५ पर कहा है—वस्तु= सामान्य+विशेष। सामान्य को वस्तु की मौलिकता और विशेष को पर्याय कहा है जिससे भाव होता है कि द्रव्य पृथक है और पर्याय पृथक् जो कि आगम मे 'गुण, पर्ययवद द्रव्य' वाले मोक्ष शास्त्र के लक्षण से मेल नही खाता। आगम के अनुसार सामान्य और विशेष दोनों ही वस्तु के स्वरूप का वर्णन करने वाली शैलिया है वस्तु के सक्षेप मे वर्णन करने वाली सामान्य शैली है और विस्तार से वर्णन करने वाली विशेष शैली है या सामान्य और विशेष दो प्रकार के प्रत्येक द्रव्य मे गुण होते है जो गुण प्रत्येक द्रव्य मे पाये जाते हैं उन्हे सामान्य गुण कहते है और जो गुण एक ही द्रव्य मे पाया जाता है दूसरे मे नही जिसके कारण से द्रव्यो के भिन्नता की पहिचान होती है ऐसा कथन सर्वत्र आता है परन्तु सामान्य को वस्तु की मौलिकता तथा पर्याय को विशेष कहा हो ऐसा कही देखने मे नही आया। इसी प्रकार से सभी जगह की गई अपनी परिभाषायें आगम से मेल नही खाती और न कहीं आगम प्रमाण ही दिया है। यदि सभी का स्पष्टीकरण दे देते तो पाठको को पूरी जानकारी हो जाती।

उक्त कुछ प्रसग ऐसे हैं जो अविचारक पाठकों को विपरीत दिशा दिखाने मे भी सहायक हो सकते है। हमारी राय मे तो ऐसे मौलिक ग्रन्थ को प्रस्तावना की आवश्यकता ही नही थी। आशा है सस्था और प्रस्तावना लेखक दोनों हमारे निवेदन स्वीकार कर आगामी सस्करण में दोषों का परिहार करेगे। बड़ी खुशी है कि संस्था का ध्यान प्राचीन ग्रन्थों के प्रकाशनो पर है। यदि अपना कुछ न दिया जाय तो प्राचीन सभी ग्रन्थ मौलिक हैं—ग्रन्थ प्रकाशन के लिए साधुवाद !

सम्पादकीय—इस लेख का समाधान पेज २८ पर देखें।

श्री मुन्नालाल की शंकाओं का समाधान

□ श्री बाबूलाल जैन

श्री मुन्नालाल जी ने परमाध्यात्मतरंगिणी की प्रस्तावना के कई विषयों को आगमविरुद्ध बताया है। उनका स्पष्टीकरण किया जाता है :—

१. पेज ६ से जो विषय चला आ रहा है वहा कहा है कि प्रत्येक जीवात्मा में परमात्मा होने की सम्भावना है। पेज १० पर यह कहा है कि जीव बीजभूत परमात्मा है परन्तु उसका पुरुषार्थ सज्ञी पचेन्द्रिय अवस्था से चालू होता है। उस विषय का आगे-पीछे का वर्णन लेकर विचार करना चाहिए, मात्र बीच की एक लाइन लेने से तो अर्थ का अनर्थ होगा ही। हमारा तात्पर्य भी जीव मात्र से ही है।

२. अभव्य में भी पारिणामिक भाव है वह चैतन्यपना है। अभव्य पारिणामिक भाव की निज रूप श्रद्धा नही करेगा अत: अभव्य है। वह बीजभूत तो है परन्तु उगने की शक्ति की व्यक्तता नही है अर्थात् अभव्य के सच्चा पुरुषार्थ नही होगा। समयसार गाथा २७३—२७४ में कहा है—अभव्य व्यवहार चारित्र का पालन करता है तथापि सम्यक्चारित्र को प्राप्त नही करता अत: अज्ञानी है। इसी प्रकार ज्ञान की श्रद्धा न करने से शास्त्र पढ़ने के गुण का अभाव है। गाथा २७५ के भावार्थ में प० जयचन्द जी लिखते है कि "आत्मा के भेद ज्ञान होने की योग्यता न होने से।" अभव्य को व्यवहार नय के पक्ष का सूक्ष्म केवलीगम्य आशय रह जाता है जो मात्र सर्वज्ञ जानते है। इससे मालूम होता है कि बीजभूत होते हुए भी उसकी व्यक्तता नही होती। जिस जीव के सच्चा पुरुषार्थ होगा उसी के व्यक्तता होगी। देखो द्रव्यसंग्रह गाथा १४ की टीका।

३. मुन्नालाल जी का कहना है कि जीवात्मा—रागद्वेष=परमात्मा यह गलत है। श्री वैरिस्टर चम्पतराय जी ने "की ऑफ नालेज" मे लिखा है—Man—Passion=God, God+Passion=Man अर्थात् मनुष्य—विषयकषाय=परमात्मा। प० टोडरमल जी ने मोक्षमार्ग सातवें अध्याय मे पेज २५८ श्री मुसद्दीलाल जैन ट्रस्ट से छपा हुआ है, लिखा है कि रागादि मिटाने का श्रद्धान होय सो ही श्रद्धान सम्यक्दर्शन है, रागादि मिटावने का ज्ञान सो सम्यक्ज्ञान और रागादि मिटै सो ही आचरण सम्यक्चारित्र है ऐसा ही मोक्षमार्ग मानना योग्य है। भगवान कुन्दकुन्द ने 'चारित्रं खलु धम्मो' कहा है और मोह क्षोभ से रहित परिणाम सो चारित्र है। मोह-क्षोभ के द्वारा राग का ही अभाव बताया है अत: रागादि का अभाव धर्म है। १२वें गुण स्थान के शुरू मे मोह का अर्थात् रागादि का अभाव होने पर यथाख्यात चारित्र होता है और अनत सुख होता है यह आत्मा १२वे गुणस्थान के अत मे अरहत परमात्मा हो जाता है।

४. आपने लिखा अज्ञान से राग-द्वेष नही होते। ऐसा नही है राग-द्वेष की उत्पति का मूल कारण जीव की अज्ञानता है—जो अपने स्वभाव को न जानकर शरीरादि मे अपनापना मानने से हुई है। मिथ्यात्व के अभाव बिना राग-द्वेष का अभाव नही हो सकता। कलश २१७ समयसार की टीका मे कहा है कि राग-द्वेष का द्वन्द तब तक उदय को प्राप्त होता है जब तक यह ज्ञान ज्ञानरूप नही··· इसलिए यह ज्ञान अज्ञान भाव को दूर करके ज्ञानरूप हो······।

५. वस्तु सामान्य विशेषात्मक है। यहां पर आपने सामान्य का अर्थ किया है कि जो गुण सब मे पाया जावे वह सामान्य गुण और जो किसी खास द्रव्य मे पाया जावे वह विशेष गुण होता है। यहां पर गुण का कथन नही किया है। वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक होती है। सामान्य को विषय करने वाली द्रव्यार्थिक दृष्टि है और विशेष को विषय करने वाली पर्यायार्थिक

दृष्टि है अतः वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक कहो अथवा सामान्य विशेषात्मक कहो एक ही बात है। यह तो जैन धर्म का प्राण है। वस्तु को ऐसा समझे बिना तो जैनधर्म का रहस्य समझ मे भी नहीं आ सकता। कई उदाहरण देकर इसको साबित किया गया है। यही तो इस प्रस्तावना का मुख्य विषय है। समयसार कलश १ कीटीका मे प० जयचन्द जी लिखते है कि "तातै द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक दोनो नय मे प्रयोजन के वशतै शुद्ध द्रव्यार्थिक को मुख्य करके निश्चय कहै है।" कलश ४ का भावार्थ—"द्रव्य को मुख्य करी अनुभव करावै सो द्रव्यार्थिक, पर्याय को मुख्य-करी अनुभव करावे सो पर्यायार्थिक है।" वस्तु, सामान्य विशेषात्मक या द्रव्यपर्यायात्मक है। ऐसा ज्ञान है वह सम्यक्त्व का साधक है : देखो माइल्लधवल नयचक्र गाथा २४० पृ. १२६। वस्तु का सामान्य स्वरूप शुद्ध निश्चयनय का विषय है वह ही वस्तु की मौलिकता है।

६. आपने लिखा इच्छा से आकुलता होती है, आकुलता है वह दुःख है। सो इच्छा तो राग का ही भेद है। आप ही लिख रहे है आत्मा के अहित विषय कषाय और आप ही कह रहे हैं कषाय से दुःख नही होता इच्छा से आकुलता होती है आकुलता से दुःख होता है। जिसके राग ही नही रहा उसके इच्छा कहा से होगी। राग मे सभी विकार गर्भित हो जाते है।

७. आपने लिखा धर्म का आविष्कार नही होता। यह ठीक है परन्तु वहा यह नहीं लिखा है कि धर्म का आविष्कार किया पर वहां लिखा है धर्म के विज्ञान का आविष्कार किया। धर्म के विज्ञान का अर्थ है कि धर्म किसे कहते है, धर्म क्या है इसकी जानकारी प्रगट करने का तरीका धर्म के विज्ञान का आविष्कार है। जैसे अणु के विज्ञान का आविष्कार किया का अर्थ यह नही है अणु को बनाया परन्तु यह अर्थ है कि जानकारी प्रगट की।

८. आपने जगह-जगह लिखा है जीव कर्म की वजह से दुःखी है, कर्म की वजह से अशुद्ध है सो यह कथन व्यवहार नय से है। अशुद्ध निश्चय नय से जीव अपने रागादि भावो की वजह से अशुद्ध है और रागादि की वजह से दुःखी है।

आपके लेख का जवाब ज्यादा विस्तार से नहीं दिया है। अध्यात्म का बहुत बारीकी से चितवन मनन करने से तत्त्व की लड़ी सुलझती है। इस बात की खुशी है कि आपने प्रस्तावना पढ़ी और उस पर विचार किया इसलिए आपका आभार है। अगर जिज्ञासु दृष्टि से पढ़ी होती तो ये सब प्रश्न खडे ही न होते। प्रस्तावना क्योंकि कोई ग्रन्थ नही था इसलिए ग्रन्थो के प्रमाण नही दिये गये।

(पृ० २३ का शेषांश)

पर विचार किया जाय, तो ऐसा प्रतीत होता है कि उद्योतनसूरि के ३०-४० वर्ष पूर्व वह अपनी रचना कर चुका होगा। इस प्रकार हमारा अनुमान है कि जटासिंह-नन्दि का काल विक्रम की आठवी शताब्दि के आसपास होना चाहिए।

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग म० म०
महिला महाविद्यालय, आरा

सन्दर्भ-सूची

१. कुवलयमालाकहा—पृ० ४ प० १।
२. पद्मचरितम्—प्राक्कथन पृ० १।
३. व० च० हिन्दी प्रस्तावना—पृ० ६।
४. तुलनार्थ—देखें वराङ्ग सर्ग ४, कर्म वर्णन-तत्त्वार्थ-८वां अध्याय व० च० सर्ग ५-१० लोकस्वरूप तत्त्वार्थ ३-४ अध्याय व० च० सर्ग २६ द्रव्यगुणपर्यायनिर्देश-तत्त्वार्थ-५वां अध्याय, व० च० सर्ग ३१ तपवर्णन-तत्त्वार्थ ६वां अध्याय।
५. तुलनार्थ—देखे, व०च० सर्ग २६/८२-८३ और स्वयम्भू स्तोत्र श्लोक १०२-३।
६. तुलनार्थ—देखे, व० च० सर्ग २६/५२, ५३, ५४, ५५, ५७, ५८, ६०, ६३, ६४, ६५, ६६, ७०, ७१ एवं ७२ तथा सन्मति प्रकरण—१/६, ६, ११, १२, १७, १८, २१, २२-२५, ५१-५२ तथा ३-४७, ५४-५५।
७. तुलनार्थ—देखे, व० १५/१२२ तथा 'सामयिक पाठ' मे सामयिक शब्द की व्याख्या।
८ व० च० प्रस्तावना—पृ० ६५। ९-१०. वही।
११. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परंपरा—३/२६४।
१२. हरिवंश पुराण—१/३०/३५।

ग्राम पगारा की जैन प्रतिमाएँ

□ श्री नरेशकुमार पाठक

पगारा मध्य प्रदेश के धार जिले मे तहसील मनावर के अन्तर्गत एक छोटा-सा ग्राम है। यह इन्दौर से लगभग १०० कि० मी० की दूरी पर अवस्थित है। इन्दौर से बस द्वारा धामनोद, धरमपुरी से होते हुए, पगारा पहुचा जा सकता है। धरमपुरी से यह लगभग ८ कि०मी० उत्तर-पश्चिम मे अवस्थित है। इस गांव में स्थित टीले का उत्खनन मध्यप्रदेश पुरातत्व एव सग्रहालय विभाग द्वारा १९८१-८२ मे कराया गया, जिसमे शुगकाल से लेकर मुगल काल तक के अवशेष प्राप्त हुए। पगारा ग्राम एव टीले के आसपास कई जैन प्रतिमाएँ रखी हुई है। जिनका विवरण निम्नलिखित है :—

जैन शासन देवी पद्मावती :—

हनुमान मन्दिर से प्राप्त चतुर्भुजी देवी पद्मावती सव्य ललितासन मे बैठी हुई निर्मित है। देवी की भुजाओ मे दक्षिणाधः क्रम से अक्षमाला सनालपद्म, सनालपद्म एव बायी नीचे की भुजा भग्न है। नीचे देवी के वाहन हंस का अंकन है। दोनो पार्श्व मे परिचारिका प्रतिमा बनी हुई है। वितान मे पद्मासन मे जैन तीर्थंकर प्रतिमा अकित है। देवी करड मुकुट, चक्र कुण्डल, उरोजो को स्पर्श करता हुआ हार, केयूर, बलय, मेखला, नूपुर से अलकृत है।

लांछन विहीन तीर्थंकर प्रतिमाएं—हनुमान मदिर के सामने से प्राप्त प्रथम प्रतिमा मे पद्मासन की ध्यानस्थ मुद्रा मे तीर्थंकर अकित है। वक्ष पर श्रीवत्स का आलेखन है। बायें पार्श्व मे सिर विहीन परिचारिका का त्रिभग मुद्रा मे अकन है। मूर्ति का सिर व पादपीठ भग्न है।

दूसरी प्रतिमा में भी तीर्थंकर पद्मासन मे अंकित है। बावडी से प्राप्त तीर्थंकर का ऊर्ध्व भाग ही शेष है। प्रतिमा कुन्तलित केश राशि से युक्त सिरके पीछे प्रभा-मण्डल है, वितान मे त्रिछत्र एवं चार पद्मासन मे बैठी हुई जिन प्रतिमाओं का अकन है।

जैन प्रतिमा पाद पीठ :—जैन प्रतिमा पादपीठ से सम्बन्धित शिल्पखण्ड तीन हनुमान मन्दिर से और एक-एक बावड़ी एवं गणपति मन्दिर मे प्राप्त हुए है। इन पादपीठों के मध्य मे धर्मचक्र दोनो पार्श्व में हाथी एव सिंह आकृतियो का आलेखन है।

जैन प्रतिमा वितान :—जैन प्रतिमा वितान से सम्बन्धित शिल्प कृतियों मे ६ बावड़ी से तीन हनुमान मन्दिर एक-एक टीले एव गणपति मन्दिर से प्राप्त हुए है। इन पर त्रिछत्र, दुन्दभिक, अभिषेक करते हुए हाथी, विद्याधर युगल, कायोत्सर्ग तथा पद्मासन मे जिन प्रतिमा एव मकर व्यालो का आलेखन है।

जैन शिल्प खण्ड :—जैन प्रतिमा शिल्प खण्ड से सम्बन्धित तीन कलाकृतियां बावड़ी से प्राप्त हुई है। प्रथम जैन प्रतिमा का दायां भाग है, जिसमे एक कायोत्सर्ग एव एक पद्मासन मे तीर्थंकर प्रतिमा अकित है। दायें पार्श्व मे चामरधारी एवं मकर व्याल का अंकन है।

द्वितीय मे दो जिन प्रतिमा एवं दायी ओर एक चावरधारी का शिल्पांकन है।

तृतीय पर पद्मासन की ध्यानस्थ मुद्रा में जिन प्रतिमाओं का आलेखन है।

केन्द्रीय संग्रहालय, गूजरी महल,
ग्वालियर (म०प्र०)

(पृ० ३२ का शेषांश)

नश्वर मान-प्रतिष्ठा, अभिनन्दन आदि से बचना चाहिए। हमारा मूल चिन्तन 'आप अकेला अवतरै, मरै अकेला होय' होना चाहिए। पर क्या करे? आज तो हमारा साधु भी रट लगा रहा है **'कि मन अभी भरा नही।'** उनके भी अभिनन्दर ग्रथ तैयार हो रहे है। यह समाज का दुर्भाग्य है जिसे वह सौभाग्य समझकर प्रभूत धन खर्च कर पोष रहा है! काश, यही धन जरूरत-मन्दो के काम आता।

—सम्पादक

जरा-सोचिए !

कि–दिल अभी भरा नहीं !

हमने कही पढ़ा है—"जोगी जोग जुगति क्या करता पहिले मन को अपने मार।" यह प्रसंग शुद्धात्मपद की प्राप्ति के प्रति उद्यत किसी उस योगी को लक्ष्य कर कहा गया है जो बाहर से तो ध्यानमुद्रा मे बैठा हो और जिसका मन इधर-उधर डोल रहा हो। भला, जिसका मन संसार की विडम्बनाओ में घूम रहा हो, वह ध्यान कैसे करेगा—आत्मकल्याण कैसे करेगा ? शास्त्रो मे भेद-विज्ञान को आत्मकल्याण का मार्ग कहा गया है और वह भेद-विज्ञान शास्त्रज्ञान द्वारा होता है। आज के समय मे तो ऐसा देखा जा रहा है कि जिन्होने जीवन भर शास्त्रों को पढ़ा उनमें कोई ही भेद-विज्ञान के पाठ का अनुसरण करते हो वरना, प्रायः शास्त्रो मे अपना जीवन बिताने की बात करने वाले अधिकांश जन तो भेद-विज्ञान के स्थान पर, धन, जायदाद आदि पर कुण्डली मारने—पर-परिग्रह के संग्रह करने मे लगे है—फिर वह परिग्रह ख्याति, पूजा, सन्मान प्रतिष्ठा अभिनन्दन ग्रन्थ आदि के सग्रह-विकल्परूपो मे ही क्यो न हो ?

हमने कितने ही विद्वानो को कहते सुना है कि—क्या करें ? समाज की दशा दिनो-दिन बिगड रही है लोगो को हम चाहे जितनी बार लम्बे-२ भाषण दें, शास्त्र की गद्दी से शास्त्र सुनाएँ, चर्चाएँ करें उन पर कोई असर ही नही होता। ऐसे ही प्रसंग मे हमने एक विद्वान से पूछा कि पडित जी, आप लोगो को कितने समय पर्यन्त धार्मिक चर्चाएँ सुनाते है ? घण्टे, दो घण्टे, चार घण्टे आदि। आपने तो अपना जीवन ही धार्मिक ग्रन्थों के पढने मे लगा दिया फिर भी आप स्वयम् कितने धर्म-मार्ग पर चले ? यह सोचिए।

आश्चर्य है कि हम कुछ काल चर्चा सुनने वालों से तो अपेक्षा करें कि वे धर्म-मार्ग पर चलें परन्तु चर्चा मे जीवन बिताने पर भी हम अपने धर्म-निर्वाह को न देखे। और परिग्रह समेटते हुए यही रटते रहे कि—'दिल अभी भरा नहीं।'

पहिले हमे अपने को देखना होगा—हमें शुद्ध धार्मिक रूप मे ढलना होगा—वीतराग धर्म की वीतरागता की ओर बढना होगा, चाहे वह बढना क्रमशः ही क्यो न हो ? लोग चाहे जो कहें, पर हमारी दृष्टि तो ऐसी बनी है कि जैनधर्म का मूल उद्देश्य, वीतरागता की ओर बढ़ाना मात्र है—शेष व्रत-नियम, आदान-प्रदान, क्रियाकाण्ड आदि तो साधन हैं जो प्रायः अन्य सभी धर्मों में भी हीनाधिक मात्रा मे है। इस सभी प्रक्रिया पर चिर स्वाध्यायियो व विद्वानो का ध्यान जाना चाहिए।

हम आश्चर्यचकित रह जाते है जब वर्तमान ज्ञानियो तक में आपाधापी की होड देखते है—उनमे 'अहं' को पुष्ट करने की प्रवृत्ति देखते है। यहा समालोचनार्थ अभिनन्दन ग्रन्थ आते रहते है और अभी भी हमे दो अभिनदन ग्रन्थ समालोचनार्थ मिले है। हम नही समझते कि अभिनन्दन ग्रन्थों की यह परम्परा कब से पड़ी ? कैसे पड़ी ? और क्यो पडी ? हमारे चौबीस तीर्थंकर, गणधर आदि अनेक प्राचीन आचार्य हुए, पर किन्ही का कोई अभिनंदन ग्रन्थ हमारे देखने मे नही आया - यदि हो तो देखें। लोग कहेगे उनके जीवनचरित्र तो उपलब्ध है वे ही उनके अभिनन्दन ग्रन्थ है। पर, स्मरण रखना चाहिए कि सभी चरित्रों मे सभी के गुण और दोष दोनो का वर्णन है--यदि गुण है तो गुणरूप मे वर्णित और दोष है तो दोषरूप मे वर्णित। उक्त परिप्रेक्ष्य में वर्तमान अभिनन्दन ग्रन्थो को चरित्र ग्रन्थ तो कह नही सकते उनमे तो गुणो की ही भरमार रहती है। ऐसे मे प्रश्न होता है कि क्या अभिनन्दन-ग्रन्थ के प्राप्तकर्ता सभीजन दोषो से सर्वथा अछूते हुए या हैं ? यदि हां, तो अभिनन्दन-ग्रन्थों को उचित कहा जा सकता है। पर हम समझते है कि एक भी अभिनन्दन ग्रन्थ प्राप्तकर्ता ऐसा न होगा जो ताल ठोक कर कह

सके कि मुझमें एक भी दोष का आश्रय नहीं था या नही है। और जब दोष है तो अभिनन्दन के नाम से ग्रन्थ प्रकाशन और उसके आदान-प्रदान का तुक ही कहा? क्या इसीलिए कि—'कि दिल अभी भरा नहीं।'

ये तो गृहीता की यश लिप्सा और प्रदाताओं की चापलूसी-लत ही हुई जो आंख मीचकर अभिनन्दन ग्रंथ छापे जांय। और कहावत भी चरितार्थ हुई कि 'अन्धा बांटे रेवड़ी घर ही घर को देय।' —शायद यह भी सत्य हो कि अभिनन्दनो के प्रकाशन पक्ष-व्यामोह और गुटबन्दी के परिणाम है। 'तू मेरा कर मैं तेरे लिए साधन जुटाऊंगा आदि।'

प्रश्न यह भी है कि क्या इन ऐसे ग्रन्थो से कोई धार्मिक लाभ भी होता है? बहुत से लेख तो कई अभिनन्दन ग्रन्थो मे ऐसे होते है जो इससे पहिले भी अन्यत्र अल्प-व्यय मे छप चुके होते है। यह भी जरूरी नही कि सभी लेख प्रामाणिक पुरुषों के लिखे और प्रामाणिक ही हो—सभी की अपनी-अपनी मान्यताये होती हैं—सर्वज्ञ या गणधर तथा पूर्वाचार्यों की नहीं। अनेक लेख विवादस्थ भी होते है। सर्वज्ञ ध्वनि दे गए, गणधर गूथ गए और पूर्वाचार्यों ने उनकी व्याख्याएं दीं और वे ही प्रामाणिक हैं। आम आदमियों के लेख प्रामाणिकता की कोटि मे नही आते।

हमे स्मरण है कि हमने एक मन्दिर जी मे एक सज्जन को एक अभिनन्दन ग्रन्थ का वाचन शास्त्र रूप मे करते और श्रोताओ को सुनते देखा। वाचन के अन्त मे 'मिथ्यातम नाशवे कू' स्तुति भी हुई और लोगों ने ग्रन्थ को साष्टांग नमस्कार भी किया। गोया, ग्रन्थ कोई अभिनन्दन ग्रन्थ न होकर आगम या जिनवाणी हो। ऐसी स्थिति मे अभिनन्दन ग्रन्थों के कारण 'कदाचित् भविष्य मे जिनवाणी का क्या रूप बन जायगा: इसे भी बड़ी गहराई से सोचना होगा? इतना ही नही हम तो बार बार नए ग्रंथो, टीकाओ, विशेषार्थ और भावार्थों के लिखे जाने का भी बराबर विरोध करते रहे है और वह इसीलिए कि आचार्यों के मूल ग्रन्थो को आगम माना जाने का चलन लोप न हो जाय और पडित वाणी ही भविष्य में जिन वाणी न बन बैठे, जैसा आज हो चुका है। क्या, लेखक गण पूर्वाचार्यों से अधिक बुद्धिमान हैं जो नए-२ ग्रन्थादि रचकर धर्म-प्रचार में लगे है? या आचार्यों के ग्रन्थों की मनमानी यद्वा-तद्वा व्याख्याएँ कर रहे है? यदि प्रचार ही करना है तो आचार्य वाक्यों का प्रचार कीजिए। उनके शब्दार्थ ही मौखिक समझाइए, ताकि आगम सुरक्षित रह सके। पर, करें क्या? कुछ लोग लेखन को व्यवसाय बनाये है वे पैसे के लिए लिखते है, कुछ यश-ख्याति मे डूबे है—'गर तू नही तेरा तो सदा नाम रहेगा।' जबकि अनन्तो तीर्थंकरो, चक्रवर्तियो आदि के नाम भी मिट गए। सभी जानते है कि दिग्विजय के बाद चक्रवर्ती तक को अपना नाम लिखने के लिए एक अन्य नाम मिटाना पड़ता है और पूर्वकाल के किसी दिग्विजयी को मिट जाना पड़ता है।

यदि गहराई मे न जांय और मोटा-२ विचार ही करें—तो निष्कर्ष ऐसा भी निकलता है कि एक अभिनन्दन ग्रन्थ मे पचास हजार की राशि का व्यय होना तो साधारण सी बात है और इतनी राशि एकत्रित करना, किसी चन्दा व्यवसायी को महा सरल है। रास्ते चलता साधारण आदमी भी इतनी राशि वसूल कर सकता है। हां, उसमें लोगो को तनिक उछाना देने के गट्प चाहिए। सो यहां तो बड़े-२ महारथी इस कार्य को करते हैं। उन्हे इतनी बड़ी राशि के अप-व्यय की चिंता नही। हमे तो दया आती है उन निष्काम सेवी अभिनन्दन गृहीताओ पर जो अपने गुणगान हेतु जनता का इतना प्रभूत द्रव्य व्यय करा कर भी अपने को निष्काम सेवी कहलाना चाहते हैं। कितनी ही शुभकामनाएं ग्रन्थ मे छप जाती है, सामूहिक गुणगान भी हो जाते है फिर भी वे समालोचना के द्वारा प्रशंसा के भूखे रह जाते है। सच ही है कि उनका—'दिल अभी भरा नहीं।'

हम स्मरण करा दे कि हमने पूर्व मे ऐसे लोगों के अभिनंदन ग्रथ और अभिनन्दन होते भी देखे है, जिनके धर्म और समाज के प्रति बे-जोड़ उपकार रहे, फिर भी जिन्हें अन्तिम दिन दुःख मे ही निकालने पड़े। अभिनन्दनों ने उनका कोई साथ न दिया—अन्य वैभव के साथ वे भी यही धरे रह गये। हमारे तीर्थंकर-महापुरुषो की लीक सही रही और हमें भी उसी पर चलना चाहिए—झूठी,

(शेष पृ० ३० पर)

आगमों से चुने : ज्ञान-कण

संकलयिता—श्री शान्तिलाल जैन, कागजी

१. तत्त्व तो सात हैं—१. बंध और बध के कारण, २. (आस्रव), ३. मोक्ष और मोक्ष के कारण, ४. संवर, ५. निर्जरा, ६. जीव और ७. अजीव।

२. सत्य पाया जाता है बनाया नहीं जाता।

३. शुद्ध दार्शनिक का नारा होता है सत्य सो मेरा, कुदार्शनिक का हो हल्ला होता है मेरा सो सत्य।

४. सुख तो अन्तरङ्ग में रागादिक दोष के अभाव मे है।

५ राग दूर करने की चेष्टा करना रागादि की निवृत्ति नहीं करना। राग में जो कार्य हो उसमे हर्ष-विषाद न करना ही उसके विनाश का कारण है। —वर्णी जी

६. भेदविज्ञान का अनुभव हो, चाहे कषाय का अनुभव हो, बन्ध का कारण अन्तरङ्ग अभिप्राय है। —वर्णी जी

७. जिस समय अविरत सम्यग्दृष्टि विषयानुभव करता है उस समय तथा जिस समय वह स्वात्मानुभव करता है उन दोनों अवस्थाओ में चतुर्थ गुणस्थान ही तो रहता है। —वर्णी जी

८. इस तरफ कुछ नही है और दूसरी तरफ भी कुछ नही है तथा जहा-जहा मैं जाता हूं वहा वहां भी कुछ नहीं है। विचार करके देखता हूं तो यह संसार भी कुछ नही है। स्वकीय आत्मज्ञान से बढ़कर कोई नही है।

—अमृतचद्र सूरि

९. मिथ्यात्व की अनुत्पत्ति का नाम ही तो सम्यग्दर्शन है और अज्ञान की अनुत्पत्ति का नाम सम्यग्ज्ञान तथा रागा-की अनुत्पत्ति यथाख्यातचारित्र और योगानुत्पत्ति ही परम यथाख्यात चारित्र है। वर्णी जी

१०. घट के घात से दीपक का घात नही होता।

११. आत्मा में मोक्ष है स्थान मे मोक्ष नहीं।

१२. परपदार्थ व्यग्रता का कारण नहीं, हमारी मोह दृष्टि व्यग्रता का कारण है

१३. एक वस्तु का अन्य वस्तु से तादात्म्य नही। पदार्थ की कथा छोड़ो। एक गुण का अन्य गुण और एक पर्याय का अन्य पर्याय के साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं। —वर्णी जी

१४. पर के द्वारा की गई स्तुति-निन्दा पर हर्ष-विषाद करना, अपने सिद्धान्त पर अविश्वास करने के तुल्य है।

१५. यः परमात्मा स एवाहं योऽहं स परमस्ततः। अहमेव मयोपास्यः नान्यः कश्चिदिति स्थितिः॥
जो परमात्मा है वही मैं हूं और जो मैं हूं सो परमात्मा है। अतः मैं अपने द्वारा ही उपास्य हूं, अन्य कोई नहीं ऐसी ही वस्तु मर्यादा है।

१६. अनन्त वीर्य उत्पन्न हो जाने पर भी जब तक मनुष्यायु कर्म की स्थिति शेष है उस समय तक अघातिया कर्मों का क्षय नही हो सकता है।

१७. अन्तिम तीर्थंकर श्री १००८ महावीर स्वामी के तीर्थ काल मे (१) नमि (२) मतङ्ग (३) सोमिल (४) रामपुत्र (५) सुदर्शन (६) यमलोक (७) वलिक (८) विषकम्बिल (९) पालम्बष्ट (१०) पुत्र। इन दस मुनीश्वरों ने तीव्र उपसर्ग सहन कर केवलज्ञान प्राप्त किया। —द्वादशांग का आठवां अङ्ग

कागज प्राप्ति :—श्रीमती अंगूरी देवी जैन (धर्मपत्नी श्री शान्तिलाल जैन कागजी) नई दिल्ली-२ के सौजन्य से

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २५ ००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : सं० पं० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, सात विषयों पर शास्त्रीय तर्कपूर्ण विवेचन २-००

Jaina Bibliography : Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References.) In two Vol. (P. 1942) Per set 600-00

सम्पादन परामर्शदाता : श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीरसेवामन्दिर के लिए मुद्रित, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५३

BOOK-POST

वीर सेवा मन्दिरका त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ४३ : कि० ३ जुलाई-सितम्बर १९९०

इस अंक में—

प्रकाशक :

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

'मूर्च्छा' से मूच्छित को आत्मबोध कहाँ ?

□ पद्मचन्द्र शास्त्री, दिल्ली

संवर-निर्जरा के आगमोक्त कारणों—अंतरंग-बहिरंग साधनों को जीवन में उतारना चारित्र की सरल परिभाषा है—'संसार कारणनिवृत्ति प्रत्यागूर्णस्य ज्ञानवतः कर्मादाननिमित्तक्रियोपरमः सम्यक्-चारित्रम्।'

तत्त्वचर्चा का प्रयोजन स्व-कल्याण से है और स्व-कल्याण (मोक्ष) संवर-निर्जरा पूर्वक ही होता है। फलतः बाह्य तथा अन्तरंग में संवर-निर्जरा के कारणभूत 'गुप्ति-समिति-धर्म-अनुप्रेक्षा-परीषहजय और चारित्र तथा तप को अपनाए बिना सभी चर्चाएँ अधूरी हैं—वे निष्फल भी हो सकती हैं।

आत्मा के स्वरूप गुण-पर्यायादि की चर्चा करना उसको देखना-दिखाना नही है। आत्मानुभव की बात येनकेन प्रकारेण कदाचित् कथंचित् उसके गुणपर्यायादि चिंतन में भले ही मानी जा सके। स्मरण रहे—चर्चा करना और चिंतन दोनों पृथक् हैं। चर्चा सर्वथा बाह्य है और चिंतन कथंचित् अंतरग। जहाँ तक आत्मा के गुण-पर्यायों के चिंतन की बात है, वह चिंतन भी अपरिग्रही (चारित्री) मन के ही हो सकता है। और हम भी अपरिग्रह की ओर बढ़ने को प्रमुखता देते हैं। पर, कई लोग है कि अपरिग्रह के नाम से बिदकते है और भोग भोगते हुए, चर्चा मात्र से मोक्ष मानते हैं। जब कि आगम में स्पष्ट लिखा है—

'सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः।' और 'संयतस्यैवागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्त्व यौगपद्यात्मज्ञान-यौगपद्यं सिध्यति।' —प्रवच० ३।८०

तत्त्वचर्चा के संबंध मे कुछ लोग ऐसी एकांगी मिथ्याधारणा बना बैठे है कि सर्वार्थसिद्धि के देव संयमपालन के बिना, भोग भोगते हुए ३३ सागर आयुपर्यन्त तत्त्वचर्चा करते है और तत्त्वचर्चा के कारण ही वे आगामी भव में मोक्ष पा जाते है, आदि। फलतः—इस मान्यता के लोग मात्र चर्चा मे मोक्ष के स्वप्न देखने लगे हैं—उन्हें परिग्रह-त्याग अर्थात् चारित्र की बात काटनी जैसी है। पर, स्मरण रखना चाहिए कि जैन मान्यता अपरिग्रह पर टिकी हुई है और सर्वार्थसिद्धि विमान की प्राप्ति और वहाँ से चयकर अगले भव में मोक्ष जाना दोनों ही चारित्र (अपरिग्रह की ओर बढ़ने) के कारण से ही है। यदि संयम-विहीन चर्चा से ही मोक्ष होता तो वे देव सर्वार्थसिद्धि से सीधे ही मोक्ष चले जाते होते। उन्हें अगला भव और उसमें दैगम्बरी दीक्षा रूप संयम (चारित्र) धारण करने की आवश्यकता नही पड़ती। सभी तीर्थंकर भी संयम-मार्ग से ही मोक्ष गए है।

हमारी दृष्टि से भोगोपभोग की सामग्री (परिग्रह) बढ़ाते हुए कोरी बाह्य-चर्चा करना और बाह्य-वेश लेकर परिग्रह का संग्रह करना दोनों ही चिंतनीय है।

अपरिग्रह की ओर बढ़ने के पक्षधर होने से हम परिग्रह को कृश कराने वाली तत्त्वचर्चा के पोषक हैं—विरोधी नही। और इसीलिए तत्त्वचर्चा व उसके प्रचार-प्रसार के बहाने श्रावकों और त्यागियों द्वारा भोगोपभोग सामग्रीरूप-धनादि परिग्रह का बढ़ाया जाना, संस्थाओं-मठों-भवनों आदि का स्वामित्व प्राप्त करना-कराना आदि हमारी मान्यता के विरुद्ध है—कोई इसे माने या न माने।

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

ओम् अर्हम्
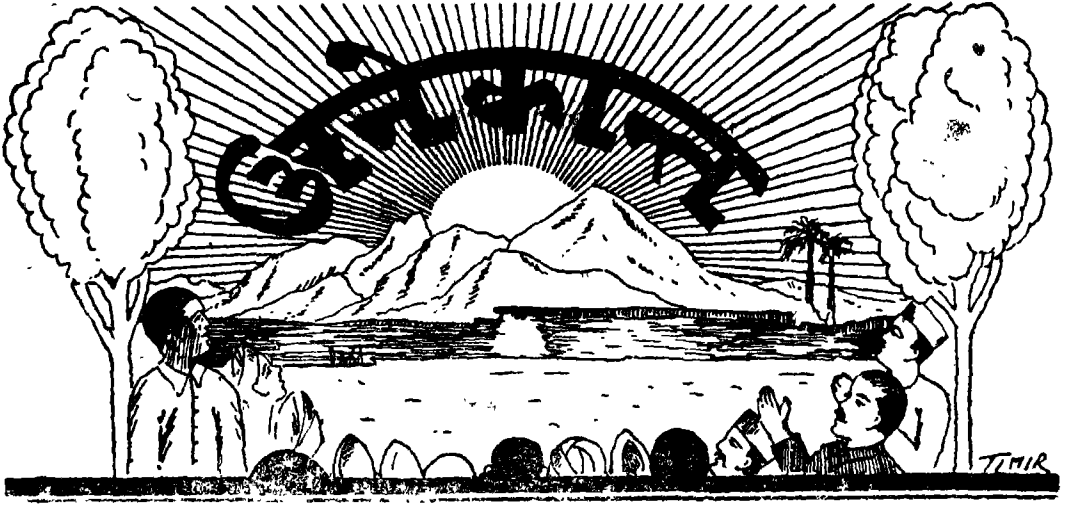
परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम्।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम्॥

वर्ष ४३ किरण ३ } वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ वीर-निर्वाण सवत् २५१७, वि० सं० २०४७ { जुलाई-सितम्बर १९९०

सीख

मानत क्यों नहिं रे, हे नर सीख सयानो।
भयो अचेत मोह-मद पीकें, अपनी सुध विसरानी॥टेक॥

दुखी अनादि कुबोध अवृत तें, फिर तिन सौं रति ठानो।
ज्ञान सुधा निज भाव न चाख्यो, पर-परनति मति सानो॥२॥

भव असारता लख्यो न क्यों जहँ, नृप ह्वै कृमि विट थानो।
सधन निधन नृप दास स्वजन रिपु, दुखिया हरि से प्रानो॥३॥

देह येह गद-गेह नेह इस, हैं बहु विपति निसानी।
जड़ मलीन छिनछीन करमकृत, बंधन शिव सुख हानी॥४॥

चाह ज्वलन ईंधन-विधि-वन-घन, आकुलता कुल खानी।
ज्ञान-सुधासर-सोखन रवि ये, विषय अमितु मृतु दानी॥५॥

यों लखि भव तन भोग विरचिकरि, निज हित सुन जिन वानी।
तज सब राग 'दौल' अब अवसर, यह जिनचन्द्र बखानी॥६॥

कन्नड़ के जैन साहित्यकार

□ श्री राजमल जैन, जनकपुरी, दिल्ली

भारत का राजनैतिक और दार्शनिक साहित्य विशेषकर जैन साहित्य एवं दर्शन इस बात का साक्षी है कि जैन तीर्थंकरों एवं आचार्यों ने स्थानीय लोकभाषा को अपने उपदेशों एवं सिद्धान्त ग्रन्थो के लिए मुक्त भाव से प्रयुक्त किया। यही कारण है कि प्राकृत जैन का समानार्थी-सी बन गई है।

दक्षिण भारत में भी विशेषकर कर्नाटक में महावीर स्वामी के समय मे भी जैनधर्म का प्रचार था। सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के कर्नाटक मे जैन मुनि के रूप मे श्रवण बेलगोल में तपस्या करने और स्वर्ग गमन के कारण भी वहाँ जैनधर्म का खूब प्रचार हुआ होगा। उस उदेश के जैन लेखकों, कवियो ने उसी देश की भाषा कन्नड़ मे अपूर्व महत्व की रचनाएँ की और प्राकृत भाषा एव संस्कृत में भी ग्रथो की रचना की।

जैन युग या स्वर्णकाल (आरंभ से ११६० ई० तक)

कन्नड़ भाषा के साहित्य के इतिहास का प्रारम्भ जैन कवियो या लेखकों से होता है। प्रसिद्ध पुरातत्वविद् ई० पी० राइस ने अपने कन्नड़ साहित्य के इतिहास मे आरम्भ से लेकर ११६० ई० तक के युग को 'जैन युग' नाम दिया है। इसी कोटि के विद्वान् आर. नरसिंहाचार्य ने अपनी रचना 'कविचरिते' (कवियो का इतिहास) मे ईसा की पाँचवी शताब्दी से, लेकर बारहवीं शताब्दी के कन्नड साहित्य के इस युग को जैन युग कहा है। 'कर्नाटक और उसका साहित्य' के लेखक श्री एन. एस. दक्षिणामूर्ति ने भी लिखा है—"१. आरम्भकाल अथवा स्वर्ण युग (५वी शताब्दी से १२वी शताब्दी तक)—अन्यत्र यह दिखाया गया है कि कन्नड साहित्य का आरम्भ स्थूल रूप से ५वी शताब्दी माना जा सकता है। ५वी से ६वी शताब्दी तक का साहित्य किस रूप मे था, यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। ६वी शताब्दी में पंप जैसे महाकवि के आविर्भाव से यह साहित्य अत्यन्त पुष्ट हुआ। इसी काल मे रन्न, पोन्न, नागचन्द्र इत्यादि श्रेष्ठ कवि उत्पन्न हुए। इस काल का साहित्य अनेक दृष्टियो से बहुत ही महत्वपूर्ण है। इस काल को स्वर्ण युग कहना सर्वथा उपयुक्त प्रतीत होता है। अन्य विद्वानों ने भी इसको स्वर्ण-युग नाम से अभिहित किया है।" कुछ लेखक इस युग को आरम्भ काल और पप (जैन कवि) युग मे विभाजित कर देते हैं।

जैन युग के बाद कन्नड़ साहित्य मे वीर शैव युग या बसव युग का प्रारम्भ हुआ ऐसा माना जाता है जो कि ११६० ई० से १५०० ई० या १६०० ई० तक माना जाता है। (बसव वीरशैवमत या लिंगायत मत के प्रवर्तक थे)।

उपर्युक्त काल के बाद १५वी सदी से १६वी सदी तक की कालावधि वैष्णव युग का ब्राह्मण युग या कुमारव्यास युग कहलाती है। इसके भी बाद का वर्तमान काल आधुनिक युग निर्दिष्ट किया जाता है।

ऊपर जो जैनेतर या आधुनिक युग आदि दिए गए हैं, उनमे जैनो की लेखनी रुकी नही। वे भी अपनी लेखनी से कन्नड साहित्य को समृद्ध करते रहे।

भाषा की प्राचीनता की दृष्टि से जैन युग प्राचीन कन्नड़ (हलगन्नड़) काल है। उसमे नौवी शताब्दी से पहले ग्रंथ-रचना उपलब्ध नही होती। अशोक के प्राकृत शिलालेखों के बाद प्राचीन कन्नड़ मे शिलालेख पाए जाते है। सबसे प्राचीन शिलालेख हल्मिडि शिलालेख (पांचवी सदी) कहलाता है। उसके बाद छठी सातवी सदी के श्रवणबेलगोल के शिलालेख आते हैं। इनके विषय मे श्री र० श्री मुगलि ने लिखा है—"श्रवणबेलगोला से प्राप्त अनेक प्राचीन शिलालेखों में साहित्य-सस्कार स्पष्ट है। उनमे जैसे वीररस जगमगा रहा है। वैसे ही शांतरस की

बूंदें भी झलक रही हैं।" इसी जैन तीर्थ के एक शिला-लेख से ज्ञात होता है कि श्रीवर्धदेव नामक कवि ने लगभग ६५० ई० में 'चूड़ामणि' नामक काव्य-कृति का सृजन किया था किन्तु यह रचना अभी उपलब्ध नहीं हुई है।

कन्नड़ भाषा का सबसे प्राचीन उपलब्ध प्रथम हृद्यात्मक ग्रन्थ "कविराजमार्ग" है। जैन धर्मानुयायी राष्ट्रकूट नरेश नृपतुंग अथवा अमोघवर्ष (८१४–८७७ ई०) द्वारा यह रचित बताया जाता है। संस्कृत कवि दण्डी के अलंकार ग्रन्थ 'काव्यादर्श' को एक मानक ग्रन्थ मानकर इसकी रचना की गई है। यह मुख्यत: अलकार सम्बन्धी ग्रन्थ है जो आज भी आदर के साथ पढ़ा जाता है। किंतु जहाँ दण्डी ने केवल आठ ही रस (कविता मे) बताए है वहाँ नृपतुग ने "शांतरस" को भी एक रस माना है। यह निश्चय ही जैनधर्म का प्रभाव है। इस ग्रन्थ से कर्नाटक की एक हजार वर्ष प्राचीन भाषा और संस्कृति का सम्यक् ज्ञान होता है। कुछ विद्वान् नरेश नृपतुंग के स्थान पर 'श्रीविजय' को इसका रचयिता मानते है। किन्तु वे भी एक जैन कवि माने गए हैं। प्रसगवश यह भी उल्लेखनीय है कि राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष के गुरु 'आदिपुराण' के रचयिता आचार्य जिनसेन द्वितीय थे। इसमें कर्नाटक को "सुन्दर देश" और कन्नड़ को "मधुमय कन्नड़" कहा गया है और कर्नाटक की सीमा कावेरी से गोदावरी तक बतलाई गई है।

जैनधर्म से संबधित पारिभाषिक शब्दो जैसे वीतराग श्रुत तथा आगम के अन्त: साक्ष्य के आधार पर भी 'कविराजमार्ग' एक जैन कृति सिद्ध होती है।

'वड्डाराधने' कन्नड़ भाषा की सबसे प्राचीन गद्य-रचना है। इस कृति के नाम का अर्थ है 'बृहद् आराधना' श्री नरसिंहाचार्य के अनुसार इसका एक नाम 'उपसर्ग केवलियों की कथा' भी है। इसमें सम्मिलित १९ कथाओं में उन घटनाओ का रोचक, सजीव एव सरस वर्णन है जिनके कारण कथाओ के नायकों को वैराग्य उत्पन्न हुआ। इसमें जैनधर्म के अनुसार तप, व्रत और सल्लेखना आदि का आश्रय लेकर अपनी नियति बदलने वाले महापुरुषों का जीवन गाथाएँ हैं। सुकुमार स्वामी चन्द्रगुप्त पूर्वभवी नंदिमित्र आदि के जीवन चित्रित हैं। लेखक आचार्य शिवकोटि हैं। उन्होंने इस ग्रन्थ की रचना आ० हरिषेण के 'कथाकोष' के आधार पर तथा कथाओं के उसी क्रम मे की है। उन्होंने प्राकृत गाथायें भी दी हैं, इस भाषा के शब्दों का भी प्रयोग किया है। किन्तु उनकी यह गद्य रचना कन्नड़ साहित्य की सबसे प्राचीन रचना मानी जाती है। कुछ विद्वान् इसका रचना काल ८२० ई० मानते हैं तो अधिकाश ९२० ई० इसका समय मानते हैं।

कन्नड़ के तीन रत्न

कन्नड़ साहित्य मे तीन महाकवियो पंप, पोन्न और रन्न को बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त है। वे तीनो इस भाषा के तीन रत्न कहलाते है।

आदिकवि पंप—दसवी शताब्दी के कन्नड़ महा कवि पंप का मूल निवास-स्थान वेंगी मे हुआ था। उनका जन्म ब्राह्मण कुल मे हुआ था। उनके पितामह वैदिक धर्मानुयायी थे किन्तु उनके पिता ने ब्राह्मण रहते हुए भी जैन-धर्म स्वीकार कर लिया था क्योकि वह उनकी दृष्टि में श्रेष्ठ था। स्वयं पंप ने इस तथ्य का उल्लेख गर्व पूर्वक किया है। पंप ने वैदिक और जैन धाराओं को मिलाने का प्रयत्न अपनी लेखनी से किया। जैनधर्म की पुष्टि के लिए उन्होने कन्नड़ मे 'आदिपुराण' नामक श्रेष्ठ काव्य-कृति की सृष्टि की। इसके लिए उन्होंने जिनसेनाचार्य (द्वितीय) की संस्कृत रचना 'आदिपुराण' से कथानक लिया था। समालोचकों के अनुसार जिनसेनाचार्य में जहाँ पुराणत्व अधिक है वहां पंप में काव्यत्व अधिक है। आदिपुराण मे महाकवि पंप ने प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के पूर्व-भवों तथा भरत-बाहुबलि आख्यान का निरूपण बड़े सुन्दर ढंग से किया है। किन्तु इन आख्यानों के कारण उनका पुराण समरस नही हो गया है। श्री मुगलि के शब्दों मे "आदिपुराण मे कई ऐसे स्थल हैं जो संस्कृत काव्यों में सामान्यत: नहीं देखे जाते" तथा "अपने इस पुराण के द्वारा, उन्होने यह सूचित किया प्रतीत होता है कि जैन तत्वों में विश्वधर्म के तत्व निहित हैं।"

पंप ने आदिपुराण की रचना ९४१ ई० में लगभग चालीस वर्ष की अवस्था मे की थी। वह रचना इतनी प्रौढ़ बनी कि उन्हें आदिकवि का स्थान दिया गया।

कन्नड़ भाषा में उन्होंने चंपू शैली का अर्थात् गद्य और पद्य मिश्रित रचना का प्रारम्भ किया। उनकी इस चंपू शैली का परिवर्ती कवियो ने भी अनुकरण किया और इन सबका का काल ''पंपयुग' कहलाया। वैसे भी आदिपुराण की गणना कन्नड़ के उत्तम ग्रन्थो में आज भी की जाती है।

पंप केवल धार्मिक कवि ही नहीं थे। उन्होंने आश्रयदाता राष्ट्रकूटों के सामंत चालुक्य नरेश की वीरता एवं गुणों का कथन करने के लिए एक लौकिक काव्य '**विक्रमार्जुनविजय**' अथवा 'पप भारत' की रचना की। इसमें उन्होने यह दर्शाया है कि अरिकेसरी अर्जुन के समान ही वीर हैं। उन्होंने अपनी सामग्री महाभारत से ली है किंतु उसकी पृष्ठभूमि लेकर 'समस्त भारत' कहने की घोषणा करके भी सक्षेप में महाभारत कहते हुए अरिकेसरी को अर्जुन से अभिन्न बताया है। कथा में परिवर्तन भी उन्होने किया है जैसे—द्रौपदी को केवल अर्जुन की ही पत्नी बताना आदि। श्री मुगलि ने उनकी रचना का मूल्यांकन करते हुए लिखा है कि—**"व्यास का भारत पम्प की प्रतिमारूपी पारस पत्थर के स्पर्श से सोना हो गया है, एक सरस विश्व बन गया है।"**

उपर्युक्त दोनों रचनाएँ पम्प ने एक ही वर्ष में सृजित की थी जो कि उन्हे अमरता प्रदान कर गईं।

पंप केवल शब्द वीर ही नही थे, वे शस्त्रवीर थे। उन्होंने अपने 'पप भारत' मे लिखा है—पंप सारी पृथ्वी को कपित कर देने चतुरंग बल के लिए भयंकर थे, वे युद्ध में कभी भयभीत नही होने वाले थे। ललित अलंकरण से युक्त रहते थे, मन्मथ के समान रूप वाले तथा अपगत पाप (पाप रहित) थे।" उन्हें **कन्नड़ का कालिदास** और '**सत्कवि पंप**', 'साहित्य सम्राट्' कहा जाता है।

पंप को अपनी भूमि से भी अपूर्व प्रेम था। कर्नाटक के बनवासी प्रदेश में भ्रमर या कोकिल के रूप में जन्म को भी वे देह धारण की सफलता मानते थे।

कन्नड़ मे पपयुग के तीन रत्नों मे से दूसरे रत्न हैं **पोन्न**। ये भी वेंगी के ब्राह्मण परिवार में जन्मे थे और जैनधर्म अंगीकार करने के बाद कर्नाटक आ गए थे। राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण तृतीय (अकालवर्ष)(६३६–६६८ ई०) के ये राजकवि थे। इन्होंने तीन ग्रंथों की रचना की है—१. **शांतिपुराण** (सोलहवें तीर्थंकर) का जीवन-चरित्र, २. **जिनाक्षरमाला**। (जिनेन्द्रदेव की स्तुति) और ३. भुवनैकरामाम्युदय (राम कथा)। एक और संस्कृत रचना। 'गतप्रत्यागत' भी इन्ही की रचना बताई जाती है। अंतिम दो ग्रंथ इस समय उपलब्ध नहीं है।

पोन्न की उपलब्ध कन्नड़ रचना 'शांतिपुराण' है जो कि चंपू शैली में लिखित है। कवि के मूल स्थान पुंगनूर मे नागमथ्य नामक एक जैन ब्राह्मण थे। उनके दो पुत्र मल्लपट्य और पुन्यमट्य थे जो कि बाद में तैलप नामक नरेश के सेनापति बन गए थे। उन्होंने अपने गुरू जिनचन्द्रदेव के निर्वाण के उपलक्ष्य मे पोन्न से शांतिपुराण लिखवाया था। मल्लपट्य की सुपुत्री 'दानचिंतामणि' अत्तिमब्बे ने शांतिपुराण की ताडपत्रों पर एक हजार प्रतियाँ लिखवाकर सोने एवं रत्नों की जिन प्रतिमाओं सहित कर्नाटक के मन्दिरों को भेंट की थी। इस महिला ने लक्कुंडि में अनेक जिनालय भी बनवाए थे।

पोन्न ने जैन धर्मशास्त्र और काव्यशास्त्र का प्रौढ़ समन्वय अपने शातिपुराण को 'पुराणचूड़ामणि' कहा है।

पोन्न कन्नड़ और सम्कृत दोनों मे रचना करते थे। अकालवर्ष ने उन्हें इसी कारण '**उभयकवि चक्रवर्ती**' की उपाधि से विभूषित किया था। जो भी हो, वे प्राचीन कन्नड़ साहित्य के तीन रत्नों मे गिने जाते हैं।

रन्न—कन्नड़ के पपयुगीन तीसरे कवि-रत्न हैं। वास्तव मे इनका नाम रन्न ही 'रत्न' का बिगड़ा रूप (अपभ्रंश) जान पड़ता है। ये आधुनिक उत्तरी कर्नाटक के बीजापुर जिले के मुधोल (प्राचीन नाम मुदुवाललु) नामक स्थान पर मनिहार कुल मे हुआ था। किन्तु इनकी शिक्षा सुदूर दक्षिण कर्नाटक मे श्रवणबेलगोल में हुई थी और बंकापुर में निवास करने वाले आचार्य अजितसेन इनके गुरू थे। गोमटेश्वर महामूर्ति (श्रवणबेलगोल) की प्रतिष्ठापना करने वाले वीर सेनानी एवं जिनभक्त चामुंडराय ने इन्हें आश्रय दिया था। चालुक्य नरेश सत्याश्रय (अपर नाम इरिवबेडग) के भी ये आश्रित थे। और कवि रत्न, कवि चक्रवर्ती, कवि तिलक आदि उपाधियों से विभूषित किया था।

रन्न की दो प्रमुख रचनाएँ हैं—१. अजितपुराण और २. गदायुद्ध या साहस भीम विजय। अजितपुराण में दूसरे तीर्थंकर अजितनाथ का जीवन रसपूर्ण काव्यशैली में वर्णित है। कवि ने सगर चक्रवर्ती और उनके पुत्रों की कथा मोहक एवं विलक्षण प्रतिभापूर्वक गुंफित की है। इस पुराण की रचना रन्न ने ९९३ ई० के लगभग की होगी ऐसा विद्वानों का अनुमान है। इसकी एक विशेषता यह है कि कवि ने तीर्थंकर के अनेक भवों का वर्णन न कर केवल एक ही भव का वर्णन किया है। राजा विमलवाहन का वैराग्य प्रकरण और तीर्थंकर के पांचों कल्याणकों के रसमधुर निरूपण में कवि ने अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। इसी प्रकार चक्रवर्ती सगर और उनके साठ हजार पुत्रों के प्रसंग एवं इस कथानक द्वारा मृत्यु की अनिवार्यता सम्बन्धी चित्रण भी सबल बन पड़ा है।

कवितिलक रन्न ने बड़े आत्मविश्वास के साथ अपने पुराण को "पुराणतिलक" कहा है।

लौकिक काव्य के रूप मे रन्न ने 'गदायुद्ध' की सृष्टि पंप के भारत से प्रेरणा लेकर की होगी। महाभारत की इस कथा को माध्यम बनाकर कवि ने यह जताया है कि उसके आश्रयदाता नरेश सत्याश्रय भी उसी प्रकार पराक्रमी है और शत्रुओं का नाश करने में उसी प्रकार सक्षम है जिस प्रकार कि भीम ने अपनी गदा से दुर्योधन का अन्त किया था। कवि ने अपनी इस रचना को 'कृतिरत्न' कहा है। इस काव्य की यह विशेषता है कि इसे नाटक के रूप में मंचित किया जा सकता है।

अजित पुराण में कवि ने कहा है—"कवियों में रत्नत्रय—पंप, पोन्न और रत्न (रन्न) ये तीनों प्रसिद्ध हैं। ये तीनों 'जिनसमयदीपक' (जैन सिद्धांत के प्रकाशक) हैं। इनकी बराबरी कौन कर सकता है?" कन्नड़ साहित्य के इतिहास लेखकों ने भी इस मूल्यांकन को मान लिया है। रन्न ने यह भी दावा किया है कि 'वाग्देवी' (सरस्वती) के भण्डार की मुहर उन्होने तोड़ी और जिस प्रकार मणिधारी सर्प के फण पर स्थित मणि की परीक्षा करने का सामर्थ्य किसी में नहीं होता उसी प्रकार उनकी रचनाओं का मूल्यांकन कौन कर सकता है।

चामुण्डराय—समरधुरंधर, मंत्री, सेनापति और प्रमर जिनभक्त चामुण्डराय ने जहाँ श्रवणबेलगोल में ५८ फीट ८ इंच ऊँची गोमटेश्वर महामूर्ति की स्थापना कर ससार को एक आश्चर्य-वस्तु प्रदान की वहीं शस्त्र के साथ शास्त्र के भी ज्ञाताके रूप मे **'त्रिशष्टि लक्षण महापुराण'** दूसरा नाम 'चाउण्डरायपुराण' (हिन्दी मे प्रचलित चामुण्डराय नाम) की कन्नड़ में गद्य-ग्रन्थ के रूप में रचना कर कन्नड़ भाषा के इतिहास में अमरता एवं कीर्ति प्राप्त की है। इसमें उन्होंने चौबीस तीर्थंकरों सहित जैन मान्यता के ६३ श्रेष्ठ पुरुषों (शलाका पुरुषों) का जीवन-चरित्र लिखा है जिसका आधार स्पष्टतः जिनसेनाचार्य का आदिपुराण और गुणभद्राचार्य का उत्तरपुराण प्रतीत होता है। शस्त्रशूर चामुण्डराय ने प्रत्येक चरित्र का मंगल-स्मरण आरम्भ मे एक पद्य देकर किया है और शेष चरित्र कन्नड़ मे लिखा है। इसका रचनाकाल ९७८ ई० माना जाता है। चामुण्डराय ने 'चरित्रसार' नामक सस्कृत ग्रथ भी लिखा है जिसमे उन्होंने ध्यान, परीषह, अणुव्रत आदि जैन सिद्धांतों का विवेचन किया है। इनकी लेखन-शैली सरल और रोचक है। उनमें अद्भुत सक्षेपण शक्ति है।

चामुण्डराय द्वारा लिखित पुराण की प्रसिद्धि गद्य के कारण है। वड्डाराधने की खोज से पहले यह पुराण प्राचीन गद्य का सबसे पुराना ग्रंथ माना जाता था। फिर भी, प्राचीन कन्नड़ के बोलचाल के स्वरूप को जानने के लिए यह आज भी एक महत्वपूर्ण कन्नड़-ग्रन्थ है। श्री मुगलि के शब्दों मे—"पांच-छै शताब्दियों से कन्नड़ मे विकसित होते हुए कथागद्य और शास्त्रगद्य के सम्मिश्रण में 'चामुंडराय पुराण' विशिष्ट है।"

कन्नड़ साहित्य मे नागवर्म नाम के अनेक कवि या लेखक हुए है। इनमें नागवर्म (प्रथम) अपनी लौकिक कृतियों के लिए सुविख्यात हैं। इनके पिता ब्राह्मण थे किंतु ये जैनधर्म का पालन करने लगे थे। इन्होंने अपने गुरू का नाम अजितसेनाचार्य बताया है। गोमटेश्वर महामूर्ति के प्रतिष्ठापक चामुंडराय का भी इन्हें संरक्षण प्राप्त था। इनके दो ग्रथ हैं—१. छंदोम्बुधि जिसमें कन्नड़ भाषा के छंदों की शृंगार से ओतप्रोत विवेचना है तथा २. कर्नाटक कादम्बरी। इसकी रचना बाणभट्ट की कादम्बरी को समक्ष

रखकर की गई है किंतु उसमे कवि ने यथोचित परिवर्तन कर उसे एक स्वतंत्र रचना बना दिया है। बाणभट्ट ने जहाँ केवल गद्य का आश्रय लिया है वहाँ नागवर्म ने गद्य और पद्य दोनों का। इनका समय ९९० ई० माना जाता है।

दुर्गसिंह की रचना 'पंचतंत्र' है। कन्नड़ में अनूदित। लिखित यह रचना विष्णु शर्मा के संस्कृत पचतंत्र का अनुवाद नही है बल्कि गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' से चुनी गई कथाओं के आधार पर **वसुनागभट्ट** द्वारा रचित 'पच-तंत्र' का कन्नड़ रूपांतर है। वसुनागभट्ट का पचतंत्र 'जावा' तीन रूपों मे प्रचलित था—दो पद्यात्मक और एक गद्यात्मक। उसमे जैनधर्म के तत्व रहे होगे तभी दुर्ग-सिंह के पंचतत्र मे जैनधर्म के सिद्धांत और पारिभाषिक शब्द पाए जाते है। उनका पचतत्र गद्य-पद्य मिश्रित है। दुर्गसिंह ब्राह्मण थे। उनका समय १०३० ई० माना जाता है। विद्वानों की राय है कि जैनधर्म के कर्नाटक मे उन दिनों प्रभाव के कारण दुर्गसिंह ने वसुनागभट्ट के ग्रंथ को अपना आधार बनाया।

कन्नड़ में ज्योतिष ग्रंथ के अभाव की पूर्ति करने की दृष्टिसे 'विप्रकुलोत्तम' **श्रीधराचार्य** ने 'जातक तिलक' नामक पुस्तक लिखी। इस रचना के अन्तिम पद्य से ज्ञात होता है कि इन्होंने **'चंद्रप्रभचरित'** का भी सृजन किया था जो उपलब्ध नही हो सका है। इसका समर्थन १२६० ई० की कृति 'नागकुमारचरित' से भी होता है।

उमास्वाति के प्रसिद्ध 'तत्वार्थसूत्र' (संस्कृत) की कन्नड़ मे वृत्ति के लेखक है 'दिवाकरनन्दि' इन्होने उसकी रचना १०६२ ई० के लगभग की होगी ऐसा अनुमान है। अपने ग्रंथ के प्रारम्भ मे उन्होने प्रतिज्ञा की है कि वे मंदबुद्धि जनों के हित के लिए तत्वार्थसूत्र मूल का अर्थ कन्नड़ मे कहेंगे।

'सुकुमारचरिते' नामक गद्य-पद्य मिश्रित (चपू) काव्य के रचयिता 'शांतिनाथ' ने सुकुमार की कथा प्रभावोत्पादक कन्नड़ मे लिखी है। उसका रचनाकाल या कवि का समय १०६८ ई० निर्धारित किया गया है। यह भी एक उत्कृष्ट कृति मानी गई है।

नागचंद्र या अभिनव पम्प—इनके जीवन के विषय में विशेष जानकारी नही है। किंतु उनकी कृति **'पम्परामायण'** (दूसरा नाम रामचंद्र चरित पुराण) ने इन्हे कन्नड़ साहित्य में अमर बना दिया है। अभिनव या श्रेष्ठ पम्प या दूसरे पम्प नाम इन्होने स्वय अपने को ही दिया था किंतु अब वे इसी नाम से विख्यात हैं। जैन 'पउमचरिउ या (पदमपुराण) के आधार पर लिखित रामायण एक सरस काव्य है। उसमे जैन मान्यताएं यथा हनुमान विद्याधर जातीय तथा वानर वशीय थे। सुग्रीव, बालि आदि की ध्वजाओं पर वानर (बंदर) का निशान था; रावण के दस मुंह नही थे अपितु जन्म के समय दर्पण में उसके दस मुँह दिखाई दिये थे (दर्पण मे एक ही छवि दसियों, सैकड़ों छवियो के रूप में आज भी देखी जा जा सकती है। इत्यादि, इस रामायण का प्रमुख रस शांत रस है और जीवन का अतिम लक्ष्य मुक्ति इसके पात्रों के जीवन मे प्रतिलक्षित होता है। पम्प रामायण में रावण भी मानवोचित गुणो से हीन नहीं है। यह रामायण संभवत: कन्नड भाषा मे पहली रामायण है। कन्नड में परवर्ती काल में जैन परम्परानुसार अन्य कथाएं भी लिखी गई। यथा षट्पदी की 'कुमुदेन्दु रामायण (लगभग १२७५ ई०), चन्द्रशेखर और पद्मनाभ (१७००-१७५० ई०) कृत 'रामचद्र चरित' तथा देवचन्द्र की गद्य-रचना 'रामकथावतार' (लगभग १७९७ ई०) सक्षेप मे यह कथा 'चामुंडराय पुराण' (९७८ ई०) नयसेन के 'धर्मामृत' (१११२ ई०) तथा नागराज के 'पुण्याश्रव' (१३३१ ई०) एवं अन्य कृतियो में भी पाई जाती हैं। इस प्रकार **कन्नड में जैन रामायण कथा की धारा भी सबल रूप से प्रवाहित रही है।**

अभिनव पम्प की दूसरी रचना **'मल्लिनाथ पुराण'** है। इसमें उन्नीसवें तीर्थंकर के जीवन का काव्यमय वर्णन है। इसकी कथा छोटी है किंतु शांत रस के प्रवाह के कारण "वह एक उच्चकोटि की कृति है।····वह महाकाव्य के सत्व से युक्त सत्यकाव्य है।" (श्री मुगलि)। कन्नड साहित्य के इतिहासके लेखक श्री मोगलि ने इसके सम्बन्ध में भी द० रा० बेन्द्रे ने यह मत उद्धृत किया है, "जिन (तीर्थंकर) के अलावा बाकी सब काम-रति की शृंगार-सृष्टि है, शांत रस के द्वारा ही सच्चे सौंदर्य आनंद और

प्रीति की प्राप्ति होती है—यही नागचंद्र का सौंदर्य-सूत्र है; मल्लिनाथ पुराण महाकाव्य के सौंदर्य युक्त है।" उसका वैराग्य प्रकरण काफी हृदयस्पर्शी बन पड़ा है।

श्री अभिनव पम्प के जीवन-तथ्य अधिक नहीं मिलते। लगता है उनका जन्म विजयपुर (आधुनिक बीजापुर) मे हुआ था। वे काफी सम्पन्न व्यक्ति थे। वहीं उन्होने 'मल्लिनाथ जिनालय' बनवाया था। उनका नाम व पद्य उनके श्रवणबेलगोल आदि अनेक स्थानों के शिलालेखो में पाए जाते हैं। उनकी उपाधियाँ साहित्य विद्याधर, भारती कर्णपूर आदि थी। ये होयसल नरेश विष्णुवर्धन (११०४-११४१ ई०) के दरबार मे भी कवि के रूप मे रहे थे। (विष्णुवर्धन के जैन होने के लिए देखिए 'हलेबिड' प्रकरण)।

कवयित्री कंति—कहा जाता है कि ये नागचद्र की समकालीन थी। अभिनव पम्प यदि आधी पंक्ति बोलते तो वे पंक्ति पूरी कर दिया करती थीं। उनकी समस्या-पूर्ति पद्यात्मक रचनाएँ दतकथा का विषय बन गई है। यह भी कहा जाता है कि नागचंद्र ने प्रण किया कि वे 'कंति' (जैन भिक्षुणी या भक्त-महिला के लिए प्रयुक्त शब्द की राहत के अनुसार) से अपनी प्रशसा करवा लेगे। उन्होंने मृत होने का ढोंग रचा और भिक्षुणी ने उनकी प्रशसा मे पद्य रच दिए थे। जो भी हो, **जैन-भिक्षुणी** की समस्या-पूर्ति का भी कन्नड़ में स्थान है। यह प्रथम कवयित्री **'अभिनव वाग्देवी'** की उपाधि से भी विभूषित थीं ऐसा पता चलता है।

मुनि नयसेन ने कन्नड़ भाषा में **'धर्मामृत'** की रचना की है। इस कृति के १४ आश्वास हैं और उनमे १४ गुणव्रतो के सरल विवेचन के साथ ही चौदह महापुरुषों की कथायें निबद्ध हैं जिन्होंने इनका पालन कर ऐसे सिद्धि प्राप्त की। मुनि ने अपनी आम्नाय परम्परा के अनुसार अपनी मुनि-पूर्व अवस्था का परिचय नही दिया है। फिर भी यह ज्ञात होता है कि वे धारवाड़ जिले के मुलुगुन्द नामक स्थान के निवासी थे और आचार्य नयसेन उनके गुरु थे जो कि आचार्य जिनसेन, गुणभद्र आदि की परंपरा के थे।

धर्मामृत रचना करते समय कवि ने यह संकल्प किया कि वे साधारण जनों की समझ में जैन-दर्शन आ सके, इसलिए ठेठ कन्नड़ में लिखेंगे और अपनी कृति में संस्कृत के कठिन शब्दो का प्रयोग नही करेंगे क्योंकि जिन्हें सस्कृत प्रिय है, वे सस्कृत में लिखे। इसका यह अर्थ नहीं है कि वे संस्कृत के विरोधी थे। वे विरोधी थे कठिन सस्कृत शब्दो वाली कन्नड़ के। ऐसी भाषा को वे घी और तेल का मिश्रण समझते थे। उन्होने अपने युग की कन्नड़ का आश्रय सामान्य जनों के हित के लिए लिया। इस प्रकार वे प्राचीन कन्नड़ की भी अपेक्षा समकालीन कन्नड़ के पक्षधर ठहरते हैं। वे जनवादी कथालेखक के रूप में कन्नड़ साहित्य में अपना एक विशेष स्थान रखते हैं। उन्होंने कन्नड़ कहावतों और मुहावरों का कुशल प्रयोग किया है। सरल, सरस, चुभती, हास्यपूर्ण शैली के लिए कन्नड़ लेखकों मे वे एक विशेष स्थान रखते हैं। धर्मामृत का रचना-काल १११२ ई० माना जाता है। विद्वानों का अनुमान है कि इन्होने एक व्याकरण भी लिखा था जो अभी उपलब्ध नही हो सका है।

गणितज्ञ और कवि राजादित्य ने गणित सम्बन्धी छः ग्रंथो की रचना कन्नड़ में की है। ये हैं—१. व्यवहार गणित जिसमे सहजत्रयराशि, सहजनवराशि आदि का विधान है। २. क्षेत्रगणित, ३. व्यवहाररत्न, ४. **जैनगणित सूत्रटीकोदाहरण** में प्रश्न देकर उत्तर पाने का विधान बतलाया गया है। ५. चित्रपुहुम ग्रथ टीका और सूत्र रूप में हैं। तथा ६. लीलावती (पद्य) मेंगणित की समस्यायें उदाहरण सहित समझाई गई है। इनकी रचनाएं पद्य में सरल शैली मे होने पर भी इन्होने सूत्रों एव उदाहरणों का सफल प्रयोग किया है। ये ११२० ई० में विष्णुवर्धन के दरबार मे थे ऐसा अनुमान किया जाता है।

गो (गाय) की व्याधियों, उनसे संबंधित औषधियों, मंत्रों आदि का विवेचन **कीर्तिवर्म** ने अपने ग्रंथ **'गोवैद्य'** में किया है। इनका समय ११२५ ई० अनुमानित है। इनके पिता चालुक्य नरेश त्रैलोक्यमल थे। उनकी जैन रानी से इनका जन्म अनुमानित किया जाता है। उन्होने अपनी उपाधियों में **'सम्यक्त्वरत्नाकर'** भी गिनाई है।

ब्रह्मशिव—का जन्म पोट्टयागेरे में हुआ था। वे शैव थे किन्तु बाद में उन्होंने जैनधर्म स्वीकार कर लिया था। इनका रचनाकाल ११२५ ई० के लगभग माना जाता है। इनके दो ग्रंथ हैं—१. समयपरीक्षे और २. त्रैलोक्यचूड़ामणि स्तोत्र। इन्हें कवि 'चक्रवर्ती' की उपाधि भी राज-सम्मान के रूप में प्राप्त थी।

'धर्मपरीक्षे' में कवि ने कन्नड़ भाषा में शैव, वैष्णव आदि मत-मतान्तरों की चर्चा कर उनके दोष दिखाकर जैनधर्म की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई है। किंतु यह ग्रंथ इस समय एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है। श्री मुगलि के अनुसार यह ग्रंथ कन्नड़ मे एक अपूर्व धर्म चर्चा और विडम्बना का काव्य है और इसमें अपनी सीमा में सरल तत्कालीन जगत् के जीवन का चित्र दिया गया है। इसकी विडम्बना कई बार कटु हो गई है, उसमे साम्प्रदायिक पक्षपात और असहिष्णुता बहुत है। किन्तु उसमें साधारण जनों के मिथ्या विश्वास और आचारों का ब्योरेवार वर्णन है। इस प्रकार वह सामाजिक और धार्मिक जीवन के अध्ययन के लिए एक आम गुटका है। "इस रचना से ही जान पड़ता है कि कर्नाटक मे उस समय एक ही परिवार के लोग विभिन्न धर्मों का पालन करते थे। कवि के एक पद्य का आशय है। 'पत्नी महेश्वरी' अर्थात् (शैव), पति जैन और हाय ! पुत्र तो मार्तण्ड भक्त (सौर सम्प्रदाय) के हैं।"

'त्रैलोक्य चूड़ामणि स्तोत्र' का दूसरा नाम छत्तीस-रत्नमाले भी है। इसमे कवि ने ३६ छन्दो मे जिनेन्द्र की स्तुति करते हुए अन्य मतो का खण्डन किया है।

कर्णपार्य—का समय सामान्यत: ११४० ई० माना जाता है। ये भी जैन थे। इन्होने अपनी कन्नड रचना **'नेमिनाथ पुराण'** मे तीर्थंकर नेमिनाथ की जीवन-गाथा काव्य-शैली में वर्णित की है। इस पुराण का प्रधान रस शांत ही है किंतु प्रसंगानुसार उसमे शृगार, करुणा, बीभत्स एव रौद्र रसो की सयोजना भी है। कवि को उपमा विशेष रूप से प्रिय है। संस्कृत कहावतो आदि का प्रयोग करके भी कवि ने अपने पुराण को आकर्षक बनाने का प्रयत्न किया है। इस पुराण मे कौरव-पाडव, बलदेव-वासुदेव आदि के प्रसग भी वर्णित हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि कवि ने नेमिनाथ का जीवन तो जैन मान्यता के अनुसार चित्रित किया है किंतु कौरव-पांडव आदि प्रसंगों में वैदिक (भागवत) परम्परा की सामग्री भी ले ली है।

कवि ने अपने गुरू कल्याणकीर्ति 'साश्चर्यचारित्र-चक्रवर्ती' के रूप में उल्लिखित किया है। ग्रंथ से ज्ञात होता है कि तत्कालीन शासक विजयादित्य का मंत्री लक्ष्म अथवा लक्ष्मण कवि कर्णचार्य का आश्रयदाता था। इन्हें 'सम्यक्त्वरत्नाकर', परमजिनमतक्षीरवाराशिचंद्र, गांभीर्य-रत्नाकर आदि उपाधियां प्राप्त थी।

नागवर्म द्वितीय (लगभग ११४५ ई०) जैन ब्राह्मण थे। ये कवि और आचार्य दोनों रूप में प्रसिद्ध हैं। इन्हें कविकण्ठाभरण कविकर्णपूर आदि उपाधियां प्राप्त थीं। ये चालुक्य शासक के कटकोपाध्याय (सेना में शिक्षक) और कवि जन्म के गुरू थे। इनका एक ग्रंथ जिनपुराण भी था जो उपलब्ध नहीं हुआ है। इनका सबसे प्रसिद्ध ग्रंथ **'काव्यावलोकन'** है जो कि अलकार शास्त्र से संबंधित है। प० के० भुजबली शास्त्री के अनुसार यह ग्रंथ नृपतुंग के कविराजमार्ग से अधिक परिपूर्ण है। "इसके 'शब्दस्मृति प्रकरण' में कन्नड़ व्याकरण का लालित्यपूर्ण निरूपण है।" व्याकरण सम्बन्धी इनका दूसरा ग्रंथ कर्णाटक **'भाषाभूषण'** है। यह सस्कृत में है और इसका प्रयोजन संस्कृत के विद्वानों को कन्नड भाषा का परिचय कराना है। इसी प्रकार उन्होंने कन्नड़ काव्यों मे प्रयुक्त संस्कृत शब्दों को समझने के लिए संस्कृत-कन्नड़ कोश की रचना की जिसका नाम 'अभिधानवस्तुकोश' है। छदोविचिति नामक इनकी एक रचना अनुपलब्ध है।

वैद्यक ग्रंथ 'कल्याणकारक' के रचयिता 'सोमनाथ' का समय ११४० या ११४५ ई० अनुमानित किया जाता है। उपर्युक्त ग्रंथ आचार्य पूज्यपाद के इसी नाम के सस्कृत ग्रंथ का कन्नड़ अनुवाद है। उसमे उक्त आचार्य की चिकित्सा पद्धति मे मधु, मद्य और मांस निषिद्ध बताया गया है तथा ग्रंथ के प्रारम्भ मे चद्रप्रभु और अनेक गुरुओं की स्तुति की गई है।

चम्पू शैली में लिखित 'धर्मपरीक्षा' नामक ग्रंथ के रचयिता 'वृत्तविलास' है जिनका समय ११६० ई० के

लगभग अनुमानित किया जाता है। आजार्य अमितगति की रचना 'धर्मपरीक्षा' को वृत्तविलास ने कन्नड़ मे रूपांतरित किया है। इसका विषय उपहासात्मक धर्म-कथाएं हैं जो कि सुगम और आकर्षक ढंग से कही गई हैं। शैली सरल होने पर भी एक समय कन्नड़भाषियों को जब यह ग्रंथ कठिन लगा तो श्रावकों की प्रार्थना पर तथा श्रवणबेलगोल के भट्टारक चारुकीर्ति के आदेश पर चद्रसागर जी ने शा. श. १७७० में सरल कन्नड़ में इसको पुन: प्रस्तुत किया।

जैन युग की विशेषताएँ—कन्नड़ साहित्य के आरम्भ काल से लेकर ११६० ई० तक की कालावधि को जैन युग कहने का कारण यह है कि उसके बहुसख्य रचनाकार जैनधर्म के अनुयायी थे। जो मुट्ठी भर ब्राह्मण लेखक थे, वे अधिकांशत: सस्कृत मे रचना करते थे। (२) जैन युग या (स्वर्णयुग) मे धार्मिक, लौकिक और ऐतिहासिक रचनाओ की अधिकता होते हुए भी अनेक विषयों से संबंधित रचनाएं जैन लेखकों की लेखनी से प्रसूत हुई। इनमें व्याकरण, अलकारशास्त्र, वैद्यक, ज्योतिष आदि प्रमुख थे। (३) जैन युग मे एक नई रचना-शैली का प्रादुर्भाव हुआ। इसे चम्पू शैली या गद्य और पद्य मिश्रित शैली कहते हैं। इसका श्रेय महाकवि पप युग को है। उनका अनुकरण पश्चाद्वर्ती कवियों ने खूब किया। इस कारण यह युग 'चपू युग या पप युग' भी कहा जाता है। (४) इस युग में सस्कृत के विरोध का स्वर मुखरित हुआ और कन्नड़ भाषा को उत्तरोत्तर साहित्य की भाषा का दर्जा मिला जिसका श्रेय जैन लेखको को है। उसके तीन महान् जैन लेखक (पप, पोन्न तथा रन्न) कन्नड़ साहित्य के रत्नत्रय कहे जाते हैं।

बारहवी सदी का अत आते-आते कर्नाटक मे जैनधर्म को आघातो का सामना करना पड़ा। सबसे बड़ी क्षति तमिलनाडु के शैवधर्मी चोल राजाओं के आक्रमणो के कारण हुई। इसी प्रकार रामानुजाचार्य के मत-प्रचार के कारण भी जंनधर्म को धक्का लगा। जैनधर्मी गग राजाओ के पतन के कारण राज्याश्रय भी नही रहा। अत: १२वी-तेरहवी सदीके विपुल जैन साहित्य नहीं रचा गया। परवर्ती काल में वैष्णव, शैव भक्ति साहित्य की प्रधानता रही।

वीर शैव काल से जैन लेखक

इस युग का वीरशैव साहित्य 'वचन' के रूप में है। इस शब्द से स्वाभाविक रूप से कही गई बात से लिया जाता है। इस साहित्य के प्रमुख प्रेरक थे श्री बसव। इन्होंने जो मत चलाया वह वीरशैवमत कहलाया। जैन राजधानी कल्याणी से इन्होंने अपना मत राजा विज्जल के मत्री के पद पर रहते हुए एवं बाद मे किया। उनके मत पर जैनधर्म का प्रभाव था। इस तथ्य को आज भी स्वीकारा जाता है। पूना-हैदराबाद सड़क-मार्ग से जो मार्ग बसवकल्याण (कल्याणी का आजकल का नाम) की ओर मुड़ता है वहाँ तिराहे पर एक पट्ट पर यह लिखा है कि श्री बसव ने अपने मत मे भगवान महावीर की अहिंसा और सत्य का अपने उपदेशो मे समावेश किया था। यह पट्ट पर्यटकों के स्वागत के लिए लगाया गया है। श्री बसव ही नहीं, परवर्ती लिंगायत (वीर शैव) वचनकारो पर भी जैनधर्म का प्रभाव देखा जा सकता है। श्री मुगलि ने अपने इतिहास मे श्री सिम्मलिगे चन्नय्या का वचन इस प्रकार उद्धृत किया है। "एक आदमी जंगल मे जा रहा था, उसे चारो दिशाओं में बाघ, दावाग्नि, राक्षसी और जगली हाथी पीछा करते हुए दिखाई दिए। उन्हे देखकर डर के मारे उसे यह नही सूझा कि किधर जाय। उसे एक सूखा कुआ दिखाई दिया। उसके भीतर झांकने पर वहाँ एक सांप देखकर वह उसमें कूद नही सका और चूहे की काटी हुई एक लता को पकड़कर रुक गया। एक मधु-उसको काट रही थी, तभी शहद की एक बूद उसके मुख में टपकी। उसका माधुर्य अनुभव करता हुआ वह अपना सारा दु:ख भूलकर जीभ से उस शहद का मजा लेता रहा। यह ससार का सुख भी इसी के समान है।" इस प्रकारका चित्र आज भी अनेक जैन मन्दिरों मे देखा जा सकता है।

उपर्युक्त युग मे कुछ जैन लेखक पप युग या जैन युग की चपू-शैली मे रचना करते रहे जो कि मार्ग-शैली कहलाती थी किंतु कुछ जैन लेखको ने नवीन शैली को भी अपनाया जो कि देसी शैली कहलाई। इसी प्रकार के उदाहरण ब्राह्मण लेखको के भी मिलते है। इस युग मे प्राचीन 'कंद' वृत्त के स्थान पर कन्नड़ मे 'रगळे', त्रिपदी और षट्पदी नामक छदो का प्रयोग बढ़ा जिनका जैन लेखको ने भी व्यवहार किया। (क्रमश:)

भट्टाकलंककृत लघीयस्त्रय : एक दार्शनिक अध्ययन

□ हेमन्त कुमार जैन, वाराणसी

भट्टाकलंक जैन न्याय और दर्शन के एक व्यवस्थापक आचार्य हैं। पूर्व परम्परा से प्राप्त जिस चिन्तन की दार्शनिक दृष्टि से अदम्य तार्किक समन्तभद्र और सिद्धसेन जैसे महान् आचार्यों ने नींव के रूप में प्रतिष्ठापना की थी, उसी नींव के ऊपर सकलतार्किकचक्रचूड़ामणि भट्टाकलंक ने जैन न्याय और तर्कशास्त्र का अभेद्य और चिरस्थायी प्रसाद खड़ा किया है। उन्होंने अपने समकालीन विकसित दर्शनान्तरीय विचारधाराओं के गहन अध्ययन पूर्वक अपने ग्रन्थों में उनकी विस्तृत समीक्षा करके सर्वप्रथम प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता आदि सभी पदार्थों का संस्कृत भाषा मे अत्यन्त सूक्ष्म निरूपण तार्किक शैली से उपस्थित किया और सूत्र शैली में अत्यन्त गूढ़ ऐसे ग्रन्थों का सृजन किया, जो कभी उस समय जैन परम्परा मे चल रही थी। बाद में भट्ट अकलंक के इन ग्रन्थों पर प्रभाचंद्र, अनन्तवीर्य, वादिराज, अभयचंद्र जैसे आचार्यों ने बृहद् भाष्य ग्रंथ लिख डाले। अकलंक ने प्रमाण-परिभाषा, उसके फल, विषय, मुख्य प्रत्यक्ष, सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष, परोक्ष प्रमाणान्तर्गत अनुमानादि, जय पराजय व्यवस्था, वाद कथा आदि को परिभाषित करके जैन न्याय को इतना व्यवस्थित और समृद्ध कर दिया था कि उनके बाद आज तक किसी को नवीन चिन्तन की आवश्यकता नहीं पड़ी। ऐसे महान् दार्शनिक की कृतियो मे से एक कृति 'लघीयस्त्रय' के दार्शनिक विवेचन के रूप में लिखा गया यह शोध-प्रबन्ध मेरा एक प्रथम एव लघु प्रयत्न है। इसमे लघीयस्त्रय के दार्शनिक पक्षों को स्पष्ट करने वाले आठ अध्याय रखे गये हैं। जिसका अध्याय क्रम से संक्षिप्त विवरण यहां प्रस्तुत है।

अकलंक का कृतित्व एव व्यक्तित्व इतना महान् था कि लोग उनके नाम को जिन का पर्याय समझने लगे थे। निःसन्देह इनकी कृतियो, शिलालेखो, ग्रन्थान्त सन्दर्भों, कथाओ आदि से उनके विराट व्यक्तित्व का पता चलता है। महान् शास्त्रार्थी और वाद-विजेता के रूप मे चतुर्दिक उनकी ऐसी ख्याति थी कि विपक्षी मृत्यु तक को वरण कर लेते थे। यही कारण है कि वे जैन वाङ्मय में सकलतार्किकचक्रचूडामणि, तर्कभूवल्लभ, महर्द्धिक, तर्कशास्त्रवादीसिंह, समदर्शी आदि विशेषणो से जाने जाते हैं।

प्रथम अध्याय के परिच्छेद प्रथम मे उनके व्यक्तित्व से सम्बन्धित इन्हीं विशेषताओं पर, शिलालेख आदि उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर प्रकाश डाला गया है। जीवनवृत्त से सम्बन्धित "लघुहव्व" सन्दर्भ जो कि क्षेपक के रूप में प्रतीत होता है, उसकी अन्यत्र कहीं पुष्टि नही होती, कथाओं मे भी उनका जीवनवृत्त प्राप्त होता है, पर इसकी अन्य किसी भी सन्दर्भ से प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती। इसी तारतम्य में समीक्षक विद्वानों की उपलब्ध सामग्री के आधार पर अकलंक के समय पर किये गये विचारो का पुनरीक्षण किया गया है। वह इसलिए आवश्यक हुआ कि कई विद्वानो ने अकलक का समय बाद का निर्धारित करके उनका सम्बन्ध गुरू शिष्य के रूप मे समन्तभद्र से जोड़कर जैन दर्शन के इतिहास मे भ्रममूलक निष्कर्ष निकाले है, जो बिल्कुल निराधार है। इसका समाधान विभिन्न समयों में लिखे गये आचार्यों द्वारा अपने ग्रंथो मे अकलक के नाम से एव अकलक की कृतियो के अन्तरग परीक्षण से हो जाता है। समय निर्धारण मे "लघुहव्व" नाम कथाओ मे आए "शुभतुंग" का प्रसग आदि समीक्षको के प्रधान सहायक रहे। जिनकी ऐतिहासिक राजाओ के समय से संगति बैठाकर सभी ने समय निर्धारण के प्रयत्न किये। सम्पूर्ण तथ्यो के अवलोकन के बाद यह सत्य प्रतीत होता है कि अकलक का समय आठवी शताब्दी का उत्तरार्ध होना चाहिए। इस प्रकार प्रस्तुत अध्याय के प्रथमपरिच्छेद मे अकलक के जीवनवृत्त और

काशी हिन्दू विश्व विद्यालय वाराणसी की पी-एच.डी. उपाधि हेतु स्वीकृत १९८९, अप्रकाशित।

समय का, मूल सामग्री से मिलान कर पुनरीक्षण किया गया है।

बीसवीं शताब्दी के महान् समालोचक विद्वान स्व० डा० महेन्द्र कुमार जैन ने अकलंक की कृतियों का अंतरंग एवं बहिरंग रूप से गहन आलोडन किया है। यह ही नहीं, उन्होंने अगाध परिश्रमपूर्वक टीका ग्रंथों से न्यायविनिश्चय और सिद्धिविनिश्चय जैसे ग्रंथों को खोजकर उनका स्वयं सम्पादन किया और गवेषणापूर्ण उनकी भूमिकायें लिखी। लघीयस्त्रय आदि संग्रह के रूप मे समवेत रूप से अकलंक के तीन ग्रंथों का भी सम्पादन किया और विद्वत्तापूर्ण भूमिका लिखी। हम समझते है उनके बाद वैसे सम्पादन का दिगम्बर परम्परा मे बिलकुल ही अभाव हो गया। यह भी हम कह सकते है कि उनके बाद संस्कृत मे लिखे गये अकलंक के ग्रंथो का अर्थ न समझने वाले विद्वानों के लिए स्व० डा० जैन की कृतियां एवं विभिन्न ग्रंथों मे लिखी गयी भूमिकायें अकलंक, जैनन्याय एवं दर्शन का हार्द समझने के लिए पर्याप्त हैं। प्रथम अध्याय के प्रस्तुत इस द्वितीय परिच्छेद मे अकलंक के ग्रंथो का संक्षिप्त परिचय स्व० डा० जैन के अध्ययन के आधार पर तैयार किया गया है। इसमें हमने यहाँ कोशिश की है कि उन कृतियों का वास्तविक परिमाण एवं कृतित्व का प्रमाण और अन्तरंग परिचय संक्षिप्त रूप में सामने आ जाये। इस अध्ययन मे हमने देखा कि उनकी उपलब्ध कृतियां मात्र छः ही प्राप्त होती है। जिनका नामकरण अकलंक के परवर्ती आचार्यों के द्वारा किया गया जान पड़ता है, क्योंकि उन ग्रन्थों का नाम अकलंक का दिया हुआ है, ऐसी सूचना उनके ग्रंथो से प्राप्त नहीं होती।

उनकी सम्पूर्ण कृतियां भाष्य और स्वतंत्र इन दो रूपों में प्राप्त होती है। कुछ स्वतंत्र कृतियां उनकी ऐसी हैं, जिन पर उन्होंने स्वयं वृत्ति या भाष्य लिखा है। उनकी उपलब्ध कृतियां इस प्रकार हैं—

१. तत्त्वार्थवार्तिक (वार्तिक एवं उस पर भाष्य)।
२. अष्टशती (आप्तमीमांसालंकार, भाष्य)।
३. लघीयस्त्रय (सवृत्ति)।
४. न्यायविनिश्चय (सवृत्ति)।
५. सिद्धिविनिश्चय (सवृत्ति)।
६. प्रमाण संग्रह।

इन कृतियों के अतिरिक्त स्वरूप संबोधन आदि और भी कृतियां हैं, जो उपलब्ध परन्तु विवादग्रस्त मानी जाती हैं। अनुपलब्ध एवं विवादग्रस्त कृतियां बृहत्त्रय और न्यायचूलिका मानी जाती हैं। प्रस्तुत परिच्छेद में उपर्युक्त सभी कृतियों का अन्तरंग एवं बहिरंग परिचय संक्षेप मे दिया गया है।

मेरा शोध का विषय "भट्टाकलंककृत लघीयस्त्रय : एक दार्शनिक विवेचन" होने के कारण परिच्छेद तृतीय मे लघीयस्त्रय का विशेष परिचय दिया गया है। इसमे इसके वास्तविक परिमाण निर्धारित करने के साथ 'लघीयस्त्रय' के रूप मे ग्रंथ के नाम पर विशेष ऊहापोह पूर्वक विचार किया गया है। अन्तरंग विषय-वस्तु के परिचय के अन्तर्गत प्रवेश और परिच्छेद के क्रम से प्रमाण, नय और प्रवचन के सम्बन्ध में उनके विचारों को रखा गया है।

"प्रमाणमीमांसा की आगमिक परम्परा ज्ञानमीमांसा" नामक द्वितीय अध्याय के परिच्छेद प्रथम मे तीर्थंकरों से लेकर अकलंक तक प्रमाण के आध्यात्मिक रस की चर्चा की गयी है। इसमें हम पाते हैं कि किस प्रकार प्रमाण के अभाव में ज्ञान से उसका कार्य किया जाता था। वस्तुतः परम्परागत सम्यक् और मिथ्या के रूप मे ज्ञान का वर्गीकरण एक तरह से प्रमाण और प्रमाणाभास के पूर्वरूप की सूचना देता है। प्रत्यक्ष और परोक्ष के रूप मे, परम्परा से चले आये ज्ञान के इन दो भेदों को आधार मानकर ज्ञानो का किस प्रकार प्रमाणों मे वर्गीकरण हुआ। इसका वर्णन प्रस्तुत अध्याय के द्वितीय परिच्छेद मे किया गया है। जिसमें बताया गया है कि परम्परागत प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञानों के आधार पर बाद के दार्शनिकों द्वारा उन्हें स्पष्टरूप मे प्रत्यक्ष प्रमाण और परोक्ष प्रमाण के रूप मे स्वीकार किया गया। आत्मसापेक्ष प्रत्यक्ष और इन्द्रिय एवं अतिन्द्रिय सापेक्ष परोक्ष के रूप में विभाजित उस ज्ञान गंगा की धारारूपी परम्परा कुन्दकुन्द तक अनवरत रूप से प्रवाहित होती रही, परन्तु ज्ञान को प्रमाण रूप मे स्वीकृति देने वाले उमास्वामी और उनके बाद के आचार्यों द्वारा अनिन्द्रिय सापेक्ष ज्ञान को आत्मसापेक्ष ज्ञान के

साथ संयुक्त कर लिया गया, बाद में यही प्रमाणों के वर्गीकरण का मुख्य आधार बन गया।

तत्पश्चात् प्रमाण की परिभाषाए गढ़ी गयी और अकलक तक आते-आते ज्ञान को प्रमाण मानकर उन्होने उसमे अनधिगतार्थ, अविसंवादी और व्यवसायात्मक जैसे पदों का समावेश कर प्रमाण की अकाट्य परिभाषा दी। "प्रमाणमीमांसा" प्रस्तुत तृतीय अध्याय के परिच्छद प्रथम में इसका ऐतिहासिक सन्दर्भ मे मूल्यांकन किया गया है। इसी अध्याय के द्वितीय परिच्छेद मे दर्शनान्तर सम्मत प्रमुख प्रमाण परिभाषाओं की समीक्षा करके परिच्छेद तृतीय मे प्रमाण के भेदों का भी विवेचन किया गया है।

"प्रत्यक्ष प्रमाण" नामक चतुर्थ अध्याय में मुख्य-प्रत्यक्ष और साव्यवहारिक प्रत्यक्ष के रूप में दो परिच्छेद रखे गये हैं। जिसमे सर्वप्रथम प्रत्यक्ष प्रमाण का स्वरूप बिशदता का समालोचनात्मक दृष्टि से आकलन करते हुए उनके भेदों की चर्चा की गयी है। तत्पश्चात् मुख्य प्रत्यक्ष का स्वरूप एवं अतीन्द्रिय ज्ञान-केवलज्ञान के प्रतिपादनपूर्वक विभिन्न उक्तियों द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि सुनिश्चित रूप से सर्वज्ञ के अस्तित्व मे बाधक प्रमाणों का अभाव होने से वह स्वयं ही सिद्ध हैं। "मुख्य प्रत्यक्ष" नामक इस परिच्छेद मे उपर्युक्त चर्चा के साथ अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानो के सक्षिप्त स्वरूप का भी प्रतिपादन किया है।

"साव्यवहारिक प्रत्यक्ष" नामक इस अध्याय के द्वितीय परिच्छेद मे इसके स्वरूप और अवान्तर भेदो की चर्चा की गयी है। इसमे यह बताया गया है कि परम्परा से परोक्ष के रूप में स्वीकृत मतिज्ञान मे किस प्रकार शब्द-योजना से पहले प्रत्यक्षत्व है। इसकी एवं इसके भेदों की सांव्यवहारिक के भेद इन्द्रिय प्रत्यक्ष एवं अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के अन्तर्गत समीक्षा की गयी है।

"परोक्ष प्रमाण की परिभाषा एव भेद" नामक पंचम अध्याय के प्रथम परिच्छेद मे ऐतिहासिक विवेचनपूर्वक यह दिखाया गया है कि शब्दयोजना होने पर स्मृति, सज्ञा, चिन्ता आदि परोक्ष क्यो हो जाते है। तत्पश्चात् द्वितीय परिच्छेद मे स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम इन परोक्ष के पांच भेदो की विस्तृत समीक्षा की गयी है। जिसमे इनके स्वल्प एवं अवान्तर भेदों के निरूपण के साथ दर्शनान्तरीय मतों की तुलनात्मक समीक्षा की गयी है। इसमें इन प्रमाणों के मानने का आधार इनका स्वातंत्र्य आदि विषयो पर विशेष ध्यान केन्द्रित किया गया है। अनुमान (प्रत्यभिज्ञान) प्रमाण के अन्तर्गत उसका स्वल्प, व्याप्ति का स्वरूप, एकलक्षण का स्वरूप, हेतु का स्वरूप एवं उसके भेदादि का तुलनात्मक दृष्टि से विमर्श उपस्थित किया गया है। तत्पश्चात् अन्त में आगम-श्रुत प्रमाण की चर्चा की गयी है। दर्शनान्तर सम्मत उपमान, अर्थापत्ति आदि प्रमाणों का परोक्ष प्रमाण में विभिन्न युक्तियों पूर्वक अन्तर्भाव दिखाया गया है।

"प्रमाण का विषय, फल और प्रमाणाभास" के प्रतिपादन के लिए अध्याय षष्ठ रखा गया है। इसमे बताया गया है कि प्रमाण का विषय द्रव्य पर्यायात्मक, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्ययुक्त अर्थ, अनेकान्तात्मक है। इसलिए प्रमाण के विषय की उपलब्धि ऐकान्तिक दृष्टि से नहीं की जा सकती। इस प्रसंग में बौद्धादि गम्य स्वलक्षण, क्षणिकवाद, सन्तानवाद, नित्यवाद आदि की समीक्षा की गई है। प्रमाणफल में यह सिद्ध किया गया है कि युगपद सर्वावभासक ज्ञान प्रमाण का फल उपेक्षा क्रमभावि ज्ञान प्रमाण का फल उपेक्षा, हेय एव उपादेय बुद्धि तथा सभी ज्ञानों-प्रमाण का फल अपने विषय में अज्ञान का नाश है। मति आदि ज्ञानों मे साक्षात्फल और परम्परा फल का संयुक्तिक विवेचनपूर्वक अवग्रहादि भेदों की प्रमाणफल व्यवस्था बतायी गई है। इसी अनुक्रम मे प्रमाण फल के भिन्नत्व-अभिन्नत्व पर विचार करने के साथ विभिन्न मतावलम्बियों की प्रमाण फल की व्यवस्था की समीक्षा की गयी है। प्रमाणाभास की चर्चा में प्रमाणाभास का स्वरूप, भेद, उनके आधार तथा अन्य मतावलम्बियों के मत की किस प्रमाणाभास के अन्तर्गत रखा जाय इत्यादि पर विचार किया गया है।

अध्याय सप्तम 'नयमीमांसा" में तीन परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में सकलादेशी नय की परिभाषा पर विशेष रूप से विचार किया गया है। इससे सम्बन्धित विभिन्न पक्षों-ज्ञाता का अभिप्राय, वक्ता-श्रोता की स्थिति, नय के स्वरूप की ऐतिहासिक दृष्टि, सुनय-दुर्नय आदि पर विचार

करके, नय के भेदों पर विचार किया गया है। इसमें बताया गया है कि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के रूप में मूलनय दो ही हैं। परन्तु नयों का अर्थनय और शब्दनय के रूप में भी विभाजन किया जा सकता है। नैगमादि नयों को इन्हीं नय के मूल दो भेदों में विभक्त किया गया है। इस प्रसंग में अकलंक के इस कथन से कि "निश्चय और व्यवहार नय द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय के आश्रित नय हैं" निश्चय और व्यवहार की समस्या का समाधान हो जाता है। इस अध्याय के द्रव्यार्थिक नय नामक द्वितीय परिच्छेद में द्रव्यार्थिक नय की व्युत्पत्ति, स्वरूप, अर्थनय के रूप में उसकी मान्यता आदि के विचारपूर्वक इसके भेद नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र नयों की मीमांसा अन्य दर्शनों के साथ तुलनात्मक ढंग से प्रस्तुत की गई है। "पर्यायार्थिक नय" नामक परिच्छेद तृतीय मे पर्यायार्थिक नय की परिभाषा उसके भेद, शब्दादि नयों को पर्यायार्थिक नय के अन्तर्गत रखने के कारण शब्दादि नयों का स्वरूप आदि के प्रतिपादन पूर्वक इस अध्याय के अन्त में नयाभासों का भी विवेचन किया गया है।

प्रवचन अथवा आगम : "प्रमाणमीमांसा" नामक अष्टम अध्याय के दो परिच्छेदों में विभक्त किया गया है। प्रथम परिच्छेद में प्रवचन का स्वरूप, उसकी प्रमाणता का आधार, विषयवस्तु, अधिगम के उपाय प्रमाण, नय, निक्षेप, श्रुत के उपयोग, प्रवचन का प्रयोजन एव फल आदि के बारे में लिखा गया है।

मुख्य और सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष मति, श्रुत आदि के प्रत्यक्ष और परोक्षत्व आदि से सम्बन्धित अकलंक की कुछ ऐसी व्यवस्था थी, जिसके कारण प्रतीत होता है कि अकलंक को स्वतंत्र रूप में प्रवचन प्रवेश लिखना पड़ा। जिसमें उन्होंने परम्परा से प्राप्त चिन्तन को विवेचित किया है। इसमें उन्होंने कहा है कि सर्वज्ञ, सिद्ध परमात्मा का अनुशासन ही प्रवचन है। आप्त की वाणी प्रवचन है। इस दृष्टि से प्रवचन या आगम की प्रमाणता का मुख्य आधार आप्त के गुण सिद्ध होते हैं। प्रवचन की यह परम्परा अनादिकालीन है और उसका विषय जीव-अजीवादि के अनेकान्तात्मक स्वरूप का प्रतिपादन है, जिसका प्रतिपादन स्याद्वादपद्धति से किया जाता है। उसके अधिगम के लिए प्रमाण, नय निक्षेप आदि साधन के रूप में माने गये हैं। इन सभी का उक्त अध्याय के प्रथम परिच्छेद में प्रतिपादन किया गया है। द्वितीय परिच्छेद में श्रुत के स्याद्वाद और नय के रूप मे दो उपयोगों की चर्चा के साथ अत्यन्त आवश्यक होने के कारण अनेकान्तवाद का भी प्रतिपादन किया गया है। तत्पश्चात् लघीयस्त्रय के प्रवचन प्रवेश के आधार पर स्याद्वाद, नय, श्रुत, नय के भेद, निक्षेप का स्वरूप भेद एवं उसका प्रयोजन प्रवचन का फल एवं प्रवचन शास्त्र अभ्यास की विधि आदि का विवेचन किया गया है।

नि.सन्देह जैन न्याय और दर्शन की पर्याय के रूप में अकलंक को यदि माना जाये तो अत्युक्ति नहीं होगी, क्योंकि उन्होने ही सर्वप्रथम जैन दर्शन में अन्य दर्शनों में विकसित दर्शन और न्याय के समान जैनन्याय और दर्शन को संस्कृत भाषा मे निबद्ध कर लघीयस्त्रय जैसे महान् सूत्रात्मक ग्रंथों का प्रणयन किया। इन ग्रंथों मे उन्होंने ही परम्परा से प्राप्त चिन्तन को युग के अनुरूप ढांचे में ढालने के लिए सर्वप्रथम प्रमाण, प्रमेय, नय आदिकी अकाट्य परिभाषाएं स्थिर की तथा अन्य परम्पराओं मे प्रसिद्ध न्याय और तर्कशास्त्र के ऐसे बीज जो जैन परम्परा में नही थे, स्वीकार कर उन्हें आगमिक रूप दिया ;

अन्त मे "उपसहार" है, जिसमें भट्टाकलक द्वारा जैन न्याय और दर्शन के क्षेत्र मे किये गये उनके अवदान का सक्षेप मे उल्लेख करते हुए शोध के निष्कर्षों का समावेश किया गया है।

परिशिष्ट मे सन्दर्भ ग्रन्थ सूची एव भट्टाकलंक विषयक विभिन्न पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित शोध लेखो की सूची प्रस्तुत की गयी है।

भारतीय दर्शनो में ऐतिहासिक दृष्टि से जैन न्याय को महत्वपूर्ण स्थान दिलाने वाले भट्टाकलंक प्रथम आचार्य हैं, जिन्होने अपने तीन प्रकरणों वाले सूत्रशैली में निबद्ध लघु ग्रंथ "लघीयस्त्रय" मे जैन न्याय का तार्किक विवेचन किया है।

अकलंक और उनके लघीयस्त्रय विषयक उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर हम संक्षेप में कह सकते हैं कि

(शेष पृ० १७ पर)

नीतिकाव्य की अचर्चित कृति : 'मनमोदन पंचशती'

□ डॉ० गंगाराम गर्ग, भरतपुर

प्रसिद्ध दिगम्बर जैन मन्दिर सोनी जी की नसियाँ अजमेर के शास्त्र भंडार में उपलब्ध 'मनमोदन पंचशती' अज्ञात कवि छत्रशेष की रचना है। ५०० कवित्त, सवैया और छप्पय छदो मे लिखित इस रचना में दर्शन, धर्म, भक्ति और श्रावकोचित आचार की सूक्तियां बोधगम्य, रोचक और सरल भाषा मे कही गई है।

ग्रन्थारम्भ में कवि ने तीर्थंकर ऋषभदेव की वदना नौ सवैया छंदों में प्रस्तुत करके अगले दस छदो में नवकार मंत्र का महत्व प्रतिपादित किया है। पुद्गल, आत्मा, सम्यक्त्व, पुनर्जन्म, कर्मबन्धन, मोक्ष आदि दार्शनिक विचारो को अधिक बोधगम्य बनाने के लिए कवि ने दृष्टान्त अलकार का व्यापक प्रयोग किया है। परद्रव्य मे आसक्त आत्मा के भटकाव की स्थिति मकड़ी, तोता, कुत्ता, पतंग के दृष्टान्तो से स्पष्ट की है और उसे दु.ख-दायी प्रमाणित किया है—

जैसें नद मकरी उगलि निज मुख तार,
आपु ही उलझि बहु दु.खी होय मरि है।
जैसे मूढ सुक गहि नलिनी को नीचो होय,
परि करि ग्रह्यो मानि पींजरा मे परै है।
जैसें कांच भोन स्वान भूसि भूसि तजै प्रान,
दीपक को हित मांनि पतंग जो बरै है।
तैसें यह जीव भूलि अपनौं स्वभाव,
पर वस्तु अपनाय चहु गति दुख भरै है।।१२२।।

भूत, वर्तमान, भविष्यत् तीनों कालो में सुखदायी धर्म की उपेक्षा करके विषयों मे आसक्ति को कवि बहुत बड़ी मूर्खता मानते हैं। दृष्टान्तमयी शैली मे श्रावको के लिए उनका उद्बोधन इस प्रकार है—

जैसे कोई मूरख कनिक खेत वारि हेत,
काटत कलपद्रुम मन मैं सिहावतो।
जैसें कोई विष वेलि पोष पीयूष सीचि,
भसम के हेत मूढ़ रतन जलावतो।।
जैसें कांच खंड साटै मानिक ठगावै सठ,
मोतिन की माला पोत बदले गमावते।
तैसें वर्तमान भावी काल सुखदाय धर्म,
घाति के अयान मन विषै मे लगावतो।।११८।।

श्रावक धर्म में 'रात्रि भोजन त्याग' और 'तप' की महत्ता प्रतिपादित करते हुए नीतिकार ने अहिंसा, अक्रोध, शील, दान, सत्य को अधिक ग्राह्य बतलाया है। शील के महत्व के विषय मे कवि की धारणा है—

सील तैं सरल गुन श्राप हिय वास करै,
सील तैं सुजस तिहुं जग प्रगटत है।
सील तै विघन ओघ रोग सोग दूर होय,
सील तै प्रबल दोष दुख विघटत है।।
सील तैं सुहाग भाग दिन दिन उदै होय,
पूरब करम बध दिननि घटत है।
सील सौं सुहित सुचि दीसत न आनि जग'
सील सब सुखमूल वेद यो रटत है।।३९८

अपरिग्रह तथा त्याग को प्रधानता देने के कारण जैनाचार मे कृपणता को निंदनीय ठहराया गया है। नीतिकार छत्रशेष, निर्दयता, स्तेय, संशय, परनिन्दा, मायाचार, विश्वासघात, कुसंग आदि दुर्गुणों का मूलाधार कृपणता को मानकर उसे त्याज्य ठहराते हैं—

हिय न दया, नहीं असत वचन त्याग,
परधन परनारि की चाह चढ़ती।
मूरछा अपार पर औगन कथन प्यार,
लिए मायाचार, हिये लोभ लाग बढ़ती।
विसवासघाती, अनाचार पक्षपाती,
सदा दुर्जन संघाती उतपाती रीति अड़ती।
कृपन कृत धन अदेसक सुभाउ जाको,
ताकी करतूति की न ठीक कछू परती।।१५३।।

जैनदर्शन और जैनाचार के मूल सिद्धान्तों को मधुर

आकर्षक और बोधगम्य शैली मे प्रतिपादित करने के अतिरिक्त छत्रशेष ने लोक-व्यवहार के महत्वपूर्ण पक्ष भी उजागर किए हैं। 'याचना' व्यक्ति की वाणी, मन, तन और बुद्धि को कितना तेजहीन कर देती है, इस विषय में छत्रशेष की मान्यता है—

जो बन गए प्रसूति, दूरि बास बसे प्रीति,
चित्रा स्वांति गये देह, दिष्ट न परत है।
तैसे गुन तेज मन बुद्धि लाज सनमान,
याचना करन दूरि देस विचरत है॥
गलभंग सुरहीन गात खेद भय सोच,
मरन चहन इस याचक धरत है।
याचना सम नहिं दीनता जगत अन्य,
मृतक समान दिन पूरन करत है॥१६६॥

वायदा करके उसे पूरा न कर सकने के दुष्परिणाम भारतीय चिन्तन परम्परा मे प्रचलित अवश्य हैं किन्तु नीतिकाव्य मे क्षत्रशेष ने ही इन्हे प्रभावक ढंग से प्रस्तुत किया है। वे चाहते है किसी से वायदा करने पर उसकी तुरन्त पूर्ति करना श्रेयस्कर है। भविष्य के लिए किसी के प्रति कोई वायदा थाती रूप मे रखना हानिप्रद हो सकता है तथा अपयश का कारण भी।

"दीजिए न वरदान, भूलि कभी काहूं ही कै,
दीजिए तो ततकाल कोस मे न रखिए।
कोस रखें पछै देन समैं दुख होय,
देय न तौ ओजस श्रवन द्वार चलिये॥
जो कदाचि दैव जोग नसि जाय विभौ कहूं,
तो वचन बध कीचक भूड़भषिये।
पूरब अनेक नृप जसरथ आदि मन,
घने पछिताये रोष राखि श्रुत लखिए॥१६८॥

कृषि, वाणिज्य, धर्मसाधना विषयक सभी कृत्य अवसरानुकूल ही सम्पन्न होते है। ऐसी मान्यता क्षत्रशेष की है—

जो किसान कृषि समैं कृषि साधन को छोडि,
कुसमय बीज बोये फल न लहत है।
जो बनिक बानिक के समैं करै आंन काज,
बानिज बिनां धन लाभ को गहत है॥
तो अयान धर्म समैं धर्म साधन को तजि,
सेय विषै सुख बहु संकट सहत है।
निज निज समैं सब कारज सफल जान,
बुध समैं गगन मे उदित रहत है॥३१४॥

किसी भी कार्य को यथावसर करने की तत्परता आवश्यक मानते हुए भी क्षत्रशेष ने जल्दबाजी अथवा 'आकुलता को कोई महत्व नही दिया। अवसरानुकूलतायें यदि किसी कार्य की सफलता है तो आकुलता मे उसका बिगाड़ भी। दोनो विपरीत स्थितियो मे समन्वय ही व्यक्ति की चतुराई है। उतावलापन, क्रोध, अदया आदि का कारण भी है।

क्रोध महा रिपु वपु उदित ही नास करै,
जैसें दव दारू पैठि दहै तत छिन है।
दयालता मूल उनमूलन कुदाल सम,
अदया बबूल द्रुम पोषन को घन है॥
स्याम सर सोखन कौं वृषभान तेज सम,
दुर्गति गमन द्वार दुख द्रुम वन है।
अनरथ हेत बहु ओगुनि निकेत,
अति आकुलता खेत त्यागि करै बुधजन है॥२६७॥

वृद्धावस्था आने पर व्यक्ति स्वजन, परिवार और समाज से उपेक्षा पाते हुए भी उनमे निरन्तर आसक्ति रखता है। ऐसे व्यक्ति पर 'धनि तेरी छाती' कहकर व्यग्य करते हुए छत्रशेष ने वृद्धावस्था का कुत्सित चित्र प्रस्तुत किया है—

प्रथम कलेस मूल तन सनबंध तेरै,
बात पित्त कफ आदि बहु रोग घर है।
पीड़ो क्षुधा तृषा सीत उष्ण को न धरै धीर,
कुसित कूं गध अपवित्र मलधर है॥
सुभ असुभ मह विवृद्धि पाप कर्मफल,
उदै रूप तेरे हर दम दुषकर है।
स्वजन सघाती, परमारथ के घाती,
अरे धन्नि तेरी छाती ये तैं परप्रीत वर है॥

दर्शन एव आचार विषयक नीति तत्त्वो के विशाल ग्रंथ 'मनमोदन पंचशती' के कतिपय उद्धरणों से यह प्रमाणित है कि रीतिकाल का अज्ञात कवि क्षत्रशेष रहीम, वृन्द आदि सूक्तिकारों के समान ही भारतीय समाज का प्रकाश स्तभ है।

११०-ए रणजीतनगर, भरतपुर

भ० पार्श्वनाथ के उपसर्ग का सही रूप

□ क्षुल्लक चित्तसागर जी, एम. ए., एल-एल. बी.

पद्मावती देवी की मूर्ति देखने से मन मे कई शंकाएं उत्पन्न हुई थीं। बिहार में अनेक मन्दिरों मे और अनेक तरह की पद्मावती की मूर्तियां देखने को मिली तब शंकाएं और पक्की बनीं। मुझे लगता है कि जानबूझकर ही ऐसी मूर्तियां बनवाई गई हैं। और अब वे खूब प्रचलित हो गई हैं। इसलिए प्राचीनत्व प्राप्त कर एक आराध्य का स्थान लेकर बैठ गई हैं। मूर्ति में औचित्य और सहीपना कितना है वह भी विचारणीय है। स्वाध्याय मे अभी तक पांच-छः प्रमाण मुझे मिले हैं। जो यह मूर्ति के स्वरूप में, गड़बड़ है ऐसा सिद्ध करते हैं।

प्रथम प्रमाण है भावि—तीर्थंकर बनने वाले समर्थ तार्किक आचार्य समन्तभद्र स्वामी का, जिसमे पार्श्वनाथ भगवान की स्तुति मे शब्द है।

"बृहत्फणा-मण्डल ········तडिदम्बुदो यथा" (२)

मूल श्लोक अर्थ :—उपसर्ग से युक्त जिन पार्श्वनाथ भगवान को धरणेन्द्र नामक नागकुमार देव ने चमकती हुई बिजली के समान पीली कान्ति से युक्त बहुत भारी फणामडल रूपी मडप के द्वारा उस तरह विष्टित कर लिया था जिस तरह कि काली सध्या के समय बिजली से युक्त मेघ पर्वत को वेष्टित कर लेता है। श्लोक मे जो कुछ किया वह धरणेन्द्र ने किया है। पद्मावती का नाम निशान नहीं है। जब आज मूर्ति मे धरणेन्द्र अलोप हो गया है मात्र पद्मावती ही दिखती हैं।

दूसरा प्रमाण है आचार्य सकलकीर्ति जी के "पार्श्व चरित्र" के पृष्ठ ७२५ पर लिखा है—"ऐसा बिचार कर धरणेन्द्र पृथ्वी का भेदन कर अपनी स्त्री के साथ शीघ्र ही जिनराज के समीप जा पहुंचा ॥८२॥ तीन प्रदक्षिणा देकर धरणेन्द्र तथा पद्मावती ने भगवान को नमस्कार किया ॥८३॥ तदनन्तर धरणेन्द्र शीघ्र ही भगवान की बाधा दूर करने के लिए उन्हें देदीप्यमान फणाओं की पंक्ति द्वारा पृथ्वी से उठाकर खड़ा हो गया। और उन्हें ऊपर पद्मावती देवी अपनी भक्ति से उन्नत सघन वज्रसदृश तथा जल के द्वारा अभेद फणमंडप तानकर सजग हो गई ॥८५॥ यह अनुवाद ख्यातनामा पंडित पन्नालालजी साहित्याचार्य का है। इसलिए पूर्ण विश्वसनीय है। इस पाठ मे स्पष्ट है कि धरणेन्द्र ने अपने फणो द्वारा भगवान को उठाया। जब आज की बनी मूर्तियों मे धरणेन्द्र दिखता ही नही है।

तीसरा प्रमाण है पूज्य ज्ञानमती माताजी, हस्तिनापुर का। उन्होंने भगवान पार्श्वनाथ की दो स्तुति बनाई है। मूल संस्कृत पद्य का हिन्दी अनुवाद निम्न प्रकार से है—दोनों में भाव एक समान है। वीर ज्ञानोदय ग्रथमाला—हस्तिनापुर का प्रकाशन "सामायिक" का पृ० ११६ पर अनुवादित श्लोक है।

"हे जिन ! तेरी भक्ति भारवश से धरणेन्द्र झटिति आकर,
तप-उपसर्गकाल मे शिर पर फण को छत्र किया सुखकर।

इसमे धरणेन्द्र ने छत्र किया ऐसा कथन स्पष्ट है। तदुपरान्त इस पुस्तक के पन्ने १११ पर श्लोक है :

पुण्योदय से फणपति आसन कपा, पद्मावती के साथ।
आकर फण का छत्र किया प्रभु शिर पर वदूं पारसनाथ॥

इसमें भी धरणेन्द्र छत्र किया और पद्मावती तो मात्र साथ आई थी ऐसा वर्णन है।

चौथे प्रमाण में पडित भूधरदास का पार्श्वपुराण (प्रकाशन १७८९) पन्ना १२५ पर कथित है :

तब फेनसे आसन कंपियो, जिन उपकार सकल सुधिकर कियो।
ततखिन पद्मावती ले साथ। आयो जहँ निवसैं जिननाथ॥४३
करि प्रनाम परदछना दई। हाथ जोरि पद्मावती नई।
फनमडप कीनो प्रभु शीस। जलधारा व्यापै नही ईस॥४४॥

इसमें भी पद्मावती ने कुछ नही किया, मात्र वह अपने स्वामी के साथ आई थी।

पचम प्रमाण :—आचार्य सुधर्मसागरजी द्वारा रचित

चतुर्विंशति की स्तुति मे भगवान पार्श्वनाथ की स्तुति श्लोक नं० १० :—

इस स्तोत्र में भी धरणेन्द्र ने फण किया ऐसा अर्थ निकलता है :—

छठा प्रमाण :—

दैत्य कियो उपसर्ग अपार, ध्यान देखि आयो फनिधार ।
गयो कमठ शठ मुखकरि श्याम, नमो मेरु समान पारसस्वाम ।
—द्यानतराय

इसमें भी पद्मावती का नामनिशान नही है । फनिधर का सातमा प्रमाण है—कलकत्ता से प्रकाशित प० पन्नालाल साहित्याचार्य से अनुदित "चोबीस पुराण पन्ना २३६ (पीछे देखें) । अपने उपकारी पार्श्वनाथ के ऊपर होनेवाला घोर उपसर्ग का वृत्तात जान लिया । तत्क्षण में वे दोनों घटना स्थल पर पहुचे । और उन दोनो ने उन्हें अपने ऊपर लिया । और उनके सिर पर फणावली का छत्र लगा दिया जिससे उनके ऊपर पानी की बूद भी गिर न सकती थी ।

इसमे मात्र पद्मावती ने फन ताना और भगवान को उठाया ऐसा वर्णन नही है । जो आज प्रतिमा मे दर्शित है ।

दोनो शब्द से दो फण होना चाहिए । किन्तु फण तो एक है । इसलिए पद्मावती मात्र अनुमोदक ठहरती है ।

आगम मे लिखा है कि भगवान पर ज्योतिषदेव ने जब उपसर्ग शुरू किया तो धरणेन्द्र का आसन कपायमान हुआ । वह अपनी सगनी को लेकर दौड़ता आया और पुरुषोचित कार्य करके उसने अपना पुराना उपकार का बदला चुका कर वापिस चले गए थे ।

सामान्यतः ऐसे कार्य पुरुषवर्ग ही करते हैं । स्त्री वर्ग तो थोड़ी सहाय करती है या अनुमोदन देती है । किन्तु आश्चर्य है कि ऐसे प्रमाण होते हुए धरणेन्द्र को भुलाकर पद्मावती को ही प्रमुख व्यक्तित्व अर्पित किया है । पद्मावती की कई मूर्तियो मे पार्श्वनाथ की प्रतिमा देवी की चोटी जैसी लगती है । क्या देवाधिदेव का यह अपमान अवर्णवाद नही है । मुनिराज आर्यिका से भी ५-७ हाथ दूर रहे ऐसा विधान होते हुए पद्मावती-सी पर्यायी ने महाव्रती मुनिराज पार्श्वनाथ को उठाकर अपने सिर पर कैसे बिठाया और उसमे क्या कोई प्रकार का औचित्य है ? समझ में नही आता, ऐसा भद्दा और विचित्र विकल्प मूर्तिकारो को कैसे आया ? उनका प्रेरक कौन रहा होगा? उसमे क्या कोई बुद्धिमानी है या स्टंटरूप फरेब कार्य है ? यह सब विचारणीय है ।

प्राचीन समय से चलता है इसलिए उसको पूज्य मानना यह भी दलील हृदय को चुभती है । ये प्रमाणो से लगता है कि मूर्ति निर्माण मे जानबूझकर ही कुछ गड़बड़ की गई है । आज पार्श्वनाथ का तो नाम है बोलवाला पद्मावती का है । इनके स्वतन्त्र मन्दिर भी निर्माण हुए हैं । पद्मावती भवनवासी देवी है जबकि पार्श्वनाथ देवाधिदेव हैं सिद्ध परमात्मा है । नाममात्र पार्श्वनाथ और काम पूरा पद्मावती का ? आज भौतिकवाद मे पैसे को परमेश्वर का स्थान ऐसी पूजा भक्ति से प्राप्त हो गया । लोभी, लालची श्रावक सही-न-सही [गलत] भेद जानता नही है । वह तो भक्ति द्वारा धन, वैभव ससारसुख चाहता है, वह बिना मिथ्यात्व तथा अयोग्य विनय के कारण शक्य नही है । किन्तु कौन ऐसे पापी जीवो को बोध करावे ? अस्तु ।

विजयनगर
गुजरात

(पृ० १३ का शेषांश)

लघीयस्त्रय भट्टाकलंक का एक महान् दार्शनिक ग्रन्थ है, जिस पर किया गया मेरा यह दार्शनिक अध्ययन एक लघु प्रयास है । हम समझते हैं कि जैन न्याय और दर्शन को समझने के लिए यही एक ग्रंथ पर्याप्त है । अब आवश्यकता इस बात की है कि भट्टाकलक के ग्रथों का राष्ट्रभाषा में प्रामाणिक अनुवाद हो, जिससे संस्कृत न जानने वाले समीक्षक जैन न्याय और दर्शन का मूल्यांकन करके भारतीय न्यायशास्त्र के इतिहास मे भट्टाकलक एव उनके अवदान का निर्धारण कर सकें ।

□□

युवाचार्य महाप्रज्ञ के "जैन शासन की एकता : आचार की कसौटी" निबन्ध पर हमारा अभिमत

□ श्री सुभाष जैन
महासचिव : वीर सेवा मन्दिर

[**सम्पादकीय नोट**—श्वेताम्बर तेरापंथी साधु महाप्रज्ञ जी द्वारा लिखित उक्त शीर्षक निबंध प्रतिक्रिया, समालोचना निष्कर्ष के लिए वीर सेवा मन्दिर को मिला था। महाप्रज्ञजी के उक्त निबंध का आशय है कि यदि दिगम्बर जैन साधु के मूलगुणों को मूलगुण न मान, नियमरूप में मान लें। (जो परिस्थिति के अनुसार बदलते रहते है) तो एकता का मार्ग प्रशस्त हो सकता है। यानी सभी पथ के श्रावक, सभी पथ के साधुओं को साधुरूप मे स्वीकार कर लें, आदि उनके लेख के कुछ प्रसग इस भांति हैं :—

१. श्वेताम्बर परपरा मे मूलगुण पांच हैं दिगम्बर परम्परा मे मूलगुणों की संख्या अट्ठाईस हैं—यह भेद एक **विचिकित्सा** उत्पन्न करता है। २. "आचार्य भद्रबाहु ने मुनि स्थूल भद्र को वेश्या की चित्रशाला मे चतुर्मास बिताने की आज्ञा दी यह **व्यक्ति सापेक्ष परिवर्तन** है।" ३. भोजन एक ही बार करना, यह नियम है। यदि किसी की सामर्थ्य न हो तो दो बार भोजन करने में क्या बाधा है? ४. हाथ का पात्र के रूप में उपयोग करना एक सीमा का निर्धारण है। ठीक उसी प्रकार हाथ और पात्र— दोनो का उपयोग करना सीमा का निर्धारण है। ५. यदि पात्र रखना मूर्च्छा या परिग्रह है तो कमण्डलु रखने मे मूर्च्छा या परिग्रह क्यो नही? ६. एक स्थविर मुनि पादुका पहिन सकता है। ७. श्वेताम्बर और दिगम्बर सब मुनि चिकित्सा कराते है। ८. भगवान पार्श्व और भगवान महावीर की परम्परा मे आचार विषयक भेद बहुत था, आदि।

उक्त सभी प्रसगो को लेखक ने गहराई से विचार कर अभिमत दिया है। पाठक देखें—सम्पादक]

इम ससारी जीवन की आचार की कसौटी का माप प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष दोनो प्रकार के परिग्रह से मुक्तता की मात्रा है। परिग्रह से मुक्तता का साधन रागद्वेष का परिहार है। राग-द्वेष के परिहार का माप आचार से किया जाता है—जिस मात्रा मे आचार मे शुद्धि आती है, उसी मात्रा मे परिग्रह से मुक्ति परिलक्षित होती है और हम उसे भौतिक इन्द्रियो से ज्ञात करते हैं। अन्यथा, बाह्याचार के बिना चाहे जो भी स्वयं को वीतरागी घोषित कर देगा और उसके निषेध के लिए हमारे पास कोई माप-दण्ड नही होगा। इसीलिए आचार के श्रावक और मुनि जैसे दो भेद किये गये है। प्रत्यक्ष मे मुनि परमेष्ठी श्रेणी मे होने से परिग्रह का भी त्यागी है और उसके अठ्ठाईस मूलगुण है। ये मूलगुण आजीवन होने से यम ही होते है। ये नियम की कोटि मे नही आते जिन्हें बदला जा सके। श्रावक के परिग्रह-परिमाण आदि के रूप में अनेक व्रत होते हैं और उनमे ग्यारह प्रतिमाओ का विधान किया गया है—ये सब नियम की कोटि में आते है। साधु के यम रूप अट्ठाइस मूलगुणों मे जो न्यूनाधिक रूप-नियम की बात करते हैं, वे साधु की कोटि में न आकर श्रावक की कोटि मे आ सकते हैं, बशर्ते उनकी आहार-विहार आदि क्रियायें आगमानुकूल मर्यादित व शुद्ध हों जैसे ब्रह्मचारी, क्षुल्लक, ऐलक आदि के पद।

यद्यपि दर्शनाचार आदि पाँचों आचार मुख्य हैं और चारित्राचार मे भी दर्शनाचार मूल है। फिर भी महाप्रज्ञ जी का संकेत चारित्राचार के विषय पर चर्चा करना मुख्य है। सो चारित्राचार दो रूपों में है—मुनि रूप और श्रावक रूप। मुनि-पद यम रूप है और श्रावक पद नियम रूप। दि० मुनि २८ मूलगुणो के साथ अपनी परम विशुद्धि के लिए

उत्तर गुणों का पालन करता है और ये उतर-गुण मूल-गुणों से उत्पन्न होते हैं जैसे मूल से वृक्ष और शाखाएँ उत्पन्न होती हैं। कहा भी है—

"मूलगुणापेक्षया उत्तरभूताः गुणा वृक्षशाखा इव उत्तर-गुणा :— अभिधान राजेन्द्र २/७६३

फलत :—उत्तरगुणों से मूलगुणों में परिवर्तन लाने की बात नितान्त भ्रामक और आगम विरुद्ध है और एकाहार जैसे मूलगुण को उत्तरगुण की कोटि में रखना भी सर्वथा दिगम्बर मान्यता के विरुद्ध है।

ब्रह्मचर्य की साधना हेतु भद्रबाहु जैसे आचार्य द्वारा स्थूल भद्र को वैश्या की चित्रशाला में चातुर्मास बिताने की आज्ञा दिये जाने को हम प्रामाणिक नहीं मानते हैं क्योंकि भद्रबाहु परम्परित आचार्य थे उनकी चर्या और आज्ञा परम्परित और आगमानुकूल होना हमें इष्ट है। वेश्या की चित्रशाला में रहना लोकनिन्द्य और ब्रह्मचर्यव्रती श्रावक तक को वर्जित है, तब यह कार्य किसी साधु को कैसे इष्ट-सिद्धि करा सकता है? हमारी दृष्टि से ऐसा आदेश अप्रामाणिक है। क्या वर्तमान में कोई आचार्य किसी साधु को वेश्या के घर में चातुर्मास करने की आज्ञा देता है या स्वयं चातुर्मास कर सकता है?

"लोभकषायोदयाद्विषयेषु संगः परिग्रहः (मूर्च्छा)" के परिप्रेक्ष्य मे दिगम्बर साधु पूर्ण अपरिग्रही होते हैं और श्रावक के घर में उनका एक बार कर-पात्र में आहार लेना भी इसका प्रमाण है। इससे उनकी इन्द्रिय-विषय की लालसा रूप लोभ की निस्पृहता प्रकट होती है जबकि श्वेताम्बर साधुओ में इन्द्रिय विषयो में लालसा बढ़ाने वाली पात्र मे आहार लाने, उसे वसतिका मे लाकर रखने की प्रवृति है, उससे अनेक बार आहार लेने की प्रवृत्ति का उदय हुआ है। यदि पात्र रूप परिग्रह नहीं होता तो भोगोपभोग रूप आहार का संचय न होने से इन्द्रिय विषय का लोभरूप परिग्रह न होता। इसलिए साधु को कर-पात्र में श्रावक के घर एक बार आहार लेना ही उचित है और ऐसा अपरिग्रह ही मुनि की प्रामाणिकता का परिचायक है।

कमण्डलु, भोगोपभोग की सामग्री लाने-ले जाने, संचय व खान-पान का साधन न होने से परिग्रह की सज्ञा में नही आता। वह केवल शुद्धि का उपकरण है—उसे परिग्रह रूप पात्र के समकक्ष मानना घोर अज्ञानता है। उक्तं च—"न विद्यते धर्मोपकरणादृते शरीरोपभोगाय स्वल्पो पि परिग्रहो यस्य सः तथा"। अभि० रा० १/६००

"संभावना की दृष्टि : संदर्भ वस्त्र प्रक्षालन" शीर्षक अंश श्वेताम्बर साधुओ का उनका अन्तरंग विषय है। इससे हमे प्रयोजन नही है।

"कसौटी से संयम" शीर्षक मे जो लिखा है, वह ठीक नहीं है। क्योंकि आपकी नियम विषयक मान्यता ही गलत व भ्रमोत्पादक है। दिगम्बरों मे एकाहार मूलगुण रूप है और आप उसे सामर्थ्य न होने पर दो-तीन बार भोजन ग्रहण को नियम' मे बांधते है। 'स्मरण रहे यहा ग्रहण मे "नियम" शब्द का प्रयोग नही है। अपितु "त्याग' मे है। कहा भी है—

"कालपरिच्छिन्नतया प्रत्याख्यानं भवेन्नियमः"— सर्वार्थ.

दिगम्बर परम्परा मे मुनि को औद्देशिक आहार का विधान नही है और ईर्यापथ-शुद्धि व अपरिग्रह का घातक होने से पादुका-ग्रहण का भी विधान नहीं है।

उन्हें श्रावक गण प्रतीकार योग्य रोग के निवारण हेतु, शुद्ध काष्ठादिक औषधियां आहार के समय देते हैं। वे परीषहजयी होने से अन्यों की भांति साधुओं को यद्वा-तद्वा अभक्ष्य, अज्ञात औषधियों का प्रयोग नहीं कराते व साधु भी अस्पतालो मे भर्ती नही होते और ना ही अपने आरोग्य प्राप्ति हेतु श्रावको से औषधि व उपचार की व्यवस्था की याचना करते हैं। एवं निष्प्रतीकार योग्य रोग से ग्रसित होने पर समाधि-मरण की आराधना करते हैं।

भगवान महावीर निर्ग्रन्थ व निर्वाण पर्यन्त नग्न थे, यह सभी जैन सम्प्रदाय स्वीकारते है और यह महावीर का शासनकाल है। फलत.—हमें महावीर की परम्परा इष्ट है। यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि एक तीर्थङ्कर का शासनपूर्ण होने पर ही दूसरे तीर्थंकर का आविर्भाव होता है, फलतः महावीर के शासन मे पार्श्वपत्यीय सवस्त्र केशी की उपस्थिति व उनके साथ गौतम गणधर का संवाद बताना अप्रामाणिक और शिथिलाचारियो द्वारा सवस्त्र दीक्षा और अन्य शिथिलताओं के परिपुष्ट करने का छल मात्र है।

दिगम्बर साधु के २८ मूलगुण अपरिवर्तनीय होते हैं, ऐसा जानते हुए भी महाप्रज्ञ ने दिगम्बर-मान्य यम-रूप मूल गुणों को नियम की कोटि मे रख कर एकता के नाम पर दिगम्बर सिद्धान्त पर सीधा प्रहार किया है—इसका हमें खेद है। महाप्रज्ञ शिथिलाचार का पोषण कर रहे हैं जो हमें स्वीकार नही। वे यह क्यों भूल जाते है कि दिगम्बर कभी भी वस्त्र सहित को साधु के रूप मे नही स्वीकारेंगे और उनके (महाप्रज्ञ के) साधु वस्त्र रहित होने को तैयार नही होंगे। ऐसी स्थिति में साधु-रूप की अपेक्षा, दोनों की एकता की बात सर्वथा असभव ही नही अपितु विसंवाद की चिंगारी है।

यह सर्वविदित है कि स्थानकवासी साधु श्री कानजी स्वामी ने दिगम्बर आचार व आगम से प्रभावित होकर आजीवन दिगम्बर धर्म का प्रचार-प्रसार किया। इसके बावजूद, वे महाप्रज्ञ जी की अपेक्षा विशुद्ध आहार एक बार लेते हुए भी अपने को अव्रती-श्रावक की कोटि मे मानते थे और सदा निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधुओ को परमेष्ठी स्वीकार कर उन्हीं के गुणो में भक्ति प्रदर्शित करते रहे। फिर भी दिगम्बराम्नायियो ने उन्हें व्रतीश्रावक या साधु परमेष्ठी के रूप मे स्वीकार नही किया। तब वे महाप्रज्ञ के लेख में प्रतिपादित नामधारी साधुओं को परमेष्ठी के रूप में कैसे स्वीकारेंगे ?

यदि महाप्रज्ञ जी शुद्ध हृदय से एकता चाहते हैं तो महावीर से परम्परित दिगम्बर साधु को परमेष्ठी रूप में स्वीकार करें-करायें: अपने आचार-विचार खान-पान में दिगम्बर आगम-वर्णित श्रावकाचार का पालन कर, अपने को श्रावक की कोटि मे उद्घोषित करें तब एकता का प्रयास सम्भवत: आगे बढ़ सके।

एक सलाह और। महाप्रज्ञ जी दिगम्बर आगमों में वर्णित श्रावक और मुनि के आचार का निष्पक्ष भाव एव गहराई से अध्ययन करे—सम्भवत: उनको सम्यक बोध का मार्ग मिल सके। दिगम्बर साधुओ मे २८ मूलगुण और अन्य उत्तर गुण आत्म-विशुद्धि के लिए ही हैं। **साधु की चर्या को आगम के परिप्रेक्ष्य में ही देखना चाहिए—तोड़-मरोड़ कर या कौन, कब, कैसा, क्या कर रहा है, इस दृष्टि से मूल चर्या को देखना उचित नहीं।** हमारा उद्देश्य शिथिलाचार को रोकना होना चाहिए उसे बढ़ावा देना नही। महाप्रज्ञ जी को अभी भी कोई जिज्ञासा हो तो हमसे सम्पर्क कर लें। कहा भी है—"आगमचक्खू साहू।"

धण-धण्ण-वत्थदाणं हिरण्ण-सयणासणाइ छत्ताइं।
कुद्दाण-विरहरहिया, पव्वज्जा एरिसा भणिया॥ बोधपा० ४६॥
तिल ओसत्तणिमित्तं, सम बाहिरगंथसंगहो णत्थि।
पावज्ज हवइ एसा, जह भणिया सव्वदरसीहिं॥ बोधपा० ५५॥
'वदसमिदिंदियरोधो लोचावस्सयमचेलमण्हाणं।
खिदिसयणमदंतवणं ठिदिभोयणमेगभत्तं च॥
एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता।
तेसु पमत्तो समणो छेदोवट्ठावगो होदि॥' प्रव० ३, ८-९॥

संस्कृत के जैन सन्देश काव्य

☐ कु० कल्पना देवी जैन

संस्कृत-साहित्य मे कतिपय परम्पराओ का पल्लवन होता रहा है। इनमे सन्देश काव्य परम्परा भी एक है। कवियों द्वारा किसी को दूत बनाकर विरहणियों के सन्देश को प्रेषित किया गया है। आदि कवि बाल्मीकि ने पवन-सुत हनुमान को राम का दूत बनाकर सीता के पास भेजा था। कदाचित् इसी से कल्पना ग्रहण कर कालिदास ने मेघ को दूत बनाकर किसी यक्ष के द्वारा यक्षिणी के पास सन्देश भिजवाया। यही सन्देश काव्य "मेघदूत" के नाम से प्रसिद्ध हुआ। बस क्या था इसी को आधार बनाकर दूत काव्य अथवा सन्देश काव्य परम्परा चल पड़ी। इस परम्परा का अनुसरण धोयी पवनदूत आदि काव्यों द्वारा किया गया।

इस सन्देश काव्य परम्परा को जैन कवियों ने भी अपनाया। जम्बू कवि का चन्द्रदूत पवनदूत से भी प्राचीन काव्य है। अन्य जैन कवियों ने सन्देश काव्य परम्परा का अनुसरण करते हुए अनेक सन्देश काव्य लिखे। सन्देश काव्यों की एक दिशा नवीन भावो तथा विषयो के वर्णन की ओर प्रवाहित हुई। जैन कवियो ने अपने दर्शन के गूढ़ सिद्धान्तों की अभिव्यन्जना के लिए सन्देश काव्य का आश्रय लिया। प्रेम सन्देश के स्थान पर इन नवीन काव्यो मे आध्यात्मिक उन्नति के विषय मे सन्देश प्रेरित किया गया है। इन सन्देश काव्यो मे जैन दर्शन के आध्यात्मिक तत्व का निरूपण काव्य की सरल भाषा मे हुआ है। इनमे सांसारिकता का पुट बहुत कम मिलता है। सांसारिक विषय रागों का वर्णन केवल मात्र आध्यात्मिक तत्व की महत्ता को दर्शाने हेतु ही किया गया है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध "संस्कृत के जैन सन्देश काव्य" भी सन्देश काव्य परम्परा में लिखे गये जैन सन्देश काव्यों के सौन्दर्य विश्लेषण करने हेतु लिया गया है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध आठ अध्यायों में विभक्त किया गया है। प्रथम अध्याय के अन्तर्गत सन्देश काव्यो का सामान्य परिचय देते हुए सन्देश काव्य-परम्परा पर प्रकाश डाला गया है। कालिदास द्वारा रचित "मेघदूत" संस्कृत साहित्य की वह अनुपम कृति है जिसके द्वारा सन्देश काव्य परम्परा को सुदृढता प्राप्त हुई है। इसी अनुपम कृति को अपना प्रेरणा स्रोत मानकर जैन कवियो ने जैन सन्देश काव्यो की रचना की। इन काव्यो मे सन्देश काव्य-परम्परा को एक नया मोड दिया गया है। मेघदूत का अनुसरण शील होते पर भी ये काव्य सांसारिकता एवं मोह-माया को किंचित्मात्र स्थान नही देते। तप के द्वारा प्राप्त चरम सत्य को इन काव्यों मे विशेष स्थान प्राप्त है। इन्ही विशेषताओं का उल्लेख प्रथम अध्याय मे किया गया है। मोक्ष प्राप्ति की प्रेरणा एवं श्रमण संस्कृति का निर्वाह इन काव्यो की मुख्य विशेषताओ में आते है। इस प्रकार प्रथम अध्याय के अन्तर्गत सन्देश काव्यो का सामान्य परिचय, जैन सन्देश काव्यो का मूल स्रोत एव विशेषताओं को स्पष्ट करते हुए प्रस्तुत अध्ययन के विषय क्षेत्र को बताया गया है।

द्वितीय अध्याय मे जैन सन्देश काव्यो के ग्रन्थो का परिचय एव सक्षिप्त कथा को प्रस्तुत किया गया है। इन जैन सन्देश काव्यो की कथावस्तु एक ही तत्व पर जोर डालती है और वह है मोक्ष। इन काव्यो का नायक प्रारम्भ में तो सांसारिक सुखो का उपभोग करता है परन्तु किसी कारण वश उसे सांसारिक मोह-माया से विरक्ति हो जाती और वह संसार के भोग विलासों से विरक्त होकर तप मे लीन हो मोक्ष प्राप्ति करता है। जैन सन्देश काव्यों का पहला उद्देश्य है जीवन के चरम सत्य मोक्ष से परिचित कराना। समस्त सांसारिक मोह विलास क्षण विध्वंसी है। सच्चा सुख इन सांसारिक बन्धनों का त्याग एव मोक्ष प्राप्ति में है। इसी आध्यात्मिक तथ्य को पाठक जनो

समक्ष प्रस्तुत करते हुए इन काव्यों में श्रमण संस्कृति का निर्वाह किया गया है। श्रमण संस्कृति से परिचित कराना इन जैन सन्देश काव्यों का दूसरा उद्देश्य है। मेघदूत के सदृश ही इन काव्यों मे भी सन्देश प्रेषित किया गया है। परन्तु इनके सन्देशों में विरहव्यवस्था एवं वियोग शृंगार के साथ-साथ आध्यात्मिकता को विशिष्ट स्थान प्राप्त है। नायक-नायिका को आध्यात्मिक उन्नति का सन्देश देते हुए सांसारिक चीजो के प्रति मोह को दूर करता है। अतः इस अध्याय में जैन सन्देश काव्यो के सन्देशों का विवेचन करते हुए वर्णित सन्देशों के स्वरूप को बताया गया है। विशेषतः इन काव्यों में वर्णित सन्देशो में आध्यात्मिकता का पुट मिलता है। नायिका के विरह सन्देश को भी कवि ने आध्यात्मिक सन्देश की महत्ता को दर्शाने हेतु ही प्रस्तुत किया है। प्रकृति का अतीव सजीव चित्रण यहां उपलब्ध है। इसी अध्याय के अन्तर्गत जैन सन्देश काव्यो में प्रयुक्त सूचित पदो को भी दर्शाया गया है। इस प्रकार द्वितीय अध्याय मे जैन सन्देश काव्य परम्परा का निर्वाह करते हुए जैन सन्देश काव्यो के ग्रन्थो का परिचय, संक्षिप्त कथा, उद्देश्य, सुभाषित, सन्देश एवम् प्रकृति चित्रण को प्रस्तुत किया गया है।

तृतीय अध्याय में जैन सन्देश काव्यों की काव्यगत विशेषताओं का उल्लेख किया है। इस अध्याय में सत्य, क्षमा, त्यागादि आध्यात्मिक मूल्यो का विश्लेषण कर काव्यो की पृथक्ता एवं मौलिकता को दर्शाया गया है। मोह विलासो से दूर इन काव्यो का नायक सत्यादि मूल्यों का पालन करते हुए अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त करता है। सत्य के स्वरूप को जैन कवियो ने सच बोलने की अपेक्षा जीवन के वास्तविक सत्य मोक्ष के रूप मे प्रतिपादित किया है। नायक सत्यवादी तो है ही साथ ही साथ जीवन के चरम सत्य को भी भली भाति जानता है। सत्य के समान ही क्षमा, दया, अहिंसा आदि तत्वों को भी विशेष स्थान प्राप्त है। इसके अतिरिक्त परमार्थ को इन काव्यों मे विशेष महत्व दिया गया है। सत्यादि तत्वों का स्पष्ट रूप नायक के व्यक्तित्व मे स्पष्ट झलकता है। अमूर्त विषयो को मूर्त रूप मे दर्शाना इन काव्यों के कवियो की बुद्धि चातुर्य का प्रतीक है। शीलदूत काव्य मे शील जैसे अमूर्त विषय से प्रभावित होकर नायिका समस्त मोह विलासों का परित्याग कर तप मार्ग का अनुसरण करने लगती है। क्षमावान होने के कारण नायक अपने मार्ग में आई हुर बाधा को दूर कर देता है तथा अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर लेता है। परमार्थ तत्व का विश्लेषण करते हुए बताया गया है कि जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष है। केवल यही एक सत्य है। शेष सभी सांसारिक सुख असत्य हैं। प्रकृति चित्रण के अन्तर्गत इस अध्याय में प्रकृति को विभिन्न रूपों में प्रदर्शित किया गया है। आवलम्बन, उद्दीपन, मानवीकरण, संश्लिष्ट, उपदेश एव नामपरिगणन आदि सभी रूपों में जैन कवियों ने प्रकृति का चित्रण किया है।

चतुर्थ अध्याय में जैन सन्देश काव्यों की शैलीगत विशेषताओं का अध्ययन किया गया है। अन्तरंग एवं बहिरंग दोनों ही दृष्टि से विभाजित कर काव्यतत्वों का विश्लेषण किया गया है। अन्तरग तत्वों के विश्लेषण में रस, ध्वनि एवं गुणीभूत व्यंग्य का विवेचन है। करुण एवं शांत रस दोनों का वर्णन इन काव्यों में किया गया है। गुणीभूत व्यंग्य के अन्तर्गत अगूढ व्यंड्ग्य सन्दिग्ध प्रदान व्यड्ग्य, असुन्दर व्यड्ग्य एव अस्फुट व्यड्ग्य का विवेचन किया गया है। ध्वनि का भी इस अध्याय में पूर्ण रूपेण विवेचन किया गया है। श्लेष, उपमा, उत्प्रेक्षा, यमक आदि अलङ्कारों की सुन्दर योजना की गई है। माधुर्य, ओज एवं प्रसाद आदि गुणों को भी इस अध्याय में स्पष्ट किया गया है। रूढ़ि, योग, योग रूढ़, लक्षणा, लक्षण, लक्षणा, रूढि लक्षणा एव व्यन्जना शक्ति आदि को भी स्पष्ट किया गया है। मन्दाक्राता छन्द मे निबद्ध कुछ श्लोकों के उदाहरण को इस अध्याय में प्रस्तुत किया गया है।

पचम अध्याय मे पात्रों का चरित्र-चित्रण प्रस्तुत है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से ये जैन सन्देश काव्य अपना पृथक् महत्व रखते हैं। पार्श्वनाथ जैसे महान चित्रण को चित्रित किया गया है। इसके अतिरिक्त शम्बर, नेमिकुमार, राजुलमति, स्थूलभद्र, कोशा, विजयमणि एवं वसुन्धरा के चरित्र को भी चित्रित किया गया है। पार्श्वनाथ, नेमिकुमार एवं स्थूल भद्र का चरित्र एक महान पुरुष के रूप

में चित्रित है। क्षमा, त्याग, अहिंसा, धैर्य आदि इनके व्यक्तित्व की मुख्य विशेषताएँ हैं। ये दार्शनिक चिन्तन में लीन दिखलाई पड़ते है। तपस्वी के रूप मे चित्रित इनका चित्रण एक ऐसे महान् चित्रण के रूप में चित्रित है जो तप एव योग साधना मे रत उस आध्यात्मिक तत्व की प्राप्ति का इच्छुक है जिसे मोक्ष कहते है। काव्यान्त में मोक्ष प्राप्त कर नायिका को भी दीक्षा दान देते हैं। राजुलमति, कोशा एवं वसुन्धरा को एक विरहणी के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इन तीनो पात्रों का चित्रण पूर्णतः सांसारिक है। संसार के भोग विलासों मे लिप्त ये प्रिय वियोग से पीड़ित है। सांसारिक भोग विलासों में लिप्त होने पर भी ये पतिव्रता एव आदर्श नारी के रूप में काव्य में प्रतिष्ठित है। अपने आदर्शों एव कर्त्तव्यों को ये भली-भांति जानती है। विजयमणि का चरित्र पार्श्वनाथ आदि के चरित्र से बिल्कुल विपरीत है। वह न तो तप मे लीन है और न ही अलौकिक सौन्दर्य (मोक्ष) की प्राप्ति का इच्छुक है। विजयगणि का चरित्र सासारिक भावनाओं से भी लिप्त है यही कारण है कि वह अपनी प्रिया के वियोग की पीड़ा से पीड़ित रहता है तथा उससे मिलन की आकांक्षा रखता है। इन सब विभिन्नताओं के होने पर भी अन्य पात्रों से एक समानता हमे इस चित्रण मे मिलती है और वह है क्षमावान होना। वह अत्यन्त धैर्यशाली एव क्षमावान प्रकृति का है। इस प्रकार इस अध्याय मे पात्रो के चरित्र चित्रण को प्रस्तुत कियां गया है।

षष्ठ अध्याय में शान्त रस की अभिव्यंजना एव समस्यापूर्ति विधा के विकास को प्रस्तुत किया गया है। मेघदूत इन काव्यो का प्रेरणा स्रोत रहा है और मेघदूत मे पूर्णतः शृगार रस का राज्य दिखाई पड़ता है किन्तु जैन कवियो ने अपने जैन सन्देश काव्यो मे शृगार रस के साथ-साथ शान्त रस की भी अभिव्यजना की है। काव्यो का प्रारम्भ तो शृगार रस से होता है परन्तु अन्त शान्त रस मे। इस प्रकार शृंगार रस को जैन सन्देश काव्यों मे शान्त रस मे परिवर्तित कर दिया गया है। विरह दग्ध नायिका की उत्तेजित भावनाओ को नायक अत्यन्त सरलता एव सौम्यता के साथ शान्त करता है तथा संसार के प्रति उसके क्षणिक भ्रम को दूर कर देता है। इन काव्यों का उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति है जो तप एवं साधना के द्वारा प्राप्त किया जाता है। मोक्ष प्राप्ति शान्ति एवं धैर्य के द्वारा प्राप्त होती है। इसी कारण जैन सन्देश काव्यों में शृगार रस की अपेक्षा शान्त रस का आधिपत्य है। शान्त रस के साथ-साथ इस अध्याय मे समस्यापूर्ति विधा के विकास पर भी प्रकाश डाला गया है। समस्यापूर्ति विधा यूं तो प्राचीन काल से ही चली आ रही है परन्तु विकसित रूप से इसे बाद ही में मिला। प्राचीन काल मे मौखिक रूप से इस विधा का प्रयोग किया जाता था परन्तु बाद में काव्य निर्माण में इस विधा का प्रयोग किया जाने लगा। मेघदूत के अन्तिम चरणों को लेकर जैन कवियों ने समस्यापूर्ति रूप में जैन सन्देश काव्यों की रचना की। इन काव्यों की यह विशेषता है कि उन्होंने मेघदूत को अपना आधार मानकर उसके श्लोकों के अन्तिम चरणों की समस्यापूर्ति की है। मेघदूत के श्लोको में पूर्णतः सांसारिक मोह विलासों के दर्शन होते हैं। इन सासारिक भावनाओं को स्पष्ट करने वाली पंक्तियों को जैन कवियों ने अपने विचारो एवं आध्यात्मिक दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया है जो कि अपने आप में चातुर्य एव अलौकिक प्रतिभा का द्योतक है। शृंगारिक पंक्तियो को बड़े ही सुन्दर ढग से आध्यात्मिकता की ओर मोड़कर इन कवियों ने श्रमण संस्कृति का भी पूर्णरूपेण निर्वाह किया है। समस्यापूर्ति विधा में दूसरे के द्वारा निर्मित पंक्तियों को अपने विचारों में परिवर्तित करने की कुशलता का ही परिचय दिया जाता है और ये कुशलता इन जैन सन्देश काव्यो मे स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर है। मेघदूत और जैन सन्देश काव्यो का उद्देश्य पृथक्-पृथक् है फिर भी जैन कवियो ने मेघदूत की शृगारिक पंक्तियो की समस्या पूर्ति करते हुए अपने विचारों में परिवर्तित कर अपने उद्देश्यों की पूर्ति की है।

सप्तम अध्याय में जैन सन्देश काव्यों में वर्णित श्रमण संस्कृति को वर्णित किया गया है। इस अध्याय को श्रमण संस्कृति एव जैन आचार धर्म दर्शन दो भागों मे विभक्त किया गया है। श्रमण संस्कृति की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कर प्रस्तुत जैन सन्देश काव्यों मे इन विशेषताओं को वर्णित किया गया है। जैन सन्देश काव्यों में श्रमण संस्कृति के सभी नियमो एवं मान्यताओ का महत्व-

पूर्ण स्थान प्राप्त है। जैन कवियों ने अपने काव्यों मे श्राप एवं दण्ड जैसी किसी प्रथा को वर्णित नही किया है। ईश्वर जैसी किसी परोक्ष शक्ति का इन काव्यो मे वर्णन नही मिलता। तप, वैराग्य एव सयम को इन काव्यो के नायक ने अपने जीवन मे सर्वाधिक महत्व दिया है। संस्कृत के जैन सन्देश काव्यों में चरित्र का विकास अनेक जन्मों के बीच हुआ है जो कि श्रमण सस्कृति की एक विशेषता है। इसी अध्याय के अन्तर्गत जैन आचार धर्म दर्शन के विभिन्न सिद्धांतो एवं नियमो को प्रस्तुत किया है। आत्मा की सत्ता को सिद्ध करते हुए भौतिक स्वरूप के भ्रम को स्पष्ट करने हेतु त्याग, तप, योग आदि को विशेष रूप से वर्णित कर जैन धर्म दर्शन का उल्लेख किया गया है। जैन दर्शन के सभी तत्त्व-जीव, अजीव आदि का स्वरूप इस अध्याय मे वर्णित है। इसके अतिरिक्त जैनाचार के अन्तर्गत श्रावकाचार एवं मुनि-आचार सम्बन्धी सभी नियमो का उल्लेख इस अध्याय में वर्णित है।

अष्टम अध्याय में उपसंहार के अन्तर्गत प्रस्तुत अध्ययन का निष्कर्ष, महत्व एव योगदान को स्पष्ट किया गया है। आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट कर मोक्ष प्राप्ति की ओर प्रेरित करने के कारण इन जैन सन्देश काव्यो का सस्कृत साहित्य के क्षेत्र में विशेष योगदान रहा है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के सार रूप मे हम यह कह सकते हैं कि जैन सन्देश काव्य अपने आप मे पृथक् एवं मौलिक विशेषताओं को लेकर चलते हैं। इन काव्यों मे विशेषत: मोक्ष एवं श्रमण संस्कृति को वर्णित किया है। इन काव्यों के प्रारम्भ मे शृगार रस को प्रतिपादित किया गया है।

परन्तु काव्यान्त तक आते-आते शृंगार रस शान्त रस में परिवर्तित हो जाता है। काव्यारम्भ मे तो सहृदय जन काव्यानन्द की प्राप्ति करते हैं परन्तु काव्य के उत्तरार्ध में आध्यात्मिक एव सदाचार तत्वो को ही स्पष्ट किया गया है। इन सन्देश काव्यों की रचना मन्दाक्रान्ता छंद में हुई है। उपमा, यमक, उत्प्रेक्षा, श्लेष आदि अलंकारों की सुन्दरयोजना की गई है। इन काव्यो मे वैदर्भी शैली का प्रयोग किया गया है। भाषा प्रसाद गुण, सरस एवं सरल है तथा सर्वत्र प्रवाह दृष्टिगोचर होता है पदलालित्य की दृष्टि से यत्र-तत्र सुन्दर सुभाषितों का प्रयोग किया गया है। अत. सस्कृत के जैन सन्देश काव्य भाषा-शैली, अलकार, रस, भाव विश्लेषण एव पदलालित्य की दृष्टि से पृथक् एव मौलिक स्थान रखते हैं।

—धामपुर (नजीबाबाद)

आत्म-ज्ञान और संयम की महिमा

—आत्मा के बारे में जानकारी करना और आत्मा को जानना इसमें मौलिक अन्तर है। आत्मा के बारे में जानना शास्त्रों से, चर्चा चिंतन से हो जाता है परन्तु आत्मा को जानना आत्मा के साक्षात्कार से ही होता है अत: मोक्षमार्ग में आत्मा को जानना जरूरी है। आत्मा को जानने में शास्त्र ज्ञान और चर्चा बाहरी माध्यम मात्र हो सकता है। इसलिए मात्र चर्चा और चिंतवन से पण्डित बन सकता है परन्तु आत्मज्ञान बिना मोक्षमार्गी नहीं हो सकता। इसलिए प्रवचनसार में कहा है कि आगम ज्ञान तत्त्वार्थश्रद्धान और संयम तभी सार्थक है जब साथ में आत्मज्ञान हो। आत्मज्ञान और संयम बिना मोक्षमार्ग केवल मात्र आगम ज्ञान से नहीं होता। जो आत्मज्ञान प्राप्त करना चाहे उसके लिए आगम ज्ञान सहायक है। जैसा वस्तुतत्त्व का श्रद्धान किया है वैसी ही प्रवृति का होना चारित्र है। अत: सम्यक्-दर्शन-ज्ञान-चारित्र बिना न मोक्षमार्ग कभी हुआ, न है, न होगा। तीनों की एकता बिना मात्र एक-एक से मोक्षमार्ग मानना भी अज्ञानता है ऐसा राजवार्तिककार ने कहा है। सर्वार्थसिद्धि की प्राप्ति तो आत्मज्ञानपूर्वक संयम की पूर्णता न होने से हुई परन्तु ३३ सागर तत्त्वचर्चा करने पर भी तीन चौकड़ी टस से मस नहीं हुई। वह तो तभी नष्ट हुई जब मनुष्य पर्याय पाकर संयम की आराधना करी। क्या ११ अंग का पाठी मिथ्यादृष्टि तत्त्वचर्चा और चिंतवन करने में कोई कसर रखता है क्या? हजारों वर्षों तक चिंतवन मनन करने पर भी पहला गुणस्थान बना रहता है। महिमा तो आत्मज्ञान और संयम की है जो अन्तरमुहूर्त में इसे मोक्ष का पात्र बना देता है। —बाबूलाल जैन कलकत्ता वाले

क्यों करते हैं लोग संस्थाओं को बदनाम ?

(संदर्भ—श्री गणेश ललवानी का लेख : 'तीर्थंकर' अगस्त १९९०)

तीर्थंकर के अगस्त १९९० के अंक में श्री गणेश ललवानी द्वारा लिखित वीर सेवा मन्दिर की आलोचना पढकर हार्दिक दुख होना स्वाभाविक था। श्री ललवानी का लेख पूर्वाग्रही और संस्था को बदनाम करने हेतु लिखा हुआ प्रतीत होता है। अन्यथा, ललवानी जी अखबारबाजी करने से पूर्व एक बार इस संस्था से भी तथ्य जान लेने का प्रयास तो करते।

श्रद्धेय श्री छोटेलाल जैन ने जैन बिब्लियोग्राफी के द्वितीय संस्करण हेतु वर्षों की साधना के पश्चात् प्रभूत सामग्री तैयार की। पर खेद है कि वे ग्रन्थ के प्रकाशन के पूर्व ही स्वर्गवासी हो गए। उनके पश्चात् उनके भ्राता बाबू नन्दलाल जैन ने इसके संपादन और मुद्रण के साधन जुटाने हेतु अनेकों प्रयास किए। अन्ततोगत्वा संपादन कार्य डॉ० आदि नाथ नेमिनाथ उपाध्ये को सौपा गया। अत. ग्रन्थ की सभी सामग्री संपादन-हेतु डा० उपाध्ये अपने साथ कोल्हापुर ले गए और वहीं पर अपने निर्देश में प्रेस-कापी के लिए टंकण आदि का कार्य कराया। ऐसे सभी खर्चों का भुगतान उनको भेजा जाता रहा। इस संबंध में डॉ० उपाध्ये के दिनांक २०-९-६९, १५-७-७० एवं १९-१२ ७० के पत्र और ऐसे अन्य अनेक पत्रों और भुगतान की पावती संस्था में सुरक्षित है।

डॉ० उपाध्ये ने ग्रन्थ के प्रारम्भिक-परिचय लिखने हेतु मुद्रित फर्मों को संस्था से उनके दिनांक १४-३-७४ के पत्र द्वारा मगवाया और साथ ही श्रद्धेय छोटेलाल जी का जीवन परिचय भी मंगवाया। श्री नन्दलालजी ने उनका जो जीवन परिचय दिया उसके २०वें अनुच्छेद पर स्पष्ट लिखा है—

"The First Part of his Jain Bibliography was Published in the year 1945 The Second Part remaining incompleted by him, is now being completed under the guidence of Dr. A. N. Upadhaye M.A.D Litt of Mysore University."

दुर्भाग्य से इसी बीच डॉ० उपाध्ये स्वर्गवासी हो गए।

ग्रन्थ को प्रकाशन के साथ इण्डैक्स की भी आवश्यकता थी, अत: बाबू नन्दलाल जी के सुझाव पर इण्डैक्स बनाने का कार्य डॉ० सत्यरंजन बनर्जी को सौप दिया गया। इस कार्य-हेतु डॉ० बनर्जी को समय-समय पर भुगतान भी होता रहा। डॉ० बनर्जी द्वारा लिखित एक खर्चे के विवरण की छाया प्रति आदि सभी विवरण हमारे कार्यालय में सुरक्षित है।

मैं सन् १९८० में संस्था का महासचिव चुना गया। उक्त ग्रन्थ के मुद्रित फर्मों को ग्रन्थरूप देने के लिए प्रारम्भिक परिचय की अनिवार्यता का अनुभव कर कार्यकारिणी की सहमति से डॉ० बनर्जी को प्रारम्भिक परिचय लिखने का आग्रह किया गया, क्योंकि इण्डैक्स का कार्य भी वे ही कर रहे थे। उन्हें २७०० रु० का बैंक ड्राफ्ट नं. ९५१९६९ दि० ६-७-८१ पो. एन. बैंक का भेजा गया।

चूंकि तब तक मुझे संबंधित विषय की पृष्ठ-भूमि ज्ञात नहीं थी और कार्यकारिणी का डॉ० बनर्जी पर अटल विश्वास था। अत: जो भी परिचय डॉ० बनर्जी ने लिखकर भेजा, मैंने उसे उसी रूप में मुद्रित करा कर ग्रन्थ का प्रकाशन कर दिया

और सद्भावना के रूप में ग्रन्थ की प्रति डॉ० बनर्जी को भी भेज दी।

जैसे ही ग्रन्थ कार्यकारिणी के समक्ष आया, वस्तुस्थिति जान लेने पर संस्था में सुरक्षित रिकार्ड के अनुसार संपादन में डॉ० उपाध्ये का नाम देना अनिवार्य हो गया। इसकी सूचना डॉ० बनर्जी को दिनांक ३-१२-८२ के पत्र द्वारा दे दी गई। मुझे तो स्वप्न में भी आशा नहीं थी कि डॉ० बनर्जी जैसे उच्चकोटि के विद्वान् मेरी अजानकारी और डॉ० उपाध्ये के स्वर्गवास का अनुचित लाभ उठाकर संपादन का श्रेय स्वयं ओढ़ लेंगे।

वीर सेवा मन्दिर सदैव जैनदर्शन और साहित्य के शोध और खोज के कार्यों में संलग्न रहा है। अनेकों अजैन विद्वानों के सहयोग से संस्था गौरवान्वित होती रही है। संस्था ने साहित्यिक कार्यों में कभी भी जैन-अजैन अथवा दिगम्बर श्वेताम्बर जैन में अन्तर नही माना। यदि भेद-भाव होता तो संपादक के रूप में डॉ० बनर्जी का नाम भी सहज-रूप में नहीं चला जाता।

श्री ललवानी का यह कथन भी एकदम असत्य है कि वीर सेवा मन्दिर ने डॉ० भागचन्द्र जैन को मात्र २५-३० पृष्ठों के इण्डेक्स हेतु पाच हजार रुपयों का भुगतान किया है।

यदि आप उक्त लेख को प्रकाशित करने के पूर्व वस्तु-स्थिति से अवगत हो जाते तो आपको हमारा स्पष्टीकरण छापने का कष्ट ही नही उठाना पड़ता। सद्भावनाओं सहित,

भवदीय--

सुभाष जैन

महासचिव—वीर सेवा मन्दिर

दरियागंज, नई दिल्ली-२

संपादकीय नोट – जैन पत्रकारिता धन्दा या चोंचें लड़ाने-लडवाने का कार्य--पीत पत्रकारिता नहीं, स्वस्थ जागरण है और इसमें धर्म और धार्मिक संस्थाओं की निश्छल-सुरक्षा का उत्तरदायित्व-निर्वाह भी समाहित है। फलतः किन्ही विवादित प्रसंगों में लेखक और पत्रकार दोनों के द्वारा पक्ष-विपक्ष से पूरी जानकारी कर लेना ही स्वस्थ-पत्रकारिता है।

वीर सेवा मन्दिर के महासचिव ने उक्त पत्र सम्पादक 'तीर्थंकर' और उसकी प्रति श्री गणेश ललवानी को भी भेजी है। पत्र के साथ डॉ० उपाध्ये के निर्दिष्ट मूल-पत्रों की छाया प्रतियां भी सलग्न की हैं। इसके सिवाय हमने जैन-बिब्लियोग्राफी संबंधी उपलब्ध (सुरक्षित) पूरी संचिका और तद्विषयक तत्कालीन कार्यकारिणी के निर्णय भी पढ़े है। निर्विवाद रूप से संपादकत्व डॉ० उपाध्ये का ही सिद्ध होता है।

यह सच है कि इण्डैक्स के कार्यभार का उत्तरदायित्व डॉ० सत्यरंजन बनर्जी ने लिया और इस कार्य के हेतु उन्हें समय-समय पर धन का भुगतान भी किया जाता रहा है। इण्डैक्स के अभाव में संस्था को सभी प्रकार की क्षति उठानी पड़ रही है। डॉ० बनर्जी जैसे सम्भ्रान्त विद्वान् से ऐसी अपेक्षा नहीं थी। अब उत्तरदायित्व श्री ललवानी जी का हो जाता है कि वे डॉ० बनर्जी से इण्डैक्स का कार्य सम्पन्न कराकर संस्था को दिलाएँ। क्योंकि उनके लेख से स्पष्ट है कि श्री ललवानी जी, डॉ० बनर्जी के काफी नजदीक हैं। --**सम्पादक**

राज्य संग्रहालय धुबेला की सर्वतोभद्रिका मूर्तियाँ

□ श्री नरेश कुमार पाठक

सर्वतोभद्रिका या सर्वतोभद्र प्रतिमा का अर्थ है वह प्रतिमा जो सभी ओर से शुभ या मंगलकारी है। अर्थात् ऐसा शिल्पकार्य जिसमें एक ही शिल्पखण्ड में चारो ओर चार मूर्तियां निरूपित हो, पहली शती ई० मथुरा मे इसका निर्माण प्रारम्भ हुआ। इन मूर्तियो मे चारो दिशा में चार जिन मूर्तियां उत्कीर्ण है। ये मूर्तियां या तो एक ही जिन की या अलग-अलग जिनो की होती है। ऐसी मूर्तियों को चतुर्बिम्बजिन चौमुखी और चतुर्मुख भी कहा गया है। ऐसी प्रतिमाएँ दिगम्बर स्थलो मे विशेष लोकप्रिय थी।[1] सर्वतोभद्रिका प्रतिमाओ को दो वर्गों मे बाटा जा सकता है। पहले वर्ग मे ऐसी मूर्तियां है, जिनमे एक ही जिन की चार मूर्तियां उत्कीर्ण है। दूसरे वर्ग की मूर्तियो में चार अलग-अलग जिन मूर्तिया है[2]। राज्य सग्रहालय धुबेला मे प्रथम वर्ग की एक एव द्वितीय वर्ग की दो कुल तीन सर्वतोभद्रिका प्रतिमा संग्रहित है, जिनका विवरण निम्नानुसार है :—

मऊ-सहानिया जिला छतरपुर से प्राप्त सर्वतोभद्रिका प्रतिमा के चारों ओर एक-एक तीर्थंकर (स० क्र० १) पद्मासन मे ध्यानस्थ बैठे हुये हैं। इस प्रकार की प्रतिमाओ को किसी भी तरफ से देखा जाय तीर्थंकर के दर्शन हो जाते है, जिसमे मानव का कल्याण होता है। इसी लिये चारो तरफ मूर्तियों वाली प्रतिमाओ को सर्वतोभद्रिका की संज्ञा दी गई है। प्रस्तुत सर्वतोभद्रिका मे क्रमश: आदिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ एवं वर्द्धमान महावीर स्वामी अपने ध्वज लाछन क्रमश: नन्दी, शख, सर्प एवं सिंह सहित अंकित है। सभी के वितान मे छत्र, दुन्दभिक मालाधारी विद्याधर युगल, चारो ओर चावरधारी पादपीठ पर चारो ओर विपरीत दिशा मे मुख किये सिंह, पादपीठ के नीचे चारो ओर ५-५ कुल २० सेवक अजलीबद्ध अंकित है। नीचे की कीर्तिमुख अलकरण बने हुये हैं। ८५×४५×४५ सें० मी० आकार की प्रतिमा लाल बलुआ पत्थर पर निर्मित है, कालक्रम की दृष्टि से मूर्ति १०वी शती ईस्वी की है।

ब्रैंकट विद्या सदन रीवा से प्राप्त ११वी शती ईस्वी की सर्वतोभद्रिका (स० क्र० ४०२ प्रतिमा मे मंदिर शिखर आकृति निर्मित है जिसके ऊपर दो कलश है। चारो ओर क्रमश. तीर्थंन्कर आदिनाथ, अजितनाथ, पार्श्वनाथ एव नेमिनाथ का अकन है[3]। चारो ओर वितान मे मालाधारी विद्याधर, त्रिछत्र का अकन है। उनके ऊपर चारो ओर चार-चार जिन प्रतिमाएँ अकित है। पार्श्व मे चारो ओर चावरधारी एव पादपीठ पर प्रत्येक ओर विपरीत दिशा मे मुख किये सिंह मध्य मे चक्र पादपीठ पर एक पार्श्व मे, क्रमश: यक्षणी चक्रेश्वरी, रोहिणी, पद्मावती एव अम्बिका अंकित है। दूसरे पार्श्व में उपासिकाएँ अकित है। लाल बलुआ पत्थर पर निर्मित। २०×५२×५२ सें० मी० आकार की प्रतिमा कलचुरी कालीन कला की उत्कृष्ट कृति है।

ब्रैंकट विद्या सदन रीवा से ही प्राप्त एक खण्डित स्तम्भ खण्ड पर (स० क्र० ४७४) चारों ओर कायोत्सर्ग मुद्रा मे तीर्थंन्कर अकित है। सभी तीर्थंन्करो के नीचे से पैर व मुंह के चेहरे पूर्णत: भग्न हो चुके है। सभी के कानों मे लम्ब कर्णचाप एव वक्ष पर श्रीवत्स चिन्ह का आलेखन है। प्रत्येक तीर्थंन्कर के पार्श्व मे प्रत्येक ओर खण्डित अवस्था मे चावरधारिणो का अकन है। ऊपर त्रिछत्र की आकृति का लघुशिखर बना हुआ है। प्रतिमा काफी खण्डित होने के कारण तीर्थंन्करों को पहिचाना नही जा सकता, परन्तु यह स्पष्ट है कि ये चारों प्रतिमाएँ एक ही तीर्थंन्कर से संबधित होगी। क्योकि इसमे आदिनाथ एव पार्श्वनाथ का अकन नही है। इन दोनो तीर्थंन्करो का अलग-अलग तीर्थंन्कर प्रतिमा होने पर अकन होना अनिवार्य होता है। प्रतिमा काफी भग्न अवस्था मे हैं। परन्तु निर्मित के समय अवश्य ही सुन्दर रही होगी। ६०×२५×२० सें० मी० आकार की बलुआ पत्थर पर निर्मित प्रतिमा १२वीं शती ईस्वी की है।

---

१. तिवारी मारुती नन्दन प्रसाद, "जैन प्रतिमा विज्ञान" वाराणसी १९८१ पृ० १४८। २. वही पृष्ठ १४९।
३. दीक्षित स० का० राजकीय सग्रहालय, धुबेला, की मार्गदर्शिका, भोपाल, संवत् २०१५, पृ० १२।

चिंतवन के लिए :

आत्मोपलब्धि का मार्ग : अपरिग्रह

☐ पद्मचन्द्र शास्त्री 'संपादक'

आगम में निर्देश है कि चारित्रवान् ज्ञाता ही किसी को ज्ञान देने का अधिकारी है। फलतः—आत्मा के विषय मे सच्चारित्री आत्म-ज्ञाता ही आत्म-बोध कराने में समर्थ है। पर, आज चारित्र की उपेक्षा कर आत्मा की चर्चा करने वाले कई लोग आत्मा से अनभिज्ञ होने पर भी लोगों को, आत्मा को दर्शाने के भ्रमजाल में फँसा आचार्य कुन्दकुन्द और उनकी वाणी का उपहास कर रहे है। कुन्दकुन्द कहते हैं—

"अप्पाणमयाणतो अणप्पय चावि सो अयाणंतो।
कह होइ सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणतो॥"

भला जिन जीवों को बाह्य-ज्ञानेन्द्रियों से प्रतिभासित होने वाले नश्वर पदार्थों की पहिचान तक नही हो पा रही हो, जो स्वयं नश्वर के सग्रह मे लगे हो, धन-सपदा, स्त्री-पुत्रादि मे राग-भाव के पुंज हो, वे पर को क्या आत्म-दर्शन कराएँगे? कहा भी है—'परमाणु मित्तय वि हु रागादीण दु विज्जदे जस्स। णवि सो जाणदि अप्पा-णयं दु सव्व गमधरो वि॥'

जिसके लेशमात्र भी अज्ञानमय रागादि भाव है वह जीव कितना भी ज्ञानी हो तो भी आत्मा को नही जानता और अनात्मा को भी नहीं जानता—ऐसे मे वह सम्यग्दृष्टी कैसे हो सकता है? और जब वह सम्यग्दृष्टी नहीं हो सकता तब उसे आत्मा के उपदेश देने का अधिकार भी कहाँ? आत्मा तो इन्द्रियज्ञानातीत और अरूपी है, उसके ज्ञान की कथा तो छोड़िए, बहिरंग-दृष्टि तो बाह्य-विषयों की पहिचान मे भी गुमराह हुए हैं।

कुछ लोग 'अहिंसा परमो धर्मः' का नारा जरूर देते हैं पर, दर-असल वे उसके स्वरूप से स्वय भी गुमराह हैं क्या, कभी सोचा आपने कि अहिंसादि पांच व्रतो और अव्रतो में उनके स्व-स्वलक्षणों के परिप्रेक्ष्य मे आदि के चार (अहिंसा-हिंसा, सत्य-असत्य, अचौर्य-चौर्य, ब्रह्मचर्य-अब्रह्म) पर-सापेक्षी और व्यवहारिक है। क्योंकि इन चारों मे प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्षरूप मे पर-विकल्प अथवा पर—प्रमाद की उपस्थिति-अनुपस्थिति परम आवश्यक है। जब तक पर-पदार्थ या पर-भाव या विकल्प नही होगा तब तक हिंसा-अहिंसा, झूंठ-सत्य, चौर्य-अचौर्य, अब्रह्म-ब्रह्म किसी की सम्भावना फलित न होगी। अर्थात् हिंस्य (पर) के होने पर ही हिंसक और हिंसा आदि के भाव फलित होगे—हिंस्य (पर) के अभाव मे न हिंसक होगा और न हिंसा होगी, आदि। और उक्त प्रक्रिया द्रव्य और भाव दोनो रूपो मे पाप पुण्यो के लिए लागू होती है। और ऐसी स्थिति मे उक्त चारो प्रकार पुण्य-पाप पर-सापेक्षी होने से स्व-स्वाभाविक धर्म नही हो सकते। हाँ, अपरिग्रह धर्म ऐसा धर्म है जो स्व-सापेक्ष व पर-निरपेक्ष है—यदि अपरिग्रह होगा तो स्व-एकाकी होने मे ही।

फलतः—स्वाश्रित होने से अपरिग्रह आत्म-धर्म है और पराश्रित होने से अहिंसादि चारो धर्म लौकिक-व्यवहार हैं। यदि आत्मार्थी अपरिग्रह की ओर बढ़ता है तो वह मार्ग पर है और यदि परिग्रह की ओर बढ़ते हुए आत्मा की चर्चा करता है तो वह अमार्ग पर है। बड़ा अटपटा लगता है जब कोई व्यक्ति बात तो शुद्धात्मा की करता है और शुद्धात्मा के स्वाश्रित मार्ग परिग्रहपरि-माण या अपरिग्रह की उपेक्षा कर परिग्रह के संचय मे जुटा रहता है।

आगम मे हिंसा के चार भेद कहे हैं और वे हैं—सकल्पी हिंसा, आरम्भी हिंसा, उद्योगी हिंसा, विरोधी हिंसा। उक्त भेदो के अनुसार अहिंसा के भी चार भेद ठहरते हैं और सभी पर-सापेक्ष ही है—सभी पर-के सद्-भाव में और पर के प्रति प्रयुक्त होगे, फिर चाहे वह हिंसा द्रव्य-रूप में हो या भाव-रूप मे। कही भी ऐसा दृष्टि-

गोचर नहीं होता कि उक्त चारों स्वापेक्ष हों। भावो मे भी जब प्रमत्तयोग (जो पर है) होगा तभी हिंसादि पाप फलित होंगे और जब प्रमत्तयोग का अभाव होगा तब अहिंसादि रूप फलेंगे। और ये भी सभी जानते हैं कि प्रमादों की गणना परिग्रह में की गई है—हिंसा आदि में नहीं। अतः ऐसा स्पष्ट है कि हिंसादि जब भी होंगे सदा परिग्रह (प्रमाद) के योग मे होंगे और अहिंसादि जब भी होंगे परिग्रह (प्रमाद) के अभाव में होंगे। अतः पापों का मूल परिग्रह है—फलतः, जैनों का ध्यान परिग्रह के सीमित करने और क्रमशः उसके पूर्ण त्याग की ओर जाना चाहिए। यही एक मार्ग है जो आत्म-दर्शन तक ले जा सकता है। शेष व्रत मोक्षमार्ग मे उपकारी तो हैं किन्तु परिग्रह को आत्मसात् करके नही।

जो लोग कहते है कि 'अप्रादुर्भाव खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति' के परिप्रेक्ष्य में रागादि के अभाव (अपरिग्रह) और अहिंसा दोनो मे भेद नही है, आदि। ऐसे लोगो को विचारना चाहिए कि यदि अहिंसा और अपरिग्रह दोनों में अभेद ही था तो आचार्यों ने दोनों की गणना पृथक्-पृथक् रूप मे क्यों की? क्या पाप पाँच न होकर चार ही है या अणुव्रत, महाव्रत पाँच न होकर चार ही है? ऐसे मे तो साधु के २८ मूलगुण भी घट कर २७ ही रह जायेंगे : फलतः—ऐसा ही श्रद्धान करना चाहिए कि 'सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं', 'धर्मस्य तत्त्व निहितं गुहायां' या 'नान्यथावादिनो जिनः।'

फलतः हमें उपदिष्ट तत्त्व के सभाल की व्यवस्था मे पांचो पापों को भेद रूप ही स्वीकार करना चाहिए। जहाँ आचार्यों ने रागादि के अभाव को अहिंसा कहा है वहाँ 'अन्नं वै प्राण' की भांति कारण मे कार्य का उपचार करके कथन किया है—वास्तव मे अपरिग्रह और अहिंसा दोनों पृथक्-पृथक् ही हैं और उन दोनो में या सभी व्रतों में अपरिग्रह मूल और मुख्य है। और अपरिग्रह के होते ही सर्वपाप स्वयमेव उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश मे अन्धकार।

स्मरण रखना चाहिए कि जैनधर्म में निहित सभी विधि-विधान और क्रियाकाण्डों के मूल में अनुक्रम से वीतरागता और मुक्ति-प्राप्ति का लक्ष्य निहित है। देव-शास्त्र गुरु आदि की पूजाओं में जो द्रव्य विसर्जित किए जाते हैं, उनमे भी स्पष्टतः 'जन्म-जरा-मृत्युविनाशनाय', मोक्षफल-प्राप्तये' आदि जैसे निर्देश है। कहीं भी परिग्रह और सांसारिक सुख-प्राप्ति की कामना की झलक नही है।

खेद की बात है कि परिग्रहियो ने इस पवित्र मार्ग को भी दूषित किया है और उन्होंने इतनी ज्यादती कर दी है कि अपनी सांसारिक स्वार्थपूर्ति के लिए परिग्रही और असंयमी देवी-देवताओं तक को भ० पार्श्वनाथ की वीतराग प्रतिमा से जोड़ रखा है। जो धरणेन्द्र, पद्मावती अपने पूर्व-भव के उपकारों का प्रत्युपकार करने भगवान की मुनि अवस्था में आए—उन्हे इन्होने अर्हन्त भगवान की वीतराग मुद्रा तक से जोड़ लिया और उन्हे फण के रूप मे भगवान के सिर पर बिठा दिया है। इनकी अज्ञानता की हद हो गई। ठीक ही है—परिग्रह की कामना प्राणी से कौन-सा घिनौना काम तक नही करा लेती? अर्थात् सभी कुछ करा सकती है। परिग्रह कामना ने इन्हें भिखारी तक बना दिया।

एक बार स्व० बैरिस्टर चम्पतराय जी ने कहा था—"जैन मन्दिरों में भिक्षा माँगने की जरूरत नहीं है, जैन मन्दिर भिखारियों के लिए नहीं है। जो मोक्षाभिलाषी हों—निर्ग्रन्थ होना चाहते हों, उन्हीं के लिए जैन मन्दिर लाभकारी हैं।

लेकिन आज इस कथन से प्रायः विपरीत देखने में आ रहा है। आज कई मन्दिरों मे ऐसे भिखारियो की भी भीड़ लगी रहती है, जो वीतराग देव की उपासना मे कम और कुदेवो की उपासना कक्ष मे अधिक इकट्ठे होते रहते हैं। यह सब इनकी परिग्रह लालसा का ही परिणाम है। यदि इनकी तनिक भी श्रद्धा वीतराग और वीतरागता पर हो तो ये इधर झांके भी नही। अपितु,

आश्चर्य यह है कि ये सभी लोग पुण्य-पाप और प्रारब्ध को मान रहे है और कह रहे हैं कि भाग्य को कोई मेट नही सकता, पाप कर्मों की निर्जरा तो वीतराग-परिणति से ही होगी आदि; फिर भी ये सरागता की ओर दौड़ लगा रहे हैं? धन-वैभव के भिखारी बने हुए हैं। स्वामी समन्तभद्र कहते हैं—

'यदि पाप निरोधोऽस्त्यन्य संपदा किं प्रयोजनम्।

अथ पापास्रवोऽस्त्यन्य संपदा किं प्रयोजम् ॥'

यदि पाप का उदय है तो संचित संपदा भी चली जायगी, और यदि पुण्य का उदय है तो स्वयमेव आ जायगी।

हमें याद है, वर्षों पहिले जब हम दिल्ली नही आए थे, बनारस मे पं० अभयचद जी विदिशा वालो ने एक सेठ जी और एक पंडित जी की वार्ता सुनाई थी। तब सस्ता जमाना था—किसी के पास २५-३० हजार रुपये हो जाना बड़ी बात थी और ऐसा आदमी बहुत बड़ा सेठ समझा जाता था। ऐसे ही गरीबी की हालत से उठे, चिर-परिचित सेठ जी से एक पडित जी ने पूछा—सेठ जी, कुशल तो है?

सेठ जी बोले—भगवान की कृपा है, आप तो जानते ही हैं कि हमारी क्या दशा थी? आज पेट भर लिया तो कल की फिकर रहती थी—अब सब मोज है।

पडित जी बोले—अब तो आप मजे में हैं—सब चिन्ताओं से मुक्त। मौज किए जाइए और भगवान का भजन।

सेठ जी ने कहा—पंडित जी, अब तो केवल एक ही चिंता रहती है कि कदाचित् यह लक्ष्मी रुष्ट होकर हमे छोड़ न जाय, हम इसे रखते तो सभाल कर कलेजे से लगा कर है।

पडित जी बोले—सेठ जी, एक दिन तो इसका वियोग होना ही है। यदि लक्ष्मी आपको छोड़कर न जायगी तो आप ही इसे छोड़कर चले जाएँगे—संसार की ऐसी ही रीति है। फिर भी आप चिंतित न हो—इसका उपयोग दान-पुण्य मे करें, आपको परलोक मे मिल जायगी।

सेठ जी बोले—बात तो ठीक है, पर आप पात्र तो बताइए जिसे हम लक्ष्मी देते रहें।

पडित जी ने कहा—पात्र तो आपको ही खोजना पड़ेगा, सो खोजिए। आपको जरूरतमन्द काफी लोग मिल जाएँगे। बात आई गई हो गई और दोनों अपने-अपने स्थान को चले गये। १५-२० दिनो के बाद सेठ जी उन पंडित जी के पास पहुचे और बोले—

पंडित जी, मैंने लक्ष्मी के दान करने योग्य तीन-चार पात्र चुने हैं, उनमे आपका नाम प्रथम है। सो आप से ही श्रीगणेश कीजिए और बोलिए आपको भेंट में कितना रुपया दे दूं? मुझे विश्वास है कि आप इन्कार न करेंगे।

पंडित जी ने कहा—सेठ जी, आपने भली बिचारी—आपको बहुत-बहुत धन्यवाद। पर, मेरी मजबूरी यह है कि मेरे पास लक्ष्मी का गुजारा नही हो पाएगा। क्योंकि मेरे पास तो लक्ष्मी की सौत सरस्वती है और दोनों के एक साथ रहने मे विसंवाद है। दूसरी बात, मैं सरस्वती को छोड़ नही सकता। यह तो निश्चित है कि लक्ष्मी के आ जाने पर मैं स्वभावतः ज्ञान-धर्म को भुला बैठूंगा—तृष्णा बढ़ती रहेगी और लक्ष्मी मुझे संसार वासना मे फँसा देगी—मैं मद में लीन हो जाऊँगा। अतः मेरे विचार से तो जो पंडित होगा वह परिग्रह रूप लक्ष्मी का संचय नही करेगा और जो संचित करेगा उसकी पंडिताई में बट्टा लगेगा। फलतः—पंडित को सन्तोषी और अभावग्रस्त रहने का प्रयत्न करना चाहिए और सेठों को चाहिए कि वे पंडित की इतनी भावना को पूरा करते रहें कि—

'सांई इतना दीजिए, जामें कुटुम्ब समाय।
मैं भी भूखा न रहूँ, अतिथि न भूखा जाय॥'

और वे ध्यान रखें तो उनका भला, न रखें तो उनका भाग्य। पंडित को तो सदा निःस्पृहता की ओर बढ़ना चाहिए।

उक्त परिग्रह का प्रसग हमे पर्याप्त शिक्षा देता है। परिग्रह हमें धर्म-कर्म से भ्रष्ट कराता है। तीर्थंकर आदि महापुरुषो ने इससे विरक्ति ली तब आत्मा मे रह सके और आत्मा मे रहना ही धर्म है। बिना परिग्रह की तृष्णा के त्याग के आत्मा के गीत गाते रहना—स्वयं को और लोगों को धोखा देना है। इसे खूब विचारें और अपरिग्रह को प्रमुखता दे, जैनत्व को बचाएँ। अपरिग्रह वृत्ति के बिना जैन का रचना असम्भव है। जितने जिन हुए सभी अपरिग्रह से हुए और उनका प्रचारित धर्म भी अपरिग्रह में ही पनप सकेगा। फलतः—मोक्षेच्छु श्रावक को परिग्रह-परिमाण और मुनि को निष्कलक अपरिग्रह को अपनाना चाहिए। □□

जरा-सोचिए !

जैनाचार और विद्वान् :

कोई समय था जब जैन-संस्कारो की अपनी अलग छाप होती थी, उसमे पले-पुसे और बडे हुए व्यक्ति के आचार-विचार से लोग सहज ही जान लेते थे कि अमुक व्यक्ति जैन है। जैन में सादगी, सन्तोष, दयालुता, सत्यवादिता आदि गुण स्वाभाविक स्थान बनाए रखते थे। धार्मिक आचार-विचार मे उसे नित्य देव-दर्शन करने व छना पानी पीने का नियम होता था। उसे रात्रि भोजन, अभक्ष्य-कन्दमूलादि भक्षण व मद्य-मांस-मधु और सप्त व्यसनों का पूर्ण त्याग विरासत मे मिला होता था। जैन अपनी प्रामाणिकता के लिए प्रसिद्ध था। इसलिए उसे राज दरबार और राजकीय विभागों में पूर्ण सम्मान मिलता था। बड़े-बडे प्रतिष्ठित पदों पर सहज ही उसकी नियुक्ति होती थी। न्यायालय मे जैन की गवाही को सच माना जाता था। कोई भी जैन किसी अपराधी-सूची मे दिखाई नही देता था। उक्त सब गुणों के होने मे मूल-कारण जैनों, के संस्कार थे। जैन बालक को जन्म से ही स्वस्थ-सात्विक वातावरण मिलता था और उसकी शिक्षा भी स्वस्थ होती थी।

सामाजिक व्यवस्था में मुखिया या पच के चुनाव के लिए सर्वसाधारण के हाथ नही उठवाये जाते थे। अपितु पक्षपात रहित विश्वस्त कुछ प्रामाणिक पुरुष ही किसी प्रामाणिक योग्य पुरुष को बड़े पद पर बिठाने का अधिकार रखते थे। पूरा ध्यान रखा जाता था कि चुनाव बहु-सम्मत न होकर सर्व-सम्मत हो। सभी अवस्थाओ मे सर-पच या मुखिया का निर्णय मान्य होता था। लोगों मे विनम्रता, और आंखो मे लिहाज था। सामाजिक व्यवस्था का पूरा ध्यान रखा जाता था कि कोई व्यक्ति अभाव-पीड़ित न होने पाए या कोई न्याय नीतिमार्ग से च्युत न हो जाय। अवसर आने पर सभी लोग मिल-जुल कर अभाव-ग्रस्त की सहायता करते थे और मौन-रूप से उसके बोझ को अपने कन्धों पर उठा लेते थे। यही कारण था कि उनमें परस्पर गाढ सौहार्द्र था।

धार्मिक क्षेत्र मे सभी का सहयोग रहता था। विशेष धार्मिक अवसरों पर समाज के सभी पुरुष आबाल वृद्ध उत्सव, पूजन, विधान आदि मे सम-रूपसे सम्मिलित होकर धर्म लाभ लेते थे और मुनिराज, व्रती, त्यागी तथा विद्वानो की पूर्ण-सेवा भक्ति करते थे—उनकी वैयावृत्ति करते थे—आहारादि देने में सावधान रहते थे। उनका उपदेश सुनते थे—उनसे व्रत-नियम आदि स्वीकार करके अपना जन्म सफल करते थे। इस भांति सभी प्रकार की वैयक्तिक धार्मिक व सामाजिक व्यवस्थाएँ सुव्यवस्थित चलती थी—धर्म की बढवारी होती थी। लोग यथाशक्ति धर्म ग्रन्थों का स्वाध्याय करते थे, उनमे कई तो धर्म-विषय के निष्णात विद्वान तक बन जाते थे। ऐसे विद्वानो से धर्म प्रभावना होती थी और लोगों के धार्मिक सस्कार भी दृढ करने में सहायता मिलती थी। गुरू गोपालदास बरैया और उनके शिष्यगण इसी श्रेणी मे थे।

कालान्तर में जब इधर ज्ञानी मुनिजनों और विद्वानों का अभाव सा होने लगा तब लोगो मे धर्म के प्रति शिथिलता परिलक्षित होने लगी और इस बीसवी सदी के प्रारम्भ में पूज्य पं० गणेश प्रसाद जी वर्णी आदि ने स्थान स्थान पर पाठशालाएं और विद्यालयो के खुलवाने का यत्न किया और दर्जनो की नीव रखवाई। छोटी स्थानीय पाठशालायें कई स्थानों पर पहिले भी चलती थी उनमें ऊँची पढ़ाई न कराकर बच्चो को सुसंस्कृत बनाया जाता था। बड़े विद्यालयों के खुलने से ऊँची धार्मिक पढ़ाई की व्यवस्था बन गई लोग विद्वान बनने लगे।

शिक्षा संस्थाओ की स्थापनायें करते समय सस्थापकों को यह तनिक ख्याल भी न आया होगा कि वर्तमान का विद्यार्थी भविष्य मे धार्मिक विद्वान बनकर दर-दर के याचकों जैसा जीवन व्यतीत करने को मजबूर होगा। वे तो अनुभव करते थे कि ज्ञान का प्रचार-प्रसार स्व-पर

दोनो को हितकारी होगा—वह ज्ञानी बनकर ज्ञान के बल पर सदा सिर-मौर बना रहेगा। वे नहीं जानते थे कि ज्ञानी में भी कायरता का संचार होगा और वह इधर से उदास हो जाएगा। और समाज भी धर्म-सेवा के प्रति दगाबाज निकलेगा। इसे समाज का दुर्भाग्य ही कहा जाएगा जो उक्त परिस्थिति ने विद्यार्थियों को धर्म शिक्षा से उदास कर पाश्चात्य की ओर मोड़ दिया और विद्यालय ठप्प हो गए। इस प्रकार धर्म और समाज दोनो को हानि का सामना करना पड़ा। कालेजो की शिक्षा के फल-स्वरूप डॉ० व प्रोफेसर आदि आर्थिक दृष्टि से तो मौज मे है पर, उनका धार्मिक सस्कारों व समाज से उतना लगाव नही रहा जितना चाहिए। उनमे जो कुछ थोड़ा बहुत सपर्क समाज से रखे हुए हैं उनमें अधिकाश तो लौकिकता का निर्वाह ही कर रहे हैं या समाज मे उनकी उपेक्षा है।

इस प्रकार समाज अपने में खपने वाले सच्चरित्र, धर्मज्ञ विद्वानों से दिनो दिन शून्य होता जा रहा है। समाज को चाहिए कि वह विद्वानो के लिए नही तो कम से कम धर्म और संस्कारो की रक्षा के लिए ही विद्वान तैयार करे। लेकिन शर्त यह है कि ठोस विद्वान सम्मान से जी कर ही समाज मे खप सकेगा। आज कल विद्वानों के लिए समाज मे चिन्ता व्याप्त है, इस लिए कुछ लिख दिया है। उचित हो तो समाज को इस समस्या के सुलझाने मे प्रयत्नशील होना चाहिए।

स्वागत की विडम्बना :

स्वागत शब्द बड़ा प्यारा है। ऐसे विरले ही व्यक्ति होगे जो स्वागत के नाम से खुश न होते हों, मन ही मन जिनके मनो मे गुदगुदी न उठती हो। प्रायः सभी को इसमें खुशी होती होगी—भले ही दूसरों का स्वागत होते देख कम और अपना होने पर अधिक। स्वागत अब लोक-व्यवहार जैसा बन गया है जो नेता, अभिनेता या अन्य जनो के उत्साह बढाने के लिए, उनसे कोई कार्य साधने के लिए भी निभाया-सा जाने लगा हैं। खैर, जो भी हो परम्परा चल पड़ी है—कोई स्वागत न भी करना चाहे तो उससे स्वागत कराने की गोटी बिठाने की। लोग गोटी बिठाए जाते हैं—कभी न कभी तो सफलता मिल ही जाती है और यदि न मिली तो मिल जायगी।

बड़प्पन का भाव व्यक्ति का स्वभाव-सा बन गया है। लोगों का बड़प्पन साधने के लिए जन-सभाओ में ऊँचे मच बनाए जाते है—नेताओं को बड़प्पन देने के लिए, मचों पर स्वय बैठकर अपना बड़प्पन दिखाने के लिए भी। आखिर, मच निर्माता इसी बहाने ऊँचे क्यों न बैठे? या अपने सहकर्मियो को ऊँचा क्यो न बिठाए? आखिर वे यह जो न कह बैठे कि बड़ा आया अपने को ऊँचा बिठा लिया, आदि। सो सब मिल बाँट कर श्रेय लेते है। किसी को कोई एतराज नही होता। आखिर, होते तो सभी एक थैली के चट्टे-बट्टे जैसे ही है।

हमने कई सभाओ मे आँखों से भी देखा है—स्टेज पर अपनो मे अपनो से एक दूसरे को माला पहिनते पहिनाते, पहिनवाते हुए। और लोग है कि नीचे बैठे इस ड्रामे को देख खुश होते—ताली बजाते नही अघाते—जैसे वे किसी लका को विजय होते देख रहे हो। पर, हम नही समझ पाए कि इस व्यर्थ की उठा-धरी से क्या कोई लाभ होता है?—केवल समय की बरबादी के।

उस दिन क्षमावणी पर्व था। हमें एक क्षमा-उत्सव मे जाने का प्रसग था सो हम गए। वहाँ लम्बा-चौड़ा ऊँचा स्टेज था जो हमारे पहुचने से पहिले ही लोगो से भर चुका था। हम जाकर सहज ही (जैसा हमारा स्वभाव है) जनता के साथ नीचे बैठ गये। उत्सव के तत्कालीन प्रबन्धक कई नेताओ ने आग्रह किया—कई ने हमारे हाथो को पकड़ कर हमे उठाने का प्रयत्न भी किया—ऊपर मच पर बिठाने के लिए। पर हम थे कि टस से मस न हुए और नीचे ही बैठे रहे।

मंगलाचरण और बालिकाओं द्वारा स्वागत गान गाने के पश्चात् मच पर विराजित कई लोगो को मालायें पहिनाने का क्रम चालू हुआ। अमुक ने अमुक को और अमुक ने अमुक को मालायें पहिनाई। तत्पश्चात् बोलने मे हमारा नाम पहिले पुकारा गया।

हमने कहा—कैसा पागलपन चल पड़ा है लोगो में 'परस्परं प्रशसन्ति' का। आपस मे इकट्ठे होते हैं किसी कार्य को और समय बरवाद कर देते हैं किन्ही अन्य कार्यों

में—माला आदि पहिना कर एक दूसरे का गुणगान करने में। इकट्ठे हुए क्षमावणी मनाने—परस्पर मे एक दूसरे से क्षमा याचना के लिए। पर स्वय ऊँचे बैठ गए और हमे भी ऊँचे बिठाने के आग्रह मे पड गए। भला, सोचा कभी आपने कि क्षमा अपने को ऊँचा दिखाकर-बनाकर या ऊँचे बैठकर मागी जाती है या नीचा (नम्र) बनकर? हम तो क्षमा मागने आये है—धार्मिक उत्सव मे आये है—समानता के भाव मे। इसमे तो सभी बराबर होते है या नम्र-भाव में नीचे? पर, जब नेता तक स्वागत की विडम्बना में पड उल्टा मार्ग अपना बैठे हो तब जन-साधारण क्या करे? धार्मिक समारोहो में त्यागी-व्रतियो को तो उच्चासन उचित है, माला आदि वर्ज्य होना युक्तियुक्त है। जबकि आज धर्म मे साधारण भी माला और उच्चासन के योग्य समझे जाने लगे है। तथ्य क्या है? जरा सोचिए।

नाम की महिमा आचार से है:

लोग रामनामी दुपट्टे को ओढते है ताकि दूसरे उसे पढे और उसके बहाने उनके मुख से राम का नाम निकले। लोगो का श्रद्धान है कि राम का नाम लेने से वैकुण्ठ का टिकिट मिल जाता है—वहा सीट रिजर्व हो जाती है। महाकवि तुलसीदास ने तो यहाँ तक कह दिया कि—

'तुलसी अपने राम को, रीझ भजो या खीझ।
खेत पडा सब ऊगता, उल्टा सीधा बीज॥'

हम यह भी जानते है कि लगातार शीघ्रता मे उच्चारण करने मे राम और मरा दोनो मे अभेद भी हो जाता है और लोक मरा के नाम से भयभीत होता है। पर, श्रद्धा ऐसी जमी हुई है कि लोग उसी को ठीक समझते है और उनके मन मे राम नाम की महिमा समाई हुई है।

जैन मत मे नाम की महिमा तो है, पर वह गुणो के स्मरण से जुडी हुई है। णमो अरहताणं बोलने का उतना महत्त्व नही जितना उस उच्चारण के साथ उनमे विद्यमान गुणो के स्मरण—वीतरागभाव के चिन्तवन का। यदि इन दोनो के साथ उनके गुणानुरूप आचरण भी हो तब तो 'सोने मे सुहागा' चरितार्थ हो जाय। इसी बात को ध्यान मे रखकर 'सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' सूत्र भी है।

आज लोग केवल नाम के पीछे पडे है। उन्होने नाम की रटन लगा रखी है—रामनामी दुपट्टे की तरह। कही ऋषभ का नाम प्रचारित करेगे, कही महावीर की जय बोलेंगे और कही कुन्दकुन्द के नाम की झडी लगा देगे। लोगो ने कुन्दकुन्द के नाम की धूम मचा दी, देश मे चारो ओर उनकी जय-जयकार करने की—उनके ग्रन्थों की भांति-भांति की व्याख्याएँ कर अपने मन्तव्य प्रचारित करने की—अपने नाम के लिए। शायद कइयो को इससे अच्छा अवसर और कौन-सा होगा नाम कमाने का? पर, इसके साथ ऐसे कितने है जिन्होंने कुन्दकुन्द के बताए आचार का सहस्राश भी पालन किया हो—कुन्दकुन्दवत् अन्तरग-बहिरग परिग्रह का त्याग किया हो।

गत दिनो एक विद्वान ने हमे प्रेरणा दी और हमसे अपेक्षा की कि हम अपनी प्रतिभा का उपयोग प्राचीन ग्रन्थो के सम्पादन, अनुवाद आदि मे करे। भला, जब हम अकिंचन हैं तब जिनवाणी को पण्डितवाणी बनाने का दुसाहस और पाप क्यो करे? फिर हमे नाम, यश अथवा अनुवादादि द्वारा अर्थ अर्जन करने-कराने मे आगम ज्ञान का उपयोग भी इष्ट नही। सबसे बडी बात तो यह है कि जब हम पूर्वाचार्यों की अपेक्षा उनके सहस्राश भी ज्ञान नही रखते, तब उनकी कृतियो की व्याख्या-अनुवादादि लिखना—उन्हे दूषित करना ही होगा—उनसे अधिक ज्ञाता लिखे तो लिखे। हाँ, हम अपनी समझ से मौखिक खुलासा तो कर सकते है ताकि वह रिकार्ड न बने। आश्चर्य है कि लोग अपने को आगम-ज्ञाता मान उनके अनुसार स्वय तो न चले और उनकी व्याख्या या अनुवाद कर दूसरो को चलने का मार्ग बताए और यश, अर्थार्जन तथा नाम कमाने की होड़ मे कुन्दकुन्दादि के नाम को उछाल जिनवाणी को भी विरूप करे। स्मरण रहे—उद्धार नाम से नही, आचार और परिग्रह त्याग से हो सकेगा। जरा सोचिए।

—सम्पादक

कागज प्राप्ति :—श्रीमती अंगूरी देवी जैन (धर्मपत्नी श्री शान्तिलाल जैन कागजी) नई दिल्ली-२ के सौजन्य से

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थो की प्रशस्तियों का मगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलकृत, सजिल्द। ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियो का महत्त्वपूर्ण सग्रह। ५५ ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टो सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, प० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ सख्या ७४, सजिल्द। ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक प हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टो और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २५-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक प० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : स० प० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, सात विषयों पर शास्त्रीय तर्कपूर्ण विवेचन २-००

Jaina Bibliography : Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References) In two Vol. (P. 1942) Per set 600-00

सम्पादन परामर्शदाता **श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन**, सम्पादक : **श्री पद्मचन्द्र शास्त्री**
प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीरसेवामन्दिर के लिए मुद्रित, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५३

BOOK-POST

—पत्रिका—

वीर सेवा मन्दिरका त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ४३ : कि० ४ अक्टूबर-दिसम्बर १९९०

इस अंक में—

प्रकाशक :

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

पंचकल्याणक-प्रतिष्ठाएँ

—पत्र मिला है कि पंचकल्याणकों की बहुतायत और उनमें धाँधली क्यों ? इस विषय पर हम कुछ लिखें। सो हमारी दृष्टि से पंचकल्याणकों की परम्परा शास्त्र-सम्मत और पुरानी है और स्थापना-निक्षेप से उचित है। प्रतिष्ठित मूर्ति को निमित्त बनाकर मूर्तिमान के गुणों के चिंतन में सहायता मिलती है, इसके सहारे स्व में आया जा सकता है, यह सब व्यवहार है। जब तक सांसारिक प्रवृत्ति है तब तक व्यवहार है— इसे छोड़ा नही जा सकता। यही कारण है कि संसारी होने से ही बाह्य में निश्चय के गीत गाने वाले भी इससे अछूते नहीं बचे। वे प्रारम्भ से ही निश्चय स्वरूप में रमण के बजाय पूर्णरूप से व्यवहार में फँस बैठे और "निमित्त को जुटाना नहीं पड़ता, निमित्त को बलात् स्वयं उपस्थित होना पड़ता है, आदि।" उनके कथन कोरे कथन-मात्र रह गये। फलतः मंदिर व मूर्ति निर्माण तथा पंचकल्याणकों जैसे व्यवहार ने उन पर भी सिक्का जमा लिया भले ही वह लोगों के आकर्षण या अर्थ-अर्जन में रहा हो। आत्मा को दिखाने के गीत गाने वालों द्वारा ऐसे व्यवहार में आना शायद शुभचिह्न हो सकता है, यदि कार्य शुद्ध भावना से और द्रव्य से अछूता रहकर किया जाय तो। यह तो निश्चय है कि व्यवहार के बिना किसी का ज्ञान नहीं। संसार में व्यवहार को जुटाना और निभाना पड़ेगा। पंचकल्याणक प्रथा भी व्यवहार है और इसका भी विरोध क्यों ? विरोध तो आत्म-दर्शन के नाम पर परिग्रह सचय करने वालों और परिग्रह को कसकर पकड़े बैठे आत्मदृष्टाओं का होना चाहिए, जो चारित्र से मुख मोड़े बैठे हैं।

हां, विरोध तब भी होना चाहिए जब पंचकल्याणकों की आड़ में धनादि संग्रह के लिए चन्दा और बोलियों की दूषित मनोवृत्ति हो। भय है कि द्रव्य-संचय की ऐसी परम्परा कहीं भविष्य में तीर्थंकरों के कल्याणकों के स्थान पर, मात्र पंचों (आयोजकों) के कल्याण-कर्तत्व का स्थान ही न ले बैठे ? क्योंकि आज की अधिकांश प्रतिष्ठाएँ किसी एक व्यक्ति की त्याग और धार्मिक भावना में, मात्र उसी के द्रव्य से संपन्न नही होतीं परिग्रह घटाने के भाव में नही होतीं। अपितु खर्च निकाल कर, बचत के भाव में सामूहिक रूप में होती है। प्रतिष्ठाओं में होने वाली अनेकों बोलियां इसी का प्रतिफल हैं। ऐसी प्रथाएँ धार्मिक क्रियाओं को भी द्रव्याश्रित कर बैठीं और जिससे साधारण मनुष्यों को अभिषेक आदि से भी वंचित रहना पड़ा।

हमारे कथन से एकान्त रूप में यह न समझ लिया जाय कि सामूहिक आर्थिक सहयोग से होने वाली प्रतिष्ठाओं के हम पूर्ण विरोधी हैं। जहां प्राचीन सांस्कृतिक धरोहरों की रक्षा का प्रश्न है, वहाँ हम इसके समर्थक है। क्योंकि ऐसे महान व्ययसाध्य कार्य किसी एक व्यक्ति के वश में नहीं। जैसे बावनगजा के उद्धार, देवगढ़-मूर्ति उद्धार के कार्य, जिनके प्रेरणास्रोत वर्तमान के आचार्य श्री विद्यानन्द जी व श्री विद्यासागर प्रभृति महाराज रहे इन कार्यों के हम समर्थक हैं।

हम नये मन्दिरों के भी विरोधी नहीं; पर उनमें नई प्रतिमाओं के स्थान पर प्राचीन प्रतिष्ठित प्रतिमाओं को विराजित करने के पक्षधर हैं, जो अन्य क्षेत्रों व मन्दिरों से लाई जा सकती है। ऐसे में वेदी-प्रतिष्ठा मात्र से काम चल सकता है। हाँ, ऐसी व्यवस्था भी होनी चाहिए कि कोई मन्दिर पूजा से कभी भी अछूता न रहे। इसके सिवाय एक प्रश्न और है जो हमे सदा कचोटता रहता है कि कुछ ऐसे प्रतिष्ठाचार्य जिनमें श्रावकाचार-प्रतिमा तक भी न हो; वे प्रतिमा में जिनेश्वर को कैसे स्थापित कर देते है ? पाठक विचारें।
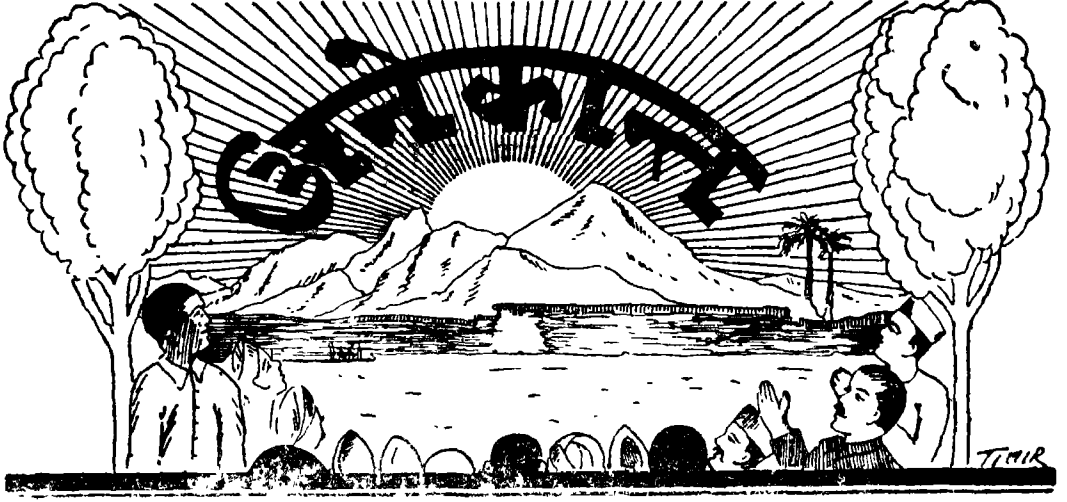
—सम्पादक

ओम् अर्हम्

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ४३ किरण ४ | वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ | वीर-निर्वाण सवत् २५१७, वि० स० २०४७ | अक्टूबर-दिसम्बर १६६०

जिनवाणी महिमा

नित पीजो धी-धारी ।
जिनवानि सुधासम जान के, नित पीजो धी-धारी[1] ।
वीर-मुखारविन्द तें प्रगटी, जन्म-जरा-गद[2] टारी ।
गौतमादि गुरु उर घट व्यापी, परम सुरुचि करतारी ॥१॥
सलिल समान कलित-मलगंजन बुधमन रंजनहारी ।
भंजन विभ्रमधूलि प्रभंजन, मिथ्या जलद निवारी ॥२॥
कल्यानकतरु उपवन धरनी[3], तरनी भव-जल तारी ।
बंध विदारन पैनी छैनी, मुक्ति नसैनी सारी ॥३॥
स्व-पन स्वरूप प्रकाशन को यह भानु कला अविकारी ।
मुनिमन-कुमुदनि-मोदन-शशिभा[4], शम-सुख सुमन-सुवारी[5] ॥४॥
जाको सेवत, बेवत निजपद, नसत अविद्या सारी ।
तीन लोकपति पूजत जाको, जान त्रिजग हितकारी ॥५॥
कोटि जीभसों महिमा जाको, कहि न सके पविधारी[6] ।
'दौल' अल्पमति केम कहै यह, अधम उधारन हारी ॥६॥

---

१. बुद्धिमान, २. बीमारी, ३. नौका, ४. चांदनी, ५. बगीची, ६. इन्द्र ।

गतांक से आगे :

कन्नड़ के जैन साहित्यकार

□ श्री राजमल जैन

नेमिचन्द्र :

मार्गशैली (चंपू शैली) में रचना करने वालों मे इस युग के प्रथम कवि है "नेमिचन्द्र"। इनका समय ११७० ई० या १२०० ई० के लगभग माना जाता है। इनकी दो कृतियां हैं—१. नेमिनाथ पुराण और २. लीलावति।

नेमिनाथ पुराण में कवि ने तीर्थंकर नेमिनाथ की जीवनगाथा लिखी है। प्रसगवश उसमें श्रीकृष्ण, वसुदेव और कंसवध को भी स्थान मिला है। (स्मरण रहे, श्रीकृष्ण तीर्थंकर नेमिनाथ के चचेरे भाई थे। यह पुराण चंपू शैली में है और कंस वध के बाद ही समाप्त हो गया है, पूरा नहीं हो सका इसलिए इसे 'अर्ध नेमि पुराण' भी कहा जाता है। शायद पूरा पुराण अभी उपलब्ध नही हुआ हो। इसमें अनेक भवो का वर्णन नहीं है किन्तु कृष्ण और कंस वध के प्रकरणों से इसमे रस-विविधता और काव्यत्व अधिक प्रकट हो सका है। इसी कारण यह एक उच्चकोटि का काव्य माना जाता है। इस पुराण की रचना कवि ने राजा बल्लाल के मंत्री पद्मनाभ की प्रेरणा से की थी।

लीलावति एक श्रृंगार रस प्रधान काव्य है। उसका आदर्श सस्कृत कवि सुबधु की 'वासवदत्ता' नामक कृति जान पड़ती है। इसके नायक और नायिका स्वप्न में एक-दूसरे को देखते हैं और खोज करते-करते उनका मिलन होता है।

नेमिचन्द्र को अनेक उपाधियां प्राप्त थीं जिनमे कविराज कुजर साहित्य विद्याधर और चतुर्भाषाचक्रवर्ती (सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और कन्नड) जैसी उपाधियां सम्मिलित थी। इनका स्मरण अनेक परवर्ती कवियों ने आदर के साथ किया है।

बोप्पण पंडित द्वारा रचित श्रवणबेलगोल के "गोमटेश्वर" की २७ कन्नड़ पद्यों मे "स्तुति" वहां के ११८० ई० के शिलालेख मे उत्कीर्ण है। उनके इन भक्तिपूर्ण पद्यों की प्रशंसा परवर्ती दो कन्नड़ कवियो—आचण्ण और पार्श्व—ने अपनी रचनाओ में की है। यह रचना एक सुन्दर कन्नड़ काव्य मानी जाती है। इनकी दूसरी रचना 'निर्वाण लक्ष्मीपति नक्षत्रमालिका' है जिसमे उन्होंने शकर, विष्णु और बुद्ध को भी स्मरण कर अपनी सहिष्णुता का परिचय दिया है।

चन्द्रप्रभपुराण के रचयिता अग्गव जैन थे और इनका रचना काल ११९० ई० के लगभग माना जाता है। इसमे उन्होंने आठवे तीर्थंकर चंद्रप्रभु का जीवन चरित्र जैन मान्यता के अनुसार किया है। कन्नड़ में चद्रप्रभु सम्बन्धी यह पहला पुराण है। अनेक भवों का वर्णन कवि ने नही किया है किन्तु कुछ संस्कृत निष्ठ है। इस कारण काव्यात्मक होते हुए भी कुछ क्लिष्ट है। इस पुराण की रचना 'साहित्यविद्याविनोद' आदि उपाधिधारी अग्गव ने अपने गुरु श्रुतकीर्ति की प्रेरणा से की थी। परवर्ती के लिए जैसे आचण्ण, पार्श्व आदि ने इनकी प्रशंसा की है।

कवि **आचण्ण** भारद्वाज गोत्रीय थे किन्तु जैन थे। उन्होंने १. "वर्धमानपुराण और २. श्रीपदाशीति नामक दो रचनाये कन्नड़ मे प्रस्तुत की है।

वर्धमानपुराण मे आचण्ण ने चौबीसवे तीर्थंकर महावीर का जीवन-चरित्र कन्नड़ में निबद्ध किया है। इस भाषा में महावीर स्वामी का यह पहला जीवन-परिचय है। आचण्ण के पिता और उनके मित्र ने यह पुराण प्रारम्भ किया था किन्तु इसको पूर्ण किया आचण्ण ने। इस कृति मे कवि द्वारा शब्दालकारो की अपूर्व छटा है। स्पष्ट ही इसमें शांत रस का प्राधान्य है। इसमे कवि ने तत्कालीन कन्नड़ छंदों यथा रगले, त्रिपदी आदि का भी प्रयोग किया है। पुराण में महावीर के पूर्व भवो का भी

वर्णन है।

श्रीपदाशीति में आचण्ण ने णमोकार मंत्र या पंच-नमस्कार मंत्र की महिमा का भक्तिपूर्ण गान किया है।

कवि आचण्ण को 'वाणीवल्लभ' उपाधि प्राप्त थी।

बंधुवर्म—एक ऐसे कवि बारहवी सदी के आसपास हो गए है जिन्होने पुराण और सिद्धांत-कथन दोनो पर लेखनी चलाई है। इनके दो ग्रंथ हैं—१. 'हरिवंशाभ्युदय और २. जीवसबोधने। पहले ग्रंथ मे बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ का जीवन-चरित्र लिखने के साथ ही साथ श्री कृष्ण की कथा भी तीर्थंकर के पारिवारिक सम्बन्ध के कारण आ जाती है। कवि की शैली लालित्यपूर्ण तथा कल्पनायें आकर्षक हैं।

जीवसंबोधने में कवि ने बारह भावनाओं (अनु-प्रेक्षाओं) का नीतिबोधक विवेचन बारह परिच्छेदों मे किया है। प्रत्येक परिच्छेद के प्रारम्भ मे कवि एक सिद्धांत का निरूपण करता है और बाद में उसका समर्थन एक कथा से। इस प्रकार यह एक रोचक रचना है। श्री भुजबली के शब्दों में, "अध्यात्म-प्रेमी जैनेतर विद्वान् भी इस ग्रंथ की मुक्तकंठ से प्रशसा करते हैं।" उनके बाद के कवियो ने भी बधुबर्म की प्रशंसा की है किन्तु उन्होंने अपने से पूर्व के कवियों का स्मरण नहीं किया बल्कि अपनी प्रशसा स्वयं की है। उनकी सुन्दर उक्तियां तथा कहावतें भी इसे आकर्षक बनाती हैं।

पार्श्वपंडित ने कन्नड़ भाषा मे 'पार्श्वनाथ पुराण' की रचना की जो कि इस भाषा में पार्श्वनाथ सम्बन्धी पहला पुराण है। इसका रचनाकाल १२२२ ई० माना जाता है। पुराण में कवि ने पार्श्वनाथ और तीर्थंकर-पर्याय का जैन परम्परानुसार वर्णन किया है। इस चंपू काव्य में कवि ने ऋतुओ का मनोहारी वर्णन करने के अतिरिक्त सुन्दर चरित्र-चित्रण किया है। इसमे कमठ का चरित्र विशेष-रूप से आकर्षक बन पड़ा है। ये संगीत एव नृत्य के भी विशेषज्ञ थे यह इनकी रचना से स्पष्ट प्रतिभासित होता है। इन्हें भी, कविकुल तिलक, विविधजन मनःपद्मिनी पद्ममित्र जैसी उपाधियां प्राप्त थी। अपने ग्रन्थ के प्रारंभ में इन्होने संस्कृत, प्राकृत एवं कन्नड़ के प्रसिद्ध कवियों का स्मरण किया है।

जन्न—कवि का काल तेरहवी सदी का पूर्वार्ध माना जाता है। ये जैन थे और कन्नड साहित्य के इतिहास में इनका स्थान इसी भाषा के आदि कवि पम्प के समान महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इनका सबध अपने युग की प्रसिद्ध साहित्यिक एवं आध्यात्मिक) हस्तियों से था। ये होयसल नरेश वीरवल्लाल नरसिंह के दरबार के प्रमुख व्यक्तित्व थे। स्वयं अपने संबध मे कवि ने लिखा है कि, 'मैं खडा होने पर दण्डाधीश (सेनापति) बैठने पर मंत्री और लिखने लगू तो कवि हूं।" उपर्युक्त नरेश से इन्हें कविचक्रवर्ती की उपाधि प्राप्त हुई थी। श्री दक्षिणा-मूर्ति के शब्दों में, "कन्नड़ साहित्य-साम्राज्य के तीन ही कवि चक्रवर्ती है—पोन्न, रन्न एवं जन्न। कवि सम्राट् अथवा कवि चक्रवर्ती की उपाधि जन्न के लिए सर्वथा उपयुक्त है।" काव्य के अतिरिक्त ये व्याकरण, नाटक तथा अध्यात्म के भी पारंगत विद्वान् थे। इन्हें 'राजविद्वत्कला-हंस' जैसी अनेक उपाधियां प्राप्त थीं। इन्होंने कुछ जैन-मंदिरों का भी निर्माण कराया था। आर्थिक स्थिति अच्छी होने के कारण इन्होंने अपने को "सौभाग्य संपन्न" कहा है।

कवि जन्न की दो रचनायें प्रसिद्ध हैं—१. यशोधर-चरिते (रचनाकाल १२०९ ई०) तथा २. अनन्तनाथ पुराण (१२३० ई०)।

राजा यशोधर और उसकी रानी अमृतमति की कथा संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा तमिल आदि भाषाओं में अनेक लेखकों ने निबद्ध की है। उसका मुख्य स्वर यह है कि संगीत कामवासना जगाता है। उसीके कारण मधुर संगीत के गायक किन्तु कुबड़े महावत अष्टावक्र से रानी अमृतमति उससे प्रेम करने लगी थी और जब राजा यशोधर ने यह देख लिया तो उसे वैराग्य हो गया। राजा यशोधर और उसकी माता, भाई, बहिन के रूप में जन्म लेते हैं। राजा मारिदत्त उनकी बलि चंडिका को देना चाहता है। किन्तु इन भाई-बहिन से उनकी पूर्वभव की कथा सुनकर राजा हिंसापूर्ण बलि का विचार त्याग देता है। इस प्रकार इस कथा में कामवासना और हिंसा-पूर्ण पशु-बलि से विरुचि उत्पन्न की गई है।

कथानक परम्परागत होते हुए भी जन्न ने उसमें

प्राण डाल दिए हैं। शृंगार, रौद्र और शांत रसों का सुन्दर चित्रण करने के साथ ही उन्होने चरित्र-चित्रण में अद्भुत सफलता प्राप्त की है। श्री दक्षिणामूर्ति के अनुसार, "स्मरण रखना चाहिए कि अन्न को यह कृति उनकी कल्पना की उच्चता, सौंदर्यप्रियता, औचित्य निर्वहण आदि के कारण धर्म या सम्प्रदाय की परिधि लांघकर श्रेष्ठतम काव्य की श्रेणी मे आ गई है।"

अनतनाथ पुराण में १४वें तीर्थंकर अनन्तनाथ की पुण्य जीवन-गाथा चंपू-शैली में वर्णित है। परपरा के अनुसार चित्रण करने पर भी कवि ने इसमे पचकल्याणको तथा जैन सिद्धांतो का कवित्वपूर्ण, मार्मिक एव आकर्षक वर्णन कर इसे भी एक प्रौढ़ काव्य बना दिया है। इसकी रचना हुलेबिड के शातीश्वर जिनालय मे हुई थी।

गुणवर्म द्वितीय का काल १२३५ ई० के लगभग माना जाता है। इसके आश्रयदाता कार्तवीर्य नरेश के सामंत शांतिवर्म थे। ये जैनधर्मानुयायी थे। इसके अतिरिक्त अन्य तथ्य ध्यान नही है। इनकी दो रचनाये— १. "पुष्पदंतपुराण" और २. "चंद्रनाथाष्टक" है।

पुष्पदंतपुराण मे तीर्थंकर पुष्पदंत की जीवन-गाथा निबद्ध है। इसमें भवावलियां सम्मिलित नही की गई है इसलिए कथानक संक्षिप्त है। चपू-शैली मे ग्रथित इस काव्य में कवि ने कन्नड़ मे प्रचलित कहावतो, अलकारो आदि से सवारा है। इसी प्रकार संस्कृत के 'काकतालीय' आदि न्यायो का भी उन्होने यथावसर समावेश किया है। इस प्रकार उन्होने तीर्थंकर की सक्षिप्त-सी उपलब्ध जीवनी को एक आकर्षक और प्रौढ़ काव्य का रूप दिया है।

चन्द्रमाथाष्टक की रचनागुणवर्म ने कोल्हापुर स्थित त्रिभुवनतिलक जिनालय के चंद्रप्रभु की स्तुति के रूप में की है जिसका प्रत्येक पद्य चन्द्रनाथ से प्रारम्भ होता है। इस स्तुति मे ८ पद्य है।

कमलभव नामक कवि अपनी रचना "शांतीश्वर पुराण" के लिए विख्यात हैं। इनका आविर्भाव काल १२३५ ई० अनुमानित है।

शांतीश्वरपुराण में कवि ने १६वें तीर्थंकर का शांतिनाथ का शांतिदायक जीवन काव्य में गूंथा है जिसमें उन्होंने अपने से पूर्व के कवियों एवं आचार्यों का स्मरण किया है। इस पुराण मे पुराण काव्य के सभी लक्षण घटित होते है तथा कवि की कल्पना वर्णन-चातुर्य आदि गुण प्रतिभासित होते हैं।

नेमिनाथपुराण के रचनाकार हैं **कवि महाबल**। इनका गोत्र भारद्वाज था। इस पुराण की रचना के बारे मे कवि ने लिखा है कि उन्होने यह पुराण 'श्रुताचार्य आदि की उपस्थिति मे सुनाकर अपने शिष्य लक्ष्म से लिखवाया है। इन्हे 'सहजकविमनोगेहमाणिक्यदीप' आदि उपाधियां प्राप्त थी।

उपर्युक्त पुराण भी चपू शैली मे रचित हैं और १६ आश्वासो मे विभक्त है। इस पुराण मे तीर्थंकर नेमिनाथ की जीवन-गाथा निबद्ध है। परंपरानुसार कथन होने पर भी इसमे कवि का पाण्डित्य झलकता है। स्वय कवि ने भी अपने चातुर्य की प्रशसा की है।

धर्मनाथपुराण—तीर्थंकर धर्मनाथ के जीवन को लेकर दो कवियो ने अलग-अलग समय में धर्मनाथपुराण लिखे। ये कवि हैं बाहुबलि (लगभग १३५२ ई०) और मधुर (१३८५ ई०)।

बाहुबलि को 'उभयभाषाकवि चक्रवर्ती' की उपाधि प्राप्त थी। उनके पुराण को एक प्रौढ़ रचना माना जाता है।

मधुर द्वारा रचित धर्मनाथ पुराण के केवल चार आश्वास ही प्राप्त हुए जिनमें कवि की वर्णन-स्वाभाविकता झलकती है। इन्होंने गोम्मटस्तुत्याष्टक की भी रचना की थी।

पुराण-लेखन परम्परा का अंत—ऐसा लगता है कि चौदहवी शताब्दी के अन्त मे अर्थात् कवि मधुर के बाद कन्नड़ मे लेखकों का प्रिय विषय तीर्थंकर-पुराण की रचना ही बन्द हो गई। जैन लेखकों ने चंपू-शैली मानों त्याग दी। और अपने रचना-विषय भी बदल दिए। इस प्रकार शास्त्र और पुराण काव्य की एक परम्परा इस युग के साथ लगभग लुप्त हो गई। विषय के साथ ही छदो के प्रयोग और शैली (मार्ग या चंपू शैली का प्रयोग कम हो जाना) तथा संस्कृत या कन्नड-संस्कृत के स्थान पर अधिकांश रचनाओ मे कन्नड या देसी शैली का प्रचलन का

युग उपर्युक्त सदियों के बाद कन्नड़ के इतिहास में प्रारंभ हुआ।

आंडय्य—का समय लगभग १२३५ ई० है। इन्होंने एक ध्वनिकाव्य लिखा है जिसका नाम 'कब्बिगर काव' (कवियों का रक्षक) या मदन विजय है। यह काव्य न तो तीर्थंकर जीवनी है और न ही कोई लौकिक कथा। इसमे कवि ने वैदिक ग्रथो मे उपलब्ध शिव और कामदेव की कथा को जैन जामा पहनाया है। काव्य मे वर्णित है कि शिव ने कामदेव के परिवार के सदस्य चन्द्रमा को चुराया इस पर काम ने बाण चलाकर शिव को अर्धनारीश्वर बना दिया। किन्तु कुछ दिनो कामदेव अज्ञात रहा। जब उसका सामना एक जैन मुनि (श्रमण) से हुआ तो वह थरथर कांपने लगा और उनके चरणो मे नतमस्तक हो गया। इस प्रकार काव्य में यह व्यजित किया है कि काम को विरक्ति या तपस्यापूर्ण जीवन द्वारा विजित किया जा सकता है और जब एक मुनि मे इतनी शक्ति है तो तीर्थंकर में कितनी शक्ति होगी।

कन्नड में आंडय्य का स्थान उनकी भाषा शैली के लिए भी है। कन्नडभाषियों के अनुरोध पर उन्होने इस काव्य की रचना यह दिखाने के लिए की थी कि संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग किए बिना शुद्ध या 'ठेठ कन्नड में भी काव्य की रचना की जा सकती है।

मल्लिकार्जुन (मल्ल और मल्लप्प नाम से भी विख्यात) ने एक अनूठा संकलन तैयार किया जो कि "सूक्ति सुधार्णव" नाम से प्रसिद्ध है। अपने को 'सरस कवि' और 'महाकवि' कहने वाले मल्ल ने इस रचना मे २८ कवियो से २२०० पद्य संकलित किए है जिनमे उनके अपने पद्य भी सम्मिलित है। ये पद्य समुद्र, ऋतुओ, युद्ध, प्रेम, और चादनी आदि अनेक विषयो के अन्तर्गत संकलित किया है। इस प्रकार यह ग्रथ कन्नड साहित्य के इतिहास की दृष्टि से भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। इनका समय लगभग १२४५ ई० माना जाता है।

केशिराज (१२६० ई० के लगभग) उपर्युक्त कवि मल्ल के पुत्र थे। इन्होंने 'शब्दमणिदर्पण' नामक एक कन्नड व्याकरण की रचना की है। इसके सूत्र पद्य में है और वृत्ति गद्य में। अपने से पहले के कवियों से उद्धरण लेकर अशुद्धियों को दर्शाना, मार्ग काव्य के प्रयोगो को शुद्ध बनाना तथा कुछ नवीन प्रयोगों को भी मान्यता देना उनका लक्ष्य था। अपभ्रंश को भी उसमे स्थान मिला है। अपने पिता द्वारा संकलित काव्यांशों से भी उन्हें सहायता मिली होगी। उनका व्याकरण शुष्क नहीं, सरस है। केशिराज का दावा है कि उनका व्याकरण "लक्ष्मीदेवी का सुन्दर सरस दर्पण और सरस्वती का द्वितीय दर्पण" है।

श्री सिद्धगोपाल के अनुसार, "हस्तिमल्ल" ने "पूर्व पुराण" लिखा है जो इस युग का एकमात्र शुद्ध ग्रंथ है। इसके सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी उपलब्ध नही है।

कुमुदेंदु रामायण के रचयिता कुमुदेन्दु हैं। इनका समय १२७५ ई० के लगभग माना जाता है। यह षट्पदी छद मे लिखी गई है और जैन परम्परा के अनुसार निबद्ध है। विद्वानों की राय है कि इस पर पंप रामायण का काफी प्रभाव है।

रट्ट कवि (लगभग १३०० ई०) ने "रट्टमत या रट्ट सूत्र" की रचना की है। इन्होने अपने ग्रथ का विषय प्राकृतिक घटनाओं—यथा वर्षा, बिजली, भूकप, आकाशीय ग्रह और शकुन आदि को बनाया है। इसका अनुवाद १४वी सदी मे तेलुगू मे कवि भास्कर ने किया था।

नागराज ने संस्कृत ग्रथ पुण्याश्रव (कथाकोश) का कन्नड में रूपातर किया जो कि 'पुण्याश्रव कथा' के नाम से प्रसिद्ध है। इसकी रचना उन्होंने अपने गुरु की आज्ञा से नगर के निवासियों के कल्याणार्थ की थी। इसमे देव, गुरु स्वाध्याय, सयम, तप आदि गुणो का विवेचन करते हुए ५२ पुण्य पुरुषो की कथाए सग्रहीत हैं। इनकी शैली देसी है और वर्णन मे स्वाभाविकता एव लालित्य है। यह केवल अनुवाद ही नहीं है। इन्हें भी "भारतीभालनेत्र" और 'सरस्वतीमुखतिलक' जैसी उपाधिया प्राप्त थीं जो कि उनकी काव्यशक्ति के कारण ही दी गई होंगी। इनका समय १३३१ ई० के आसपास हैं।

'खगेन्द्रमणिदर्पण' नामक **वैद्यक ग्रंथ** के रचयिता 'मंगरस या मंगराज' हैं। ये १३६० ई० के आसपास हुए हैं। इनका दावा है कि जनता के निवेदन पर उन्होंने इस

ग्रन्थ की रचना की थी। इसमें औषधियों के साथ ही साथ यंत्रो-मंत्रों का भी विधान है। उनका मत है, "औषधियों से आरोग्य, आरोग्य से देह, देह से ध्यान और ध्यान से मोक्ष प्राप्त है। इसीलिए मैं औषधशास्त्र को बतला रहा हूं।" वैद्यक ग्रंथ होते हुए भी उनकी रचना मे काव्योचित गुण है और उनकी शैली आकर्षक है।

कन्नड़ में "रत्नकरंड" लिखने का श्रेय "आयतवर्मा" (लगभग १४७० ई०) को है। उन्होंने संस्कृत रत्नकरंड-श्रावकाचार को आधार बनाकर चपू शैली में रत्नत्रय के सिद्धांतों और कथाओं का आधार बनाकर चपू शैली में रत्नत्रय के सिद्धांतो और कथाओं का निरूपण किया है।

इसी युग के कुछ अन्य लेखकों का सक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है—

माघनन्दि ने "शास्त्रसार समुच्चय" और "पदार्थ-सार' नामक संस्कृत ग्रन्थों की टीका कन्नड़ भाषा मे निबद्ध कीं।

वृत्तविलास नामक लेखक ने "धर्मपरीक्षा' (संस्कृत) का कन्नड़ में अनुवाद किया।

वैष्णव युग या कुमारव्यास युग

कन्नड़ साहित्य के इतिहास में इस युग की अवधि १५वी से १६वी सदी तक निर्धारित की गई है। इसमें वैष्णव साहित्य की प्रधानता रही इसलिए यह वैष्णव युग कहलाता है। कन्नड़ के प्रसिद्ध कवि कुमारव्यास (रचना कन्नड़ भारत) थे इसलिए यह उनके नाम पर कुमारव्यास युग के नाम से भी जाना जाता है। इस युग मे जैन साहित्य भी आगे बढ़ा किन्तु उसके स्वरूप में परि-वर्तन आया। श्री मुगलि के शब्दों मे "जैन साहित्य" अपने पुराने आडम्बर और दिखावे को छोड़कर सरल "गेय काव्य" के रूप में आगे बढ़ा।" यह युग कर्नाटक में विजयनगर साम्राज्य प्रसिद्धि का था। उनके आश्रय से भी कन्नड़ साहित्य खूब फला-फूला। मैसूर के ओडे पर राजवंश के प्रमाद से भी कन्नड़ साहित्य समृद्ध हुआ।

जैन कवियों ने इस युग मे नवीन छदो जैसे षट्पदि सांगत्य (कन्नड़ का अपना छद) तथा भामिनी छंदों को अपनाया। मूडबिद्री के जैन कवि रत्नाकर वर्णि ने सांगत्य छंद (गाने योग्य छंद) में ही अपने काव्य 'भरतेश वैभव" की रचना की है। जैन रचनाकारों ने इस काल में चरित्र-ग्रंथ (जैसे जीवंधर चरिते) अधिक लिखे।

पृष्ठभूमि के रूप मे यह ध्यान रखना चाहिए कि इस काल में कर्नाटक मे जैनो को वैष्णवो और शैवों के विरोध का सामना करना पड़ा था और विजयनगर नरेश हरिहरराय बुक्का जैसे शासको ने सांप्रदायिक शांति और सद्भाव के लिए प्रयत्न किए थे।

कन्नड़ में "जीवंधरचरिते" के लेखक हैं कवि "भास्कर"। इसकी रचना १४२४ ई० में हुई है ऐसा माना जाता है। इसे उन्होने पेनुगोण्डे के शांतीश्वर जिनालय मे लिखा था। जीवधर की कथा संस्कृत की मूल जैन कथा को लेकर भी उन्होंने इसे अपनी कल्पना-शक्ति और सरस शैली से आकर्षक बना दिया है। श्री मुगलि के अनुसार "जीवन्धरचरित्र" कल्पना के सौष्ठव और शैली के लालित्य से यथाशक्ति अच्छा काव्य बन गया है।"

कल्याणकीर्ति का आविर्भाव समय पंद्रहवी सदी का मध्यकाल है। इनके अनेक ग्रन्थ हैं—"ज्ञानचद्राभ्युदय" जिसका रचनाकाल १४३९ ई० माना जाता है में कवि ने यह दर्शाया है कि राजा ध्यानचन्द्र ने किस प्रकार अपना कल्याण किया।

उपर्युक्त कवि की दूसरी प्रसिद्ध रचना "कामनकथे" है जो कामकथा से सम्बन्धित है। इनकी अन्य रचनाएं है—अनुप्रेक्षे, जिनस्तुति और तत्वभेदाष्टक तथा सिद्ध-राशि। ये रचनाये भामिनि और षट्पदि छदो में है।

बारह भावनाओं का वर्णन "विजयण्ण" ने सांगत्य छंद (गेय छंद) में 'द्वादशानुप्रेक्षा' मे किया है। उसका रचनाकाल १४५० ई० माना जाता है। सरल शैली में कन्नड़ में अनुप्रेक्षाओं संबंधी यह रचना कन्नड़ की सम्भवत: प्रथम रचना है। विजयण्ण मूडबिद्री के निवासी थे।

शिशुमायण का समय १४७२ ई० है। इनकी दो प्रसिद्ध रचनायें हैं—१. "त्रिपुरदहनसांगत्य" तथा २. "अन्जनाचरिते।

शैवमत में त्रिपुरदहन की कथा प्रसिद्ध है किंतु प्रस्तुत कवि ने इसको जैनमतानुसार एक नया रूप दिया है। श्री भुजबलि के अनुसार "कवि ने जिनेश्वरदेव को जन्म-जरा-मरणरूपी त्रिपुरो का संहारकर्ता बतलाया है। तदनुकूल कवि ने मोहासुर को त्रिपुर का राजा, माया को उसकी रानी; मनुष्य, देव, त्रियँच और नरक गतियों को चार पुत्र; क्रोध लोभादि को उसका मत्री तथा नानाविध कर्मों को उसका परिवार निरूपित किया है।···जिनेश्वरदेव के ललाट पर केवलज्ञानरूपी तीसरा नेत्र प्रकट होता है जिसके द्वारा त्रिपुर (मोहासुर) सपरिवार पराजित कर दिया जाता है। परम जिनेश्वरदेव ने मोहासुर को मारा नहीं, बल्कि हाथ-पैर बांधकर उसे अपने चरणों मे झुकाया और स्वतन्त्र छोड़ दिया। इस प्रकार कवि ने इस काव्य में जिनेश्वरदेव को शिव से अधिक दयालु सिद्ध किया है।"

'अन्जनाचरिते' मे कवि ने सती अजना की प्रसिद्ध कथा विस्तार से एव स्वाभाविक शैली में प्रस्तुत की है।

बोम्मरस ने (१) सनत्कुमारचरिते और (२) जीवधर सांगत्य नामक दो रचनाये कन्नड़ मे प्रस्तुत की हैं। इनका काल लगभग १४८५ ई० माना जाता है। सनत्कुमार-कथा को नवीन एव स्वाभाविक ढग से प्रवाहपूर्ण शैली मे कवि ने निबद्ध किया है। इस कथा मे उन्होने "भक्ष्य-भोज्य" पदार्थों का वर्णन इतना किया है कि कुछ विद्वान् उन्हें भोजनप्रिय अनुमानित करते है।

जीवधर सांगत्य में बोम्मरस ने प्रसिद्ध जीवधर कथा को सुन्दर, सरल शैली मे निरूपित किया है।

कोटीश्वर—एक और कवि है जिन्होने "जीवधर चरिते" लिखा है जिसका रचनाकाल १५०० ई० के लगभग माना जाता है। यह भामिनि षट्पदि मे है और अपूर्ण है।

सन् १५५९ ई० मे "नेमन्ना ने "ज्ञानभास्करचरिते" की रचना की। कवि ने उसमे यह प्रतिपादित किया है कि बाहरी विधि-विधान की अपेक्षा शास्त्रों का अध्ययन-मनन अधिक श्रेयस्कर है।

मंगरस द्वितीय ने "मंगराजनिघंटु" नामक ग्रथ की रचना की है।

मंगरस तृतीय का समय १६वीं शताब्दी का पूर्वार्ध है। इन्होने अपने पिता को 'रणकभिनवविजय' कहा है जिससे वे योद्धा मालूम पड़ते हैं।

इनके छ: ग्रन्थ हैं—१. "जयनृपकाव्य" जिसमें इन्होने भरत चक्रवर्ती के सेनापति जयकुमार की कथा निबद्ध की है। यह मुख्य रूप से शृंगाररस प्रधान रचना है जिसमे कल्पना और प्रवाह का सयोजन है। २ सम्यक्त्व कौमुदी—इसकी कथायें गौतम गणधर द्वारा राजा श्रेणिक को सुनाई गई थी। इन्हीं कथाओ से राजा उदितोदित को सम्यक्त्व एव स्वर्ग की प्राप्ति हुई थी। नीतिमूलक उपदेशों के साथ इसमे अनेक उपकथाये पिरोई गई है जो सुन्दर बन पड़ी है। ३. "श्रीपालचरिते" नामक इनके ग्रथ मे श्रीपाल की प्रसिद्ध कथा आकर्षक ढंग से ग्रन्थित है। ४. "प्रभजनचरिते" नामक अपूर्ण काव्य-ग्रन्थ मे सरस ढग से प्रभजन की गाथा निबद्ध की गई है। ५. "नेमिजिनेश सगति" मे तीर्थंकर नेमिनाथ का चरित्र वर्णित है। उसमे युद्ध का मनोहारी वर्णन है। ६. "सूपशास्त्र" मे कवि ने विभिन्न प्रकार के पाक बनाने की विधियां बताई है। यह स्त्रियोपयोगी है।

अभिनववादि विद्यानन्द भी सोलहवी सदी के पूर्वार्ध के कवि हैं। इन्होंने अपनी रचना 'काव्यसार' मे ११४० पद्यो का सार-सकलन किया गया है। श्री भुजबली शास्त्री ने लिखा है, "विद्यानंद का 'दशमलयादि महाशास्त्र' नामक एक ग्रथ मुझे उपलब्ध हुआ है। यह ग्रथ प्राकृत, संस्कृत और कन्नड़ भाषा मे लिखित है। इतिहास की दृष्टि से यह ग्रन्थ महत्वपूर्ण है।"

रत्नाकर वर्णि—सोलहवी शताब्दी के मध्यभाग में हुए है। वे इस युग के कन्नड़ साहित्य के जाज्वल्यमान नक्षत्र हैं। वे क्षत्रिय थे और मूडबिडी मे जन्मे थे। उन्होने वहा के भट्टारक चारुकीर्ति से 'दीक्षा' ली थी। उन्होंने योग में भी कुशलता प्राप्त की थी। उनके रोमास और मत-परिवर्तन के सम्बन्ध मे अनेक दन्तकथायें प्रचलित हैं। सभव है, वे रंगीले व्यक्तित्व और स्वतत्र विचारों के व्यक्ति रहे हों। वे "रत्नाकरसिद्ध" और "रत्नाकर तथा अण्ण" नामों से भी प्रसिद्ध थे। जो भी हो, वे प्रतिभाशाली कवि थे। इसीकारण उन्हें इस युग का 'कन्नड़ कोकिल' कहा गया है। उनका प्रिय रस शृंगार

था। कुछ विद्वान् उन्हें 'शृंगार रस का सम्राट्' मानते हैं जिसका परिचय 'भरतेश वैभव' में प्रचुर मात्रा मे मिलता है।

वर्णि की रचनायें हैं—१. त्रिलोक शतक २. अपराजितेश्वर शतक ३. रत्नाकराधीश्वर शतक और सर्वश्रेष्ठ कृति 'भरतेश वैभव'। इनके अतिरिक्त रत्नाकर ने लगभग २००० आध्यात्मिक गीत भी लिखे है जो 'अण्णन पद गलु' (बड़े भाई के पद) कहलाते है। उनमे से बहुत-से आज लोकप्रिय हैं।

त्रिलोकशतक मे कवि ने जैन मान्यता के अनुसार सृष्टि वर्णन रत्नाकर ने कद नामक पद्य मे किया है।

अपराजितेश्वरशतक में पद्यो मे कवि ने नीति, वैराग्य और आत्मानुभूति सम्बन्धी मार्मिक विचार व्यक्त किए हैं।

रत्नाकरशतक की रचना में भी कवि का लक्ष्य नीति या उपदेश है। उसमे भी उनकी ओजस्विनी एव स्वतत्र-चेत्ता वाणी मुखरित हुई है।

रत्नाकर की सर्वश्रेष्ठ कृति है 'भरतेश वैभव'। इसमे भगवान आदिनाथ के पुत्र प्रथम चक्रवर्ती भरत के वैभवपूर्ण जीवन का किन्तु उसके साथ ही उनकी त्यागपूर्ण जीवन-शैली का कवि ने दस हजार पद्यों मे वर्णन किया है। उनका दावा था कि उन्होने इसे केवल नौ माह मे पूर्ण किया है।

अपने उपर्युक्त महाकाव्य का प्रारम्भ ही रत्नाकर ने भरत के राजदरबार मे सगीत-सभा और अध्यात्म चर्चा से किया है। उन्होने भरत और बाहुबलि युद्ध नहीं बताया बल्कि यह लिखा है कि भरत ने अपने मीठे वचनो से ही बाहुबलि को अपने वश में कर लिया था। तीर्थंकरो के पंचकल्याणक होते है किन्तु रत्नाकर ने भरत चक्रवर्ती के भी पचकल्याणक बना दिए है। ये हैं—१. भोगविजय २. दिग्विजय (वर्णि ने भरत को दयालु विजेता बनाया है) अर्ककीर्तिविजय (जिनसेन का भरत कठोर है) ४. योगविजय और ५. मोक्षविजय। इस प्रकार की नई कल्पनायें करके रत्नाकर ने परंपरागत भरत-चरित्र को उलट-पुलट कर दिया। इस कारण उन्हें सामाजिक विरोध का भी सामना करना पड़ा। वे वीरशैव हो गए जब क्रोध शांत हुआ तो पुन: जैनधर्म मे दीक्षित हो गए।

रत्नाकर ने यह काव्य चक्रवर्ती भरत के (जिसके नाम पर यह देश भारत कहलाता है) समन्वयात्मक, भव्य एवं अलोकिक जीवन को चित्रित करने के लिए लिखा है। काव्य के प्रारम्भ मे ही उन्होंने कहा है, "असंख्य राज्य सुखों मे स्नान करके, वसुधा को प्रसन्न करके, जिनयोगी बनकर, क्षण भर मे कर्मों का नाश करके जिन पदवी को प्राप्त करने वाले राजश्रेष्ठ के वैभव की कहानी सुनो।" इस प्रतिज्ञा के अनुसार उन्होने भरत को भोगी होते हुए भी योगी, राज्य करते हुए भी त्यागी या विरक्त, सासारिक होते हुए भी आध्यात्मिक-साधक और एक आदर्श राजा तथा मानव के रूप मे हमारे सामने उपस्थित किया है। अपने चरित्रनायक को कहीं भी हीन स्थिति मे नहीं दिखाया यहां तक कि बाहुबलि के प्रसग मे भी। अपनी ९६ हजार रानियो के साथ और इन रानियों के जीवन का भी शृगारपूर्ण चित्रण 'भोग-विजय' नामक अधिकार मे किया है। जिसके विषय मे श्री मुगवि ने लिखा है, "वही उनकी महान् कवित्व शक्ति का परिचायक है और कन्नड़ साहित्य ससार के लिए नवीन रस सृष्टि है।"

यह भी स्मरणीय है कि भरत के जीवन को अपनी रचना का विषय बनाने मे रत्नाकर ने केवल शृगार की ही प्रधानता नही दर्शाई किन्तु भरत के त्याग और आत्म-चिन्तन मे लीन व्यक्तित्व को भी उभारकर शांतरस या अध्यात्मरस की भी उतनी ही प्रतिष्ठा की है। अन्तर केवल इतना ही है कि, "कवि सांसारिक भोग-विलास को आध्यात्मिक विकास का आत्यन्तिक विरोधी नही मानता" तथा "वस्तुतः भोग और त्याग मे अविरोध प्रदर्शित कर —"भोग और योग के मध्य समन्वय करना ही महाकवि रत्नाकर के काव्य का एकमात्र लक्ष्य है।" (श्री भुजबलि)।

कन्नड साहित्य मे रत्नाकर का एक विशिष्ट स्थान है। श्री मुगवि के अनुसार, 'भरतेशवैभव' रत्नाकर का भव्य भावगीत है उनके जीवन-दर्शन का सुन्दर प्रतीक प्रतीत होता है। कन्नड़ साहित्य ससार मे पम्प, हरिहर और कुमार व्यास के समकक्ष खड़े होने वाले कवि

रत्नाकर ही हैं। जनता की वाणी और संगीत ने उनकी कृति में अपनी सिद्धि प्रदान की है।"

सोलहवीं सदी के मध्य में "दोड्डय्य" ने 'चद्रप्रभु-चरितम्' की रचना की जिसका आधार आचार्य गुणभद्र का उत्तर पुराण है। रचना साधारण मानी जाती है और कवि का समय भी अनुमानित है।

बाहुबलि का काल १५६० ई० माना जाता है। ये अपनी रचना 'नागकुमारचरिते' के लिए प्रसिद्धि है जो कि ३७०० पद्यों में है। उन्होंने यह कृति राजा भैरवेन्द्र तथा भट्टारक ललितकीर्ति की प्रेरणा से लिखी थी।

श्री भुजबलि शास्त्री ने १६वीं सदी के अन्य जैन लेखकों का परिचय संक्षेप में दिया है। वह यहाँ उद्धृत किया है—"१६वीं शताब्दी के अन्य जैन काव्य लेखकों में 'विजयकुमारिक थे' के रचयिता श्रुतकीर्ति,, चन्द्रप्रभ-षट्पदि के रचयिता दोड्डणांक, शृंगारप्रधान, 'सुकुमार चरिते' के रचयिता पद्मरस और 'वज्रकुमारचरिते' के रचयिता ब्रह्म कवि प्रमुख हैं। ई० सन् १६०० में देवोत्तम ने 'नानार्थरत्नाकर' नाम से और शृगार कवि ने 'कर्णाटक-संजीवन' नाम से दो निघटुओं की भी रचना की है। कवि शांतरस ने योगशास्त्रविषक 'योगरत्नाकर' नामक एक सुन्दर योगशास्त्र भी लिखा है।"

भट्टाकलंक का समय १६०४ ई० माना जाता है। ये संस्कृत और कन्नड़ के निष्णात पंडित थे। दोनों ही भाषाओं पर इनका पूर्ण अधिकार था। ये अपनी 'कर्णाटकशब्दानुशासन' के लिए प्रसिद्ध हैं। इन्होंने केवल ५६२ सूत्रों मे ही सारा व्याकरण लिख डाला है। विशेषता यह है कि इन्होंने कन्नड़ भाषा का व्याकरण संस्कृत में लिखा है। अपने व्याकरण पर इन्होंने 'भाषा मंजरी' नामक वृत्ति और 'मंजरीमकरद' नामक व्याख्या संस्कृत में प्रस्तुत की है।

सत्रहवी सदी में कन्नड़ जैन साहित्य में एक नवीन प्रवृत्ति जगी। श्रवणबेलगोल की महामूर्ति गोमटेश्वर के १६१२ ई० मे हुए महामस्तकाभिषेक का काव्यमय-वर्णन "पचबाण" ने १६१४ ई० मे "भुजबलीचरिते" के रूप में प्रस्तुत किया।

उपर्युक्त से सम्भवतः प्रेरणा पाकर १६४६ ई० में 'चन्द्रम' ने कारकल की गोम्मट महामूर्ति का इतिहास और अभिषेक का वर्णन 'कारकल गोमटेश्वरचरिते' में प्रस्तुत किया।

सन् १६५० ई० के लगभग हुए 'गुणचन्द' ने छंदों के सम्बन्ध में 'छन्दस्सार' नामक ग्रंथ लिखा। उन्होंने इसमें संस्कृत छदों के अतिरिक्त अन्तिम अध्याय में कन्नड़ के छद और उदाहरण भी दिए है।

लगभग १६५० ई० में ही "धरणि पडित" ने दो राजाओं सबधी रचनाएं प्रस्तुत की। ये हैं—१. वरांग-नृपचरिते। यह कथा संस्कृत में प्रसिद्ध है किन्तु धरणि पडित ने इसे कन्नड के भामिनि षट्पदि छद में विस्तार-पूर्वक लिखा। २. 'बिज्जलरायचरिते' मे कवि ने कल्याणी के जैन राजा बिज्जल के मत्री और सेनापति बसवण्ण सम्बन्धी इतिहास लिखकर यह दर्शाया है कि बसवण्ण ने पीछा करती सेना से छुटकारा पाने के लिए कुए मे कूद कर आत्महत्या कर ली थी। (बसवण्ण ने ही वीरशैवमत चलाया था)।

उपर्युक्त समय अर्थात् १६५० ई० के लगभग ही 'नूतन नागचन्द्र' ने 'जिनमुनितनय' की रचना की। इस छोटी-सी रचना का प्रत्येक पद्य 'जिनमुनितनय' शब्द से समाप्त होता है। इसीलिए इसका यह नाम पड़ा। इसमें नीति और धर्म की चर्चा है।

चिदानन्द ने १६०० ई० मे 'मुनिवंशाभ्युदय' की रचना सांगत्य छंद मे की। इसमे मुनियों तथा गुरुओं की परम्परा वर्णित है। इसमें श्रुतकेवली भद्रबाहु और मौर्य सम्राट् चंद्रगुप्त की दक्षिण-यात्रा का काव्यमय वर्णन है।

श्री ई० पी० राईस ने कन्नड़ साहित्य के अपने इतिहास में लिखा है कि लगभग १७०० ई० में 'चन्द्र-शेखर' ने 'रामचन्द्रचरिते' का लेखन प्रारम्भ किया जिसे 'पद्मनाभ' ने १७५० ई० में पूर्ण किया।

मैसूर नरेश मुम्मडि कृष्णराज के समकालीन 'देव-चद्र' भी कन्नड़ साहित्य मे सम्माननीय हैं। उन्होने १८३० ई० मे मैसूर राजघराने की एक महिला के लिए 'राजावली कथे' की रचना की। इसमें उन्होने जैन दर्शन और परपरा के विवेचन के साथ कुछ कवियो की जीवनी

(शेष पृ० १४ पर)

अज्ञात जैन कवि हरिसिंह का काव्य

—डा० गंगाराम गर्ग, भरतपुर

दीवान जी मन्दिर भरतपुर के एक गुटके मे अचर्चित जैन कवि हरिसिह की रचनाएं मिली हैं। कवि की एक रचना 'ब्रह्म पच्चीसी' की प्रशस्ति के आधार पर इनका साधना स्थल देवगिरी (दौसा जिला जयपुर) तथा रचना काल संवत् १७८३ के आस-पास का है। कवि के वशज दौसा निवासी श्री मगनलाल छावडा ने महावीर जयन्ती स्मारिका—८५ में प्रकाशित अपने एक लेख में हरिसिह को जयपुर नरेश सवाई जयसिह का सुयोग्य दीवान वतलाया है। 'बोध पच्चीसी' की प्रशस्ति के अनुसार आमेर के राजा जयसिह के सुयोग्य कर्मचारी 'नैन सुख' से कवि की आत्मीयता अवश्य प्रमाणित है, किन्तु निर्धारित रूप में यह नहीं कहा जा सकता कि हरिसिह सवाई जयसिह के दीवान थे अथवा सामान्य कर्मचारी। दौसा कस्बे में स्थित 'श्री पार्श्वनाथ जिनालय' में विद्यमान संगमरमर के खम्भे पर अंकित लेख के अनुसार हरिसिंह के पांच छोटे भाई थे—शकर, श्रीचंद, किशोर, नंदलाल, मनरूप और गोपाल।

हरिसिह की तीन लघु रचनाएं एवं विविध रागनियों में लिखित ५० फुटकर पद तथा कुछ गीत प्राप्त हैं।

हरिसिह की एक रचना 'ब्रह्म पच्चीसी' आषाढ़ कृष्णा ११ सवत् १७८३ को दोहा और छप्पय छंदों में लिखी गई। ग्रथारम्भ मे ऋषभदेव और शारदा की वन्दना है। ऋषभनाथ के वैभव के प्रति कवि श्रद्धावनत है :

छत्र फिरं चमर जुगल दिसि जाकें, ढरं छहो खंड आंन,
जाकी आग्या सब मानिबो।
अंतेवर छिनवं सहस्त्रतणां भोग रहै,
अष्ट सिद्धि नव निधि चहैं सोई आनिबो।
इन आदि विभौ विराग होय कीनौं त्याग,
एकाकी रहत मुनिवर पद ठानिबो।
तातं भवि सिव सुखदाई, ब्रह्म रूप लखौ आंन,
भव दुखकारी छांडो सब जांनिबो।

हरिसिह की दूसरी रचना 'सम्यक्त पच्चीसी' सावन सुदि ११ सवत् १७८३ को 'कवित्त', 'कुण्डलिया', 'दोहा' और 'चाल' छद मे लिखी गई। इस ग्रन्थ में उपदेशात्मक शैली की प्रधानता है—

मोह पिसाची ने छल्यौ, आतमराम अयान।
सम्यक् दरसन जब भयो, तब प्रगट्यो सुभग्यान ॥१४
असुचि अपावनि देहमनि, ताके सुख ह्वं लीन।
कहा भूलि चेतनकरी, रतनत्रय निधि दीन ॥१५

हरिसिह की तीसरी रचना 'बोध पच्चीसी में दर्शन का प्रभाव और धर्म की महिमा की चर्चा की गई है—

धरम रमन सीला पुरुष, ताके करम विलाय।
जैसे उदय सूर कं, तिमिर पटल मिटि जाय।
छबि देखि भगवान की, मन मैं भयौ करार।
सुर नर फणपति कौ विभौ, दासं सवं अपार।
'सखी' देखि भगबान की, जो हिय मैं आनन्द।
भयौ कहा महिमा कहूँ, तीन लोक सुख कन्द।

हरिसिह के फुटकर गीत नेमिनाथ की बारात व वैराग्य तथा ऋषभदेव के जन्मोत्सव से सम्बन्धित हैं। हरिसिह के प्राप्त ५० पद लगभग सारग, विलावल, मलार आदि २२ रागो में लिखे हुए है। प्राप्त पदो मे अन्य तीर्थंकरों की अपेक्षा ऋषभनाथ एवं नेमिनाथ जी की भक्ति विद्यमान हैं। भक्ति के अतिरिक्त इन पदो मे प्रकृति चित्रण ओर नीति तत्व का पूर्ण अभाव है। रसना से निरन्तर 'जिनवर' की रटन तथा हृदय में प्रभु-मूर्ति के दर्शन भक्त हरिसिह की साधना बन गई है—

जिनवर, जिनवर, रसना हिय लागी रहत,
तुमहि छांड़ि मेरे और न ध्यान।
निस वासुर चित्त चरण रहत है, चरन रहत सो जियमैं।
सरण तिहारो पाय निहारो, मूरति रमि रही हिय मैं।
ऐसें हृदं बिराजो मो तन, राम रहै ज्यौं सिय मैं।
करुणासागर गुण रतनागर, दूरि करौ अधिकिय मैं।
'हरी' परम सुख तुम ही यातं, और न सेऊं बिच मैं।

'नाम स्मरण' सगुण और निर्गुण दोनों ही सम्प्रदाय के भक्तकवियो का उपासना-तत्व रहा है। जिनभक्त हरिसिंह श्रमणभक्ति परम्परा के अनुसार प्रभु-दर्शन के लिए तो लालायित हैं ही; अन्जना और श्रीपाल आदि भक्तों के सम्बल प्रभुनाम का भी जाप करते हैं—

प्रभु मेरे बेगि दरसन देहु।
भये आतुरवंत भविकजन, ये अरज सुनि लेहु।
इह संसार अनंत आतप, हरन कौं प्रभु मेह।
प्रभु दरस तैं परखि आतम, गये सिवपुर गेह।
नमि तुम जन अंजना से, किये सिव तिय नेह।
पालितदधि श्रीपाल उधरे, नाम के पर चेह।
इह प्रतीति विचारि मन धरि, कियो निश्चय येह।
सकल मंगल करन प्रभु जी, 'हरी' जपत करेह।

'मन', 'वचन' और 'तन' तीनों का आराध्य में पूर्ण समर्पण हरिसिंह की भक्ति साधना का लक्ष्य रहा है। उनका कहना है—

अब हूं कब प्रभु पद परसौं।
नैन निहारि करौं परनामें, मन बच करि हित सौं।
भव भव के अघ लागें तिनकैं, भूर उखारौं जर सौं।
सरणें राखउ श्री जिन स्वामी, और न मांगौं तुमसौं।
यहै बीनती बास 'हरी' की कृपा करौं यह मुझसौं।

कविवर बनारसीदास के आविर्भाव के साथ दिग० जैन भक्ति में 'अध्यात्म साधना' प्रमुखता पा गई थी। द्यानतराय, देवीदास, बुधजन, पार्श्वदास आदि सभी कवियों ने वाह्याचार और वेषभूषा से रहित इस आत्म-चिन्तन की परम्परा को भी अपने काव्य मे स्थान दिया था। शुद्धाचार सहित अन्तर्मुखी होकर 'सोऽहम्' की अनुभूति की ओर उन्मुख होने का निर्देश हरीसिंह ने भी दिया है—

रे जिय सोहम् सोहं ध्याय।
जा ध्यायें बहुविध परिमाणूं, तत छिन मांहि नसाय।
सोहं सोहं अजपा जपियें, तजि विकलप दुखदाइ।
गहि संतोष परम रस पूरित, सुख मैं निज लौ लाय।
सोहं सोहं सोहं सोहं मंत्र अनादि बताय।
सदा रहौ हिरदै निज मेरै, 'हरी' अतुल सुख धाम।

द्यानतराय अथवा अन्य किसी जैन भक्त कवि में साधनात्मक रहस्यवाद के दो-चार पद भले ही मिल जाय, किन्तु भावात्मक रहस्यवाद सभी जैन भक्त कवियों में विद्यमान है। जीवात्मा का मूल सम्बन्ध सुमति से है, किन्तु वह 'कुमति' की बनावटी रूपसज्जा और हावभावों को देखकर उसके आकर्षण में फंस जाता है। इस परकीया प्रेम में उसे कोई सुख नही मिल पाता। जीवात्मा के परकीया-प्रेम से क्षुब्ध 'सुमति' अपने प्रिय को सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करती है। जैन भक्त कवियों ने जीवात्मा और सुमति मे 'पति' और 'पत्नी' के रूपकत्व के नियोजन से मधुर और मर्यादित शृंगार की स्रोतस्विनी प्रवाहित कर अपने काव्य को बड़ा सरस बना दिया है—

नेक करो न सम्हार हो प्रभु मेरे।
कुबिजा कुमति लीये तुम ठगि कै, मोह ठगोरी डार।
निज घर छांड़ि बसे पर घर मैं, तहां नहिं सुखहि लगार।
दुख देखत कुबिजा सग डोलें, ताकौ वार न पार।
तुम तौ खबरि लई नहिं मेरी, मेरे कौं तुम तार।
एक बेर मो सनमुख होगे, पति त्रिभुवन निरधार।
निज घर आय अखै सुख विलसें, निज पतनी कैलास।
'हरीसिंह' भए एक परस्पर, वह सुख वच अविचार।

सभी जैन भक्त कवियों के काव्य में न्युनाधिक मात्रा में प्राप्त राजुल-विरह की उक्तियाँ बड़ी मर्मस्पर्शी बन पड़ी है। राजुल विरह से सम्बन्धित हरिसिंह के कई पदों मे से एक पद दृष्टव्य है—

बदन नेम नौं दिखावो, जाकी हूं बलिहारी।
और न मोहि सुहावैरी माई, नैना नेम निहारी।
सरणे जाय करौं पिय भांवरि, अघ आताप निवारी।
भांजी बहन परोसन मइया, जिमां करौं अब सारी।
भई उदास जगत सों मइया, जिमां करौं अब सारी।
ताहि सबै मिलि सासा दीनो, गिर पर जाय बिपारी।
केस लोंच सोभा तजि तन की, लीयो पाल अहारी।
'हरीसिंह' निज कीयो काजा, दोऊ भव सुखकारी।

मध्यकाल में भक्त रचनाएं प्रस्तुत करने वाले अन्य जैन कवियों के समान हरिसिंह भी अपने उचित स्थान के अधिकारी हैं। जिनालयों में स्थित वेस्टनो मे छिपे हुए हरिसिंह जैसे अनेक कवियो को प्रकाश देने में जैन समाज को प्राथमिकता देनी चाहिए। ❀❀

एक चिन्तन :

आ० अमृतचंद्र का २३वां कलश

□ श्री एम० एल० जैन, नई दिल्ली

समयसार पर आत्मख्याति टीका के अतिरिक्त अमृतचन्द्र ने समयसार पर अपने काव्य कलश भी सजाए हैं। उनमें भव्य जीवों के अध्यात्म अभिषेक के लिए काव्य का परमोदक भरा है।

इन कलशों पर वीर सेवा मदिर की देखरेख में हुए दो प्रकाशन है—

पहला, राजमल की ढूंढारी भाषा का महेन्द्रसेन जैनी द्वारा किया हुआ आधुनिक भाषा रूपांतर जिसमें बनारसी दास द्वारा रचित पद्यानुवाद भी यथास्थान दिया गया है। बनारसीदास की रचना समयसार नाटक नाम से प्रचलित है जिस पर राजमल पाडे की बालवोधिनी टीका भी मिलती है जो दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट सोनगढ़ से छपी है।

दूसरा शुभचन्द्र की सस्कृत टीका 'परमाध्यात्म तरँगिणी' जिसपर जयचंद की ढूढारी भाषा की जो टीका है उसके हिन्दी अनुवाद के साथ।

ये ही कलश समयसार की आत्म ख्याति टीका की ढूंढारी वचनिका मे भी जयचंद ने यथास्थान उद्धृत किये हैं। यह ग्रन्थ मुसद्दीलाल जैन चेरिटेबल, ट्रस्ट नई दिल्ली ने प्रकाशित किया है।

इन कलशो में कलश स० २३ जीव अधिकार इस प्रकार है—

> अयि कथमपि मृत्वा तत्त्व कौतूहली सन्
> अनुभव, भवमूर्तं पार्श्ववर्ती मुहुर्तम्
> पृथगथ विलस्नं स्वं समालोका, येन
> त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्व मोहम्

उक्त कलश का सरल अर्थ है—

"अरे, तत्त्व कौतूहली होकर, किसी भी प्रकार से मर कर मुहूर्त भर के लिए शरीर का पार्श्ववर्ती हो तब स्वं को अलग विलास करने वाला देखकर अनुभव कर ताकि तुम तुरन्त ही शरीर के साथ एकत्व मोह को छोड़ सको।"

स्वय मरकर स्व-स्वरूप को पहचानने की यह कला कैसी और कैसे सम्भव है? क्या शरीर से एकबार जुदा हो जाने के पश्चात् आत्मा कुछ देख व अनुभव कर सकता है और फिर वापस शव में प्रवेश कर अपने अनुभव का लाभ उठा सकता है।

शुभचन्द्र ने इस मुश्किल को पहचाना और परम अध्यात्म तरंगिणी मे कहा कि यह मरण "मायादि प्रकारेण" हो सकता है किन्तु क्या नकली मौत से असली मौत का पता चल सकता यह शका बनी रहती है।

जयचन्द्र ने समयसार की आत्मख्याति वचनिका में इसका अर्थ किया कि किसी भी प्रकार बड़ा कष्ट कर तथा मर कर भी शुद्ध जीव स्वरूप को जानने का उपाय कर। राजमल ने इसी अर्थ को अपनाया किन्तु "बड़ा कष्ट कर तथा" छोड़ दिया।

जयचन्द ने ही आत्म ख्याति की उक्त टीका मे इसी कलश के भावार्थ में कहा कि यदि आत्मा दो घड़ी भी पुद्गल से भिन्न अपने स्वरूप को अनुभवे, उसमें लीन होकर परीषह के कारण डिगे नहीं तो केवलज्ञान प्राप्त हो सकता है यह दृष्टव्य है कि इस भावार्थ मे तथा तरंगिणी की भाषा टीका में जयचन्द ने स्वमरण की बात टाल ही दी और कहा कि शरीर मुर्दा है। हम दूसरों के मुर्दे तो रोज देखते हैं किन्तु अपने मुर्दे को मुर्दे के रूप नहीं देखते। इससे समस्या हल होने के स्थान पर और भी कठिन हो गई।

यदि "मृत्वा" के स्थान पर कलश मे "मृतं" ही होता तो यह अर्थ संभव था कि कोई किसी प्रकार मरे, मर जाने पर केवल शव मात्र ही रह जाता है। यह बात किसी भी मुर्दे के पास मुहुर्त भर ठहरने से पता चल आएगी परन्तु अमृतचन्द्र ने ऐसा नहीं किया। "कथमपि मृत्वा"

"अनुभव" ऐसा क्यों कहा यह जैन विद्वानों के विचार का विषय है।

एक समुचित समाधान जो विज्ञान भैरव तंत्र की व्याख्या में तंत्रसूत्र भाग-२ पृष्ठ ८९-९२ व १४६ पर दिया है उसके उद्धरण इस विषय में अवलोकनीय हैं—

"अगर तुम मृत्यु की सोच रहे हो—वह मृत्यु नही जो भविष्य में आयेगी—तो जमीन पर लेट जाओ, मृतवत् हो जाओ, शिथिल हो जाओ और भाव करो कि मैं मर रहा हू, कि मैं मर रहा हूं, मैं मर रहा हूं। यह सोचो ही नही, शरीर के एक-एक अग मे, शरीर के एक-एक ततु मे इसे अनुभव करो। मृत्यु को अपने भीतर सरकने दो। वह एक अत्यन्त सुन्दर ध्यान-विधि है। और जब तुम समझो कि शरीर मृत बोझ हो गया है और जब तुम अपना हाथ या सिर भी नहीं हिला सकते, जब लगे कि सब कुछ मृतवत् हो गया, तब एकाएक अपने शरीर को देखो। तब मन वहां नही होगा। तब तुम देख सकते हो। तब सिर्फ तुम होगे, चेतना होगी।

अपने शरीर को देखो। तुम्हें नहीं लगेगा कि यह तुम्हारा शरीर है। बस एक शरीर है, कोई शरीर, ऐसा लगेगा। तुम और तुम्हारे शरीर के बीच का अन्तराल साफ हो जाएगा—स्फटिक की तरह साफ। कोई सेतु नहीं बचेगा। शरीर मृत पड़ा होगा, और तुम साक्षी की तरह खड़े होगे। तुम शरीर मे नही होगे, नहीं होगे।

ध्यान रहे, मन के कारण ही अहं भाव उठता है कि मैं शरीर हूं। यह भाव कि मैं शरीर हूं मन के कारण है। अगर मन न हो, अनुपस्थित हो, तो तुम नहीं कहोगे कि मैं शरीर मे हूं या शरीर के बाहर हूं। तुम महज होगे; भीतर और बाहर नही होगे भीतर और बाहर सापेक्ष शब्द है जो मन से संबधित हैं। तब तुम मात्र साक्षी रहोगे।"

"अंग्रेजी के शब्द "एक्सटैसी" का यही अर्थ है: बाहर खड़ा रहना। एक्सटेसी अर्थात बाहर खड़ा रहना। अंग्रेजी मे एक्सटैसी का प्रयोग समाधि के लिए होता है। और एक बार तुम समझ लो कि तुम शरीर के बाहर हो तो उस क्षण मे मन नही रह जाता है। क्योंकि मन ही वह सेतु है जिससे यह भाव पैदा होता है कि मैं शरीर हूं। अगर तुम एक क्षण के लिए भी शरीर के बाहर हुए तो उस क्षण में मन नहीं रहेगा। यह अतिक्रमण है। अब तुम शरीर में वापस हो सकते हो, मन में भी वापस हो सकते हो; लेकिन अब तुम इस अनुभव को नही भूल सकोगे। यह अनुभव तुम्हारे अस्तित्व का भाग बन गया है; वह सदा तुम्हारे साथ रहेगा।"

"आंखें बन्द करो, और अपने भीतरी अस्तित्व को विस्तार से देखो। इस दर्शन का पहला चरण, बाहरी चरण अपने शरीर अपने शरीर को भीतर से, अपने आंतरिक केन्द्र पर खड़े हो जाओ और देखो। तब तुम शरीर से पृथक् हो जाओगे; क्योंकि दृष्टा कभी दृश्य नहीं होता है; निरीक्षक अपने विषय से भिन्न होता है। अगर तुम अन्दर से अपने शरीर को समग्रत: देख सको तो तुम कभी फिर इस भ्रम में नही पड़ोगे कि मैं शरीर हू। तब तुम सर्वथा पृथक् रहोगे। तब तुम शरीर मे रहोगे, लेकिन शरीर नहीं रहोगे।

यह पहला हिस्सा है। तब तुम गति कर सकते हो। तब तुम गति करने के लिए स्वतन्त्र हो। शरीर से मुक्त होकर, तादात्म्य से मुक्त होकर तुम गति करने के लिए मुक्त हो। अब तुम अपने मन में, मन की गहराइयों में प्रवेश कर सकते हो। अब तुम उन नौ पर्तो में, जो भीतर है और अचेतन है, प्रवेश कर सकते हो। यह मन की अन्तरस्थ गुफा है। और अगर मन की गुफा में प्रवेश करते हो तो तुम मन से भी पृथक हो जाते हो। तब तुम देखोगे कि मन भी एक विषय है जिसे देखा जा सकता है, और वह जो मन में प्रवेश कर रहा है वह मन से पृथक और भिन्न है।

"अन्तस्थ प्राणी को विस्तार से देखो" का यही अर्थ है—मन में प्रवेश। शरीर और मन दोनों के भीतर जाना है और भीतर से उन्हें देखना है। तब तुम मात्र साक्षी हो। और इस साक्षी में प्रवेश नही हो सकता है। इसी से यह तुम्हारा अन्तरतम है; यही तुम हो। जिसमें प्रवेश किया जा सकता है, जिसे देखा जा सकता है, वह तुम नहीं हो। जब तुम वहां आ गए जिससे आगे नहीं जाया जा सकता, जिसमें प्रवेश नहीं किया जा सकता, जिसे देखा

नही जा सकता, तभी समझना चाहिये कि तुम अपने सच्चे स्व के पास, अपनी आत्मा के पास पहुचे।"

इस विवेचन से ऐसा लगता है कि अमृतचन्द्र ने भी जिस मरण प्रक्रिया की ओर संकेत किया है, वह भी एक प्रकार के विशिष्ट ध्यान की विधि है। न वास्तविक मरण से अभिप्राय है न झूठ-मूठ के मरण से।

बनारसीदास ने इस कठिनाई को एक तरफ रखा और कवित्त लिखा--

बनारसी कहै भैया भव्य सुनो मेरी सीख,
कैहूं भांति कैसेहूं कै ऐसो काजु कीजिए।
एक हू मुहूरत मिथ्यात को विधुंस होइ,
ग्यान को जगाइ अंस, हस खोजि लीजिए।
वाही को विचार वाको ध्यान यहै कौतूहल।
यौं ही भरि जनम परम रस पीजिए।
तजि भव-वास को विलाप सविकार रूप,
अंत करि मोह को अनन्त काल जीजिए।

—आशा है विद्वज्जन अपना अभिमत स्पष्ट करेंगे।

(पृ० ६ का शेषांष)

भी दी है। रत्नाकर के जीवन संबंधी तथ्य भी इसमे है। मैसूर के राजाओ की बंशावली भी देवचन्द्र ने दी है। इसका ऐतिहासिक महत्त्व है।

देवचन्द्र की दूसरी रचना 'रामकथावतार' है। इसमे उन्होने अभिनव पप (नागचन्द्र) से कथा एवं भाव लिए हैं। यह रचना एक चपू काव्य है और सामान्यसार की है।

बी १/३२४, जनकपुरी, नई दिल्ली-५८

सहायक पुस्तकों की सन्दर्भ-सूची

१. मुगवि, रंग श्री—कन्नड़ साहित्य का इतिहास, अनुवादक–सिद्ध गोपाल, प्रकाशक, साहित्य अकादमी नई दिल्ली, प्रथम सकस्करण, १९७१।

2. Rice, E. P.—Kanarese Literature, The Heritage of India Series, Associated Press, 5, Russell Street, Calcutta, London, Oxford University Press, Calcutta etc., Second edition recised and enlarged, 1921.

३. पं० के० भुजबली शास्त्री—कन्नड़ जैन साहित्य का इतिहास (खंड) जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग ७, प्रकाशक–पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध सस्थान, वाराणसी, २२१००५, सन् १९८१ ई०।

४. दक्षिणामूर्ति, एन० एस०–कर्नाटक और उसका साहित्य प्रकाशक–मैसूर रियासत हिन्दी प्रचार समिति जयनगर,बेंगलूर–११, सन् १९६४ ई०।

५. सिद्ध गोपाल –काव्यतीर्थ कन्नड़ बाहित्य का नवीन इतिहास, प्रकाशक, आशा प्रकाशन गृह, करोलबाग, नई दिल्ली-५, सन् १९६४ ई०।

—जो कोई भी आएगा उन सभी को मैं दे दूंगा ऐसा उद्देश करके बनाया गया जो अन्न है वह उद्देश्य कहलाता है। जो भी पाखण्डी लोग आएँगे उन सभी को मैं भोजन कराऊँगा ऐसा उद्देश करके बनाया गया भोजन समुद्देश कहलाता है। जो कोई श्रमण अर्थात् आजीवक तापसी रक्तपट-परिव्राजक व छात्रजन आएँगे उन सभी को मैं आहार देऊँगा इस प्रकार से श्रमण के निमित्त बनाया हुआ अन्न आदेश कहलाता है। जो कोई भी निर्ग्रन्थ साधु आएँगे उन सभी को मैं देऊँगा ऐसा मुनियों को उद्देश कर बनाया गया आहार समादेश कहलाता है। —मूलाचार, आचार वृत्ति ४२६

पहली किरण से आगे :

संस्कृत जैन काव्यशास्त्री और उनके ग्रन्थ

☐ डा० कपूरचन्द खतौली

हेमचन्द्र—

न केवल जैन काव्यशास्त्रियों अपितु भारतीय काव्य-शास्त्रियों में हेमचन्द्र का नाम बड़े आदर और सन्मान के साथ लिया जाता है। बहुश्रुत विद्वान् थे और कलिकाल सर्वज्ञ। सौभाग्य का विषय है कि हेमचन्द्र के सन्दर्भ मे पर्याप्त सामाग्री यत्र-तत्र बिखरी पड़ी है स्वयं उनके ग्रंथो में भी एतद्विषयक पर्याप्त जानकारी प्राप्त है। अन्तः-साक्ष्य के लिए द्वयाश्रय, श्रद्धानुशासन, त्रिशष्ठिश्लाका पुरुष चरित्र आदि महत्वपूर्ण मानदण्ड है। बाह्यसाक्ष्य के लिए शतार्थकाव्य, कुमारपाल प्रतिबोध, मोहपराजय, पुरातन प्रबन्ध संग्रह, प्रभावकचरित, प्रबन्ध चिन्तामणि, प्रबन्धकोष, कुमारपाल प्रबन्ध, कुमारपाल चरित आदि महत्वपूर्ण काव्य उपलब्ध हैं।

इन्हीं के आधार पर श्री अलेग्जैण्डर किलास फार्ब्स ने ई० स० १८७८ में रसमाला' तथा १८८९ मे बून्हर ने 'लाइफ आफ हेमचंद्र' ग्रन्थ लिखा जिसका अनुवाद श्री कस्तूरमल बाठिया ने किया है।' डा० वि० भा० मुमल-गांवकर ने भी 'आचार्य हेमचन्द' नाम से एक सुन्दर कृति का प्रणयन किया है।

मुनिजिनविजय जी ने कुमारपाल विषयक ग्रन्थों का संकलन प्रकाशित किया है ' जिसमें इनके सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी मिलती है। सभी में कुछ भिन्नताओं के साथ लगभग समान ही जीवन चरित्र प्राप्त है, जो निम्न प्रकार है।

हेमचन्द्र का जन्म अहमदाबाद से ६० मील दक्षिण-पश्चिम मे धुन्धुका या धुन्धुक नगर मे कार्तिक पूर्णिमा को १०८८ ई० को मोढ़वशीय वैश्यकुल के चाचिग, चाच्च के घर हुआ। माता का नाम पाहिणी, पाहिनि या चाहिणी था। कुलदेवी चामुण्डा और देव गोनस था। आरम्भिक नाम चांगदेव था। मां जैनधर्मावलम्बी थी तथा पिता शैव।

चांगदेव होनहार बालक था गुरु देवचन्द्र के धुन्धुका आने पर वे माता और मामा की आज्ञा से दीक्षार्थ ले गये। प्रबन्ध चिन्तामणि के अनुसार वह देवचन्द्र की गद्दी पर बैठ गए तब देवचन्द्र माता की आज्ञा से उसे उदयन के पास छोड़ आये बाद में उदयन की चतुराई से पिता को भी अनुमति देनी पड़ी। चांगदेव अभी आठ वर्ष का था। प्रबन्धकोश के अनुसार चांगदेव ने स्वयं दीक्षा ली। दीक्षोपरांत 'सोमचन्द्र' नाम रखा गया और शरीर से स्वर्ण सदृश तेजस्वी होने से वे हेमचन्द्र कहलाए। अल्पायु में ही शास्त्रीय और व्यावहारिक ज्ञान मे पारंगत हो जाने के कारण २१ वर्ष की अवस्था में उन्हें नागपुर में सूरि पद प्राप्त हुआ।

अपनी असाधारण प्रतिभा और चरित्रबल से ३६ वर्ष की अवस्था में वे सिद्धराज जयसिंह के सम्पर्क में आए और जयसिंह प्रभावित होकर जैन धर्मानुरक्त हो गया।

जयसिंह के बाद ११४२ ई० में कुमारपाल राजगद्दी पर बैठा। पहले जयसिंह कुमारपाल को मारना चाहता था। हेमचन्द्र ने उसे उपाश्रय में छिपाकर रक्षा की और कहा था कि तुम मार्गशीर्ष वदी १४ को राज्य पाओगे। कुमारपाल ने कहा मुझे क्या यदि ऐसा हुआ तो राज्या-धिकारी आप ही होंगे। हेमचन्द्र ने कहा—"हमे राज्य से क्या? तुम जैन धर्म स्वीकार करना। यही भी वही तब कुछ समयोपरान्त हेमचन्द्र पाटन आए, उदयन से अपने स्मरण न करने की बात सुन, उन्होंने कहा कि राजा से कहना आज रात नई रानी के महल में न जाय। रात को बिजली उसी महल पर गिरी। कुमारपाल ने उदयन से हेमचन्द्र द्वारा अपनी रक्षा सुनकर, उनके चरणों मे पड़कर कहा—आपने दो बार मेरी जान बचाई अब यह राज्य सम्हालें। हेमचन्द्र ने कहा तुम जैनधर्म स्वीकार करो। कुमारपाल ने धीरे-धीरे ऐसा करने का वचन दिया।

अपने जीवनकाल मे हेमचन्द्र ने खूब लिखा। वे सर्व-धर्मसहिष्णु थे, सोमनाथ की यात्रा उन्होने की थी अन्त में ११७२ ई० में उनकी ऐहिक लीला समाप्त हुई।

हेमचन्द्र ने व्याकरण, साहित्यकोष, दर्शन सभी विषयों पर अपनी अनवरत लेखनी चलाई। उनकी प्रामाणिक रचनायें निम्न हैं—(१) त्रिषष्टिश्लाका पुरुष चरित्र (२) द्वयाश्रयकाव्य (३) शब्दानुशासन (४) छन्द-अनुशासन (५) काव्यानुशासन (६) अभिधान चिन्तामणि (७) अनेकार्थ संग्रह (८) निघण्टु (९) देशीनाममाला (१०) प्रमाणमीमांसा (११) योगशास्त्र। इनके अतिरिक्त अनेक स्तोत्र और फुटकर श्लोक हैं।

इस प्रकार छन्दानुशासन और काव्यानुशासन ये दो उनकी काव्यशास्त्रीय कृतियां हैं। छन्दोऽनुशासन का प्रकाशन पूना से हुआ है।[४] इसमें संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के छन्दों का निरूपण है। छन्दों के उदाहरण स्वयं हेमचंद्र विरचित हैं।[५]

काव्यानुशासन के तीन भाग हैं। मूलसूत्र अलंकार चूड़ामणि व्याख्या और विवेकवृत्ति। तीनों स्वय हेमचंद्र विरचित हैं। कुल आठ अध्याय हैं जिनमें क्रमश: २५, ५९, १०, ९, ९, ३२, ५२ तथा १३ सूत्र हैं। व्याख्या तथा टीका में ५० कवियो तथा ८१ ग्रथों का नामोल्लेख हुआ है।[६] अध्यायानुसार विषय-विवेचन निम्न है।

प्रथम—काव्य-प्रयोजन, हेतु, लक्षण, गुण, दोष एव अलकार-लक्षण, शब्दार्थ स्वरूप मुख्यार्थ, लक्ष्यार्थ, व्यंग्यार्थ का निरूपण। द्वितीय—रसो के लक्षण, भेद, स्थायी भाव, सात्विक भाव, रसाभास। तृतीय—काव्य-दोष, रस-पद-वाक्य, पदवाक्य और अर्थदोष विवेचन। चतुर्थ—तीनगुण। पचम—छह शब्दालकार। षष्ठ—२९ अर्थालंकार। सप्तम—नायक-नायिका-गुण। अष्टम मे काव्यभेदों का विवेचन है।

हेमचन्द्र ने प्राय: सभी काव्यांगों का विवेचन किया है तथापि उस ग्रन्थ को मौलिक होने का श्रेय नही दिया जाता। इसे एक सुन्दर संग्रह-ग्रन्थ कहा जा सकता है। यद्यपि यह कम विवाद का विषय नही है। डा० पी० वी० काणे ने इसे संग्रहात्मक कहा है।[७] श्री त्रिलोकीनाथ झा का भी यही मत है।[८] श्री विष्णुपाद भट्टाचार्य ने इसे मौलिक कहा है।[९] डा० सुशील कुमार डे भी इसे सार संग्रह की भावना से प्रसूत मानते हैं। उन्होने हेमचंद्र और वाग्भट के ग्रन्थों के समीक्षणोपरांत लिखा है—

"ऐसा प्रतीत होता है कि जैन अनुशासनो का उद्देश्य (यद्यपि इनमे जैनमत सम्बन्धी कोई भी बात नही है) विषय का लोकप्रिय सारांश प्रस्तुत करना है। वे किसी विशेष सम्प्रदाय या पद्धति से सम्बन्धित नही हैं। बल्कि उसमें सार-संग्रह की भावना से परम्परागत धारणाओ का अनुकरण किया है? मुख्य सिद्धांत के प्रकाश मे वे समीक्षात्मक रूप में क्रमबद्ध नही किये गये है।"[१०]

तथापि हेमचन्द्र के महत्व को प्रतिपादित करना डा० मुसलगांवकार का कथन है—"हेमचंद्र के समक्ष सभी स्तर के पाठक थे अत: उन्होने सूत्र, चूडामणि और विवेक वृत्ति लिखी—। मम्मट का काव्य-प्रकाश तो क्लिष्ट है, साधारण पाठकों से वह सुगम नहीं, और संस्कृत के काव्य के अतिरिक्त अन्य साहित्य विद्याओ का अध्ययन करने के लिए पाठकों को दूसरे ग्रथ भी देखने पडते है। हेमचन्द्र का काव्यानुशासन इस अर्थ मे परिपूर्ण ग्रन्थ है।[११]

अरिसिंह व अमरचन्द :

उक्त लेखकद्वय विरचित 'काव्यकल्पलता' (कवि-शिक्षा) महत्वपूर्ण काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है। प्रबन्धकोष के अनुसार अरिसिंह जिनदत्त सूरि के शिष्य थे, और इन्होंने अमरचन्द को सिद्ध सारस्वत मत्र दिया था।[१२] अरिसिंह आजन्म गृहस्थ रहे जबकि अमरचन्द मुनि। अरिसिंह वस्तुपाल के प्रिय कवि थे। इनकी एक अन्य कृति सुकृत-संकीर्तन है, जिसमें ११ सर्ग हैं। इसका रचनाकाल १२२२ ई० है। अत: अरिसिंह को १३वी शती के पूर्वार्ध में मानना चाहिए। अमरचद्र अरिसिंह के शिष्य थे और अणदिल पत्तन के समीप वायर के निवासी थे। प्रबन्ध-कोष मे उन्हें 'प्रज्ञालचूड़ामणि' कहा गया है।[१३] इनकी अन्य उपाधि 'वेणीकृपाणामए थी' इनका समय भी १३वी शती है। अमरचंद्र की अन्य कृतियाँ हैं—(१) चतुर्विंशति जिनेन्द्र संक्षिप्त चरितानि (२) स्यादि शब्द समुच्चय (३) काव्यकल्पलता परिमल (उक्त ग्रथ की टीका) (४) काव्यकाव्यलतामंजरी (५) काव्यकल्पाप (६) छन्दो-

रत्नावली (इसकी प्रति उपाध्याय मंगलविजय के पास विजयलक्ष्मी ज्ञानमन्दिर, आगरा में है) (स० का० केवि० में जै०क० का पो०–शास्त्री २५३) (७) अलंकार प्रबोध और (८) सूक्ति रत्नावली।

काव्य कल्पलता का अपरनाम कविशिक्षा या कविता रहस्य भी है। ग्रन्थ चार प्रतानों में विभक्त है और प्रत्येक प्रतान में अनेक अध्याय हैं। प्रथम प्रतान में छन्दसिद्धि की विवेचना, द्वितीय में शब्दसिद्धि, तृतीय में श्लेषसिद्धि और चतुर्थ में अर्थसिद्धि का विवेचन है। डा० डे इसे कविशिक्षाविषयक ग्रंथ मानते हैं।[१४]

देवेश्वर :

देवेश्वर या देवेन्द्रकृत 'कविकल्पलता' काव्यकल्पलता को ही आधार बनाकर लिखी गई है। देवेश्वर के पिता का नाम वाग्भट था, जो मालव नरेश के महामात्य थे।[१५] देवेन्द्र स्वयं स्वीकार करते है कि उन्होंने 'काव्यकल्पलता' को आधार बनाया अतः उनका समय १४वी शती असमीचीन यही होगा। डा० एस० के० डे० ने ठीक ही लिखा है—'कविकल्पलता सीधे काव्यकल्पलता के आधार पर लिखी गई है, जिसमे वडे-बड़े उद्धरणो की चोरी की गई है।[१६] अतः इसके पृथक् विवेचन की आवश्यकता नहीं। इस पर देवेश्वर, बेचाराम सार्वभौम, रामगोपाल कविरत्न, सूर्यकवि और एक विवेक नामक टीकायें उपलब्ध हैं।[१७]

रामचन्द्र-गुणचन्द्र :

उक्त लेखकद्वय विरचित नाट्यदर्पण भारतीय नाट्य परम्परा का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इनके जन्म स्थानादि के सम्बन्ध में विशेष जानकारी प्राप्त नही होती पर डा० गुलाबचन्द्र चौधरी ने डा० लालचद्र गांधी के मतानुसार उनका जन्म १०८८ ई०, ११०४ मे सूरिपद ११७१ में हेमचद्र का पट्ट और ११७३ ई० में उनकी मृत्यु बताई है।[१८] डा० रामजी उपाध्याय भी इनका यही समय मानते है।[१९] अचुम्बित काव्यतंत्र, विशीर्ण काव्यनिर्माणतन्त्र और प्रबन्धशतकर्म उनकी उपाधिया थी। रामचन्द्र नाटककारों में भी अग्रगण्य है उनके—सत्य हरिश्चन्द्र, नलविलास, रघुविलास, निर्भय भीमव्यायोग, मल्लिकामकरन्द, कौमुदी मित्रानन्द नाटक प्राप्त हैं, तथा रोहिणीमृगाङ्क, राघव-अभ्युदय, यादवाभ्युदय, वनमाला आदि के नामोल्लेख मिलते हैं।[२०]

नाट्यदर्पण मे रामचन्द्र ने गुणचन्द्र को सहभागी बनाया। गुणचन्द्र रामचन्द्र के सहाध्यायी और गुरुभाई थे। इनके अतिरिक्त उनका परिचय या कृतियां प्राप्त नहीं होती। प्रबन्धकोष में रामचन्द्र गुणचंद्र को साथी बताया गया है यही यह भी बताया गया है कि हेमचद्र ने जब बालचंद्र को अपना पट्ट न देकर रामचद्र को दिया तो बालचंद्र अजयपाल से मिला अजयपाल ने विष देकर कुमारपाल को मार डाला और राजा बन गया तब उसने रामचंद्र आदि को तप्त लौहासन पर बिठाकर मार डाला, विहारी को गिरा दिया।[२१]

नाट्यदर्पण नामानुरूप नाट्यतत्वों का निदर्शक है। लेखक ने स्वयं विवरण नाम की टीका इस पर लिखी है आरम्भ मे जिनको नमस्कार किया गया है। ग्रन्थ चार भागों में विभक्त है, जिन्हें विवेक नाम दिया गया है। प्रथम विवेक में रूपको की सख्या १२ बताई गई है और उनमे से नाटक का विवेचन किया गया है। नाटक के १२ भेद धार्मिक पृष्ठभूमि पर आधारित है। द्वादशांग वाणी के आधार पर ही १२ भेद माने गए है।[२२] उसका विवेक का नाम 'नाटक निर्णय विवेक' है।

द्वितीय विवेक 'प्रकरणाद्येकादशरूपनिर्णय' में नामानुरूप ११ रूपकों का वर्णन है। नाट्यदर्पण में नाटिका एव प्रकरणी की रचना रूपक माना गया है। तृतीय विवेक का नाम 'वृत्तिभावाभिनय विचार' देते हुए इसमें वृत्तियों का नाम 'सर्वरूपकसाधारणलक्षणनिर्णय' देते हुए सभी रूपकों के लिए उपयोगी नाट्य तत्वो का विवेचन है।

अजितसेन :

आचार्य अजितसेन की 'अलंकार चिन्तामणि' और 'शृगारमजरी' ये दो कृतियां प्राप्त होती है। अलकार चिन्तामणि मे अर्हद्दास कृत मुनिसुव्रत काव्य के १/३४, २/३१, २/३२, २/३३ श्लोक उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किए गए है, अतः यह स्पष्ट है कि वे अर्हद्दास के पश्चाद्वर्ती हैं। अर्हद्दास ने आशाधर के नाम बड़े आदर और सम्मान के साथ लिया है। यह विवादास्पद है कि अर्हद्दास

आशाधर के साक्षात् शिष्य थे या परम्परया पर वे आशाधर के पश्चात्वर्ती हैं, यह निश्चय है। आशाधर ने अपनी अन्तिम कृति 'अनगार-धर्मामृत-टीका' वि०सं० १३०० (१२४३ ई०) में पूर्ण की थी।[13] इस प्रकार आशाधर का समय तेरहवी का पूर्वार्ध और अर्हद्दास का १३वी का उत्तरार्ध तथा इसी आधार पर अजितसेन का समय अर्हद्दास के बाद चौदहवी शती का प्रथम चरण मानना चाहिए।

जैन परम्परा में अजितसेन नाम के अनेक आचार्य हुए हैं, पर अ०चि० के कर्ता दिगम्बराचार्य थे, उनकी गुरु परम्परा आदि के सम्बन्ध में कोई उल्लेख नही मिलता, तथापि आधुनिक शोध मर्मज्ञों के कथन ध्यातव्य है। डा. ज्योतिप्रसाद जैन ने लिखा है कि—'अजितसेन यतीश्वर दक्षिण देशान्तर्गत तुलुव प्रदेश के निवासी सेनगण पीगरिगच्छ के मुनि सम्भवतया पार्श्वसेन (ज्ञाततिथि १२७१ ई०) के गुरु, महासेन के सधर्मा या गुरु थे।'[14] डा. नेमिचन्द शास्त्री ने भी उनके सेन सघ के आचार्य होने की पुष्टि की है।[15] उनका इस मान्यता का हेतु 'शृंगारमञ्जरी' का अन्तिम भाग है।[16] डा. शास्त्री अ.च. का रचना काल १२५०-१२६० ई० मानते हैं, जो उचित प्रतीत नहीं होता। डा. ज्योति प्रसाद जैन १२४०-१२७० ई० मानते है जो मान्य प्रतीत नही होता। दोनों विद्वानों ने अपने तर्क की पुष्टि मे अर्हद्दास को आशाधर का साक्षात् शिष्य मानकर मुनिसुव्रत काव्य का काल १२४०, १२५० ई० माना है और अर्हद्दास के प्रशस्ति-पद्यों को उद्धृत किया हैं। पर इनसे अर्हद्दास के आशाधर के समकालीन होने की सिद्धि नहीं होती। उन्हें उनके परवर्ती ही मानना चाहिए। डा. हरनाथ द्विवेदी का भी यही मत है। हमारी विनम्र सम्मति में अर्हद्दास का समय १२५०-१२६० ई० मानकर अ. चि. का काल कम से कम १३०० ई० के आसपास मानना चाहिए।

अजितसेन की अ चि. और शृ म. दो रचनायें प्राप्त हैं। शृ.म में तीन परिच्छेद हैं। कुछ भण्डारो की सूचियों में यह रायभूप की कृति के रूप मे उल्लिखित है। किन्तु ग्रन्थ प्रशस्ति से यह स्पष्ट है कि इसके रचयिता आचार्य अजितसेन है। उन्होंने शीलविभूषणा रानी विट्ठलदेवी के पुत्र और रामनाम से विख्यात सोमवंशी जैन नरेश नाभिराय के पढ़ने के लिए की थी।

अ.चि. में पांच परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद के १०६ श्लोकों में कविशिक्षा पर प्रकाश डाला गया है द्वितीय मे शब्दालंकार के चित्र, वक्रोक्ति अनुप्रास और यमक के चार भेद बनाकर चित्रालकार का विस्तार से विवेचन है। तृतीय में पुनः वक्रोक्ति आदि का सभेद निरूपण, चतुर्थ मे ७० अर्थालंकारों, पचम मे नव रसों रीतियों, शब्द-स्वरूप-भेद और शक्तियों के गुण-दोषो और अन्त मे नायक-नायिका भेदों का बड़े विस्तार से निरूपित किया गया है। अनेक मौलिकताओं के कारण यह ग्रन्थ अलकार विषयक ग्रन्थो मे महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

विजयवर्णी :

विजयवर्णी की 'शृंगारार्णव चद्रिका' काव्यशास्त्र विषयक महत्त्वपूर्ण रचना है। इनके व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध मे कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती। प्रशस्ति से पता चलता है कि ये मुनीन्द्र विजयकीर्ति के शिष्य थे। उन्होंने राजा कामराय की प्रशसा की है तथा कर्णाटक के गुणवर्मन आदि कवियों का उल्लेख किया है। जिससे पता चलता है कि सम्भवतः ये कर्णाटकवासी रहे होगे।

डा० शास्त्री ने लिखा है—११५७ ई० में बंगवाडी पर वीरनरसिंह शासन करता था उसका एक भाई पाठ्यराज था। नरसिंह का पुत्र चन्द्रशेखर १२०८ ई० में पाठ्यराज १२२४ ई० में और उनकी बहन विट्ठलाम्बा या विट्ठल देवी १२३६ मे राज्यासीन हुई। विट्ठलादेवी का पुत्र कामराय था, जो १२६४ ई० में राज्यासीन हुआ। विजयवर्णी के कामराय का समकालीन होने से इनका समय १३वीं शती का अन्तिम चरण मानना चाहिए।

उक्त ग्रन्थ के अतिरिक्त उनकी अन्य कोई रचना प्राप्त नही होती। यह परम्परा प्राप्त विषयों का विवेचन करती है। जगह-जगह यति भंग है। इसमे दस परिच्छेद है। विषय-वस्तु निम्नवत् है। वर्णगणफलनिर्णय, काव्यगत शब्दार्थनिश्चय, रसभावनिश्चय, नायकभेदनिश्चय, दशगुणनिश्चय, रीतिनिश्चय, वृत्तिनिश्चय, शय्यापाक-

निश्चय, अलंकार निर्णय एवं दोष-गुण निर्णय। इसका अपरनाम 'अलंकार संग्रह' भी है।

विनयचन्द्रसूरि :

इनका 'काव्यशिक्षा' ग्रन्थ उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त पार्श्वनाथचरित, मल्लिनाथचरित, मुनिसुव्रतस्वामी चरित, कल्पनिरुक्त, कलिकाचार्यकथा तथा दीपावलीकल्प रचनाएं उपलब्ध होती हैं। रचनाओं के आधार पर इनका साहित्यिककाल १२२९-८८ ई० स्वीकार किया गया है। काव्यशिक्षा मे कविशिक्षाओं का वर्णन है।

नरेन्द्रप्रभसूरि :

नरेन्द्रप्रभसूरि वस्तुपाल के समय के विद्वान् थे। गुरु का नाम नरचन्द्र सूरि था, जिनकी आज्ञा से इन्होने अलंकार महोदधि की टीका और वृत्ति की रचना १२२५ ई० मे की थी। इनकी अन्य रचनायें 'काकुत्स्थ कलिनाटक' तथा 'वस्तुपाल प्रशस्ति' हैं। वस्तुपाल के साथ ये शत्रुञ्जय यात्रा पर गये थे और ३७० पद्यो की प्रशस्ति यात्रा के प्रारम्भ तथा अवसान पर लिखी थी।

माणिक्यचन्द्र :

माणिक्यचन्द्र मम्मट के काव्यप्रकाश के टोकाकार इनकी 'पार्श्वनाथचरित' और 'शान्तिनाथचरित' ये दो कृतियां और प्राप्त है। ये राजगच्छीय थे। इस गच्छ मे भरतेश्वर सूरि—वीरस्वामी—नेमिचन्द्रसूरि—सागरचद्र—माणिक्यचद्र सूरि हुए। ये महामात्य वस्तुपाल के समकालीन थे। इनका समय १२१० ई० के आसपास है। मुनि जिनविजय ने यही समय माना है।

सकेत टीका कदाचित काव्यप्रकाश की प्रथम व्याख्या है। प्रकाशन अनेक स्थानों से हुआ है, पर श्री रसिकलाल डो० परीख ने राजस्थान प्राच्यविद्या मन्दिर से प्रकाशित काव्यप्रकाश के द्वितीय भाग में सम्भवत: प्रथम बार आलोचनात्मक और तुलनात्मक विवेचन किया है।

महाकविमण्डन :

'अलंकारमण्डन' और 'कविकल्पद्रुम' मण्डन की इन दो रचनाओ के अतिरिक्त कादम्बरीमंडन, चम्पूमडन, चद्रविजयप्रबन्ध, काव्यमंडन, शृंगारमंडन, संगीतमडन, उपसर्गमडन, सारस्वत मंडन ये रचनायें और उपलब्ध होती हैं। काव्यमंडन के अन्त में दी गई प्रशस्ति के अनुसार यह श्रीमाल वंश के झाझण सघवी के द्वितीय पुत्र बाहण के छोटे पुत्र थे तथा माण्डवगढ़ के राजा होशगशाह के मंत्री थे। राजा भी साहित्य प्रेमी था। उनका समय काणे महोदय ने १५वीं शती स्वीकार किया है। उक्त ग्रन्थों में काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों का सुन्दर विवेचन है।

पद्मसुन्दर :

पद्मसुन्दर 'अकबरसाहिबशृंगार दर्पण' की रचना मुगल सम्राट अकबर को सम्बोधित करते हुए की है। इसमें चार उल्लास है और रुद्रकृत शृंगारतिलक का अनुसरण किया गया है। अकबर के साथ ही इनका समय १५५६-१६०५ के मध्य मानना चाहिए। पद्मसुन्दर की अन्य रचनाएं है, भविष्यदत्त चरित्र, रायमल्लाभ्युदय, पार्श्वनाथकाव्य, प्रमाणसुन्दर, सुन्दरप्रकाश, शब्दार्णव, शृंगारदर्पण, जम्बूचरित, हायनसुन्दर आदि।

राजमल्ल :

राजमल्ल कृत 'पिङ्गलशास्त्र' छन्दसम्बन्धी रचना है। राजमल्ल की अन्य कृतियां लाटीसंहिता, जम्बूस्वामीचरित, अध्यात्मकमलमार्तण्ड, पंचाध्यायी हैं। इनका रचनाकाल १६०० ई० के आसपास है. अत: जम्बूस्वामी चरित में उल्लेख हैं कि इस ग्रन्थ की रचना आगरा में श्री टोडर के आग्रह पर हुई ये टोडर सभवत: अकबर के राजस्वमत्री थे। लाटीसहिता की समाप्ति १५८४ ई० में हुई थी—

'श्रीनृपतिविक्रमादित्यराज्ये परिणतेसीत।
सहैकचत्वारिंशक्दरब्दानां शतषोडश॥

—लाहोसंहिता २

पिंगलशास्त्र की रचना भूपाल भारमल्ल के निमित्त से नागौर मे हुई। डा. शास्त्री का अनुमान है कि राजमल्ल आगरा से नागौर चले गए थे, मत-भूपाल भारमल्ल वहीं के रहने वाले थे। इसमे छन्दों के लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किए गए है।

इनके अतिरिक्त अन्य कवि हैं—

समयसुन्दरमणि (१५८९-९० ई०) अष्टलक्षार्थी या अर्थरत्नावली।

नरसिंहसूरि—रसनिरूपण।

धर्मसूरि—(१६वी ई०) साहित्यरत्नाकर, १० तरगो मे दो टीकायें इस पर प्राप्त है जिनके लेखक क्रमशः मल्लादिलक्ष्मणसूरि और वेंकटसूरि हैं।

उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि यद्यपि सख्या की दृष्टि से अल्प ही काव्यशास्त्रीय कृतियों का प्रणयन हुआ, पर गुणवत्ता की दृष्टि से वे पीछे नहीं है। इनके अतिरिक्त १५-१६वी शती में अधिकांश अनेक विद्वानों ने लोकप्रिय ग्रन्थों की टीकायें लिखीं जिनमें काव्यप्रकाश, काव्यालंकार आदि पर टीकाये बहुतायत से मिलती हैं। इनके लेखको ने इनमे जैनत्व का कोई दृष्टिकोण नही अपनाया जो इनकी महानता, धर्मनिरपेक्षता और विद्वता का परिचायक है। आवश्यकता है सभी ग्रन्थो पर आलोचनात्मक और शोधपरक दृष्टि से अध्ययन की। शोधार्थी और विद्वद्वृन्द इस दिशा में अग्रेसर होगे, ऐसी आशा है।

सन्दर्भ सूची

१. आचार्य हेमचन्द्र : डा० वि. भा. मुसलगांवकर म. प. हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल १९७१, पृ. ६।

२. हेमचन्द्राचार्य जीवतचरित : वाठिया. चौखम्बा, विद्याभवन, वाराणसी १९६७।

३. कुमारपाल चरित्र सग्रह : सपा० जिनविजयमुनि सिंधी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई १९५६।

४. हेमचन्द, पृ० २०२

५. वही पृ० ४३

६. वही, पृ० १०४

७. सस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास : अनु० इलबचन्द्र शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, पृष्ठ २५९।

८-९. वही पादटिप्पण, पृष्ठ २५९

१०. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास : अनु० मायाराम शर्मा, बिहार, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, १९७३, भाग-दो, पृष्ठ-२२१।

११. आचार्य हेमचन्द्र, पृष्ठ-११७।

१२. प्रबन्धकोष : सम्पा० जिन विजय सिंधी, जैन विद्या पीठ १९३५, पृष्ठ-६१।

१३. वही, पृष्ठ ६१।

१४. सस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास : पटना, पृ० २६३ भाग-२।

१५. वही, पृ० २६५ (भाग-२)।

१६. सं० का० का इति० : काणे, पृ० ४९८.

१७. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास : भाग छः, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, शोध संस्थान, वाराणसी, पृ० ५७४।

१८. मध्यकालीन सस्कृत नाटक : डा० रामजी उपाध्याय, पृ० १५७।

१९. उनके विस्तृत परिचय के लिए देखें मेरा—'सस्कृत जैन नाटक और नाटककार' शीर्षक लेख, परिषद् पत्रिका २२/२।

२०. प्रबन्धकोष, पृष्ठ ९८।

२१. नाट्यदर्पण : प्रका० साहित्य भंडार मेरठ, भूमिका पृ० ११।

२२. जैन सन्देश-शोधांक, मथुरा, १८ दि० १९५८ ई०।

२३. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, सागर, भाग ४, पृ० ३१।

२४. "श्री सेन गणाग्रगण्य तपोलक्ष्मीविराजित सेनदेव यतीश्वर विरचितः" वही पृ०-३०।

महेबा का जैन मन्दिर

□ नरेश कुमार पाठक

मध्य प्रदेश के छतरपुर जिला की नोगांव तहसील में छतरपुर नौगांव मार्ग पर १९वें कि०मी० पर मऊ सहानियाँ गाँव है। यहा से ५ कि० मी० पर महेबा गाँव है। इस गाँव को बुन्देलखण्ड केशरी महाराजा छत्रशाल ने १७वी, १८वी शताब्दी में बसाया था। गांव के अन्दर इसी कालखण्ड का जैन मंदिर स्थित है।

मंदिर बुन्देला स्थापत्य कला का बना हुआ है। मंदिर के गर्भगृह के अन्दर संगमरमर की निर्मित दो चावरधारी प्रतिमा एक १८×१६×६ सें०मी० आकार की पीतल की अभिलिखित प्रतिमा रखी है। इसमे अभिलेखित पाषाण की पार्श्वनाथ एवं चन्द्रप्रभ की प्रतिमा रखी हुई है। प्रदक्षिणापथ में तीर्थंकर आदिनाथ, अजितनाथ, सुपार्श्वनाथ, पार्श्वनाथ एवं लांछन विहीन तीर्थंकर की प्रतिमा रखी है। यहाँ की कुछ प्रतिमाओ पर ग्राम महेबा, रियासत चरखारी का उल्लेख भी मिलता है। यहाँ पर दो मेरू शिखर मीनारनुमा निर्मित किए गए हैं। जिसके प्रथम स्तर मे चारों तरफ हाथी के मुख बनाकर होदा को बनाया गया है। हाथी की गर्दन के पास जैन तीर्थंकर पद्मासन में बैठे हुए हैं। इसके ऊपर स्तम्भ के चार भाग किए है। प्रत्येक दिशा में एक-एक तीर्थंकर है। इस प्रकार कुल १६+४=२० तीर्थंकरों का अंकन है। शिखर पर उल्टा कमल, कलश, पुष्प आदि का निर्माण किया गया है। मंदिर से प्राप्त जैन प्रतिमाओं का विवरण इस प्रकार है :—

आदिनाथ—मंदिर के प्रदक्षिणा पथ मे प्रथम तीर्थंकर जिन्हें ऋषभनाथ भी कहते है। कायोत्सर्ग मुद्रा में शिला पट्टिका पर खड़े है, तीर्थंकर के परिकर में दो कायोत्सर्ग एवं ६ पद्मासन में जिन प्रतिमा अंकित है। मूर्ति का आकार १६×११×५ सें०मी० है।

अजितनाथ—मंदिर के प्रदक्षिणापथ में द्वितीय तीर्थंकर अजितनाथ की प्रतिमा कायोत्सर्ग मुद्रा में अंकित है। दोनों पार्श्व में त्रिभग मुद्रा में एक-एक चावरधारी एवं नीचे एक-एक भक्त बैठा हुआ है। पादपीठ पर अजितनाथ का ध्वज लांछन गज (हाथी) अंकित है। कृष्ण पाषाण पर निर्मित प्रतिमा का आकार २४×७×५ सें०मी० है।

सुपार्श्वनाथ—मंदिर के प्रदक्षिणा पथ में रखी सातवें सुपार्श्वनाथ पांच सर्प फण नाग मौलि धारण किये हैं। इस प्रतिमा पर संवत् ११४१ (ईस्वी सन् १०८४) अंकित है। प्रतिमा का आकार २६×७×७ सें०मी० है।

चन्द्रप्रभ—मंदिर के गर्भगृह मे रखी आठवे तीर्थंकर चन्द्रप्रभ पद्मासन की ध्यानस्थ मुद्रा मे बैठे हुए हैं। पादपीठ पर उनका ध्वज लांछन चंद्र का अंकन है एवं संवत् १८८३ (ईस्वी सन् १८२६) अभिलेखित है। प्रतिमा का आकार ५०×४०×१८ से०मी० है।

पार्श्वनाथ—इस मंदिर से तेइसवें तीर्थंकर की दो प्रतिमा रखी है। प्रथम मंदिर के प्रदक्षिणा पथ में रखी पार्श्वनाथ की प्रतिमा कायोत्सर्ग मुद्रा मे अंकित है। सिर के ऊपर सप्तफणों से युक्त नाग मौलि का अकन है। परिकर मे भक्त परिचारक, दो कायोत्सर्ग एवं दो पद्मासन में जिन प्रतिमा अंकित है। मूर्ति का आकार १६×७×३ से०मी० है।

दूसरी मंदिर गर्भगृह से पार्श्वनाथ की प्रतिमा के सिर के ऊपर सप्तफण नाग मौलि है। प्रतिमा पर सवत् १८४२ (ईस्वी सन् १७८५) उत्कीर्ण है। संगमरमर पत्थर पर निर्मित प्रतिमा का आकार ५०×३०×१६ सें०मी० है।

लांछन विहीन तीर्थंकर—मंदिर के प्रदक्षिणा पथ से दो प्रतिमा प्राप्त हुई है। प्रथम कायोत्सर्ग मुद्रा मे अंकित लांछन विहीन तीर्थंकर के दोनों ओर चावरधारी, वितान मे दुन्दभिक, अभिषेक करते हुए गजराज का अकन है। परिकर में दोनों ओर दो-दो कायोत्सर्ग मुद्रा में जिन प्रतिमा अंकित है। प्रतिमा का आकार २२×१२×६ सें०मी० है।

दूसरी कृष्ण पाषाण पर निर्मित लांछन विहीन तीर्थंकर पद्मासन की ध्यानस्थ मुद्रा मे निर्मित है। इस प्रतिमा पर संभवतः सवत् १०२५ (ईस्वी सन् ९६८) तिथि अंकित है। प्रतिमा का आकार १८×१०×५ से.मी. है।

उद्देशिक आहार

□ श्री बाबूलाल जैन

अभी तक समाज में यही मान्यता है कि मुनि के अथवा पात्र के उद्देस से अगर आहार बनाया जावेगा तो जो पात्र आहार लेगा वह उद्दिष्ट आहार ग्रहण के दोष का भागी होगा अतः गृहस्थ अपने लिए आहार बनावे और उसी मे से पात्र को आहार दान देवे। दूसरी तरफ गृहस्थ कहता है कि जब हम गर्म पानी नहीं पीते, बिना नमक का भोजन नही करते और शुद्ध भोजन नही करते तब जो कुछ भी बनाया जाता है वह मुनि अथवा पात्र के लिए ही बनाया जाता है उस हालत मे उद्दिष्ट भोजन का ग्रहण साधु के होगा ही। बहुत बार इस बारे मे चर्चा भी हुई परन्तु समाधान नही निकला। इस लेख को इसी विषय पर विचार करने के लिए लिखा जा रहा है।

यह भी आचार्यों ने लिखा है कि गृहस्थ अपने लिए आहार नही बनाता वह तो पात्र दान के लिए ये ही आहार पात्रदान के लायक बनाता है और पात्र को देने के बाद जो बच जाता है उसमे वह और उसके आश्रित लोग खाकर सतुष्ट हो जाते है। क्योकि गृहस्थ पात्र के लिए आहार बनाता है इसलिए उसके पुण्य का बध ही होता है अगर वह अपने लिए भोजन बनावे तो पाप का बध हो। और क्योकि मुनि ने बनाया नही बनवाया नही और अनुमोदना नही करी, मन से, काय से अतः मुनि कोई दोष का भागी नही है। अगर गृहस्थ के उद्देसिक परिणामो का दोष मुनि को लगने लगे तो मुनि को कभी मोक्ष की प्राप्ति न हो। दूसरे के परिणामों का फल दूसरे कैसे भोगेगा। इससे यही साबित होता है कि उद्दिष्ट का अर्थ यही होना चाहिए कि मुनि बनाये नही, बनवावे नही, और बनाने की अनुमोदना भी करे नही, मन से बचन से काय से तब मुनि उस बनाने के आरम्भ के बंध को प्राप्त नही होता। इसलिए श्रावक पात्र के लिए पात्र के योग्य भोजन बनावे तो कोई दोष नहीं है।

इस बारे मे आगम प्रमाण इस प्रकार योगसार प्राकृत अमितगति आचार्य कृत अध्याय ४ गाथा २०।

आहारादिभिरन्येन कारितैर्मोदितैः कृतैः
तदर्थं बध्यते योगी निरोगी न कदाचन।

रागरहित योगी उसके लिए दूसरे के द्वारा किए, कराये तथा अनुमोदित हुए आहारादिको से कदाचित् बध को प्राप्त नही होता।

णवकोटि कम्म सुद्धो पच्छा पुव्वो य सपदिय काले।
पर सुह दुःख निमित्त वज्झदि जदि णत्थि णिव्वाण।

तीन काल में नव कोटि शुद्ध भोजन को जो मुनि लेता है सो पीछे, पहले व वर्तमान मे नव कोटि शुद्ध है और यदि वह दूसरों के सुख व दुख का निमित्त हो और इस निमित्त होने के कारण वह शुद्ध भोजी कर्म बध को प्राप्त करे तो उसको निर्वाण का लाभ नही हो सकता।

समयसार का गाथा २८८-२८९ की जयसेनाचार्य की टीका का भावार्थ—

"कोई दातार पात्र को दान देने के लिए ऐसी कल्पना करे कि मै पात्र के लिए अमुक-अमुक भोजन बनाऊ तो उस भोजन को औद्देशिक अधा कर्म कहते हैं। इस आधा कर्म के होते हुए भी मुनि शांत भाव से उस भोजन को कर ले तो मुनि के उस भोजन कृत बध का अभाव है। जबकि अपनी कल्पना के कारण दातार अवश्य उस दोष का भागी है। यहा यह अभिप्राय है कि भोजन के पीछे पहले या भोजन करते समय मुनि के लिए आहार आदि के विषय मन, वचन, काय से कृतकारित अनुमोदनारूप नौ विकल्पो से रहित शुद्ध आहार होता है अर्थात् मुनि अमुक आहार होने के विषय मन, वचन, काय से स्वय करना, कराना व उसकी अनुमोदना कुछ भी विकल्प नही करते, इसीसे उन मुनियों के दूसरे गृहस्थी के द्वारा लिए हुए आहार आदि के सम्बन्ध मे कर्मों का बध नही होता क्योकि बध परिणामों के आधीन है।"

अगर मुनि करने, कराने और अनुमोदना के भाव मन, वचन, काय से करे तो कर्मों से जरूर बंधेगा।

जैसा ऊपर में लिखा है श्रावक को तो आरम्भ करना ही है अपने लिए भोजन बनायेगा ही। परन्तु वह पात्र के उद्देश्य से बनावे तो पुण्य का ही बध हो पाप का नही हो। इसलिए श्रावक भी लाभ मे रहा और मुनि महाराज के बध हुआ नही। विद्वान लोग इस बारे मे विचार करे।

केन्द्रीय संग्रहालय गूजरी महल ग्वालियर में संरक्षित छठे तीर्थंकर पद्मप्रभ की प्रतिमाएं

□ नरेश कुमार पाठक

पद्मप्रभ वर्तमान अवसर्पिणी के छठे जिन है। कौशांबी के शासक धर (या धरण) इनके पिता और सुसीमा इनकी माता थी। जैन परम्परा मे उल्लेख है कि गर्भकाल मे माता को पद्म की शैय्या पर सोने की इच्छा हुई थी तथा नवजात बालक के शरीर की प्रभा भी पद्म के समान थी इसी कारण बालक का नाम पद्मप्रभ रखा गया[1]। राज-पद के उपभोग के बाद पद्मप्रभ ने दीक्षा ली और छ: माह की तपस्या के बाद कौशाम्बी के सहस्त्राम्र वन मे प्रियगु (या वट) वृक्ष के नीचे कैवल्य प्राप्त हुआ।[2]

पद्मप्रभ का लांछन पद्म है और यक्ष-यक्षी कुसुम और अच्युता (या श्यामा—या मानसी) है। दिगम्बर परम्परा मे यक्षी का नाम मनोवेगा है। मूर्त अङ्कनों मे पद्मप्रभ की पारपरिक यक्ष-यक्षी कभी निरूपित नही हुए।[3] केन्द्रीय सग्रहालय गूजरी महल ग्वालियर मे पद्मप्रभ की दो प्रति-मायें सग्रहीत है, जिसका विवरण इस प्रकार है :—

बेसनगर (विदिशा) से प्राप्त (स० क्र० ३३) कायोत्सर्ग मुद्रा मे निर्मित इस प्रतिमा की मुखाकृति लुप्त सी हो गई है। फिर भी योग मुद्रा की शान्ति चेहरे पर स्पष्ट जाहिर होती है एव केश राशि पर अलग से सामान्य रूप से प्रचलित हल्का सा उष्णीष है। हाथ सीधे नीचे लटके हुए है जो कलाई से टूटे हुए है। मूर्ति का प्रभा-मंडल गोलाकार पंक्तियो से अलकृत है जो सारनाथ की बुद्ध प्रतिमा के प्रभामण्डल से समानता रखता है।[4] जिसमे दो विद्याधर हार फूल लिए एक समान है। केवल पीछे लगे वृक्ष से अन्तर स्पष्ट होता है।

इस प्रतिमा का पादपीठ साधारण है, परन्तु दो पूर्ण विकसित कमल दण्ड नीचे से खंडित अवस्था में है। दोनों तरफ चांवरधारिणी पूजक आराधना करते हुए अंकित है। कमलदण्ड से ऐसा प्रदर्शित होता है कि यह मूर्ति पद्मप्रभ की हो सकती है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन जैन मूर्तियो के पादपीठ पर चिह्न या लांछन रहता था।[5] लगभग ५वी शती ई० की इस जैन प्रतिमा को एम. आर. ठाकुर ने जैन तीर्थंकर लिखा है।[6]

दूसरी प्रतिमा ग्वालियर दुर्ग से प्राप्त पद्मासन (सं० क्र० ११६) की ध्यानस्थ मुद्रा मे निर्मित है। प्रतिमा सिर विहीन एव दो खंडों मे है। दो सिंहों पर धारित पादपीठ के मध्य पद्मप्रभ का लाछन पद्म तथा उनकी पूजा करते हुए स्त्री-पुरुष स्थित है। सिंहों के दोनो ओर दायें यक्ष पुष्प बाये यक्षी मनोवेगा का अङ्कन है। पादपीठ के नीचे दो पद्मासन मे जिन प्रतिमाओ का आलेखन है। चौकी पर विक्रम संवत् १५५२ (ईस्वी सन् १४९२) का आलेख उत्कीर्ण है जिसे एस०के० दीक्षित ने महाराजा मानसिंह तोमर के राज्यकाल की माना है। एस० आर० ठाकुर ने इसे जैन तीर्थंकर लिखा है।[7]

सन्दर्भ-सूची

१. त्रिषष्ठिशलाका पुरुष चरित्र (हेम चंद्र कृत) अनु० हेलेन एम० जानसन, गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज उड़ीसा ३, ४, ३८, ५१।

२. जैन कला एव स्थापत्य (खण्ड ३, अमलानद घोष, सम्पादित भारतीय ज्ञानपीठ) १९७५ पृष्ठ ६०४।

३. तिवारी मारुति नन्दन प्रसाद "जैन प्रतिमा विज्ञान" वाराणसी, १९८१ पृष्ठ १००।

४. कुमार स्वामी ए० के० हिस्ट्री आफ इंडियन एण्ड इण्डोनेसियन आर्ट १९६५ पृष्ठ XLII.

५. गुप्तकाल में जैन मूर्तियों के विकास मे प्रतिमा लांछनो मे केवल श्री वत्स लाछन ही नही मिलते बल्कि छोटे-छोटे यक्ष-यक्षों के रूप मे शासन देवताओ का अङ्कन मिलता है, शुक्ला डी० ए० जैन एण्ड बुधिष्ट आक्नोग्राफी आर्किटेक्चर II पृष्ठ ११.

६ ठाकुर एस० आर० कंटलाग आफ स्कपचर्स आर्को-लाजीकल म्यूजियम ग्वालियर एम० बी० पृष्ठ-४ क्रमांक १२।

७. ठाकुर एस० आर० पूर्वोक्त पृष्ठ २० क्रमांक ४।

जैन की पहिचान : अपरिग्रह

☐ पद्मचन्द्र शास्त्री 'सम्पादक'

'परस्परव्यतिकरे सति येनाऽन्यत्वं लक्ष्यते तल्लक्षणम्—' परस्पर में मिले हुए अनेकों मे जो हेतु किसी एक की स्वतन्त्ररूपता को लक्षित कराता है वह उस जुदे पदार्थ का लक्षण होता है। जैसे अग्नि का लक्षण उष्णता अग्नि को पानी से जुदा बताने में हेतु है। ससार मे जैन, बौद्ध, वैष्णव, शैव, मुस्लिम, सिख आदि अनेकों मत-मतान्तर प्रचलित है उन सबकी पृथक्-पृथक् पहिचान कराने के उनके अपने-अपने लक्षण निश्चित है, जिनमे उनकी पृथक् पहिचान होती है। यह बात निर्विरोध है कि जैनों की पहिचान कराने मे 'अपरिग्रह' मुख्य हेतु है। यह हेतु जैनों का अन्यों से व्यवच्छेद कराता है—जैनो की पृथक् पहिचान कराता है। साधारणतया अपरिग्रह के सिवाय अन्य शेष धर्मों—अहिंसादि मे वह शक्ति नही जो वे जैनो का अन्य मतान्तरो से सर्वथा व्यवच्छेद कराने में सर्वथा समर्थ हो सकें। यतः अपरिग्रह के सिवाय अन्य अहिंसादि शेष धर्म अन्य सभी साधारण मत मतान्तरों मे हीनाधिक रूपों में पाये जाते हैं। अतः जैनों मे उनका अस्तित्व तात्त्विक पहिचान के रूप मे विशेष महत्व नही रखता और ना ही उनमे से कोई धर्म औरों से जैनों की अलग पहिचान कराने मे समर्थ ही है। तथा जैनों की हर क्रिया में पूर्ण अपरिग्रहत्व की भावना निहित है। यहा तक कि जैन का अस्तित्व भी अपरिग्रह पर आधारित है। यतः—

'जैन' शब्द के निष्पन्न होने मे 'जिन' की मुख्यता है। जो 'जिन' का है वह 'जैन' है। यहां जीतने से तात्पर्य मोह, राग-द्वेषादि पर-वैभाविक भाव अर्थात् कर्मों के जीतने से है। क्योंकि ये मोहादि पर-भाव स्वय भी परिग्रह हैं और परिग्रह के मूल भी हैं।

हमने श्रावक व मुनियो की दैनिकचर्या को पढा है और उनके प्रारम्भिक कृत्यों को देखा है। नित्य-नियम सामायिक आदि के लक्षणो मे भी अपरिग्रह-भावना की कारणता विद्यमान है अर्थात् जब तक रागादि-परिग्रह के प्रति उदासीन भाव नहीं होगा तब तक सामायिक न हो सकेगी। जहा पर—परिग्रह से निवृत्ति और स्व यानी अपरिग्रहत्वरूप निर्विकार स्व-परिणाम मे ठहराव है वहीं सामायिक है और वह ही आत्मा की शुद्धि मे कारण है। जब तक जीव की पर-प्रवृत्ति बनी रहेगी, चाहे वह प्रवृत्ति अहिंसादि में ही क्यों न हो? वह बन्ध का ही कारण होगी। क्योंकि अहिंसादि धर्म पर-अपेक्षाकृत है, पर के आसरे से हैं। स्व-परिणाम 'अपरिग्रह' रूप होने से बन्ध का कारण नही। अहिंसादिक सामाजिक धर्म हैं और अपरिग्रह आत्मिक धर्म है जिसका 'जिन' और जैन से तादात्म्य सम्बन्ध है।

युग के आदि प्रवर्तक तीर्थंकर ऋषभदेव से लेकर भ० महावीर तक चौबीस तीर्थंकर और अरहन्त अवस्था व मुक्ति को प्राप्त असंख्य सिद्ध अपरिग्रही होने से ही पूर्णता को पा सके। एक भी दृष्टान्त ऐसा नही है जिससे परिग्रही का मुक्त होना सिद्ध हो सके।

जैनों मे जो दिगम्बर, श्वेताम्बर जैसे दो भेद पड़े हैं वे परिग्रह और अपरिग्रह के कारण ही पड़े है। ऐसा मालूम होता है कि जिन्होंने अपरिग्रह पर समन्ततः और सूक्ष्म दृष्टि रखी वे दिगम्बर और जिन्होने अपरिग्रह पर स्थूल, एकांगी बाह्य-दृष्टि रखी वे श्वेताम्बर हो गए। स्मरण रहे जहां दिगम्बर अन्तरंग-बहिरंग सभी प्रकार के परिग्रह त्याग पर सूक्ष्म रूप मे जोर देते है, वहां श्वेताम्बर बाह्य-परिग्रह को गौण कर केवल अन्तरग परिग्रह को मुख्यता देते है और इसीलिए उनमें स्त्री और सवस्त्र मुक्ति को मान्यता दी गई है। यदि इन भेदों के होने मे अहिंसादि को लेकर मत-भेद की बात होती तो उसका कही तो कैसे भी उल्लेख होता—जैसा कि नही है। दोनों में ही अहिंसादि चार धर्मों के लक्षणों और उनके रूपों की मान्यता

में एकरूपता है। यदि भेद है तो परिग्रह और अपरिग्रह के लक्षणों को लेकर ही है।

दोनों सम्प्रदायों मे दो श्लोक बड़े प्रसिद्ध हैं। उनमें दिगम्बर-सम्प्रदाय में शास्त्र वाचन के प्रारम्भ में पढ़ा जाने वाला मंगलश्लोक पूर्ण अपरिग्रही होने के रूप में नग्न दिगम्बराचार्य श्री कुन्दकुन्दाचार्य को नमस्कार करता है जब कि श्वेताम्बरों में इस श्लोक का रूप सवस्त्र (दिगम्बरों की दृष्टि में परिग्रही) आचार्य स्थूलभद्र को नमस्कार रूप में है। तथाहि—

दिगम्बरों मे—

मंगलं भगवान वीरो मंगलं गौतमोगणी।
मंगल कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मगलम्॥

श्वेताम्बरों मे—

मगलं भगवान वीरो मगलं गौतमोप्रभु।
मंगलं स्थूलभद्रार्यो जैन धर्मोऽस्तु मंगलम्॥

उक्त श्लोकों से यह भी ध्वनित होता है कि महावीर और गौतमगणधर के पर्याप्त समय बाद तक अभेद रहा और बाद में अपरिग्रह, परिग्रह के आधार पर नग्न और सवस्त्र साधु के भिन्न-भिन्न नामो से श्लोक प्रचलित किया गया, जो कुन्दकुन्द और स्थूलभद्र के रूप में हमारे सामने है। श्लोकों मे महावीर और गौतम के नाम यथावत एक रूप है। इसी के आधार पर दिगम्बर कभी सवस्त्र को निर्ग्रन्थ-गुरु के रूप में नमस्कार नही करते। और वैसा मंगलाचरण भी नही करते जैसा अब कोई-कोई करने लगे हैं; जो ठीक नही है।

अपरिग्रह धर्म अध्यात्मरूप भी है जो आत्मा के परभिन्न—नग्न—शुद्धस्वरूप को दर्शाता है। इसी अपरिग्रही रूप की प्राप्ति के लिए जिन शासन मे प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और सामायिक के विधान है। प्रतिक्रमण का अर्थ होता है—आत्मा के प्रति आना। प्रत्याख्यान का अर्थ होता है—पुनः 'पर' मे न जाना और सामायिक का अर्थ होता है—अपने में स्थिर होना। यह जो कहा जा रहा है कि अशुभ से हटकर शुभ मे आना आदि, सो सब व्यवहार ही है।

(१) **प्रतिक्रमण** : परिग्रह से आवृत प्राणी पुनः-पुनः परिग्रह—राग-द्वेषादिक रूप पर-भावों में दौड़ता है अर्थात् वह स्व से बेखबर हो जाता है और पुण्य-पापरूप या ससारवर्द्धक पर पदार्थों में वृत्ति को ले जाता है। ऐसे जीव को उन परिग्रह—कर्मबन्धकारक क्रियाओं से सर्वथा हटकर पुनः अपने शुद्ध अपरिग्रही आत्मा मे आने के लिए प्रतिक्रमण का विधान किया गया है। इसमें पर प्रवृत्ति का सर्वथा निषेध और स्व-प्रवृत्ति (जो शुद्ध यानी अपरिग्रह रूप है) मे आने का विधान है।

(२) **प्रत्याख्यान** : जो जीव पर से स्व मे आ गया, वह पुनः पर मे न जाने को कटिबद्ध हो, यानी पुनः परिग्रहरूप—कर्मबन्धकारक क्रियाओ मे न जाने में सावधान हो? इससे उसका आगामी ससार—परिग्रह यानी कर्मबन्धरूप ससार रुकेगा।

(३) **सामायिक** : प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान में सन्नद्धजीव सम—समता भाव मे स्थिर होने मे समर्थ हो सकेगा। क्योंकि समता का शुद्ध-आत्मा से अटूट सम्बन्ध है। समता का भाव है—किसी अन्य के प्रति शुभ या अशुभरूप पर भावों का सर्वथा त्याग। क्योंकि शुभ और अशुभ भाव चाहे वे विभिन्न जीवो मे एक जैसे ही क्यो न हो बन्ध कारक होगे, जब कि सच्ची सामायिक मे आस्रव व बन्ध दोनो का सर्वथा अभाव यानी आत्मा के अपरिग्रही होने का पूर्ण उद्देश्य है। इसी सामायिक से ध्यान और कर्मक्षय को बल मिलता है। इस प्रकार जैन की सभी प्रवृत्तिया अपरिग्रहत्व की ओर मुड़ी हुई हैं जब कि अहिंसादि अन्य धर्मों मे पर का अवलम्ब अपेक्षित है। ध्यान के विषय मे भी कुछ लिखना है। ध्यान की प्रक्रिया आज जोरों से प्रचारित है और उसमे पर-प्रवृत्ति ही विशेष लक्ष्य बनी हुई है।

अपरिग्रहत्व से तात्पर्य है—मात्र 'स्व' और ऐसे 'स्व' से जिसमे—परिग्रह का विकल्प ही न हो। अरहन्त—तीर्थङ्कर अपरिग्रही—पूर्ण दिगम्बर हैं 'स्व' मे विराजमान और 'स्व' रूप मे स्थित भी। ज्ञान रूप आत्मा के सिवाय उनका स्व-तत्त्व अन्य कुछ नही—वे ज्ञाता दृष्टा कहलाते हैं सो भी परकीय दृष्टि से ही। क्योंकि उनमे पर की

कल्पना को अवकाश ही नही होता। जो पदार्थ उनके ज्ञान मे प्रतिविम्बित होते हैं वे भी अपनी, पदार्थ की सत्ता मात्र मे ही प्रतिबिम्बित होते है; केवली के ज्ञान से उन पदार्थों की सत्ता का तादात्म्य नहीं; मात्र ज्ञेय-ज्ञायक भाव है और वह भी व्यवहारी है। क्योंकि स्व वस्तु किसी विकल्प या कथन की चीज नही, मात्र अनुभव की चीज है—सर्वथा अनुभव की। आश्चर्य है कि उक्त वस्तु-स्थिति मे भी हम स्वत्व—दिगम्बरत्व-अपरिग्रहत्व के अर्थ से अजान है और दिगम्बरत्व या अपरिग्रहत्व को मात्र बाह्य-शरीरादि के आधार पर पहिचानने मे लगे हुए है; मात्र निर्वस्त्र को दिगम्बर मान रहे है और उसे अपरिग्रही कह रहे हैं। खैर, कोई हर्ज नही; हम निर्वस्त्र को अपरिग्रही या दिगम्बर मानते रहे पर, वस्त्र का भाव अवश्य हृदयंगम करें: वस्त्र (वेष्टन) आवरण का द्योतक है जो असलियत को आच्छादित करता है; उसे प्रकट नही होने देता। उक्त भाव मे स्व-रूप से भिन्न सभी दशाये वस्त्र से आच्छादित जैसी हैं; सवस्त्र रूप ही है। इसी आच्छादन करने वाले सत्त्व को जैन-दर्शन में परिग्रह नाम से सम्बोधित किया गया है और इससे मुक्त रहने का पाठ दिया गया है। इस दर्शन में अपरिग्रही को पूज्य माना गया है क्योंकि वह ही निर्दोष है और वह ही स्व-स्वभावी सर्वज्ञ दशा मे स्थित होने मे समर्थ है। कहा भी है—'यस्तु न निर्दोषः स न सर्वज्ञः। आवरण रागादयोदोषास्तेभ्यो निष्क्रान्तत्वं हि निर्दोषत्वम्।'·· जो निर्दोष नही है वह सर्वज्ञ नही है और रागादि अन्तरंग व धनादि बहिरंग आवरणों—परिग्रहो से रहित होना ही निर्दोषपना है। और जैनाचार्य ने शुद्धात्मा को ही निर्दोष कहा है—'स त्वमेवासि निर्दोषो युक्ति शास्त्राविरोधि वाक्।' इसी निर्दोषता को लक्ष्य कर १८ दोषो को भी स्थूल रूप मे दर्शाया गया है—

'छुहतण्हभीरुरोसो रागो मोहो चिंता जरा रुजा मिच्चू।
स्वेदं खेदं मदो रइ विम्हियणिद्दा जणु व्वेगो॥
—नियमसार ६।

जम्बूदीवपण्णत्ति और द्रव्यसग्रह टीका आदि मे भी इन दोषो का खुलासा है और ये सभी दोष स्व-स्वभाव न होने से पर—परिग्रह है—जिनसे आत्मा की अनन्त शक्ति आच्छादित होती है।

हम यहां जैन मान्य उस परिग्रह की बात कर रहे हैं जिसमे जैनत्व व्याप्त होकर निवास करता है और जिससे जीवित रहता है। परिग्रह की बढ़वारी करते जैनी बने रहने का प्रयत्न करना मुर्दे में हवा देकर उसे जीवित मानने जैसा है। मृत-शरीर वायु से फूल सकता है, हिल भी सकता है। पर वह हिलना उसका जीवित होना नहीं होता; मात्र पौद्गलिक क्रिया होती है। ऐसे ही परिग्रह की बढ़वारी के प्रति जागृत जीव की बाह्य—पर क्रियाएँ भी जैनत्व की साधिका नहीं। क्योंकि सारा का सारा जैनत्व परिग्रह की हीनता मे समाहित है, फिर चाहे वह परिग्रह हीनता अहिंसा में आती हो, सत्य या अचौर्य आदि मे आती हो। यदि अहिंसादि के मूल मे अपरिग्रह की भावना नही तो सब व्यर्थ है। और यहा अपरिग्रहत्व से तात्पर्य राग-द्वेषादि कषायो के कृश करने से और बाह्य-संग्रह की मर्यादा और त्याग आदि से है। स्मरण रखना चाहिए कि सब व्रत-क्रियाये आदि भी तभी सार्थक हैं जब वे अपरिग्रह की भावना और अपरिग्रही-क्रियाओ से अपरिग्रह की पुष्टि के लिए हो।

हमारी भूल रही है कि हम अन्य व्रत आदि की क्रियाओं को (वह भी दिखावा रूप में) जैनत्व का रूप देने मे आसक्त रहे है और अपरिग्रह की आसक्ति से नाता तोड़े हुए है। आज देश का जन-जन दुखी है वह भी परिग्रह की ज्यादती या लौकिक अनिवार्य पूर्तियो के अभाव मे दुखी है। हिंसादि सभी प्रवृत्तिया भी परिग्रह से तथा परिग्रह की बढ़वारी के लिए ही की जा रही है। आश्चर्य है कि सरकार ने भी परिग्रह की बढ़वारी को किन्हीं अपराधों की परिधियो मे नही बाधा। भारतीय दण्डसहिता मे हिंसा, झूठ, चोरी और कुशील के लिए जैसे दण्ड निर्धारित है, वैसे परिग्रह की बढ़वारी की रोक के लिए शायद ही कोई धारा हो। यदि सरकार ने जैन मूल-संस्कृति अपरिग्रहत्व से नाता जोड़ा होता—ऐसी कोई धारा निर्धारित की होती जो परिग्रह परिमाण पर बल देती होती—अति-परिग्रहियो के लिए दन्ड विधान करती होती तो देश

को त्रास से काफी हद तक छुटकारा मिला होता। तब न हर कोई हर किसी के भाग पर कब्जा करता होता और न ही टैक्सों की चोरी आदि जैसी बाढ़ें ही आई होती। व्यक्ति की संचय सीमा निश्चित होती और परिवार भी तदनुसार निर्धारित-परिमाण में संग्रह कर पाते। इससे एक घर संपदा से अनाप-शनाप भरा और दूसरा सम्पदा से सर्वथा खाली न होता। जैसा कि वर्तमान मे चल रहा है और जो जनसाधारण को परेशानी का कारण बन रहा है। अस्तु।

यहां हम यह भी कहना उचित समझते है कि जिस ध्यान को तत्त्वार्थ सूत्र के नवम अध्याय के २७वे सूत्र द्वारा दर्शाया गया है वह ध्यान भी अपरिग्रह मूलक और संवरनिर्जरा का साधक ही है। दूसरे रूप में यह भी कह सकते हैं कि—अपरिग्रहत्व और वह ध्यान समकाल भावी और एक है। वैसा ध्यान तभी होगा जब अपरिग्रहत्व होगा—विना अपरिग्रहत्व के ध्यान कैसा? प्रसग गत ध्यान के लक्षण मे 'अपने मे रह जाना' ध्यान है और वही पूर्ण अपरिग्रहत्व है; जैसा कि ध्यान में होता है या होना चाहिए। क्योंकि ध्यान और अपरिग्रहत्व दोनो मे अन्यत्व-पने का अभाव होने से संवर-निर्जरा है। जबकि अन्य चिंताओं से हटकर मन का एक ओर लक्ष्य होने मे भी चिंतन रूप क्रिया विद्यमान होने से आस्रव है—'काय वांग्मनः कर्मयोगः' स आस्रवः।' भले ही मन एकाग्र हो जाय—वह चिन्तन क्रिया तो करेगा ही। और जहां चिंतन रूप क्रिया होगी वहां आस्रव होगा ही। मन की क्रिया (चिन्तन) का नाम ही तो चिंता है। जो निर्जरा-प्रसग-गत ध्यान के लक्षण से मेल नही खाता। प्रसंग मे तो उसी ध्यान से तात्पर्य है जो संवर निर्जरा मे हेतु हो। हम पुन. स्मरण करा दें कि मन का कार्य चिंतन है और चिंतन कर्म होने से आस्रव है। इस विषय में किसी समझौते को खोज कर अन्य निर्णय सर्वथा अशक्य है।

सभी जानते हैं कि पूज्य उमास्वामी जी ने तत्वार्थसूत्र के छठवें अध्याय से आठवें अध्याय तक आस्रव-बन्ध का और नवम अध्याय में सवर-निर्जरा का वर्णन किया है। इनमें पहिले उन्होंने मन-वचन-काय की क्रिया को आस्रव और फिर उसके निरोध को संवर कहा है। और इसी प्रसंग मे नवम अध्याय में ही तप को संवर और निर्जरा दोनों का कारण कहा है। और ध्यान की गणना तपों में कराई है। इसका भाव यही है कि प्रसग में ध्यान वही (निरोध) है जो संवर-निर्जरा मे कारण हो। ऐसे में ध्यान के शुभ-अशुभ या आर्त-रौद्र जैसे भेदों को इसमे स्थान ही कहां है जो उन्हे इस ध्यान मे शामिल किया जा सके या प्रसंगगत ध्यान (चिंतानिरोध) को शुभ-अशुभ के आस्रव मे कारण माना जा सके। वे दोनो और निचली दशा के मनोगत भाव—आर्त-रौद्र तो आस्रव ही हैं।

इसके सिवाय ध्यान के फल का जो वर्णन है और जो स्वामी वर्णन है उससे भी स्पष्ट पता चलता है कि प्रसंग मे ध्यान संवर-निर्जरा का ही कारण है और वह मिथ्या-दृष्टि के नही होता। इसीलिए धवला मे ध्यान के दो ही भेद कहे है—धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान। मोह की सर्वोपशमना करने से धर्म ध्यान को और शेष घाति-अघाति का क्षय करने से शुक्ल ध्यान को ध्यान की श्रेणी में रखा गया। यहां इतना विशेष समझना चाहिए कि—दोनों ही ध्यानों मे 'आप मे रह जाना' ही सर्वथा इष्ट है—कायवाग्मन की क्रिया करने से तात्पर्य नहीं। 'अट्ठा-वीसभेयभिण्णमोहणीयस्स सव्वुवसमा-वट्ठाण फलं पुधत्तवि-दक्क वीचार सुक्कज्झाण।' कोहसव्वुवसमो पुण धम्मज्झाण-फलं। 'तिण्णघादिकम्माणं णिम्मूलविणासफलमेयत्तविदक्क अवाचीरज्झाणं ॥'

—धव. १३, ५, ४, २६ पृ. ८०-८१

'अघाइ कम्म चउक्कविणास (चउत्थसुक्कज्झाणफल) वही पृ० ८८। ण च णवपयत्थविसयरुइ-पच्चय सद्धाहि विणज्झाण सभवदि। वही पृ० ६५।

अट्ठाईस प्रकार के मोहनीय की सर्वोपसमना होने पर उसमें स्थित रखना पृथक्त्ववितर्कवीचार नामक शुक्ल ध्यान का फल है।

चार अघातिया कर्मों का विनाश चतुर्थ शुक्ल ध्यान का फल है। नवपदार्थों की रुचि (श्रद्धा) के बिना ध्यान नही हो सकता अर्थात् सम्यग्दृष्टि ही ध्यान का अधि-कारी है।

सूत्र मे ध्यान के स्वामी के निर्देश से तो यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि प्रसंग में आचार्य को ध्यान का वही लक्षण इष्ट था जिसके द्वारा संवर-निर्जरा होकर मोक्ष प्राप्त होता हो। यदि आचार्य को उक्त प्रसंग में आस्रवरूप मन की क्रिया (एकाग्रत्व रूप ही सही) अर्थ अभीष्ट होता तो वे सूत्र मे 'उत्तम सहननस्य' पद को भी स्थान न देते। क्योकि चितवन रूपी ध्यान तो साधारण सभी संहनन वालों और मिथ्यादृष्टियो तक को भी सदा काल रहता है।

जब हम ध्यान के लक्षण-सूत्र पर विचार करते हैं तो सूत्र में एकाग्र चितानिरोध, ऐसा पद भी मिलता है। इसमे 'एकाग्र चिता' से विदित होता है कि एकाग्र—एक को मुख्य लक्ष्य कर उसका चितवन करना ध्यान है। जरा सोचिए, जब एक वस्तु मुख्य कर ली तब वहां अन्य वस्तु के प्रवेश को अवकाश ही कहां रहा? यदि अन्य को अवकाश (स्थान) है तो एकाग्रपना कैसे? एकाग्र होने का अर्थ ही यह है कि जिसमे अन्य का विकल्प हट गया हो। और जब अन्य स्वाभाविक हट गया तब 'निरोध शब्द ही व्यर्थ पड़ जाता है। ऐसे में यदि आचार्य ऐसा कहते कि 'एकाग्र चिता ध्यानम्' तब भी काम चल सकता था। इससे मन की क्रिया (एकाग्र प्रवृत्ति) को बल भी मिल सकता था। और चारों धर्मध्यान भी ध्यान की परिभाषा मे आ जाते। फिर यदि आचार्य को कहना ही था तो वे 'निरोध' के स्थान पर 'रोध' शब्द से भी काम चला सकते थे। क्योंकि सूत्र ग्रंथ में वैयाकरण लोग आधी मात्रा के कम होने पर भी 'पुत्रोत्सव मन्यन्ते वैयाकरणाः'। ऐसा मालूम होता है कि यहां सवर-निर्जरा सम्बन्धी ध्यान के प्रसग में आचार्य श्री को एक का चितवन और अन्य चितवन का रोध' ऐसा अर्थ इष्ट नहीं था, इसलिए उन्होने रोध के स्थान पर 'निरोध' शब्द का प्रयोग किया और निरोध का अर्थ है—निःशेषेण पूर्णरूपेण रोध। सभी प्रकार से सभी रीति की क्रियाओं का रोध।

'निरोध' को तुच्छाभाव मान उसके निराकरणार्थ किसी चिंतन को पुष्ट करने में लगे लोगों को राजवार्तिककार ने स्पष्ट रूप में सकेत दिया है कि निरोध तुच्छाभाव नही अपितु भावान्तर रूप है। 'अभावो निरोध इति चेत्; न,······विवक्षार्थविषयावगमस्वभावसामर्थ्यापेक्षया सदेवेति।'—उत्कृष्ट ध्यान की अवस्था में आत्मा को लक्ष्य बनाकर चिन्ता (मन की क्रिया) का निरोध किया जाता है और वहां आत्मा का लक्ष्य आत्मा ही होता है—अन्य नही। यह भी ध्यान रहे कि इस उत्कृष्ट ध्यान के प्रसंग में 'अग्र' शब्द भी आत्मावाची है। आचार्य यह भी कहते हैं कि ध्यान स्व-वृत्ति (आत्म-वृत्ति) होता है—इसमें बाह्य चिंताओ से निवृत्ति होती है—अङ्गतीत्यग्रमात्मेत्यर्थः। द्रव्यार्थतयैकस्मिन्नात्मन्यग्रे चिन्तानिरोधो ध्यानम्। ततः स्व-वृत्तित्वात् बाह्यध्येय प्राधान्यापेक्षा निवर्तिता भवति।'—इससे यह भी फलित होता है कि जहां अग्रशब्द अर्थवाची है अर्थात् जहां द्रव्य-परमाणु या भाव-परमाणु या अन्य किसी अर्थ मे चित्तवृत्ति को केन्द्रित करने को 'ध्यान' नाम से कहा गया है; वहा 'ध्यान' शब्द का लक्ष्य शुक्ल ध्यान के दो पायों तक सीमित है।

एक बात और ध्यान एक तप है और तप शब्द से आत्म-लक्ष्य के सिवाय अन्य का परिहार इष्ट है। इसी भाव में इच्छा निरोध को तप नाम दिया गया है—

'तिण्णं रयणाणमाविब्भावट्ठमिच्छा निरोहो।'

—ध० १३, ५, ४, २२, ५४

'समस्तभावेच्छात्यागेन स्व-स्वरूपे प्रतपनं, विजयनं तपः।'

— प्रव० सा० ता० वृ० ७६।१०००।१२

उक्त इच्छानिरोध मे स्व और पर के भेद का सकेत भी नही है जिससे कि स्व की इच्छा को भी ग्राह्य माना जा सके। यहां तो ऐसा ही मानना पड़ेगा कि ध्यान में सभी प्रकार की इच्छाओ (मन की क्रियाओं) का अभाव ही आचार्य को इष्ट है और वे आत्मा में आत्मा के होने को ही उत्कृष्ट ध्यान मानते हैं जो अपरिग्रहरूप है।

किन्ही मनीषियों ने हमे 'एक पदार्थ को मुख्य बना कर उसके चिन्तन मे (मन का) रोध करना—मन को ठहरा लेना ध्यान है' ऐसा अर्थ भी बतलाया है यानी उनके मत में निरोध का अर्थ मन का स्थापित करना है। ऐसे

मनीषियों को धवला मे आये 'निरोध' शब्द के अर्थ पर विचार करना चाहिए। और यह भी सोचना चाहिए कि मन को लगाने की क्रिया से आस्रव होगा या सवर-निर्जरा? एक स्थान पर धवला मे निरोध के अर्थ को इस भांति स्पष्ट किया गया है—'को जोग णिरोहो ? जोग विणासो।' उवयारेण जोगो चिन्ता, तिस्से एयग्गेण णिरोहो विणासो जम्मि तं ज्झाणमिदि।' —वही पृ० ८५-८६

योग का निरोध क्या है ? योग का विनाश। उपचार से चिन्ता का नाम योग है ? उस चिन्ता का एकाग्ररूप से जिसमें विनाश हो जाता है वह ध्यान है। किसी (एक की भी) चिन्ता में लगे रहना, प्रसग गत ध्यान नही और ना ही उस चिन्ता मे लगे रहने मे, उससे सवर और निर्जरा ही है। यदि संवर निर्जरा है भी तो वह अन्य प्रवृत्ति से निवृत्ति मात्र के कारण और उसी अनुपात मे है; ध्यान (क्रिया) से नही; वहां ध्यान नाम तो मात्र उपचार है। ऊपर के पूरे विवेचन से स्पष्ट होता है कि धवला निर्दिष्ट दो ध्यानों के प्रकाश में ध्यान वही है जो संवर-निर्जरा का हेतु हो ? सि० च० नेमीचन्द्राचार्य जी ने जो 'दुविह पि मोक्खहेउं' रूप में दो ध्यानो को प्ररूपित किया है उनमें 'पणतीस सोलछप्पणचदुदुगमेग' तथा पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ जैसे परावलम्बी ध्यानो को मोक्षमार्ग मे परम्परित कारण होने से व्यवहार-ध्यानरूप और 'बहिरब्भन्तरकिरियारोहो' और रूपातीत जैसे स्वावलम्बी ध्यान को निश्चय ध्यान रूप कहा है। यदि हम विचारें तो धवलाकार के शब्दों से यह बात सर्वथा मेल खाती जैसी दिखती है—

'अन्तोमुहुत्तमेत्तं चिन्तावत्थाणमेगवत्थुम्हि।
छदुमत्थाणं झाणं 'जोगणिरोहो' जिणाणं तु ॥' (उद्धृत)

एक वस्तु मे अन्तर्मुहूर्तकाल चिन्ता अवस्थानरूप ध्यान छद्मस्थों का ध्यान है और योगनिरोध रूप निश्चय ध्यान अर्हन्त भगवान का ध्यान है आदि।

ऊपर के प्रसंग से यह भी स्पष्ट है कि जिन्हें आर्त और रौद्र ध्यान के नामों से सम्बोधित किया जा रहा है वे सम्यग्दृष्टी के लिए न तो व्यवहार ध्यान है और ना ही वे निश्चय की परिभाषा में आते हैं। अपितु यह कहा जाय कि वे सर्वथा अव्यवहार्य और जीव की दशा की अनिश्चिति में कारण हैं, तो अधिक उपयुक्त होगा—यतः वे मिथ्याभाव हैं।

साधारणतः 'ध्यान' शब्द ऐसा है जो जन साधारण में चिंता या चिंतन के अर्थ में प्रसिद्ध है—'ध्यै चिंतायाम्'। इसलिए लोग इस शब्द को विचार करने जैसे अर्थ में लगा बैठते हैं। लोगो को समझना चाहिए कि यदि सर्वथा विचार—चिन्तन ही ध्यान होता तो आचार्य शुक्ल ध्यान की ऊपरी श्रेणियो मे विचार का बहिष्कार न करते जैसा कि उन्होंने किया है। वे कहते हैं—'अवीचारं द्वितीयं।' 'दूसरा एकत्ववितर्क नामा शुक्ल ध्यान विचार रहित है (तीसरा और चौथा शुक्ल ध्यान भी विचार रहित है)। विज्ञपुरुष इस बात को भली भांति जानते है कि—'विचारोऽर्थ व्यंजनयो सक्रान्तिः। अर्थ और व्यजन में विचारों की पलटनी दशा सक्रान्ति कहलाती है और वीचार व विचार दोनो शब्द एकार्थक है यानी जब यह जीव अर्थ का विचार करते-करते कभी पर्याय पर चला जाता है और कभी अर्थ पर चला जाता है तब उस पलटने की दशा को संक्रान्ति कहा जाता है। और वह ऊपरी अवस्थाओ में नही है। अब सोचिए! कि जब मन का अर्थ चिन्तन है और चिन्तन मे पलटना अवश्यम्भावी है। यदि पलटना नही तो चिन्तन कैसा ? वह तो कूटस्थपना ही है और यदि मन कूटस्थ है तो वह मन कैसा ? फिर यदि मन सक्रान्ति नही करता तो वहां कौन सी क्रिया करता है वह क्रिया 'आस्रव' क्यो नही ? जब कि आचार्य ने मन, वचन या काय की क्रिया को आस्रव कहा है ?

उक्त सभी परिस्थितियो से हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि—उक्त ध्यान मे मन लगाना नहीं पड़ता, अपितु मन को हटाना पड़ता है और इस मन को हटाना ही—पर से निवृत्ति करना ही अपरिग्रह है और जैन दर्शन को यही निवृत्ति इष्ट है। फलतः—इस मायने मे उत्कृष्ट ध्यान और अपरिग्रह दोनो एक ही श्रेणी मे ठहरते हैं और ऐसा किए बिना 'तपसा निर्जरा च' सूत्र की सार्थकता भी नही बनती और जिन-दशा तथा मुक्ति भी नहीं बनती। □□

'तीर्थंकर' में प्रकाशित आरोपों का खण्डन

डा० नेमिचन्द जी जैन,
संपादक "तीर्थंकर"
६५, पत्रकार कालोनी, इन्दौर

(तीर्थंकर दिसम्बर ९० अङ्क में प्रकाशित श्री ललवानीजी के आरोपों का वीर सेवा मन्दिर द्वारा खण्डन)

आपने श्री गणेश ललवानी और डा० भागचन्द जैन भास्कर द्वारा वीर सेवा मन्दिर जैसी प्रतिष्ठित संस्था के प्रति मिथ्या आरोपो वाले पत्र अगस्त ९० व अक्तूबर ९० के अकों मे प्रकाशित किये और वीर सेवा मन्दिर से वस्तु-स्थिति भी जानने की कोशिश नही की ! उन दोनों पत्रों के उत्तर मे वीर सेवा मन्दिर द्वारा दिये गये उत्तर को विलम्ब से प्रकाशित करने का कारण हमें आपने यह लिखा कि श्री ललवानी जी के उतर के साथ ही प्रकाशित करेगे, किन्तु श्री ललवानी जी का तथ्य विहीन एव आपत्तिजनक उत्तर हमसे वस्तुस्थिति जाने बिना ही आपने प्रकाशित कर दिया। यह सौतेला बर्ताव तीर्थंकर के सम्मानित सम्पादक की स्वस्थ पत्रकारिता तो क्या पत्रकारिता के साधारण मानदण्डो से भी नीचे है।

पता नहीं श्री ललवानी जी एक पेशेवर उजरत प्राप्त वकील की तरह डा० बनर्जी के पक्ष मे आधारविहीन तर्कों से सत्य को झुठलाने का असफल प्रयत्न क्यों कर रहे हैं? उनके पूर्व पत्र मे वीर सेवा मन्दिर पर दिगम्बर जैन संस्था होने और डा० बनर्जी के बगाली होने से उनके नाम को हटाने का ऐसा घिनौना आरोप है जो ललवानी जी की संकीर्ण व विकृत मानसिकता एवं पूर्वाग्रह ग्रस्त भावना का द्योतक है। यह भी सम्भव है कि श्री ललवानी जो श्वेतांबर आम्नाय के होने के नाते एक प्रतिष्ठित दिगम्बर जैन संस्थान को बदनाम करने की कुभावना उनके हृदय के किसी कोने में रही हो। जैसा कि मैंने पहले उत्तर में लिखा था, पुन: स्पष्ट करना अपना दायित्व मानता हू विद्वान की जाति या धर्म उसकी विद्वता है और ऐसे सभी विद्वानों का वीर सेवा मन्दिर सदैव आदर-सम्मान करता है और करता रहेगा। विद्वान की जाति या धर्म उसकी विद्वता में आड़े नही आती, अन्यथा डा० बनर्जी का नाम सम्पादक के स्थान पर इस बिब्लियोग्राफी के प्रारम्भ में सहज रूप में मुद्रित नहीं हो जाता।

"तीर्थंकर" के अगस्त ९० के अंक मे प्रकाशित ललवानी जी के मिथ्या आरोपो में एक आरोप यह भी था कि डा० भागचन्द जैन को मात्र २५-३० पृष्ठों के इन्डैक्स का पांच हजार रुपया दिया गया, वीर सेवा मन्दिर द्वारा उक्त आरोप का खण्डन करने तथा डा० जैन का पत्र पढ़ने के बाद अब वह दिसम्बर के अंक मे प्रकाशित अपने पत्र में अपने उक्त आरोप को असत्य मानते हुए लिखते हैं कि—"मुझे हार्दिक खेद है कि सत्य कुछ और निकला। मैंने यह जानकारी डा० बनर्जी से प्राप्त की और उन्होंने नन्दलाल जी से।" इस प्रकार ललवानी जी का यह दावा स्वत: झूठा साबित होता है कि उन्होंने जो भी लिखा, पूर्ण जानकारी के साथ लिखा। हमे खेद है कि ललवानी जी उन्हीं डा० बनर्जी, जिनकी सूचना उन्होने स्वय असत्य बतायी है, के आधार पर एक प्रतिष्ठित संस्था को बदनाम करने के लिए मिथ्या आरोपों को अखबार में प्रकाशित करा रहे हैं। यह उनकी दूषित मानसिकता को दर्शाता है।

श्री ललवानी जी ने संस्था के प्रकाशित उत्तर में श्रद्धेय छोटेलाल जी के भ्राता श्री नन्दलाल जी द्वारा उपलब्ध कराई गयी उनकी जीवनी के २०वें अनुच्छेद के अंग्रेजी भाषा में उद्धृत शब्दश. अंशों की जानबूझ कर अनदेखी की है, क्योंकि यही अंश उनके सभी आरोपों को एकदम असत्य सिद्ध करने मे सक्षम हैं। मैं उसी अंश का हिन्दी अनुवाद उनकी जानकारी के लिए यहां दे रहा हू:

"उनकी जैन बिब्लियोग्राफी का प्रथम खण्ड १९४५ मे प्रकाशित हुआ। अब उनके द्वारा अधूरा रह जाने से दूसरा खण्ड मैसूर विश्वविद्यालय के डा० ए. एन. उपाध्ये, एम.ए.डी. लिट् के निर्देशन में पूरा हो रहा है।"

श्री नन्दलाल जी द्वारा दी गयी उक्त सूचना से स्पष्ट है कि ग्रन्थ का सम्पादन डा० उपाध्ये ने किया है। यदि डा० बनर्जी ग्रन्थ का सम्पादन करते तो श्री नन्दलाल जी उनके नाम का उल्लेख अवश्य करते। श्री नन्दलाल जी के चले जाने से उनकी लिखित सामग्री तो नही मर जाती। श्री ललवानी जी का यह कहना कि डा० उपाध्ये के पास केवल टाइप कराने के लिए मैटर भेजा गया था, कितने आश्चर्य की बात है कि श्री नन्दलाल जी कलकत्ता महानगरी मे थे और वीर सेवा मन्दिर राजधानी दिल्ली मे है। दोनों नगरों मे मुद्रण यन्त्र और टकन कर्ता एक से एक बढ़िया उपलब्ध थे, तब नन्दलाल जी ने कोल्हापुर केवल टाइप के लिए ही सामग्री को भेजा, क्या डा० उपाध्ये का टंकन कालेज था? इस प्रकार को खोखली दलीलें देना वकील का ही काम है और कुछ नहीं।

श्री ललवानी जी स्वयं लिख रहे हैं—"ग्रन्थ वीर सेवा मन्दिर छपवा रहा है, डा० बनर्जी नहीं।" स्पष्ट है कि जिस प्रकार का पत्र-व्यवहार वीर सेवा मन्दिर और डा० बनर्जी के बीच मे इन्डैक्स के सम्बन्ध म हुआ है, यदि डा० बनर्जी को ग्रन्थ सम्पादन का कार्य सौपा होता तो इस प्रकार पत्रों का आदान-प्रदान अवश्य हुआ होता। ललवानी जी डा० बनर्जी को लिखा ऐसा एक पत्र तो दिखाए जिससे यह साबित होता हो कि वीर सेवा मन्दिर ने ग्रथ सम्पादन का कार्य डा० बनर्जी को दिया हो।

डा० बनर्जी ने अपना सम्पादकत्व साबित करने हेतु अपने ३०-११-८२ के पत्र के साथ डा० उपाध्ये के पत्र *दिनांक २७-८-६८ की फोटो प्रति सस्था को भेजी थी, जिसमें डा० उपाध्ये ने डा० बनर्जी से सम्पादन कार्य आरम्भ* करने के पूर्व कुछ शकाओं के उत्तर की अपेक्षा की थी। उस पत्र का हिन्दी अनुवाद यहां दे रहा हूं:

"जब मैं कलकत्ता में था, मैंने छोटेलाल जी द्वारा छोडी गयी बिब्लियोग्राफी की सामग्री का निरीक्षण किया। मैं सोचता हूं कि आप इस कार्य मे जब-तब उासे सम्बद्ध रहे है। अब यह तय है कि यह शीघ्र ही प्रकाशित हो। नीचे लिखे बिन्दुओं पर आपकी क्या राय है? १. जैसा कि आपने देखा है सामग्री की क्या स्थिति है? २. क्या यह सामग्री आवश्यक काट-छांट एवं मामूली संशोधन के साथ प्रेस मे दी जा सकती है? ३. आप भारत निश्चित रूप से कब वापस आ रहे हैं? ४. इस कार्य के प्रकाशन मे आप किस प्रकार मदद कर सकते है? ५. क्या भारत वापस आकर आप इस कार्य हेतु आवश्यक समय दे सकेंगे? मैं आपके तफसील से उत्तर के लिए आभारी हूगा, धन्यवाद।"

डा० बनर्जी ने उक्त पत्र के उत्तर मे ऐसा कोई प्रतिवाद नही किया कि यह सब कुछ पूछ कर क्या करेंगे? सम्पादन तो उन्होने स्वय कर ही रखा है, ना ही इस विषय मे कोई जानकारी डा० बनर्जी ने वीर सेवा मन्दिर को दी। सम्पादन के पूर्व एक निष्ठावान विद्वान होने के नाते ग्रन्थ के सम्बन्ध मे डा० बनर्जी से सूचना प्राप्त करना डा० उपाध्ये की सदाशयता का प्रमाण है क्योकि डा० उपाध्ये जानते थे कि डा० बनर्जी श्री छोटेलाल जी से सबद्ध रहे है।

श्री ललवानी जी का यह कथन कितना हास्यास्पद लगता है कि डा० उपाध्ये के सभी पत्रों से सम्पादन करना साबित नहीं होता, जबकि उन पत्रो मे उन्होने सारी सामग्री को व्यवस्थित करके, टंकण करा कर क्रम से रखकर संशोधन भी किये हैं। उनके हाथो सम्पादित वह पाण्डुलिपि आज भी संस्था के रिकार्ड मे देखी जा सकती है।

ललवानी जी का यह आरोप भी निरर्थक है कि डा० बनर्जी ठगे गये हैं। ठगा तो वीर सेवा मन्दिर गया है, जैसा कि मैं पहले लिख चुका हू मेरी अजानकारी, डा० उपाध्ये व नन्दलाल जी और सस्था के तत्कालीन महासचिव महेन्द्रसैन जैनी के निधन का लाभ उठाकर सम्पादन का श्रेय स्वय डा० बनर्जी ने ओढ़ लिया। विस्मय की बात तो यह है कि श्री ललवानी जी इस ठगी मे पीत पत्रकारिता के माध्यम से दलाली का काम करने की चेष्टा कर रहे है। उन्होने दिसम्बर, ६० अङ्क मे सुझाव दिया है, "अच्छा तो यही रहेगा १०,००० रु० देकर वीर सेवा मन्दिर इसे (आधे अधूरे इडैक्स को) खरीद ले।" जबकि यह इन्डैक्स वीर सेवा मन्दिर की सम्पत्ति है। पता नही उजरत प्राप्त वकील

के तौर पर यह सुझाव उनका है अथवा डा० बनर्जी ने यह रकम सुझाने के लिए उन्हें अधिकृत किया है ? डा० बनर्जी ने तो स्वय २४-८-७८ के पत्र में लिखा है कि बिब्लियोग्राफी के इन्डेक्स बनाने तथा आरम्भिक परिचय लिखने के लिए जो धन ६०० रु० की राशि नन्दलाल जी से ली है वह कार्ड और लिपिक का खर्च है। कुल खर्च २००० रु० का अनुमान है। उन्होने आगे इसी पत्र में यह भी लिखा है कि मैंने अपनी कोई फीस (उजरत) नही ली है और ना ही कभी लूंगा, क्योंकि यह कार्य श्री छोटेलाल जी के प्रति प्यार का श्रम है। इस प्रकार डा० बनर्जी तथा उनके वकील के रूप में पैरवी कर रहे श्री ललवानी जी के वक्तव्यों मे विरोधाभास परिलक्षित होता है।

डा० बनर्जी ने अपने लंदन प्रवास से २४-७-७७ के पत्र में स्पष्ट लिखा है, "मैंने अब ग्रन्थ के इन्डेक्स और दो शब्द लिखने का उत्तरदायित्व ले लिया है।" डा० बनर्जी ने अपने पत्र २०-११-७८ में वीर सेवा मन्दिर द्वारा भेजे गये १००० रु० के चैक की पावती देते हुए लिखा था—"मैं इंडैक्स का कार्य इस वर्ष के अन्त तक पूरा करने का पूर्ण रूप से प्रयत्न कर रहा हूं।" वह किसी न किसी बहाने से समय बढ़ाते गये। संस्था द्वारा बहुत आग्रह करने पर डा० बनर्जी ने अपने २५-३-७६ के पत्र में सुझाव दिया—आप बिना इन्डैक्स के ग्रन्थ प्रकाशित कर दे, साथ ही घोषणा कर दें कि इन्डैक्स शीघ्र ही प्रकाशित होगा। "इसके बाद डा० बनर्जी ने सूचना दी कि इन्डैक्स के सभी कार्ड तैयार हो गये हैं, थोड़ा पुर्ननिरीक्षण का कार्य शेष है। आप कार्ड दिल्ली मंगाकर इन्डैक्स प्रकाशित कर दे। कार्ड संस्था में लाये गये, किन्तु कार्य अपूर्ण होने के कारण पुन: डा० बनर्जी को कार्य पूरा करने हेतु भेज दिये गये। इसके बाद डा० बनर्जी ने संस्था के सभी तार, टैलेक्स व पत्रों का हवाला देकर अपने पत्र ३-४-८१ में वर्ष के अन्त तक कार्य पूरा करने का आश्वासन दिया तथा काम शीघ्र हो सके, इसके लिए एक सहायक की मांग की। संस्था के तत्कालीन अध्यक्ष साहू अशोककुमार जैन से हुई वार्ता के अनुसार सहायक के खर्चे हेतु संस्था से २७०० रुपया बैंक ड्राफ्ट से भेजा गया, किन्तु इंडैक्स पूरा करके उन्होंने नहीं लौटाया जबकि इसके पूर्व भी जो खर्चा उन्होने मागा, उन्हें दिया जाता रहा है।

डा० बनर्जी यह अच्छी तरह जानते थे, जैसाकि ललवानी जी ने भी "तीर्थंकर" के अगस्त अक मे लिखा है, "दो हजार पृष्ठो के इस विशाल ग्रन्थ से बिना इन्डैक्स के कुछ निकाल पाना असम्भव सा है, अत: विद्वज्जन इससे लाभान्वित नही हो पा रहे हैं।" यद्यपि ललवानी जी के इस कथन का आशय वीर सेवा मन्दिर का अपयश करना है, किन्तु सच तो यह है कि आठ वर्ष बीत जाने पर भी इन्डैक्स के प्रकाशित न होने की हानि वीर सेवा मन्दिर ही भोग रहा है, डा० बनर्जी नही। इस ग्रन्थ के प्रकाशन मे संस्था की एक विशाल धनराशि व्यय हो चुकी है। ग्रंथ के समुचित उपयोग न होने से संस्था द्वारा व्यय की गयी पूर्ण राशि का उत्तरदायित्व डा० बनर्जी का है। इन्डैक्स को पूरा न करना डा० बनर्जी का यह व्यवहार श्रद्धेय छोटेलाल जी के प्रति अन्याय है, अर्थात इसे अमर्यादित व्यवहार की संज्ञा दी जायेगी।

हमें आशा है कि ललवानी जी धोखाधडी का खेल छोड़कर डा० बनर्जी से उनका दायित्व पूरा करायेंगे। इससे डा० बनर्जी के सम्मान की रक्षा तो होगी ही, अपितु संस्था का आर्थिक हानि तथा अकारण बदनामी से बचाया जा सकेगा और विद्वज्जन श्रद्धेय छोटेलाल जी के श्रम का लाभ उठा सकेंगे।

यह सूचना देना भी मेरा कर्तव्य है कि सम्बन्धित विषय पर कार्यकारिणी में गहन विचार-विमर्श हुआ है कि डा० बनर्जी इन्डैक्स का कार्य पूरा कर दे तो इन्डैक्स खण्ड मे सम्पादक के रूप मे उन्हीं का नाम जायेगा और जो उचित उजरत वह चाहेंगे, कमेटी उस पर विचार करेगी और वह उजरत उचित सम्मान के साथ उन्हें दी जायेगी।

—सुभाष जैन
महासचिव : वीर सेवा मन्दिर
२१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

स्त्रियों द्वारा जिनाभिषेक होना निषिद्ध है

□ श्री तेजकुमार गंगवाल

कुछ समय पूर्व दिगम्बर आम्नाय मे भट्टारको का एक छत्र राज्य था। इनमे कुछ उदासीन प्रवृत्ति के धारी थे तो कुछ ऐश्वर्य के लोभी भी रहे। जो ऐश्वर्य के लोभी रहे उन्होने भगवान महावीर से चले आ रहे शुद्ध आम्नाय मे राग की मिलावट कर दी। तथा धर्म के नाम पर स्वच्छद प्रवृत्तियो का प्रचार-प्रसार प्रारम्भ हो गया जैसे पचामृत-अभिषेक, स्त्री पूजन आदि। दक्षिण में ऐश्वर्य के लोभी भट्टारको द्वारा जो धर्म के स्वरूप को विकृत किया तो उनका अन्त भी हो गया किन्तु पचामृत अभिषेक, स्त्री प्रक्षाल, स्त्री पूजन सरीखी विकृतिया आज भी चल रही है जो शुद्धाम्नाय के विपरीत है।

जहा तक उत्तर भारत का प्रश्न है यहा पर इस प्रकार की प्रवृत्तिया नही रही हैं कि स्त्रियो से प्रक्षाल करवाई जावे वे मूर्तियो को स्पर्श करे तथा पंचामृत अभिषेक करे आदि। किन्तु कुछ वर्षों से इस प्रथा को प्रचलित करने तथा बढ़ावा देने मे कतिपय, आचार्य तथा त्यागियो के प्रयत्न प्रधान कारण रहे है। आज भी अगर हम देखे तो जगह-जगह शुद्ध आम्नाय के ही मन्दिर अधिकतर मिलते है। बुन्देलखण्ड को तो शुद्ध आम्नाय का तीर्थ क्षेत्र कहा जा सकता है।

स्त्रियो मे एक विशेषता पाई जाती है जो भी रूढ़िया अथवा गलत मान्यताएं अंधश्रद्धा से उनके हृदय मे घर कर लेती है फिर उनका भविष्य चाहे जो हो वे उससे हटती नही है परिणाम यह है कि आज हमारे घरों मे कुदेवी देवताओं की पूजन, आराधना करी व करवाई जाती है। (माता पूजना, ठंडा खाना, पद्मावती, क्षेत्रपाल आदि)।

जब महिलाओं मे यह प्रचारित किया जाने लगा कि मूर्ति का अभिषेक करना धर्म है ऐसा करते रहने से स्वर्ग मोक्ष की प्राप्ति होती रहती है तो अन्य गलत परम्पराओ मे एक यह प्रथा भी जुड़ गई और त्यागी वर्ग एवं अन्यो द्वारा इसे प्रोत्साहन दिया जाने लगा। आज घर-घरमे मंदिरजी बन गये है प्रतिमाएँ विराजित हो गई है साथमे तो चलती रहती है

जरा विचार तो करो कि १००८ श्री जिनेंद्र देव के प्रतिबिम्ब की शोभा, जो वीतरागता को प्रगटता समवशरण समान मन्दिर जी मे होती है क्या अन्य किसी जगह हो सकती है कदापि नही। मन्दिरजी मे . वेदी पर, सिंहासन पर जो शोभा श्री जिनेन्द्रदेव की प्रतिमा की होती है उसमे विनय होता है, वीतराग छवी दर्शनीय होती है। जीवो को मोक्षमार्ग मे कारण होती है। क्या यही शोभा, विनय, वीतरागता साथ मे रखने से, अलमारी मे बद रखने से काष्ठ चौकी आदि पर जब चाहे विराजित कर दिया चाहे उठा लिया ऐसा होने से होगी? नही, कदापि नही होगी अविनय तो होता ही है साथ मे जिनेन्द्रदेव के अवर्णवाद से, मिथ्यात्व से अनत ससार का बंध भी होता है। अरे भाई मूर्ति अरहंत भगवान का साक्षात प्रतिबिम्ब है। गधोदक को आदर से मात्र अपने मस्तक पर लगाने के बजाय छीटा जाता है, शरीर पर मला जाता है पैरों में आकर गधोदक गिरता है क्या इसी का नाम विनय है। विचार तो करिए स्त्रियो को मुनिराज के स्पर्श करने का स्पष्टतया निषेध है तो प्रतिमा स्पर्श की बात एव अभिषेक करना स्वत: निषिद्ध हो जाता है साथ ही पर पुरुष स्पर्श का प्रसग आता है इससे शील मे दोष लगता है। (क्रमश)

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थो की प्रशस्तियो का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टो और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द । ६-००

जैन ग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियो का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारो के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टो सहित। स. प. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, प० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द । ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टो और हिन्दी अनुवाद के साथ बडे साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों मे। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २५ ००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : सपादक प० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : स० प० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, सात विषयो पर शास्त्रीय तर्कपूर्ण विवेचन २-००

Jaina Bibliography : Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References.) In two Vol. (P. 1942) Per set 600-00

सम्पादन परामर्शदाता : **श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन**, सम्पादक : **श्री पद्मचन्द्र शास्त्री**
प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीरसेवामन्दिर के लिए मुद्रित, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५३

—प्रिन्टेड—

—पत्रिका बुक-पैकिट—

वीर सेवा मन्दिरका त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ४४ : कि० १ जनवरी-मार्च १९९१

इस अंक में—

प्रकाशक :

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

राजधानी में जैन समाज द्वारा : न्याय-प्रतिष्ठा-समारोह

न्यायमूर्ति श्री मिलापचन्द जैन का सम्मान

२४ फरवरी। "भारत की न्याय-प्रणाली जैनधर्म के सिद्धान्तों पर आधारित है।" उक्त उद्गार उच्च न्यायालय के पीठासीन मुख्य न्यायाधीश न्यामूर्ति श्री मिलापचन्द जैन ने दिल्ली जैन समाज के तत्त्वावधान में आयोजित अपने स्वागत सम्मान के अवसर पर प्रकट किये। यह आयोजन वीर सेवा मन्दिर के सदस्यों की ओर से दरियागंज स्थित जैन सीनियर सैकेण्डरी स्कूल के प्रांगण में हुआ। यह पहला अवसर है जब दिल्ली उच्च न्यायालय में किसी जैन ने मुख्य न्यायाधीश के पद को सुशोभित किया है।

इस अवसर पर आचार्य श्री विद्यानन्द जी का आशीर्वाद श्री विमल प्रसाद जैन द्वारा पढ़कर सुनाया गया। समाज के वयोवृद्ध कार्यकर्ता रा. सा. श्री जोती प्रसाद जैन ने माल्यार्पण करके न्यायमूर्ति श्री मिलापचन्द जैन का स्वागत किया। वरिष्ठ पत्रकार एवं समाज के लोकप्रिय नेता श्री अक्षयकुमार जैन ने स्वागत भाषण पढ़ा। समारोह में पूर्व न्यायमूर्ति श्री यू. एन. भछावत, श्री जे. डी. जैन, श्री ज्ञानचन्द जैन व श्री सौभाग्यमल जैन विशिष्ट अतिथि के रूप में उपस्थित थे। दिल्ली उच्च न्यायालय के वर्तमान न्यायाधीश न्यायमूर्ति श्री सागरचन्द जैन के साथ-साथ दिल्ली-स्थित सभी जैन न्यायाधीशों का इस अवसर पर स्वागत किया गया। समारोह की अध्यक्षता पूर्व न्यायमूर्ति श्री मांगीलाल जैन ने की। दिल्ली जैन समाज के अध्यक्ष श्री प्रेमचन्द जैन, वीर सेवा मन्दिर के पूर्व अध्यक्ष साहू श्री अशोककुमार जैन, पूर्व निगम पार्षद श्री प्रकाशचन्द जैन, जैन कोआपरेटिव बैंक के चेयरमैन श्री महेन्द्रकुमार जैन व श्री शीलचन्द जौहरी ने न्यायमूर्ति श्री मिलापचन्द जैन का स्वागत पारंपरिक ढंग से किया। श्री बाबूलाल जैन ने "अनेकांत" के अंक भेंट किये।

समारोह का शुभारम्भ पं० जुगलकिशोर मुख्तार (संस्थापक वीर सेवा मन्दिर) द्वारा रचित मेरी भावना के पाठ से हुआ। इसे जैन सीनियर सेकेण्डरी स्कूल के बच्चों ने सस्वर गाकर प्रस्तुत किया। मंगलाचरण श्रीमती अनीता जैन ने किया और श्री ताराचन्द प्रेमी ने कविता पाठ किया। वीर सेवा मन्दिर के अध्यक्ष श्री शान्तिलाल जैन ने अतिथियों का आभार प्रकट किया। समारोह का संचालन संस्था के महासचिव श्री सुभाष जैन (शकुन प्रकाशन) ने किया। समारोह में दिल्ली जैन समाज के कई सौ गणमान्य नेताओं-कार्यकर्ताओं के अतिरिक्त बाहर के भी बहुत से प्रमुख जैन उपस्थित थे। समारोह के पश्चात् सभी अतिथियों का सामूहिक प्रीतिभोज सम्पन्न हुआ और अतिथियों को वीर सेवा मन्दिर का साहित्य भेंट किया गया। श्री भारतभूषण जैन ऐडवोकेट व श्री नन्हेंमल जैन ने अतिथियों की अगवानी की।

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो। पत्र में विज्ञापन एवं समाचार प्रायः नहीं लिए जाते।

ओम् अर्हम्
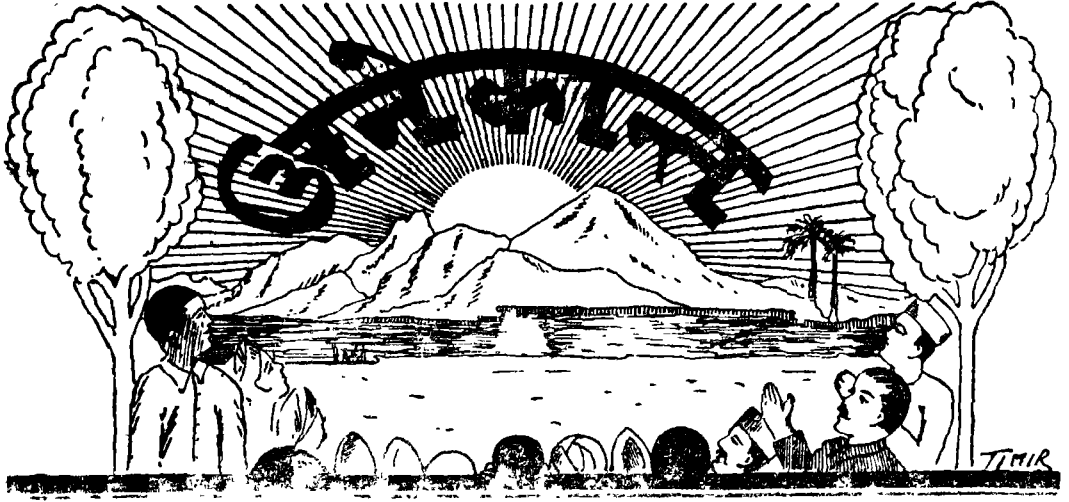
परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वर्ष ४४ किरण १	वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ वीर-निर्वाण संवत् २५१८, वि० सं० २०४८	जनवरी-मार्च १९९१

अध्यात्म-पद

चित चितके चिदेश कब, अशेष पर वमूं ।
दुखदा अपार विधि-दुचार-की, चमूं दमूं ।। चित० ।।
तजि पुण्य-पाप थाप आप, आप में रमूं ।
कब राग-आग शर्म-बाग-दाघनी शमूं ।। चित० ।।
दृग-ज्ञान-भान तैं मिथ्या अज्ञानतम दमूं ।
कब सर्व जीव प्राणिभूत, सत्त्व सौं छमूं ।। चित० ।।
जल-मल्ल[illegible]-कल मुकल, सुबल्ल परिनमुं ।
दलकें त्रिशल्लमल्ल कब, अटल्लपद पमूं ।। चित० ।।
कब ध्याय अज-अमर को फिर न भव विपिन भमूं ।
जिन पूर कौल 'दौल' को यह हेतु हौं नमूं ।। चित० ।।

—कविवर दौलतराम कृत

भावार्थ—हे जिन वह कौन-सा क्षण होगा जब मैं संपूर्ण विभावों का वमन करूंगा और दुखदायी अष्टकर्मों की सेना का दमन करूँगा। पुन्य-पाप को छोड़कर आतम में लीन होऊँगा और कब सुखरूपी बाग को जलाने वाली राग-रूपी अग्नि का शमन करूँगा। सम्यग्दर्शन-ज्ञानरूपी सूर्य से मिथ्यात्व और अज्ञानरूपी अंधेरे का दमन करूंगा और समस्त जीवों से क्षमा-भाव धारण करूँगा। मलीनता से युक्त जड़ शरीर का शुक्ल ध्यान के बल से कब छोडूंगा और कब मिथ्या-माया-निदान शल्यों को छोड़ मोक्ष पद पाऊँगा। मैं मोक्ष को पाकर कब भव-वन में नहीं घूमूंगा? हे जिन, मेरी यह प्रतिज्ञा पूरी हो इसलिए मैं नमन करता हूँ। ☐☐

१२वीं शताब्दी में जैन जातियों का भविष्य

□ डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल

दिगम्बर जैन समाज में ८४ जातियाँ मानी जाती हैं। प्राचीन जैन कवियों ने जब जातियों की संख्या और नाम गिनाये तो उन्होने भी उसे ८४ नामों तक ही सीमित रखा। लेकिन जब मैंने खण्डेलवाल जैन समाज का वृहद् इतिहास[1] लिखने के लिए जैन जातियों के नामों की खोज प्रारम्भ की तो पता चला कि प्रत्येक कवि की सूची में कुछ प्रमुख जातियों के नाम तो एक-दूसरे से मिलते हैं लेकिन अधिकांश नाम ऐसे हैं जिनको दूसरे विद्वानों ने नहीं गिनाये है। इस प्रकार जैन जातियों के नामों की सख्या बढ़ते-बढ़ते २३७ तक जा पहुची।[2] इस सम्बन्ध में और भी खोज की आवश्यकता है। हो सकता है इस संख्या में और भी वृद्धि हो जावे। लेकिन यह भी आश्चर्य है कि संस्कृत विद्वानो ने जातियों के नामों को गिनाने वाली किसी कृति की रचना नहीं की।

महाकवि ब्रह्म जिनदास प्रथम हिन्दी कवि हैं जिन्होंने १५वी शताब्दी मे चौरासी जाति जयमाल लिखी।[3] इसके पश्चात् कविवर विनोदीलाल एवं पं० बखतराम शाह का नाम आता है जिन्होंने फूलमाल पच्चीसी में इन जातियों के नामो को गिनाया। बखतराम साह ने इन बुद्धि विलास मे जातियो के नामों को गिनाकर महत्वपूर्ण कार्य किया।[4] ब्र० जिनदास ने जिन ८४ जातियों का नामोल्लेख किया है उनम विनोदीलाल के गिनाये हुए नामों में केवल २८ जातियो के नाम मिलते हैं। उन जातियो के नाम ऐसे हैं जिनका उल्लेख केवल ब्रह्म जिनदास ने ही किया है। विनोदीलाल ८४ जातियों के नामों के स्थान पर केवल ६७ जातियो के नाम ही गिना सके हैं। इसी तरह बखत-राम साह द्वारा ८४ जातियो के पूरे नाम गिनाने पर भी ४९ जातियो के नाम तो ऐसे है जिनको न तो ब्रह्म जिन-दास गिना सके है और न विनोदीलाल ने गिनाये हैं। वे तो हुंबड जाति जैसी प्रसिद्ध जाति का नाम भी भूल गये। उन्होंने यह भी लिखा है कि ८४ जातियों के नामों को उन्होंने ५-७ पोथियों को देखने के पश्चात् लिखे हैं। यदि इसमें कहीं भूल हो तो पाठक गण उसे सुधार सकते हैं :—

पोथी पांच सात को देखि, करि विचार यह कीनों लेख।
या मे भूल्य चूक्यो होत, ताहि सुधारी लेहु भवि जोय॥६००

इसी तरह सन् १९१४ में एक जैन डाइरेक्टरी का प्रकाशन[5] हुआ था। उसमे जैन जातियों के ८७ नाम गिनाये हैं और प्रत्येक जाति की संख्या भी लिखी है जिसके अनुसार जैन समाज की पूरी संख्या ४५०५८४ लिखी है। लेकिन यह सख्या सही प्रतीत नही होती क्योंकि सन् १९०१ की जनगणना में समस्त जैनों की संख्या १३,३४,१८८ आई थी इसलिए इस दृष्टि से भी दिगम्बर जैन समाज की सख्या ७ लाख से कम नहीं होनी चाहिए। जैन डाइरेक्टरी मे गिनाई गई ८७ जातियों मे से नूतन जैन, बडेले, धवल जैन, भवसागर, इन्द्र जैन, पुरोहित, क्षत्रिय, तगर, मिश्र जैन, संकवाल, गांधी जैसे नाम वाली जातियों को गिनाया गया है जिनमें प्रत्येक की संख्या ५० से भी कम है। तगर जाति की संख्या केवल ८ बताई गई है इसी तरह दूसरी जातियाँ भी हैं।

हम यह कह सकते हैं कि दिगम्बर जैनों में ८४ जातियाँ मानने की परम्परा रही है किन्तु उनके नामों में समानता नही रही। क्षेत्र और प्रदेश के अनुसार जातियाँ बनती बिगड़ती रही हैं। इसके अतिरिक्त और भी ऐसी बहुत-सी जैन जातियां थीं जिनके अस्तित्व का आज पता भी नहीं लगता। मेडतवाल जाति पहिले दिगम्बर जैन जाति थी। बारां (राजस्थान) में नगर के बाहर जो नसियां है उसमें सवत् १२२४ की लेख वाली प्रतिमा को किसी मेडतवाल बन्धुओं ने प्रतिष्ठित कराई थी।[6] ब्रह्म जिनदास एवं बखतराम साह दोनों ने मेडतवाल जाति का

नामोल्लेख किया है लेकिन आज जितने भी मेडतवाल हैं प्राय: सभी वैष्णव धर्मानुयायी हैं। इसी तरह और भी बहुत सी जातियां हैं जो या तो लुप्त हो गई या अन्य धर्मावलम्बी बन गई

दक्षिण भारत में चतुर्थ, पंचम, कासार, बोगार जैसी जातियों का नामोल्लेख तो हुआ है लेकिन वहां और भी कितनी ही कट्टर दिगम्बर धर्मानुयायी जातियां हैं जिनका डाइरेक्टरी में अथवा अन्य जाति जयमाल में उल्लेख नही हुआ। ऐसी जातियों मे उपाध्याय जाति का नाम लिया जा सकता है जिसका किसी भी कवि ने उल्लेख नहीं किया इसी तरह खरौआ, मिठौआ, बरैय्या जैसी वर्तमान में उपलब्ध होने वाली जातियों का भी उल्लेख नहीं मिलता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि न तो प्राचीन काल में और न वर्तमान युग मे अर्थात् २०वीं शताब्दी के अन्तिम चरण तक हम यह पता नही लगा सके कि दि० जैन समाज में जातियों की संख्या कितनी है और उनकी सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक स्थिति क्या है। हमारी समाज में तीन अखिल भारतीय संस्थायें हैं लेकिन किसी भी सभा के कार्यालय मे दिगम्बर जैन समाज की सम्पूर्ण जातियों के नाम नहीं मिलेंगे। इसलिए हिन्दी कवियों ने भी उनको जितनी जातियों के नाम मिले उनका अपनी कृति मे नामोल्लेख कर दिया।

वर्तमान मे उत्तरी भारत में खण्डेलवाल, अग्रवाल, परवार, जैसवाल, गोलापूर्व, गोलालारे, गोलसिंगारे, बघेरवाल, हुंबड, नरसिंहपुरा, नागदा, पल्लीवाल, पद्मावती पुरवाल तथा दक्षिण भारत में चतुर्थ, पंचम एवं सेतवाल जैसी जातियां प्रमुख जातियां हैं। ये सभी जातियां सुरक्षित रहें तथा जाति-बंधन शिथिल नहीं जाने पावे। इसलिए २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ में सभी जातियो द्वारा अपनी-अपनी जातीय महासभायें स्थापित की गई जिससे उनके माध्यम से अपनी जाति पर नियंत्रण रखा जा सके। इसी दृष्टि से खण्डेलवाल जैन महासभा, दिगम्बर जैन अग्रवाल महासभा, परवार महासभा, जैसवाल महासभा, बघेरवाल महासभा, पल्लीवाल महासभा जैसी जाति गत महासभायें स्थापित की गई। इन जातीय सभाओं का उद्देश्य जातीय सुधारों को लागू कराना, बाल विवाह, वृद्ध विवाह अनमेल विवाह निषेध के प्रस्ताव पास करना, विवाहों मे वेश्या नृत्य बन्द करना, फिजूल खर्ची कम करना शिक्षा के विद्यालय खुलवाना, बोर्डिंग हाऊस खुलवाने जैसे प्रस्ताव पास किये जाने लगे थे लेकिन धीरे-धीरे ये सभाये भी लड़ाई-झगड़े का प्लेट फार्म बन गई जिससे लोगो मे जातीय महासभाओं के प्रति उदासीनता छा गई। खण्डेलवाल जैन महासभा सन् १६३२ मे स्थापित हुई थी और केवल २० वर्ष चलने के पश्चात् बन्द हो गई। यही स्थिति दिगम्बर जैन अग्रवाल महासभा की हुई। लेकिन छोटी-छोटी जातियो की सभायें आज भी चल रही है। बघेरवाल महासभा, पल्लीवाल महासभा, जैसवाल महासभा जैसे नाम आज भी सुने जाते है। मनुष्य सामाजिक प्राणी होने से वह अपनी समाज में घूमना अधिक पसन्द करता है। अपनी-अपनी जातियो मे उसको मान-सम्मान अधिक मिलता है। विवाह शादी के लिए उसे अधिक नही घूमना पड़ता। छोटी अर्थात् कम सख्या वाली जातियो की सभाओ का जीवित रहने का भी एक प्रमुख कारण है।

जातीय सभाओं की स्थापना दि० जैन महासभा के सन् १६३० में स्वीकृति प्रस्ताव के आधार पर की गई। उस समय महासभा ही एक मात्र अखिल भारतीय स्तर की संस्था थी। लेकिन वर्तमान में अखिल भारतीय स्तर की तीन सामाजिक संस्थायें हैं जातियो की सुरक्षा एवं संवर्धन के सम्बन्ध में जिनके बिचारों में साम्यता अथवा समानता नही है। महासभा जातियों का वही प्राचीन स्वरूप रखने के पक्ष में है वह अन्तर्जातीय विवाहो का कट्टर विरोध करती है। हमारे अधिकांश आचार्य एवं मुनिगण भी इसी विचार का समर्थन करते है दूसरी ओर परिषद् एव महासमिति अन्तर्जातीय विवाहो को प्रोत्साहन देती है। विचारों की इस टकराहट का जातियों की सुरक्षा पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है जिसको स्वीकार करने मे किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

अब प्रश्न यह है कि २१वी शताब्दी में इन जातियों का क्या भविष्य होगा ? क्या उनका स्वरूप ऐसा ही बना रहेगा या फिर उसमें परिवर्तन आवेगा। यदि परिवर्तन

आवेगा तो फिर उसका रूप क्या होगा। हमारा सामाजिक स्वरूप कैसा होगा। यह सब गहन चिन्तन का विषय है जिस पर प्रस्तुत निबध मे विचार किया जावेगा। वैसे २१वी शताब्दी लगने मे अभी १० वर्ष शेष हैं तथा २१वीं शताब्दी पूरे होने में १०० वर्ष लगेंगे इसलिए ११० वर्षों मे हमारी ५ पीढियां निकल जावेगी और जैसी इन पीढ़ियो की शोध होगी जातियों के अस्तित्व पर भी वैसा ही प्रभाव पड़ेगा।

१. समाज मे उच्च शिक्षा का और अधिक प्रचार होगा। प्रजातत्र होने के कारण सबको उच्च शिक्षा प्राप्त करने का समान अवसर मिलेगा। मेडिकल, इंजीनियरिंग, छोटे-बड़े उद्योगों मे, व्यापारिक संगठन, राज्य एव केन्द्र सरकार की नौकरियों मे उच्च अधिकारी, विदेशो मे परिभ्रमण, भोग-विलास ऐश आराम की सामग्री मे सीमातीत वृद्धि, खान-पान मे बदलाव, जैसे साधन हमें प्राप्त होगे। ये सब चिन्ह अथवा कारण भविष्य मे जातियो के स्वरूप मे बदलाव की अपेक्षा रखते है।

२. दूसरा कारण युवकों मे जैनत्व के प्रति आस्था होने के उपरान्त भी जाति बंधन को वे अभी दबी जबान मे स्वीकार करते हैं। सम्पूर्ण जैन एक हैं। एक ही उनकी सस्कृति है इसलिए उनकी कौन-सी जाति है उनका क्या गोत्र है। मा कौन से गोत्र की है इन सब बातो की ओर वे जाने में हिचकिचाहट करने लगे है। युवको के ये विचार भी जाति बधन पर बुरा असर डालने वाले है। और २१वी शताब्दी मे जातियो के स्वरूप पर प्रश्न चिन्ह लगाते है।

३. जैन समाज पहिले गांवो में अधिक संख्या में था तथा नगरो मे कम रहना पसन्द किया जाता था लेकिन वर्तमान मे छोटे-छोटे गांव उजड़ने लगे है। वहां के जैन बन्धु रोजगार की तलाश के लिए शहरो की ओर दौड रहे है इसलिए आज कलकत्ता, बम्बई, देहली, जयपुर, इन्दौर, जबलपुर, सागर, कानपुर जैसे बड़े नगरों में जैन जनसख्या बहुत बढ गई है। नगरों एवं महानगरों मे रहने के कारण हम स्वच्छन्द मनोवृत्ति के हो गये है। खानपान, रहन-सहन, धार्मिक कट्टरता, एक दूसरे की लाज-शर्म सब पर बुरा प्रभाव पड़ने लगता है। छोटे-छोटे गांवों में एक दूसरे को देखकर असामाजिक कार्य करने में डर लगने लगता है जबकि शहरों मे वह डर निकल जाता है। और ये सब कारण भी हमारे जातीय बंधन पर बुरा प्रभाव डाल सकते है।

४. जातीय बंधन का मुख्य लाभ विवाह शादी के नियमों का पालन करना है। गरीब अमीर सभी एक दूसरे के साथ जुड़ जाते हैं। गरीब की लड़की स्वजातीय अमीर के घर चली जाती है और अमीर की लड़की का सबंध गरीब युवक के साथ हो जाता है लेकिन अब हमारे युवको मे पैसे के प्रति आकर्षण है। ऊचा से ऊंचा दहेज लेना चाहते है इसके अतिरिक्त सुन्दर से सुन्दर लडकी की तलाश की जाती है। इसलिए उसे जहां भी अधिक पैसा मिले अथवा सुन्दतम लड़की मिले वहीं वह अपनी जातीय सीमाओं को तोड़कर भी विवाह करना चाहने लगा है। हमारी इस मनोवृत्ति मे भी दिन-प्रतिदिन वृद्धि हो रही है और इस मनोवृत्ति के कारण भी जातीय स्वरूप कितना सुरक्षित रह सकेगा यह चिन्तनीय विषय है।

५. धनाढ्य, उच्चाधिकारी, विदेशो में भ्रमण करने वाले अथवा विदेशों में रहने वाले जैन बंधु जाति बंधन को अच्छा नही मानते। वर्तमान मे जितने भी जातीय सीमाओ को तोड़ने के उदाहरण ऐसे घरों में अधिक मिलेंगे। हमारी इस मनोवृत्ति मे धीरे-धीरे वृद्धि हो रही है। २१वी शताब्दी में यह हमारी जाति प्रथा पर कितना प्रभाव जमा सकेगी यह भी एक विचारणीय प्रश्न है।

६. लेकिन इतना होने पर भी समाज की छोटी जातियो पर कोई विशेष प्रभाव नही पड़ेगा क्योंकि वहां जातीय सभाओ का समाज पर कन्ट्रोल बना रहेगा और उस जाति के व्यक्ति अपनी जातीय सीमाओं को तोड़ने में आगे आना नही चाहेगे।

७. यह भी सही है कि जातियां कभी समाप्त नहीं होंगी। जब समस्त हिन्दू समाज मे जातियां हैं और वहां भी जातीय सीमाओ मे रहना अच्छा समझा जाता है तो फिर जैन समाज मे भी जातिया पूर्ववत चलती रहेगी।

(शेष पृ० ६ पर)

गोल्लाराष्ट्र व गोल्लापुर के श्रावक

□ यशवंत कुमार मलैया

विद्वानों का यह अनुमान रहा है कि तीन जैन जातियाँ गोलापूर्व (गोल्लापूर्व), गोलालारे, गोलाराडे व गोलसिंघारे (गोलश्रृंगार) किसी एक ही स्थान से उत्पन्न हुई हैं।"[1] इनके अलावा गोलापूर्व नाम की एक बड़ी ब्राह्मण जाति भी है। गोल्लादेश का कुछ जैन ग्रन्थों मे व शिलालेखों मे भी उल्लेख है। इस स्थान के बारे मे विद्वानो के अलग-अलग मत रहे है।

१. खटौरा (बुंदेलखंड) के निवासी नवलसाह चंदेरिया ने १७६८ ई० मे वर्धमान पुराण की रचना की थी। इसमे गोलापूर्व जाति की उत्पत्ति गोयलगढ से बताई गई है, जिसे विद्वानो ने ग्वालियर माना है[2]। वर्धमानपुराण में दी गई अन्य बातें ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण पाई गई हैं।

२. नाथूरामजी प्रेमी ने इस विषय में लिखा था कि सूरत के पास गोलाराडे नाम की एक जाति रहती है। उनके अनुमान से यही जाति बुंदेलखंड मे आकर गोलालारे कहलाई। अतः गोल्ला स्थान सूरत के पास कही होना चाहिए[4]।

३. स्व० परमानन्दजी शास्त्री का मत था कि गुना जिले मे गोलाकोट नाम के स्थान से गोलापूर्व जाति की उत्पत्ति हुई[5]।

४. सन् १९४० में प्रकाशित गोलापूर्व डाइरेक्टरी के लेखक न्यायतीर्थ मोहनलालजी का अनुमान था कि गोलापूर्व जाति तत्कालीन ओरछा स्टेट से निकली है।

५. रामजीतजी जैन ने इन जातियों की उत्पत्ति की सम्भावना श्रवणबेल्गोला से बताई है[6]।

जिस प्रकार गुर्जर जाति के कारण गुजरात, मालवगण के कारण मालवा आदि नाम हुए, उसी प्रकार गोल्ला जाति का राज्य होने से गोल्ला देश हुआ होगा। गोल्ला संस्कृत के गोप या गोपाल एवं हिन्दी के ग्वाल, गावला आदि का ही रूपांतर है[7]। दक्षिण भारत की कई ग्वाल जातियाँ आज भी गोल्ला कहलाती हैं[8]। महाभारत मे गोपराष्ट्र नाम के एक जनपद का उल्लेख है। गोपराष्ट्र मे बसने से ही गोलाराडे जाति का नाम हुआ होगा[9]। गोपराष्ट्र में राष्ट्र शब्द होने से किसी किसी ने अनुमान किया है कि यह महाराष्ट्र के आसपास होना चाहिए, पर इसका कोई अन्य आधार नही है[10]।

गोल्ला देश की स्थिति के निर्धारण के लिए ये तथ्य विचारणीय हैं—

१. गोलालारे जाति का "पाट" भिंड कहा गया है[11]। गोलालारे भिंड जिले के पावई नाम के स्थान के प्राचीन निवासी माने गये है। सन् १९१४ में गोलालारा की सबसे अधिक जनसंख्या ललितपुर के बाद भिंड मे ही थी। गोलालारे जाति की वृद्धश्रेणी खरौआ कहलाई। १८वीं सदी तक यह स्वतंत्र जाति बन गई। खरौआ व गोलसिंघारे जातियो का अधिकतर निवास भदावर क्षेत्र में (भिंड इटावा के आसपास) रहा है। मिठौआ गोलालारे यहाँ से ही आकर बुंदेलखंड मे बसे हैं[12]।

२. गोलापूर्व ब्राह्मण आगरा इटावा आदि जिलों में बसते है। इनकी जनसंख्या कुछ लाख बताई गई है[13]। इन्हे सनाढ्य ब्राह्मणों की शाखा माना गया है[14]। सनाढ्य ब्राह्मणों का निवास भी इसी क्षेत्र के आसपास है[15]।

३. श्रवणबेल्गोला के ३ लेखो मे व कर्णाटक मे ही पाये एक अन्य लेख मे किन्ही गोल्लाचार्य की शिष्य परपरा में हुए कुछ जैन मुनियों का उल्लेख है। यह कहा गया है कि ये दीक्षा के पूर्व गोल्लादेश के राजा थे। इन्हे 'नूत्न चंदिल्ल" (अर्थात् चन्देल) वश का कहा गया है[16]। चन्देलों की राजधानी महोबा खजुराहो मे थी व उनके राज्य का विस्तार ग्वालियर और विदिशा तक रहा था[17]।

४. सातवी शताब्दी मे उद्योतनसूरि द्वारा लिखे कुव-

लयमालाकहा मे कई देशभाषाओं के नाम दिये हैं। इनमें गोल्ला के अलावा ये देश गिनाये गये हैं—ताजिक, टक्क, कीर, सिंधु, मरु, मध्यदेश, अन्तर्वेद, कोशल, मगध, गुर्जर, मालव, महाराष्ट्र, आंध्र व कर्णाटक[१८]। गोल्ला देश को छोड़कर अन्य सभी देशों की पहिचान आसानी से की जा सकती है। यदि इन देशो को व आदिवासी क्षेत्रों को निकाल दिया जाये, तो भारत के बीचों-बीच एक बड़ा भूखण्ड बचता है। मथुरा से विदिशा तक इस भूखण्ड में बोले जाने वाली भाषा ब्रज या बुंदेली कहलाती है। भाषाशास्त्रीय दृष्टि से ब्रज व बुंदेली बोलियाँ एक ही हैं। अतः गोल्ला देश-भाषा ब्रज-बुंदेली का ही पुरोना रूप होना चाहिए[१९]।

५. वर्तमान गुजरात प्राचीन गुजरात के दक्षिण मे है। प्राचीन गुजरात के श्रीमाल आदि स्थान अब राजस्थान मे हैं[२०]। प्राचीन मालव जनपद भी वर्तमान मालवा के उत्तर मे था[२१]। प्राचीन चेदि यमुना के निकट था[२२]। कलचुरियों के राज्यकाल तक यह दक्षिण की ओर खिसक कर वर्तमान रीवां, जबलपुर आदि स्थानों तक आ गया। कोशल के निवासियों के दक्षिण में आकर बसने से दक्षिण कोसल बना[२३]। इससे पता चलता है कि उत्तर भारत मे दक्षिण की ओर आकर बसने की प्रक्रिया चलती रही है।

६. वर्तमान ब्रज-बुंदेली भाषी क्षेत्र मे अनेक स्थानों परवाल जाति अब भी बड़ी संख्या में बसती है[२४]।

उपरोक्त बातों से पता चलता है कि प्राचीन गोल्लाराष्ट्र या गोल्लादेश मथुरा, ग्वालियर के आसपास कही था। कालांतर में यह दक्षिण की ओर विदिशा के आसपास तक फैल गया। नवमीं शती के मध्य मे चंदेलों का उदय हुआ। चदेल जयशक्ति या जेजा के नाम पर उनका राज्यक्षेत्र जेजाभुक्ति या जैजाकभुक्ति कहलाया[२५]। कालान्तर मे जहाँ-जहाँ बुदेलो का राज्य हुआ, वह क्षेत्र बुंदेलखड कहलाया। चन्देलो की राजधानी पूर्वी कोने में होने से पश्चिमी भाग अधीनस्थ सामंतों के शासन में रहा। ग्वालियर के कच्छपघात काफी समय तक चन्देलों के अधीनस्थ थे। दुधई विषय मे ग्यारहवी शती के आरम्भ मे सामत देवलब्धि का शासन था जो चन्देल राजा यशोवर्मन का पौत्र था। कीर्तिगिरि (देवगढ़) का किला कीर्तिवर्मन आमात्य वत्सराज ने १०८९ ई० में बनवाया[२६]।

मथुरा से विदिशा तक का प्रदेश जैनो के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण रहा है। ईस्वी पूर्व पहली-दूसरी शदी से चौथी सदी ई० तक यह क्षेत्र दिगम्बरो व श्वेताम्बरो दोनों का ही केन्द्र था[२७]। इस काल की कई मूर्तियाँ मथुरा और विदिशा के आसपास पाई गयी हैं। कई जैन जातियाँ इसी क्षेत्र से अलग-अलग समय पर निकली हैं या यहां विकसित हुई हैं। इनमे लमेंचू, बुढ़ेले[२८], गोलालारे, खरौआ[२९], माथुर, गोलापूर्व, गोलासिंघारे, जैसवाल[३०], धाकड़, पद्मावतीपुरवाल[३१], वरैया[३२], गृहपति, परवार एवं भोजक ब्राह्मण शामिल हैं। सम्भवतः इसी कारण से जैन ग्रन्थों व लेखों मे इस क्षेत्र के लिए एक विशेष नाम गोल्लादेश का प्रयोग किया गया था।

हमारी गणना से चन्देल राजा देववर्मन ही गोल्लाचार्य हुए। यह अलग विस्तार से विवेचन की बात है[३३]। देववर्मन को सिंहासन पर बैठे कुछ ही वर्ष हुए थे जब कलचुरि राजा लक्ष्मीकर्ण ने आक्रमण करके चन्देल राज्य के प्रमुख भाग पर अधिकार कर लिया[३४]। सम्भवतः देववर्मन के पुत्र की युद्ध में मृत्यु हुई[३५]। देववर्मन ने उद्विग्न होकर राज्य त्याग कर दिया व उसके छोटे भाई कीर्तिवर्मन को राज्य मिला। गोपाल नाम के सामंत की मदद से कीर्तिवर्मन ने चन्देल राज्य पुनः स्थापित किया। चंदेल राज्य की वंशावलियों मे कही भी देववर्मन का नाम नहीं है, उसका नाम केवल उसके ही दो लेखों मे प्राप्त हुआ है[३६]।

गोलापूर्व नाम में "पूर्व" शब्द का क्या अर्थ है? इसे किसी-किसी ने पूर्व दिशा सम्बन्धी व किसी-किसी ने पूर्व काल सम्बन्धी माना जाता है। यहाँ पर ये बातें विचार योग्य हैं।

१. मध्यमिका नगरी (राजस्थान) एक के सं० ४८१ के लेख में "मालवपूर्व्वायां" शब्द हैं, परन्तु यहां पर मंतव्य मालवों के सवत के अनुसार है[३७]।

२. नवलसाह चन्देरिया ने ८४ जातियों की सूची लिखी है जिसमे अजुध्यापूर्व जाति का उल्लेख है[३८]। संभवतः यही अब अयोध्यावासी कहलाते हैं। वर्तमान शताब्दी

के आरम्भ तक इनमें कुछ जैन थे[३९]। ये बुन्देलखंड के वासी हैं। आहार के कुछ चन्देलकालीन लेखों में अवध-पुरान्वय या अवध्यापुरान्वय का उल्लेख है[४०]। अवध्यापुर या अयोध्यापूर्व एक ही होना चाहिए।

३. डोभकुंड के १०८८ ई० के लेख में जैसवाल जाति के प्रतिष्ठापक को "जायसपुरविनिर्गत" वश का कहा गया है। जैसवाल जायस नगर से निकले माने गये है[४१]।

अतः गोल्लापूर्व का अर्थ गोल्लापुर या ग्वालपुर नगर के निवासी होना चाहिए। यह नगर कहाँ है?

"ग्वालियर" शब्द में "ग्वाल" गोप या गोल्ला का ही रूपांतर है। परन्तु इस शब्द के उत्तरार्ध की उत्पत्ति स्पष्ट नहीं है। पुस्तकों व शिलालेखों में इसे गोपाद्रि, गोपाचल आदि कहा गया है। सन् १४९५ में कवि मानिक ने इसे ग्वालियर ही लिखा था। कश्मीर में जैनुलब्दीन के दरबार में जीवाज (१५वी सदी) ने इसे गोपालपुर लिखा था[४२]। प्राकृत में अक्सर 'प' का 'व' होता है, अपभ्रंश में 'व' का भी रूपांतर हो जाता है। मुसलमान लेखकों ने इसे गालेयूर लिखा है। यह ग्वालपुर का रूपांतर लगता है। ग्वालियर शब्द ग्वालखेट का भी रूपांतर हो सकता है जो ग्वालपुर का समानार्थी है।

एक-दो अपवादो को छोड़कर उत्तर भारत की जैन जातियो के लेख ग्यारहवी सदी के उत्तरार्ध या बारहवी सदी के पूर्वार्ध से ही मिलना शुरू होते हैं[४३]। दक्षिण भारत मे भी जैन श्रेष्ठियो के लेख ग्यारहवीं सदी से ही मिलना शुरू होते है[४४]। दसवीं शताब्दी मे भारत का अरब चीनी व्यापारियों के माध्यम से समुद्री व्यापार बढ़ गया। राजपूतों के स्थायी राज्य हो जाने मे आवागमन सुरक्षित हुआ। बडी सख्या में व्यापारी, जैन साधु व ब्राह्मण भारत मे दूर दूर की यात्रा करने लगे। बडी सख्या में जैन प्रतिष्ठायें होने लगी एवं साक्षरता फैलने से अधिक मूर्ति-लेख लिखे जाने लगे।

ऐसा प्रतीत होता है कि नवमी-दसवी शताब्दी मे चन्देलों का राज्य सुदृढ हो जाने से वहा गृहपति व गोला-पूर्व जातियाँ जाकर बस गईं। गोलापूर्व धसान नदी के किनारे जाकर बसे। गोलापूर्वों के प्राचीनतम लेखों में कुछ को छोड़कर बाकी सब इसी क्षेत्र मे पाये गये हैं[४५]। गोलापूर्वों में बहुत से गोत्र जिन ग्रामों के नाम पर बने हैं वे सब धसान नदी के पास ही हैं। वर्तमान रूप में गोला-पूर्व जाति का विकास यही से हुआ है। कुछ लेखकों के मत से प्राचीन दशार्ण जनपद यही है[४६]।

बुन्देलखंड (जेजाभुक्ति) में रहने वाली जैन जातियों में गृहपति व गोलापूर्व प्राचीनतम हैं। इनके पूर्व इस क्षेत्र में जैन विरल ही रहे होंगे। अतः गोलापूर्व यहाँ आने के पहले ही जैन धर्म के पालक रहे होना चाहिए। ग्वालियर के आसपास कही भी जैन लेखों में गोलापूर्व जाति का उल्लेख नहीं है। सम्भवतः मूर्ति लेखों में जाति नाम के उल्लेख की परम्परा प्रचलित होने से पहले ही ये ग्वालियर क्षेत्र छोड चुके थे।

लगभग सभी जैन जातियों की उत्पत्ति खास-खास नगरों व उनके आसपास के क्षेत्र से हुई है[४७]। एक ही स्थान मे रहने वाले सभी जैन अपने समुदाय को एक ही जाति मानें, इसमें कम से कम ३-४ सौ वर्ष अवश्य लगे होंगे। रामजीत जैन एडवोकेट की पुस्तक "गोपाचल-सिद्धक्षेत्र" के अनुसार ग्वालियर में पायी गई जैन मूर्तियों में से कई सातवीं, आठवीं व नौवीं सदी की भी हैं[४८]। अतः यदि ग्वालियर से किसी जैन जाति का उद्भव हुआ हो तो इसमें आश्चर्य नहीं है।

वर्तमान मे ग्वालियर में जैन जातियो में से सर्वाधिक जैसवाल व उनके बाद वरहिया जाति के हैं[४९]। डोभकुंड के सन् १०८८ के लेख के अनुसार जैन मन्दिर के प्रति-ष्ठापक के पूर्वज जायस नगर से आकर बसे थे[५०]। सम्भव है यहाँ जैसवाल जाति का बसना दसवी सदी से शुरू हुआ हो। वरहिया जाति नरवर के निकट उरना नाम के स्थान से निकली प्रतीत होती है[५१]। सम्भव है कि ग्वालियर के प्राचीन जैन निवासी जो ग्वालियर मे ही रहे वे गोला-लारे जाति का भाग बने या अन्य जातियो में मिल गये। ग्वालियर के आसपास के क्षेत्र में केवल शिवपुरी जिले के झिरी व पोहरी ग्रामों मे गोलापूर्वों का प्राचीन काल से निवास रहा है[५२]।

गोलापूर्व, गोलालारे व गोलसिंघारे इन तीनों जातियों मे ईक्ष्वाकु जाति से उत्पन्न होने की श्रुति रही है[५३]। गोलापूर्व व गोलालारे जातियों में कुछ गोत्रों के नाम

मिलते-जुलते हैं। सम्भव है तीनों का स्रोत एक ही रहा हो। अहार के बारहवी सदी के लेखों में गोलापूर्व व गोलालारे दोनों जातियों के स्वतंत्र उल्लेख है"। सम्भव है ये नवमीं-दसवीं शती मे अलग-अलग हुई हो। गोलसिंघारे जाति का इतिहास ज्ञात नहीं हो सका है।

इस सम्बन्ध में कस्तूरचन्द जी सुमन का एक महत्वपूर्ण लेख पठनीय है। इस लेख में आपने गोलापूर्व जाति का उद्भव गोलाकोट से माना है। इस लेख" मे अन्य मतो के बारे मे ऊहापोह की है एवं गोलापूर्व जाति के इतिहास व वर्तमान स्थिति के बारे मे विस्तार से वर्णन किया है।

सन्दर्भ-सूची

१. नाथूराम प्रेमी का मत—श्री अखिल भारतवर्षीय दि० जैन गोलापूर्व डायरेक्टरी, प्रकाशक—मोहनलाल जैन काव्यतीर्थ, सागर १६४०, पृ० क।

२. परमानन्द शास्त्री, जैन समाज की कुछ उपजातियाँ, अनेकात, जून १६६६, पृ० ५०।

३. मुन्नालाल रांधेलीय का मत—गोलापूर्व डाइरेक्टरी पृ० भ।

४. गोलापूर्व डायरेक्टरी, पृ० ग।

५. परमानन्द शास्त्री, अनेकान्त, जून १८६६, पृ. ५०।

६. रामजीत जैन एडवोकेट, 'गोल्लादेश', अप्रकाशित लेख

७. यशवंत कुमार मलैया, 'गोल्लादेश व गोल्लाचार्य की पहिचान'।

८. एल. के. अनन्तकृष्ण अय्यर, The Mysore Tribes and Castes, पृ० १६७ २४२, भाग ३, १६३०।

६. सुदामा मिश्र, Janapad States in Aocient India, १६७३।

१०. वही।

११. फूलचन्द सिद्धान्त शास्त्री, 'गोलापूर्वान्वय, डा० दरबारीलाल कोठिया अभिनंदन ग्रन्थ, १६८२।

१२. रामजीत जैन, 'गोलालारे-खरौआ उत्पत्ति', अ. लेख।

१३. गोलापूर्व डाइरेक्टरी, पृ० २००।

१४. हिन्दी विश्वकोष, सं० नगेन्द्रनाथ वसु १६२३।

१५. A Historical Atlas of South Asi.a Ed, J. E. Schwartzberg, 1978, P. 107.

१६. हीरालाल जैन; जैन शिलालेख संग्रह, प्र. भाग १८८८

१७. शिशिर कुमार मिश्र, The Early Rulers of Khajuraho, Motilal Banarsidas, 1970.

१८. शारदा श्रीनिवासन, 'Dravidian Words in Desinamamala', Journal of the Oriental Institute, vxxi, No. 2, Sept. 1971, p. 114.

१६. यशवंत कुमार मलैया, 'गोलापूर्व जाति के परिप्रेक्ष्य में', पं० वंशीधर व्याकरणाचार्य अभिनंदन ग्रंथ, १६६०, पृ० १०३-१६०।

२०. The History and Cuiture of the Indian People, V.III, Bhartiya Vidya Bhavan, 1954, P. 63.

२१. वही, पृ० ६।

२२. The History and Culture of the Indian People, V.II, Bhartiya Vidya Bhavan, 1951, P. 9.

२३. J. Davson, A classic Dictionary of Hindu Mythology & Religion, 1982, P. 159.

२४. A Historical Atlas of South Asia, P. 108.

२५. शिशिर कुमार मिश्र, पृ० ३२।

२६. वही।

२७. 'Jainism', in Encyclopedia Brittanica, , P. 275.

२८. झम्मनलाल जैन न्यायतीर्थ, श्री लवेचू दि. जैन समाज इतिहास, १६५१।

२६. रामजीत जैन, 'गोलालारे-खरौवा उत्पत्ति' अ. लेख।

३०. रामजीत जैन, जैसवाल जैन इतिहास, १६८८, प्र० जैसवाल जैन समाज, ग्वालियर।

३१. रामजीत जैन, 'पद्मावती पुरवाल', अप्र० लेख।

३२. रामजीत जैन, वरहियान्वय १६८७, प्र० लालमणि प्रसाद जैन, ग्वालियर।

३३. यशवंत कुमार मलैया, "गोलाचार्य कौन थे?", अप्रकाशित लेख।

३४. शिशिर कुमार मिश्र, पृ० ६३।

३५ अयोध्याप्रसाद पाण्डेय, चन्देलकालीन बुन्देलखण्ड का

इतिहास, १९६८, पृ० ७२।
३६. शिशिर कुमार मिश्र, पृ० ९१।
३७. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, भारतीय प्राचीन लिपिमाला, १९१८, पृ० १६६।
३८. नवलसाह चंदेरिया, वर्धमान पुराण,
३९. श्री अ० भा० दिगंबर जैन डायरेक्टरी, प्र० ठाकुरदास भगवानदास जवेरी, १९१४।
४०. गोविन्ददास जैन कोठिया न्यायतीर्थ, प्राचीन शिलालेख, दि०जै०अ०क्षे० आहारजी, १९६२।
४१. रामजीत जैन, जैसवाल जैन इतिहास।
४२. रामजीत जैन, गोपाचल सिद्धक्षेत्र, प्र. महावीरपरमागम सेवा समिति, ग्वालियर, १९८७, पृ० ६।
४३. यशवंत कुमार मलैया, 'वर्धमान पुराण के सोलहवें अधिकार पर विचार', अनेकांत जून १९७४ पृ. ५८-९
४४. Ram Bhushan Prasad Singh, Jainism in Early Medieval Karnatka, 1975, P. 113.
४५. यशवंत कुमार मलैया, 'कुवलयमालाकहा के आधार पर गोल्लादेश व गोल्लाचार्य की पहिचान', पं. जगन्मोहनलाल शास्त्री साधुवाद ग्रंथ, १९८९, पृ. ४४७-५४
४६. A Historical Atlas of South Asia, P. 27.
४७. यशवंत कुमार मलैया, 'वर्धमान पुराण के सोलहवें अधिकार पर विचार', अनेकान अगस्त १९७४।
४८. रामजीत जैन, 'गोपाचल सिद्धक्षेत्र, प्र. महावीरापरमागम सेवा समिति, ग्वालियर, १९८७ पृ. ६०।
४९. रामजीत जैन, जैसवाल जैन इतिहास, पृ. ६७।
५०. रामजीत जैन, वही, पृ० १७।
५१. रामजीत जैन, वरहियान्वय, पृ० ४२।
५२. गोलापूर्व डायरेक्टरी।
५३. यशवंत कुमार मलैया 'गोलापूर्व जाति पर विचार', अनेकांत जून ७२, पृ० ६८-७२।
५४ गोविन्ददास जैन कोठिया, न्यायतीर्थ, प्राचीन शिलालेख
५५. डा० कस्तूरचन्द सुमन, 'गोलापूर्वान्वय एक परिशीलन' सरस्वती-वरदपुत्र पं. वंशीधर व्याकरणाचार्य अभिनंदन ग्रंथ, १९९०, पृ० ३२-५०।

—COLORADO STATE UNIVERSITY

(पृ० ४ का शेषांश)

हों १० प्रतिशत लोग जातीय सीमाओं को तोड़ सकते हैं।

८. २१वीं शताब्दी में यह भी हो सकता है कि जो व्यक्ति जातीय बंधन तोड़ना चाहेंगे उन सबकी एक और जाति बन जावे। उसका नामकरण क्या होगा यह तो मैं अभी कह नहीं सकता लेकिन उनको भी किसी समुदाय में तो रहना नहीं पड़ेगा। समुदाय से अलग तो वे भी नही जाना चाहेंगे।

अन्त में इतना ही कहना चाहूंगा कि २१वी शताब्दी में जातीय स्वरूप में कोई विशेष परिवर्तन नही होगा। जातियां उसी प्रकार बनी रहेंगी जैसी वर्तमान में हैं और जातीय सीमाओं में रहने से परिवार में सुख-शांति एव प्यार बना रहेगा। लेकिन इतना होने पर भी जातीय बंधन में शिथिलता अवश्य आयेगी इसमे किंचित भी शंका नहीं है। लेकिन यह शिथिलता १०% से अधिक नहीं होगी। समाज में अधिकांश परिवार धर्मभीरु एवं जाति भीरु होते हैं इसलिए वे सीमाओं के बाहर जाना पसन्द नहीं करेंगे।

८६७ अमृत कलश
बाबत नगर, किसान मार्ग
टोंक रोड, जयपुर

सन्दर्भ-ग्रन्थ

१. जैन इतिहास प्रकाशन संस्थान, जयपुर द्वारा सन् १९८९ में प्रकाशित।
२. खण्डेलवाल जैन समाज का वृहद् इतिहास प्रथम खंड—पृ० सं० ...
३. देखिए—महाकवि ब्रह्म जिनदास-व्यक्तित्व एवं कृतित्व लेखक डा० प्रेमचन्द रावकां प्रकाशक श्री महावीर ग्रंथ अकादमी, जयपुर।
४. राजस्थान पुरातत्व मंदिर, जोधपुर द्वारा प्रकाशित।
५. दिगम्बर जैन डाइरेक्टरी, प्रकाशन वर्ष १९१४।
६. खंडेलवाल जैन समाज का वृहद् इतिहास, पृ. स. ४६।

आचार्य कुंदकुंद के ग्रंथों की पाण्डुलिपियों का सर्वेक्षण

☐ डॉ० कमलेशकुमार जैन, जैनदर्शन प्राध्यापक
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं के अन्तर्गत प्राकृत भाषा का महत्वपूर्ण स्थान है। इसे संस्कृत भाषा की तरह न तो राज-दरबारों की छत्र छाया में पलने का अवसर मिला और न ही इसे राजसत्ता की सुखानुभूति हो सकी। किन्तु जन-साधारण का जो स्नेह प्राकृत भाषा को उपलब्ध हुआ है, वह अवश्य ही श्लाघनीय है।

भगवान् महावीर से कई शताब्दियों पूर्व में प्राकृत भाषा जन साधारण द्वारा बोलचाल के रूप में प्रचलित रही है। अत: भगवान् महावीर ने अपने पुरुषार्थ से उपलब्ध तत्वज्ञान का सर्वसाधारण को लाभ पहुंचाने की दृष्टि से प्राकृत भाषा को ही उपदेश देने का माध्यम चुना। वे अपनी उपलब्धियों को किसी वर्ग विशेष तक सीमित नहीं रखना चाहते थे। शनैः शनैः विविध प्रान्तों और विविध प्रान्तीयजनों की बोलचाल की भाषा का विकास हुआ। फलस्वरूप प्राकृत के विविध रूप दृष्टिगोचर होने लगे।

जब लोगों की धारणा शक्ति क्षीण होने लगी तो भगवान् महावीर के उपदेशो को उनकी मूल भाषा प्राकृत में स्मृति के आधार पर लिपिबद्ध किया जाने लगा। दूसरे-दूसरे परवर्ती कई आचार्यों ने भी अपने भावों को अभिव्यक्ति देने के लिए प्राकृत भाषा को ही माध्यम चुना। ऐसी स्थिति मे साहित्यारूढ़ प्राकृत को एक ढांचे में बांधने की आवश्यकता प्रतीत हुई। अत: कालान्तर मे साहित्यारूढ प्राकृत भाषा को कुछ आचार्यों ने व्याकरण के नियमोपनियमों मे जकड़ कर अनुशासित किया और भाषा का प्रवाह रुक गया। प्राकृत भाषा एक स्वरूप के अन्तर्गत सीमित हो गई। जन साधारण द्वारा बोलचाल के रूप में प्रयुक्त होने के कारण यद्यपि इसका बाद में भी विकास हुआ, किन्तु वह नामान्तरों के माध्यम से प्राकृत भाषा से भिन्न विविध बोलियों आदि के रूप में जानी जाने लगी।

भगवान् महावीर की परम्परा में अनेक आचार्य हुए, जिसमें से कुछ आचार्यों ने भगवान् की मूल परम्परा का सम्यक् निर्वाह करने मे अपने को असमर्थ पाया। अत: उन्होंने उपदेशो के संकलन के समय अपने अभिप्रायों का भी उसमें सन्निवेश कर दिया, जिससे भगवान् के मूल उपदेश में विकृति आ गई। फलस्वरूप दूसरी परम्परा ने भगवान् के संकलित उपदेशो को मान्यता नही दी और अपनी ही धारणा शक्ति को मूर्त्तरूप देकर छन्दोबद्ध प्राकृत में ग्रन्थो का निर्माण किया तथा मूल आगमिक परम्पर को सुरक्षित रखा। ऐसे आचार्यों की परम्परा मे आचार्य कुन्दकुन्द का नाम सर्वोपरि है।

आचार्य कुन्दकुन्द दिगम्बर परम्परा के उन कालजयी आचार्यों मे प्रथम हैं, जिन्होंने अध्यात्म विद्या को सर्वसाधारण की भाषा मे सर्वसाधारण जनों के लिए सुलभ किया है। यद्यपि उनके द्वारा निर्मित अनेक ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है तथापि उनके ग्रन्थों की हजारो प्राचीन पांडुलिपियां आज भी विभिन्न ग्रन्थ-भण्डारो में पड़ी है और अपने समालोचनात्मक सम्पादन एवं प्रामाणिक अनुवाद की प्रतीक्षा कर रही है।

आचार्य कुन्दकुन्द के जिन उपलब्ध ग्रन्थों का प्रकाशन अनेक संस्थाओ/विद्वानो ने किया हैं, वह सन्तोषजनक नही कहा जा सकता है। कुछ प्रकाशनों को छोड़कर अद्यावधि आचार्य कुन्दकुन्द का जो साहित्य प्रकाश में आया है वह पाण्डुलिपियों का मात्र मुद्रित रूप है। उनके सम्पादन मे प्राचीन पाण्डुलिपियों का उपयोग प्राय: नहीं के बराबर हुआ है। जिससे लिपिकारो के प्रमादवश अथवा अज्ञानता के कारण हुई भूलों का अथवा कही-कहीं पाठकों द्वारा अपनी सुविधा के लिए पृष्ठो के किनारों पर लिखे गये

टिप्पणों का भी मूल में समावेश हो गया है। इससे यह ज्ञात करना मुश्किल हो गया है कि मूलपाठ कौन है? इसके अतिरिक्त व्याकरणप्रिय तथाकथित विद्वानों ने मूल पाठ के साथ छेड़खानी करके व्याकरण सम्मत शब्दरूपों का जामा पहिनाकर अमानत में खमानत कर डाली है। इस परिवर्तन से होने वाली हानियों की ओर उनका ध्यान नहीं गया। यह खेद का विषय है।

आज हिन्दुओं के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद एवं जैनों जैनो की एक परम्परा द्वारा स्वीकृत आचाराङ्ग की प्राचीनता उनकी भाषा के कारण ही सिद्ध की जाती है। आधुनिक युग में भाषा ही एक मात्र ऐसा मापदण्ड है जो ग्रन्थों की प्राचीनता अथवा अर्वाचीनता को सिद्ध कर सकता है।

किसी भी भाषा का व्याकरण तद्विषयक उपलब्ध साहित्य में प्रयुक्त शब्दरूपों के आधार पर किया जाता है। अर्थात् पहले उस भाषा का साहित्य होता है और बाद मे उस भाषा का व्याकरण। यही कारण कि मूल साहित्य मे कुछ ऐसे शब्दों का भी प्रयोग मिलता है, जो अर्वाचीन व्याकरण के नियमो से मेल नही खाता है। ऐसे प्रयोगों/शब्दरूपों को वैयाकरणों द्वारा व्याकरण के नियमों में न बांध पाने के कारण उन्हे आर्ष प्रयोग के नाम से सम्बोधित किया है। ऐसे भाषागत परिवर्तनों से ऐतिहासिक तथ्यों एवं प्राचीन संस्कृति का विनाश होगा। जिसे इतिहास कभी क्षमा नही करेगा।

आज आवश्यकता इस बात की है कि एक-एक आचार्य के समस्त ग्रन्थों का समालोचनात्मक सम्पादन देश-विदेश में उपलब्ध पाण्डुलिपियो के आधार पर किया जाये। सम्पादन की इस प्रक्रिया में मूल मे किसी भी प्रकार की विकृति न आये इस बात को ध्यान मे रखते हुए सम्पादन के विश्वजनीन मापदण्डो को अपनाना होगा।

उपर्युक्त प्रकार का मौलिक एव प्रामाणिक सम्पादन किसी व्यक्ति विशेष द्वारा सम्भव नही है। इस सम्पादन प्रक्रिया को मूर्तरूप देने के लिए अनेक विद्वानों का एक साथ सहयोग अपेक्षित है। यह एक टीमवर्क है। इस कार्य हेतु सर्वप्रथम देश-विदेश के प्राचीनतम ग्रन्थ-भण्डारो का सर्वेक्षण आवश्यक है, जिससे मूल प्रतियों की खोज की जा सके।

इस प्रकार क बृहद् आयोजनों के लिए बौद्धिकवर्ग का सहयोग तो अपेक्षित है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग जैसी केन्द्रीय संस्थाओं के सहयोग से यह कार्य सहज सम्भव है। इसके लिए विश्वविद्यालयीय विद्वानों एवं विश्वविद्याय अनुदान आयोग—दोनो की ओर से प्रथम पदन्यास हो चुका है। इस क्रम मे सम्पूर्णानन्द विश्वविद्यालय, वाराणसी के प्राकृत एव जैनागम विभागाध्यक्ष डा० गोकुलचन्द जैन के निर्देशन मे आचार्य कुन्दकुन्द के एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ नियमसार का समालोचनात्मक सम्पादन डा० ऋषभचन्द्र जैन फौजदार ने विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की एक योजना के अन्तर्गत प्रारम्भ कर दिया है।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने मेरे द्वारा प्रस्तावित एक योजना को भी स्वीकृति दी है, जिसका विषय है—"आचार्य कुन्दकुन्द के प्राकृत-ग्रन्थों की प्राचीन पाण्डुलिपियों का सर्वेक्षण।" योजना को प्रस्तावित करने मे मुझे डा० गोकुलचन्द्र जैन का सहयोग मिला है। इस योजना के अन्तर्गत आचार्य कुन्दकुन्द के समस्त हस्तलिखित एव प्रकाशित ग्रन्थों की प्राचीन पाण्डुलिपियो की विस्तृत सूची तैयार की जायेगी। क्योंकि प्राचीन ग्रन्थो को प्रकाश में लाने के लिए सर्वेक्षण कार्यों का अत्यधिक महत्त्व है। इसलिए प्रस्तुत योजना के माध्यम से आचार्य कुन्दकुन्द के वर्तमान में ज्ञात तेइस प्राकृत-ग्रन्थों तथा उनकी उपलब्ध टीकाओं की प्राचीन पाण्डुलिपियों की जानकारी एक साथ प्राप्त हो सकेगी। वर्तमान में आचार्य कुन्दकुन्द के छपे ग्रन्थों में प्राचीन पाण्डुलिपियों का समुचित उपयोग न होने से सम्पादन विशेषज्ञ मनीषी प्रो० ए० एन० उपाध्ये ने उक्त छपे हुए ग्रन्थों को मुद्रित पाण्डुलिपियाँ कहा है तथा समालोचनात्मक संस्करण तैयार करने की आवश्यकता पर अत्यधिक बल दिया है।

आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थो की देश-विदेश मे उपलब्ध समस्त प्राचीन पाण्डुलियो के सूचीकरण से आचार्य कुन्दकुन्द अथवा उनके ग्रन्थों पर कार्य कर रहे अनुसन्धान

(शेष पृ० १४ पर)

नियमसार का विशिष्ट संस्करण प्रस्तावित

☐ डॉ० ऋषभचन्द्र जैन फौजदार

आचार्य कुन्दकुन्द भगवान् महावीर की श्रमण-परंपरा के ज्योतिर्धर आचार्य हैं। उनके उपलब्ध प्राकृत ग्रन्थों में श्रमण-परम्परा का सांस्कृतिक इतिहास सुरक्षित है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से प्राकृत भाषाओं के विविध रूप इन ग्रन्थों में उपलब्ध हैं।

विगत वर्षों मे आचार्य कुन्दकुन्द की ओर जैन समाज का ध्यान विशेष रूप से गया है। उनके नाम पर संस्थाएं बनीं हैं। ग्रंथों के प्रकाशन हुए हैं। साहित्य और प्रचार-प्रसार की सामग्री प्रकाशित हुई है। दिगम्बर जैन समाज की ओर से आचार्य कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दि समारोह मनाने के भी अनेक आयोजन हुए। इस सबके बाद भी किसी भी सामाजिक संस्था की ओर से आचार्य कुन्दकुन्द विषयक उच्च अनुसन्धान और उनके प्राकृत ग्रन्थों के शुद्ध और प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित करने की योजना प्रकाश में नहीं आयी। अब तक जो भी सस्करण प्रकाशित हुए हैं, वे प्राय: पूर्व प्रकाशनों के पुनर्मुद्रण मात्र है। मूल प्राकृत पाठ नये संस्करणो मे शुद्ध होने की अपेक्षा और अधिक त्रुटिपूर्ण होता गया है। एक भी ग्रन्थ में शब्द-कोश नहीं है। यही कारण है कि प्राकृत के प्रसिद्ध विद्वान स्व० डा० ए० एन० उपाध्ये ने इन सस्करणो को "मुद्रित पाण्डुलिपियाँ" (प्रिन्टेड मेनुस्क्रप्टस) कहा है। जीवन के अन्तिम क्षण तक वे कुन्दकुन्द के प्रामाणिक सस्करणो की बात कहते रहे।

आचार्य कुन्दकुन्द विषयक उच्च अध्ययन अनुसन्धान को विगत वर्षों मे प्राकृत एवं जैन विद्या के वरिष्ट विद्वान डा० गोकुलचन्द्र जैन ने एक नयी दिशा दी है। प्रामाणिक सस्करणो की बात को उन्होने अनेक प्रसंगों पर उठाया है। कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दि वर्ष में उनके निर्देशन मे नियमसार तथा अष्टपाहुड पर संस्कृत विश्वविद्याल वाराणसी ने दो युवा विद्वानो मुझे तथा डा० महेन्द्रकुमार जैन को विद्यावारिधि की उपाधि प्रदान की है। उनके प्रयत्नों से विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने विभिन्न योजनाएँ स्वीकृत की है। राष्ट्रीय और अन्तराष्ट्रीय स्तर पर कुन्दकुन्द विषयक अनुसंधान कार्य आरम्भ हो रहे हैं।

भारत तथा विदेशो मे आचार्य कुन्दकुन्द के प्राकृत ग्रन्थो की शताधिक प्रतियाँ उपलब्ध हैं। अभी तक इनके सर्वेक्षण का प्रयत्न नही हुआ। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की एक योजना के अन्तर्गत यह बहु प्रतीक्षित कार्य अब आरम्भ हो गया है। डा० कमलेशकुमार जैन प्राध्यापक जैन दर्शन, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय यह महत्वपूर्ण कार्य कर रहे है।

नियमसार पर अनुसन्धान कार्य करते समायरमे ध्यान उसके अशुद्ध और त्रुटिपूर्ण प्राकृत पाठ पर गया। मूल प्राकृत पाठ अशुद्ध होने से उसका हिन्दी और अंग्रेजी अनुवाद भी अनेक स्थलो पर त्रुटिपूर्ण है। अशुद्ध पाठ के आधार पर भाषावैज्ञानिक अध्ययन कथमपि संभव नही है। डा० गोकुलचन्द्र जैन मुझे मेरे अनुसन्धान काल से ही नियमसार का एक शुद्ध और विशिष्ट सस्करण तैयार करने के लिए प्रेरित करते रहे हैं। सौभाग्य से इनके निर्देशन मे विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने नियमसार के सम्पादन की योजना स्वीकृत कर ली। उसके अनुसार सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी के प्राकृत एवं जैनागम विभाग मे विभाग के अध्यक्ष डा० गोकुलचन्द्र जैन के निर्देशन में मैंने कार्य आरम्भ कर दिया है। इस कार्य में उन सभी का सहयोग वांछनीय है, जो आचार्य कुन्दकुन्द के प्रति श्रद्धा भाव रखते है तथा जिनकी उच्च अनुसन्धान मे रुचि है।

नियमसार लगभग इस शताब्दी के आरम्भ में प्रकाश में आया। उस समय जो हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध हुई उनके आधार पर इसका प्रकाशन भी किया गया। इधर

दशकों में इस ग्रन्थ के कई अन्य प्रकाशन भी हुए। इनमें से कुछ संस्करणों में प्राचीन पाण्डुलिपियों से मिलान करने की बात भी कही गयी है। अधिकांश प्रकाशन पूर्व संस्करणों के पुनर्मुद्रण मात्र है। अभी तक मेरी जानकारी मे नियमसार के निम्नलिखित प्रकाशन आये है :—

प्राकृत-संस्कृत-हिन्दी :—

(१) मूल प्राकृत, सस्कृत छाया, पद्मप्रभमलधारिदेव कृत तात्पर्यवृति नामक संस्कृत टीका एवं ब्र० शीतलप्रसाद जी कृत हिन्दी भाषा टीका। प्रकाशक—हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, सन् १९१६. यह नियमसार का पहला संस्करण है।

(२) क्रम संख्या एक का पुनर्मुद्रण श्री अजित प्रसाद जोहरी, कटरा खुशालराय, दिल्ली-६ ने वी०नि०सं० २४६८ में कराया है।

(३) मूल प्राकृत सस्कृत छाया, पद्मप्रभमलधारिदेव कृत तात्पर्यवृत्ति सस्कृत टीका एव हिन्दी अनुवाद तथा मूल गाथाओं का हिन्दी पद्यानुवाद। प्रकाशक—साहित्य प्रकाशन एव प्रचार विभाग, कुन्दकुन्द कहान दि० जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट, ए-४, बापूनगर, जयपुर, सन् १९८४।

(४) मूल प्राकृत, पद्मप्रभमलधारिदेव रचित तात्पर्यवृत्ति नामक सस्कृत टीका तथा हिन्दी अनुवाद, सम्पादन, आर्यिका ज्ञानमती जी। प्रकाशक—दि० जैन त्रिलोक शोध संस्थान, हस्तिनापुर, वी. नि. स. २५११।

(५) मूल प्राकृत, आर्यिका ज्ञानमती जी कृत स्याद्वाद चन्द्रिका सस्कृत टीका तथा हिन्दी अनुवाद। प्रकाशक—दि० जैन त्रिलोक शोध सस्थान, हस्तिनापुर, सन् १९८५।

प्राकृत-हिन्दी :

(६) मूल प्राकृत एवं ब्र० शीतलप्रसादजी कृत हिंदी टीका। प्रकाशक—विमलसागर जी महाराज, इन्दौर, वी० नि० सं० २४७६।

(७) कुन्दकुन्द भारती के अन्तर्गत आचार्य कुदकुद के सभी ग्रंथ मूल प्राकृत एव हिन्दी अनुवाद, सकलन-सपादन—प० पन्नालाल साहित्याचार्य, प्रकाशक—श्रुतभण्डार व ग्रंथ प्रकाशन समिति, फलटण, सन् १९७०।

(८) मूल प्राकृत एव हिन्दी अनुवाद, सम्पादक—पं० बलभद्र जैन, प्रकाशक—कुन्दकुन्द भारती, दिल्ली, सन् १९८७।

प्राकृत-अंग्रेजी :

(९) मूल प्राकृत, सस्कृत छाया, अगरसेनकृत अंग्रेजी अनुवाद एवं अंग्रेजी टीका के साथ "दी सेक्रेड बुक्स आफ दी जैन्स" वाल्यूम-९, सेन्ट्रल जैन पब्लिसिंग हाउस, अजिताश्रम, लखनऊ से प्रकाशित सन् १९३१।

प्राकृत-मराठी :

(१०) मूल प्राकृत एव मराठी अनुवाद, प० नरेन्द्र मिसीकर न्यायतीर्थ, प्रकाशक—गोपाल अम्बादास चवरे, कारजा, सन् १९६३।

प्राकृत-गुजराती :

(११) मूल प्राकृत गाथाएं, उनका गुजराती पद्यानुवाद, संस्कृत टीका और मूल संस्कृत टीका का गुजराती अनुवाद, गुजराती अनुवादक—प० हिम्मतलाल जेठालाल शाह, प्रकाशक—दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़, सन् १९५१।

उक्त प्रकाशनों के अतिरिक्त यदि अन्य कोई सस्करण किसी विद्वान व स्वाध्यायी व्यक्ति की जानकारी म हो तो कृपया सूचना देने का कष्ट करे तथा उपलब्ध भी करायें। उनका व्यय विभाग की ओर से हम वहन करेंगे।

मुद्रित सस्करणों के अतिरिक्त सम्पादन के लिए मैं देश विदेश मे उपलब्ध ताड़पत्र तथा कागज पर लिखित हस्तलिखित पाण्डुलिपियाँ एकत्रित कर रहा हू। यदि किसी को जानकारी मे उपयोगी पाण्डुलिपियाँ हों तो उनकी सूचना दे तथा यदि उनके माध्यम से उसकी फोटो कापी प्राप्त हो सकती हो तो उपलब्ध करायें। इस पर होने वाला व्यय विभाग की ओर से हम वहन करेंगे।

नियमसार का प्रस्तावित सस्करण सम्पादन के अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर स्वीकृत मानकों के अनुसार सपादित किया जायेगा। इस सस्करण म मूल प्राकृत गाथाओं तथा पद्मप्रभमलधारिदेव कृत सस्कृत टीका का सम्पादन देश-विदेश मे उपलब्ध प्राचीन ताड़पत्रीय तथा हस्तलिखित

पाण्डुलिपियों के आधार पर किया जायेगा। सम्पादित पाठ के आधार पर हिन्दी और अंग्रेजी अनुवाद किये जायेंगे। पहली बार नियमसार का सम्पूर्ण शब्दकोश तैयार किया जा रहा है। नियमसार की कतिपय गाथायें कुन्दकुन्द के अन्य ग्रन्थों में भी यथावत् या किंचित् शब्द परिवर्तन के साथ प्राप्त होती हैं। प्राकृत के अन्य दिगम्बर तथा श्वेताम्बर ग्रन्थों में भी कतिपय गाथाओं अथवा विषयों में साम्य प्राप्त होता है। तुलना के लिए उन्हें मूल के साथ सन्दर्भ उद्धृत किया जायेगा। उक्त सभी विषयों पर ऐतिहासिक और भाषावैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया जायेगा। प्रस्तावना तथा परिशिष्टों में सभी सम्बद्ध महत्वपूर्ण विषयों का समावेश होगा। प्रस्तुत संस्करण को सर्वांगपूर्ण बनाने हेतु विद्वानों के सुझाव सादर आमंत्रित है।

रिसर्च एसोशिएट
प्राकृत एवं जैनागम विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी-२

(पृ० ११ का शेष)

कार्यों मे महत्त्वपूर्ण सहयोग मिल सकेगा, ऐसी आशा करनी चाहिए। इससे हमारे अतीत का गौरव मुखर होगा तथा हमारी सांस्कृतिक विरासत अक्षुण्ण रह सकेगी। ऐतिहासिक तथ्यों के प्रबल साक्षी भाषायी पुरावशेष भी अपनी कहानी स्वय कह सकेंगे और हमारी अगली पीढ़ी को एक शाश्वत रोशनी दे सकेंगे।

अद्यावधि जिन सूची-ग्रन्थों का मुद्रण हो चुका है और उनमें आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थो की प्राचीन पाण्डुलिपियों का उल्लेख है अथवा जिन ग्रन्थ-भण्डारो/व्यक्तिगत संग्रहों मे आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थो की हस्तलिखित प्राचीन पांडुलिपियां उपलब्ध है, उनके संचालको/मालिको तथा जिन विद्वानों ने सूचीकरण का कार्य किया है अथवा कर रहे हैं, उनसे भी निवेदन है कि वे उपर्युक्त सूचना मेरे पते पर देकर मेरा मार्गदर्शन करें। मैं उनका आभारी रहूंगा। इससे इस कार्य को निर्धारित समय में पूर्ण किया जा सकेगा। सूचना देने वाले सचालको/मालिकों विद्वानों द्वारा इस कार्य-सम्पादन मे जो भी व्यय होगा, उसे विश्वविद्यालय की ओर से मैं वहन करूंगा।

सम्पर्कसूत्र :
बी २/२४९, लेन नं० १४
रवीन्द्रपुरी, वाराणसी-२२१००५

अनेकान्त के स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

प्रकाशन स्थान—वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२
प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर के निमित्त श्री बाबूलाल जैन, २ अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-२
राष्ट्रीयता—भारतीय।
प्रकाशन अवधि—त्रैमासिक।
सम्पादक—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज, नई दिल्ली-२
राष्ट्रीयता—भारतीय।
मुद्रक—गीता प्रिंटिंग एजेंसी, न्यू सीलमपुर, दिल्ली-५३
स्वामित्व—वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज, नई दिल्ली-२
मैं बाबूलाल जैन, एतद् द्वारा घोषित करता हूं कि मेरी पूर्ण जानकारी एव विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है।

बाबूलाल जैन
प्रकाशक

जैन संस्कृति और साहित्य के पोषक : पाण्डे लालचंद

□ डॉ० गंगाराम गर्ग

भरतपुर राज्य तथा जगरोटी क्षेत्र (करौली हिन्डौन) में साहित्य और अध्यात्म की ज्योति जगाने वाले पाण्डे लालचन्द ग्वालियर के प्रसिद्ध भट्टारक विश्वभूषण के प्रशिष्य और मुनि ब्रह्मसागर के शिष्य थे। अपने ग्रन्थ विमलनाथ पुराण की प्रशस्ति मे पाण्डे लालचंद ने अपना परिचय दिया है। उसके अनुसार यह बयाना हिन्डौन आने से पूर्व अपने गुरु ब्रह्मसागर के साथ बंगाल के शहर मकसूदाबाद (मुर्शिदाबाद) में जगतसेठ माणिकचंद के सान्निध्य में २० वर्ष तक रहे थे। इस स्थान से इन्होने सम्मेद शिखरजी की यात्रा तीन बार ससंघ की। जगतसेठ से बिदा होकर पांडे लालचंद ब्रह्मसागर मुनि के साथ गिरिनार पर्वत की यात्रा पर गुजरात भी गए। गिरिनार पर्वत से आकर तीन वर्ष सूरत बन्दरगाह पर रहे। सम्मेद शिखर और गिरिनार जैसे तीर्थों के समान महावीर जी को पुन्यभूमि मानकर पांडे लालचन्द हिन्डौन आए।

यात्रा करि गिरनार सिखर की अति सुखदायक !
पुनि आए हिन्डौन, जहां सब श्रावक लायक।
जिनमत को परभाव देखि, निज मत थिर कीनो।
महावीर जिन चरण कमल को सरणो लीनो ॥

हीरापुरी (हिन्डौन) मे बसे पंडि लालचंद के मन में बयाना नगर की शोभा के प्रति आकर्षण जागा, तब उन्होंने इस शहर मे श्री चन्द्रप्रभु जिनालय को अपना साधना-स्थल बनाया—

सुख सौं रहत बहुत दिन भये, पांडे लाल बयानै गए।
देखि नगर की सोभा तबै, मन मैं हरष भयो अति तबै।
चंद्रप्रभ जिनराज की, प्रतिमा परम पुनीत।
पूजा गोकुलदास नित, करै धर्म सो प्रीत।
देखि धरम को अधिक प्रकास तिह थावक हम कीनो बास।

विभिन्न नगरों में संभावित प्रवास-काल :

माघ कृष्ण ११ रविवार, सं० १८१६ में प्रतिलिपिकृत सकलकीर्ति की संस्कृत रचना 'चारित्र शुद्धि पूजा' की प्रशस्ति के आधार पर यह निश्चित है कि पांडे लालचंद बंगाल और गुजरात की यात्रा करते हुए संवत् १८१६ से पूर्व ही हिन्डौन में आ चुके थे। पांडे लालचंद ने चैत्र शुक्ल ११, रविवार, संवत् १७६६ में बयाना के चन्द्रप्रभु चैत्यालय में महाकवि द्यानतराय के धर्मविलास की प्रतिलिपि की ......'इति श्री धर्मविलास ग्रन्थ भाषा संपूर्ण। संवत् १७६६ वर्षे चैत्र मासे शुक्ल पक्षे एकादश्याम् रविबासरे बयाना मध्ये श्री चन्द्रप्रभ चैत्यालये श्री ब्रह्मसागर शिष्य पं० लालचंदेन लिखितोयं ग्रन्थ।'' बयाना में ही कवि लालचंद ने माघ शुक्ला ५ शनिवार, संवत् १८१८ में अपनी कर्मोपदेशरत्नमाला भाषा' रचना लिखी। फागुन वदी ३, संवत् १८२१ में पांडे लालचन्द ने करौली में यशनंदि के 'धर्मचक्र पूजन विधान' की प्रतिलिपि की तथा करौली मे ही उन्होंने भादों वदी ३ को 'उत्तरपुराण भाषा' लिखी। वैसाख सुदी ७ संवत् १८३३ को पाण्डे लालचंद ने अपनी रचना 'वरांग चरित भाषा' करौली में ही लिखी। नथमल विलाला द्वारा रचित 'जीवन्धर चरित' की प्रशस्ति के आधार पर सिद्ध होता है कि संवत् १८३७ के लगभग पांडे लालचद करौली मे ही स्थायी तौर पर रहने लग गए थे—

नगर करौली के विषै श्री जिन गेह मझार।
लालचंद पंडित रहै, विद्यावान उदार।

पाण्डे लालचद ने वैसाख शुक्ला ५, सवत् १८२७ को 'आत्मानुशासन भाषा' तथा कार्तिक शुक्ला ११, सं० १८२९ को 'ज्ञानार्णव भाषा' हिन्डौन में लिखी। यहीं पर उन्होंने संवत् १८२७ मे 'वरांग चरित्र भाषा' को लिखा।

पांडे लालचंद द्वारा लिखित मौलिक ग्रंथों और प्रतिलिपियों की प्रशस्ति के आधार पर स्पष्ट है कि संवत् १७९६ से संवत् १८३७ तक पांडे लालचंद बयाना, हिन्डौन और करौली मे आ-जाकर तथा कुछ समय रहकर ४१ वर्ष तक निरंतर जैन धर्म की ज्योति प्रज्वलित करते रहे। वृद्धावस्था मे वे करौली ही बस गए।

पाण्डे लालचन्द और महाकवि नथमल बिलाला :

भरतपुर नरेश महाराजा सूरजमल के खजाने पर नौकरी करने वाले महाकवि नथमल बिलाला ने 'नेमिनाथ को व्याहुलो' (स० १८१६), अनन्त चतुर्दशी की कथा' (स० १८२४) 'जनगुण विलास' (स० १८२२) 'समवशरण मंगल' का आधा अंश (संवत् १८२४) भरतपुर मे ही लिखी। माघ शुक्ला गुरुवार, संवत् १८३७ मे अपना 'जीवंधर चरित' नथमल ने हिन्डौन में पूरा किया। ग्रंथ की प्रशस्ति के अनुसार आजीविका के प्रसंग में हिन्डौन रहने लगे थे—

अन्नोदक के जोग बसाय, बसे बहुरि हीरापुर आय।
रच्यौ चरित्र तहां मन लाय, नथमल नै निज पर सुखदाय।

संवत् १८२७ मे लिखित 'वरांग चरित भाषा' मे पांडे लालचद ने नथमल बिलाला का सहयोग स्वीकार किया है। इससे स्पष्ट है कि नथमल सवत् १८२७ से पूर्व ही हिन्डौन आ गए थे। पांडे लालचद और महाकवि नथमल बिलाला दोनों ही महापुरुषों मे सारस्वत सहयोग था। नथमल बिलाला ने 'सिद्धान्त सार भाषा' मे मध्यलोक का सार तो सुषराम पल्लीवाल के सहयोग से सवत् १८२४ मे भरतपुर के दीवान जी मदिर में सम्पन्न किया था किन्तु उसके अपूर्ण भाग अधोलोक और ऊर्द्धलोक के सार को विचारपूर्वक पांडे लालचद ने ही लिखा। नथमल कृत 'सिद्धान्त सार भाषा' अपर नाम 'समवशरण मंगल' की प्रशस्ति है—

"महावीर जिन यात्रा हेत, नथमल आए सघ समेत।
पाण्डे लालचद सौ कही, पूरन ग्रन्थ करो तुम सही।
नथमल बिच उर आनिकै, मर निज हेत विचारि।
श्री सिद्धान्त जु सार की, भाषा कीनी सार।
अधो लोक कौ कथन, अरु ऊरध लोक बिचारि।
भाषा पाण्डे लाल नैं, कीनी मति अनुसार।"

पाण्डे लालचन्द का शिष्य वर्ग : अग्रवाल, खंडेलवाल, पल्लीवाल और श्रीमाल चारों ही उपजातियों के श्रावक पाडे लालचन्द के निष्ठावान् शिष्य थे : संपतिराम राजोरिया के पुत्र मोतीराम (पल्लीवाल) ने वैसाख सुदि ६ संवत् १८३३ में पांडे लालचन्द से 'वरांग चरित भाषा' की प्रतिलिपि करवाई थी। मोतीराम सदावल से जाकर करौली बसे थे। पांडे लालचन्द की दो रचनाओं 'ज्ञानार्णव भाषा' और 'आत्मानुशासन भाषा' को लिखवाने का निवेदन करने वाले गोधू साह के पुत्र थानसिंह कासलीवाल थे। हृदयराम के पुत्र गूजरमल्ल गोयल ने 'आदिपुराण भाषा' तथा गूजरमल के पुत्र भीमसेन ने संस्कृत रचना 'धर्मचक्र पूजन विधान' की प्रतिलिपिया पांडे लालचन्द से लिखवाई थी। ये लोग बयाना छोड़कर करौली बसे थे। 'कर्मोपदेश रत्नमाला भाषा' की प्रशस्ति में पाडे लालचन्द ने लक्ष्मीदास के तीनो पुत्रों—राधेकृष्ण, दीपचन्द तथा भूधर को अपना प्रियपात्र लिखा है। करौली में चिलिया गोत्र के श्रीपाल जैन मौना राम के लिए पांडे लालचन्द ने बैसाख शुक्ला ७, संवत् १८१६ मे 'पुण्याश्रव कथा कोष भाषा' की प्रतिलिपि कराई।

पाण्डे लालचन्द का काव्य :

सुवाच्य और सुन्दर लिपि मे कई ग्रन्थो के प्रतिलिपि कर्ता, संस्कृत, प्राकृत के प्रकाण्ड पंडित, दार्शनिक, अध्यात्म-आख्याता, उदारमना गुरु पाडे लालचन्द अच्छे कवि भी थे। ब्रह्मचारी कृष्णदास रचित संस्कृत के विमलपुराण को कवि ने सवत् १८३७ मे भाषाबद्ध किया। भट्टारक वर्द्धमान का 'वरांग चरित' तथा अन्य सस्कृत ग्रन्थ ज्ञानार्णव को पांडे लालचन्द ने सोरठा, दोहा, कुण्डलिया, सवैया, चौपाई, त्रिभगी, छप्पय, भुजंगी आदि विभिन्न छन्दों मे भाषाबद्ध किया। 'सिद्धान्तसार भाषा' का दो-तिहाई भाग तथा 'कर्मोपदेश रत्नमाला भाषा' लिखकर पांडे लालचन्द ने अपने सैद्धान्तिक ज्ञान तथा उसको काव्यमयी शैली में प्रस्तुत कर सकने की अपूर्व क्षमता का परिचय

दिया है। भाषा सरल तथा मधुर ब्रज है। नरक के कष्टों की चर्चा का एक कथन है—

निमिष मात्र ही सुख नहीं, नरक मांहि किहु काल।
हनहि परस्पर नारकीय, यह अनादि की चाल।३६
कहा कहै धनि यै उकति, धरि कै नो शत कोठि।
तऊ नरक के दुक्ख की, कहत न आवै तोटि।
जो कहु पूरब वैर बे; भूलत कारण पाइ।
यदि करावै सुराधम, मारै तिनहि लराइ॥
—ज्ञानार्णव भाषा

वरांग चरित भाषा में 'वरांग' का सम्पूर्ण चारित्र बारह सर्गों में कहा गया है। 'वरांग' की वीरता के प्रसंग में युद्ध वर्णन भी है—

'छूटे धनुष तें तीछन तीर, भूतल छाय लियौ वर वीर।
मानौं प्रलयकाल घनघोर, जलधारा बरसत चहुं ओर।

श्रेष्ठ प्रबन्धकार होने के अतितिरिक्त पांडे लालचंद उत्तम भक्त भी थे। बड़ा तेरहपंथी मन्दिर जयपुर में प्राप्त पद संग्रह ९४६ में 'लाल' छाप से १५-२० पद संग्रहीत हैं। इन पदों में राजुल विरह के अतिरिक्त तीर्थंकर ऋषभदेव और भगवान् पार्श्वनाथ की भक्ति भी है—

कृपा म्हांसू कीज्यो जी, थे तारो जी जिनराज।
कभउ मान भंजन शिव रंजन, अधिक व्रत तुम धारा जी।
शिव सुखदाता करम नसाता, सब जीवन उगारा जी।
जुगल नाग प्रभु जलते उबारे, अबकी बेर हमारो जी।
'पारस' नाम तिहारो प्रभु जी, अष्ट करम [illegible] जारो जी।
'लाल' कहै विनती प्रभुजी सूं, शरण लेय उबारो जी॥

पाण्डे लालचन्द का गद्य :

आचार्य गुणभद्र कृत 'आत्मानुशासन' को पांडे लालचन्द ने गद्य मे लिखा है। गद्यकार ने पहले मूल श्लोक और फिर बाद मे उसकी बोधगम्य टीका लिखी है। हिन्दी गद्य का प्रारम्भिक रूप निश्चित करने के लिए 'आत्मानुशासन भाषा' का यह उद्धरण दृष्टव्य है—

जगत के जीव पाप विषै प्रवीन है। कोईक शुभ परिणाम दीसै है, सोऊ भला कहियै है। अर जो शुभ अरु अशुभ दोऊ ही तजि करि केवल शुद्धोपयोग रूप आत्म-स्वरूप विषै तल्लीन है तिनकी महिमा कौन कहि सकै। ते सत्पुरुषनि करि वदनीय है। पृ० १८७.

ऐतिहासिक महत्त्व :

पाण्डे लालचन्द के काव्य और गद्य की थोडी-सी चर्चा करने से पूर्व उनकी जीवनी का तथ्यपूर्ण वर्णन व्यपकता से करना ऐतिहासिक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। पहली बात तो यह है कि भारतवर्ष के जैन समाज में आज सर्वाधिक मान्य क्षेत्र 'जगरोटी' आज से २५०-३०० वर्ष पूर्व भी सम्मानित था। तभी तो ब्रह्मसागर जैसे मुनि और पांडे लालचन्द २० वर्ष तक बंगाल और ३ वर्ष सूरत रहने के पश्चात् भी जगरौटी क्षेत्र में आए। पांडे लालचन्द ने ४०-५० वर्ष तक इसे ही अपना साधक-स्थल बना लिया। पांडे लालचन्द की जीवनी से दूसरा तथ्यात्मक संकेत यह है कि इस क्षेत्र मे अग्रवाल, खंडेलवाल, पल्लीवाल तथा श्रीमाल सभी उपजातियो में दिगंबर आम्नाय को मानने वाले लोगों की पर्याप्त संख्या थी। पाण्डे लालचन्द द्वारा की गई विभिन्न रचनाओं की प्रतिलिपियो से यह भी स्पष्ट है कि जैन विद्या को ग्रन्थांकित करवाने तथा श्रद्धा भाव से उन्हे मन्दिरो में चढ़वाने का श्रावक समुदाय में बड़ा श्रद्धा भाव था। जिसके पूर्णत: लुप्त हो जाने के कारण जैन ग्रन्थों के अप्रकाशित रहने और दीमकों की भोज्य-सामग्री बने रहने की दुर्भाग्यपूर्ण समस्या बनी हुई है।

एसोसिएट प्रोफेसर
महारानी जया स्वायत्तशासी महाविद्यालय
भरतपुर (म० प्र०)

धवल पु० ४ का शुद्धिपत्र

निर्माता—जवाहरलाल मोतीलाल बकतावत; भीण्डर (राज०)

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
चित्र संबंधी तृतीय पृ० आ. नं	१८	(पृ० ३५)	(पृ० ३५-३६)
शंका-समाधान पृ. १४	५	डेवढ़ा	डेढ़ा
विषय परिचय पृ १७	१	एक राजू के प्रतर या वर्ग प्रमाण है	एक राजू चौड़ा सात राजू लम्बा (आगत) और एक लाख योजन ऊँचा है। अथवा १४२८५$\frac{५}{७}$ योजन बाहल्यरूप जगत्प्रतर प्रमाण घनफल वाला है। [देखो–पृ० ३१, ३७, ४१, ४७, ६१ आदि।]
,, ,, १७	२	व्यास वाला वर्तुलाकार क्षेत्र	योजन व्यास वाला तथा एक लाख योजन ऊँचा वर्तुलाकार क्षेत्र [देखो-मूल पृ. ३१]
,, ,, १८	३१	और गमनागमन कर रहे हैं	× × × × ×
मूल पृ. १०	२८	अन्योन्य गुणिते	अन्योन्य गुणिते कृते
११	२६	घनागुलं।	घनांगुलम्।
११	२७	एकेकस्मिन्	एकैकस्मिन्
११	२७	गुणिता	गुणिता जाता
१३	२५	प्रमाण को	विस्तार को
१५	१८	अर्धमात्र	अर्द्ध-अर्द्ध मात्र
३४	२६	निष्कंभ उत्सेध के	विष्कंभ आयाम के
३५	१९	उत्सेध के	उत्सेध उसके
४०	२८	$\left(\begin{matrix}१६८\\१०\end{matrix} \cdot\!\mid \frac{१}{२}\right)^{२}$	$\left(\frac{१६८}{१०} \times \frac{१}{२}\right)^{२}$
४१	१०	$\left(\frac{१६८^{२}}{२०}\right)\!\circ २ \times १६८$	$\left(\frac{१६८^{२}}{२०}\right) \times २ \times १६८$
४१	२०	पूर्वोक्त गुणकारो से	पूर्वोक्त "गुणकार गुणित अवगाहना गुणित राशि" से यानी पूर्वोक्त क्षेत्रों से
४१	२२	इन गुणकारों से	इन राशियों से
४२	२३	चाहिये।	चाहिए।
४६	१८-१९	सयत की उत्कृष्ट अवगाहना	संयत का उत्कृष्ट क्षेत्रफल
४६	२३	परिधि $\frac{५००}{९} \times १६ + १६$	परिधि $\left(\frac{५००}{९} \times १६\right) + १६$
४६	२४	$\frac{८८८१२०००}{३६६१२}$ धनुष।	$\frac{८८८२२०००}{३६६१२}$ वर्ग धनुष
४६	२५	$\frac{८८८१२०००}{३६६१२} \times \frac{९६}{१}$	$\frac{८८८२२०००}{३६१११२} \times \left(\frac{९६}{१}\right)^{२}$

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
		$=\frac{८५२५९५२०००}{३६६१२}$ प्रत्तरांगुल	$=\frac{८१८५८३५५२०००}{३६६१२}$ प्रत्तरांगुल
४९	१२	$\frac{१०८+५००}{९६}=$	$\frac{१०८\times५००}{९६}=$
५२	१४	२०००० हजार योजन	२०००० योजन
५२	१९	उत्तर और दक्षिण सम्बन्धी दोनों ही पार्श्वभागों मे	पूर्व व पश्चिम सम्बन्धी दोनो ही पार्श्व-भागों मे [देखो–त्रि. सा. पृ. १५० अनु० आ० विशुद्धमती जी]
५३	११	पूर्व और पश्चिम	दक्षिण और उत्तर
५३	१८-१९	पूर्व और पश्चिम में	दक्षिण और उत्तर मे [देखो त्रि.सा.पृ. १५० अनु. आ. विशुद्ध]
५४	८	उत्तर और दक्षिण मे पूर्व से पश्चिम तक	पूर्व और पश्चिम पार्श्वयुगलो में [देखो त्रि. सा. १३२, १३६]
५४	१३	$१३\times७=९१;\ ९१\times१४=१२७४$	$१३\times७=९१;\ १६+१२=२८;\ २८\div२=१४;\ ९१\times१४=१२७४$
५४	१७	पूर्व और पश्चिम	दक्षिण और उत्तर (त्रि. सा. १३४)
५४	२४-२५	पूर्व और पश्चिम मे	दक्षिण और उत्तर की अपेक्षा
५५	९	पूर्व और पश्चिम	दक्षिण व उत्तर[देखो-त्रि.मा. १३७ सं.टीका
५५	१८	$\div\frac{७}{५}$	$\div\frac{४९}{५}$
५५	२३	$\frac{३१९८००००}{३४४}+\frac{१७८३६}{३४४}$	$\frac{३१९८००००}{३४३}+\frac{१७८३६}{३४३}$
५८	१६	$७\times४+३\times२४+६=७५०$	$(७\times४\times२४)+(३\times२४)+६=७५०$
५८	१७	$७५०-७२=\frac{६७८}{१२}$	$७५०-७२=६७८;\ ६७८\div१२=\frac{६७८}{१२}$
६१	५	$१३\frac{४}{७}$	$१३\frac{५}{७}$
६२	११	छठवीं पृथिवी के	छठी पृथिवी के
६४	१६-१७	प्रति समय मे मरने वाली राशि को	प्रथम पृथ्वी के द्रव्य को (देखो-ध ७।२०२)
६४	२२	यह युक्ति से कहा है। वास्तव मे तो	× × × × ×
६४	२५	विग्रहगति में	विग्रहगति मे
६४	३०	मुखविस्तार से करना	मुखविस्तार से गुणित करना
७०	१४	संग्रहीत	संगृहीत
७०	२९	तिर्यञ्च पर्याप्त मिथ्यादृष्टि	तिर्यञ्च मिथ्यादृष्टि
७२	१३	तिर्यञ्च पर्याप्त जीव	तिर्यञ्च जीव
७२	१४	पर्याप्त जीव तिर्यग्लोक	जीव तिर्यग्लोक
७	२३	जीवराशि हुई,	जीवराशि है [उपपाद राशि का संचय एक समय मे होता है [देखो, ध. ७।३०७]

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७७	२४	असख्यातगुणे	असंख्यातगुणे
७८	२१	इससे संख्यात	यहाँ से संख्यात
८०	२०	क्षेत्र के स्पर्श	क्षेत्र को स्पर्श
८५	२२-२३	उसका जो असंख्यातवाँ भाग अथवा संख्यातवां भाग लब्ध आवे उतनी	जो लब्ध आवे उसके असख्यातवें अथवा संख्यातवें भागराशि
८६	१३	असंख्यात भाग को	असंख्यात बहुभाग को
६४	५	संखेज्जदिभागेण होज्ज ?	संखेज्जदिभागे ण होज्ज ? [नोट :–पृ. ६३ पर ११वी पक्ति मे जो कहा गया है कि "तिरियलोगस्स संखेज्जदिभागे" उस पर यह शका है]
६४	१६	भाग प्रमाण होना चाहिए ?	भाग क्षेत्र में नहीं होना चाहिए ?
१०४	२५	त्रसपर्याय राशि के	त्रस पर्याप्तराशि के
१२१	१५	बुद्धी का	बुद्धि का
१३७	१६	संज्ञी जीव	आहारक जीव
१४२	१	अजिवो	× × × × ×
१४२	२६	इस भव्यशरीर वाले के	इस भविष्यकाल में स्पर्शनविषयक शास्त्र के ज्ञायक के
१५३	२२	(१) $\frac{२२८}{२२८}=१$	(१) $\frac{२८८}{२८८}=१$
१५३	२२	(२) $\frac{५७६}{२२८}=२$	(२) $\frac{५७६}{२८८}=२$
१६२	१२	असख्यातवाँ	संख्यातवां
१६२	२६	वे उस गुणस्थान मे	एकेन्द्रियो में
१६३	६	उस गुणस्थान में	एकेन्द्रियों में
१६३	६	सासादन सम्यग्दृष्टियों में	सासादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान सहित
१६४	२६	सासादन गुणस्थानवर्ती उपपाद सबधी	सासादनगुणस्थानवर्ती जीवोका उपपाद सबंध
१६८	२२	$(\frac{३}{८}\times\frac{१^२}{२})=\frac{२७}{२५६}$	$(\frac{३}{८}\times\frac{१}{२})^२=\frac{२७}{२५६}$ वर्गराजू या प्रतरराजू
१६८	२३	व $\frac{७^१}{४६४\frac{२७}{१६}}$	व $\frac{७^२}{४६४\frac{१६}{२७}}$
१७५	१३	सूच्यंगुल के	"सूच्यंगुल के
१७६	१३	विपाकी ही है	विपाकी ही है"
१७६	१६	वे आकाश के प्रदेश के	वे देशोन आकाश के प्रदेश
१६१	२५	संख्यातवा	संख्यातवाँ
१६४	४	॥४॥	॥५॥
१६५	१३	२०१६, ८१७८।	२०१६, ८१२८ [देखो—मूल प्राकृत]
१६८	१०	संख्या	संख्या

(क्रमशः)

जैन धर्म के चौबीसवें तीर्थंकर महावीर

□ डा० हेमन्त कुमार जैन

तीर्थंकर परम भट्टारक देवाधिदेव भगवान् महावीर को लाखों जनमानस उन्हे अंतिम चौबीसवां तीर्थंकर स्वीकार करते हैं। इतिहास उन्हें वीर पुरुष की तरह जानता है। जिस युग मे महावीर ने जन्म लिया था, उसी युग में उनके समकालीनों मे केशकबली, मक्खली, गोशाल पवुद्धकच्चायन, पूरणकश्यप, संजय वेलट्टिपुत्त और तथागत बुद्ध प्रभृति जैसी धार्मिक पुण्य विभूतिया थी। और विश्व के जाने माने महा-मानव ग्रीस मे महात्मा सुकरात, पारस मे महात्मा जरथुस्त तथा चीन मे लाओत्से और कन्फ्यूशियस आदि ने अपने-अपने क्षेत्र मे क्रान्ति ला दी थी। महावीर बुद्ध समकालीन थे।

बिहार राज्य मे आज से लगभग २५८७ वर्ष पूर्व वैशाली (वसाढ़ पटना से ३० मील उत्तर मे) एक समृद्ध-शाली राजधानी थी। इसके आस-पास ही कुण्डपुर या क्षत्रियकुण्ड के महाराजा सिद्धार्थ एवं उनकी महारानी त्रिशला (प्रियकारिणी) की कोख से भगवान् महावीर का जन्म हुआ था। भगवान् महावीर का बाल्यावस्था का नाम वर्धमान था, एक बार भगवान् महावीर अपने साथियों के साथ मैदान में खेलने के लिए गये वहा खेलते समय एक साप आ गया, साप को देखकर उनके सभी साथी भाग गये, लेकिन वर्धमान निडर होकर वही खड़े रहे और साप को अपने वश मे कर लिया, इसी घटना के कारण सभी साथी उन्हे महावीर नाम से पुकारने लगे। जैन-दर्शन साहित्य मे उन्हें वीर, अतिवीर, सन्मतिवीर, महावीर और वर्धमान आदि नामों से भी जाना जाता है उनकी अपनी और अनेक विशेषताओ एव गुणो के कारण ज्ञातपुत्र, वैशालीय नामों से भी जाना जाता है। "भगवान् महावीर प्रव्रजित होने के बाद पार्श्वनाथ की निर्ग्रन्थ परम्परा मे दीक्षित हुए थे। इसलिए बौद्ध साहित्य में उनके लिए निर्ग्रन्थ (पाली निगण्ठ) नाम से ही सम्बोधित किया गया है वहां पर उन्हें ज्ञातपुत्र (पाली नातपुत्त) भी कहा गया है। क्योंकि वे ज्ञातृवशीय थे। बिहार की जथरिया जाति अब भी अपने-आप को महावीर का वशज मानती हैं।

महावीर ने तीस वर्ष की अवस्था मे राजकीय भोगोपभोगों का परित्याग कर दिया था, और आध्यात्मिक शांति की खोज के लिए मुनि दीक्षा धारण कर ली। महावीर दिगम्बर वेष धारण कर साधना और तपश्चरण में तल्लीन होकर बारह वर्ष तक कठोरतम यातनाओ के पश्चात् अपनी शारीरिक दुर्बलताओ पर विजय प्राप्त कर सके। जिस समय महावीर ने घर त्याग किया था और बारह वर्ष वनवास के बाद सर्वप्रथम देशना (दिव्यध्वनि) राजगृही के समीप विपुलाचल पर्वत पर की थी। उस समय श्रेणिक बिम्बसार राजगृही का शासक था। लगातार ३० वर्ष तक वह मगध देश के विभिन्न इलाकों मे बुद्ध की तरह विहार करते रहे और जैन धर्म का प्रचार किया।

ईसा से ५२७ वर्ष पूर्व भगवान् महावीर ७२ वर्ष की आयु मे पावापुर से निर्वाण हुए तभी से सम्पूर्ण भारतवर्ष में पावन दीपावली पर्व प्रचलित हुआ है।

"महावस्तु" मे लिखा है कि बुद्ध ने वैशाली के अलारा एव उद्दक में अपने प्रथम गुरू की खोज की थी और उनके निर्देशन मे जैन बन कर रहे।

भगवान् महावीर की माताजी चेतक वश से सबंधित थी, जो विदेह का सर्व शक्तिमान् लिच्छवि शासक था। जिसके इशारे मात्र से मल्लवशीय एव लिच्छवि लोग मर मिटने को तैयार रहते थे।

भगवान् महावीर ने बयालिस वर्ष की अवस्था तक सम्पूर्ण मनन-चिन्तन करके समाज के समक्ष कई उदाहरण

प्रस्तुत किये जिससे सम्पूर्ण समाज की आंखें खुल गयीं। जिससे समाज को एक नयी दिशा मिली।

महात्मा गांधी ने जो सत्य और अहिंसा की ज्योति जलाई थी, उसकी पृष्ठभूमि मे भगवान् महावीर और बुद्ध के नैतिक आदर्श रहे है।

भगवान् महावीर ने हमेशा पशुओ की हत्या और यज्ञ आदि धार्मिक कार्यों का निषेध किया था। प्राणियो की हिंसा करना पाप है इसलिए उन्होने अहिंसा का प्रचार किया और उन्होने अहिंसा के बारे मे इस प्रकार प्रकार महावाक्य कहे है—

समया सव्वभूएसु, सत्तु-मित्तेसु वा जगे।
पाणाइवायविरई, जावज्जीवाए दुक्कर॥

अर्थात् सभी जीवो के प्रति चाहे वह शत्रु हो या मित्र समभाव रखना आर जीव हिंसा का त्याग करना बहुत ही कठिन है।

सत्य होते हुए भी, कठोर वाणी बोलने वाले के लिए भगवान् महावीर ने हिंसा कहा है—

तहेव फरुसा भासा गुरुभूओव घाइणी।
सच्चा वि सा न वत्तव्वा जओ पावस्स यागमो॥

अर्थात् दूसरो को दुःख देने वाली कठोर भाषा यदि सत्य भी हो तो उसे नही बोलना चाहिए, इससे पाप का आश्रव होता है। भगवान् महावीर ने सच्चे त्यागी का लक्षण बताते हुए लिखा है—

जे य कसे पिये भोए, लद्धे वि पिट्ठि कुव्वइ।
साहीणे चयई भोए, सेहु चाई ति वुच्चई॥
वत्थ गंधमलंकार, इत्थीओ सयणाणि य।
अच्छंदा जे न भुजति, सो चाई त्ति वुच्चई॥

अर्थात् जो सुन्दर और प्रिय भोगों को पाकर भी उसकी ओर से पीठ फेर लेता है और सामने आये हुए भोगो का त्याग कर देता है, वही त्यागी है। वस्त्र, गंध, अलकार, स्त्री और शयन आदि वस्तुओं का जो लाचारी के कारण भोग नही कर सकता उसे त्यागी नही कहते। आगे भी कहते हैं—

जमिणं जगई पुढो जगा, कम्मेहि लुप्पति पाणिणो।
सयमेव कडेहि गाहई, णो तस्स मुच्चेज्जऽपुट्ठय॥

अर्थात् अच्छा या बुरा जैसा भी कर्म हो उसका फल भोगे बिना छुटकारा नहीं। संसार में जितने भी प्राणी हैं सब अपने-अपने कार्यों के कारण दुःखी हैं। भगवान् महावीर ने बार-बार इसी बात को दुहराया है कि व्यक्ति को अपने कर्मों का फल अवश्य ही भोगना पड़ता है। जो जैसा करता है उसे वैसा ही फल भोगना पड़ता है। कहा भी गया है जो जैसा करे वो वैसा भरे। व्यक्ति जैसा विचार करेगा वह वैसा बन सकता है वह अपने भाग्य का विधाता स्वय है। इसलिए निर्ग्रन्थ प्रवचन में ईश्वर को जगत् का कर्त्ता स्वीकार नही किया गया है। तप आदि अच्छे कर्मों द्वारा आत्मविश्वास की सर्वोच्च अवस्था को ही ईश्वर बताया गया है। जैन धर्म की भारतीय दर्शन को यह बहुत बड़ी देन है। ऐसी स्थिति मे जो लोग जाति-पांति के भेद के कारण कर्म के बन्धन मे फसकर इंसान समझना ही छोड़ देते थे, उनके लिए भगवान महावीर का सिद्धान्त कितना प्रेरणादायक रहा होगा और उन्हे तत्कालीन सामंती समाज के खिलाफ कितना संघर्ष करना पड़ा होगा। कर्म सिद्धान्त को ध्यान मे रखकर वेदों को मानने वाले ब्राह्मणों को लक्ष्य करते हुए भगवान् महावीर ने कहा—

उदगेण जे सिद्धिमुदाहरंति; सायं च पायं उदगं फुसंता।
उदगस्स फासेण सिया य सिद्धि, सिज्झिसु पाणा बहवे दगंसि।

अर्थात् सुबह और शाम स्नान करने से यदि मोक्ष मिलता होता तो पानी मे रहने वाले सभी जीव-जन्तुओं को मोक्ष मिल जाना चाहिए। इसी को और स्पष्ट करते हुए आगे भी कहा गया है—

न वि मुंडिएण समणो न ओंकारेण बंभणो।
ण मुणी रण्णवासेण, कुसचीरेण ण तावसो॥

अर्थात् सिर मुंडा लेने से कोई श्रमण नहीं होता ओम् का जाप करने से ब्राह्मण नही होता, जंगल मे रहने से मुनि नही होता और कुश के वस्त्र पहनने से तपस्वी नहीं होता। तो फिर किससे होता है—

कम्मुणा बभणो होई, कम्मुणा होई खत्तिओ।
वइस्सो कम्मुणा होई, सुद्दो होइ उ कम्मुणा॥

अर्थात् कर्म (आचरण) से मनुष्य ब्राह्मण है और कर्म से ही क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र होता है।

(शेष पृ० ३० पर)

निमित्ताधीन दृष्टि

□ श्री बाबूलाल जैन कलकत्ते वाले

[सम्पादकीय—पिछले वर्षों मे निमित्त की चर्चा विद्वानों के आग्रहवश काफी विवाद-ग्रस्त रही है काफी लोग पूजा-पाठ आदि जैसी क्रियाओ के करने से भी उदास हुए हैं। दीर्घकालीन पटाक्षेप के बाद लेखक ने पुनः इस विषय को छुआ है और आचार्यों के वाक्यो के प्रकाश मे सिद्ध किया है कि निमित्त अकर्ता है। हम लेखक की मान्यता को पुष्ट करते हुए पाठकों का ध्यान इधर भी खीचना उचित समझते हैं कि पाठक 'निमित्तकर्ता नहीं' इससे व्यवहार में ऐसा भाव ही लें कि अन्य द्रव्य किसी अन्य द्रव्य के प्रति अकर्ता है फिर भी निमित्त के बिना भी कार्य नहीं होता अतः अनुकूल निमित्तों का अवलम्बन लेकर कल्याण करना चाहिए। आशा है पाठक उक्त लेख को इसी दृष्टि से हृदयगम करेंगे और धार्मिक आचार-विचार जैसे निमित्तो को कल्याणकारी मान उन्हें अपनाए रहेंगे और अध्यात्म पर जोर देने वाले निमित्त-अकर्तावादी हम सभी जन भी अपन परिग्रहरूप अकर्ता-निमित्तो के कृश करने मे उद्यत होगे तभी ऐसी चर्चाओ के फल मूर्तरूप लेगे। —संपादक]

निमित्त के बारे मे अनेकों प्रकार की चर्चा समय-समय हुई है, परन्तु ऐसा लगता है निमित्त को कर्त्ता मानने वाले अभी भी निमित्त को कर्त्ता मानते जा रहे हैं। प्रश्न अभी खड़ा हुआ ही है समाधान नही हो पा रहा है। समाधान होने के बाद अगर कोई सही बात को न माने तो उसकी खुशी है परन्तु समाधान इस ढंग का होना चाहिए जो न्याय, युक्ति तर्क से हमारे जीवन के हर स्थल पर सही उतरे। अगर वह सही उतरता है तो आगम से भी उसका मिलान बैठना ही होगा। आज इसके बारे मे कुछ विचार करते है, विद्वान लोग सही गलत का निर्णय करें। यह बात तो निश्चित ही है कि निमित्त कर्ता नही हो सकता। कर्त्ता की परिभाषा है कि जो परिणमन करे वह कर्त्ता। कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य का अथवा द्रव्य की पर्याय का परिणमन कराने वाला नही हो सकता। कोई अन्य द्रव्य को अथवा उसकी पर्याय का कर्त्ता माने तो दो द्रव्यों मे एकत्वपना होकर मिथ्यात्व की पुष्टि हो जाएगी। इसीलिए जैन शासन मे भगवान को कर्त्ता नही माना है। अगर कोई भगवान को कर्त्ता मानते है तो भगवानभी हमारी आत्मा के लिए अथवा अन्य पुद्गलादि के लिए अन्य द्रव्य हुआ और उनका भगवान कर्त्ता है तो वे भगवान के साथ एकत्वपने को प्राप्त हो जायेंगे। इस प्रकार भगवान के कर्त्तापने का निषेध के द्वारा समस्त निमित्तो के कर्त्तापने का निषेध किया गया है।

अगर निमित्त को कर्त्ता माना जाएगा तो जो कार्य निमित्त ने किया है अथवा निमित्त की वजह से किया गया है वह उसी के द्वारा मेटा जा सकता है। अगर राग की उत्पन्न कर्त्ता स्त्री है तो राग को मिटाने वाली भी वही होगी। उसकी इच्छा के बिना राग नही मिट सकता। अगर ऐसा माना जाएगा तो आत्मा की मोक्ष प्राप्ति अथवा स्वर्ग, नरक भी पराधीन हो जायेगा। राग की उत्पत्ति में भी आत्मा का कोई दोष नही होगा क्योकि राग का कर्त्ता कोई और होगा। जैसा आजकल कहते है कि ब्लेक के पैसे का आहार दे दिया इसलिए हम लोग शिथलाचारी हो गए। अब उनका ठीक होना गृहस्थो के आधीन है अगर गृहस्थ चाहेंगे तो उनका शिथलाचार मिटेगा, नही चाहेगे तो नही मिटेगा। परन्तु नरक निगोद में गृहस्थ नही जाएगा शिथलाचारी ही जाएगा ऐसा शायद वे नही मानते।'

अगर राग-द्वेष का कर्त्ता दूसरा है तो संसारी आत्माओं को राग द्वेष के अभाव करने का भी उपदेश नही देना चाहिए क्योंकि वे क्या कर सकते है संसार मे दूसरा द्रव्य तो रहेगा और वह जैसा करावेगा वैसा ही

करना पड़ेगा क्योंकि हमारे अच्छे-बुरे का कर्त्ता दूसरा ही है। उसी प्रकार क्योंकि हम भी अन्य के लिए पर हैं इसलिए उस पर का भला-बुरा भी हमारे हाथ मे है हम जैसा चाहेंगे वैसा उसका परिणमन करा देंगे। इसी का नाम अहंकार है। क्योंकि जब मैं पर का कर्त्ता हूं—हो सकता हूं पर मेरा कर्त्ता हो सकता है तब पर के कर्त्तापने का अहंकार मेरा भी नहीं मिट सकता और दूसरों का भी नहीं मिट सकता। इस प्रकार एक स्त्री सड़क पर जा रही है उसको पता भी नही है कि उसको कौन देख रहा है और देखने वाला रागी हो जाता है और कहता है इस स्त्री ने राग करा दिया। क्या यह सत्य है ? यह तो वही बात हुई कि "अन्धेर नगरी चौपट राजा" अगर किसी की दीवाल गिर कर बकरी मर गयी तो दोष मसक बनाने वाले का है क्योंकि मसक बड़ी बन गई। क्या इसी का नाम जैनधर्म है, क्या यही जैनधर्म की दार्शनिक विचारधारा है ? क्या इसी के बल पर हम परमात्मा बनने की सोच रहे हैं ?

फिर सवाल पैदा होता है कि अन्य द्रव्य कर्त्ता तो नहीं है परन्तु कराता तो है। इसलिए उसी का दोष है। इस विषय में भी आचार्यों का दृष्टिकोण स्पष्ट है कि हरेक वस्तु मे अपनी शक्तियां हैं। कोई द्रव्य अन्य वस्तु में कोई शक्ति उत्पन्न नही कर सकता। अगर किसी वस्तु में निज मे उसमें शक्ति नही है तो अन्य वस्तु के हजारो चेष्टा करने पर भी वह उस वस्तु मे कोई शक्ति पैदा नही कर सकती। अगर अन्य वस्तु अन्य वस्तु मे नई शक्तियाँ पैदा कर दे तो चेतना जड हो जाए और जड चेतन हो जाए। फिर सवाल पैदा होता है कि उस वस्तु मे शक्ति हो तो दूसरी वस्तु कुछ करती है अथवा दूसरे की वजह से कुछ होता है ? यह सवाल ही अब उत्पन्न होने की जगह नहीं रहती क्योंकि वस्तु अपनी शक्ति रूप से परिणमन कर रही है। फिर सवाल पैदा होता है कि फिर क्या निमित्त का कोई कार्य मे सहयोग है या नही। अगर नही है तो उसको निमित्त भी क्यो कहा जाता है ? फिर निमित्त नैमैतिक सम्बन्ध क्या है ?

अगर निमित्त नैमैत्तिक सम्बन्ध न हो तो संसार कायम नहीं होगा और निमित्त नैमैत्तिक को कर्त्ता कर्म मान लिया तो संसार का कभी अभाव नहीं होगा। आचार्यों ने परद्रव्य की पर्याय के साथ अन्य द्रव्य की पर्याय का कोई भी सम्बन्ध और सहयोग माना वह निमित्त नैमैत्तिक के दायरे में ही आता है कर्त्ता कर्म के दायरे में कोई भी सम्बन्ध किसी भी प्रकार का दूसरे के साथ नही हो सकता। निमित्त नैमैत्तिक सम्बन्ध में उपादान और निमित्त स्वतंत्र होते हैं पराधीनता का सवाल नहीं होता। अब यह विचार करना है कि निमित्तका हमारे जीवन अथवा आत्मकल्याण में कोई सहयोग है या नहीं ?

निमित्त नैमैत्तिक सम्बन्ध दो द्रव्यों की पर्याय में होता है। दो द्रव्यों मे नहीं होता क्योंकि द्रव्य नित्य होता है अगर द्रव्यो में माना जाएगा तो द्रव्यों का नाश नहीं होने से निमित्त नैमैत्तिक सम्बन्ध का भी नाश नहीं हो सकेगा।

निमित्त को तीन भागों मे बांटा जा सकता है (१) धर्म, अधर्म, आकाश, काल का निमित्तपना (२) बाकी सब, जिसमें बाहरी पदार्थ, पुद्गलादि, स्पर्श रस, गंध वर्ण अन्य आत्मा, देव, शास्त्र गुरु सभी आ जाते हैं—के साथ निमित्त-नैमित्तिक पना। (३) ससारी आत्मा का अष्ट प्रकार के कर्मों के साथ निमित्त नैमैत्तिकपना। इन तीनों का सामान्य स्वरूप एक ही प्रकार का होते हुए भी विशेष रूप मे विचार करने पर कुछ अन्तर है। जब जीव और पुद्गल अपनी क्रियावती शक्ति से एक जगह से दूसरी जगह जाते है तो धर्म द्रव्य स्वत: अपने आप निमित्त रूप रहता है वैसे ही ठहरते है तो अधर्म द्रव्य निमित्त रूप रहता है और जब आप अपनी परिणमन शक्ति से द्रव्य परिणमन करता है तो काल, द्रव्य निमित्त रहता है और अवगाहना मे आकाश द्रव्य है ही इसमे अनुकूल निमित्त के उपस्थित रहने वाली परिभाषा भी लागू हो जाती है।

दूसरे प्रकार के निमित्तपने मे मात्र अनुकूल उपस्थिति की ही बात नही है परन्तु उपादान जिस वस्तु की पर्याय का जिस कार्य के लिए अवलम्बन लेता है उस रूप वह आप ही परिणमन करता है। वह अवलम्बन चाहे बाहर में वस्तु की उपस्थिति मे हो अथवा अपने अन्तर मे वस्तु को विकल्पों में उपस्थित करके ले, पर का अवलम्बन वह

ही लेता है और जिस दृष्टिकोण से लेना है वह भी उसी पर निर्भर है तब वही रागरूप परिणमन करता है। सवाल पैदा होता है कि क्या इस प्रकार से निमित्त ने कुछ सहायता की ? नहीं निमित्त ने कुछ सहायता नहीं की। परन्तु उपादान ने उसकी सहायता ली तब उपचार से कहा जाता है कि निमित्त ने सहायता की जोकि मात्र उपचार है; व्यवहार है। ऐसा मात्र निमित्त की प्रधानता दिखाने को, कहा जाता है। लौकिक व्यवहारीजनों की भाषा है। फिर सवाल है कि क्या निमित्त कार्य में सहायक होता है ? उत्तर है सहायक नहीं होता परन्तु सहायता ली जाती है। वह कैसे ? अगर हम सहायक न बनावे तो कार्य नही होगा इसलिए हमारे ऊपर ही सब दारमदार है। अब अच्छे निमित्त मिलाना और बुरे से बचने का क्या सवाल है और फिर निमित्त को अच्छा बुरा कहने का भी क्या प्रयोजन है ? इस पर विचार करते है।

एक व्यक्ति एक चश्मा लगाता है। चश्मा नहीं दिखाता अगर चश्मा दिखावे तो पत्थर की मूर्ति को भी दिखा देवे। चश्मा से दिखता है ऐसा भी नही है अगर चश्मा से दिखे तो कोई आँख बंद कर चश्मा लगा ले उसको भी दिखने लगता। तब क्या कहा जावे ? चश्मे का हमने अवलम्बन लिया और उस प्रकार से लिया जो देखने में सही प्रकार है और देखने के लिए लिया और चश्मा लगाकर हमने देखा। इसलिए चश्मे का अवलम्बन हमने लिया, देखने के लिए लिया और चश्मा लगाकर हमने देखा। तब यह कहा जाता है कि चश्मे ने दिखा दिया यह उपचार कथन है। चश्मा का लगाना हमारी कमी को बता रहा है कि हमारी आंख में कमजोरी है। फिर सवाल पैदा होता है कि चश्मे ने नही दिखाया, चश्मे से ही देखा परन्तु चश्मा बिना भी तो नही देखा जा सकता। यह बात सही है अगर आंखें कमजोर है तो देखने के लिए चश्मा बिना नही देखा जा सकता। यह समझ कर वह अपनी कमी को दूर कर दे तो चश्मे की जरूरत नहीं रहेगी। इसी प्रकार एक लकड़ी है हमसे चला नही जाता हम उसका सहारा लेते है और चलने के लिए लेते है। कंधे पर नही रख लेते हाथ मे उस प्रकार लेते हैं जिससे चलने में सहायक हो और उसका अवलम्बन लेकर हम चलते हैं। उसने सहयोग नही दिया हमने सहयोग लिया और हम ही चले। फिर अपनी शक्ति को बढाते जाते हैं और उसका अवलम्बन छोडते जाते हैं जब पूर्ण विकाश शक्ति का हो जाता है अवलम्बन छूट जाता है। किसी ने माचिस दी हम चाहें तो आग लगा सकते हैं, चाहे खाना पका सकते हैं यह सब हमारे पर निर्भर है लकडी से किसी को मार सकते हैं, आग मे जला सकते हैं; और सहारा लेकर चल भी सकते है। उसमें जो जो पर्याय योग्यता है उसमें से किसी कार्य के लिए अवलम्बन लिया जा सकता है।

देवशास्त्र गुरु का अवलम्बन हम लेते हैं। वहाँ बाहर में लेते हैं अथवा अपने उपयोग मे, ज्ञान में उनका अवलम्बन लेते हैं। पुण्य के लिए भी ले सकते हैं, भेद विज्ञान के लिए भी ले सकते है यह भी हमारे पर निर्भर करता है। फिर जिस अभिप्राय से लिया उस रूप का हमीं परिणमन करते है तब उपचार लागू पड़ता है कि भगवान की वजह से मार्ग मिल गया। कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र मे सम्यक्दर्शनादि अथवा भेदविज्ञान रूपी कार्य के निमित्तपने की योग्यता नही है, मिथ्यात्वादि रूप या ससार-शरीर-भोगो के निमित्तपने की योग्यता है अतः उनका निषेध किया गया और सच्चे देवशास्त्र गुरु के सयोग का उपदेश दिया गया। हमारे मे इतनी सामर्थ्य नही है कि उस अवलम्बन के बिना अपने स्वभाव को देख सके। जब तक उसकी योग्यता नही बनती तब तक उनका अवलम्बन लेते है जब ऐसी योग्यता बना लेते हैं कि उनके बिना भी अपने आपको देख सके तब कोई दरकार नही रहती। परन्तु फिर भी जब स्वभाव से हटे तब फिर भावों के नीचे गिरने से रोकने को फिर उनका अवलम्बन लेना पड़ता है। किसी ने गाली निकाली गाली ने क्रोध नही कराया। गाली ने यह भी नही कहा कि तू मुझे सुन, यह आप ही कान में आये हुए शब्द वर्गणा को सुनने को गया, यह भी इसी पर निर्भर है कि उसको इष्ट माने या अनिष्ट, इसने ही अनिष्ट माना और यही कषाय रूप परिणमन किया। गाली निकालने वाले ने क्या किया उसने तो मात्र अपना परिणमन किया। यहां पर भी निमित्त की आधीनता नहीं है। समूचा जोर

उपादान पर ही आ रहा है। देवशास्त्र गुरु को इष्ट निमित्त कहा सो भी इसलिए कि कषाय का होना अनिष्ट है और कषाय का न होना इष्ट है ये कषाय के न होने में अवलम्बन है इसलिए उपचार से इष्ट कहा है, मूल में तो ये इष्ट नहीं है परन्तु कषाय का मंद होना या न होना इष्ट है। इसी प्रकार कुदेवादि अनिष्ट नहीं है परन्तु वे कषाय के होने में सहयोगी है और कषाय का होना अनिष्ट है इसलिए इन्हें उपचार से अनिष्ट कहा है।

उपादान जिस रूप परिणमन करने के सन्मुख होता है वह बाहरी पदार्थों को उसी रूप के कार्य के लिए सहयोगी बना लेता है। हमारे में एक ऐसी धारणा बनी हुई है कि कोई गाली दे तो क्रोध करना ही है, यही कारण है कि ऐसा संयोग जुड़ते ही अपनी धारणा के वशीभूत हम बिना सोचे समझे क्रोध कर लेते है। हम उसका अवलम्बन लेने को तैयार ही रहते है और अनिष्टपना पहले से मान रखा है। इसलिए ऐसा लगता है कि इसकी गाली निकालने से क्रोध हुआ या किया परन्तु गहराई से देखा जावे तो इसका पहले से नक्की किया हुआ है कि ऐसा होने पर ऐसा करना। इस गलत मान्यता को तोड़े और यह निर्णय ले कि कोई गाली निकालेगा तब भी मैं चाहू तो शांत रह सकता हूं। मेरे को आज ऐसा ही शान्त रहना है, इस [illegible] हमारी पहले की मान्यता अथवा आदत को [illegible] सब बातो मे लागू पड़ती है। जब तक [illegible] अवस्था है तब तक हम जाने अनजाने, उस [illegible] नहीं होने पर भी हम उसका अवलम्बन [illegible] रूप परिणमन कर जाते हैं जब तक [illegible] है तब तक इसकी अपनी कमजोरी की [illegible] मना किया है कि ऐसे संयोग मे न जा, न [illegible] संयोग में इसका अवलम्बन ले। यह इस वजह से [illegible] कि वह हमारा [illegible] कर देगे परन्तु उन संयोग के [illegible] में तू अपनी कमजोरी के कारण अपना बुरा [illegible] अच्छे संयोगों में तू चाहे तो अपना भला कर सकता है।

अब एक सवाल है कार्य होने के बाद निमित्त कहलाता है अथवा पहले से ही निमित्तपना है। क्योंकि कार्य होने के बाद निमित्त कहा जाता है तब मन्दिर में जाना चाहिए। शास्त्र-स्वाध्याय करना चाहिए यह नहीं कहना चाहिए क्योंकि अभी तो कार्य हुआ भी नहीं यह कैसे कह सकते हैं। इसका उत्तर है कि एक सामान्य कथन है और एक व्यक्ति अथवा कार्य विशेष की अपेक्षा कथन है। परन्तु सामान्य कथन में किसी का कार्य हो या न हो उसमें उस रूप के निमित्तपने की शक्ति को देख कर आचार्यो ने उस कार्य के लिए उनका सहयोग मिलाने का उपदेश दिया। मुलेठी में कफ गलाने की शक्ति है किसी का कफ गले या न गले उसकी शक्ति का निषेध नहीं कर सकते। वह पंसारी की दुकान मे पड़ी है तब भी उसमें वह शक्ति विद्यमान है और इसी वजह से वैद्य किसीका कफ गालने को उसका उपयोग बताता है जब कि अभी कार्य तो हुआ ही नही है। हमारे लिए निमित्त वह तभी कहलाएगी जब हमारा कफ गलेगा। परन्तु कफ गालने का निमित्तपना उसमे है यह मानकर चलना होगा। यही बात देवशास्त्र गुरु के प्रति है इसलिए उनका सहारे का उपदेश दिया गया है।

एक सवाल है कि किसी को निमित्त बनावे या न बनावे क्या यह हमारी स्वतन्त्रता है या निमित्त के उपस्थित होने पर उसको निमित्त बनाना ही पड़ेगा? ऐसा नही है, निमित्त तो हर वक्त उपस्थित ही है अगर उपस्थिति में निमित्त बनाना ही पड़े तो संसार से वस्तु का अभाव तो होगा नही और निमित्त की उपस्थिति मिटेगी नहीं और हमारा विकार मिटेगा नही। ज्यादातर उदाहरण जो दिए जाते हैं वे पुद्गल के दिए जाते हैं और पुद्गल में अपनी समझदारी नहीं रहती अतः १००° गर्मी मिलेगी तो पानी को भाप बनना ही पड़ेगा। किसी ने पानी के बर्तन को आग पर रख दिया अब उस पानी को गर्म होना ही पड़ेगा। घी को धूप में रखा उसको पिघलना ही पड़ेगा। इन सबको देख कर हमने भी यह समझ लिया कि हमतो निमित्त के अधीन है। स्फटिक के नीचे डंक लगाने पर लाल होगा ही। परन्तु चैतन्य के बारे में ऐसा नहीं है। पुद्गल के बारे में एक व्यक्ति अलग है जो बर्तन को पानी पर रखता है और पानी और आग का निमित्त नैमित्तिकपने को मिला देता है और कार्य हो जाता है। परन्तु बाहरी संयोग मिलने पर भी चेतन चाहे तो उसका अवलम्बन ले अथवा न ले, किस कार्य के लिए ले यह भी

उसी पर निर्भर है। इसलिए कार्य का होना न होना निमित्ताधीन नही रहा परन्तु इसके अपनी समझदारी के अधीन रहा। इसलिए चेतन के बारे मे विचार करते हुए पुद्गल की स्थिति को देख कर वैसा नही समझना चाहिए। क्योकि जीव मे ज्ञान शक्ति है इसलिए निमित्त बनाना, नही बनाना, किस कार्य के लिए अवलम्बन लेना सभी कुछ उसी पर निर्भर है। परन्तु पुद्गल को वैसा निमित्त का, वैसे कार्य के लिए निमित्त मिल जाए, या मिला दिया जाए तो वह कार्य हो जाता है परन्तु उपादान मे तद्रूप परिणमन की शक्ति होनी चाहिए। इसी वजह से कार के साथ पेट्रोल का निमित्त उसी ढग से, उसी रूप से मिला दिया जाता है तो वह कार्यरूप परणित होती है अथवा कहना चाहिए कि पेट्रोल का अवलम्बन पाकर कार अपनी उपादान शक्ति से चली। जीव के बारे मे पर का अवलम्बन लेकर परिणमन किया ऐसा मानना है जबकि पुद्गल में अव लंबन पाकर चाहे वह स्वत: मिले या किसीके मिलानेसे मिले तब पुद्गल उस कार्य रूप में परिणमन करता है। यही बात सभी पुद्गलादि के साथ लागू है। सूर्य की गर्मी पाकर समुद्र का पानी भाप रूप परिणमन कर रहा है, यहां किसी अन्य ने निमित्त को नही जुटाया परन्तु कार के चलने मे पेट्रोल का सम्बन्ध किसी अन्य ने जुटाया वह अवलम्बन पाकर चलने रूप परिणमन हुआ।

अब फिर एक सवाल होता है कि जब उपादान को उस रूप परिणमन करना है तो वे सब निमित्त मिलेंगे ही। ऐसा मानने पर भी एक बात तो निश्चित हो गई कि कार्य होने में निमित्त का अवलम्बन है चाहे बात को उपादान की तरफ से कहा जावे अथवा निमित्त की तरफ से।

क्या हम बाहरी निमित्तों को जुटा सकते है यह एक सवाल खड़ा होता है। उसके बारे में विचार करते है कि द्रव्य दृष्टि से तो यह कार्य जीव का नहीं है और जीव यह कार्य कर भी नही सकता। परन्तु पर्याय दृष्टि मे यह अपने योग उपयोग का जिम्मेदार है और उस योग उपयोग के निमित्तपने से कार्य सम्पादन होते हैं, इसलिए इस दृष्टि से इसका जुटाने वाला और हटाने वाला भी बताया है और इस दृष्टि से इस बात का उपदेश दिया है, नही तो उपदेश निरर्थक हो जाएगा। जब इसके भीतर ज्यादा प्रबलता होती है तो बाहरी निरपयोगी पदार्थ में भी यह अपने कार्य का निमित्तपना बना लेता है जैसे पत्थर की ठोकर लगने पर यह विचार करना कि जो देखकर नही चलता उसको ठोकर लगती है इसी प्रकार अगर मैं सावधान नही रहता तो कषाय की ठोकर खानी पड़ती है। यहां पर भी उपादान की सभी तरह से स्वतन्त्रता कायम रहती है।

अब सवाल आता है आठ कर्मों के निमित्तपने का। कोई कह सकता है कि यहा तो जीव पराधीन जरूर होगा। इसी पर विचार करना है। आठ कर्मों मे कुछ पुद्गल विपाकी है उनका निमित्त नैमैत्तिक सम्बन्ध पुद्गल का पुद्गल के साथ है अत: उनके उदय काल में शरीरादि की अथवा संयोगो की वैसी स्थिति होती है। विचार उनका करना जो जीव विपाकी है जिनका फल से जीव के ज्ञान दर्शनादि गुणों का घात होता है। मुख्य रूप से चार घातिया कर्मों का विचार करना है। उन चारों मे से भी मोहनीय कर्म जो दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय के भेद से दो प्रकार का है वही समूचे कर्मों की जड़ है वही ससार का कारण है। मुख्य रूप से उसी का आत्मा के साथ किस प्रकार का निमित्त नैमैत्तिकपना है यह विचार करना है। एक बात तो यह समझ लेनी चाहिए कि हरेक कर्मों का सम्बन्ध अपने अपने कार्यों के साथ अलग-अलग है। आत्मा के चारित्र और दर्शन से ही मोह का सम्बन्ध है अन्य किसी भी कार्य से इस कर्म का सम्बन्ध नहीं है। करणानुयोग का कथन भी व्यवहार दृष्टि से किया गया है अत: सब जगह कर्म का कर्त्तापने की भाषा मे ही कथन है उस उपचार कथन को हमने वास्तविक मान लिया है परिणमन जीव ने किया, कहा गया कर्म ने करा दिया और हमने भी यही मान लिया। यह नहीं समझा कि यह व्यवहार दृष्टि का कथन है। सर्वार्थ सिद्धि में पूज्यपाद स्वामी ने उदय की परिभाषा करते हुए यह कहा है कि फल की प्राप्ति वह उदय है यानि जितना उदय है उतनी फल की प्राप्ति है ऐसा नही है परन्तु जितनी फल की प्राप्ति है उतना उदय है। तब सवाल आता है कि बाकी फल का क्या हुआ जो हमने नही लिया। उसका उत्तर है कि उसका उदयाभावी क्षय

हो गया अथवा संक्रमण हो गया अथवा देशघाती आदि रूप होकर निर्जर गया। कर्म अपना समय पूरा होने पर निर्जर होने को आया। हमने जितना फल लिया उतना उदय कहलाया बाकी उदयाभावी क्षय हो गया। अगर ज्यादा लेने की चेष्टा की तो उदिरणा हो गयी। यह हमारे पर निर्भर है हम कितना फल लेते है ज्यादा या कम। सवाल पैदा होता है कि अगर हम बिल्कुल नही लेवे तो कषाय से रहित हो जायेगे ?

उसका उत्तर है कि इसके लिए आत्मशक्ति की दरकार है जितनी हमारे मे आत्मशक्ति है उतनी भी हम पूरी नही लगाते अगर पूरी भी लगा दे तो उतना ही उदयाभावी क्षय होगा जितनी गुणस्थानो के अनुसार आत्मशक्ति है। अगर उससे आगे आत्मशक्ति बढ़ती है तो गुणस्थान भी बदली हो जाता है। हरेक गुणस्थान में एक कम से कम (Mini) एक ज्यादा से ज्यादा (Maximum) शक्ति का उपयोग हम करते है। जैसे हमारी शक्ति १ से ४ तक है ज्यादा से ज्यादा उस गुणस्थान मे हम चार प्वाइंट तक शक्ति लगा सकते हैं। अगर हमारे पास ४ से १० तक शक्ति है तो हमारा गुणस्थान दूसरा होगा। एक छः वर्ष का बच्चा एक पत्थर को नही हटा सकता है मात्र हिला सकता है परन्तु वही बडा होकर शक्ति का संग्रह करके उसको उलटा सकता है। यही बात जीव की है चौथे गुणस्थान मे जितनी शक्ति है उतना ही कार्य कर सकता है वहां पर जो राग-द्वेषादि होते है वे उसकी शक्ति की कमी की वजह से होते हैं उसे उतना फल ग्रहण करना पड़ता है। तब उपचार से कहते हैं कर्म ने फल दे दिया वह जब अपनी शक्ति आत्मानुभव के द्वारा बढा लेता है तब वही अप्रत्याख्यानावरण—प्रत्याख्यानावरण रूप हो जाती है। क्योंकि अब उसमे इतनी शक्ति का संग्रह है कि वह तद् रूप फल नही लेता है। इस प्रकार से यहां पर भी जीव की स्वतंत्रता है फल कितना लेना है यह जीव की शक्ति पर निर्भर है। यही कारण है कि पंचास्तिकाय मे आचार्य ने लिखा है कि द्रव्य प्रत्ययों का उदय होने पर भी जीव भाव मोह रूप न परिणमन करें। अब फिर सवाल पैदा होता है कि क्या पुद्गल कर्म मे फलदान शक्ति है अथवा वह मात्र थर्मामीटर है। इसका उत्तर है कि जैसे पृथ्वी में आकर्षण शक्ति है हरेक फल को या चीज को अपनी तरफ खैंच लेती है। वैसे ही पुद्गल कर्म अथवा मोहनीय कर्म मे भी संसारी आत्मा को राग-द्वेषरूप परिणमन करने में खिचाव की शक्ति है यह मानना जरूरी है क्योंकि अगर ऐसा नही मानते हैं। तो सम्यक्-दृष्टि आत्मा सामायिक कर रहा है, परिणामों को सम्भाल रहा है, स्वभाव की तरफ दृष्टि करने का पूरा पुरुषार्थ कर रहा है परन्तु अनेक प्रकार ऊल-जलूल विकल्प और विपरीत परिणाम लाख चेष्टा करने पर भी हो जाते है। इससे मालूम देता है कि अपनी शक्ति से खिचाव ज्यादा है तब वैसा परिणमन कर जाता है। जैसे चुबक और लोहा हैं। लोहा अगर भारी है और चुम्बक मे शक्ति कम है तो लोहे को नहीं खैंच सकेगा। अगर सूई पड़ी होगी तो उसको खैंच लेगा। एक आदमी एक आदमी का हाथ पकड़कर खींच रहा है वह भी उधर जाना चाहता है तब उस आदमी की और दूसरे आदमी की दोनो की शक्ति मिल कर खैंचाव होगा। अगर वह नही जाना चाहता है और अपनी शक्ति को खैचाव से विपरीत दिशा में लगा देता तो पहले आदमी की शक्ति में से दूसरे की शक्ति कम करने पर अगर पहले वाले मे ज्यादा शक्ति बचती है तो उतना खिचाव होगा। मिथ्यादृष्टि उस खिचाव की तरफ जाना चाहता है अतः कर्मशक्ति और उसकी शक्ति एक दिशा मे काम करती है। सम्यक्दृष्टि खिचाव की तरफ नही जाना चाहता अतः जितनी शक्ति उसने खिचाव के विरुद्ध मे लगाई उतनी कम होकर बाकी का कर्म की तरफ खिचाव हुआ। ऊपर-ऊपर के गुणस्थानों मे आत्मशक्ति बढ़ती जाती है अतः कार्य का खिचाव कम होता जाता है। यहां भी कर्म की वजह से उधर गया यह करणानुयोग का कथन है और अपनी आत्मशक्ति की कमी की वजह से उधर गया यह अध्यात्म का कथन है। विचार किया जावे तो दोनों का एक ही अर्थ है। जीव की पूर्ण स्वतंत्रता नहीं है, इसका भी कारण आत्मबल की कमी है। दूसरे की बरजोरी नहीं है वह पुरुषार्थ बढ़ाकर आत्म-बल बढ़ा सकता है। अगर आत्मबल नही बढ़ाता है तो यह उसकी वजह कही जाएगी। आत्मबल भी क्रम-क्रम से गुणस्थानों के अनुसार ही बढ़ता है।

अगर जीव प्रायोग्यलब्धि में तत्व चिंतवन में उपयोग लगाता है तो मिथ्यात्व ढीला पडने लगता है और करणलब्धि में अपने स्वभाव को देखने की चेष्टा कराता है तब मिथ्यात्व हटने लगता है। यहां पर ऐसा समझना चाहिए कि एक कमरे के किवाड़ बंद है और कहा जाता है कि किवाड खुले बिना बाहर नही जा सकता है परन्तु साथ में सज्ञी पचेन्द्रिय को यह भी कहा जा रहा है कि तू चाहे तो किवाड़ खोल सकता है, किवाड़ खुले हुए ही है तेरे आगे बढ़ने की देरी है जैसे हवाई अड्डे में फाटक बन्द रहता है और बन्द देख कर वह खड़ा रहे तो यह उसकी खुशी है। परन्तु आगे बढ़ता जाता है तो फाटक खुलता जाता यही बात कर्म के बारे में है। सभी चीज हमारे पुरुषार्थ पर निर्भर करती है। एक बार राग करने पर आत्मा पर उसी जाति का सस्कार और मजबूत हो जाता है। इस प्रकार हर समय हमारे सस्कार मजबूत होते जाते है जब बहुत मजबूत हो जाते है तब आत्मा अपने ही सस्कारों के आधीन हो जाती है और तदरूप परिणमन अपनी इच्छा के विरुद्ध करने लगती है। यह हमारी अपनी पैदा की हुई पराधीनता है। उस सस्कारो को तोड़ने के लिए उससे विपरीत सस्कारो के उपाय करने होगे। जैसे पर मे, शरीर मे एकपने के सस्कार मजबूत करते जा रहे है उस सस्कार को तोड़ने के लिए शरीर से भिन्नपने के सस्कार पैदा करने को वैसी चेष्टा करनी होगी। निरन्तर आत्मा के भिन्नपन की भावना भानी पड़ेगी वह भी उतनी ही गहराई से जितनी शरीर मे अपनेपने की भावना भाई है तब वे सस्कार टूटेंगे इसीका नाम निर्जरा है। एक कांटा चुभा हुआ है अगर उसको निकालना है तो सुई को कांटे की लम्बाई स नीचा ले जाकर निकालना होगा। शरीर के एकत्वपने के संस्कारको तोड़नेके लिए उससे ज्यादा गहरा मजबूत सस्कार शरीर से भिन्नता का चाहिए। हम उतना पुरुषार्थ नही करते तब पहला संस्कार नही टूटता यही कर्म की थ्यौरी है। राग का सस्कार मेटने को भी उतना जोरदार पुरुषार्थ चाहिए तब राग मिटेगा। किसी व्यक्ति को साला कहने की आदत पड गई। अब वह आदत से लाचार हो गया और चाहे-अनचाहे जाने-अनजाने साला निकल जाता है। जब एक बार साला निकलता है तो पहले के संस्कार को फिर मजबूत कर देता है। अगर वह ज्यादा मजबूत हो जाता है तो जीव उन संस्कारो के आधीन हो जाता है। उस सस्कारो को मेटने के लिए उसका विरोधी उससे भी ज्यादा मजबूत सस्कार पैदा करना होगा। उसीका नाम आत्मानुभव है जिससे पहले वाला संस्कार मिटे और नया नही आवे तभी संवर और निर्जरा होती है।

इससे यह निश्चित हुआ कि यह जीव अपनी शक्ति के अनुसार अपना बचाव कर सकता है। यह कर्म को ज्यादा निमित्त बनावे, कम बनावे यह उसी पर निर्भर है इसलिए यहां भी इसकी स्वाधीनता है।

इसी के बारे मे प० टोडरमल जी तीन उदाहरण तीन प्रकार के कर्मों के बारे मे दिये है।

१. अघातिया कर्मों के निमित्त से बाहरी सामग्री का सम्बन्ध बनै है—यावत् कर्म का उदय रहे तावत् बाह्य सामग्री तैसे ही बनी रहे।

२. काहू पुरुष के सिर पर मोहन धूलि परी है तिसकरी सो पुरुष बावला भया......बावलापना तिस मोहन धूलि ही करी भया देखिए है।

३. जैसे सूर्य के उदयकाल विषै चकवा चकवीनि का का संयोग होय, तहा रात्रि विषै........सूर्यास्त का निमित्त पाय आप ही बिछुरै है ऐसा ही निमित्त नैमित्तिक बनि रह्या है तैसे ही कर्म का निमित्त नैमित्तिक भाव जानो।

दूसरा उदाहरण मोह कर्म की अपेक्षा है। इसी बात को ऊपर में खिचाव नाम देकर कहा गया है। पहला उदाहरण अघाति कर्मों का है।

पं० जी ने नवमी अध्याय मे निमित्त के बारे मे ऐसा कहा है कि एक कारण तो ऐसे है जाके भए कार्य सिद्धि ही होय जैसे सम्यक्दर्शन ज्ञान चारित्र की एकता। कोई कारण ऐसे है जाके भए बिना तो कार्य न होय और जाके भए कार्य होय या न भी होय जैसे मुनि लिंग धारे बिना... । कई कारण तो ऐसे हैं जो मुख्यपने तो जाके भए कार्य होय अर काहू के बिना भए भी कार्य सिद्धि होय जैसे अनशनादि बाह्य तप। यहा पर भी साधन मे कारण का उपचार करके साधन को कारण कहा। वहां पर उसको साधन ही मानना चाहिए कारण नहीं मानना चाहिए।

इसी बात को लेकर निश्चय व्यवहारावलंबि के कथन मे कारणपने का निषेध करके साधनपने की स्थापना की है। ऐसा ही प्रवचन सार में चरणानुयोग चूलिका के शुरु में साधनपने की स्थापना भी की और साधन की परिभाषा भी रखी कि—"तेरे प्रसाद से अपने स्वरूप को प्राप्त कर लू। वहां पर वह प्राप्त करा दे, उससे प्राप्त हो जावे दोनों का निषेध करके मैं प्राप्त कर लू तेरे प्रसाद से अर्थात् तेरा अवलम्बन लेकर मैं प्राप्त कर लू, यह परिभाषा सभी निमित्तो के लिए बन जाती है। अतः निमित्त कर्ता नही, कराता नही, निमित्त से होता नही परन्तु जिसका अवलम्बन लेकर हम कार्य करते हैं वह निमित्त नाम पाता है यही परिभाषा बनती है। कर्मों में भी (मोहादिक में) चुंबक की तरह खिचाव तो मानना है परन्तु कार्य हमारी आत्मशक्ति के अनुसार ही कम ज्यादा होता है। जब आत्मशक्ति कम है तब कर्म का तीव्र उदय कहलाता है जब आत्मशक्ति ज्यादा है तो कर्म का मद उदय कहलाता है।

अगर कोई कहे कि उपादान उस समय की अपनी पर्याय योग्यता के अनुसार परिणमन करता है वहां निमित्त के सहयोग का क्या सवाल है? उसका उत्तर है कि लगड़े आदमी की पर्याय योग्यता लकड़ी का सहारा लेकर चलने की है। भले चगे आदमी की योग्यता निरालम्बन चलने की है। इसलिए वह पर्याययोग्यता कहने में भी निमित्त सापेक्षता आ जाती है।

निमित्ताधीनदृष्टि का अर्थ है मिथ्यादृष्टि, क्योकि वह मानता है कि निमित्त ने ऐसा कर दिया। मैं, मेरा सब कुछ, मोक्ष मार्ग भी निमित्त के आधीन है। अतः अपने दुख सुख का कर्ता, राग-द्वेष का कर्ता, निमित्त को मानता है। क्योंकि संसार में हमारे अपने सिवाय सभी पर है अतः सभी निमित्त हो सकते हैं इसलिए समस्त जीव अजीवादि के प्रति उसकी सम्भावना में राग-द्वेष रहता है, जो कि अनंतानुबंधि कहलाता है। इसलिए जो निमित्त को कर्ता मानता है वह मिथ्यादृष्टि रहता है। आगम में कारणानुयोग और चरणानुयोग में निमित्त को कर्ता कहकर वर्णन किया है जो उपचार कथन है अर्थात् निमित्त में कर्तापने का उपचार है वास्तव में कर्ता नही है, इसीको लेकर समयसारजी में ऐसा कहा है कि जो ऐसे मानता है वह सांख्यमति है चाहे वह अरहतके मत का मानने वाला मुनि भी क्यों नही होवे।

व्यवहारी जीवो को समझाने को आचार्यों ने व्यवहारी भाषा में वर्णन किया है नही तो व्यवहारी लोकों को समझ मे नही आ सकता था। जैसे कोट को छोटा हो गया कहना यह लौकिक भाषा, वास्तव में तो पहनने वाला मोटा हो गया यह सही भाषा है। वैसे ही निमित्त को कर्ता कहने की लौकिक भाषा है। सभी इसी भाषा का इस्तेमाल करते है जैसे उसने ऐसा करदिया, मैंने ऐसा कर दिया आदि। परन्तु वास्तव मे लौकिक भाषा का अर्थ तो हम ठीक समझते है परन्तु उसी भाषा का उपयोग परमार्थ कथन मे आचार्य करते है तो हम उसी को लौकिक भाषा जैसा अर्थ न करके उसका परमार्थरूप अर्थ कर लेते हैं वही असल मे हमारी अज्ञानता का मुख्य कारण है। अगर दो द्रव्यों की पर्याय का निमित्त नैमेत्तिक सम्बन्ध नहीं मानेगे तो संसार भी नही बनेगा अथवा उसका अभाव भी नही बनेगा। अगर उसमे कर्ता कर्म सम्बन्ध मान लिया तो कभी मोक्ष की प्राप्ति नही होगी। ☐☐

(पृ० २२ का शेषांश)

भगवान् महावीर ने भगवान् पार्श्वनाथ का ही मार्ग अपनाया है। पार्श्वनाथ के चातुर्याम मे अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह का वर्णन इस प्रकार है—आया है जो स्थानाग सूत्र २६६ के अनुसार इस प्रकार है—

(१) सव्वातो पाणाति वायाओ वेरमणं।
अर्थात् सभी प्रकार के प्राणघात से विरति। (अहिंसा)

(२) एवं (सव्वातो) मुसावायाओ वेरमण।
अर्थात् सभी प्रकार के असत्य से विपरीत। (सत्य)

(३) सव्वातो अदिन्नादाणाओ वेरमणं।
अर्थात् सभी प्रकार के अदत्तादान से विरति (अचौर्य)

(४) सव्वातो बहिद्धाद णाओ वेरमणं।
अर्थात् सब प्रकार के बहिर्धा-आदान से विरति।
(परिग्रह) (अपरिग्रह)

भगवान् महावीर ने इन चार धर्मों के पालन पर बहुत बल और जोर दिया है। अतएव इस महावीर जयन्ती के अवसर पर उनके आदर्श महावाक्यों को अपनाना चाहिए। ☐☐

जरा-सोचिए !

क्या अभिनन्दन का यही तरीका है ?

जैसे याचना परीषह विजयी होने से मुनि स्वयं नही मांगते, चन्दे से निर्मित आहारादि ग्रहण नहीं करते वैसे ही ज्ञानी होने के कारण विद्वान भी स्वय याचना नही करते और पर-याचना द्वारा दूसरों से अपने लिए एकत्रित द्रव्य को ग्रहण भी नहीं करते ।

भला, जिस ज्ञानगुण के कारण मुनि अपने साधु पद जैसीं पंचमश्रेणी में रहते भी अपनी गणना चतुर्थ परमेष्ठी (उपाध्याय) के रूप मे पाते है, उस ज्ञान की महिमा को हीन कैसे माना जा सकता है ? ज्ञानी तो याचना नही करता वह तो उपाध्याय परमेष्ठी की भांति अपने ज्ञान-द्वारा याचकों की झोली भरने का काम ही करता है और पूज्य पं० फूलचन्द जी ने जीवन भर यही किया है ।

हमें हार्दिक वेदना हुई जब हमने एक पत्र मे प्रकाशित 'श्री पं० फूलचन्द जी सि० शास्त्री का अभिनन्दन' शीर्षक से ऐसी सूचना देखी जिसमे एक लाख रुपयों की राशि संचित कर उन्हे समर्पित करने को लिखा परन्तु साथ में दातारों से राशि देने की अपील उन्हें यह प्रलोभन देकर की गई है कि दातारो के नाम की सूची विभिन्न जैन पत्रों में प्रकाशित कर दी जाएगी । यह पढ़कर खेद हुआ क्योंकि ऐसा इस प्रकार से करना न तो अभिनन्दन करने वालों के लिए शोभास्पद रहा और न जिनका अभिनन्दन किया जा रहा है उनके लिए उपयुक्त रहा । पडित जी को अभिनन्दित कर राशि देना तो उचित है परन्तु अच्छा तो यह होता कि राशि इकट्ठी करके उनको अभिनन्दन के समय सबकी या किसी सस्था की ओर से भेट की जाती । जब इतने बर्ष निकल ही चुके थे, अभी तक यह कार्य नहीं किया जा सका था तब एक-दो मास और निकल जाते । पंडित जी को भेंट करने को इस प्रकार पत्रो मे पैसा इकट्ठा करने की अपील निकलवाना सर्वथा निन्दनीय है। यह पडित जी के उपकारों, उनकी अयाचीकवृत्ति और ज्ञानगुण के सर्वथा विपरीत है ।

आश्चर्य है कि उक्त रूप से अभिनन्दन व द्रव्य भेंट करने का निश्चय जयपुर पचकल्याणक प्रतिष्ठा के अवसर पर उन मुमुक्षुओ द्वारा हुआ जिनकी प्रतिष्ठा की जड़ों मे पंडितजी विद्यमान हैं और जिनके प्रयत्नो से मुमुक्षु समाज प्रकाशित है । यदि तनिक भी कृतज्ञता का भाव होता तो ये लोग पंडित जी की भेंट-राशि को अपने फण्डों से— याचनावृत्ति के बिना भी सहज ही दे सकते थे ।

हमें खेद इसलिए हुआ कि हमारे मन मे पंडित जी के प्रति अत्यन्त सम्मान है, उनके उपकारों के प्रति अत्यन्त कृतज्ञता का भाव हैं। उनकी उम्र काफी हो चुकी है । इस अन्त समय में उनको भेंट करने की राशि की अपील इस प्रकार खुले रूप में निकालना अपमानजनक और उनके नाम से भिक्षावृत्ति है ।

देखा जाय तो मुमुक्षुओ के प्रति पंडित जी के ऐसे अगणित उपकार हैं जिन पर लाखों मुमुक्षुओं और मुमुक्षु मण्डलों की समस्त चल अचल संपत्ति निछावर कर दी जाय तो भी थोड़ी है। हमें दुख तब शायद न हुआ होता जब ऐसा उपक्रम 'मरणोपरान्त' हुआ होता क्योंकि आज मरणोपरांत ऐसे उपक्रमोंकी परिपाटी चल पड़ी है और लोग भ० महावीर व कुन्दकुन्द के बाद भी उनके नाम पर आज चन्दा-चिट्ठा कर उनकी कीर्ति भुनाने मे लगे हैं, आदि ।

हम तो श्रद्धेय पूज्य पडित जी का उनके जीवन में सम्मान करते रहे है और करते हैं । उनकी अयाचीकवृत्ति, परोपकारिता और निर्भीकता हमे प्रेरणादायी रही है और रहेगी । उनके चरणो मे सादर नमन ।

कुछ शोधें और सेमिनार

जब हम मानकर चल रहे हैं कि हम अनादि हैं और हमारा वीतराग धर्म-सिद्धांत अनादि हैं तब यदि कोई हमे और हमारे धर्म को अन्य किन्ही साधनों से किसी खास नियत काल (४-६ हजार वर्ष पूर्व) का सिद्ध करने का प्रयास करे अथवा हमारे वीतराग देवों का रागी देवी-देवताओं से एकत्व सिद्ध करने का प्रयत्न करे तो हम उसे बुद्धिमान न कहेंगे और न हम पुद्गलपिंडों की खोज के माध्यमों से अपने और अपने अनादि धर्म को प्राचीन या नवीन सिद्ध करने को ही महत्व देंगे । भला अनादित्व मे प्राचीनत्व या नवीनत्व कैसा और वीतरागत्व मे सरागत्व कैसा ? हमारे तीर्थंकरो ने छह द्रव्यो को और उनमे होने वाले परिवर्तनो को अनादिनिधन और अपने-अपने रूपों मे भिन्नस्वभावी और स्वतंत्र माना है और स्पष्ट कहा

है—'आत्मस्वभाव पर भाव भिन्नं।'—जैसे रागादिक वैभाविकभाव अनादि है वैसे ही वीतरागतारूप जैनधर्म और उसके सिद्धांतो का अस्तित्व भी अनादि है।

जब हम आज के कई जैन-वेत्ताओं को आगम के विपरीत जाते देखते है तब आश्चर्यचकित रह जाते हैं कि या तो उन्हें जिनवाणी पर विश्वास नहीं या फिर वे अपने को अधिक बुद्धिमान साबित करने के लिए भांति-भांति के नाटक रचते है। कोई इतिहास के नाम पर और कोई पुरातत्व के सन्दर्भ से जिनवाणी को झुठलाने के असफल प्रयत्न करते है—आचार से जो जैन का मूल प्रतीक है, उन्हे कोई सरोकार नहीं। आज जगह-जगह सेमीनार होते हैं, उनमें जैनागम, जैनाचार और जैन-सिद्धांतो की पुष्टि में कितने होते है—यह विचारणीय है।

हमने देखा है कई जैन सेमीनारो मे जैन और अजैन विद्वानो को दूर-दूर से आते हुए मार्ग-व्यय, दक्षिणा आदि लेते हुए, उनकी सेवा-सुश्रूषा होते हुए। कई विद्वान् अपना निबंध लाते हैं और वाच देते है। कई निबध तो पुराने और कई-कई सेमीनारो मे वांचे हुए होते हो तब भी आश्चर्य नही। श्रोता सुन लेते हैं और प्रत्येक वाचन के बाद श्रोताओ को प्रश्नोत्तरों के लिए इतना समय भी नही मिलता जो समाधान हो सके। जब कि काफी समय मिलना चाहिए। फिर एक सेमीनार मे एक ही विषय को छुआ जाना चाहिए, आदि।

यदि सेमीनार आगम-कथन की पुष्टि की दृष्टि से हो और आयोजक लोग किसी एक विषय को महीनों पूर्व निर्धारित कर संभावित निमंत्रित विद्वानो को विषय सुझाए और महीनो पूर्व सभी निमन्त्रित विद्वान परस्पर के निबधो का विधिवत् पारायण कर एक-दूसरे के विचारो मे सामजस्य बिठालें—और आगमानुकूल विषय का निर्धारण कर ले—तब कही सेमीनार बुलाने का उपक्रम हो, तब कुछ फल समक्ष आ सकते हैं। आयोजक चाहे तो निबंध महीनो पूर्व मगाकर टंकित कराकर विद्वानो को भेज सकें तो विचारणा का कार्य सहज हो सके। ऐसा न होने से वर्तमान कई सेमीनारो का फल अधूरा या विपरीत भी हो सकता है। कई-कई बार तो श्रोता भ्रांति मे भी पड जाता है कि हमारे आगम-कथन सत्य है या इन सेमीनारो म प्रगट विचार सत्य है।

वास्तव में हमारे सेमीनार मूल सिद्धांतों, आगम कथानको और जैनाचार की पुष्टि में ही होने चाहिए—विरोध मे नहीं। क्योंकि "नान्यथावादिनो जिनः"। हमारे सेमीनार इतिहास या पुरातत्व को लेकर किन्हीं नए समीकरणों के लिए नहीं हों—विवादों या भ्रमों के उत्पादक न हों इसका पूरा ध्यान रखना चाहिए। जो लोग इतिहास और पुरातत्व के आधार पर कुछ का कुछ सिद्ध करना चाहें और जिनसे हमारे आगम कथानकों का मेल न बैठे ऐसे लोगों से हमारा निवेदन है कि वे इति का हास अर्थात् बीते-समाप्त हुए का हास (हास्य) न करें—हमारे आगम सर्वथा सत्य है, उनकी ही पुष्टि हो।

दिसम्बर, १९८८ में हमने 'ऋषभ और शिव एक व्यक्तित्व' जैसे विचार के प्रसंग में जैन आगमानुसार शिव-कथा को देकर ऋषभ से शिव की भिन्नता को दर्शाया था—दोनो के स्वरूप की भिन्नता को स्पष्ट किया था। यदि किसी भांति शोधकों की दृष्टि (जो गलत है) लोगों के गले उतर गई और ऋषभ और शिव दोनो मे महद अन्तर होने पर भी यदि उन्होने दोनो को एक मान लिया तो दिग्भ्रमित बहुत से जैनी शिव-भक्त बन जायंगे और जैन का घात होगा। हमारा विश्वास है कि कट्टर होने से शिव का एक पुजारी भी ऋषभ का उपासक नहीं बनेगा।

ऐसे ही एक शोध अभी सामने आया है पार्श्व को व्रात्य सिद्ध करना। यह कहां तक सही हो सकता है? पर प्रसिद्ध कोशकारो ने 'व्रात्य' शब्द को सस्कारहीन, पतित, भील आदि के रूपो में माना है। फिर भी येन-केन प्रकारेण यदि पार्श्व को व्रात्य मान भी लिया जाय और ये भी मान लिया जाय कि कोशकारो ने ईर्ष्यावश व्रात्य शब्द के अर्थ को हीन रूप मे दर्शाया है। तब भी इससे जैन की अनादिता या पार्श्व के व्यक्तित्व मे क्या फर्क पड़ता है? फिर यह भी देखा जाय कि व्रात्य शब्द किस जैनशास्त्र मे व्रती या पार्श्व के लिए आया है? हमारे शास्त्रो मे व्रात्य शब्द है भी या नहीं? हमने तो कही देखा नही।

हमे यह इष्ट है कि जो भी विचारणा हो अपने वर्तमान-रूप और आचार-विचार को जैनानुरूप ढालने के लिए सिद्धांतो के कथनो की पुष्टि के सन्दर्भ म ही हो—किसी आगम काट-छाट मे या दिग्भ्रमित करने मे न हो। हमारे विचार किसी विरोध मे नही अपितु आगम-रक्षण मे हैं। आशा है सोचेगे।

—सम्पादक

४० वर्ष पूर्व—वर्णी जी की कलम से

जो घर छोड़ देते हैं वे भी गृहस्थों के सदृश व्यग्र रहते हैं। कोई तो केवल परोपकार के चक्र में पड़कर स्वकीय ज्ञान का दुरुपयोग कर रहे हैं। कोई हम त्यागी हैं, हमारे द्वारा संसार का कल्याण होगा ऐसे अभिमान में चूर रह कर काल पूर्ण करते हैं।

× × × ×

शान्ति का मार्ग सर्व लोकेषणा से परे है। लोक-प्रतिष्ठा के अर्थ, त्याग-व्रत-संयमादि का अर्जन करना, धूल के अर्थ रत्न को चूर्ण करने के समान है। पंचेन्द्रिय के विषयों को सुख के अर्थ सेवन करना जीवन के लिए विष भक्षण करना है। जो विद्वान् हैं वह भी जो कार्य करते हैं आत्म-प्रतिष्ठा के लिए ही करते हैं। यदि वे व्याख्यान देते हैं तब यही भाव उनके हृदयों में रहता है कि हमारे व्याख्यान की प्रशंसा हो—लोग कहें कि आप धन्य हैं, हमने तो ऐसा व्याख्यान नहीं सुना जैसा श्रीमुख से निर्गत हुआ। हम लोगों का सौभाग्य था जो आप जैसे सत्पुरुषों द्वारा हमारा ग्राम पवित्र हुआ। इत्यादि वाक्यों को सुनकर व्याख्याता महोदय प्रसन्न हो जाते हैं।

× × × ×

मेरा यह दृढ़तम विश्वास हो गया है कि धनिक वर्ग ने पंडित वर्ग को बिल्कुल ही पराजित कर दिया है। यदि उनके कोई बात अपनी प्रकृति के अनुकूल न रुचे तब वे शीघ्र ही शास्त्रविहित पदार्थ को भी अन्यथा कहलाने की चेष्टा करते हैं।

× × × ×

आजकल बड़े-बड़े विद्वान् यह उपदेश देते हैं कि स्वाध्याय करो। यही आत्म-कल्याण का मार्ग है। उनसे यह प्रश्न करना चाहिए—महानुभाव, आपने आजन्म विद्याभ्यास किया, सहस्रों को उपदेश दिया, स्वाध्याय तो आपका जीवन ही है। परन्तु देखते हैं आप स्वयं स्वाध्याय करने का कुछ लाभ नहीं लेते। प्रायः जितनी बातों का उपदेश आप करते हैं हम भी कर देते हैं। प्रत्युत, एक बात हम लोगों में विशेष है कि हम आपके उपदेश से दान करते हैं, परन्तु आप में वह बात नहीं देखी जाती। आपके पास चाहे पचास हजार रुपया हो जावे परन्तु आप उसमें से दान न करेंगे। आप जिन विद्यालयों द्वारा विद्वान् हुए, उनके अर्थ शायद किसी ने ही कुछ रुपए भेजे होंगे। तथा जगत को उपदेश धर्म जानने का देवेंगे परन्तु अपने बालकों को एम०ए० ही बनाया होगा। अन्य को मद्य-मांस-मधु के त्याग का उपदेश देते हैं। आपसे, कोई पूछे कि आपके अष्टमूल गुण हैं ? तो हँस देवेंगे। व्याख्यान देते देते पानी का गिलास कई बार आ जावे तो कोई बड़ी बात नहीं। हमारे श्रोतागण भी इसी में प्रसन्न हैं कि पण्डित जी ने सभी को प्रसन्न कर लिया।

—वर्णी वाणी

कागज प्राप्ति :—श्रीमती अंगूरी देवी जैन (धर्मपत्नी श्री शान्तिलाल जैन कागजी) नई दिल्ली-२ के सौजन्य से

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

सम्पादन परामर्शदाता : **श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन,** सम्पादक : **श्री पद्मचन्द्र शास्त्री**

प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीरसेवामन्दिर के लिए मुद्रित, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५३

प्रिन्टेड
पत्रिका बुक-पैकिट

वीर सेवा मन्दिरका त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ४४ : कि० २ अप्रैल-जून १९९१

इस अंक में—

प्रकाशक :

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

बाल ब्रह्मचारिणी श्री कौशलकुमारी के नाम पत्र

नई दिल्ली-२
१-७-६१

आदरणीय बहिन कौशल जी,

सादर नमस्कार।

नैतिक शिक्षा समिति नई दिल्ली के मार्गदर्शन में चलाए गए नैतिक शिक्षण शिविर का समापन आज आपके सानिध्य में कैलाश नगर दिल्ली में सम्पन्न हुआ। मैंने आपका प्रवचन आज तक नहीं सुना था, हालांकि बहुत प्रशंसा सुनता आ रहा था ? आज पहिली बार ही प्रवचन सुनने को मिला और सुनकर बहुत दुःख हुआ और साथ ही आश्चर्य भी। आपने अपने प्रवचन में निम्नलिखित बातें कहीं उससे बहुत से प्रश्न उत्पन्न हो जाते हैं तथा वहां उपस्थित कई गणमान्य व्यक्तियों ने इस पर चर्चा भी की। आपने कहा—

"मैं आगम के विरुद्ध बोल रही हूं। महावीर स्वामी के संबंध में अक्सर कहा जाता है कि उन्होंने नारी जाति को काफी स्वतंत्रता दी परन्तु मैं तो कहूंगी कि महावीर स्वामी ने जिनका अनुशासन चल रहा है, नारी जाति के प्रति बड़ा अन्याय किया है क्योंकि उन्होंने कहा है कि नारी मोक्ष नहीं जा सकती। आर्यिका ज्ञानमती माता जी की तपस्या २०-२५ वर्षों से भी अधिक है और ज्ञानवान भी हैं परन्तु उनको भी उस मुनि को नमस्कार करना पड़ेगा, वह चाहे कुछ दिन पहिले ही मुनि क्यों न बना हो।"

उपरोक्त प्रवचन से निम्नलिखित प्रश्न उत्पन्न होते हैं—

१. क्या दि० त्यागी चाहे वह किसी भी पद पर हो, आगम के विरुद्ध बोल सकता है ?
२. क्या महावीर भगवान ने कोई ऐसी अलग बात की जो उनसे पूर्व अन्य तीर्थंकरों ने न की हो ?
३. क्या नारी जाति को मोक्ष होने की मनाही केवल महावीर स्वामी ने की उससे पूर्व नारी भव से मोक्ष होने की बात आगम में कहीं भी कही गई है ?
४. क्या आर्यिका ज्ञानमती जी को इतना ज्ञात नही है कि नारी किसी भी पद पर हो उसका पद मुनि से छोटा है और उसे मुनि को नमस्कार करना होगा ?
५. क्या शास्त्रों का इतना अध्ययन करने के पश्चात् भी अभी तक स्त्री को मोक्ष न होने के कारण की जानकारी नहीं हो पाई है ?

यदि आप समझती हैं कि जो आपने प्रवचन में कहा है वह आपकी मान्यताओं के अनुसार सही है तो आपको यह बात सिद्धान्तों एवं तर्क से सिद्ध करनी चाहिए ! त्यागी होते हुए आगम के विरुद्ध बोलना जनता में भ्रम उत्पन्न करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं होगा और उसका परिणाम ऐसा ही होगा जैसे श्वेताम्बर समाज की उत्पत्ति हुई।

सादर, क्षमा प्रार्थी—

विमल प्रसाद जैन, मंत्री
दि० जैन नैतिक शिक्षा-समिति, नई दिल्ली,

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०
वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे
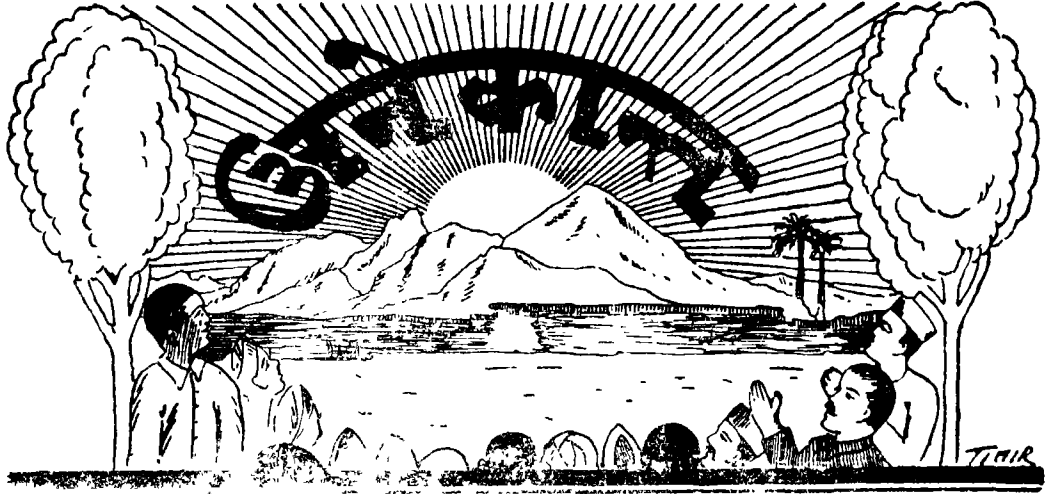
परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वर्ष ४४ किरण २ | वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ | वीर-निर्वाण संवत् २५१८, वि० सं० २०४८ | अप्रैल-जून १९९१

मन को सीख

"रे मन, तेरी को कुटेव यह, करन विषै को धावै है ।
इनही के वश तू अनादि तें, निज स्वरूप न लखावै है ।।
पराधीन छिन-छीन समाकुल, दुरगति विपति चखावै है ।। रे मन० ।।
फरस विषय के कारन वारन, गरत परत दुख पावै है ।
रसना इन्द्रीवश झष जल में, कंटक कण्ठ छिदावै है ।। रे मन० ।।
गन्ध-लोल पंकज मुद्रित में, अलि निज प्रान खपावे है ।
नयन-विषयवश दीपशिखा में, अङ्ग पतङ्ग जरावै है ।। रे मन० ।।
करन-विषयवश हिरन अरन में, खल कर प्रान लुभावै है ।
'दौलत' तज इनको जिनको भज, यह गुरु सीख सुनावे है ।। रे मन० ।।

—कविवर दौलतराम

भावार्थ—हे मन, तेरी यह बुरी आदत है कि तू इन्द्रियों के विषयों की ओर दौड़ता है । तू इन इन्द्रियों के वश के कारण अनादि से निज स्वरूप को नहीं पहिचान पा रहा है और पराधीन होकर क्षण-क्षण क्षीण होकर व्याकुल हो रहा है और विपत्ति सह रहा है । स्पर्शन इन्द्रिय के कारण हाथी गढ़े में गिर कर, रसना के कारण मछली काँटे में अपना गला छिदा कर, घ्राण के विषय-गंध का लोभी भौंरा कमल में प्राण गँवा कर, चक्षु वश पतंगा दीप-शिखा में जल कर और कर्ण के विषयवश हिरण वन में शिकारी द्वारा अपने प्राण गँवाता है । अतः तू इन विषयों को छोड़ कर जिन भगवान का भजन कर, तुझे ऐसी गुरु की सीख है ।

तत्त्वार्थवार्तिक में प्रयुक्त ग्रंथ

□ डॉ० रमेशचन्द्र जैन, बिजनौर

अकलङ्कदेव बहुश्रुत विद्वान् थे। उन्होने तत्त्वार्थवार्तिक ग्रन्थ सैकड़ों ग्रन्थो के आलोडन विलोडन के बाद लिखा था। तत्त्वार्थवार्तिक मे उद्धृत अथवा निर्दिष्ट तत्तत् ग्रन्थों के अश इस बात के प्रमाण है कि अकलङ्कदेव का ज्ञान बहुत विस्तृत था। उनके तत्त्वार्थवार्तिक मे जिन-जिन ग्रन्थों का उपयोग हुआ है, उनका विवरण यहां दिया जा रहा है—

पातञ्जल महाभाष्य—अकलङ्कदेव को महाभाष्यकार पतञ्जलि की शैली प्रिय थी। उन्होने तत्त्वार्थवार्तिक में पतञ्जलि के मत की आलोचना करके उसमें अनेकान्त को घटित किया है।[1] साथ ही स्थान-स्थान पर महाभाष्य से अनेक उदाहरण और पक्तियां ली है—

अनन्तरस्य विधिर्वा प्रतिषेधो वा[2] (पा०म० १/२/४७)

गौणमुख्ययोर्मुख्ये संप्रत्यय.[3] (पा० मा० ८/३/८२)

अभ्यर्हितम् पूर्वम् निपतति[4] (पा० म० २/२/३४)

अन्तरेणापि भावप्रत्ययं गुणप्रधानो भवति निर्देशः[5] (पा० म० २/४/२१)

द्वयेकयो:[6] (पा० सू० १/४/२२)

विशेषण विशेष्येण[7] (पा० सू० २/१५७)

समुदायेषुहि प्रवृत्ताः शब्दा अवयवेष्वपि वर्तन्ते[8] (पा० म० पस्पशाह्निक)

दृष्टि साम्नि च जाते च अण् डिद्वा विधीयते[9] (प० महा० ४/४/७)

अवयवेन विग्रहः समुदायो वृत्त्यर्थः[10] (पा० म० २/२/२४)

वर्णानुपलब्धौ चातदर्थगते[11] (पा० म० प्रत्याहा ५)

व्याख्यानतो विशेष प्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम[12] (पा० महा० प्रत्या० सू० ६)

द्वयोर्द्वयोरिति ग्रहणमन्यार्थमुक्तम्[13] (पा० म० १/१/२२)

द्रुतायां तपरकरणे मध्यमविलम्बितयोरुपसङ्ख्यानम्[14] (पा० म० १/१/६०)

नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थगति[15] (प० म० ३/१/१२)

गुणसन्द्रावो द्रव्यम्[16] (पा० म० ५/१/११६)

व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्[17] (पा० म० पस्पशाह्निक सू० ६)

निमित्त कारण हेतुषु सर्वासां प्राय: दर्शनात्[18] (पा०म० २/३/२३)

जैनेन्द्र व्याकरण—अकलङ्कदेव ने पूज्यपाद के जैनेन्द्र व्याकरण के अनेक सूत्र उद्धृत किए हैं? वे जैनेन्द्र व्याकरण के अच्छे ज्ञाता थे। तत्त्वार्थ वार्तिक में जैनेन्द्र व्याकरण के उद्धरण इस प्रकार है—

करणाधिकरणयो[19] (जैने० २/४/६६)

युड् व्याबहुलम्[20] (जैने० २/३/६४)

सर्वादि सर्वनाम[21] (जैने० १/१/३५)

टिदादि[22] (जैने० (१/१/ ३

ज्वलितिकसंताण्ण: जैने०[23] २/१/११२(

अपादाने अहीयरुहो:[24] (जैने० वा० ४/२/५०)

आद्यादिभ्य उपसङ्ख्यानम्[25] (जैने० ४/२/४६)

समानस्य तदादेश्च[26] (जै० वा० ३/३/३५)

साधनं कृता[27] (जैने० १/३/२६)

मयूरव्यंसकादित्वा द्वा[28] (मयूरव्यसकादयश्च जैने० १/३/६६)

समानस्य तदादेश्च[29] (जैने० वा० ३/३/३५)

स्वार्थे को वा[30] (जै० ३/१/६१)

देवता द्वन्द्वे[31] (जैने० ४/३/१३८)

आनङ् द्वन्द्वे[32] (जै० ४/ /१३८)

सामीप्येऽधेध्युपरि[33] ५/३/५

तदस्मिन्[34] (जैने० ३/ /५८)

अपादाने ऽहीयरुहो[35] (जैने० ४/३/५०)

आद्यादिभ्य. उपसङ्ख्यानम्[36] (जैने० ४/२/४६)

अहीयरुहो:[37] (जैने० ४/३/५०)

द्वन्द्वेसु[38] (जैने० १/३/६८)

अल्पाच्तरम्[39] जैने० १/३/१००)

विशेषणं, विशेष्येण[40] (जैने० १/३/१२)

ह्वत:[41] (जैने० ३/१/६१)

द्रव्येभव्ये[42] (जैने० ४/१/१५८)

कुकमिकं स:[४३] (जैने० ५/४/३४)
अजाद्यत्[४४] (जैने० १।३।९६)
संख्यैकाद्वीप्सायां[४५] (जैने० ४।२।४८)
साधनं कृता: बहुल[४६] (जैने० १।३।२९)
स्त्रियांक्ति:[४७] (जैने० २।३।७५)

अष्टाध्यायी—अकलङ्कदेव ने कर्तुरीपिसक्तम् कर्म[४८] (पाणिनि० १।४।४९) जैसे कुछ सूत्र पाणिनीय व्याकरण से उद्धृत किए उन्होंने 'गर्गा: शतंदण्ड्यताम्'[४९] जैसे कुछ उदाहरण दिए हैं। यह पाणिनि के कारक प्रकरण में 'गर्गा: शत दण्डयति' रूप में आया है। इन सबसे ज्ञात होता है कि उन्हें पाणिनीय व्याकरण की अच्छी जानकारी थी ?

वाक्यपदीय—अकलङ्कदेव ने तत्त्वार्थवार्तिक[५०] मे वाक्यपदीय की एक कारिका उद्धृत की है—

शास्त्रेषु प्रक्रियाभेदैरविद्यैवोपवर्ण्यते।

अनागमविकल्पा हि स्वयं विद्या प्रवर्तते (वाक्यपदीय २।२३५)

अन्य वैयाकरणो के समान वाक्यदीय के रचयिता भर्तृहरि स्फोटवाद को मानते है। स्फोटवाद के अनुसार ध्वनियाँ क्षणिक है, वे क्रम से उत्पन्न होती हैं और अनन्तर क्षण में नष्ट हो जाती है ? वे जब अनन्तर क्षण में नष्ट हो जाती हैं, तब तो अपने स्वरूप का बोध कराने में भी क्षीणशक्ति वाली हैं, अत. अर्थान्तर का ज्ञान कराने में वे समर्थ नहीं हैं ? यदि ध्वनिया अर्थान्तर का ज्ञान कराने में समर्थ होतीं तो पदों से पदार्थों के समान प्रतिवर्ण से अर्थ का ज्ञान होना चाहिए और एक वर्ण के द्वारा अर्थबोध होने पर वर्णान्तर का उपादान निरर्थक होगा ? क्रम से उत्पन्न होने वाली ध्वनियों का सहभाव रूप सघात भी संभव नही है, जिससे अर्थबोध हो सके। अत: उन ध्वनियों से अभिव्यक्त होने वाला, अर्थ के प्रतिपादन मे समर्थ, अमूर्त, नित्य, अतीन्द्रिय, निरवयव और निष्क्रिय शब्दस्फोट स्वीकार करना चाहिए ?

अकलङ्कदेव ने स्फोटवाद का खण्डन किया है; क्योंकि ध्वनि और स्फोट में व्यंग्य-व्यजक भाव नही है।[५१] व्यंग्य-व्यंजक भाव कैसे नही है, इसका विस्तृत विवेचन राजवार्तिक मे किया गया है।[५२]

अभिधर्मकोश—अभिधर्मकोश (१।१७) में कहा गया है कि पाच इन्द्रिय और मानस ज्ञान में एक क्षण पूर्व का ज्ञान मन[५३] है। ऐसे मन से होने वाले ज्ञान को मानस प्रत्यक्ष कहते है। अकलङ्कदेव का कहना है कि वह अतीत असत् मन ज्ञान का कारण कैसे हो सकता है ? यदि पूर्व का नाश और उत्तर की उत्पत्ति को एक साथ मानकर कार्य-कारण भाव की कल्पना की जाती है तो विनाश और उत्पत्तिमान् भिन्न सन्तानवर्ती क्षणों में भी कार्यकारणभाव मानना पड़ेगा। यदि एक सन्तानवर्ती क्षणो में किसी शक्ति या योग्यता को स्वीकार करेंगे तो तो क्षणिकत्व की प्रतिज्ञा नष्ट हो जाती है ?[५४]

अभिधर्मकोश में कहा गया है—'तत्राकाशमनावृतिः' (१।५) अर्थात् आकाश नाम की कोई वस्तु नहीं है, केवल आवरण का अभाव मात्र है ? अकलङ्कदेव ने इसका खण्डन करते हुए कहा है कि आकाश आवरण का अभावमात्र नहीं है, अपितु वस्तुभूत है; क्योंकि नाम के समान उसकी सिद्धि होती है। जैसे नाम और वेदना आदि अमूर्त होने से अनावरण रूप होकर भी सत् है, ऐसा जाना जाता है।[५५] अन्यत्र 'षण्णामनन्तरातीत विज्ञान' यद्धि तन्मन: (अभिकोश) को उद्धृत करते हुए अकलङ्कदेव ने उसके प्रतिवाद मे कहा है कि मन का पृथक् अस्तित्व न मान कर विज्ञान को मन कहना ठीक नहीं है; क्योंकि पूर्व ज्ञान को जाने का उसमें सामर्थ्य नहीं है ?[५६]

प्रमाण समुच्चय—अकलङ्कदेव ने प्रत्यक्ष के लक्षण के प्रसङ्ग मे बौद्धसम्मत प्रत्यक्ष लक्षण हेतु प्रमाण समुच्चय को इस रूप मे उद्धृत[५७] किया है ?

प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्यादि योजना।
असाधारणहेतुत्वादक्षैस्तद् व्यपदिश्यते॥

(प्रमाणसमुच्चय १।३।४)

इसके उत्तर मे अकलङ्कदेव ने कहा है—क्या वह कल्पना मे सर्वथा रहित है अथवा कथञ्चित् कल्पना से रहित है ? यदि सर्वथा कल्पनापोढ प्रमाणज्ञान है तो आदि कल्पना से अपोढ है, इत्यादि वचन व्याघात होगा ? यदि कथञ्चित् कल्पना से रहित सिद्धान्त स्वीकार करते हो तो एकान्तवाद का त्याग होने से पुन: स्ववचन व्याघात ही है[५८] ?

प्रमाणसमुच्चय मे कहा है—'योगिनां गुरुनिर्देशाद् व्यतिभिन्नार्थ मात्रदृक्' अर्थात् योगियों के गुरुनिर्देश (अर्थात् आगम उपदेश के) बिना पदार्थमात्र का अवबोध हो जाता है ? इसके निषेध में अकलङ्कदेव ने कहा है कि यह कथन ठीक नहीं है ? अक्षं अक्ष प्रति वर्तते अर्थात् अक्ष अक्ष के प्रति जो हो, उसको प्रत्यक्ष कहते हैं और योगियों के अक्ष (इन्द्रिय) जन्य ज्ञान नहीं हैं, क्योंकि योगियों के इन्द्रियों का अभाव है ? बौद्धो के द्वारा कल्पित कोई योगी ही नहीं हैं; क्योंकि विशेष लक्षण का अभाव है तथा निर्वाण प्राप्ति मे सबका अभाव बौद्ध मानते हैं।[५८]

अन्य मतों के लक्षण देते हुए अकलङ्कदेव ने प्रमाण समुच्चय की पंक्ति 'कल्पनापोढं प्रत्यक्षं' को उद्धृत किया है।[५९] इस प्रकार अकलङ्क ने दिङ्नाग के ग्रन्थो का सम्यगवलोकन किया था, इसकी पुष्टि होती है ?

न्यायसूत्र—न्यायदर्शन के अनुसार दुःखादि की निवृत्ति होना मोक्ष है ? इसके समर्थन मे अकलङ्कदेव ने न्यायसूत्र का एक सूत्र उद्धृत किया है—"दुःखजन्म-प्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभान्निःश्रेयसाधिगमः" अर्थात् दुःखजन्मप्रवृत्ति दोष और मिथ्या ज्ञान का उत्तरोत्तर अपाय हो जाने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है।[६०]

प्रत्यक्ष के अन्यमतों के लक्षण मे भी न्यायसूत्र को उद्धृत किया है—'इन्द्रियार्थसान्निकर्षोत्पन्न ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मक प्रत्यक्ष' अर्थात् इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाले अव्यपदेश्म, निर्विकल्पक, अव्यभिचारी और व्यवसायात्मक ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते।[६१]

योगभाष्य—योगदर्शन मे पातञ्जलयोगदर्शन पर व्यासभाष्य मिलता है। तत्त्वार्थवार्तिक में रूप शब्द के अनेक अर्थ बतलाते समय एक अर्थ स्वभाव भी बतलाया है तथा उसके प्रमाणस्वरूप योगभाष्य का चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपं[६२] वाक्य उद्धृत किया गया हैं। यहां रूप का अर्थ स्वभाव है ?

वैशेषिकसूत्र—तत्त्वार्थवार्तिक मे अनेक स्थान पर वैशेषिक सूत्र उद्धृत किए गए है ? जैसे—

तत्त्व भावेन व्याख्यातम[६३] (वैशे० ७।२।२८)

आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षाद्यन्निष्पद्यतेतदन्यत्[६४]।
(वैशे० ३।१८)

क्रियावद् गुणवत् समवायिकारणं द्रव्यलक्षण[६५]।
(वैशे० १।१।१५)

दिक्कालावकाशं च क्रियावद्भ्यो वैधर्म्यात् निष्क्रियाणि। एतेन कर्माणि गुणाश्च व्याख्याताः निः क्रियाः[६६]
(वैशे० ५।२।२१-२२)

आत्मन्यात्ममनसांः संयोगविशेषात् आत्मप्रत्यम्[६७]
(वैशे० ६।१।११)

आत्म संयोग प्रयत्नाभ्यां हस्ते[६८] कर्म (वैशे० ५।१।१)

व्यवस्थातः। शास्त्रसामर्थ्याच्च नाना[६९]
(वैशे० ३।२।२०-२१)

अग्नेरूर्ध्वज्वलन वायोश्चतिर्यक्पवनम् अणुमनसोश्चाद्यं कर्मत्येतान्यदृष्ट कारितानि उपसर्पणमपसर्पणमसितपीत संयोगाः कायान्तरसयोगश्चेति अदृष्टकारितानि[७०]
(वैशे० ५।२।१३।१७)

प्रयत्न योगपद्यात् योगपद्याच्चैकं[७१] मनः(वैशे० ३।२।३)

उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चत प्रमारण गमनमिति कर्माणि[७२] (वैशे० १।१।७)

ऋक्संहिता—ऋग्वेद दशम् मण्डल मे पुरुषसूक्त मे कहा गया है—'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूत यच्च भाव्यं[७३]' अर्थात् जो कुछ हो चुका है और आगे होगा, वह सब पुरुष रूप है।

इसके विरोध में अकलङ्कदेव ने कहा है कि उक्त प्रकार की कल्पना कर लेने पर यह वध्य और घातक है, यह भेद नही हो सकता। चेतनशक्ति (ब्रह्म) का ही यदि सारा परिणमन माना जाता है तो घट, पट आदि रूप से दृष्टिगोचर होने वाले सारे जगत् का लोप हो जायगा और ऐसा मानने पर प्रत्यक्ष विरोध भी आता है तथा प्रमाण और प्रमाणाभास का भेद भी नहीं रहेगा इत्यादि[७४]।

मैत्रायणोपनिषद्—तत्त्वार्थवार्तिक में 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः[७५]' अर्थात् स्वर्गकामी अग्निहोत्र यज्ञ करें, मैत्रायणोपनिषद् के वाक्य का कर्त्ता की असंभवता के आधार पर खण्डन किया गया है।[७६]

मनुस्मृति—तत्त्वार्थवार्तिक के आठवें अध्याय के प्रथम सूत्र की व्याख्या में मनुस्मृति के 'यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयनेव स्वयंभुवा[७७]' इस वाक्य का खण्डन किया गया है तथा इस हेतु अनेक प्रमाण[७८] दिए गए हैं।

भगवद्गीता—अवधिज्ञान आत्मोत्थ होने से परोक्ष नही है, इसके समर्थन मे भगवद्गीता का यह पद्य उद्धृत किया गया है—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः पर मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेः परतरो हि सः ॥ भग० ३।४२)

अर्थात् इन्द्रियाँ पर हैं। इन्द्रियों से भी परे मन है। मन से भी परे बुद्धि है और बुद्धि से परे आत्मा है।

इस प्रकार इन्द्रियों की अपेक्षा न होने से अवधिज्ञान को परोक्ष नही कह सकते। इन्द्रियों को ही पर कहा जाता है।[७९]

सांख्यकारिका—तत्त्वार्थवार्तिक के प्रथम अध्याय के प्रथम सूत्र की व्याख्या मे सांख्यकारिका की चवालिसवी कारिका के 'विपर्ययाद् बन्धः' अश को उद्धृत किया गया है[८०]। पूरी कारिका इस प्रकार है—

धर्मेणगमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद्भवत्यधर्मेण ।
ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यत बन्धः ॥

प्रथम अध्याय के प्रथम सूत्र के ४३वें वार्तिक में उपर्युक्त कारिका की विस्तृत व्याख्या की गई है। आगे विस्तृत रूप से ज्ञान मात्र से मोक्ष होता है, इसका खण्डन किया गया है[८१]।

तत्त्वार्थ सूत्र—तत्त्वार्थ वार्तिक की समस्त रचना तत्त्वार्थसूत्र के सूत्रो की व्याख्या के रूप में की गई है। अतः क्रमिक रूप से सूत्रों का उल्लेख हुआ है। इसके अतिरिक्त व्याख्या के बीच-बीच में कहीं तत्त्वार्थसूत्र के सूत्र उद्धृत किए गए हैं। उदाहरणार्थ कुछ सूत्र इस प्रकार हैं—

असख्येयाः प्रदेशाः धर्माधर्मैकजीवानाम्[८२]।
लोकाकाशेऽवगाहः[८३]।
उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्[८४]।

तत्त्वार्थाधिगमभाष्य—तत्त्वार्थाधिगम भाष्यकार द्वारा स्वीकृत पाठ की अकलङ्कदेव ने कही-कहीं आलोचना की है। कही-कही भाष्य मे सूत्र रूप से कही गई कई पंक्तियो का विस्तृत व्याख्यान राजवार्तिक मे पाया जाता है। बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ (त०सू० ५।३७) के स्थान पर भाष्यकार ने 'बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ' कहा है। अकलङ्कदेव ने इति अपरे सूत्र पठन्ति के निर्देश के साथ इस पाठ की समालोचना की है। बन्धे समाधिकौ परिणामिकौ' का तात्पर्य है कि द्विगुण स्निग्ध का द्विगुण रूप भी परिणामक (परिणमन कराने वाला) है। आर्ष मे विरोध होने से यह पाठ उपयुक्त नही है। ऐसा मानने पर सैद्धान्तिक विरोध आता है। क्योकि वर्गणा मे बन्धविधान के नोआगम बन्धविकल्प-सादि वैस्रसिक बन्धनिर्देश मे कहा गया है कि 'विषम स्निग्धता' और विषम रूक्षता में भेद होता है। इसके अनुसार ही 'गुणसाम्ये सदृशाना' यह सूत्र कहा गया है। इस सूत्र से जब समगुण वालो के बन्ध का प्रतिषेध (निषेध) कर दिया है, तब बन्ध में 'सम' भी पारिणामिक होता है, यह कथन आर्षविरोधी है, अतः विद्वानों के द्वारा ग्राह्य नही है[८५]। (क्रमशः)

सन्दर्भ सूची

१. 'कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे संप्रत्ययो भवतीतिलोके' काव्याख्यान पा० म० १।१।२२, तत्त्वार्थवार्तिक १।५।२९
२. तत्त्वार्थवार्तिक १।३।१२, ३. १।५।२८, ४. १।६।१
५. वही २।२।१, ६. २।२।१, ७. २।२।१, ८. २।८।१, ६, ४।४।३, १०. २।१४।४, ११. २।१८।४, १२. ३।१८।४
१३. ३।२१।२, १४. ४।२२।१, १५. ५।१।६, १६. ५।२।६
१७. ५।१७।१६, १८. ५।२६।५, १६. १।१।४,
२०. १।१।२५, २१. १।११।१, २२. १।११।१,
२३. १।१३।१, २४. २।३८।१, २५. २।३८।१,
२६.३।१६।३, २७. ४।३।३, २८. ४।३।३ २६. ४।४।२,
३०. ४।४।३, ३१. ४।१२।७, ३२. ४।१२।७,
३३. ।१८।१, ३४. ४।१६।२, ३५. ४।२०।६,
३६. ४४।२०।६, ३७. ४।२१।४, ३८. ४।२१।५,
३९. ४।२१।५, ४०. ५।१।१, ४१. ५।१।२७,
४२. ५।२।२, ४३. ६।१।२, ४४. ६।४।८, ४५. ६।८।१७
४६. ६।१२।३, ४७. ८।३।१, ४८. ६।१।३,
४९. ६।१।१३, ५०. १।१२।१५, ५१. ५।२४।५
५२. षण्णामनन्तरातीतं विज्ञान यद्धितन्मतः ॥ त० वा० १।१२।११ मे उद्धृत।
५३. तत्त्वार्थवार्तिक १।१२।११, ५४. ५।१८।११,
५५. ५।१६।३२, ५६. १।१२।६, ५७. १।१२।११,
५८. वही १।१२।६-१०

(शेष पृ० ११ पर)

जिनसेन के अनुसार ऋषभदेव का योगदान

☐ जस्टिस श्री एम० एल० जैन

नवी शताब्दी के जिनसेन ने अपने महाकाव्य आदि-पुराण में भगवान् वृषभदेव के समस्त जीवन का विशद वर्णन किया है जिसके दो पक्ष अत्यन्त रोचक हैं—युवराज-काल और राज्यकाल। आइए इनकी संक्षिप्त झलक देखी जाए :—

युवराज काल

अपनी पुत्री ब्राह्मी को सिद्ध नमः कहकर सिद्धमातृका अक्षरावली अपने दोनों हाथों से लिखकर **लिपि** सिखाई दूसरी पुत्री सुन्दरी को स्थानक्रम से **गणित** सिखाया।

दोनों पुत्रियों को व्याकरण, छन्द, अलंकार का उप-देश देने के साथ-साथ सौ से भी अधिक अध्याय वाला **व्याकरण** लिखा और अनेक अध्यायों वाला **छन्दशास्त्र** रचा जिसमे प्रस्तार, नष्ट, उद्दिष्ट, एकद्वित्रिलघुक्रिया, संख्या और अध्वयोग का निरूपण किया। शब्दालंकार और अर्थालंकार सिखाए तथा दशप्राणवाले **अलंकार संग्रह** की रचना भी की।

अपने पुत्रों को भी आम्नाय के अनुसार अलग-अलग लोकोपकारी शास्त्र पढ़ाए खासकर—

(१) भरत को **अर्थशास्त्र**।

(२) वृषभसेन को **नृत्य और गंधर्वशास्त्र**।

(३) अनन्तविजय को **चित्रकला** के साथ अन्य कलाएं तथा विश्वकर्मा की **वास्तु विद्या**।

(४) बाहुबली को **कामनीति, स्त्रीपुरुष लक्षण पशु-लक्षणतंत्र, आयुर्वेद, धनुर्वेद, रत्नपरीक्षा आदि**।

यह सब तो किया कल्पवृक्षों के रहते-रहते। कल्प-वृक्षों की समाप्ति पर प्रजा मे दुख व्याप्त हो गया तो भगवान् वृषभदेव ने पूर्व और पश्चिम के विदेह क्षेत्रों में प्रचलित वर्णव्यवस्था, आजीविका के साधन, घर ग्राम आदि की रचना के अनुकरण मे अपने पिता के राज्य में भी यही सब स्थापित करने के लिए इन्द्र को बुलाया। इन्द्र देवों के साथ उपस्थित हुआ और आज्ञानुसार इस प्रकार रचना की—

सर्वप्रथम अयोध्या के केन्द्र में व चारों दिशाओं में **जिन मंदिर** स्थापित किए।

तदनन्तर निम्न **देशों की स्थापना की**—कौशल, महादेश, सुकोशल अवन्ती, पुण्ड्र, उण्ड्र, साकेत अश्मक, रम्यक, कुरु, काशी, कलिंग, अंग, बंग, सुह्य, समुद्रक, काश्मीर, उशीनर, आवर्त, वत्स, पंचाल, मालव, दशार्ण, कच्छ, मगध, विदर्भ, कुरुजागल, करहाट, महाराष्ट्र, सुराष्ट्र, आभीर, कोंकण, वनवास, आन्ध्र, कर्णाट, कोशल, चोल, केरल, दारु, अभिसार, सौवीर, शूरसेन, अपरान्तक, विदेह, सिंधु, गांधार, यवन; चेदि, पल्लव, काम्बोज, आरट्ट, वाह्लीक, तुरुष्क, शक और केकय।

इन देशो में **सिंचाई** व्यवस्था कायम की। **सीमा-सुरक्षा** के लिए **किले** किलेदार व अन्तपाल बनाए। मध्य-वर्ती इलाको की रक्षा का भार सौंपा लुब्धक, आरण्य, चेरट, पुलिन्द, शबर आदि **म्लेच्छ जाति** के लोगों को।

इन सब देशों मे कोट, प्राकार, परिखा, गोपुर अटारी से घेरकर **राजधानियाँ** कायम की।

फिर निकृष्ट गांव, बड़ेगांव, खेट, खर्वट, मडम्ब, पत्तन, द्रोणमुख, धान्यसंवाह, आदि **ग्राम व नगरों की** रचना की और इन्द्र ने **पुरन्दर** नाम पाया।

गाँवों के बाहर शूद्रों व किसानों—के रहने के लिए बाड़ से घिरे घर बनाए। **बाग** और **तालाब** बनवाए। नदी, पहाड, गुफा, श्मशान, थूअर, बबूल, वन, पुल आदि के द्वारा गांवों **की सीमाएं निर्धारित** की। एक गांव की सीमा एक कोस और बड़े-बड़े गावों की सीमा पांच कोस रखी गई।

अहीरों के **घोष**, दस गांवों के बीच में एक बड़ा गांव,

दो सो गांवों का खर्वट, चारसो गांवों का नदी किनारे द्रोणमुख, आठसो गांवों पर राजधानी स्थापित की।

उपरोक्त प्रकार से नाभिराय के साम्राज्य की रचना करके इन्द्र तो आज्ञापालन करके स्वर्ग चला गया। ऋषभदेव ने तब आजीविका की व्यवस्था को हाथ मे लिया जो इस प्रकार रखी गई—

(१) **असि**—शस्त्र धारण कर सेवा करना।
( ) **मषि**- लिखना।
(३) **कृषि**—जमीन जोतना-बोना।
(४) **विद्या**— शास्त्र पढ़ाना, नृत्य गायन करना।
(५) **वाणिज्य**—व्यापार करना।
(६) **शिल्प**—हाथ की कुशलता जैसे चित्र खीचना, फूलपत्ते काटना आदि।

आजीविका के साधनो का इस प्रकार छह भागों में विभाजन करने के पश्चात् भगवान् वृषभदेव ने लोगो को निम्न प्रकार वर्णों मे बांटा —

क्षत्रिय—इन्हें भगवान् ने अपनी दोनों भुजाओं मे शस्त्र धारण कर शस्त्र विद्या द्वारा क्षतत्राण की शिक्षा दी।

वैश्य— इन्हे भगवान् उरुओ के यात्रा करना दिखलाकर परदेशगमन व व्यापार करना सिखाया।

शूद्र— इन्हे अपने पैरो से न्यग्वृत्ति (नीच वृत्ति) सेवा सुश्रूषा करने के लिए कायम किया, इन शूद्रो को कारु, अकारु, स्पृश्य और अस्पृश्य इस प्रकार विभक्त किया। कारु जैसे धोबी, स्पृश्य जैसे नाई और प्रजाबाह्य लोगो को अस्पृश्य करार दिया।

ब्राह्मण—इस वर्ण की भगवान् ने स्थापना तो नही की परन्तु भविष्य मे उनके लिए पढ़ना-पढ़ाना यह व्यवसाय निश्चित किया।

इतनी व्यवस्था करने कराने के पश्चाद् भगवान् का स्वयं उनके पिता ने अपना मुकुट उतार कर उनके सर पर रखकर बडी धूमधाम से राज्याभिषेक किया। बाहुबली को युवराज बनाया गया।

राज्य काल

राज्यभार संभालते ही भगवान् ने प्रजा के लिए नियम बनाना प्रारंभ कर दिया और कई नियम बनाए। उनमें सबसे प्रमुख थे विवाह व्यवस्था के।

विवाह व्यवस्था—के नियम इस प्रकार रखे गए—

(१) शूद्र, केवल शूद्र कन्या के साथ ही विवाह करे।
(२) वैश्य, वैश्यकन्या और शूद्र कन्या के साथ विवाह करे।
(३) क्षत्रिय, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कन्या के साथ विवाह करे।
(४) ब्राह्मण, इस वर्ण की स्थापना तो करेंगे भरत परन्तु भगवान् ने नियम बनाया कि ब्राह्मण ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कन्या के साथ भी विवाह कर सकता था।

दण्ड व्यवस्था

यदि कोई वर्ण के लिए निश्चित आजीविका छोड़कर दूसरे वर्ण की आजीविका करे तो दण्ड का पात्र होगा यह मुख्य नियम था।

हा, मा, धिक् इन तीन प्रकार के दण्डो की व्यवस्था दी।

बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है इस मत्स्य न्याय को बंद किया गया। दण्ड देने के लिए दण्ड धर नियुक्त किए गए ताकि दुष्ट जनों का निग्रह किया जा सके। राजाओ का काम था बेगार कराना, दण्ड देना व कर वसूल करना किन्तु करो द्वारा धन की वसूली मे अधिक पीड़ा न हो ऐसी हिदायत की गई।

यह सब कर लेने के बाद सम्राट् वृषभदेव ने हरि, अकम्पन, काश्यप और सोमप्रभ क्षत्रियो को महामाण्डलिक घोषित किया और उनमे प्रत्येक के नीचे चार हजार राजा रखे गए। सोमप्रभ को कुरुराज, हरि अथवा हरिकान्त को हरिवंश का राजा, अकम्पन अथवा श्रीधर को नाथवंश का नायक, काश्यप अथवा मघवा को उग्रवंश का राजा घोषित किया। महामाण्डलिको के ऊपर कच्छ व महाकच्छ अधिराज स्थापित किए।

इतना बड़ा साम्राज्य और उसकी इस प्रकार से व्यवस्था स्थापित करने के कारण भगवान के कई नाम पड़ गए—

(शेष पृ० १९ पर)

वसुनन्दिकृत उपासकाध्ययन में व्यसनमुक्ति वर्णन

☐ श्रीराम मिश्र, रिसर्च फैलो, प्राकृत एवं जैनागम विभाग, वाराणसी

शौरसेनी प्राकृत वाङ्मय मे वसुनन्दिकृत उपासकाध्ययन का महत्वपूर्ण स्थान है। इस ग्रन्थ मे श्रावक के आचार-विचार का वर्णन किया गया है। श्रावकाचार पर संस्कृत में अनेक ग्रन्थ प्राप्त होते हैं, किन्तु शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध वसुनन्दि का उपासकाध्ययन श्रावकाचार का स्वतन्त्र रूप से विवेचन करने वाला एकमात्र ग्रन्थ है।

वसुनन्दि श्रावकाचार मे श्रावक के प्रायः सभी कर्तव्यो का वर्णन किया है, तथापि "व्यसनमुक्ति" का विस्तार से वर्णन किया गया है। व्यसनमुक्ति के अन्तर्गत सात व्यसनों और उसके सेवन से प्राप्त होने वाले फल का विस्तार से वर्णन किया गया है। दर्शन श्रावक के वर्णन प्रसंग में वसुनन्दि ने सातो व्यसनों का नाम बताते हुए उनके सेवन मे होने वाले दुष्परिणामों का भी वर्णन किया है।

जुआ खेलना, शराब पीना, मांस खाना, वेश्यागमन करना, चोरी करना, शिकार खेलना और परदारा सेवन करना, ये सातो व्यसन दुर्गतिगमन के कारणभूत पाप है। इन सातो व्यसनों का वसुनन्दि ने वर्णन किया है, जो संक्षेप में इस प्रकार है :—

१. द्यूतदोष वर्णन[1] :—

जुआ खेलने वाले पुरुष के क्रोध, मान, माया और लोभ ये चारों कषाय तीव्र होती है, जिससे जीव अधिक पाप को प्राप्त होता है। उस पाप के कारण यह जीव जन्म, जरा, मरणरूपी तरगों वाले दुःखरूप सलिल मे भरे हुए और चतुर्गतिगमन रूप आवर्तों से संयुक्त संसार समुद्र में परिभ्रमण करता है। उस संसार मे जुआ खेलने के फल से यह जीव शरण रहित होकर छेदन, भेदन, कर्त्तन आदि के अनन्त दुःख को पाता है।

जुआ खेलने से अन्धा हुआ मनुष्य अपने माता-पिता तथा इष्ट-मित्र आदि को कुछ न समझते हुए स्वच्छन्द होकर पापमयी अनेक अकार्यों को करता है। जुआ खेलने वाले पर स्वयं उसकी माता तक का विश्वास नही रहता। इस तरह जुआ खेलने में अनेक भयानक दोष को जानकर उत्तम पुरुष को इसका त्याग करना चाहिए।

द्यूतक्रीड़ा के दुष्परिणामों में राजा युधिष्ठिर का उदाहरण प्रसिद्ध है। वसुनन्दि ने लिखा है कि परम तत्व-वादी राजा युधिष्ठिर जुआ के खेलने से राज्य से भ्रष्ट हुए तथा पूरे परिवार के साथ नाना प्रकार के कष्ट को सहते हुए बारह वर्ष तक वनवास में रहे[1]।

२. मद्यदोष-वर्णन[2] :—

द्यूतदोष के समान ही वसुनन्दि ने मद्यदोष का भी सुन्दर ढग से चित्रण किया है। मद्यपान से मनुष्य उन्मत्त होकर अनेक निंदनीय कार्यों को करता है, और इसी लिए इस लोक तथा परलोक मे अनन्त दुःखो को भोगता है। शराब पीने वाला लोक मर्यादा का उल्लंघन कर नाना प्रकार के कुकृत्यों को करता है। वह बेसुध होकर अपने धन का नाश करते हुए इधर-उधर भटकता है तथा अनेक पापों का भागी होता है। उस पाप से वह जन्म-जरा, मरणरूप क्रूर जानवरों आकीर्ण संसार रूपी कान्तार मे पड़कर अनन्त दुःख को पाता है। किसी मनीषि ने कहा है कि—"शराब वह दीमक है, जो मनुष्य के दिमाग को चाट लेता है तथा वह मनुष्य जो भी कुकर्म कर दे, उसके लिए असम्भव नहीं।" इस तरह मद्यपान के अनेक दोषो को जान करके मन, वचन और कृत कारित और अनुमोदना से इसका त्याग करना चाहिए। मद्यपान के परिणाम स्वरूप यादव कुल का विनाश हुआ। वसुनन्दि ने इसे उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत किया है। एक बार उद्यान में क्रीड़ा करते हुए यादवो ने प्यास से व्याकुल होकर पुरानी शराब को जल समझकर पी लिया, जिससे वे नष्ट हो गये।[4]

३. मांसदोष-वर्णन[5] :—

मांस दोष का वर्णन करते हुए वसुनन्दि ने कहा है कि मांस को खाने से मनुष्य का दर्प बढ़ता है। दर्प के बढ़ने से मनुष्य के अन्दर नाना प्रकार की इच्छायें जागृत होती हैं। इन इच्छाओ के प्रबल होने पर वह शराब तथा जुआ आदि का सेवन करता है और उनके दोषों को भी भोगता है।

मांस भक्षण के दुष्परिणामो मे वसुनन्दि ने एक चन्द्र-पुर के बक राजा का उदाहरण दिया है। एक-चक्र नामक नगर मे मांस खाने से गृद्ध बक राक्षस राज्य पद से भ्रष्ट हुआ तथा अपयश से मर कर नरक में गया[6]।

४. वेश्यादोष-वर्णन[7] :—

वेश्यादोष का वर्णन करते हुए वसुनन्दि ने लिखा है कि जो कोई भी मनुष्य एक रात भी वेश्या के साथ समागम करता है, वह कारू, किरात, चाडाल, डोम, पारधी आदि का जूठा खाता है। क्योंकि वेश्या इन सबके साथ निवास करती है। वेश्या हर एक के सामने उसकी चाटुकारिता करती है और अपने को उसी का बताती है, जिससे नीच मनुष्य उसकी दासता स्वीकार करते हुए वेश्या के द्वारा किये गये अपमानों को भी सहन करता है।

वेश्या संसर्ग जनित पाप से जीव घोर ससार-सागर मे भयानक दु खों को प्राप्त होता है। इसलिए मन, वचन, काय से वेश्या गमन का सर्वथा त्याग करना चाहिए। वेश्यागमन के दुष्परिणामों को बताने के लिए वसुनन्दि ने चारुदत्त का उदाहरण दिया है। सभी विषयों मे निपुण होने पर भी चारुदत्त वेश्यावृत्ति के कारण धन खोकर घोर दुःख पाया और परदेश जाना पडा[8]।

५. पारद्धिदोष-वर्णन[9] :—

पाचवें व्यसन के रूप में वसुनन्दि पारद्धिदोष अर्थात् निरीह जीवो का शिकार करने से प्राप्त दोषों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—सम्यग्दर्शन का प्रधान गुण यतः अनुकम्पा अर्थात् दया कही गयी है। अतः शिकार खेलने वाला मनुष्य सम्यग्दर्शन का विराधक होता है।

जो मुक्तकेश है अर्थात् जिनके रोंगटे भय के मारे खड़े हो गये हैं, तथा जो अपनी ओर पीठ करके मुंह मे तृण को दबाये हुए भाग रहा है, ऐसे अपराधी भी दीन जीवो को शूरवीर नही मारते हैं। जिस प्रकार गौ, ब्राह्मण और स्त्रियों के मारने में महापाप होता है। उसी प्रकार अन्य प्राणियों के घात में भी महापाप होता है। अतः शिकार खेलने के पाप से यह जीव संसार में अनन्त दुःख को प्राप्त होता है। इसलिए देश विरत श्रावकों को अन्य व्यसनो के साथ-साथ शिकार का भी त्याग करना चाहिए।

पारद्धिदोष का दृष्टान्त भी वसुनन्दि ने पारम्परिक ही दिया है। लिखा है—राजा ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती होकर तथा चौदह रत्नों के स्वामित्व को प्राप्त होकर भी शिकार खेलने से मर कर नरक में गया और तरह-तरह के कष्टो को सहता रहा[10]।

६. चौर्यदोष-वर्णन[11] :—

व्यसनों के क्रम मे छठे स्थान पर चौर्यदोष का वर्णन करते हुए वसुनन्दि ने लिखा है कि—दूसरे को धन चुराने वाला मनुष्य इस लोक तथा परलोक में असाता बहुल, अर्थात् प्रचुर दु खो मे भरी हुई अनेको यातनाओ को पाता है और कभी भी सुख नही पाता। पराये धन को हरकर सबकी नजरो से बचने के लिए इधर-उधर भागता है।

चोर अपने माता-पिता, गुरू, मित्र, स्वामी और तपस्वी आदि को भी कुछ नही गिनता, उनके पास भी जो कुछ पाता है, उसे भी बलात् हरण कर लेता है। चोरी करने वाला व्यक्ति आत्मा के विनाश को, लज्जा, अभिमान, यश और शील के विनाश को तथा परलोक में भय को भी कुछ नही गिनता और हमेशा चोरी करने का साहस करता है। चोर व्यक्ति इस लोक तथा परलोक मे भी अनन्त दु ख को पाता है। इसलिए श्रावक को चोरी का त्याग करना चाहिए। न्यासापहार भी चोरी ही है। न्यासापहार में वसुनन्दि ने श्रीभूति का उदाहरण दिया है।

न्यासापहार अर्थात् धरोहर को अपहरण करने के दोष से दंड पाकर श्रीभूति आर्तध्यान से मरकर संसार-सागर में दीर्घकाल तक फिरता रहा[12]।

७. परदारादोष-वर्णन" :—

सातवे व्यसन के रूप में वसुनन्दि ने परस्त्री का हरण करना या उसके तरफ अभिलषित होने से प्राप्तदोष का वर्णन करते हुए लिखा है कि—जो निर्बुद्धि पुरुष परायी स्त्री को देखकर उसको प्राप्त करने का इच्छुक होता है, वह उसके द्वारा पाता तो कुछ नही है, बल्कि पाप को ही बटोरता है।

जब वह परस्त्री को नही पाता, तो इधर-उधर विलाप करता हुआ, गाता हुआ भटकता है। वह व्यक्ति यह नहीं सोचता है कि परायी स्त्री भी मुझे चाहती है या नही ? केवल उसको प्राप्त करने की चिन्ता में हमेशा डूबा रहता है। ऐसे पुरुष का कहीं भी मन नही लगता। उसे मीठा भोजन भी नही रुचता। विरह मे संतप्त रहता है। उसे नींद भी नही आती। नाना प्रकार के कष्टो को सहते हुए इस ससार-समुद्र के भीतर भ्रमण करता है। इसलिए परिगृहीत या अपरिगृहीत परस्त्रियों का मन, वचन, काय से त्याग करना चाहिए।

परस्त्री हरन मे वसुनन्दि ने रावण का उदाहरण दिया है। विचक्षण, अर्धचक्रवर्ती और विद्याधरो का स्वामी होकर भी परस्त्री हरण के पाप से राजा रावण अपने पूरे कुल के साथ मर कर नरक को गया"।

इस प्रकार वसुनन्दि सातों व्यसनो का संक्षेप में वर्णन करते हुए कहते है, कि जो व्यक्ति सातों ही व्यसनों का सेवन करता है, उसके दु.खो का वर्णन नही किया जा सकता। साकेत नगर में रुद्रदत्त सातो ही व्यसनो का सेवन करके मरकर नरक गया और फिर दीर्घकाल तक संसार में भ्रमता फिरा"।

वसुनन्दि ने सातों व्यसनों के उदाहरण के रूप मे प्रत्येक व्यसन के पारपरिक उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। द्यूतदोष मे राजा युधिष्ठिर का, मद्यदोष में यादवों का, मांसदोष में गृद्धवकराक्षस का, वेश्यागमन मे चारुदत्त का, पारद्धिदोष में ब्रह्मदत्त का, चौर्य में श्रीभूति का और परदाराहरणदोष मे रावण का वर्णन किया है। ये सभी उदाहरण प्राचीन प्राकृत तथा संस्कृत वाङ्मय मे भी प्राप्त होते हैं।

श्रावकाचार के अध्ययन की दृष्टि से तथा मानव कल्याण की दृष्टि से व्यसन मुक्ति के सन्दर्भ में यह अध्ययन महत्वपूर्ण एवं उपयोगी होगा।

सन्दर्भ-सूची

१. जूयं खेलंतस्स हु कोहो माया य माण लोहा य।
एए हवंति तिव्वा पावइ पावं तदो बहुगं ॥६०
पावेण तेणजर-मरण-वीचिपउरम्मि दुक्खसलिलम्मि।
चंडगइगमणावतम्मि हिंडइ भवसमुद्दम्मि ।वसु. श्रा. ६१

२. रज्जटमंस वसणं बारह संवच्छराणि वणवासो।
पत्तो तहावमाण जूएण जुहिट्ठिलो राया ॥
वसु० श्रा० १२५

३. मज्जेण णरो अवसो कुणेइ कम्माणि णिंदणिज्जाइं।
इहलोए परलोए अणुहवइ अणंतयं दुक्खं ॥
वसु० श्रा० १२५

पावेण तेण बहुतो जाइ-जरा-मरणसावयाइण्णे।
पावइ अणंतदुक्खं पडिओ ससारकंतारे ॥
वसु० श्रा० ७८

४. उज्जाणम्मि रमंता तिसाभिभूया जलं ति णाऊण।
पिविऊण जुण्णमज्ज णठ्ठा ते जादवा तेण ॥
वसु० श्रा० १२६

५. मसासणेण वड्ढइ दप्पो दप्पेण मज्जमहिलसइ।
जूयं पि रमइ तो तपि वण्णिए पाउणइ दोषे ॥
वसु० श्रा० ८६

६. मंसासणेण गिद्धो वगरक्खो एगचक्कणयरम्मि।
रज्जाओ पढमटठो अयसेण मुओ गओ णरय ॥

७. कारुय-किराय-चंडाल-डोंब-पारथियाणमुच्छिटठं।
सो भक्खेइ जो सह वसइ एयरत्ति पि वेस्साए ॥
वसु० श्रा० गाथा संख्या ८८

८. सव्वत्थ णिवुणबुद्धी वेसासंगेण चारुदत्तो पि।
खइऊण धणं पत्तो दुक्खं परदेशगमणं च ॥
वसु० श्रा० १२८

९. सम्मतस्स पडाणो अणुकंवा वण्णिओ गुणो जम्हा।
पारद्धिरमणसीलो सम्मतविराहओ तम्हा ॥
वसु० श्रा० ९४

गो-बंभण-महिलाणं विणिवाए हवइ जह महापावं ।
तह इलरपारिणघाए वि होइ पावं ण सदेहो ।।
वसु० श्रा० ९८

१०. होउण चक्कवट्टी चउदहरयणाहिओ वि संपत्तो ।
मरिऊण बंभदत्तो णिरयं पारद्धिरमणेण ।।
वसु० श्रा० १२९

११. परदव्वहरणसीलो इह-परलोए असायबहुलाओ ।
पाउणइ जायणाओ ण कयावि सुहं पलोएइ ।।
वसु० श्रा० १०१

णगणेइ माय-बप्पं गुरू-मित्त सामिण तवस्सिं वा ।
पबलेण हरइ छलेण किं चिण्णं किंपि ज तेसिं ।।
वसु० श्रा० १०४

१२. णासावहारदोसेण दंडणं पाविऊण सिरिभूई ।
मरिऊणं अट्टझाणेण हिंडिओ दीहससारे ।।
वसु० श्रा० १३०

१३. दट्ठूण परकलत्तं णिब्बुद्धी जो करेइ अहिलासं ।
णय किंपि तत्थ पावइ पावं एमेव अज्जेइ ।।
वसु० श्रा० ११२

णिस्ससइ रूयइ गायइ णिययसिरं हणइमहियलेपडइ ।
परमहिलमलभमाणो असप्पलाव पि जपेइ ।।
वसु० श्रा० ११३

ण य कत्थ वि कुणइ रइ मिट्ठं पि य भोयणं ण भुजेइ ।
णिछंपि अलहमाणो अच्छइ विरहेण सतत्तो ।।
वसु० श्रा० ११५

१४. होउण खयरणाहो वयक्खओ अद्धचक्कवट्टी वि ।
मरिऊण गओ वारय परित्थि हरणेण लंकेसो ।।
वसु० श्रा० १३१

१४. साकेते सेवतो सत्तवि वसणाइं रूद्दत्तो वि ।
मरिऊण गओ णिरय भमिओ पुणदीहससारे ।।
वसु० श्रा० १३३

(पृ० ७ का शेषांश)

इक्ष्वाकु—इक्षुरस का सग्रह करने का उपदेश देने के कारण ।

गौतम—उत्तम स्वर्ग सर्वार्थ सिद्धि से आए थे इस कारण (गो याने स्वर्ग)

काश्यप—काश्य (तेज) के रक्षक होने के कारण मनु और कुलक प्रजा की आजीविका का मनन किया इस कारण प्रजापति, आदि ब्रह्मा, विधाता, विश्वकर्मा, सृष्टा इन नामों से भी भगवान् जाने जाने लगे ।

यह **राज्यकाल तिरेसठ लाख पूर्व** तक चला जिसमे प्रभु पुत्र-पौत्रों से सम्पन्न बने रहे । सारे समय इन्द्र उनके भोगोपभोग की सामग्री भेजता रहा क्योंकि तीर्थंकर न तो स्तनपान करते है और न पृथ्वी पर का भोजन ग्रहण । उनके भोजन स्वर्ग से आया करते हैं ।

भगवान् ऋषभदेव का कितना बड़ा योगदान था इसकी थोड़ी-सी झलक ही है यह । भव्य जन आदिपुराण का पारायण (स्वाध्याय नामक तप) करे और महाकवि भगवज्जिनसेनाचार्य के विशाल ज्ञान, काव्यकला, कल्पना, तथ्य, शब्द, अलकार, छन्द के साथ-साथ धर्म का आनन्द प्राप्त करे ताकि मोक्ष लक्ष्मी को प्राप्त करने में समर्थ हो सके ।

—मन्दाकिनी, नई दिल्ली

(पृ० ५ का शेषांश)

५९. प्रमाणसमु० १।३ तत्त्वार्थवार्तिक १।१२।११
६०. न्यायसूत्र १।१२, तत्त्वार्थवार्तिक १।१।४५
६१. न्यायसूत्र १।१।४ त० वार्तिक १।२।६
६२. योगभाष्य १।६ तत्त्वार्थवार्तिक ५।५।१
६३. तत्त्वार्थवार्तिक १।१।१४, ६४. १।१०।८,
६५. २।८२४, ६६. ५।२।६,५।७।६, ६७. ५।२।६,
६८. ५।१।१, ६९. ५।१७।२३, ७०. ५।१७।३७,
७१. ५।१९।२४, ७२. ६।१।३, ७३. ८।१।२६,
७४. ८।१।२६, ७५. ६।३६, ७६. ८।१।१७,
७७. मनुस्मृति ५।३९ ७८. तत्त्वार्थवार्तिक ८।१।२२-२७,
७९. १।२२।४ ८०. वही १।१।१३, ८१. १।१।५०-५४,
८२. ५।१।१०, ८३. ५।१।११, ८४. ५।३।३, ८५. ५।३७।४

नियमसार का समालोचनात्मक सम्पादन

□ डा० ऋषभचन्द्र जैन 'फौजदार'

['नियमसार का समालोचनात्मक सम्पादन' योजना के अन्तर्गत तैयार किये गये मूल प्राकृत पाठ का यह प्रारंभिक निवेदन विद्वज्जगत तथा कुन्दकुन्द के विशेष अध्येताओं के सम्मत्यर्थ प्रस्तुत है।—लेखक]

नियमसार की प्राकृत गाथाओं का मूलपाठ सम्पादन के विशेष उद्देश्य से यहां प्रस्तुत है। मुद्रित प्रतियों में प्राकृत पाठ अत्यधिक अशुद्ध है। इससे अनुवाद एव अध्ययन भी प्रभावित हुए हैं। नियमसार पर पी-एच० डी० उपाधि के लिए अनुसन्धान कार्य करते समय उक्त तथ्य सामने आये। प्राकृत पाठ अशुद्ध होने स भाषाशास्त्रीय अध्ययन सम्भव नही हुआ। इन बातों पर अनुसन्धान कार्य के मार्ग निर्देशक आचार्य गोकुलचन्द्र जैन से निरन्तर विचार-विमर्श हुआ। उन्होंने नियमसार का मानक सस्करण तैयार करने पर बल दिया। सम्पादन योजना बनवाई। उसे विश्वविद्यालय अनुदान आयोग को भिजवाया। सौभाग्य से आयोग ने योजना स्वीकृत कर ली और मुझे "रिसर्च एसोसिएटशिप अवार्ड" की।

नियमसार का प्रस्तुत मूल प्राकृत पाठ उक्त सम्पादन योजना का एक अग है। इसका आधार अद्यावधि प्रकाशित विभिन्न सस्करण हैं। नियमसार सर्वप्रथम सन् 1916 में जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई से प्रकाशित हुआ। इसका सम्पादन शीतलप्रसाद ने गोधो के दि० जैन मन्दिर, जयपुर की एक हस्तलिखित पाण्डुलिपि के आधार पर किया है। बाद के दशकों मे नियमसार के अनेक प्रकाशन हुए है। उन सभी में मूल प्राकृत पाठ वही पुनर्मुद्रित है। किसी मे भी पाठ को शुद्ध करने का प्रयत्न नही किया गया। बाद के प्रकाशनों मे अशुद्धियां तथा पाठ भेद बढ़ते गये हैं। मुद्रण की त्रुटियां अलग है। कुछ में जान-बूझकर भी पाठ परिवर्तित किये गये हैं। पं० बलभद्र जैन ने प्रयत्न पूर्वक 255 पाठ परिवर्तित किये है। व्याकरण और छन्दोनुशासन के अनुसार पाठ बदले गये हैं। कुछ सस्करणो मे प्राकृत पाठ को सस्कृत छाया के अधिक निकट लाने के लिए बदला गया है। किसी भी संस्करण मे नियमसार की उत्तर तथा दक्षिण भारत में उपलब्ध प्राचीन पाण्डुलिपियों का उपयोग नही किया गया। सम्पादन के अन्य स्वीकार्य मानक भी नही अपनाये गये

त्रुटिपूर्ण पाठ के कारण कई स्थलों पर अर्थ मे सगति नहीं बैठती। गाथाओं का गेयात्मकतत्व भी प्रभावित हुआ है। प्राचीन पारम्परिक सिद्धान्त ग्रन्थों की भाषा को बाद मे लिखे गये व्याकरण एव छन्दशास्त्र के अनुसार परिवर्तित करना सम्पादन नियमो के विरुद्ध है। इससे प्राचीन भाषा का स्वरूप एवं स्वभाव विकृत होता है।

अब तक नियमसार के 15 संस्करण उपलब्ध हुए है। इस मूल प्राकृत पाठ को तैयार करने में इनका उपयोग किया गया है। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य सस्करणो की भी जानकारी मिली है। उन्हें प्राप्त करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

उक्त संस्करण सस्कृत टीका, हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती या मराठी अनुवाद के साथ प्रकाशित हैं। नियमसार के हिन्दी और गुजराती पद्यानुवाद भी हुए हैं। 1916 ई० प्रथम सस्करण मे एक पाण्डुलिपि का उपयोग हुआ है। सोनगढ़ से 1951 में प्रकाशित गुजराती संस्करण में तीन पाण्डुलिपियों की सूचना है। उनका परिचय वहां उपलब्ध नही है। बाद के सस्करणों में पाण्डुलिपियों का उपयोग नही किया गया। किसी भी संस्करण मे पाण्डुलिपियों की सूचना भी नही है।

पिछले दशक मे नियमसार के सर्वाधिक प्रकाशन हुए हैं। कुन्दकुन्द का द्विसहस्राब्दि समारोह भी दो वर्ष तक मनाया गया, किन्तु कहीं से भी कुन्दकुन्द के ग्रन्थो के प्रामाणिक सस्करण तैयार करने की योजना सामने नही

आई : आश्चर्य इस बात का है कि कुन्दकुन्द के नाम पर स्थापित संस्थाओं द्वारा भी इस दिशा में प्रयत्न नही किये गये ।

नियमसार के पहले संस्करण मे मूल प्राकृत गाथाएं दो बार छपी हैं। उन दोनो मे भी पाठ भिन्नता है। उदाहरण के लिए कुछ पाठ इस प्रकार है—

गाथा संख्या	I	II
117	वरतवचरणा	वरतवचरण
119	परिहाण	परिहारं
130	जेण्ह	जोण्ह
142	कम्भ वावस्सयति	कम्भमावासयंति
147	कुणदि	कुणहि
153	सज्झाउं	सज्झाओ
167	पच्छतस्स	पेच्छतस्स
169	किल दूमण होदि	किं दूसणं होई
,,	णेव	णेग
185	पुव्वावरविरोधो जदि	पुव्वावरयविरोहो
,,	समयग्गा	समयण्हा

सभी संस्करणो मे पारम्परिक रूप से कुछ पाठ अशुद्ध छपते आ रहे हैं। इस ओर अभी तक किसी का ध्यान नही गया। यहा कुछ पाठ एव उनके स्थान पर संभावित पाठ दिये जा रहे है—

गाथा संख्या	मुद्रित पाठ	सम्भावित पाठ
(1)	(2)	(3)
5	अत्ता, अत्तो	अप्पा
6	छुहतण्हभीरूरोसो	छुहतण्हाभीरोसो
32	चावि	भावि
32	सपदा, सपदी	सपया
72	जे एरिसा	एदेरिसा
77,78,79,80,81	कत्तीर्ण	कत्ताण
95	मसुह	असुह
97	णवि मुच्चइ	ण विमुच्चइ
114	पूरी गाथा	—
115	खुए चद्दुविहकसाए	खु चहुविहे कसाए
118	समज्जिय	य अज्जिय
135	मोक्खंगप	मोक्खगयं
137,138	किह, कह	कह
140	घरू	घर
141	पिज्जुत्तो, पज्जुत्तो, णिज्जुत्ती, मणेइ मणति	
142	णिज्जेत्ती, वावस्सयं	णिज्जुदी, वावस्सयं आवस्सयं
141,146,147	आवास	आवस्स
144,149	आवासय	आवस्सय
156	मणंति	मणेइ
147	सामण्णगुण	सामाइयगुणं
155	पडिक्कमणादिय	पडिक्कणादी
158	पडिवज्ज य	पडिवज्जिय
165	णिच्छयणयएण	णिच्छयणएण
166,169	दूसण	दंसण
170	णवि जाणदि	ण विजाणदि
171	अप्पगो	अप्पणो
175	साकट्ठ	सा अक्खं
179,180,191	य होइ	हवदि
181	झाणे	झाण

नियमसार की 30 प्राचीन पांडुलिपियों की जानकारी अभी मिली है। शास्त्र भडारो के सर्वेक्षण का कार्य चल रहा है। राजस्थान के शास्त्र भडारो से चार पांडुलिपियों की जीरावस कापियां प्राप्त हो चुकी है। शेष के लिए प्रयत्न किए जा रहे हं।

प्रस्तुत सम्पादन योजना मे सर्वप्रथम ग्रन्थ का मूल प्राकृत पाठ तैयार किया जायेगा। इसका सर्वाधिक प्रशस्त आधार प्राचीन पांडुलिपियां होगी। उत्तर और दक्षिण भारत में अलग-अलग समय में पांडुलिपियां लिखी गई हैं। इनमे देवनगरी एव कन्नड़ लिपि की पाडुलिपियां प्रमुख हैं। देश-विदेश मे उपलब्ध सभी पांडुलिपियों का सर्वेक्षण किया जा रहा है। परीक्षण के बाद सर्वाधिक महत्वपूर्ण एव प्राचीन प्रतियो का उपयोग किया जायेगा।

नियमसार की कतिपय गाथाएं कुन्दकुन्द के अन्य ग्रन्थो मे यथावत् प्राप्त होती है। कुछ किंचिद् शब्द परि-

वर्तन के साथ मिलती है। विषयवस्तु की दृष्टि से उनमें साम्य है। अन्य दिगम्बर-श्वेताम्बर ग्रन्थों मे भी कतिपय गाथाएं उपलब्ध हैं। मूल पाठ सशोधन में इस सामग्री के समुचित उपयोग का ध्यान रखा जायेगा।

नियमसार मे कुछ प्राचीन पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग पारम्परिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। कुछ का विषय-वस्तु की दृष्टि से उल्लेखनीय है। ऐसे शब्दों को सैकड़ों वर्ष पश्चात् निर्मित व्याकरणशास्त्र एवं छन्दशास्त्र के नियमों के अनुरूप नहीं बनाया जा सकता। भाषाशास्त्र की दृष्टि से भी यह उपयुक्त नही है।

मूल प्राकृत पाठ के संशोधन में उक्त सभी तथ्यो का ध्यान रखा जायेगा। इसके साथ प्राकृत भाषा एवं विषय के अधिकारी विद्वानों का भी यथासम्भव सहयोग प्राप्त किया जायेगा। सम्पादित पाठ के अनुरूप हिन्दी और अंग्रेजी अनुवाद किये जायेंगे।

प्रस्तावना मे सम्पादन सामग्री का परिचय होगा। इसमें सम्पादन मे प्रयुक्त ताडपत्रीय पांडुलिपियो; हस्त-लिखित कर्गलीय पांडुलिपियो तथा प्रकाशित सस्करणों का विवरण मुख्य है। अद्यावधि ज्ञात अन्तर्बाह्य साक्ष्यो के आधार से कुन्दकुन्द के समय एव कृतियो पर विचार होगा। टीकाकार के विषय में भी विचार किया जायेगा। भाषाशास्त्रीय दृष्टि से ग्रन्थ का अध्ययन समाविष्ट होगा। साथ में नियमसार की गाथाओ का भाषा एवं विषयवस्तु की दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन किया जायेगा। कुन्द-कुन्द के अन्य ग्रन्थों में तथा दिगम्बर-श्वेताम्बर ग्रन्थों में यथावत् या किंचिद् शब्द परिवर्तन के साथ उपलब्ध एवं विषयवस्तु की दृष्टि मे साम्य रखने वाली नियमसार की गाथाओं का अध्ययन प्रस्तुत किया जायेगा।

प्रकाशित एक भी संस्करण में शब्दकोश नहीं है। इसलिए परिशिष्ट मे नियमसार का सम्पूर्ण प्राकृत शब्द-कोश दिया जायगा। पारिभाषिक शब्दों का विश्लेषण पृथक् रूप से प्रस्तुत किया जायेगा। मूलगाथानुक्रमणिका, संस्कृत टीका के पद्यों की अनुक्रमणिका एव विशिष्ट सामग्री के स्वतन्त्र परिशिष्ट होंगे।

उपर्युक्त तथ्यों के साथ नियमसार की प्राकृत गाथाओं को आपके समक्ष प्रस्तुत करते हुए विनम्र निवेदन है कि आपकी दृष्टि मे जो प्राकृत पाठ विचारणीय लगते हो, उन्हे रेखांकित कर दें। उन पाठो को जांचने और शुद्ध करने के लिए उपयुक्त स्थल-सामग्री सुझायें तथा परम्परा-गत शास्त्रो के अपने व्यापक अध्ययन के आधार पर सम्भावित पाठ भी सुझावे। सम्पादन योजना के विषय मे सुझाव विस्तार मे स्वतन्त्र रूप से अंकित करने की कृपा करें। आपके सहयोग और मार्गदर्शन को हम अत्यन्त महत्वपूर्ण मानते हैं और उसका आदर पूर्वक उल्लेख करेंगे।

—सं० स० वि० वि० वाराणसी

जिनवाणी की रक्षा का उपाय

श्रुतकेवली गणधर देव और परम्परित, ज्ञानी, प्राचीन मान्य परम दिगम्बराचार्य पूर्ण अपरिग्रही —राग-विरोधरहित होने से वस्तु तत्त्व का यथार्थ वर्णन कर सके। हमें उनके वचन प्रमाण करने चाहिए और शास्त्र की गद्दी पर उन्हीं का वाचन करना चाहिए।

आजकल यश या द्रव्य-अर्जन के लिए पुस्तकों के रूप में पक्षपातपूर्ण बहुत कुछ (अपनी समझ से) लिखने की परिपाटी चल पड़ी है और परीक्षा दुष्कर है। अतः आधुनिक लेखकों की पुस्तकें गद्दी पर स्वीकार नहीं की जानी चाहिए। जिनवाणी के संरक्षण का यह एक उपाय है।

अहार का शान्तिनाथ प्रतिमा लेख

□ डा० कस्तूरचन्द्र 'सुमन' एम० ए० पी-एच० डी० काव्यतीर्थ

भारतीय इतिहास में अभिलेखों का अनूठा योगदान रहा है। अभिलेखों की प्रामाणिकता उनके मौलिक स्वरूप में ही प्राप्त होती है और उनका अन्त: परीक्षण भी उनकी मौलिक स्थिति से ही होता है। जिनमे काल का निर्देश नहीं होता उनका काल निर्णय लिपि और लेखन शैली से हो किया जाता है। अब तक जो जैन अभिलेख संग्रह प्रकाश में आये है, उनमे लेखकों ने उनके मौलिक रूप को प्रकट नही होने दिया है। अभिलेखों म लेखकों ने अपनी छाप लगा दी है। अभिलेखों से मूललेख की पंक्ति के अन्त और आरम्भ का बोध नही होता। प्राचीन अभिलेखों मे सरेफ वर्ण द्वित्व वर्ण में प्रयुक्त हुए है। इसी प्रकार स्थान की बचत करने के लिए प्राचीन अभिलेखों में अनुनासिकों के स्थान मे अनुस्वार का प्रयोग हुआ है। ख वर्ण के लिए 'ष' तथा श और ष वर्णों के लिए स वर्ण के प्रयोग भी द्रष्टव्य है। इन विशेषताओं का प्रकाशित अभिलेखों मे अभाव है।

अत: प्रस्तुत अभिलेख मे अभिलेख का मौलिक स्वरूप रखा गया है। शुद्ध रूप कोष्टक के भीतर दिये गये है जिससे मौलिक और शुद्ध दोनो रूप पाठकों को प्राप्त होगे। अभिलेख के साथ ही अभिलेखीय अन्य सामग्री की अपेक्षित विवेचना भी दी गई है। इससे अभिलेख के माध्यम से प्राचीन इतिहास को जानने समझने मे भी सुविधा होगी ऐसा मेरा विश्वास है।

प्रामाणिक रूप से अहार का अतीत निम्न पंक्तियों मे द्रष्टव्य है—

अहार शान्तिनाथ-प्रतिमालेख मूलपाठ

पंक्ति 1. ओं नमो वीतरागाय ।। ग्र (गृ) हपतिवशसरोरुह सह (कमल-पुष्प) स्र रस्मि: (रश्मि:) सहस्रकूट य: । वाणपुरे व्यधिनाशी (सी) स्री (श्री) मानि—

पंक्ति 2. द्व देवपाल इति ।।1।। श्री रत्नपाल इति तत्तनयो (कमल-पुष्प) वरेण्य: पुण्यैक मूर्तिरभवद्वसुहाटिकायां (म्)। कीर्तिज्जंग त्र (य)- -

पंक्ति 3. परिभ्रणस्स (श्र) मार्त्ता यस्यस्थिरराजनि जिनायतन (कमल-पुष्प) च्छलेन ।।2।। एकस्तावद नूनवृद्धिनिधिना स्री (श्री) शान्ति चैत्या ल—

पंक्ति 4. यो दिष्टया (दृष्ट्या) नंद (नन्द) पुरे पर: परनर.नंद (नन्द) पद: स्री (श्री मता। येन स्री (श्री) मदनेस (श) सा (कमल-पुष्प) गरपुर तज्जन्मनो निर्म्मिमे सोय (सोऽयं) स्रे (श्रे) ष्ठि वरिष्ठ रल्हणा इति स्री (श्री रल्हणाख्याद्—

पंक्ति 5. ।।3।। तस्माद आयत कुलाम्बर पूर्णचंद्र (चन्द्र:) स्री (श्री) जाहडस्तदनुजोद (कमल-पुष्प) य चंद्र (चन्द्र) नामा। एक: परोपकृति हेतु कृतावतारो धर्म्मात्मिक: पुनरमो।

पंक्ति 6. घ सुदानसार: ।।4।। ताभ्यामसे (शे) ष दुरितौघ स (श) मैक हेतु (तु) निर्म्मा (कमल-पुष्प) पित भुवनभूषण भूतमेतत्। स्री (श्री) शान्ति चैत्य मति (मिति) नित्य सुख प्रदा—(नात्)

पंक्ति 7. मुक्ति स्रि (श्रि) यो वदनवीक्षण लोलुपाभ्याम् ।।5।। छ छ छ ।। (कमल-पुष्प) सवत् 1237 मार्ग्ग सुदि 3 सू (शु) क्रे स्रो (श्री) मत्परमाडिदेव परर्माद्धिदेव) विजयराज्ये—

पंक्ति 8. चंद्र (चन्द्र) भास्कर समुद्रतारका यावदत्र जनचित्तहारका। धर्म्म ।। (कमल-पुष्प) रि कृत सु (शु) द्ध कीर्त्तन तावद (दे) व जयतात्सुकीर्त्तनम् ।। (6)

पंक्ति 9. वाल्हणस्य सुत: स्री (श्री) मान् रूपकारो महामति। पा (कमल-पुष्प) पटो वास्तु सा (शा) स्त्रज्ञस्तेन विवं (बिम्ब) सुनिर्म्मित (तम्)।। (7)।।

छन्द-परिचय

इस अभिलेख के प्रथम श्लोक में आर्या दूसरे, चौथे, और पांचवें श्लोकों मे वसन्ततिलका, तीसरे श्लोक मे शार्दूलविक्रीडित, छठे श्लोक मे रथोद्धता और सातवें श्लोक में अनुष्टुप छन्द है।

पाठ टिप्पणी

1. मूलपाठ में न और म वर्णों के स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग हुआ है।

2. श के स्थान में स और स के स्थान मे श के प्रयोग भी हुए हैं।

3. श्री तीन प्रकार से लिखा गया है—श्री, श्री और स्री।

4. ई स्वर की मात्रा वर्ण के ऊपर घुमावदार आकृति लिए है। वर्ण की ऊपरी आड़ी रेखा से संयुक्त नही है।

5, घ वर्ण मे उ स्वर की मात्रा अन्य वर्णों के समान नीचे संयुक्त की गई है।

6. 'ए' स्वर की मात्रा के लिए वर्ण के पहले एक खड़ी रेखा का व्यवहार हुआ है।

7. ध और च वर्ण व वर्ण की आकृतिक लिए हैं।

8. श वर्ण ल वर्ण की आकृति में अंकित है।

9. ब के स्थान में 'व' वर्ण का प्रयोग हुआ है।

10. सरेफ वर्ण द्वित्व वर्ण में अंकित हैं।

11. पांचवें श्लोक के अन्त मे 'एज' शब्द अनावश्यक प्रतीत होता है।

भावार्थ

श्लोक 1. वीतराग (देव) के लिए नमस्कार है। जिन्होंने बानपुर में सहस्रकूट चैत्यालय बनवाया वे गृहपति वंश रूपी कमलों को प्रफुल्लित करने के लिए सूर्य स्वरूप देवपाल यहां (इस नगर मे हुए।

श्लोक 2. उनके बसुहाटिका नगरी मे पवित्रता की मूर्ति एक रत्नपाल नामक पुत्र हुए जिनकी कीर्ति तीनों लोकों में परिभ्रमण करने के श्रम से थककर जिनायतन के बहाने स्थिर हो गई :

श्लोक 3. श्री रल्हण (रत्नपाल) के श्रेष्ठियों मे प्रमुख श्रीमान् गल्हण का जन्म हुआ : वे समग्रबुद्धि के निधान थे ; उन्होने श्री शान्तिनाथ तीर्थंकर का एक चैत्यालय नन्दपुर में और सभी लोगों को आनन्द देनेवाला दूसरा चैत्यालय अपने जन्म स्थान श्री मदनेशसागरपुर मे बनवाया था।

श्लोक 4. उनके कुल रूपी आकाश के लिए पूर्णचन्द्र के समान श्री जाहड उत्पन्न हुए। उनके छोटे भाई उदयचन्द्र थे। उनका जन्म प्रधानता से परोपकार के लिए हुआ था। वे धर्मात्मा और अमोघदानी थे।

श्लोक 5. मुक्ति रूपी लक्ष्मी के मुखावलोकन के लोलुपी उन दोनों भाइयो के द्वारा समस्त पापों के क्षय का कारण, पृथिवी का भूषण-स्वरूप शाश्वत् सुख को देनेवाला श्री शान्तिनाथ भगवान का बिम्ब निर्मित कराया गया।

सम्वत् 1237 अगहन सुदी 3, शुक्रवार श्रीमान् परमर्द्दिदेव के विजय राज्य मे।

श्लोक 6. इस लोक मे जब तक चन्द्रमा, सूर्य, समुद्र और तारागण मनुष्यों के चित्तो का हरण करते हैं तब तक धर्मकारियो का रचा हुआ सुकीर्तिमय यह सुकीर्त्तन विजयी रहे।

श्लोक 7. वाल्हण के पुत्र महामतिशाली मूर्ति-निर्माता और वास्तुशास्त्र के ज्ञाता श्रीमान् पापट हुए। उनके द्वारा इस प्रतिमा की रचना की गई।[1]

अभिलेख में उल्लिखित नगर

बाणपुर-इस नगर का नाम प्रस्तुत प्रतिमा-लेख की प्रथम पंक्ति मे आया है, जिसमे बताया गया है कि श्रीमान् देवपाल ने यहां सहस्रकूट चैत्यालय निर्मित कराया था।

यह स्थान मध्यप्रदेश के टीकमगढ से अठारह मील दूर पश्चिम मे बाणपुर ग्राम के शहर रोड से किनारे आज भी स्थित है। डा० नरेन्द्रकुमार टीकमगढ़ के सौजन्य से 15/11/90 के प्रातः इस सहस्रकूट के दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

यह चैत्यालय सात भागो में विभाजित रहा है। ऊपरी सातवां भाग नही है। प्रतिमाओं की गणना करने पर उनकी 1000 संख्या पूर्ण न होने पर यह संभावना तर्क संगत प्रतीत हुई। ऊपरी अंश की अपूर्णता से भी यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

डा० नरेन्द्रकुमार जी के सहयोग से पद्मासन और

खड्गासन प्रतिमाओं की निम्न प्रकार गणना की गई। पूर्व, पश्चिम और दक्षिण दिशाओं मे कुल 239-239 प्रतिमाएं हैं। ऊपर से नीचे छह खण्डो मे वे इस क्रम में हैं—23, 63, 64, 43, 33 और 13 कुल 239। उत्तर की ओर कुल 207 प्रतिमाएं विराजमान है। ये प्रतिमाए ऊपर से नीचे छह खण्डों में इस क्रम में विराजमान हैं—23, 67, 64, 31, 3 और 13। चारों दिशाओं की कुल 924 प्रतिमाएं हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सातवें भाग में चारों ओर 16-16 प्रतिमाएं रही है।

पूर्व और दक्षिण की ओर मध्य में स्थित प्रतिमा के ऊपर पांच फणवाला सर्प अंकित है अत: वे प्रतिमाए तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ की कही जा सकती हैं। पश्चिम मे चन्द्रप्रभ और उत्तर में नेमिनाथ तीर्थंकरों की प्रतिमाए हैं। यहां वायीं ओर दो पंक्ति का लेख है—

1. अनेकान्त, वर्ष 9, किरण 10, पृष्ठ 384-385 से साभार।

1. यांगलि······पोहिणी वाहिणि
2.·········(अपठनीय)

दायीं ओर एक पंक्ति का लेख है जिसमे सम्वत् 1009 पढ़ने में आता है। यह सम्वत् 1109 होना भी सभावित है।

यहा आदिनाथ, भरत और बाहुबलि की खंडित प्रतिमायें भी हैं एक फलक पर आदिनाथ प्रतिमा की बायी ओर बाहुबलि और बायी ओर भरत-प्रतिमा है। एक शिलाखंड पर आदिनाथ की मुख्य प्रतिमा सहित 53 प्रतिमायें अंकित है। प्रतिमाओं की सख्या से इस शिलाखंड पर नन्दीश्वर द्वीप के 52 जिनालयो की स्थापना की गई प्रतीत होती है। अन्य अनेक प्रतिमायें है। यह स्थान दर्शनीय है।

वसुहाटिका—इस स्थली मे सभवत: मदनेशसागरपुर नगर का मुख्य बाजार था। रत्नपाल के पिता देवपाल यहीं रहते थे। संभवत: वे अपने समय के धार्मिक पुरुष थे। पं० अमृतलाल शास्त्री ने चन्देल मदनवर्मदेव को नष्ट भ्रष्ट राजधानी का यह नाम बताया है।[1] परन्तु राजधानी के नष्ट भ्रष्ट हो जाने से नगर के नामो में परिवर्तन हुआ नही पढ़ा गया अत: शास्त्री जी का कथन तर्कसगत प्रतीत नहीं होता है यह मदनेशसागरपुर के किसी वार्ड का नाम या मुख्य बाजार का ही नाम रहा प्रतीत होता है।

मदनेशसागरपुर—प्रस्तुत अभिलेख मे शान्तिनाथ-चैत्यालय के निर्माता गल्हण को इस नगर का निवासी बताया गया है। बारहवी शताब्दी में यहां चन्देल मदन वर्मा का शासन था। उसने यहां एक तालाब बनवाया था जिसका नामकरण उसने अपने नाम पर किया था जो आज भी 'मदनसागर' के नाम से जाना जाता है। मदन वर्मा की संभवत: यह नगर राजधानी थी। वसुहाटिका और अहार इसी के नाम है।[1] गल्हण के बाबा वसुहाटिका में और पिता इस नगर मे रहते थे। दोनों में दूरी संभवत: विशेष नहीं थी। लश्कर-ग्वालियर के समान दोनों निकटवर्ती रहे प्रतीत होते हैं।

नन्दपुर—प्रस्तुत प्रतिमालेख के तीसरे श्लोक में गल्हण द्वारा यहां शान्तिनाथ चैत्यालय बनवाया जाना बताया गया है।

अहार के समीपवर्ती नगरो और ग्रामों में नावई (नवागढ़) एक ऐसा स्थान है जहां बारहवीं शताब्दी की कला से युक्त शान्तिनाथ प्रतिमा विराजमान है। अत: नावई को नन्दपुर से समीकृत किया जा सकता है और नावई का ही पूर्व नाम नन्दपुर माना जा सकता है।

अहार का समीपवर्ती होने से नारायणपुर को भी नन्दपुर से समीकृत किया जा सकता है क्योंकि वहाँ इस काल के आज भी अवशेष विद्यमान हैं। यद्यपि यहां सम्प्रति शान्तिनाथ प्रतिमान मन्दिर मे विद्यमान नहीं है चन्द्रप्रभ प्रतिमा है परन्तु शान्तिनाथ प्रतिमा के विराजमान रहे होने की संभावना को नकारा नहीं जा सकता है।

प्रतिमा-परिचय

परिकर—खड्गासन मुद्रा में विराजमान इस शान्तिनाथ प्रतिमा की हथेलियों के नीचे सौधर्म और ईशान स्वर्गों के इन्द्र चंमर ढोरते हुए सेवा रत खड़े हैं। बायीं ओर का इन्द्र चंमर दायें हाथ में और दायीं ओर का इन्द्र बायें हाथ में लिए है। दोनो इन्द्र आभूषणों से भूषित हैं। उनके सिर मुकुटवद्ध है। कानों में गोल कुंडल हैं। गले में दो-दो हार धारण किये हैं। प्रथम हार पांच लड़ियों का और दूसरा हार तीन लड़ियों का है। एक हार वक्षस्थल तक आया है और दूसरा हार वक्षस्थल के नीचे से होकर पृष्ठ भाग की ओर गया है। इनके हाथों में कंगन

और बाहुओं में भुजबन्ध है। कटि प्रदेश में मेखला है जिसमें छोटी छोटी घंटिकायें लटक रही हैं। पैरों में तीन-तीन कड़े और पायल धारण किये हैं।

इन इन्द्रों के नीचे दोनों ओर एक-एक पुरुषाकृति अंकित है। ये दोनों पुरुष रत्नाभरणों से विभूषित हैं। इनके सिरों पर तारांकित किरीट हैं। कानों में गोल कुंडल हैं। बाहुओं मे भुजबन्धन और हाथों में कंगन धारण किये हैं। इनके कटि प्रदेश में मेखला भी अंकित है। दोनो हाथों में ये पुष्प धारण किये हैं। इनके हार नाभि प्रदेश का स्पर्श कर रहे हैं। इनकी नुकीली मूंछे और दाढ़ी भी है। वेश-भूषा से दोनों कोई राजकुमार या श्रेष्ठी पुत्र प्रतीत होते हैं। पं० बलभद्र जैन ने इन्हें शान्तिनाथ-प्रतिमा के निर्माता जाहड़ और उदयचन्द्र की प्रतिमायें होने की उद्घोषणा की है जो तर्क संगत प्रतीत होती है।

आसन

प्रतिमा जिस आसन पर विराजमान है उसके मध्य में चार इंच स्थान मे चक्र उत्कीर्ण है। इसमे बाईस आरे हैं। आरों के मध्य से एक रेखा नीचे की ओर जाती हुई अंकित है। संभवतः चक्र के दो आरे इस रेखा मे विलीन हो गये हैं। आरों की संख्या चौबीस ही रही ज्ञात होती है। इस चक्र की दोनों ओर आमने-सामने मुख किये चिह्न स्वरूप दो हरिण अंकित हैं। वे पूछ ऊपरकी ओर उठाए हुए हैं। आगेके पैर मुड़ हुए है। मुख और शीर्ष भाग खडित है।

चिह्न स्थल के नीचे 9 इच चौड़े और 31 इंच लम्बे पाषाण खंड पर संस्कृत भाषा और नागरी लिपि मे 9 पंक्ति का लेख उत्कीर्ण है जो प्रस्तुत लेख के आरम्भ मे ही बताया जा चुका हैं। इस अभिलेख की प्रत्येक पंक्ति एक इंच के स्थान मे है। सातवी पंक्ति का आरम्भिक अंश भग्न है। अभिलेख के मध्य मे एक पुष्प अंकित है। क्षेत्र के मंत्री डा० कपूरचन्द्र जी टीकमगढ़ इस अभिलेख को आज भी सुरक्षित रखे हुए है। उनका धार्मिक-स्नेह सराहनीय है'

प्रतिमा-परिचय

यह भव्य प्रतिमा 22 फुट 3 इंच ऊंचे और 4 फुट 7 इंच चोड़े देशी पाषाण के एक शिलाखण्ड से खड्गासन मुद्रा में शिल्पी पापट द्वारा निर्मित की गई थी। इसकी अंगूठे से सिर तक की अवगाहना 16 फुट 8 इंच है। आसन की ऊंचाई 19 इच है। आसन सहित प्रतिमा की अवगाहना 18 फुट 3 इंच है। प्रतिमा पर मटियाले रंग का चमकदार पालिश है। यह प्रतिमा भी आततायियों की क्रूर दृष्टि से ओझल न हो सकी। इसका बाहुभाग व दायां हाथ, नासिका और पैरों के अंगूठे खण्डित कर दिये गये थे जो नये बनवाकर जोड़े गए है। पं० पन्नालाल शास्त्री साढूमलवालों ने 72 तोला पन्ना प्राप्त करके पालिश करायी थी[1] किन्तु पालिश का पूर्व पालिश से मिलान नही हो सका है। जोड स्पष्ट दिखाई देते है। सिर के केश घुघराले है। हथेलियों पर कमल पुष्पों का सुन्दर अंकन हुआ है।

प्रतिमा इतनी मनोज्ञ है कि जो एक बार दर्शन कर लेता है वह आकृष्ट हुए बिना नही रहता। उसको दर्शनाभिलाषा कम नही होती। इस शताब्दी के अद्वितीय सन्त परम पूज्य गणेशप्रसाद जी वर्णी ने इस प्रतिमा के दर्शन करके इस प्रतिमा को उत्तर भारत का गोमटेश्वर कहा था। प्रसिद्ध सन्त आचार्य विद्यासागर महाराज को आकृष्ट होकर यहां जंगल में चातुर्मास स्थापित करना पड़ा। इसकी मनोज्ञता देखते ही बनती है।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

वर्तमान मे यह प्रतिमा अहार (टीकमगढ़) क्षेत्र मे मन्दिर सख्या एक के गर्भालय मे विराजमान है। यह मन्दिर सर्वाधिक प्राचीन मन्दिर है। यहाँ शान्तिनाथ-प्रतिमा के विराजमान होने से यह शान्तिनाथ-मन्दिर के नाम से विश्रुत है।

यह स्थान अतीत मे वैभव और समृद्धि का केन्द्र रहा है। समय ने करवट बदली। यह जन शून्य हो गया। यहा सघन वन हो गया। जगली क्रूर पशु रहने लगे।

ईसवी 1884 मे स्व० बजाज सबदलप्रसाद जी नारायणपुर तथा वैद्यरत्न प० भगवानदास जी पठा ढड़कना (अहार का पूर्व नाम) आये। यहाँ सर्व प्रथम उन्हें लकड़हारों और चरवाहों से विदित हुआ था कि समीपवर्ती जगल मे एक टीले के खण्डहर मे एक विशालकाय प्रतिमा है जिसे लोग 'मूडादेव' के नाम से पूजते हैं। दोनो व्यक्ति अनेक ग्रामवासियो को लेकर वहाँ गये। मसालें जलाकर उन्होने खण्डहर मे प्रवेश किया और इस प्रतिमा

के दर्शन किये। प्रतिमा देखकर दोनों व्यक्ति हर्षविभोर हो गये। इस स्थान के विकास के लिए दोनो ने समीपवर्ती जैनो को आमन्त्रित किया और कार्तिक कृष्ण द्वितीया मेले की तिथि निश्चित की तथा मेला भरवाया। इनके मरणोपरान्त इनके पुत्रों ने क्षेत्र को सम्हाला। श्री बजाज बदलीप्रसाद जी सभापति और पं० बारेलाल जी पठा मंत्री बनाये गये। ईसवी 1919 से ईसवी 1981 तक श्री पं० बारेलाल जी ने लगातार 52 तक क्षेत्र की सेवा की। क्षेत्र का बहुमुखी विकास हुआ। पं० बारेलाल जी के मरणोपरान्त उनके ज्येष्ठ पुत्र डा० कपूरचन्द्र जी टीकमगढ़ मंत्री बनाये गए जो आज भी तन मन धन से सेवा-रत है।

जहाँ यह प्रतिमा प्राप्त हुई वह स्थान 6 फुट गहरा इसमें दो प्रवेशद्वार थे। एक दरवाजे की दोनो ओर दो कमरे थे। एक कमरा बीच मे था। एक कमरे मे तलघर था। मन्दिर की चारो ओर दालान थी जिसमे तीन ओर की दालान गिर गई थी। इस खण्डहर की खुदाई मे 29 मनोज्ञ प्रतिमायें निकली थी जो क्षेत्रीय सग्रहालय मे विराजमान है।

मन्दिर की शिखर के पूर्वी भाग मे निर्मित गन्धकुटी मे खड्गासन मुद्रा मे एक प्रतिमा विराजमान है। इसके केश घुघराले है। स्कन्ध भाग से इसके हाथ खण्डित है जो बाद मे जोड़े गए है। प्रतिमा की दोनो ओर सूड उठाए एक-एक हाथी की प्रतिमा है। हाथियों के नीचे उड़ते हुए मालाधारी देवाकृतियां है। इन देवो के नीचे चमरवाही इन्द्र सेवा मे खडे है। इन दोनो इन्द्रो के नीचे दोनो ओर एक-एक उपासकों की करबद्ध प्रतिमायें है। आसान पर अलंकरण स्वरूप पूर्व की ओर मुख किये दो सिहाकृतियां भी अकित की गई है। चिह्न का अकन भी किया गया है किन्तु दूर से देखने के कारण पहिचाना नही जा सका। छत के पास शिखर का पूर्व-पश्चिम भाग 19 फुट 10 इंच तथा उत्तर-दक्षिण भाग 70 इच चौड़ा है। मन्दिर का निर्माण पत्थर से हुआ है।

सभवतः इस मन्दिर का निर्माण शान्तिनाथ प्रतिमाप्रतिष्ठा काल सम्वत् 1237 मे हुआ था। प्रतिमा निर्माण के साथ-साथ इसका भी निर्माण हुआ। गल्हण इसके निर्माता थे।

प्राप्ति स्थल

यह स्थान मध्यप्रदेश के टीकमगढ जिले में टीकमगढ से 20 किलो मीटर दूर पूर्व की ओर मदनसागर के तट पर स्थित है। पक्के रोड से जुड़ा है। बल्देवगढ, छतरपुर जानेवाली बसे इसी स्थान से होकर जाती हैं।

प्रस्तुत प्रतिमालेख से ज्ञात होता है कि यह स्थान सम्वत् 1937 मे चन्देल राजा परमर्द्धिदेव के राज्य में था। इसका शासन काल ईसवी 1166 से ईसवी 1203 तक रहा बताया गया है। यह इस वश का अन्तिम महान् नरेश था। परिस्थितियो से विवश होकर ईसवी 1203 में इसने कुतुबुद्दीन ऐबक की आधीनता स्वीकार कर ली थी।

इस शासक के राज्य काल तक यह क्षेत्र समृद्धिमय बना रहा। इसके पश्चात् समय ने करवट बदली इसका पतन आरम्भ हुआ और वह इतनी पराकाष्ठा पर जा पहुचा कि लोग स्थान छोड़ने के लिए विवश हो गए। फलस्वरूप यह स्थान निर्जन हो गया। मन्दिर ध्वस्त होकर खण्डहर बन गया और नगर के स्थान मे वृक्ष हो गए। यह स्थान जगल बन गया। क्रूर पशु रहने लगे थे।

प्रकृति का नियम है कि वस्तु का समय एक-सा नही रहता। उत्थान के बाद पतन और पतन के बाद उन्नति होती ही है। समय आया। इस स्थान का भी परिवर्तन हुआ और इतना हुआ कि जगल मे मगल हो गया।

क्षेत्र को मनोज्ञ बनाने मे वर्तमान मंत्री श्री डा० कपूरचन्द्र जी और बजाज मूलचन्द्र जी नारायणपुर वालो के पूर्वजो का विशेष योगदान रहा है। साहू शान्तिप्रसाद जी ने मन्दिर का जीर्णोद्धार कराकर प्रगति में चार चाँद लगाये हैं। मंत्री डा० कपूरचन्द्र जी टीकमगढ की समर्पण भाव से की जा रही क्षेत्रीय सेवायें सराहनीय है।

दानवीरों से कामना करता हू कि इस क्षेत्र को आर्थिक सहयोग देकर अपनी लक्ष्मी का उपयोग अवश्य करें। इस क्षेत्र के दर्शन और क्षेत्र को दिया गया आर्थिक योगदान विशेष पुण्यकारी होगा। अपूर्व शान्ति प्राप्त होगी ऐसा मेरा विश्वास है।

धवल पु० ४ का शुद्धिपत्र

निर्माता—जवाहरलाल मोतीलाल बकतावत; भीण्डर (राज०)

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१९८	१०	देवराशि	देयराशि
१९८	१५	$१६^{अ} — १ = \frac{२७' (जगत्प्रतर)}{१००००० ' \times ३११६}$	$१६^{(अ-१)} = \frac{२७' (जगत्प्रतर)}{१००००० ' \times ३११६}$
१९८	१६	$४^{अ} — १$	$४^{(अ-१)}$
१९८	१९-२०	प्राप्तशलाका मान में से	× × × ×
१९८	२२	लेकर सोलह	लेकर क्षेत्रफलों का अनुपात सोलह
१९८	२८	प्रतिषु 'सुवर्णं' इति पाठः	प्रतिषु सुण्णं इति पाठः।
२००	२४	$=२\left[\frac{१(१६न-१)}{(१६-१)}\right]-\left[\frac{१(४न-१)}{(४-१)}\right]$	$=२\left[\frac{१(१६^{न}-१)}{(१६-१)}\right]-\left[\frac{१(४^{न}-१)}{(४-१)}\right]$
२०५	८	अउत्त।	अउत्तं
२०५	१९	भार्गों से	मार्गों से
२०८	१३	राजुप्रततरूप	राजुप्रतररूप
२११	२७	योनिगती	योनिनी [नोट—इसी प्रकार सर्वत्र अनुवाद में 'योनिमती' का 'योनिनी' करना चाहिए]
२११	३१ (चरम)	तिर्यच	तिर्यञ्च
२१२	१५	हो जा है।	हो जाता है।
२१६	३०	कस्यासंख्येयभागः	लोकस्यासंख्येयभागः
२१८	२६	स्थिर और	स्थित और
२१९	२०	पूर्वोक्त	पूर्वोक्त
२१९	२४	समुचतुरस्त्र	समुचतुरस्र
२१९	३२	वह क्षेत्र के	वह क्षेत्र
२२१	२४	लोक बाहल्य	योजन बाहल्य
२२१	३३	अ-क प्रत्यो	आ-क प्रत्योः
२२२	१६	$\frac{३५७१}{२९०५६}$ राजुप्रतर,	$\frac{३५७९}{२८९२८}$ राजप्रतर
२२२	१९	विश्कम्भ वाले	विष्कम्भ वाले
२२४	१७	नही	नहीं है।
२२५	२८	देवों नेअगम्य	देवों के अगम्य

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२२६	४	तदाफोसणं	तदा फोसणं ?
२२६	३२	× × × ×	१. प्रतिषु "मारणं" इति पाठः।
२२६	३१	ऊपके	ऊपर के
२३०	२७	नहीं होता है ?	नहीं होता है ?
२३१	१५	संख्यात घनांगुल प्रमाण	× × × ×
२३१	१६	संख्यात अगुल प्रमाण,	संख्यात घनांगुल प्रमाण
२३१	१७	घनांगुल बाहल्यवाला और	अंगुल बाहल्य वाला ऐसा
२३१	२५	भवनवासी देवों ने	व्यंतरवासी देवो ने [क्योंकि पृ. २३० की द्विचरमपंक्ति से व्यन्तरदेव प्रकृत हो गये है।]
२३३	१४	नौ योजन बाहल्य	नौ सौ योजन बाहल्य
२३६	१०	द्विदो त्ति	ट्ठिदो त्ति।
२४३	२५	भीतर ही होने	भीतर होते
२४५	२२	साधर्म	साधर्म्य
२४८	१८	$(३\frac{७}{३})$	$(३\frac{४}{७})$
२४८	१९	$(४\frac{६}{७})$	$(४\frac{३}{७})$
२४८	२५	पृथिवों	पृथिवी
२४९	२६	विशेप	विशेष
२६४	२४	सासादनसम्यग्दृप्टि	सासादनसम्यग्दृष्टि
२६४	२५	मनुष्यों का उत्पन्न	मनुष्यों में उत्पन्न
२६७	१३	सम्यद्दृष्टि	सम्यग्दृष्टि
२६८	१६	भी ओघपना	भी इनके ओघपना
२६८	२५	चाहिए। तिर्यग्लोक के	चाहिए; क्योंकि तिर्यग्लोक के
२६९	२	भागो चेव	भागे चेव
२६९	१३	वैक्रियिकमिश्रकाययोगी जोवो का	वैक्रियिकमिश्रकाययोगी असंयतसम्यग्दृष्टि जीवों का
२७१	१	एथ वि	एत्थ वि
२७२	१८	राजुप्रतको	राजुप्रतर को
२७३	१५	दर्शना	वर्शाना
२७६	१६	मिथ्यादृष्टि	मिथ्यादृष्टि
२७६	२३	अर्थात	अर्थात्
२७६	२५	अर्थात	अर्थात्
२७६	२६	आदेश मार्गणा के अन्तर्गत वेदप्ररूपणा मे	'आदेशमार्गणा के अन्तर्गत यहां वेदप्ररूपणा मे" [नोट—कोई अर्थान्तर न समझ ले इस दृष्टि से]

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२८१	११	जेणोघेए	जेणोघेण
२८३	६	सारिच्छेएगत्तं ?	सारिच्छो एगत्त ?
२८६	२७	क्योंकि, लब्धि के	क्योंकि, एक लब्धि के
२९२	२३	उपशमसम्यग्दृष्टि	उपशमसम्यग्दृष्टि
२९२	२३	हुई थी	हुए भी
२९२	२६	साथ उपापद	साथ उपपाद
२९३	२६	क्षेत्र परूपणा	क्षेत्रप्ररूपणा
२९६	२०	डेढ़ राजु पर समाप्त	डेढ़ राजु पर तेजोलेश्या वालों का उप-पाद क्षेत्र समाप्त
२९९	१६	असंख्यातवा	असंख्यातवाँ
३०३	२२	बन जाना है।	बन जाता है।
३०३	२४	असंख्यातवा	असंख्यातवाँ
३०५	१८	छोड़कर पदों के	छोड़कर शेष पदों के
३०७	२२	उपपा पद	उपपाद पद
३०९	३	आहारएसु	अणाहारएसु
३०९	१४	सम्भवित	सम्भावित
३०९	२४	देशोना: । सयोगिकेवलिनां	देशोना: । असयतसम्यग्दृष्टिभि: लोकस्या संख्येय भागः षट्चतुर्दशभागा: वा देशोन: । सयोगि-केवलिनां
३१५	२१	स्वय परिणमित	स्वय (अन्यरूप) परिणमित
३२१	२१	प्रवुत्त	प्रवृत्त
३२४	२६	साविसपर्यवासनश्चेति	सादिसपर्यवसानश्चेति।
३३२	३०	निर्जीणा:	निर्जीर्णा:
३३६	१८	कि क्षय होने वाली सभी राशियो के प्रतिपक्ष सहित पाई जाती हैं।	क्योंकि सभी राशिया प्रतिपक्ष सहित पाई जाती है।
३४५	१४	प्रतिभाग कालसहित	प्रतिभग्न होने के काल सहित
३४६	१६	'सर्वाद्धा'	"सव्वद्धा"
३५४	१६	एकसमय की	उत्कृष्टकाल की (अन्तर्मुहूर्त की)
३६५	२१	हो गया। पुनः	हो गया, अथवा
३७२	२७	मिथ्यादृष्ठे	मिथ्यादृष्टे
३८३	१८	उद्वर्तनाघात से	अपवर्तनाघात से
३८६	१०	असंखेज्जासंखेज्जाणि	असंखेज्जासखेज्जाणो
३८६	२७	प्रतर, पल्य	प्रतरपल्य
४१७	३	पोग्गलपरियट्टेसुप्पण्णेसु	पोग्गलपरियट्टेसु पुण्णेसु [एकेन्द्रियेषु आवल्यसंख्येयभागप्रमितपुद्गल-परिवर्तन: अनन्तकालात्मक: परिभ्रमणकाल: । (दृष्यताम् पृ. ३८८ 'सूत्र १०९' इत्यस्य धवला टीका)]

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४१७	१५	शेष रहने पर	पूर्ण होने पर
४२०	१६	अपने योग के	अपने गुणस्थान के
४२२	१८	मूहूर्त के	मुहूर्त के
४२२	२२	उदय में आये	उपार्जित किये
४३४	२९	प्रदेश पर	स्थान (सीमा या तल) पर
४३७	१३	और	या
४४५	६	णिरयगदीएण	णिरयगदीए ण
४४५	७	मणुसगदीएण	मणुसगदीए ण
४४५	८-९	तिरिक्खगईएण	तिरिक्खगईए ण
३४०	२८	एक जीव के सासादन गुणस्थान के	सासादनगुणस्थान के एक
४४५	१०	देवगदीएण	देवगदीए ण
४४५	२०-२१	नरक गति मे उत्पन्न कराना	नरकगति में उत्पन्न नही कराना
४४५	२२	उत्पन्न कराना	उत्पन्न नहीं कराना
४४५	२४	उत्पन्न कराना	उत्पन्न नहीं कराना
४४५	२६	उत्पन्न कराना	उत्पन्न नहीं कराना
४५६	६	सव्वजहण्णमंतोमच्छिय	सव्वजहण्णमंतोमुहुत्तमच्छिय
४६१	१३	प्रस्तार के उत्कृष्ट	प्रस्तार में उत्कृष्ट
४६१	२४	तीन अन्तर्मुहूर्तो से	तीन अन्तर्मुहूर्तों मे से
४६३	२३	उद्वर्तनाघात	अपवर्तनाघात
४६४	२४	कम अढ़ाई सागरोपम काल से अधिककाल	अधिक अढ़ाई सागरोपमकाल
४६४	2५	अढ़ाई सागरोपम काल के	विवक्षित पर्याय के
४६४	२६	पतित	पतित (हीनीकृत)
४६८	१३	वर्धमान	शका—वर्धमान
४६८	१८	शका—तेज और	तेज और
४७५	३०	गुणस्थानो का	गुणस्थानो में शुक्ललेश्या का
४७७	१८	सादि-सान्त नही है।	सादि नहीं है।
४७७	२९-३०	अर्थात् फिर तो भव्यत्व को अनादि अनन्त भी होना पड़ेगा,	अनादि-अनन्त भव्यत्व भी होना चाहिए,
४८८	३	उक्कस्सेण वे समया;	उक्कस्सेण आवलियाए असंखेज्जदिभागे। एगजीवं पडुच्च जहण्णेण एगसमओ, उक्कस्सेण बे समया;
४८८	५	इच्चेहि	इच्चेएहि
४८८	२८	सामान्योक्तः।	सामान्योक्तः कालः।
३३९	१६	सूत्र और आचार्यों के	सूत्राचार्यों के [कारण देखो—षट्खंडागम-परिशीलन पृ. ६९६]

॥ समाप्त ॥

गूजरी महल ग्वालियर में संरक्षित शान्तिनाथ की प्रतिमाएं

[. **नरेश कुमार पाठक**

शान्तिनाथ इस अवसर्पिणी के सोलहवें तीर्थंकर हैं। हस्तिनापुर के शासक विश्वसेन उनके पिता और अचिरा उनकी माता थी। जैन परम्परा में उल्लेख है, कि शान्तिनाथ के गर्भ में आने के पूर्व हस्तिनापुर नगर मे महामारी का रोग फैला, इस पर इनके गर्भ में आते ही महामारी का प्रकोप शान्त हो गया। इसी कारण बालक का नाम शान्तिनाथ रखा गया। शान्तिशाथ ने 25 हजार वर्षों तक चक्रवर्ती पद से सम्पूर्ण भारत पर शासन किया और उसके बाद शान्तिनाथ को हस्तिनापुर के सहस्त्राम्र उद्यान में नन्दिवृक्ष के नीचे कैवल्य प्राप्त हुआ सम्मेद शिखर इनकी निर्माण स्थली है।[1]

शान्तिनाथ का लांछन मृग और यक्ष-यक्षी गरूड (या वाराह) एवं निर्वाणी (या धारिणी) है। दिगम्बर परम्परा में यक्षी का नाम महामानसी है।[2]

केन्द्रीय संग्रहालय गूजरी महल ग्वालियर में सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ की चार दुर्लभ प्रतिमाएं संग्रहित हैं, जिन्हें मुद्राओं के आधार पर दो भागो मे बाटा जा है।

(अ) पद्मासन **(ब)** कायोत्सर्ग।

(अ) **पद्मासन** : पद्मासन मे निर्मित तीर्थंकर शान्तिनाथ की दो प्रतिमाएं संग्रहालय मे संरक्षित हैं। विदिशा से प्राप्त पद्म पादपीठ पर पद्मासन मे बैठे हुए शान्तिनाथ[3] का सिर टूटा हुआ है (स०क्र० 132) पादपीठ पर विपरीत दिशा में मुख किये सिंह प्रतिमा मध्य में चक्र है। दोनों ओर शान्तिनाथ का ध्वज लाछन दो हिरण प्रतिमाओं का अंकन है। 10वी शती ईस्वी की मूर्ति का पत्थर के क्षरण के कारण कलात्मकता समाप्त हो गई है।

बसई (जिला-दतिया) से प्राप्त तीर्थंकर शान्तिनाथ (स० क्र०) 763) सिंह के पादपीठ पर पद्मासन की ध्यानस्थ मुद्रा में विराजमान है। कुन्तलित केशों से युक्त उष्णीस एवं लम्बे कर्ण चाप है। ऊपर त्रिछत्र एव पीछे प्रभामंडल है, देवता के पार्श्व में ऊपरी भाग में दो जिन प्रतिमाएं कायोत्सर्ग मे एवं दो जिन प्रतिमाएं पद्मासन में अंकित है। पादपीठ पर उनके लांछन हिरण (मृग) बैठा हुआ अंकित है। लगभग 12वी शती ईस्वी की मूर्ति की कलात्मक अभिव्यक्ति कच्छपघात युगीन शिल्प कला के अनुरूप हैं।

(ब) **कायोत्सर्ग** : कायोत्सर्ग मे निर्मित तीर्थंकर शान्तिनाथ की दो प्रतिमाएं संग्रहालय मे संरक्षित है। पढावली (जिला-मुरैना) से प्राप्त कायोत्सर्ग मुद्रा में शिल्पांकित सोलहवें तीर्थंकर (स० क्र० 127) शान्तिनाथ[4] के दोनों हाथो में पूर्ण बिकसित पुष्प लगे हुए हैं। सिर पर कुन्तलित केश कर्णचाप, वक्ष पर श्रीवत्स का अंकन है[5] तीर्थंकर के दायें-बायें परिचारक इन्द्र आदि आंशिक रूप से खण्डित अवस्थां में अंकित है। पादपीठ पर उनका लाछन हिरण बैठा हुआ है। पादपीठ के नीचे दायें यक्ष गरूड बायें यक्षणी महामानसी है। तीर्थंकर के पार्श्व में दायें दो कायोत्सर्ग मुद्रा मे जिन प्रतिमा बाये एक कायोत्सर्ग जिन प्रतिमा का आलेखन है। 11वीं शती ईस्वी को प्रतिमा की मुख मुद्रा सौम्य एवं भावपूर्ण है।

बसई (जिला-दतिया) से प्राप्त कायोत्सर्ग मुद्रा में अंकिन तीर्थंकर शान्तिनाथ (स० क्र० 760) के सिर पर कुन्तलित केश वक्ष पर श्रीवत्स चिह्न अंकित है। वितान में त्रिछत्र, ऊपरी भाग मे कायोत्सर्ग मे दो जिन प्रतिमा, पार्श्व में दोनों ओर परिचारकों का आलेखन है। पादपीठ पर विक्रम संवत् 1386) ईस्वी सन् 1259) का लेख उत्कीर्ण है। मुख मुद्रा शान्त है।

सन्दर्भ-सूची

1. हस्तीमल जैन 'धर्म का मौलिक इतिहास' खंड-1, जयपुर 1971 पृष्ठ-114-18.
2. तिवारी मारूति नन्दन प्रसाव "जैन प्रतिमा विज्ञान" वाराणसी 1981 पृष्ठ 108.
3. शर्मा राजकुमार "मध्यप्रदेश के पुरातत्व का सन्दर्भ ग्रन्थ" भोपाल 1974 पृ॰ 471 क्रमांक : 132 पर इस प्रतिमा को जैन तीर्थंकर लिखा है।
4. शर्मा राजकुमार पूर्वोक्त पृष्ठ 471, क्रमांक 127.
5. ठाकुर एस० आर० कैंटलॉग आफ स्कल्पचर्स इन दी आर्कोलॉजीकल म्यूजियम ग्वालियर एम० बी० पृष्ठ 22, क्रमांक 15.

केवल उपादान को नियामक मानना एकान्तवाद है

□ पं० मुन्नालाल जैन प्रभाकर

निमित्त उपादान की चर्चा न जाने कब से चली आ रही है। खानिया में अनेक विद्वानो के बीच भी चर्चा चली जिसके विषय में पं० फूलचन्द जी ने काफी प्रश्न उपस्थित किये और इनका उत्तर पं० वशीधर जी व रतनचंद जी मुक्तार साहब ने दिया परन्तु कोई समाधान नही हो सका और अब फिर एक पत्रिका मे निमित्त कुछ नही है जो कुछ होता है वह उपादान से ही होता है। इस लेख को पढकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि आखिर समाधान न होने का कारण क्या है ? जिनकी धारणा बन गई है कि जो मैं जानता हूं वही सत्य है। जब तक इस धारणा को एक तरफ करके ठंड़े दिल से दूसरे के विचारों को न सुनेंगे न देखेंगे और न गहराई से बिचार करेंगे तब तक वस्तु का सत्य स्वरूप समझ में नही आ सकता जैसा मोक्ष मार्ग प्रकाश पृष्ठ २१ मे कहा है कि जिस जीव का भला होनहार है उसके ऐसा विचार आये है मैं कौन हूं यह संसार का चरित्र कैसे बन रहा है ऐसे विचार से उद्यम वंत भया अति प्रीति कर शास्त्र सुने है. किछू पूछना होय तो पूछे है बहुरि गुरुनि कर कहया अर्थ को अपने अन्तरगविषे बारम्बार विचारे है इस विचार से बस्तु का निर्णय हो है। यदि हम सच्चे, दिल से वस्तु के स्वरूप का निर्णय करना चाहते है तो हमे अपनी मान्यता का पक्ष न लेकर वस्तु के स्वरूप का बार-बार विचार करना होगा। निर्मित्ताधीन दृष्टि शीर्षक लेख में बहुत से प्रसंग तो पुराने हैं जिनके उत्तर विद्वानो द्वारा दिये जा चुके हैं जैसे मोटर पेट्रोल से नही चलती, स्त्री राग होने मे निमित्त कारण नही आदि। कुछ प्रसंग विचारणीय है उन पर विचार करते है—(१) लेख म कहा है निमित्त कर्त्ता नहीं, कराता नहीं निमित्त से होता नहीं परन्तु जिसका अवलम्बन लेकर हम कार्य करते है वह निमित्त नाम पाता है'। यहां पर निमित्त को कुछ नहीं है ऐसा दर्शाया है तथा इसी लेख मे कहा है 'पुद्गल कर्म अथवा मोहनीय कर्म में भी संसारी आत्मा को रागद्वेष रूप परिणमन करने में खिचाव की शक्ति है' ये दोनों बातें आगम के प्रतिकूल तो है ही परस्पर विरुद्ध भी है।

कर्त्ता की परिभाषा समय सार कलश ५१ में अमृत चन्द्राचार्य ने 'यः परिणमति स कर्त्ता इत्यादि' की है। इस कथन से जीव तथा पुद्गल दोनो ही कर्त्ता हैं। क्योंकि दोनो ही परिणमन करते है। तथा समय सार गाथा ८०, ८१, ८२ मे स्पष्ट बताया है कि पुद्गल के परिणमन में (कर्म रूप) जीव निमित्त है उसी प्रकार जीव भी जिसको पुद्गल कर्म निमित्त है (राग द्वेष रूप) परिणमन करता है तथा जैन सिद्धान्तप्रवेशिका में उपादान तथा निमित्त दोनो को कारण कहा है। जो पदार्थ कार्य रूप परिणमन करता है उसको उपादान कारण तथा जो उसमे सहायक होता है उसको निमित्त कारण कहा है। जीव तथा पुद्गल दोनों उपादान भी है और निमित्त भी। जब जीव कार्य रूप परिणमन करता है तब वह उपादान कारण कहलाता है और पुद्गलकर्म निमित्त कारण कहलाता है। इसी प्रकार जब पुद्गल वर्गणायें कर्म रूप परिणमन करती हैं तब पुद्गल उपादान कारण तथा जीव के राग द्वेष भाव निमित्त कारण कहलाते हैं। क्योंकि दोनो ही पदार्थ परिणमन शील है इसलिए दोनों ही उपादान है और दोनो ही निमित्त है दोनों समान है कोई कमजोर और बलवान नही है न एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का जोरावरी से कर्त्ता है इसके लिए समय सार गाथा ८० देखिए इसमें दोनों को एक दूसरे का निमित्त कारण बताया है। और जो यह कथन है कि 'पुद्गल कर्म (मोहनीय) में संसारी आत्मा को रागद्वेष रूप परिणमन करने की खिचाव शक्ति ज्यादा है ऐसा मानना जरूरी है क्योंकि सम्यग्द्रष्टी आत्मा सामायिक

के समय अपने परिणामों को संभालता है परन्तु उसके अनेक प्रकार के विकल्प उठते हैं उनका कारण मोहनीय कर्म की खिचाव की ज्यादा शक्ति है' यह भी ठीक नहीं। है। क्योंकि अगर मोहनीय कर्म की शक्ति ज्यादा है तो वह जीव शक्ति को कम करके एक दिन नाश भी कर देगा जबकि आगम में द्रव्य को नित्य कहा गया है। सम्यकद्रष्टी के सामायिक के समय ऊल-जलूल विकल्प क्यों उठते हैं इसके लिए मोक्षशास्त्र के दशमें अध्याय में कहा है जैसे कुम्हार के द्वारा घुमाये गये चाक से घुमाने की क्रिया बन्द करने के बाद भी चाक काफी देर तक घूमता रहता है उसी प्रकार यह जीव अपनी अज्ञानता के कारण से अनादि काल से पर पदार्थों के संयोग वियोग तथा उनके अनुकूल-प्रतिकूल परिणमन करता आ रहा है जिससे विकल्पों के उठने के संस्कार बहुत दृढ हो रहे हैं जिसको चारित्रमोह कहते है उसी चारित्रमोह के कारण से अनेक प्रकार के ऊल-जलूल विकल्प उठते है न कि मोहनीय कर्म की ज्यादा खिचाव की शक्ति से। यदि यह जीव अपने उपयोग को तत्व विचार मे लगावे तो अभ्यास करते-करते एक दिन विवेक की जागृति अवश्य हो जायेगी और ऊल-जलूल विचार आने बन्द हो जायेंगे। अन्य सभी पदार्थ अपने से भिन्न दीखने लगेंगे इसके लिए समय सार गाथा २०० में कहा है।

एवं सम्यग्द्रष्टि: आत्मानं जानाति ज्ञायक स्वभावे।
उदयं कर्म विपाक च मुंचति तत्वं विजानन् ॥ २००

सम्यग्द्रष्टि अपने को ज्ञायक स्वभाव जानता है और वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानता हुआ कर्म के उदय को कर्म का विपाक जान उसे छोड़ता है। जिससे आगामी कर्म बंध रुक जाता है। जब कर्म की स्थिति समाप्त होने को होती है उस समय उसमें फल देने की शक्ति प्रगट होती है जिसको कर्म का विपाक या उदय भी कहते हैं। उसके पश्चात कर्म निर्जरा को प्राप्त हो जाता है फल देकर भी और बिना फल दिये भी निर्जरा अवश्य होती है। तब कर्म के पतन को रोकने के लिए कोई समर्थ नहीं होता। यहां विशेष है कि कर्म फल जोरावरी से नहीं दे सकता यदि जीव अपने पुरुषार्थ के द्वारा अपने उपयोग को अपने में लगावे तो कर्म अविपाक निर्जरा को प्राप्त होगा। और यदि जीव पुरुषार्थ चूक गया तो कर्म बंध हो जायगा क्योंकि दोनों द्रव्य स्वतंत्र है एक दूसरे के साथ कोई जोरावरी नहीं कर सकता। इसी भावना के आधार पर सिद्ध पर्याप्त होती है। यहां कर्म के विपाक तथा उदय पर भी विचार करें। पुद्गल कर्मों के उदय मे जीव के विकारी भाव उत्पन्न होते हैं। राग द्वेषादि अर्थात् इच्छाये होना यह कर्म का उदय है कर्म के उदय होने पर उस इच्छा के अनुरूप परिणमन करना या न करना जीव के आधीन है। यदि इस जीव ने अपने पुरुषार्थ की शक्ति से परिणमन को रोक लिया तो आगामी कर्म बंध नहीं होगा पुद्गल कर्म उदय आकर बिना फल दिये चला जायगा जैसा आगम मे कहा है 'आतम के अहित विषय कषाय इनमें मेरी परिणति न जाय' अर्थात् इच्छाओं के उत्पन्न होने पर अपनी शक्ति के द्वारा उस परिणति को रोके तो बंध रुक जाय। और भी कहा है 'रोकी न चाह निज शक्ति खोय शिवरूप निराकुलता न जोय'।

पृष्ठ २७ पर लेख में लिखा है 'फल की प्राप्ति-उदय। यहां उदय के विषय में भी विचार करना है। उदय का अर्थ आत्मा मे विकारी भावो का अनुभव मात्र है नवीन बंध नहीं। नवीन बंध तो उदय के विपाक से होगा अर्थात् उदय के अनुसार परिणमन करने से। कर्म के विपाक से बंध नहीं। यदि जीव असावधान है तो उदय मात्र होगा और यदि विपाक के समय अपने स्वरूप मे सावधान है तो बिना उदय आये खिर जायगा, जिसे अविपाक निर्जरा कहा है। फल दो प्रकार होता है उदय को भी फल कहते हैं और नवीन बंध को फल कहते है। नवीन बंध जीव के रागद्वेष रूप परिणति का फल है और विकारी भावों का अनुभव मात्र होना पुद्गल कर्मों का फल है। इसके लिए गाथा २०० तथा कलश १३७ और दोनों टीकाओं का गहराई से अध्ययन करे।

कारण अनेक प्रकार होते हैं कुछ कारण ऐसे होते हैं जिनके होने पर कार्य हो भी और न भी हो जैसे मुनि लिंग। यदि मुनि लिंग को पहिले बाह्य परिग्रह का त्याग करके समस्त अंतरंग परिग्रह का त्याग कर दिया तब तो केवल ज्ञान रूपी कार्य हो जायगा और जब तक लेश मात्र भी अन्तरंग परिग्रह रहैगा केवल ज्ञान नहीं होगा यहाँ भी

समस्त सहयोगी सामग्री के सद्भाव तथा विरोधी कारण के अभाव होने का नियम है। अगर कोई दोनों द्रव्यों में निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध ना मान कर केवल दो द्रव्यो की पर्यायों में निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध माने तो वह आगम के प्रतिकूल होगा जैसा कि लेख में पृष्ठ २४ पर कहा है कि दो द्रव्यों मे निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध नही होता। पर ऐसा आगम मे कही देखने में नहीं आया क्यों द्रव्य का लक्षण सत है और सत को उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य युक्त कहा है और सत का कभी नाश नहीं होता इसलिए द्रव्यों की प्रत्येक पर्यायों में सत पना मौजूद रहता है इसलिए ऐसा नहीं कहा जा सकता कि दो द्रव्यो में निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध नही होता। ऐसा मानने से जिन पर्यायों में निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध मानोगे उस समय सत का अभाव होने से द्रव्य का नाश हो जायगा जो असम्भव है इसलिए ऐसा कहना कि दो द्रव्यों में निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध नहीं होता ठीक नही हैं।

जब जो कार्य होना होता है उसी समय दोनो द्रव्यों की उसी समय की अवस्थाओ का सयोग सम्बन्ध अवश्य होता है इसी को निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध कहते है अकेले एक कारण से चाहे वह उपादान हो चाहे निमित्त, कार्य नही होता क्योंकि भिन्न-भिन्न प्रत्येक सामग्री को असमर्थ कारण कहते है और असमर्थ कारण कार्य का नियामक नहीं है ऐसा जैन सिद्धान्त प्रवेशिका ४०५ पर देखें।

लेख में पृष्ट २३ पर ये भी कहा है कि 'यदि राग के होने में स्त्री निमित्त करता है तो स्त्री राग के मेटने में भी निमित्त हो जायगी'। ये हम पहिले कह चुके हैं कि कोई द्रव्य चाहे उपादान हो चाहे निमित्त दोनो स्वतंत्र है ऐक दूसरे की इच्छा के आधीन नहीं। अगर पुरुष स्त्री को देख कर भोगो के चिंतवन मे लगता है तो राग उत्पन्न हो जायगा और यदि वही पुरुष स्त्री को देख कर संसार की असारता का विचार करता है तो वैराग्य की उत्पत्ती होगी। विचार करना इसके अपने आधीन है स्त्री की इच्छा के आधीन नहीं। और यदि किसी एक से कार्य की उत्पत्ती मानोगे चाहे वह उपादान हो चाहे निमित्त एकान्त नाम का मिथ्यात्व हो जायगा जैसा कि गोमट्टसार कर्म काण्ड गाथा ८७६ में एकांत मत के ३६३ अंगों का वर्णन किया हैं उनमें १८० क्रिया वादियों के ८४ अक्रिया वादियों के अज्ञानवादियों के ६७ तथा ३२ वैनयिकवादियों के भेदों में एक नियतवाद नाम का एकांत मत का भी वर्णन गाथा ८८२ में किया है।

लेख मे पृष्ठ २४ पर कहा है 'जीव और पुद्गल अपनी क्रियावती शक्ति से एक जगह से दूसरी जगह जाते हैं तब धर्म द्रव्य स्वतः अपने आप निमित्त रूप रहता है'। यहा प्रश्न उठता है कि जब निमित्त कुछ कर्ता ही नही जैसा लेख में पृष्ठ २३ मे कहा फिर निमित्त की उपस्थिति की क्या आवश्यकता पड़ी इसका यही अर्थ हुआ कि निमित्त के बिना कार्य नही होता अगर निमित्त के बिना अकेले उपादान की योग्यता से ही कार्य होता है तो जीव जब समस्त कर्मों से छूट जाता है तब ऊर्ध्व गमन स्वभाव होने पर ऊपर को गमन करता है जैसा मोक्षशास्त्र के १०वें अध्याय में कहा है तब गमन करते-करते लोक के अंत में क्यों ठहर जाता है अलोका काश में भी क्यो गमन नहीं करता है इसका उत्तर उसी अध्याय मे दिया है धर्मास्तिकायाभावात् अर्थात् धर्म द्रव्य के अभाव मे क्रियावती शक्ति के होने पर भी निमित्त (धर्म-द्रव्य) के बिना गमन रूप कार्य नही हो सकता इससे स्पष्ट है कि उपादान तथा निमित्त दोनों के सहयोग से कार्य होता है अकेले उपादान की योग्यता से नही योग्यता तो दोनों जीव तथा पुद्गल द्रव्यों मे हमेशा होती है फिर भी धर्म द्रव्य के अभाव होने पर गमन रूप क्रिया नही होती जब भी जिस समय जो कार्य होना होता है उस समय दोनो द्रव्यो के संयोग होता है तथा विरोधी कारण का अभाव होता है जिसको समर्थ कारण कहते हैं तब कार्य नियम से होता है। भिन्न-भिन्न प्रत्येक सामग्री को असमर्थ कारण कहते हैं। असमर्थ कारण कार्य का नियामक नही है (जै० सि० प्रवेशिका ४०५) फिर अकेला उपादान कार्य का नियामक कैसे हो सकता है। समय सार की गाथा १३०-१३१ की टीका में कहा है—'यथा खलु पुद्गलस्य स्वय परिणाम स्वभावत्वे सत्यपि कारणानु विधायित्वात् कार्याणां' अर्थात् पुद्गल द्रव्य स्वयं परिणाम स्वभावी होने पर भी जैसा कारण हो उस स्वरूप कार्य होता है। उसी प्रकार जीव के भी स्वयं

परिणाम स्वभावी होने पर जैसा कारण होता है वैसा कार्य होता है ऐसे जीव के परिणाम का तथा पुद्गल के परिणाम का परस्पर हेतुत्व का स्थापन होने पर भी जीव और पुद्गल के परस्पर व्याप्य व्यापक भाव के अभाव से कर्ता कर्म पने की असिद्धि होने पर भी निमित्त नैमित्तिक भाव मात्र का निषेध नही है क्योंकि परस्पर निमित्त मात्र होने से ही दोनो का परिणाम है [टीका गाथा ८१,८२] क्योकि जिस समय जो कार्य होना होता है उस समय जीव तथा पुद्गल दोनो द्रव्यो की पर्यायो का सयोग अवश्य होता है इसी को निमित्त नैमित्तिक संबध मात्र कहते हैं। निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध मात्र भी इसलिये कहा है कि कोई द्रव्य एक दूसरे पर जोरावरी नही करता जैसे सूर्योदय होने पर चकवा-चकवी स्वय मिल जाते हैं तथा सूर्यास्त होने पर बिछुड़ जाते हैं कोई अन्य उन्हे मिलाता या पृथक नही करता स्वय ही ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध बन रहा है। कारण भी कई प्रकार के होते है जिनके होने पर कार्य होता ही है जैसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र इन तीनो की एकता होने पर केवलज्ञान रूपी कार्य होता ही है। और भी कहा है—

जत्तु जदा जेण जहा जस्स य णियमेण होदि तत्तु तदा।
तेण तहा तस्सहवे ईदि वादो णियदि वादो दु ॥८८२॥

जो जिस समय जिससे जैसे जिसके नियम से होता है वह उस समय उससे तैसे उसके ही होता है। एसा नियम से ही सब वस्तु को मानना उसे नियतवाद कहते है। आगम मे अनेको जगह ऐसा स्पष्ट कहने पर भी एक अकेले उपादान से ही कार्य की सिद्धि मानना एकान्तवाद नाम का मिथ्यात्व है। इसके अतिरिक्त एसा मानना भी आगम के प्रतिकूल है कि जब उपादान जिस रूप परिणमन करने के सन्मुख होता है तब वह बाहरी पदार्थों को उसी कार्य के लिए सहयोगी बना लेता है जैसा कि लेख मे पृष्ठ २६ पर कहा है। निमित्त नैमित्तिक की परिभाषा इस प्रकार है।

जिस समय जो कार्य होना होता है उसी समय वही कार्य होता है और उसी समय के दोनो पदार्थ उपादान तथा निमित्त का सयोग सम्बन्ध होता है उसी कार्य के लिए उसी समय दोनो पदार्थों की उसी समय की पर्यायो का सयोग सम्बन्ध होता है इसी संयोग सम्बन्ध को निमित्त नैमित्तक सम्बन्ध कहते है गोमटसार कर्म काण्ड गाथा ८८२ बहुत खुलासा किया है इसके अतिरिक्त निमित्त-नैमित्तिक शब्द आगम में अनेकों जगह आया है तथा वर्णीजी महाराज कहा करते थे 'जो-जो भाषी वीत राग ने सो-सो होसी वीरा रे अनहोनी कबहु न होय काहे होत अधीरा रे' इस पर एक बार ईसरी में किसी ने प्रश्न कर दिया कि हम तब जाने जब इस समय अंगूर आजांय। तब वर्णीजी बोले निमित्त नैमित्तक सम्बन्ध होगा तो आ जायेंगे। कोई व्यक्ति उसी समय अगूर लेकर पहुंच गया इसका अर्थ ऐसा न करना कि वर्णीजी के कहने से आ गये यदि ऐसा अर्थ कर लिया तो एकान्त मिथ्यात्व हो जायेगा, क्योंकि ये सिद्धान्त है कि कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य के आधीन नही निमित्त उपादान की चर्चा के समाधान के लिए निमित्त नैमित्तिक संबध की परिभाषा भली प्रकार समझना होगा वरना एकान्त मिथ्यात्व हो जायेगा। एक समय मे होने वाले कार्य के लिए हर समय के किसी भी उपादान निमित्त के संयोग सम्बन्ध को कार्य का नियामक मानना एकान्त ऐसा नियम से सब वस्तु के मानना मिथ्या नियतवाद है जैसा गेमटसार मे कहा है।

बहुचर्चित निमित्त उपादान के विषय मे हमारा चिंतन आगमानुरूप है। विद्वान् चिंतन करेंगे तो बहुत-सी भ्रान्तियां दूर होगी ऐसा हमें विश्वास है।

सम्पादकीय नोट : लेखक का कथन ठीक है कि इस विषय पर पहिले काफी चर्चा हो चुकी है। हमारी दृष्टि से तो जब 'जैनतत्त्वमीमांसा' और 'जैनतत्त्वमीमांसा की मीमांसा' जैसी कृतियो मे निमित्त-उपादान के निष्कर्ष निकालने को पर्याप्त सामग्री (शास्त्रीय उद्धरणों सहित) देने वाले उद्भट विद्वान् तक किसी निर्णय पर एकमत न हो सके हों, तब साधारण लेखो और साधारण पाठको की क्या बिसात? निश्चय ही यह विषय आध्यात्मिक है और पक्षपात व आग्रही बुद्धि से दूर —अपरिग्रही मन की पकड का है। देखें—कौन कितना अपरिग्रह की ओर बढ़ता है? यश-ख्याति, विवादविजयी और अहं-पुष्टि के भाव से कौन कितनी दूर रहता है?

अपरिग्रही ही आत्मदर्शन का अधिकारी

□ पद्मचन्द्र शास्त्री संपादक 'अनेकान्त'

दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द आदि ने जिनवाणी के रहस्यो को खोला और अध्यात्म का उपदेश दिया और यह सब उनके पूर्ण अपरिग्रही होने से ही सम्भव हो सका। क्योंकि परिग्रही—रागी, द्वेषी मे ऐसी सामर्थ्य ही नहीं कि वह वस्तुतत्त्व का पूरा सही-सही विवेचन कर सके। यह बात आत्म-तत्त्व के विवेचन मे तो और भी आवश्यक है। भला, जिसे आत्मानुभव न हो वह उसके स्वरूप का दिग्दर्शन कैसे करा पाएगा? फिर, जैनदर्शन में तो आत्मा को रूप, रस, गंध स्पर्श रहित—अदृश्य बताया है, उसको पकड़ बाह्य-इन्द्रियो और रागी-द्वेषी व परिग्रही मन से भी सर्वथा असम्भव है। आत्म-स्वरूप तो वीतरागता मे ही प्राप्त हो पाता है। इसलिए हमारे तीर्थंकर आदि महापुरुषों ने पहिले वीतरागी होने का उद्यम किया—दृश्य संसार से मोह को छोड़ा। और दृश्य संसार से मोह के छोड़ने के लिए पहिले बारह भावनाओ के द्वारा अपने में वैराग्य समा लेने का प्रयत्न किया।

अतीत लम्बे काल से उक्त क्रम मे विपरीतपना समा बैठा है—लोग राग-द्वेषादि परिग्रह के त्याग के बिना—अन्तरंग और बहिरंग परिग्रहो को समेटे हुए, अरूपी आत्मा को पहिचानने-पहिचनवाने की रट लगाए हुए स्वयं भ्रमित हैं और दूसरो को भ्रमित कर सांसारिक सुख-सुविधाओ के जुटाने मे मग्न है और लोग भी आत्मदर्शन के बहाने विषयों मे मग्न है। इस कारण जैन का जो ह्रास किसी लम्बे काल मे संभावित था वह जल्दी-जल्दी हो रहा है। थोड़े वर्षों में ही इस आत्म-दर्शन के विपरीत मार्ग ने आभ्यन्तर और बाह्य दोनो प्रकार के जैनत्व को रसातल में पहुंचा दिया—'न खुदा ही मिला न विसाले सनम, न इधर के रहे न उधर के रहे।" इन्हें आत्मा तो मिली ही नही इनका चारित्र भी स्वाहा हो गया। लोग चिल्ला रहे हैं—आज जैनी, जैनी नही रहा।

जैनियो में दो दर्जे मुख्य हैं—एक श्रावक का और दूसरा मुनि का और ये दोनों ही मुख्यत: चारित्र के आधार पर निर्भर हैं। सो लोगो ने उस चारित्र की तो उपेक्षा कर दी जो चारित्र त्यागरूप और आत्म-स्वरूप की प्राप्ति का आधार है। यदि चारित्र की मुख्यता न होती तो उक्त दोनों दर्जों का विधान भी न हुआ होता। सभी इस बात को बखूबी जानते हैं कि उक्त दोनों दर्जे न तो कोरे सम्यग्दर्शन की अपेक्षा से हैं और ना ही कोरे सम्यग्ज्ञान की अपेक्षा से है। खेद है कि लोगो ने विपरीत मार्ग पकड़ चारित्र के बिना ही आत्म-दर्शन के गीत गाने शुरू कर दिए। जब कि यह पता ही नही लग पाता कि सम्यग्दर्शन किसे है और किसे नही? आत्मदर्शन किसे हुआ, किसे नही। हां, यह अवश्य हुआ कि लोग बाह्य चारित्र को दिखावा मानने के प्रति अधिक जागरूक हुए—उन्होने रागादि विकारो के हटाने की बात प्रारम्भ की। पर, रागादि हटाने के बजाय वे स्वय उनमे अधिक लिप्त होते गए। यहाँ तक कि उन्होंने आत्मा की बात करते हुए परिग्रह सचय का मार्ग अपना लिया—बहुत से आत्म-दर्शन की बात करने वाले फूटी कौड़ी के धनी भी घोर परिग्रही बन गए हों, तब भी आश्चर्य नही। जब कि आत्म-दर्शन में मिथ्यात्व व बाह्य-परिग्रह की निवृत्ति जरूरी है। इस प्रकार कुन्दकुन्द की दृष्टि म जो आत्म-धर्म अपरिग्रह रूप था वह इनके परिग्रह-सचय का व्यापार बन गया।

कहा जाने लगा कि जब तक अंतरग भावना न हो बाह्याचार कोरा दिखावा है। पर, प्रश्न होता है कि क्या अन्तर की प्रेरणा के अनुसार बाह्य-प्रवृत्ति नही होती? बाह्य करनी मे अन्तर प्रेरणा प्रमुख है—चाहे वह सरल वृत्ति मे हो या कुटिल-मायाचार रूप हो। हाँ, इतना अवश्य है कि सरल-वृत्ति शुभ और कुटिल अशुभरूप होती है। ऐसी स्थिति मे भी जो शुभ-अशुभ दोनों को हेय कहा गया है वह शुद्ध की अपेक्षा से कहा गया है और वह सर्वथा अपरिग्रह वृत्ति मे कहा गया है। जब कि आज परिग्रहियों मे शुभ और अशुभ दोनो से निवृत्ति—(वह भी परिग्रह को बढ़ाते हुए) की चर्चा चल पड़ी है यानी कीचड़ में पैर डुबाते हुए कोई शुद्ध होने की बात कर रहा हो। यही कारण है कि आज का जैन नामधारी अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकार के चारित्र से हीन हो गया है और जिसकी चिंता समाज मे व्याप्त हो गई है।

हमारे तीर्थंकर आदि महापुरुषों ने पहिले दृश्य-रूपी पदार्थों को चिंतन का लक्ष्य बनाया—उन्होंने अनित्य आदि बारह भावनाओं के माध्यम से पर—से राग हटाया और पर-का राग छोड़ने के बाद स्व मे रह सके। यदि वे पर को अपनाए हुए स्व मे रह पाए हों तो देखें। भला, यह कैसे सम्भव था कि बाह्य मे अटका रहा जाता और अंतर में प्रवेश हो जाता? आज तो लोग अन्तर-बाहर दोनों मे एक साथ लिप्त होना चाहते है—'काम-भोग अरु मोक्ष पयानो।' सो यह कदापि सम्भव नही है।

लोग बड़ी-बड़ी चर्चाएँ करते हैं। षट्कारक, निमित्त-उपादान, अकर्तृत्व आदि जैसे कथन सामने आते है। पर, ऐसी चर्चाएं मोक्षमार्ग मे लगे उन लोगों को हितकारी हो सकती हैं जो परिग्रहों से दूर—आत्म-चिंतन मे हो। परिग्रही से ऐसी आशा नहीं कि वह इन चर्चाओं से सुलट सकेगा—वह तो निमित्तों मे फँसा ही रहेगा और उस कर्तृत्व बुद्धि भी बनी रहेगी। भ्रष्टता का मुख्य कारण यह भी है कि लोग चर्चाओं मे तो निमित्त को अकर्ता मानते रहे और स्वार्थपूर्ति के लिए निमित्तों को जुटाते भी रहे। ऐसे लोगों के उपदेश से लोग निमित्तों को अकर्ता मान पूजा आदि से विरक्त होने लगे और निमित्त को अकर्ता मानने वाले और व्यवहार को मिथ्या मानने वाले स्वयं पैसे और भक्त बनाने के मोह मे पंच-कल्याणक आदि निमित्तों को जुटाते रहे। एसे लोगों को सोचना चाहिए था कि यदि निमित्त अकर्ता है तो ये उन्हे क्यो जुटाते रहे? प्रवचन करना, स्वाध्याय के ग्रंथ प्रचारित करना भी तो आखिर निमित्त हैं, शिविर आदि लगाना भी निमित्त है, फिर इनकी भरमार क्यो हो रही है? इत्यादि प्रश्न विचारणीय है?

जहाँ तक 'आचारो प्रथमो धर्मः' की बात है वहाँ यही मानना पड़ेगा कि बाह्याचार अंतरंग की प्रवृत्ति को और अन्तरंग की प्रवृत्ति बाह्याचार को निमित्त है और इन निमित्तो को जुटाए बिना उद्धार नही। फिर चाहे वे निमित्तकर्ता हो या उदासीन हो—कार्य तो उन्ही के माध्यम से होगा। कदाचित् तत्त्व दृष्टि से निमित्तकर्ता न भी हो तो भी क्या? श्रावक और साधु के सभी गुण और सभी क्रियाएँ उसके पद की मापक है और वे सब निमित्त है—ऐसे मे वे कर्ता है या नही यह प्रश्न नहो, प्रश्न तो यह है कि क्या वे सब गुण और क्रियाएं निःसार हैं? यदि निःसार हैं तो केवली ने इनका विधान क्यों किया? इसे विचारें। और यह भी विचारें कि यदि बाह्य क्रिया या निमित्त पहिचान का अल्प-बहुत्व भी माध्यम नहीं तो परमपद में स्थित परमेष्ठियो की पहिचान का माध्यम क्या है? आखिर साध्वाचार मे वर्णित मूलोत्तरगुण आचार ही तो है जिनसे साध्वादि की पहिचान की जाती है। यदि ऐसा नही तो हम कैसे कह सकते है कि आज श्रावक नही या मुनि नही। फलतः अन्तरंग और बाह्य दोनो को साथ लेकर चलना चाहिए।

जब हम चारित्र की बात करते है तब कई निश्चयाभासियों को सन्देह हो जाता है और वे चारित्र की परिभाषा पूछते है—उनका कहना होता है कि चारित्र तो अन्तरंग ही है—बहिरंग तो छलावा भी हो सकता है। सो हम स्पष्ट कर दे कि आचार्यों ने बाह्य और अन्तरंग दोनो प्रकार के चारित्रो को चारित्र मे गर्भित किया है। आचार्य कहते हैं कि—'संसार कारणनिवृत्ति प्रत्यागूर्णस्य ज्ञानवतः कर्मादाननिमित्त क्रियोपरमः सम्यक्चारित्रम्'—अर्थात् संसार (बंध) के कारणो मे निवृत्ति की ओर लगे ज्ञानी का कर्म ग्रहण की निमित्तभूत करनी से विराम लेना सम्यक्चारित्र है।' इसमे अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकार की क्रियाओ से विराम लेना गर्भित है—दोनों ही एक दूसरे मे निमित्त है। अतः ज्ञानी जीव अपने ज्ञान के अनुसार दोनो से ही निवृत्त होता है। जहाँ इसका ज्ञान नही पहुचता उसका तो प्रश्न ही नही है। सो अमूर्तिक आत्मा की पकड का तो इसे प्रश्न ही नही उठता। ये तो अपने ज्ञान और इन्द्रियग्राह्यरूपी पदार्थों को पहिचानने मे समर्थ है और उन्ही को पहिचान कर बारह भावनाओ के द्वारा उनकी असारता का अनुभव कर उनसे विरक्त हो सकता है और पर से विरक्त होने पर ये स्वयं में रह सकता है जब कि आज लोग अरूपी आत्मा की पकड़ की बात करते है और दृश्य रूपी को जकड़कर पकड़े रहते हैं। ऐसा विपरीत—परिग्रह मार्ग जैन के ह्रास का कारण हुआ है परिग्रही को आत्म-दर्शन नही होता।

आज तो प्रायः ऐसा भी देखने मे आ रहा है कि लोग परिग्रह के चक्कर मे अधिक है। कुछ लोग तो अपरिग्रहियों से भी परिग्रह प्राप्त करने की कामना मे उनकी

सेवा सुश्रूषा तक को अपना धन्धा बनाए बैठे हैं—भले ही वे मानस से उनके भक्त न हों। हमे दुख का अनुभव होता है जब हम ऐसी विपरीत परिस्थितियां देखते हैं। भला, जैन सिद्धान्तानुसार जिस दिगम्बर से लोगो को दिगम्बरत्व की ओर बढ़ने की प्रेरणा लेनी चाहिए—त्याग की सीढ़ी चढनी चाहिए उस दिगम्बर के बहाने उसकी आड़ लेकर परिग्रह अर्जन कैसा ?

हमारे भाग्य से हमारे दिगम्बर मुनियों मे, अब ऐसे साधु भी विद्यमान है, जिनकी प्रखर-प्रज्ञा एवं प्रवचन शक्ति का लोहा तक माना जा रहा है, जो धर्म के स्वरूप का अपनी वाणी द्वारा, समर्थ विवेचन करते है लोगो के ज्ञान नेत्र खोलने का अपूर्व कार्य कर सकते है—ऐसे मुनियो से अपरिग्रह की ओर बढ़ने में मार्गदर्शन लेना चाहिए—निवृत्ति की सीढ़ी पर अग्रसर होना चाहिए, न कि उनके सहारे अर्थ-यश आदि परिग्रह संजोने की बाट जोहना। जैसा कि कतिपय लोग करते है—उनके पीछे लग जाते है—जबकि दिगम्बर का घिराव नही करना चाहिए। वे 'एकाकी, पाणिपात्र, निर्जनवासी बने रहें ऐसा प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि दिगम्बर साधु राजर्षि नही, अपितु ऋषिराज होते है। ऋषिराज ही रहने देना चाहिए। उक्त प्रकार की सभी भावनाएँ परिग्रही मन के नहीं हो सकतीं। ये तो उसी के हो सकेंगी जो स्वयं अपरिग्रही बनने की सीढ़ी पर पग रखने का इच्छुक होगा। और ऐसा व्यक्ति क्रमशः आत्म-दर्शन का अधिकारी भी हो सकेगा।

स्मरण रहे—जैन 'जिन' से बना है और 'जिन' जीतने से बना जाता है इस धर्म मे जो श्रावक, मुनि जैसे भेद है वे भी क्रमशः जीतने के भाव मे ही हुए है। श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओ मे क्रमशः त्यागरूप जीत होती है और परम दिगम्बरत्व मे भी त्याग की पराकाष्ठा। ऐसी स्थिति में यदि कोई इच्छा, तृष्णा, कर्म आदि पर विजय की चेष्टा न करे तो यही कहा जायगा कि 'जैसे कन्ता घर रहे वैसे रहे विदेश'— भाई, यह धर्म तो त्याग का धर्म है, इसका लाभ उन्ही को हो सकता है जो त्याग-मय जीवन बिताते हों—बिताने मे प्रयत्नशील हों और जिनको मन और इन्द्रियों सम्बन्धी विषयो की अभिलाषा का स्वप्न में भी लालच नहीं आता हो। अर्थ ही नही, यश आदि के अर्जन के भाव मे भी जो धर्म सेवा के नाम पर द्राविणी-प्राणायाम किया जाता है वह भी स्व-हित में नहीं, वह भी इच्छारूपी परिग्रह का ही अंश है। उससे जन का मोह ही बढ़ता है। फलतः—धर्म सेवा भी धर्म के लिए होनी चाहिए अन्य किसी सासारिक लाभके लिए नही।

जैन के जैनत्व का माप, अपरिग्रही बनने की दिशा की मात्रा की घटा-बढी से होता है। जितनी, जैसी परिग्रह की मात्रा में कमी होगी, प्राणी उतना और वैसा ही जैनी होगा और परिग्रह की जितनी जैसी मात्रा बढ़ी होगी प्राणी उतना और वैसा ही जैन पद से पतित होगा। जैनियों मे आज तो स्थिति बिल्कुल विपरीत चल रही है, जो जितना अधिक परिग्रही है वह उतना ही बडा नेता माना जा रहा है और उसे स्वय भी ऐहसास नहीं होता कि वह जैन के स्वरूप को समझे और तदनुरूप आचरण करे। ठीक ही है, जब लोगों का स्वयं लक्ष्मी, वैभव आदि परिग्रह मे आकर्षण हो और वे परिग्रही को नेतापद प्रदान करे तो परिग्रही को क्या आपत्ति ? आखिर, महिमा चाहना तो ससारी मोही जीव का स्वय का वैभाविकभाव है— जिसकी उसे पहिचान नही।

हमारे कथन से लोग सर्वथा ऐसा न मान लें कि हमारे सकेत बाह्य में अति सम्पदा-वैभवशालियो के प्रति ही है। सो ऐसा सर्वथा ही नही है। हमारा मन्तव्य है कि बाह्य वैभव में राग, तृष्णा और अधिक बढ़वारी के प्रति आकर्षण न होना भी अपरिग्रही की श्रेणी में बढ़ने का लक्षण है और आचार्यों ने इस पर विशेष जोर भी दिया है। वैसे भी यदि अन्तरग पर विजय है तो बहिरंग मे अपरिग्रहीपन अवश्य होगा। ऐसे जीव का आचरण 'जल मे भिन्न कमलवत्' होगा—न उसे विशेष धन अथवा यश की चाहना होगी और न ही वह विभिन्न द्राविड़ी प्राणायाम ही करेगा। वह तो होते हुए भी परिग्रहो से उदास ही रहेगा और उसके उदास रहने का क्रम यदि जारी रहे तो एक समय ऐसा भी आएगा कि वह अपने में रह सके। बिना अन्तरंग-बहिरंग परिग्रह के त्यागके आत्मो-पलब्धि के गीत गाना भूसे को कूट कर चल निकालने की भाँति है। इसीलिए कहा है कि अपरिग्रही ही आत्म-दर्शन का अधिकारी है। आज परिग्रह को आत्मसात् किए आत्मा की जो रटन लगाई जा रही है वह सर्वथा निष्फल और चारित्रघातक सिद्ध हुई है—छलावा है। (क्रमशः)

जरा-सोचिए !

१. दि० महावीर के प्रति ऐसी बगावत क्यों ?

हम वर्षों से लिखते आ रहे हैं, कि दिगम्बर जैन धर्म अपरिग्रह प्रधान धर्म है। इसमें अन्तरग-वहिरंग सभी प्रकार के परिग्रह से रहित ही मुक्ति का पात्र होता है। इस तथ्य को न समझने वाले कई अजान, समानाधिकार की बात उठाकर स्वयं भ्रमित होते है और दूसरो को भी मार्गच्युत कराने के साधन जुटाते है।

जैसी कि सूचना है उस दिन एक दि० शिक्षण शिविर-समापन समारोह मे कैलाशनगर की भरी सभा मे 'मां श्री'' के सबोधन युक्त दिगम्बरमतावलम्बी ब्र० श्री कौशल-कुमारी बोल उठी जैसे वे नही, अपितु कोई भ० रजनीश बोल रहे हो। आश्चर्य कि उस सभा मे दि० जैन समाज के नामधारी अनेक नेता बैठे-बैठे सब सुनते रहे और किसी से प्रतिवाद करते न बना, अब हमे विरोध मे लिखने को कह रहे हैं ? जब कुछ नेताओं से हमारी बात हुई तो पछता रहे थे कि यह तो बुरा हुआ जो श्री कौशल जी ने भ० महावीर को अन्यायी कहकर लल-कारा। प्रकारान्तर से उन्होने सवस्त्र और स्त्रीमुक्ति की पुष्टि कर दी, आदि।

ब्र० कौशल जी का मन्तव्य था कि भ० महावीर ने स्त्रीमुक्ति का निषेध कर बडा अन्याय किया है। उन्होंने स्पष्ट कहा कि मैं आगम के विरुद्ध बोल रही हू। उन्होंने कहा कि क्या यह न्याय है कि एक चिरकाल-दीक्षित आर्यिका किसी नवीन दीक्षित मुनि को नमस्कार करे; आदि।

उक्त बातें दिगम्बर मान्यता के विरुद्ध हैं और किसी त्यागी को नही कहनी चाहिए। जो श्री कौशल जी ने भरी सभा में कही। इससे तो दि० मान्यता के विरुद्ध ही प्रचार हुआ। यदि उन्हें शका थी तो किसी विद्वान् से चर्चा कर लेनी थी।

कमल को पंकज कहा जाता है, वह पंक (कीचड़) से उत्पन्न होता है। वह देखने में सुन्दर, स्पर्श में कोमल, सूंघने में सुगन्धित होता है। उसे सभी जगह सन्मान मिलता है। क्या कभी कमल की मां कीचड को ऐसा सौभाग्य मिला है ? पृथ्वी को रत्नगर्भा कहा जाता है। उससे रत्न, हीरे आदि जन्मते है। वे अत्यन्त कान्तिमान होते हैं, और उसके छोटे टुकड़े का भी बहुमूल्य आंका जाता है। क्या कभी पृथ्वी के बड़े खण्ड को भी ऐसा सुयोग प्राप्त होता है ? भले ही मां तीर्थंकर को जन्म देती हो तब भी वह उनकी तुलना नही कर सकती—सब की अपनी पृथक्-पृथक् योग्यता है जैसे पुरुष कभी बच्चे को अपने गर्भ से जन्म नही दे सकता, आदि।

स्त्री की मुक्ति में उसका परिग्रह बाधक है। वह कभी भी पूर्ण अपरिग्रही नही हो सकती—भीतर और बाहर नग्न नही हो सकती। ब्र० कौशल जी तो स्वयं स्त्री जाति हैं, क्या किसी स्त्री ने कभी खुले रूप में नग्न रूप में विचरण की कोशिश की, साडी जैसे बाहर परिग्रह को छोड़कर देखा ? स्त्री जाति मे लज्जा और भय दोनो ऐसी कमजोरियाँ हैं जो उसे महाव्रत धारण नही करने देतीं ? उसे सदा-सदा रक्षा की जरूरत है। यदि वह निर्भय होकर विचरण की बात करे तब भी नही बनती; वह तो स्वाभाविक बात है। वैसे भी नारी जाति स्वभा-वतः मोहक शक्ति है। बाजारों गलियों और मुहल्लों में वस्त्राच्छादित नारी भी मनचलों को लुभा लेती है तब परिग्रह रहित नग्ननारी कैसे सुरक्षित रह सकती है ? सुरक्षित रहना उसके बस की बात नहीं; वह परायों के आधीन है। दुर्भाग्य से यदि कोई दुर्घटना हो जाय तो नारी को नव-मास और उससे आगे भी घोर-परिग्रह के जंजाल में फंसना तक संभव है। क्या करें, उसके शरीर की बनावट और शक्ति ही ऐसी है जो उसे अपरिग्रही नही होने देती और बिना पूर्ण-अपरिग्रही हुए मुक्ति नहीं

होती। नारी के गुप्त अंगों में सदाकाल असंख्यातजीवों की उत्पत्ति होती रहती है।

भ० महावीर को अन्यायी कहना सर्वथा ब्रह्मचारिणी जी के अहम्भाव का सूचक है—भ० महावीर की वाणी से तो वह वस्तु-स्थिति ही प्रकट हुई—जो पूर्व तीर्थंकरों ने कही। ये ही बातें अजिका को मुनि से छोटा दर्जा देती हैं। आश्चर्य, कि मुनि को नमस्कार करने न करने की जो बात माता श्री ज्ञानमती को स्वयं आज तक न सूझी वह कुमारी कौशल जी को सहसा कैसे सूझ गई? कहीं यह दिगम्बरों के प्रति बगावत का चिह्न तो नहीं?

कुमारी कौशल जी को सुना जाता रहा है कि उन्हें कट्टर श्रद्धा और परिपक्व ज्ञान है। उनके उक्त महावीर के प्रति बगावत करने के बयानों से तो ऐसा नहीं लगा। उन्होंने तो स्वयं कहा कि—मैं आगम के विरुद्ध बोल रही हूं'। आखिर, यह सब क्यों? यह उन्हें और विचारकों को स्वयं सोचना है। और यह भी सोचना है कि क्या किसी दि० त्यागी द्वारा खुले रूप में ऐसे बयान दिए जाना धर्म के प्रति बगावत नहीं? जब कि हमे तो दि० आगम ही प्रमाण है।

२. आत्मा को देखने दिखाने वाले जादूगर :

अर्सा हुआ जब परिग्रह को आत्मसात् करते हुए आत्मोपलब्धि की बात करने वाले किसी पन्थ का जन्म हुआ। भोले लोग बिना तप-त्याग के ही आत्मोपलब्धि जान, खुश हो गए—बातों की ओर दौड़ पड़े। नतीजा सामने है—उन्हें आत्मा तो मिली नहीं; उनमें कितने ही परिग्रह के पुंज अवश्य हो गए।

जैनियों में आत्मोपलब्धि के लिए बारह भावनाओं पर जोर दिया गया है, सभी महापुरुषों ने इनका चिंतवन कर ही वैराग्य लिया है। अब तक की सभी रचनाओं में इन्हीं की रचना अधिक संख्या में हुई हैं। ५१ प्रकार की बारह भावनाएँ तो हमने देखी हैं—कुन्दकुन्दादि की 'वारसाणुवेक्खा' आदि तो इस गणना से पृथक् हैं।

आत्मा जैसा अरूपी द्रव्य केवल ज्ञानगम्य है और केवलज्ञान दिगम्बरत्व की पूर्ण साधना द्वारा, घातिया कर्मों के क्षय पर होता है। फलत:—आत्मोपलब्धि के लिए पूर्ण दिगम्बरत्व-अपरिग्रहत्व की प्राप्ति आवश्यक है। और अपरिग्रहत्व के लिए बारस-भावनाओं द्वारा पर-स्वभाव का चिन्तन (अनित्यादि विचार) आवश्यक है। "पर" से राग छूटते ही आत्मोपलब्धि होती है किसी जादूगर के उपदेश से आत्मोपलब्धि सर्वथा ही अशक्य है।

जैसे जादूगर के जादू से जादूगर स्वयं प्रभावित नहीं होता—जादू की बनावट जानता है, धन्दा चलाने के लिए जादू को अपनाता है। वैसे ही आत्मोपलब्धि की राह दिखाने की बात करने वाले कई जादूगर अपनी यश-ख्याति आदि के लिए इस धन्दे में लगे हैं—उन्हें आत्मोपलब्धि से क्या? अन्यथा, उनमे कोई तो परिग्रह से दूर हुआ होता, क्रमशः परिग्रह के कम करने में लगा होता या सच्चा मुनि बना होता। ठीक ही है—जादूगर को जादू से काम-धन्दा चलाने से काम—उसे आत्मोपलब्धि से क्या और अपने जादू से प्रभावित होने से क्या?

—संपादक

कागज प्राप्ति :—श्रीमती अंगूरी देवी जैन (धर्मपत्नी श्री शान्तिलाल जैन कागजी) नई दिल्ली-२ के सौजन्य से

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

सम्पादन परामर्शदाता : श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री

प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीरसेवामन्दिर के लिए मुद्रित, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५३

प्रिन्टेड
पत्रिका बुक-पैकिट

वीर सेवा मन्दिरका त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ४४ : कि० ३ जुलाई-सितम्बर १९९१

इस अंक में—

प्रकाशक :

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

स्व० पं० श्री फूलचन्द्र सिद्धान्ताचार्य के प्रति

श्रद्धाञ्जलिः

मैं तो कांटों में रहा, और परेशां न हुआ :

फूलों में फूल गुलाब है जो कांटों में फूलता और स्वयं मुस्कुरा दूसरों को प्रसन्नता का उपहार देता है। ऐसे ही थे —स्व० पं० श्री फूलचन्द्र सिद्धान्ताचार्य; जो जीवन भर अपनी ज्ञानाराधना के बल पर भौतिक अभावों से जूझते-जूझते ज्ञान में ही विलीन हो गए। उनके अन्तिम दिनों में भी वे धवला के विशद-विवेचन करने जैसी अपनी इच्छा को रटते रहे—'बेटा अशोक, अभी धवला के कार्य की साध हमें शेष है, स्वस्थ हों तो इस कार्य को करें।' ठीक ही है—पंडित जी अपने जीवन में सदा से 'जिनवाणी की रटन हो, जब प्राण तन से निकलें' के मूर्तरूप थे।

वे दिन कभी भुलाए न जाएँगे जब पंडित जी ने जिनवाणी की रक्षा में अपनी आजीविका की परवाह किए बिना 'धवला' में त्रुटित 'संजद' पद को सम्मिलित कराने के प्रसंग को छेड़ा और आगे बढ़ाया तथा उसे जुड़वा कर ही चैन की साँस ली। 'संजद' के प्रसंग में समाधिस्थ चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शान्ति सागर जी महाराज का निम्न आशीर्वचन पंडित जी की विजय का स्पष्ट शंख नाद है—'अरे जिनदास, धवलातील ९३वें सूत्र भाव स्त्रीचें वर्णन करणारें आहे व तेथें 'संजद' शब्द अवश्य पाहिजे असें वाटतें।'

स्मरण रहे उक्त प्रसंग में पंडित जी को सर्विस छुटने जैसा तीव्र कांटा लगा और वे मुस्कुराते रहे।

खुदा बख्शे बहुत सी खूबियां थीं, जाने वाले में :

स्व० पंडित जी पक्के सुधारवादी थे। दस्सा पूजाधिकार दिलाने, 'वर्ण जाति और धर्म' जैसी पुस्तक लिखकर अन्तर्जातीय विवाह, समानाधिकार आदि का शंखनाद फूंकने वाले व फिजूलखर्ची जैसी गजरथादि प्रतिष्ठाओं के विरोधियों में उनका प्रमुख हाथ था। धवला, जयधवला, महाबंध आदि खण्डों का विस्तृत भाषान्तर और 'जैन तत्त्व मीमांसा' जैसी कृतियाँ उनके तत्त्वज्ञान का सदा सदा स्मरण कराती रहेंगी।

फल कुछ भी रहा हो पर, खानियाँ तत्त्वचर्चा के माध्यम ने उनके तत्त्वज्ञान के लोहे को जगजाहिर कर दिया। उनकी 'अकिंचित्कर एक अनुशीलन' जैसी अन्तिमकृति भी चिर-चिन्तनीय बनकर रह गई है।

देश के स्वतंत्रता आन्दोलन में भागीदार और स्वतंत्रता के दीवाने होने से वे अपने भौतिक-शरीर में भी कैद न रह सके और धर्म-ध्यान पूर्वक शरीर से छूट गए। उनमें बहुत-सी खूबियाँ थीं। 'वीर सेवा मन्दिर' ऐसे महामना की आत्मिक सद्गति, हेतु कामना करते हुए उन्हें सादर श्रद्धांजलि अर्पित करता है।

सुभाषचन्द्र जैन
महासचिव
वीर सेवा मन्दिर

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य। १ रुपया ५० पैसे
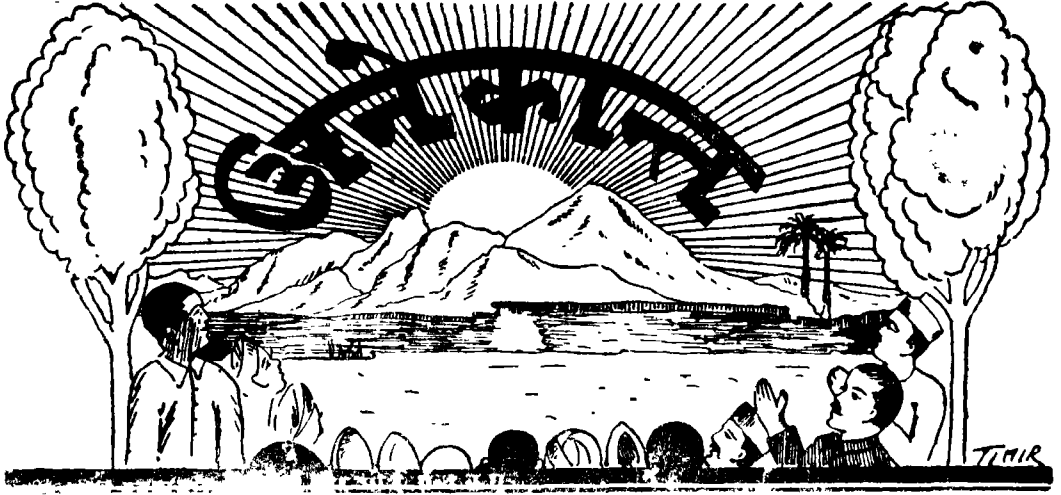
परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वर्ष ४४ किरण ३ | वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ | वीर-निर्वाण संवत् २५१८, वि० स० २०४८ | जुलाई-सितम्बर १९९१

सम्बोधन

कहा परदेसी को पतियारो ।
मन मानै तब चलै पंथ कौं, साँझि गिनै न सकारो ।
सबै कुटुम्ब छाँड़ि इतही, पुनि त्यागि चलै तन प्यारो ।।१।।
दूर दिसावर चलत आपही, कोउ न राखन हारो ।
कोऊ प्रीति करौ किन कोटिक, अंत होयगो न्यारो ।।२।।
धन सौं रुचि धरम सों भूलत, झूलत मोह मझारो ।
इहि विधि काल अनंत गमायो, पायो नहिं भव पारो ।।३।।
साँचे सुख सौं विमुख होत है, भ्रम मदिरा मतवारो ।
चेतहु चेत सुनहु रे 'भैया', आप ही आप संभारो ।।४।
कहा परदेसी को पतियारो ।।

गरब नहिं कीजै रे ए नर निपट गँवार ।
झूंठी काया झूंठी माया, छाया ज्यों लखि लीजै रे ।
कै छिन साँझ सुहागरु जोबन, कै दिन जग में जीजै रे ।।
बेगहि चेत बिलम्ब तजो नर, बंध बढ़ै थिति कीजै रे ।
'भूधर' पल-पल हो है भारी, ज्यों-ज्यों कमरी भीजै रे ।।

卐卐

गतांक से आगे :—

तत्त्वार्थवार्तिक में प्रयुक्त ग्रंथ

□ डॉ० रमेशचन्द्र जैन, बिजनौर

तत्त्वार्थवार्तिक के पंचम अध्याय के ४२वें सूत्र की व्याख्या मे कहा गया है कि कोई (तत्त्वार्थाधिगम भाष्यकार) धर्म, अधर्म, आकाश और काल मे अनादि परिणाम और जीव तथा पुद्गल में सादि परिणाम कहते हैं। उनका कथन ठीक नहीं है; क्योंकि सभी द्रव्यों को द्वयात्मक मानने से ही उनमें सत्त्व हो सकता है। अन्यथा द्रव्यों मे नित्य अभाव का प्रसङ्ग आता है, इनको कैसे ग्रहण करना चाहिए।[1]

'शुभ विशुद्ध मव्याघाति' आदि सूत्र के भाष्य में शरीरों मे संज्ञा, लक्षण आदि से भेद बतलाया है। अकलङ्कदेव ने उनका विस्तृत विवेचन किया है। 'सम्यग्दर्शन' आदि सूत्र की व्याख्या में भाष्यकार ने 'पूर्वस्य लाभे भजनीयमुत्तरम्', उत्तरलाभे तु नियतः पूर्वलाभः, लिखा है। अकलङ्कदेव ने उन्हे वार्तिक बनाकर उनका आशय स्पष्ट किया है। दग्धे 'बीजे यथात्यन्त' आदि पद्य भी उद्धृत किया है, जो भाष्य मे पाया जाता है तथा ग्रन्थ के अन्त में 'उक्त च' करके कुछ श्लोक दिए हैं, जो भाष्य में मिलते है।[2]

सर्वार्थसिद्धि—पूज्यपाद देवनन्दि की सर्वार्थसिद्धि नामक वृत्ति को अन्तर्भूत करके अकलङ्क ने अपने तत्त्वार्थवार्तिक ग्रन्थ की रचना की है। उसकी बहुत सी पंक्तियो को वार्तिक बना लिया है। बहुत-सी पंक्तियों में थोड़ा-बहुत परिवर्तन करके वार्तिक बना लिया है। जैसे—

सर्वार्थसिद्धि	तत्त्वार्थवार्तिक
चेतनालक्षणो जीवः १।४	चेतनास्वभावत्वाद्विकल्पलक्षणो जीवः १।४।१४
तद्विपर्ययलक्षणोऽजीवः १।४	तद्विपरीतत्वादजीवस्तदभावलक्षणः १।४।१५
शुभाशुभकर्मागमद्वार रूप आस्रवः १।४	पुण्यपापागमद्वारलक्षणः आस्रवः १।४।१६
आत्मकर्मणोन्योन्यप्रदेशानुप्रवेशात्मकोबन्धः १।४	आत्मकर्मणोरन्योन्यप्रदेशानुप्रवेशलक्षणो बन्धः १।४।१७
आस्रवनिरोधलक्षणः सवरः १।४	आस्रवनिरोधलक्षणः संवरः १।४।१८
एकदेशकर्मसक्षयलक्षणानिर्जरा १।४	एकदेशकर्मसंक्षयलक्षणा निर्जरा १।४।१९
कृत्स्नकर्मवियोगलक्षणो मोक्षः १।४	कृत्स्नकर्मवियोगलक्षणो मोक्षः १।४।२०

सर्वार्थसिद्धि मे जहां बात संक्षेप मे कही गई है, वहा तत्त्वार्थवार्तिक मे विस्तार पाया जाता है। विस्तार मे पहुंचने पर अकलङ्कदेव की प्रौढ़ शैली के दर्शन होते है। सर्वार्थसिद्धि की एक एक पंक्ति के हार्द को खोलने में तत्त्वार्थवार्तिक का अध्ययन अत्यावश्यक है। उदाहरणार्थ उपर्युक्त निर्जरा के लक्षण को समझाते हुए वे कहते हैं—पूर्व सचित कर्मों का तपोविशेष का सन्निधान होने पर एकदेश क्षय होना निर्जरा है। जैसे मन्त्र या औषधि आदि से निःशक्ति किया हुआ विष दोष उत्पन्न नहीं कर सकता, वैसे ही सर्वविपाक और अविपाक निर्जरा के कारणभूत तपोविशेष के द्वारा निरस्त किए गए व निःशक्ति हुए कर्म ससार चक्र को नही चला सकते।[3]

दार्शनिक और व्याकरणिक प्रसङ्गो पर भी सर्वार्थसिद्धि की अपेक्षा वार्तिककार ने विस्तृत ऊहापोह किया है।

आप्तमीमांसा—तत्त्वार्थवार्तिक के दूसरे अध्याय में औदारिक शरीर रूप कार्य की उपलब्धि होने से कार्मण शरीर का अनुमान लगाया गया है। हेतु के रूप में आप्तमीमामा की ६८वीं कारिका के अश 'कार्यलिङ्गं हि कारणम्' को उद्धृत किया है। पूरी कारिका इस प्रकार है—

कार्यभ्रान्तेरणुभ्रान्तिः कार्यलिङ्गं हि कारणम्।
उभयाभावतस्तस्थ गुण जातीतरच्च न ॥६८॥

छठे अध्याय के प्रथम सूत्र की व्याख्या में तत्त्वार्थवार्तिक मे कर्म शब्द के अकलङ्कदेव ने अनेक अर्थ सप्रमाण बतलाए हैं। कहीं पर कर्ता को इष्ट हो वा कर्ता जिसको

करता हो, उसे कर्म कहते है। जैसे- 'घट करोति' घट को करता है, यहां कर्म शब्द का अर्थ कर्मकारक है। कही पुण्य-पाप अर्थ मे कर्म शब्द का प्रयोग होता है। जैसे-- 'कुशलाकुशलं कर्म' यहा कर्म शब्द का अर्थ पुण्य एव पाप है। कहीं क्रिया अर्थ मे कर्म शब्द का प्रयोग होता है। जैसे—उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण, गमन ये कर्म हैं। यहां कर्म शब्द का क्रिया अर्थ विवक्षित है।

उपर्युक्त कुशलाकुशल कर्म का उदाहरण आचार्य समन्तभद्र की आप्तमीमासा की ८वी कारिका मे दिया है। पूरी कारिका इस प्रकार है—

कुशलाऽकुशलं कर्म परलोकश्च न क्वचित्।
एकान्त-ग्रहरक्तेषु नाथ स्व-पर वैरिषु ॥८॥

युक्त्यनुशासन— संवेदनाद्वैत के खण्डन मे अकलङ्क-देव ने समन्तभद्र के युक्त्यनुशासन की निम्नलिखित कारिका का सहारा लिया है—

प्रत्यक्षबुद्धिः क्रमते न यत्र तल्लिङ्गगम्यं न तदर्थलिङ्गम्।
वचो न वा तद्विषयेण योगः कातद्गतिः कष्टमशृण्वतां ते ॥
युक्त्यनुशासन २२

जहां प्रत्यक्षबुद्धि का प्रवेश नही है अर्थात् जो संवेदनाद्वैत प्रत्यक्षबुद्धि (ज्ञान) का विषय नहीं है, वह अनुमान-गम्य और अर्थरूप, लिङ्गरूप, वचनगम्य भी नहीं हो सकता और जिसके स्वरूप की सिद्धि वचनो के द्वारा नहीं है, उस संवेदनाद्वैत की क्या गति होगी? वह कष्ट से भी श्रवणगोचर नही है, अतः त्याज्य है।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार आचार्य समन्तभद्र ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार के ८६वें श्लोक मे कहा है -

यदनिष्टं तद्व्रतयेद्यच्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात्।
अभिसन्धिकृताविरतिर्विषयाद्योग्याद् व्रतं भवति ॥८६॥

जो अनिष्ट है, वह छोड़ और जो उत्तम कुल के सेवन योग्य नहीं, वह भी छोड़े; क्योंकि योग्य विषय से अभि-प्रायपूर्वक की हुई विरक्तता ही व्रत है।

अकलङ्कदेव ने व्रत की परिभाषा उपर्युक्त अभिप्राय से प्रभावित होकर की है। उनके अनुसार—'व्रतमभि-सन्धिकृतो नियमः[3]' अर्थात् अभिसन्धिकृत नियम व्रत कह-लाता है। बुद्धिपूर्वक परिणाम या बुद्धिपूर्वक पापों का त्याग अभिसन्धि है।

षट्खण्डागम—तत्त्वार्थवार्तिक के प्रथम अध्याय के ३०वें सूत्र की व्याख्या मे षट्खण्डागम की निम्नलिखित पंक्ति उद्धृत है—

'पञ्चेन्द्रिय असंज्ञिपञ्चेन्द्रियादारभ्य आ अयोगकेवलिनः'

अर्थात् असंज्ञी पचेन्द्रिय से लेकर अयोगकेवली पर्यन्त पचेन्द्रिय है।

तत्त्वार्थवार्तिक के दूसरे अध्याय के ४६वे सूत्र की व्याख्या मे शङ्काकार ने शङ्का उठायी है कि षट्खण्डागम जीवस्थान के योगभग प्रकरण मे सात प्रकार के काययोग स्वामी प्ररूपण मे औदारिक काययोग और औदारिक मिश्र काययोग तिर्यञ्च और मनुष्यो के होता है। वैक्रियिक काययोग वैक्रियिक मिश्रकाययोग देव, नारकियो के होता है, ऐसा कहा है।[1] परन्तु यहां तो तिर्यंच और मनुष्यो के भी वैक्रियिक शरीर का विधान किया है—इससे आर्ष-ग्रन्थों मे परस्पर विरोध आता है।

इस शका के समाधान में कहा गया है कि यह विरोध नही है; क्योंकि अन्य ग्रन्थो मे इसका उपदेश पाया जाता है। जैसे—व्याख्याप्रज्ञप्ति दंडक के शरीर भंग मे वायु-कायिक के औदारिक, वैक्रियिक, तैजस और कार्मण ये ४ शरीर कहे है। मनुष्यो के पांच शरीर बतलाए है—

"अणुदिस जाव अवराइदविमाणवासियदेवाणमंतर केवचिरं कालादो होदि? जहण्णेण वासपुधत्तं। उक्कस्सेण बे सागरोवमाणिसादिरेयाणि॥"

- षट्खण्डागम-खुद्दाबन्ध २।३।३०-३२

'द्व्यधिकादिगुणाना तु' सूत्र की व्याख्या मे उक्तं च कहकर षट्खण्डागम की निम्नलिखित गाथा दी गई है—

णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिएण लुक्खस्स लुक्खेण दुराहिएण।
णिद्धस्स लुक्खेण हवेदि बंधो जहण्णवज्जे विसमे समे वा[1]॥

अर्थात् स्नेह का दो गुण अधिक वाले स्नेह से या रूक्ष से, रूक्ष का दो अधिक गुण वाले रूक्ष या स्निग्ध से बन्ध होता है। जघन्य गुण वाले का किसी भी तरह बन्ध नही हो सकता। दो गुण अधिक वाले सम (दो, चार, चार, छह आदि का) और विषम गुण वाले (तीन, पाच, सात आदि) का बन्ध होता है।

'बन्ध समाधिको पारिणामिको' पाठ को आर्षविरोधी दिखलाते हुए तत्त्वार्थवार्तिक में कहा है—वर्गणा मे बन्ध-

विधान के नो आगम बन्ध विकल्पसादि वैस्रसिक बन्ध निर्देश में कहा है कि विषम स्निग्धता और विषम रूक्षता में बन्ध और समस्निग्धता और समरूक्षता मे भेद होता है।[5] इसके अनुसार ही 'गुणसाम्ये सदृशानाम्' यह सूत्र कहा गया है। इस सूत्र में जब सम गुण वालों के बन्ध का प्रतिषेध कर दिया है, तब बन्ध में सम भी पारिणामिक होता है, यह कथन आर्षविरोधी होने से विद्वानों को ग्राह्य नहीं है।

भगवती आराधना—तत्त्वार्थवार्तिक के छठे अध्याय के १३वें सूत्र की व्याख्या में कहा गया है कि यद्यपि संघ समूहवाची है, फिर भी एक व्यक्ति भी अनेक गुण का धारक होने से एक के भी संघत्व की सिद्धि होती है। इसकी सिद्धि मे भगवती आराधना की निम्नलिखित गाथा उद्धृत की है—

संघो संघगुणादो कम्माण विमोयदो हवदि संघो।
दसणणाणचरित्ते संघादित्तो हवदि संघो ।। भ० आ० ७१४

अर्थात् गुणसंघात को संघ कहते है। कर्मों का नाश करने और दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र का संघटन करने से संघ कहा जाता है।

मूलाचार—तत्त्वार्थवार्तिक के सातवें अध्याय के ग्यारहवें सूत्र की व्याख्या मे कहा गया है कि सत्त्वादि में मैत्री आदि भावना यथाक्रम आनी चाहिए। जैसे—

क्षमयामि सर्वजीवान् क्षाम्यामि सर्वजीवेभ्यः।
प्रीतिर्मे सर्वसत्त्वैः वैरं मे न केनचित् ।।

उपर्युक्त पद्य मूलाचार की निम्नलिखित गाथा का संस्कृत रूपान्तर है—

खम्मामि सव्वजीवाणं सव्वे जीवा खमतु मे।
मित्ती मे सव्वभूदेसु वैरं मज्झंण केण वि ।। मूला. गा. ४३

अर्थात् मैं सब जीवों के प्रति क्षमाभाव रखता हूं, सब जीव मुझे क्षमा करें। मेरी सब जीवों से प्रीति है, किसी के साथ वैरभाव नही है।

तत्त्वार्थवार्तिक के ६वें अध्याय के सातवें सूत्र की व्याख्या मे मूलाचार की निम्नलिखित गाथा उद्धृत की गई है—

एगणिगोदसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा।
सिद्धेहि अणंतगुणा सव्वेण वितीदकालेण[6] ।। मूला.गा. १२०४

अर्थात् एक निगोद के शरीर में द्रव्यप्रमाण से जीवों की संख्या सिद्धों की संख्या से और अतीतकाल के सर्व समयों की संख्या से अनन्तगुणी है।

सन्मति तर्क—आचार्य सिद्धसेन के सन्मति तर्क की निम्नलिखित गाथा तत्त्वार्थवार्तिक के प्रथम अध्याय के २६वें सूत्र में प्राप्त होती है—

पण्णवणिज्जा भावा अणंतभागोदु अणभिलप्पाणं।
पण्णवणिज्जाणं पुण अणंतभागो सुदणिबद्धो ।।२।१६

शब्दों के द्वारा प्रज्ञापनीय पदार्थों से वचनातीत पदार्थ अनन्तगुने हैं अर्थात् अनन्तवे भाग पदार्थ प्रज्ञापनीय है और जितने प्रज्ञापनीय हैं और जितने प्रज्ञापनीय पदार्थ है, उसके अनन्तवे भाग पदार्थ श्रुत में निबद्ध होते हैं[7]।

जम्बूद्वीप पण्णत्ती—तत्त्वार्थवार्तिक मे 'उक्तं च' करके एक गाथा उद्धृत की गई है, जो जम्बूद्वीप पण्णत्ती मे मिलती है—

णवदुत्तरसत्तसया दससीदिच्चदुतिगं च दुगचदुक्कं।
ताराऱविससिरिक्खा बुधभग्गवगुरु अंगिरा रसणी ।।
ज. प. १२।९३

अर्थात् इस भूतल से सात सौ नब्बे योजन पर तारा, उससे दस योजन पर सूर्य, उससे अस्सी योजन ऊपर चन्द्रमा, उससे तीन योजन पर नक्षत्र, उनसे तीन योजन ऊपर बुध, उससे तीन योजन ऊपर शुक्र, उससे तीन योजन ऊपर बृहस्पति, उससे चार योजन ऊपर मगल और उससे चार योजन ऊपर शनैश्चर भ्रमण करता है।

यह गाथा सर्वार्थसिद्धि में भी उद्धृत की गई है।[8]

सौन्दरनन्द—तत्त्वार्थवार्तिक में प्रश्न किया गया है कि जैसे तेल, बत्ती और अग्नि आदि सामग्री से निरन्तर जलने वाला दीपक सामग्री के अभाव मे किसी दिशा या विदिशा में न जाकर वहीं अत्यन्त विनाश को प्राप्त हो जाता है। उसी प्रकार कारणवश स्कन्धसन्तति रूप से प्रवर्तमान स्कन्धसमूह जीव व्यपदेशभागी होता है अर्थात् जिसे जीव कहते हैं, वह राग द्वेषादि क्लेशभावों के क्षय हो जाने से दिशा और विदिशा मे न जाकर वहीं पर अत्यन्त प्रलय को प्राप्त हो जाता है। इसके उत्तर में अकलङ्कदेव ने कहा है कि प्रदीप का निरन्वय नाश भी असिद्ध है, क्योंकि

प्रदीप पुद्गल है। वह पुद्गल जाति को न छोड़कर परिणामवश (परिणमन के कारण) मषि (राख) भाव को प्राप्त होता है। अतः दीपक की पुद्गल जाति बनी रहती है, अत्यन्त विनाश नही होता है। उसी प्रकार मुक्तात्मा का भी विनाश नहीं होता"।

उपर्युक्त प्रश्न बौद्ध महाकवि अश्वघोष के सौन्दरानन्द के निम्नलिखित पद्य के अभिप्रायस्वरूप ग्रहण किया है—

दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो स्नेहक्षयात् केवलमति शान्तिम्। दिश न काचिद्विदिशं न काचिद् वैवाति गच्छति नान्तरिक्षम्। एवं कृती निर्वृतिमभ्युपेतः स्नेहक्षयात् केवलमेतिशान्तिम्॥ सौन्दरनन्द १६।२८।२६

प्रवचनसार—तत्त्वार्थवार्तिक म आचार्य कुन्दकुन्द के प्रवचनसार की निम्नलिखित गाथा ° उद्धृत की गई है—

मरदु व जियदु व जीवो अप्रदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामत्तेण समिदस्स॥ प्रव. ३।१७

जीव मरें या न मरे, परन्तु सावधानी की क्रिया नहीं करने वाले प्रमादी के हिंसा अवश्य होती है और जो अपनी क्रिया सावधानीपूर्वक करता है, जीवों की रक्षा करने मे प्रयत्नशील है, प्रमाद नही करता है। उसके द्वारा हिंसा हो जाने पर भी उसे बन्ध नही होता, पाप नही लगता।

सिद्धसेन द्वात्रिंशिका—राजवार्तिक मे एक पंक्ति उद्धृत" की गई है। यह पंक्ति सिद्धसेन द्वात्रिंशिका मे प्राप्त होती है—

वियोजयति चासुभिर्न च वधेन सयुज्यते॥ सिद्ध. द्वा. ३।१६

योनिप्राभृत (जोणिपाहुड) तत्त्वार्थवार्तिक में किसी ने प्रश्न किया है कि क्या साधु पात्र में लाए हुए भोजन की परीक्षा कर खा सकते है। इसके उत्तर म कहा गया है कि पात्र मे लाकर परीक्षा करके भोजन करने मे भी योनिप्राभृतज्ञ साधु को संयोग-विभाग आदि से होने वाले गुण-दोष विचार की उसी समय उत्पत्ति होती है। लाने में भी दोष देखे जाते है, फिर विसर्जन मे अनेक दोष होते हैं।

यहां योनिप्राभृत से तात्पर्य निमित्तशास्त्र सम्बन्धी उस ग्रथ से है, जिसके कर्त्ता आचार्य धरसेन (ईसवी सन् की प्रथम और द्वितीय शताब्दी का मध्य) है। वे प्रज्ञाश्रमण कहलाते थे। वि० स० १५५६ मे लिखी हुई बृहट्टिप्पणिका नाम की ग्रथसूची के अनुसार वीर निर्वाण के ६० वर्ष पश्चात् धरसेन ने इस ग्रथ की रचना की थी। ग्रथ को कूष्माण्डिनी देवी से प्राप्त कर धरसेन ने पुष्पदन्त और भूतबलि नामक अपने शिष्यो के लिए लिखा था। श्वेताम्बर सम्प्रदाय म भी इस ग्रथ का उतना ही आदर था, जितना दिगम्बर सम्प्रदाय मे। धवला टीका के अनुसार इसमे यन्त्र मन्त्र की शक्ति का वर्णन है और इसके द्वारा पुद्गलानुभाग जाना जा सकता है"। निशीथचूर्णि के कथनानुसार आचार्य सिद्धसेन ने जोणिपाहुड के आधार से अश्व बनाए थे। अग्रायणीय पूर्व का कुछ अश लेकर धरसेन ने इस ग्रथ का उद्धार किया है। इसमे पहले २८ हजार गाथाएं थी, उन्ही को सक्षिप्त करके योनिप्राभृत मे कही है"।

सन्दर्भ सूची

१. तत्रानादिरूपिषु धर्माधर्माकाशजीवेश्वति रूपादिष्वादिमान् (५-४३) रूपिषु तु द्रव्येषु आदिमान् परिणामोऽनेकविधः स्पर्शपरिणामादिः। योगोपयोगौ जीवेषु (५-४५) जीवेष्वरूपिष्वपि सत्सु योगोपयोगौ परिणामौ आदिमन्तौ भवतः। —तत्त्वार्थाधिगम भा०
२. न्यायकुमुदचन्द्र प्र० भाग—प्रस्तावना पृ० ७१।
३. तत्त्वार्थवार्तिक १।४।१६, ४. वही ७।१।३
५. औदारिक काययोग। औदारिककिमिश्रकाययोगश्च तिर्यङ्मनुष्याणाम् वैक्रियिक काययोगो वैक्रियिकमिश्रकाययोगश्च देवनरकाणां॥ षट्खण्डागम
६. षट्खण्डागम—वर्गणाखण्ड ५।६।२६
७. वेमादाणिद्धदा वेमादा ल्हुक्खदा बंधो॥३२॥ समणिद्धदा समेलुक्खदा भेदो॥३३॥
षट्खण्डागम वर्गणाखड पृ० ३०
८. गोम्मटसार जीवकांड गा. १६४, पंचसग्रह १।८४
९. तत्त्वार्थवार्तिक ४।१२।१०
१०. सर्वार्थसिद्धि ४।१२, ११. तत्त्वार्थ० १०।४।१७
१२. वही ७।१३।१२, १३. वही ७।१३।१२
१४. डा० जगदीशचन्द्र जैन : प्राकृत साहित्य का इतिहास पृ० ६७३।
१५. वही पृ० ६७४।

कर्नाटक में जैन धर्म

[] श्री राजमल जैन, जनकपुरी

कर्नाटक तथा दक्षिण भारत मे जैनधर्म के प्रसार और प्रभाव पर पुरातत्त्वविदो, इतिहासज्ञो और जिज्ञासु मनीषियों ने भी गम्भीर अध्ययन और विचार किया है तथा उसके प्रभाव को धर्म, कला और संस्कृति की दृष्टि से व्यापक और महत्त्वपूर्ण माना है। कर्नाटक मे जैनधर्म के इतिहास पर विचार करने मे पहले कुछ महत्त्वपूर्ण मनीषियो के विचारो को जान लेना होगा :

श्री एम. एस. रामास्वामी अय्यगर ने लिखा है—

"No topic of ancient Soth Indian History is more interesting than the origin and development of Jains, who in times past, profoundly influenced the political, religious and literary institutions of South India"[1]

अर्थात् दक्षिण भारत के प्राचीन इतिहास का कोई भी विषय इतना अधिक रुचिकर नही है जितना कि जैनो की उत्पत्ति और विकास मे सम्बन्धित विषय। क्योंकि प्राचीन काल मे जैनों ने दक्षिण भारत की राजनीतिक, धार्मिक और साहित्यिक सस्थाओ को बहुत अधिक प्रभावित किया था।"

इसी प्रकार सुप्रसिद्ध पुरातत्त्वविद् श्री सी शिवराममूर्ति ने लिखा है -

"South India has been a great seat of the Digambara Jain faith"[2] अर्थात् दक्षिण भारत दिगम्बर जैनधर्म का एक बडा केन्द्र रहा है।

श्री शिवराममूर्ति की पुस्तक की भूमिका मे स्व० प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने लिखा था -

"Jainism emboies deep investigations into the nature of reality. It has given us the message of non-violence. It was born in the heart-land of India but its influence pervaded all parts of the country. Some of the earliest literature of the Tamil region is of Jain origin. The great Jain Temples and sculptured monuments of Karnataka, Maharashtra, Gujarat and Rajasthan are world-renowned."

"Some historians tend to classify the cultural anb political development of India into water-tight religious groupings. But a little analysis will show that the evolution of Indian culture was by the union of many streams which make up the mighty river which it has become"[3]

अर्थात् "जैनधर्म मे सत् की प्रकृति का गम्भीर अन्वेषण निहित है। उसने हमे अहिंसा का सन्देश दिया है। उसका उदय भारत के हृदय प्रदेश मे हुआ था किन्तु उसका प्रभाव देश के समस्त भागो मे फैल गया। तमिल प्रदेश के बहुत प्राचीन साहित्य के बहुत कुछ अश का मूल जैन है। कर्नाटक, महाराष्ट्र, गुजरात और राजस्थान के सुन्दर जैन मन्दिर और मूर्तियां सम्बन्धी स्मारक तो विश्वप्रसिद्ध है।"

"कुछ इतिहासकार भारत के सास्कृतिक तथा राजनीतिक विकास का सकीर्ण धार्मिक समूहो मे वर्गीकृत

1. M.S. RamaswamiAyyangar : Studies in South Indian Jainism, Part I. p. 3, Second Edition, 1982 (First Edition 1922, Delhi, Sri Satguru Publications).
2. C. Shivaramamurtti—Panorama of Jain Art, p. 15, Times of India, Oew Delhi, 1983.
3. Ibid, forword.

करने की प्रवृत्ति रखते हैं। किन्तु यदि थोड़ा-सा भी विश्लेषण किया जाए तो यह बात सामने आएगी कि भारतीय संस्कृति का उत्तरोत्तर विकास अब अनेक धाराओं के संगम से हुआ है जिसने कि एक विशाल महानद का रूप ले लिया है।"

इन उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि कर्नाटक मे जैनधर्म की स्थिति पर विचार के लिए सबसे पहली आवश्यकता है निष्पक्ष दृष्टि और गहरे अध्ययन-मनन की।

दूसरी आवश्यकता इस बात की भी है कि कर्नाटक मे जैनधर्म के अस्तित्व का निर्णय केवल शिलालेखों या साहित्यिक सन्दर्भों के आधार पर ही नही किया जाए और न ही यह दृष्टि अपनाई जाए कि शिलालेख आदि लिखित प्रमाणो के अभाव मे जैनधर्म का अस्तित्व स्वीकार नही किया जा सकता। वास्तव मे हमारे देश में मौखिक परंपरा बहुत प्राचीन काल से सुरक्षित रही आई है। जो कुछ प्राचीन इतिहास हमें ज्ञात होता है वह या तो मौखिक परम्परा से या फिर पुराणों के रूप मे रहा है। ये पुराण जैन भी हैं और वैदिक धारा के भी। इनमे कहीं तो महापुरुषों की महत्त्वपूर्ण घटनाओ के विवरण है तो कहीं संकेत मात्र। ये भी सुने जाकर ही लिखे गए है। यदि इन्हे सत्य नही माना जाए तो रामायण या महाभारत अथवा राम या कृष्ण सबका अस्तित्व अस्वीकार करना होगा और तब तो किसी तीर्थंकर का अस्तित्व भी सिद्ध नही हो सकेगा। अत: आइये, हम भी परम्परागत या पौराणिक इतिहास पर एक दृष्टि डाले।

परम्परागत इतिहास

प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव ने कर्मयुग की सृष्टि की थी और इस देश की जनता को कृषि करना सिखाया था। वे प्रथम सम्राट् भी थे। जब उन्होने राज्य की नींव डाली तब उन्होंने ही इस देश को मण्डलो, पुरों आदि मे विभाजित किया था। इस देश-विभाजन मे कर्णाटक देश भी था। ऋषभदेव ने अपनी पुत्री ब्राह्मी को लिपि (ब्राह्मी) का ज्ञान दिया था। उसी लिपि से कन्नड लिपि के कुछ अक्षर निकले है। जब वे मुनि हो गये तो उन्होंने सारे देश में विहार किया और लोगों को धर्म की शिक्षा दी। भागवत पुराण भी इस बात का समर्थन करता है कि उनके धर्म का प्रचार कर्णाटक देश में अधिक हुआ था (देखिए 'श्रवणबेलगोल' प्रकरण मे 'ऋषभदेव')।

चक्रवर्ती भरत—ऋषभदेव के पुत्र के नाम पर यह देश भारत कहलाता है। जैन पुराणो के अतिरिक्त वैदिक धारा के चौदह पुराण इस तथ्य का समर्थन करते है। वैदिक-जन आज भी 'जम्बूद्वीपे भरतखण्डे ...' का नित्य पाठ करते हैं। भरत ने छह खण्डों की दिग्विजय की थी। उनके समय मे भी कर्नाटक देश मे जैनधर्म का प्रचार था।

ग्यारह और चक्रवर्ती—जैन परम्परा के अनुसार भरत के बाद ग्यारह चक्रवर्ती और हुए है। ये जैन धर्मावलम्बी थे और उनका समस्त भारत पर शासन था।

किष्किन्धा के जैन धर्मानुयायी विद्याधर—बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत के तीर्थकाल में रामायण की घटनाएँ घटी हैं। राम-चरित से सम्बन्धित जैन पुराणो मे उल्लेख है कि हनुमान विद्याधर जाति के वानरवंशी थे। वे वानर नही थे, उनके वंश का नाम वानर था और उनके ध्वज पर वानर का चिह्न होता था। हनुमान किष्किन्धा के थे। यह क्षेत्र आजकल के कर्नाटक में हम्पी (विजयनगर) कहलाता है। जैन साहित्य में हनुमान के चरित पर आधारित अंजना-पवनंजय नाटक बहुत लोकप्रिय है।

नेमिनाथ का दक्षिण क्षेत्र पर विशेष प्रभाव—बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ का जन्म शौरिपुर में हुआ था किन्तु अपने पिता समुद्रविजय के साथ वे भी द्वारका चले गये थे। श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव समुद्रविजय के छोटे भाई थे। श्रीकृष्ण ने प्रवृत्तिमार्ग का उपदेश दिया और नेमिनाथ ने निवृत्तिमार्ग का। नेमिनाथ ने गिरनार (सौराष्ट्र) पर तपस्या की थी और, डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन के अनुसार, "तीर्थंकर नेमिनाथ का प्रभाव विशेषकर पश्चिमी एवं दक्षिणी भारत पर हुआ। दक्षिण भारत के विभिन्न भागो से प्राप्त जैन तीर्थंकर मूर्तियों में नेमिनाथ प्रतिमाओं का बाहुल्य है जो अकारण नही है। इसके अतिरिक्त कर्नाटक प्रदेश में नेमिनाथ की यक्षी कूष्माण्डिनीदेवी की आज भी व्यापक मान्यता इस तथ्य की पुष्टि करती है। श्रवणबेलगोल में गोमटेश्वर मूर्ति की प्रतिष्ठा के

साथ इस देवी के चमत्कार की कथा बहुत प्रसिद्ध है।

ऐतिहासिक युग

पार्श्वनाथ और नाग-पूजा:

तेईसवे तीर्थंकर पार्श्वनाथ थे। उनकी ऐतिहासिकता तो सिद्ध ही है। उन्होंने अपने जीवन मे ७० वर्षों तक विहार कर धर्म का प्रचार किया था। उन पर कमठ नामक वैरी ने घोर उपसर्ग किया था। सम्भवतः यह आश्चर्यजनक ही है कि कर्नाटक मे कमठान (कमठ स्थान?) कमठगी जैसे स्थान हैं और कमथ या कमठ उपनाम आज भी प्रचलित हैं। वैसे ये उपसर्ग उत्तर भारत मे हुए बताए जाते हैं किन्तु स्थान-भ्रम की सम्भावना से भी इनकार नही किया जा सकता।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ नागजाति की एक शाखा उरगवंश के थे (उरग-सर्प)। उनकी मूर्ति पर सर्पफणों की छाया होती है। कुछ विद्वानों का मत है कि पार्श्वनाथ के समय में नाग-जाति के राजतन्त्रों या गणतन्त्रों का उदय दक्षिण में भी हो चुका था और उनके इष्टदेवता पार्श्वनाथ थे।

कर्नाटक में यदि जैन बसदियों (मन्दिरों) का वर्गीकरण किया जाए तो पार्श्वनाथ मन्दिरों की ही संख्या सबसे अधिक आएगी। इसी प्रकार पार्श्व-प्रतिमा स्थापित किए जाने के शिलालेख अधिक सख्या मे है।

एक तथ्य यह भी है कि कर्नाटक मे पार्श्वनाथ के यक्ष धरणेन्द्र यक्षी पद्मावती की मान्यता बहुत ही अधिक है। कुछ क्षेत्रो मे पद्मावती की चमत्कारपूर्ण प्रतिमाएँ है।

कर्नाटक के समान ही केरल मे नाग-पूजा सबसे अधिक है। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि केरल में यह पूजा बौद्धो के कारण प्रचलित हुई। अन्य विद्वान् इसका खण्डन कर कथन करते है कि यह तुलु प्रदेश (मूडबिद्री के आस-पास के क्षेत्र) से केरल मे आई और वहा तो जैनधर्म और पार्श्वनाथ की ही मान्यता अधिक थी। कर्नाटक के दक्षिणी भाग मे नाग-पूजा भी पार्श्वनाथ के प्रभाव को प्रमाणित करती है।

महावीर और हेमांगद शासक जीवंधर :

चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर, जिनका निर्वाण आज (१९८८ ई०) से २५१५ वर्ष पूर्व हुआ था, के धर्म का प्रचार अश्मक देश (गोदावरी के तट का प्रदेश), सुश्मक देश (आन्ध्र-पोदनपुर) तथा हेमांगद देश (कर्नाटक) में भी था। हेमांगद देश की स्थिति कर्नाटक में बतायी जाती है। यहां के राजा जीवंधर ने भगवान महावीर के समवशरण में पहुंचकर दीक्षा ले ली थी। संक्षेप में, जीवंधर की कथा इस प्रकार है—जीवंधर के पिता सत्यंधर अपनी रानी मे बहुत आसक्त हो गए। इसलिए मन्त्री काष्ठांगार ने उनके राज्य पर अधिकार कर लिया। सत्यंधर युद्ध मे मारे गये किन्तु उन्होंने अपनी गर्भवती रानी को केकियन्त्र मे बाहर भेज दिया था। शिशु ने बड़ा होने पर आचार्य आर्यनन्दि से शिक्षा ली और अपने राज्य को पुनः प्राप्त किया। काफी वर्ष राज्य करने के बाद उन्हें वैराग्य हुआ और वे भगवान महावीर के समवसरण में जाकर दीक्षित हो गए।

सन् १९८२ ई० में प्रकाशित 'Karnataka State Gazeteer' Vol-I में लिखा है—

"Jainism in Karnataka is believed to go back *to the days of Bhagawan Mahavir.* Jivandhara, a prince from Karnataka is described as having been initiated by Mahavir himself."

अर्थात् विश्वास किया जाता है कि कर्नाटक मे जैन-धर्म का इतिहास भगवान महावीर के युग तक जाता है। कर्नाटक के एक राजा जीवंधर को स्वयं महावीर ने दीक्षा दी थी ऐसा वर्णन आता है।

संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश मे तो लगभग एक हजार वर्षों तक जीवंधरचरित पर आधारित रचनाएँ लिखी जाती रहीं। तमिल और कन्नड़ में भी उनके जीवन से सम्बन्धित रचनाएँ हैं। जीवकचिन्तामणि (तमिल), कन्नड़ मे—जीवंधरचरिते (भास्कर, २४२४ ई.), जीवंधर-सांगत्य (बोम्मरस, १४८५ ई०) जीवंधर-षट्पदी (कोटीश्वर, १५०० ई०) तथा जीवंधरचरिते (बोम्मरस)।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह निष्कर्ष सुविचारित एव सुपरीक्षित नही लगता कि कर्नाटक में जैनधर्म का प्रचार ही उस समय प्रारम्भ हुआ जब चन्द्रगुप्त मौर्य और

श्रुतकेवली भद्रबाहु श्रवणबेलगोल आए। कम-से-कम भगवान महावीर के समय में भी जैनधर्म कर्नाटक मे विद्यमान था यह तथ्य हेमांगद नरेश जीवंधर के चरित्र मे स्वत सिद्ध है।

बौद्धग्रन्थ 'महावंश' का साक्ष्य :

श्रीलंका के राजा पाण्डुकाभय (ईसापूर्व ३७७ से ३०७) और उसकी राजधानी अनुराधापुर के सम्बन्ध मे चौथी शताब्दी के बौद्धग्रंथ 'महावंश' में कहा गया है कि श्रीलका के इस राजा निगंथ जोतिय (निगथ=निर्ग्रन्थ-जैनों के लिए प्रयुक्त नाम जो कि दिगम्बर का सूचक है) के निवास के लिए एक भवन बनवाया था। वहां और भी निर्ग्रन्थ साधु निवास करते थे। पाण्डुकाभय ने एक निर्ग्रन्थ कुंभण्ड के लिए एक मन्दिर भी बनवा दिया था। इस उल्लेख से यह सिद्ध होता है कि ईसा से लगभग चार सौ वर्ष पूर्व श्री लंका मे जैनधर्म का प्रचार हो चुका था और वहां दिगबर जैन साधु विद्यमान थे। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि वहां जैनधर्म दक्षिण में पर्याप्त प्रचार के बाद ही या तो कर्नाटक-तमिलनाडु होते हुए या कर्नाटक-केरल होते हुए एक प्रमुख धर्म के रूप में प्रतिष्ठित हुआ होगा।

महावंश में उल्लिखित जैनधर्म सम्बन्धी तथ्य को प्रसिद्ध इतिहासकार श्री नीलकंठ शास्त्री ने भी स्वीकार करते हुए 'दी एज ऑफ नन्दाजएण्ड मौर्याज' मे लिखा है कि राजा पांडुकाभय ने निर्ग्रन्थों को भी दान दिया था।

नन्द-वंश :

महावीर स्वामी के बाद पाटलिपुत्र मे नन्दवश प्रतिष्ठित हुआ। यह वंश जैन धर्मानुयायी था। यह तथ्य सम्राट् खारवेल के लगभग २२०० वर्ष पुराने उस शिला लेख से स्पष्ट है जिसमे उसने कहा है कि कलिंगजिन की जो मूर्ति नन्द राजा उठा ले गया था, उसे वह वापस लाया है। इस वश का राज्य पूरे भारत पर था। कर्नाटक के बीदर को महाराष्ट्र से जोड़ने वाली सड़क नांदेड जाती है। विद्वानों के अनुसार नव (नौ) 'नन्द देहरा' उस स्थान का प्राचीन नाम है जो घिसकर नान्देड हो गया है। 'देहरा' जैन मन्दिर के लिए आज भी राजस्थान-गुजरात में प्रयुक्त होता है। नांदेड वह स्थान था जहां नन्दो ने जैन मन्दिर बनवाया था और (नान्द) नगर बसाया था। इस बात के प्रमाण हैं कि कुंतल देश नन्द राजाओं की सीमा मे था। श्री एम. एस. रामास्वामी अय्यंगर 'कुंतल' देश को roughly Karnataka (मोटे तौर पर कर्नाटक) मानते है। इसके अतिरिक्त कुछ तमिल ग्रन्थो मे अन्तिम नन्द राजा धननन्द के अपार खजाने, उसके गंगा मे गड़े होने या बह जाने का उसके लालच का उल्लेख करते हैं। आशय यह कि तत्कालीन तमिल देश भी नन्दों के अधीन था और इस खजाने के सम्बन्ध मे चर्चा यहां के लोगों लेखकों मे अक्सर होती रहती थी।

प्राचीन भारतीय इतिहास के विशेषज्ञ श्री हेमचन्द्रराय चौधरी ने 'इंडिया इन द एज ऑफ नन्दाज' नामक अध्याय मे लिखा है

"Jain writers refer to the subjugation by Nanda's minister of the whole country down to the seas"

अर्थात् "जैन लेखक इस बात का उल्लेख करते हैं कि नन्द के मन्त्री ने समुद्र पर्यन्त सारे देश को अधीन कर लिया था।" यदि इन जैन लेखकों के कथन मे कुछ भी सच्चाई होती, तो श्री राय चौधरी उसका उल्लेख नहीं करते।

मौर्य-वंश :

दूसरे जो प्रमाण मिले है उनसे यह सिद्ध होता है कि कर्नाटक मे जैन धर्म का प्रसार चन्द्रगुप्त मौर्य और आचार्य भद्रबाहु के श्रवणबेलगोल आने से पूर्व ही हो चुका था। यदि ऐसा नहीं होता तो चन्द्रगुप्त मौर्य बारह हजार मुनियों (उनके साथ एक लाख जैन श्रावक भी रहे होंगे) को अपने साथ लेकर कर्नाटक नहीं आते। यह तथ्य इस बात का भी खण्डन करता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य ने दक्षिण पर भी विजय की थी।

चन्द्रगुप्त मौर्य के पुत्र बिन्दुसार और पोते सम्राट् अशोक ने भी श्रवणबेलगोल की यात्रा की थी। कर्नाटक मे कुछ स्थानो (रायचूर जिला) पर अशोक के लेख भी पाये जाते है। अशोक को बौद्ध बताया जाता है किन्तु यह पूरी तरह सत्य नहीं है। इस तथ्य के समर्थन में श्री एम. एस. रामास्वामी अय्यंगर ने लिखा है—

"Prof. Kern, the great authority on Buddhist scriptures, has to admit that nothing of a Buddhist can be discovered in the state policy of Ashoka. His ordinance concerning the sparing of life agree much more closely withe the ideas of the heretical Jains than those of the Buddhists.

अर्थात् बौद्ध धर्मग्रन्थों के महान् अधिकारी विद्वान् प्रो० कर्न को यह स्वीकार करना पड़ा है कि अशोक की राज्य-नीति में बौद्ध जैसी कोई बात नही पाई जाती। जीवों की रक्षा सम्बन्धी उसके आदेश बौद्धों की अपेक्षा विधर्मी जैनों से बहुत अधिक मेल खाते हैं।

अशोक के उत्तराधिकारी सभी मौर्य राजा जैन थे। अत: मौर्य राजाओ के शासनकाल मे कर्नाटक मे जैन धर्म का प्रचार-प्रसार चन्द्रगुप्त-भद्रबाहु परम्परा के कारण भी काफी रहा।

सातवाहन-वंश :

मौर्य वंश का शासन समाप्त होने के बाद, कर्नाटक में पैठन (प्राचीन नाम प्रतिष्ठानपुर, महाराष्ट्र) के सातवाहन राजाओं का शासन रहा। इस वश ने ईसा पूर्व तीसरी सदी से ईसा की तीसरी शताब्दी अर्थात् लगभग ६०० वर्षों तक राज्य किया। थे तो ये ब्राह्मण किन्तु इस वंश के भी कुछ राजा जैन हुए हैं। उन सब मे शालिवाहन या 'हाल' का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस राजा द्वारा रचित प्राकृत ग्रन्थ 'गाथा सप्तशती' पर जैन विचारों का प्रभाव है। इस वश से सम्बन्धित कुछ स्थानो का पता गुलबर्गा जिले में चला है। स्वयं हाल का दावा था कि वह 'कुन्तलजनपदेश्वर' है। इसके समय में प्राकृत भाषा की भी उन्नति हुई। कर्नाटक में प्राकृत के प्रसार का श्रेय मौर्य और सातवाहन वंश का है।

कदम्ब-वंश :

सातवाहन वंश के बाद कर्नाटक मे दो नये राजाओं का उदय हुआ। एक तो था कदम्ब वंश (३०० ई० से ५०० ई०) जिसकी राजधानी क्रमश: करहद (करहाटक) वैजयन्ती (वनवासी) रही। इतिहास में वैजयन्ती के कदंब नाम से प्रसिद्ध हैं। यह वंश भी ब्राह्मण धर्मानुयायी था तथापि कुछ राजा जैन धर्म के प्रति अत्यन्त उदार या जैन धर्मावलम्बी थे। इस वंश का दूसरा राजा शिवकोटि प्रसिद्ध जैनाचार्य समन्तभद्र स्वामी से जैन धर्म में दीक्षित हो गया था। कदम्बवंशी राजा काकुत्स्थवर्मन् का लगभग ४०० ई० का एक ताम्रलेख हलसी (कर्नाटक) से प्राप्त हुआ है, जिसके अनुसार उसने अपनी राजधानी पलासिका (कर्नाटक) के जिनालय को एक गांव दान में दिया था। लेख में उसने 'जिनेन्द्र की जय' की है और ऋषभदेव को नमस्कार किया है।

काकुत्स्थवर्मन् के पुत्र शान्तिवर्मा ने भी अर्हन्तदेव के अभिषेक आदि के लिए दान दिया था और एक जिनालय भी पलासिका मे बनवाकर श्रुतकीर्ति को दान कर दिया था। उसके पुत्र मृगेशवर्मन् (४५०-४७८ ई०) ने भी कालवग नामक एक गांव के तीन भाग कर एक भाग अर्हन्महाजिनेन्द्र के लिए, दूसरा श्वेताम्बर महा संघ के लिए और तीसरा भाग दिगम्बर श्रमण (निर्ग्रन्थ) के उपयोग के लिए दान मे दिया था। उसने अर्हन्तदेव के अभिषेक आदि के लिए भूमि आदि दान की थी।

मृगेशवर्मन् के बाद रविवर्मन् (४७८-५२० ई०) ने जैन धर्म के लिए बहुत कुछ किया। अपने पूर्वजो के दान की उसने पुष्टि की, अष्टाह्निका मे प्रति वर्ष पूजन के लिए पुरखेटक गांव दान किया, राजधानी में नित्य पूजा की व्यवस्था की तथा जैन गुरुओं का सम्मान किया। उसने ऐसी भी व्यवस्था की कि चातुर्मास मे मुनियो के आहार में वाधा न आये तथा कार्तिकी मे नन्दीश्वर विधान हो।

हरिवर्मन् कदम्ब (५२०-५४० ई.) ने भी अष्टाह्निका तथा सघ को भोजन आदि के लिए कूर्चक संघ के वारिषेणाचार्य को एक गाव दान में दिया था। उसने अहिरिष्ट नामक श्रमण-सघ को मरदे नामक गांव का दान भी किया था।

कदम्बों के दान आदि पर विचार कर पुरातत्त्वविद् श्री टी एन. रामचन्द्रन् ने लिखा है, 'कर्नाटक में वनवासि के कदम्ब के शासक···यद्यपि हिन्दू थे तथापि उनकी बहुत सी प्रजा के जैन होने के कारण वे भी यथाक्रम जैनधर्म के अनुकूल थे।" (अनेकान्त से)

गंग-वंश :

कर्नाटक में जैनधर्म के इतिहास मे इस वश का स्थान सबसे ऊंचा है। इस वंश की स्थापना ही जैनाचार्य सहनन्दी ने की थी। एक शिलालेख मे इन आचार्य को 'नग-राज्य-समुद्धरण' कहा गया है। शिलालेखानुसार उज्जयिनी के राजा ने जब अहिच्छत्र के राजा पद्मनाभ पर आक्रमण किया तो राजा ने अपने दो पुत्रो बड्ढग और माधव को दक्षिण की ओर भेज दिया। वे कर्नाटक के पेरूर नामक स्थान में पहुंचे। उस समय वहां विद्यमान सिहनन्दी ने उनमें राजपुरुषोचित गुण देखे। बल-परीक्षा के समय माधव ने तलवार से एक पाषाण-स्तम्भ के टुकडे कर दिए। आचार्य ने उन्हें शिक्षा दी, मुकुट पहनाया और अपनी पिच्छी का चिह्न उन्हें दिया। उन्हे 'जिनधर्म से विमुख नही होने तथा कुछ दुर्गुणों से बचने पर ही कुल चलेगा' यह चेतावनी भी दी। बताया जाता है कि घटना १८८ ई० अथवा तीसरी सदी की है। इस वश ने कर्नाटक में लगभग एक हजार वर्षों तक शासन किया। उसकी पहली राजधानी कुवलाल (आधुनिक कोलार), तलकाड (कावेरी नदी के किनारे) तथा मान्यपुर (मण्णे) रही। इतिहास मे यह तलकाड (तालवनपुर) का गगवश नाम से ही अधिक प्रसिद्ध है। इनके द्वारा शासित प्रदेश 'गगवाडी' कहलाता था और उसमे मैसूर के आसपास का बहुत बडा भाग शामिल था। कर्नाटक का यही राजवश ऐसा है जिसने कर्नाटक के सबसे लम्बी अवधि—ईसा की चौथी सदी से ग्यारहवी सदी तक—राज्य किया है।

गंगवश के समय में जैन धर्म की स्थिति का आकलन करते हुए श्री टी. एन. रामचन्द्रन् ने लिखा है, जैन धर्म का स्वर्णयुग साधारणतया "दक्षिण भारत मे और विशेषकर कर्नाटक मे गगवश के शासकों के समय मे था, जिन्होंने जैनधर्म को राष्ट्रधर्म के रूप मे स्वीकार किया था।" उनके इस कथन मे अतिशयोक्ति नही जान पड़ती। किन्तु यह उचित इस वश के जैनधर्म के प्रचार सम्बन्धी प्रयत्नों का साराश ही है। कुछ प्रमुख गंगवशी राजाओं का सक्षिप्त परिचय यहाँ जैनधर्म के प्रसग मे दिया जा रहा है।

गगवश का प्रथम नरेश माधव था जो कि कोंगुणिवर्म प्रथम के नाम से प्रसिद्ध है। उसने मण्डलि नामक स्थान पर काष्ठ का एक जैन मन्दिर बनवाया था और एक जैन पीठ की भी स्थापना की थी। इसी वंश के अविनीत गंग के विषय मे यह कहा जाता है कि तीर्थंकर प्रतिमा सिर पर रखकर उसने बाढ से उफनती हुई कावेरी नदी को पार किया था। उसने अपने पुत्र दुर्विनीत गंग की शिक्षा आचार्य देवनन्दि पूज्यपाद के सान्निध्य मे दिलाई थी तथा लालवन नगर की जैन बसदि के लिए तथा अन्य बसदियों आदि के लिए विविध दान दिए थे।

दुर्विनीत का काल ४८१ ई० से ५२२ ई० के लगभग माना जाता है। यह पराक्रमी होने के साथ ही साथ परम जिनभक्त और विद्यारसिक भी था। उसने कोगलि (कर्नाटक) मे चेन्न पार्श्वनाथ नामक बसदि का निर्माण कराया था। देवनन्दि पूज्यपाद उसके गुरु थे। प्रसिद्ध सस्कृत कवि भारवि भी उसके दरबार में रहे। उसने पूज्यपाद द्वारा रचित पाणिनिव्याकरण की टीका का कन्नड मे अनुवाद भी किया था। उनके समय में तलकाड एक प्रमुख जैन-विद्या केन्द्र था।

श्री रामास्वामी अय्यंगर का मत है कि दुर्विनीत के उत्तराधिकारी मुष्कर के समय में "जैनधर्म गंगवाडी का राष्ट्रधर्म था।" उसने बल्लारी के समीप एक जिनालय का भी निर्माण कराया था। इस वश की अगली कड़ी मे शिवमार प्रथम नामक राजा (५५० ई० में) हुआ है जो जिनेन्द्र भगवान का परम भक्त था। उसके गुरु चन्द्रसेनाचार्य थे और उसने अनेक जैन मन्दिरों का निर्माण कराया था तथा दान दिया था।

श्रीपुरुष मुत्तरस (७२६–७७६ ई०) नामक गंगनरेश ने अनेक जैन मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया था। उसने तोल्ल विषय (जिला) के जिनालय, श्रीपुर के पार्श्व जिनालय और उसके पास के लोकतिलक जिनमन्दिर को दान दिया था। आचार्य विद्यानन्द ने 'श्रीपुर-पार्श्वनाथ-स्तोत्र' की रचना की रचना भी श्रीपुर मे इसी नरेश के सामने की थी ऐसी अनुश्रुति है।

(क्रमशः)

केन्द्रीय संग्रहालय गूजरीमहल ग्वालियर में सुरक्षित सहस्र जिनबिंब प्रतिमाएँ

□ नरेश कुमार पाठक

मध्यप्रदेश के पुरातत्व संग्रहालयो मे केन्द्रीय संग्रहालय गूजरी महल ग्वालियर का महत्वपूर्ण स्थान है, इस संग्रहालय म जैन प्रतिमाओ का विशाल संग्रह है। प्रस्तुत लेख मे संग्रहालय की सहस्र जिन बिम्ब प्रतिमाओ का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है। यह स्तम्भाकृति, शिल्पखंड जैन ग्रन्थो मे वर्णित मान स्तम्भ सहस्रकूट व जिन चैत्यालय का प्रतीक है। संग्रहालय में बलुआ पत्थर पर निर्मित ग्यारहवी शती ईस्वी की कच्छपघात कालीन तीन प्रतिमा सुरक्षित है, जिनका विवरण निम्नानुसार है :—

ग्वालियर दुर्ग से प्राप्त एक गोलाकार स्तम्भ को पूर्व में जैन स्तम्भ खडित लिखा गया है।[1] जबकि यह सहस्र जिन बिम्ब स्तम्भ है, इस पर दस पंक्तियो म जिन प्रतिमाएँ अंकित है। (सं० क्र० २६०) प्रथम पंक्ति मे प्रथम मूर्ति तीर्थंकर आदिनाथ की है, शेष ग्यारह पद्मासन जिन मूर्ति दूसरी पंक्ति मे सात जिन मूर्ति, तीसरी पंक्ति म पन्द्रह जिन मूर्ति, चौथी पंक्ति मे ग्यारह जिन मूर्ति, ५वी पक्ति में आठ जिन मूर्ति, छठी पंक्ति मे सोलह जिन मूर्ति, सातवी पक्ति में तेरह जिन मूर्ति, आठवी पंक्ति मे नौ जिन मूर्ति, नौवी पंक्ति मे ग्यारह जिन मूर्ति, दसवी पंक्ति म बीस जिन मूर्ति, ग्यारहवी पंक्ति मे सोलह जिन मूर्तियां अंकित हैं। सभी मूर्ति पद्मासन मुद्रा मे अंकित है। प्रतिमा का आकार १८५ ×७५ × ७५ से० मी० है। बालचन्द्र जैन ने इसे मान स्तम्भ माना है, जिसमे एक सौ उनतालीस पद्मासन मे तीर्थंकर प्रतिमा अंकित है[2]। जबकि इसमें एक सौ पैंतालीस तीर्थंकर प्रतिमाएँ बैठी हुई है।

सुहोनिया जिला मुरैना म० प्र० से प्राप्त इस मूर्ति को पूर्व म पट्ट जिस पर अठारह तीर्थंकर प्रतिमा बनी है, लिखा गया है[3]। जबकि यह सहस्र जिन बिम्ब है। इस शिल्पकृति म तीन पंक्तियों में पद्मासन की ध्यानस्थ मुद्रा मे जिन प्रतिमाओं का अंकन है। (सं० क्र० ३१०१) प्रत्येक पंक्ति मे ६-६ प्रतिमाएँ अंकित की गई है। बायीं ओर अलंकृत घट पल्लवों से युक्त स्तम्भ का आलेखन है। प्रतिमा का आकार ३६ × ५० × १२ सें० मी० है। बालचन्द्र जैन ने इसका काल पन्द्रहवीं शताब्दी माना है[4]। जो उचित प्रतीत नही होता है। यह प्रतिमा ११वी शती ई० की है।

पढावली जिला मुरैना म० प्र० से प्राप्त प्रतिमा को स्तम्भ पर उत्कीर्ण चौबीस तीर्थंकर लिखा है[5]। जब कि यह सहस्र जिन बिम्ब है। इस शिल्प खंड के चारों ओर जिन प्रतिमाएँ बनाई गई है, जो सभी पद्मासन मे हैं। (सं० क्र० ३४३) और सहस्र जिन प्रतिमाओं का संकेत करती है[6]। प्रस्तुत स्तम्भाकृति मे तीन पंक्तियां हैं। प्रत्येक पंक्ति म बनी प्रतिमाओं की संख्या इस प्रकार है:—

नीचे की पहली पंक्ति प्रत्येक ओर ३—३ = १२

द्वितीय ,, ,, ,, २—२ = ८

तीसरी ,, ,, ,, १—१ = ४.

प्रत्येक जिन (तीर्थंकर) प्रतिमा के नीचे धर्मचक्र विपरीत दिशा में मुख किये सिंह अंकित हैं। नीचे की पंक्ति में आदिनाथ एव पार्श्वनाथ की प्रतिमा स्पष्ट है। दो खंडित प्रतिमा नेमिनाथ एवं महावीर की रही होगी। इसके नीचे अंजली हस्त मुद्रा मे सेवक बैठे हुए हैं। पार्श्व में चामरधारी अंकित है। सम्पूर्ण स्तम्भ अमृत कलश विद्याधर, पुष्प एवं गवाक्षों से अलंकृत है। प्रतिमा का आकार १४८ × ६० × ६० सें०मी० है। बालचन्द्र जैन ने इसे मान स्तम्भ माना है एवं देव कोष्ठों के अन्दर तीर्थंकर की लघु प्रतिमाएँ बैठे हुए दर्शाया गया है[7]।

सन्दर्भ-सूची

१. शर्मा राजकुमार "मध्यप्रदेश के पुरातत्व का सन्दर्भ ग्रन्थ" भोपाल १९७४ पृ० ४७५।

२. घोष अमलानन्द 'जैन कला एवं स्थापत्य" नई दिल्ली १९७५ पृ० ६०४।

३. शर्मा राजकुमार पूर्वोक्त पृ० ४७६, क्रमांक २०६।

४. घोष अमलानन्द पूर्वोक्त पृ० ६०३।

५. शर्मा राजकुमार पूर्वोक्त पृ० ४७७, क्रमांक ३३६।

६. गर्दे एम. बी. "ए गाइड टू दी आर्केलाजीकल म्यूजियम एट ग्वालियर, १९२८ प्लेट—VI।

७. घोष अमलानन्द पूर्वोक्त पृ० ६०१।

अर्चचित भक्त कवि : 'हितकर' और और 'बालकृष्ण'

□ डा० गंगाराम गर्ग

भट्टारक सकलकीर्ति, ब्रह्म जिनदास, ब्रह्म यशोधर, देवसेन के दो-दो पद तथा अपभ्रंश कवि बूचराज के आठ पद प्राप्त हो जाने से जैन पद परम्परा की पुरातनता तो अवश्य सिद्ध होती है किन्तु इसके प्रवर्तन के श्रेय के अधिकारी ६० पदों के रचयिता गगादास ही कहे जा सकते हैं। पंचायती दिगम्बर जैन मन्दिर भरतपुर मे प्राप्त एक गुटके में इनके विभिन्न रागों भैरव, ईमन, परज, सोहनी, विलावल, रेखता, चर्चरी, जैजैवन्ती, विभास, कान्हड़ो, रवमावच मे लिखित उक्त पद सग्रहीत है। गंगादास द्वारा आषाढ़ सुदि १५ सवत् १६१५ को लिखी गई रविवार व्रत कथा के आधार पर उनकी प्राचीनता असंदिग्ध है। डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल ने कवि की रचना 'आदिनाथ की विनती' की प्रशस्ति के आधार पर उसे नरसिंहपुरा जाति वाले तथा सूरत निवासी पर्वत का पुत्र बतलाया है।

जैन भक्त गंगादास द्वारा प्रवर्तित यह पद परम्परा घोर शृंगारिक काल रीतिकाल मे अधिक विकसित हुई। प्रचुर पदों के रचयिता द्यानतराय, भूधरदास, बुधजन, नवलशाह, पार्श्वदास इसी काल मे आविर्भूत हुए।

अभी तक अर्चचित भक्त कवि 'हितकर' और 'बालकृष्ण' का पद साहित्य क्रमशः अग्रवाल जैन मन्दिर दीग (भरतपुर) कोटड़ियान मन्दिर डूगरपुर (राज०) मे प्राप्त हुआ है।

हितकर :

अग्रवाल जैन मन्दिर दीग (भरतपुर) में प्राप्त 'हेतराम' के नाम से लिखी 'चौबीस महाराजन की बधाई' प्राप्त हुई है एक गुटके के पृ० ९८-१०३ पर अंकित इस रचना मे तीर्थंकरों के जन्मोत्सव के रूप मे जन्म सस्कार, 'बाल-स्नान', दान, नृत्य, वाद्यवादन का वर्णन हुआ है। सम्भवतः इन्हीं हेतराम 'हितकरि' के उपनाम से पद लिखे। विभास, ईमन, धनाश्री, सारग, आसावरी तथा भैरु आदि कतिपय रागों में लिखित 'हितकर' के पद छोटे और भावपूर्ण हैं। दास्य भक्त के अनुरूप प्रभु के गुणगान की अपेक्षा 'हितकर' ने आत्मनिवेदन को अधिक प्रमुखता दी है। अज्ञानान्धकार में भटके हुए 'हितकर' अपने उद्धार के लिए अधिक आतुर रहे हैं—

किंकर अरज करत जिन साहब, मेरी ओर निहारो।
पतित उधारन दीन दयानिधि, सुन्यों तोय उपगारो।
मेरे ओगुन पै मति जावो, अपनो सुजस विचारो।
अज्ञानी दीसत है जग में, पक्षपात उर भारौ।
नाहीं मिलत बहाव्रत धारी, कैसे ह्वं निरवारौ।
छवि रावरी नैनन निरखी, आगम सुन्यौ तिहारौ।
जात नहीं भ्रम को तम मेरो, या बुकतन को टारौ।

'घन' और 'चकोर' के प्रतिक्षण याद करते रहने में सलग्न 'मोर' और 'चोर' के समान ही 'हितकर' का स्वभाव भी बन गया है। सोते-जागते, रात-दिन मे किसी भी क्षण 'जिन प्रतिमा' को वह अपनी आखों से ओझल नही कर पाते—

प्यारी लागै श्री जी मैंनू, थांवि निहारी प्यारी।
चोर चकोर मोर घन जैसे, तैसे मैं नहिं सुरति बिसारी।
निसि बासर सोवत अरु जागत,
इक छिन पलक टरत न टारी।
'सेवग' ऊपर 'हितकरि' स्वामी,
तुमहू करो कछु चाह हमारी॥

'म्हे थाका थे म्हांका' (मैं तेरा और तू मेरा) कहकर 'हितकर' ने वैष्णव भक्तों के समान अपने आराध्य से प्रगाढ़ सम्बन्ध प्रस्थापित किया है तथा जन्म-मरण से छुटकारा दिलवाने के लिए दैन्य भी प्रकट किया है—

म्हे तो थाकां सूं याही अरज करां छां, हो जी जिनराज।
जामन मरन महा दुख संकट, मेट गरीब नवाज।

म्हे थांका ये म्हांका साहब, थांके म्हांकी लाज।
जा विधि सौं भव उदधि पार हों, 'हितकरि' करिस्यौ काज।

श्रेष्ठ भक्तों के समान 'हितकर' भी अपने भक्ति फल के रूप में कोई लौकिक कामना नहीं रखते। वह चाहते हैं केवल प्रभु भक्ति के भाव-धारण की निरन्तरता। इससे ही आत्मानुभव की प्रेरणा और मोक्ष मिल सकेगी—

अरज करां छां जिनराज जी।
तारण तिरण सुन्यौ मोहि तार्यौ, थांनें म्हांकी लाज जी।
भव भव भक्ति मिलो प्रभु थांकी, याही बंध्या आज जी।
निज आतम ध्यांऊं शिव पांउ 'हितकरि' काज जी॥

तीर्थंकर नेमिनाथ के जन्मोत्सव और राजुल विरह के पद लिखकर 'हितकर' ने 'वात्सल्य' और मधुर भाव की भी अनुभूति की है। जन्मोत्सव का एक छोटा-सा पद है—

एरी आनन्द है घर घर द्वार।
समुद विजै राजा घरां री, हेली पुत्र भयौ सुकुमार।
जाके जनम उछाह को री एरी, आयो इन्द्र सहित परिवार।
जाचिक जन कौ मोद सौं री एरी, हेली दीनौं द्रव्य अपार।
नेम कवर सबनें कह्यौ री एरी हेली 'हितकरि' सुखकार॥

नेमिनाथ के विरह में सतप्त राजुल आठो प्रहर प्रिय ध्यान मे ही निमग्न रहती है। उसकी यह स्थिति निर्गुण संतो के विरभाव, मीरा आदि मधुर उपासको की मनःस्थिति का प्रतिबिम्ब ही प्रदर्शित करता है—

तन की तपति जबै मिटि है मेरी,
नेम पिया कू दृष्टि भर देखूंगी॥टेक॥
जब दरसन पाऊँगी मैं उनको,
जनम सुफल करि लेखूंगी।
अष्ट जाम मेरें ध्यान, उनकौ रहत है,
ना जानू कब भेंटूंगी।
'हितकरि' जो कोई आनि मिलावै,
जिनके पांयन सीस टेकूंगी॥

'बालकृष्ण' ५० पदो के रचयिता अज्ञात कवि सेढू ने दीग निवासी तथा नरपत्येला गोत्रिय खडेलवाल जैन अभयराम और चेतनराम दो भाइयो की सम्पन्नता और दानशीलता की प्रशसा दो फुटकर छंदों मे की है। इन दो भाईयों के पिता का नाम उन्होंने बालकृष्ण बतलाया है—

जैन कुल जन्म खंडेलवाल निरपतेला,
दीग सहर नांमी जास घर है।
पिता बालकिस्न जाको धर्म ही सों राग अति,
और विकल्प जो मन मैं न धरि है।
धन सो माता जिन जाये ये भ्रात,
कुल के आभूषण वित साह पर दुख हरि है।
अभैराम चेतन नाम करायो श्री जी को धाम,
या तैं बड़ाई 'सेढू' ज्यौं की त्यौं करि है॥

सेढू ने बालकृष्ण को धर्मानुरागी बतलाया है अतः इनके द्वारा पद लिखे जाने की सम्भावना स्वाभाविक है। अभी बालकृष्ण के केवल दस पद डूगरपुर के कोटड़ियान जैन मन्दिर के एक गुटके मे प्राप्त हुए हैं। समवशरण में विद्यमान जिनेन्द्र की छवि पर बालकृष्ण की अपार श्रद्धा है—

मूरति कैसी राजै मेरे प्रभु की।
अद्भुत रूप अनूपम महिमा, तीन लोक में छाजै।
श्री जिननाथ जु ध्यान धरतु हैं, परमारथ पर काजै।
नासा अग्र दृष्टि कों धारें, मुखवान धुन गाजै।
अनुभो रस पुलकत है मन मैं, आसन सुद्ध बिराजै।
जाकी छवि देख इन्द्रादिक, चन्द्र सूरज गन लाजै।
धनु अनुराग बिलोकति जाकौ, असुभ करम गति भागै।
'बालकृष्ण' जाके सुमरन से, अनहद बाजे बाजै॥

जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक आत्मा मे ही परमात्मा का स्वरूप सन्निहित होने की धारणा के कारण जैन भक्ति काव्य मे तीर्थंकर-भक्ति के अतिरिक्त अध्यात्म-उपासना को बड़ा बल मिला। बालकृष्ण 'चेतन' को ही 'साहिब मानते हुए 'आतम-अनुभव' के लिए कृतसंकल्प है—

तू है साहिब मेरा चेतन जी।
अलख अमूरति सिद्ध स्वरूपी, ऐसा पद है तेरा जी।
विषय कषाय मगनता मानी, किया है जगत में फेरा।
पर के हेत करम तैं कीनें, अजहूँ समझ सबेरा।
अपुन पर अपु नहिं बिसरो, मोह महानद पैरा।
दरसन शुद्ध मान तूं मन मैं, भवि तैं होय निबेरा।
अनुभो शक्ति संभार अपुनी, केवल ज्ञान उजेरा।
'बालकृष्ण' के नाथ निरंजन, पायौ शिवपुर डेरा॥

(शेष पृ० १७ पर)

तीर्थराज सम्मेद शिखर–इतिहास के आलोक में

डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल

तीर्थराज सम्मेदशिखर जैन धर्म का प्राण है। भगवान आदिनाथ, वासपूज्य, नेमिनाथ एव महावीर को छोड़कर सभी शेष २० तीर्थंकरों एवं अगणित साधुओं ने यहाँ से निर्वाण प्राप्त किया है। इसलिए इस पहाड का कण-कण वंदनीय है। यहां की पूजा, अर्चना एव वदना करने का विशेष महत्व है। एक कवि ने इसकी पवित्रता से प्रभावित होकर निम्न पक्तियों मे अपने भाव प्रगट किये हैं—"एक बार बन्दै जो कोई ताहि नरक पशु गति नही" कितना बडा अतिशय है सम्मेदशिखर वदना का। कितना पावन है यह क्षेत्र जिसकी वदना करना मानो चिन्तामणि रत्न पाना है। जब यात्री पहाड की वंदना करने लगता है या उसके पांव पहाड़ की प्रथम सीढी पर पडते हैं तो उसके मन के भाव ही बदल जाते है। जब वह पहाड चढकर प्रथम टौक के दर्शन करता है तो उसका मन गदगद् हो जाता है और जब सभी टोंको की वदना करता अंतिम टौक पार्श्वनाथ पर पहुच जाता है तो उसका मन प्रसन्नता से भर जाता है और उसे ऐसा लगने लगता है कि मानो उसका मानव जीवन सफल हो गया और उसका मन निम्न पद्य कह उठता है :—

> **णमोकार समो मंत्रो, सम्मेदाचल समो गिरि।**
> **वीतरागात्परो देवो, न भूतो न भविष्यति॥**

तीर्थराज सम्मेद शिखर का इतिहास भी उतना ही पुराना है जितना जैन धर्म का इतिहास पुराना है। दोनों एक दूसरे से जुड़े हुए है। इसलिए हमारे इतिहास लेखको ने सम्मेदशिखर के इतिहास लिखने की कभी आवश्यकता ही नहीं समझी। जहां प्रतिवर्ष हजारों वर्षों से लाखों यात्री दर्शनार्थ आते रहते है उसका यह इतिहास तो गतिशील है। प्रवाहमान है। यहाँ सघों के सघ दर्शनार्थ एवं वदनार्थ आते जाते रहे इससे यहां इतिहास तो बनता रहा लेकिन उसका मौलिक स्वरूप अधिक रहा और लिपिबद्ध नही हो सका। वैसे दो हजार वर्ष पूर्व आचार्य कुन्दकुन्द ने निर्वाण भक्ति में सम्मेदशिखर के बारे मे :—

> **वीसं तु जिणवरिंदा अमरासुर वंदिवा धुद किलेसा।**
> **सम्मेदे गिरसिहरे णिव्वाण गया णमो तेसिं॥**

यह भी आश्चर्य की बात है कि हमारे आचार्यों मे से अधिकाश आचार्यों ने सम्मेदशिखर की वंदना अवश्य की होगी। आचार्य समन्तभद्र जैसे वादविवाद पारगत आचार्य जब वाद के लिए देश के एक कोने से दूसरे कोने तक शास्त्रार्थ के लिए विहार किया तो वे भी सम्मेद शिखर तो अवश्य आये होंगे फिर पता नही उन्होंने सम्मेद शिखर के माहात्म्य का वर्णन क्यों नही किया। इसलिए मैं तो इस अवसर पर वर्तमान आचार्यों, मुनियों, विद्वान लेखकों से यही निवेदन करना चाहूंगा कि वे अपनी किसी एक रचना मे इस तीर्थराज के महात्म्य एव यहां की स्थिति का अवश्य वर्णन करें जिससे यहां का इतिहास बनता रहे। वर्तमान में सम्मेदशिखर के इतिहास की खोज एव शोध आवश्यक है। इतिहास लेखन के जितने प्रयास आज तक होने चाहिये थे वे नहीं हो सके। महामनीषी प० सुमेरचद जी दिवाकर ने सम्मेदशिखर के इतिहास को लिपिबद्ध करने का अवश्य प्रशंसनीय कार्य किया लेकिन उस पुस्तक मे केवल टोकडो का ही वर्णन है। यहां के पिछले इतिहास की ओर उसमे वर्णन नही हो सका।

यात्रा संघों का वर्णन :

यात्रा संघों का इतिहास ही शिखर जी के इतिहास की एक कड़ी है। यहां के इतिहास की खुली पुस्तक है। इस संबध में मुझे संवत् १३८४ के यात्रा संघ का उल्लेख मिला है जिसमें चाकसू (राज०) के सघपति जीको एव उसके परिवार ने शिखर जी की वंदना की थी।

सम्मेद शिखर के इतिहास पर प्रकाश डालने वाला एक और महत्वपूर्ण उल्लेख मिलता है वह है संवत १६५६

में रचित भट्टारक वादि भूषण के शिष्य आचार्य ज्ञानकीर्ति द्वारा रचित यशोधर चरित की प्रशस्ति में जिसमें लिखा है बंगाल देश के अकबर नगर के राजाधिराज मानसिंह के प्रधान साहू नानू गोधा ने सम्मेद शिखर की वंदना की। दिगम्बर जैन मन्दिर बनवाये एवं बीस तीर्थंकरो के चरण स्थापित किये।

तस्यैव राज्ञोस्ति महानमात्यो नानू सुनाया विदितो धरिण्यां
समेदश्रृंगे च जिनेन्द्र गेहमष्टापदे वादि मचक्रधारी ॥८॥
यो कारयच्छत्र च तीर्थनाथाः सिद्धि गता विंशतिमान युक्तः।
यः कारयेन्नित्यमनेक संध्या यात्रां घनार्थैः परमां च तस्य ॥९

इसी तरह महाकवि बनारसीदास के अर्ध कथानक मे शिखर जी की यात्रा का एक और वर्णन मिलता है जब बादशाह सलीम का मुनीम हीरानंद मुनीम प्रयाग से शिखर जी का यात्रा संघ चलाया—

तिनि प्रयागपुर नगर सौं, कीनौ उद्यम सार।
संघ चलायौं सिखिर कौं, उतर्यौ गगा पार ।२२५।
ठौर-ठौर पत्री दई, भई खबर जित तित्त।
चीठी आई सेन को, आवहु जात निमित्त ।२२६।
खरग से न तब उठि चले, ह्वै तुरंग असवार।
जाइ नंद जी कौ मिले, तजि कुटुंब घरबार ।२२७।
संवत सोलहसै उनसठे, आय लोग संघसौनठे।
केई उबरे केई मुए, केई महा जहमती हुये ॥२३०॥

सवत १७३२ मे आमेर निवासी संघ ही नरहरदास सुखानन्द साह घासीराम और उनके दोनो पुत्रों ने सम्मेद-शिखर पर पचकल्याणक प्रतिष्ठा सम्पन्न करायी। इसी समय प्रतिष्ठित ह्रींकार यंत्र जयपुर के खिन्दूकों के मन्दिर मे विराजमान है।

सम्मेदशिखर मुसलिम काल मे भट्टारकों का भी आवागमन का केन्द्र रहा। संवत १५७१ मे भट्टारक प्रभा-चन्द्र का पट्टाभिषेक शिखर जी में ही हुआ था। इसी तरह संवत १६२२ में भट्टारक चन्द्रकीर्ति का पट्टाभिषेक संपन्न हुआ।

हेमराज पाटनी बागड प्रदेश के सागपत्तन (सागवाडा) के निवासी थे। उन्होंने संघपति बनकर सम्मेदशिखर की यात्रा कर सबको साथ लिया था। इसी हेमराज ने अपनी यात्रा को चिरस्थायी बनाने के लिए भट्टारक रत्नचन्द्र से सुभौमचक्रिचरित्र की रचना करने का आग्रह किया था। उन्होने संवत १६८३ में उक्त चरित्र की रचना विबुध तेजपाल की सहायता से की थी।

जयपुर के दीवान रायचन्द छाबड़ा बड़े प्रसिद्ध दीवान थे। संवत १८६१ मे उन्होने बहुत बड़ा पंचकल्याणक प्रतिष्ठा समारोह का आयोजन किया था। दीवान राय-चन्द छाबड़ा ने संवत १८६३ में सम्मेदशिखर जी की यात्रा के लिए एक विशाल यात्रा संघ का नेतृत्व किया था।

संवत आठ दश सैकड़ा, अवर तरेसठ जान।
चल्यो संघ जय नगरतें, महावीर भगवान ॥८

इस यात्रा संघ में प्रयाग आते आते पांच हजार यात्री हो गये थे। इन यात्रियो को ले जाने के लिए ४०० रथ और भैल, ४०० घोड़े तथा २०० ऊँट थे।

अधिक च्यारसै रथ अर भैल, अश्व चारसौ तिनकी गैल।
सुतर दोयसौ तिन परिभार, नर नारी गिनि पाँच हजार ॥४

यात्रा वर्णन में मधुबन की वृक्षावलि का बहुत सुन्दर वर्णन किया है। यह भी लिखा है कि सभी यात्रियों ने सीता नाला पर जाकर स्नान किया तथा वहीं पूजा की सामग्री तैयारकी और फिर गिरिराज की वदना संपन्न की।

माघ कृष्ण सप्तमी, सुक्रवार सुभवार।
गिर सम्मेद पूजन कियो, उपज्यो पुण्य अपार ॥

इस संघ के साथ आमेर के भट्टारक सुरेन्द्र कीर्ति एवं आचार्य महीचन्द थे। सभी यात्री मधुबन में उतरे जहां एक विशाल मन्दिर था। यहां के निवासियों के बारे में निम्न पंक्तियां लिखी हैं :—

मधुबन के बासी नर नारि, सरल गरीब सुद्ध चितधारी।
तन ऊपर अति वोछो चीर, लंबी चोटी स्याम सरीर।
के ही मांगल ढोल बजाय, के ही कलस बंधावत आय।
बसतर दिये बहुत हरसाय, तिनकूं दान दिये बहु भाय।
माघ सुकल एकै सुभवार, संगपति दीनो जिमनार ॥२२

इस यात्रा संघ ने एक कार्य भेलूणी का भी लिया और सबने मिलकर एक हजार ७० रुपया मन्दिर को भेंट किया। इसके पूर्व मालाओं की बोली हुई थी और वह भी आय मन्दिर को ही गई। उस समय सोने की मोहरों में माला होती थी। माला एक दिन पांच मोहर एवं एक दिन २१ मोहरों में हुई थी। इस प्रकार यह शिखर

विलास इतिहास की दृष्टि से बहुत ही अच्छी रचना है जिसमे १५८ छंद हैं।

संवत १८८६ में प्रतापगढ़ (राज०) के टेकचन्द ने सम्मेद शिखर जी की यात्रा की थी तब रामपाल ने शिखर जी की पूजा लिखी थी।

शिखर जी के इतिहास के स्तोत्र और भी मिलते है। भट्टारक विद्यानंदि (१४९९-१५३६) ने भी शिखर जी की वंदना की थी तथा भ० सोमसेन के शिष्य जिनसेन ने भी शक संवत १६०७ में शिखर जी की वंदना करने का यशस्वी कार्य किया था।

१५वीं शताब्दी में होने वाले ब्रह्म जिनदास ने भी अपने जम्बूस्वामी रास एवं रामरास में सम्मेद शिखर जी का निम्न प्रकार वर्णन किया है :—

सम्मेद गिरि दीठे वलि चंग, जिणवर बीस पूज्या मनरंग।।

पूजा विलास की रचनायें :

सम्मेद शिखर हमारा पावन तीर्थ है। मन्दिरों में उसकी पूजा होती रहती है। राजस्थान के जैन शास्त्र भडारों में सम्मेद शिखर पूजा, सम्मेदाचल पूजा, सम्मेद-शिखर विलास, सम्मेदशिखर महात्म्य पूजा, सम्मेदशिखर यात्रा दर्शन, सम्मेदशिखर विलास, सम्मेद विलास आदि विभिन्न नामो मे सैकड़ो पाण्डुलिपियां मिलती हैं। ये पाण्डुलिपियां बहुत महत्वपूर्ण है तथा प्रकाशन योग्य हैं। जिन कवियों ने पूजा विलास की रचनाये लिखी उनमें कवि द्यानतराम, बुधजन, भागीरथ, जवाहरलाल, भ० सुरेन्द्रकीर्ति, गंगादास, सेवाराम, हजारी मल्ल, ज्ञानचन्द्र, लालचन्द्र, मोतीराम, मनसुखसागर, दीक्षित देवदत्त, सन्तदास, रामचन्द, नेमासिंह, देवाब्रह्म, गिरधारीलाल, भागचन्द के नाम उल्लेखनीय है। इन सभी कवियो की पूजायें, विलास, यात्रा वर्णन शिखर जी के इतिहास के लिए बहुत उत्तम सामग्री युक्त है। इनका प्रकाशन यदि दोनो ही कोठियो की ओर से अथवा तेरहपंथी कोठी की ओर से हो जावे तो परम पूज्य उपाध्याय ज्ञानसागर जी महाराज का शिखर जी की यात्रा ऐतिहासिक यात्रा बन जायेगी। आशा है तीर्थराज कमेटी का इस ओर अवश्य ध्यान जावेगा।[1]

□□

(पृ० १४ का शेषांश)

नेमिनाथ-राजुल प्रसग पर जैन कवियों ने पर्याप्त पद लिखे हैं। नेमिनाथ के शक्ति-परीक्षण, दया, विरक्ति और तप आदि गुणों पर बालकृष्ण की राजमती ने भी अपनी श्रद्धा व्यक्त की है—

छवि नेमि पिया की लखि कै मुसकानी।
आवत सुंदर मूरत देखत, राजमती सकुचानी।
नाग सेज पर नाक चढ़ावत, देख सबै मनमानी।
औरि आंन व्याहन कों आये, कहि न सकै कोई ग्यानी।
तोरो हार वसन सब भूषन, जीव दया मनमानी।
ग्रह तजि कें गिरि ऊपर पहुंचे, मेरी बात न मानी।
तप कर कर्म सबै जिन नासे, भये निरंजन ज्ञानी।
प्रभु के गुन सब तीन लोक में, सुनत पाप नसांनी।
'बालकृष्ण' की वीनती सुनीयै, दीजै भक्ति निशांनी।।

उक्त विवेचन के आधार पूर्ण अज्ञात कवि हितकर और बालकृष्ण जैन भक्ति परम्परा के श्रेष्ठ भक्त ज्ञात होते हैं। इनके अधिक पद होने की सम्भावना से इंकार नहीं किया जा सकता।

एसोसिएट प्रोफेसर
राजकीय स्वायत्तशासी जया विद्यालय,
भरतपुर (राज०)

देवगढ़ पुरातत्त्व को सँभाल में औचित्य

□ कुन्दन लाल जैन रिटायर्ड प्रिन्सिपल

अभी १५ जुलाई ९१ को देवगढ़ जैसी पावन पुण्यस्थली के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ, वहां के जैन शिल्प को देखकर हृदय गद्गद हो उठा। देवगढ़ मध्य रेलवे के झांसी बीना सेक्सन के बीच ललितपुर नामक रेलवे स्टेशन से उत्तर पश्चिम की ओर लगभग ३२ कि० मी० दूर है। ललितपुर से बसें जाती रहती हैं। जैन मूर्ति कला का अनुपम केन्द्र यह देवगढ़ क्षेत्र एक सुरम्य, सुंदर एवं भव्य पहाड़ी पर अवस्थित है जिसकी तलहटी में वेत्रवती (वेतवा) की कलकल धारा अबाध गति से बहती रहती है, इसे बुन्देलखंड की गंगा भी कहते हैं।

बचपन में सुना था कि देवगढ़ में इतनी मूर्तियां है कि एक-एक चावल प्रति मूर्ति पर चढ़ाया जावे तो एक बोरी चावल अपर्याप्त रहेगा। तब यह सब अतिशयोक्ति सा लगता था पर अब इस क्षेत्र के दर्शन से वह बात यथार्थ हो गयी। इस क्षेत्र पर असंख्य जैन मूर्तियां है जिनमे बहुत सी खण्डित हैं, कुछ दीवारों में चिनी हुई है, कुछ परकोटे पर पड़ी हैं, कुछ जमीन के अन्दर गड़ी पड़ी है और कुछ यत्र-तत्र लुकी-छुपी पड़ी हुई हैं।

यहां के प्रतिभाशाली श्रमजीवी शिल्पियों ने युग युगो तक अपने छैनी हथोड़े की कला से जैन मूर्तियो का सर्जन किया वे आज पुरातत्व, इतिहास एवं शिल्पकला की बहुमूल्य धरोहर बन गई हैं। इन मूर्तियों के दर्शन कर उन शिल्पियों के प्रति श्रद्धा एवं कृतज्ञता से मस्तक झुक जाता है और उनका पुण्य स्मरण किए बिना नही रहा जाता।

देवगढ़ की मूर्तियां पद्मासन और खड्गासन (कायोत्सर्ग मुद्रा) दोनों ही मुद्राओं की उपलब्ध हैं। यहाँ तीर्थंकर प्रतिमाओं के अतिरिक्त उनके शासन देवता, यक्ष यक्षणियो अष्टप्रातिहार्यों, कुबेर, सरस्वती अम्बिका, मयूरवाहिनी आदि की भी प्रतिमाएँ उपलब्ध हैं। यहां कुछ जैन ऋषि मुनियों की चरण पादुकाएँ भी प्राप्त हैं। यहां के मानस्तम्भ गोल और चौकोर दोनों ही तरह के हैं उन पर उकेरी गई कला तथा नाना तरह के बेलबूटे एवं चित्र विचित्रता अत्यधिक दर्शनीय एवं मनोरम हैं। यहां के मन्दिरों की स्थापत्य कला खजुराहो स्थापत्य से मिलती जुलती है। कहा जाता है कि यहां चालीस मन्दिरों का परिसर था जो नवमी सदी से बारहवी सदी के बीच निर्मित हुए थे। वर्तमान में कुल इकतीस मन्दिर ही हैं पर जीर्णोद्धार के फलस्वरूप इनकी संख्या बढ़ती जा रही है। यहा का प्रमुख मन्दिर भ० शान्तिनाथ का है जो सर्वाधिक प्राचीन और प्रसिद्ध है। इसके सामने चन्देल नरेश कीर्तिवर्मन के लेख युक्त एक विशाल स्तम्भ खड़ा हुआ है जिस से ज्ञात होता है कि इस क्षेत्र का नाम कीर्तिनगर भी रखा गया था।

जहां नई धर्मशाला और म्यूजियम बना है वहां के पार्क में स्थित मानस्तम्भ में तीनों दिशाओ में तीन तीर्थंकरो की प्रतिमाएँ विराजमान है पर चौथी ओर कोई आचार्य एक चोटीधारी श्रावक या गृहस्थ को उपदेश देती हुई मुद्रा म विराजमान है जो एक अद्भुत मानस्तम्भ सा लगता है। यहा एकाकी प्रतिमाओं के अतिरिक्त द्वितीर्थी, त्रितीर्थी, चतुर्मुखी (सर्वतोभद्र) प्रतिमाएँ एवं चौबीसीपट्ट बहुलता से प्राप्त होते हैं। त्रितीर्थी प्रतिमाओं में दो नमूने बड़े महत्वपूर्ण एवं इतिहास तथा पुरातात्विक दृष्टि से उपयोगी और कलापूर्ण लगे। प्रथम तो बाहुबली, ऋषभदेव एवं भरत की त्रितीर्थी है जो कायोत्सर्ग मुद्रा में है बाहुबली के चारों ओर माधवी लताओं एवं वमीठों का चित्रण कलापूर्ण है तथा भरत के पादपीठ में भारत का मान चित्र अंकित है। यह मानचित्र अविभाज्य है जिसमें श्याम, वर्मा आदि सम्मिलित हैं पर नीचे श्री लंका का कोई नामोनिशान नही है। बीच में भ० आदिनाथ की कायोत्सर्ग प्रतिमा उत्कीर्ण है। इस त्रितीर्थी प्रतिमा के

ज्ञात होता है कि तब तक अर्थात् १०वी-११वी सदी तक यह धारणा प्रामाणिक थी कि भारतवर्ष भ० ऋषभदेव के पुत्र भरत के नाम पर ही विख्यात था, न कि दुष्यन्त शकुन्तला के पुत्र भरत पर। यह त्रितीर्थी प्रतिमा चौकोर है और लगभग दो मीटर लबी चौड़ी होगी। देखें मारुतिनंदन तिवारी कृत "जैन प्रतिमा विज्ञान" नामक ग्रंथ का ७०वां चित्र जिसमें बाहुबली और ऋषभदेव का चित्र मन्दिर में स्थानाभाव के कारण नही आ सका।

दूसरी त्रितीर्थ है भ० नेमिनाथ की जिसके आस पास दोनों ओर कृष्ण और बलराम की मूर्तिया अंकित है देखो उपर्युक्त ग्रंथ का २७वां चित्र। यहां के मन्दिरो के तोरणद्वार जिस तरह विभिन्न लताओं, फूलों, बेलबूटों एव घंटा घड़ियालों से अलंकृत है वे देखते ही बनते है। मानस्तंभों को किन कलात्मक ढगो से सजाया सवारा है कि देखते ही आखे अश्रुपूरित हो पुलकित हो उठती है। मन मे ऐसी भावना उत्पन्न होती है कि काश वे शिल्पी आज मिल जावें तो उनके हाथ और छैनी हथौड़े चूम लिये जावें जिन्होंने देवगढ को ऐसा गरिमामय एव सौन्दर्यपूर्ण शिल्प प्रदान किया है। काल के प्रभाव से तथा हजारों वर्षों की सर्दी, गर्मी, बरसात ने एवं आततायियों के क्रूर आक्रमणो के कारण देवगढ़ का कला वैभव ध्वस्त एवं नष्ट-भ्रष्ट हो गया था जिससे पिछली कई सदियो तक देवगढ उपेक्षित पड़ा रहा किसी को स्वप्न में भी खबर न थी कि यह प्रदेश कभी कला की दृष्टि से इतना वैभव सम्पन्न रहा होगा।

भारतीय पुरातत्व के पितामह जनरल कनिंघम ने उन्नीसवी सदी के उत्तरार्ध में अन्य स्थानो की खोज की भांति जब देवगढ़ को खोज निकाला तो इसके कला वैभव को देखकर उनकी बाछें खिल उठी और इसके महत्व को उन्होंने अपनी सर्वे रिपोर्ट मे उल्लेख किया फिर भी जैन समाज कुम्भकर्णी निद्रा में सोता रहा। अभी विगत तीस सालों मे स्व० साहू शान्तिप्रसाद जी का ध्यान इस ओर गया और उन्होने देवगढ़ के जैन शिल्प से प्रभावित हो इसके जीर्णोद्धार हेतु स्वोपार्जित विपुल धनराशि दान मे दी, यहां एक म्यूजियम स्थापित कराया तथा केन्द्रिय शासन का इस क्षेत्र को पर्यटन स्थल बनाने हेतु ध्यान आकर्षित किया तथा भारतीय पुरातत्व विभाग से इसकी सुरक्षा हेतु प्रयत्न किया, फल स्वरूप इस क्षेत्र का काफी विकास और सुधार हुआ। परमपूज्य श्रद्धेय आचार्य विद्यासागर जी महाराज ने यहां चतुर्मास की स्थापना कर सोने मे सुहागे का कार्य किया फलत: यहां जीर्णोद्धार का कार्य द्रुतगति से चला और आज यह क्षेत्र पूर्णतया दर्शनीय एवं पूजनीय बन गया है फिर भी और बहुत सा कार्य बाकी है, अभी जगह जगह मूर्तियां पड़ी हैं, कुछ खण्डित हैं उन सब को यथावत् प्रतिष्ठित करना है। फिर भी अब तक जो कुछ हो गया है उसे देखकर बड़ा सन्तोष और प्रसन्नता हुई। डा० बाहुबली जी इस दिशा में अत्यधिक प्रयत्नशील है।

पर यहा पुरातत्व और इतिहास के साथ जो खिलवाड़ और छेड़छाड़ हो रही है उसे देखकर बड़ी पीड़ा हुई। कुछ विद्वानो या मुनिजनों के आदेश उपदेश से यहां की मूर्तियों में फेर बदल और हेरा फेरी हो रही है। जैसे कि कुन्दकुन्द की गाथाओ को लोग मनमाने ढंग से तोड़ मरोड़ रहे है उसी तरह यहां प्राचीन मूर्तियों में चिह्न उकेरे जा रहे है जब कि मूल रूप से ऐसा कुछ नहीं है। इससे भावी पुरातत्वविदो को अनेकों भ्रान्तियों का सामना करना पड़ेगा। कुछ मूर्तियों को एकत्रित कर चौबीस की संख्या मे स्थापित कर उन भूतकाल की चौबीसी का मन्दिर बना दिया गया है हर वेदी पर भूतकाल के प्रत्येक तीर्थंकर का नाम भी लिख दिया है यहां तक तो ठीक है पर उन मूर्तियों पर भी उन तीर्थंकरों के नाम उकेर दिये हैं जो सर्वथा अनुचित है, ऐसा ही स्थिति भविष्यत् काल की चौबीसी के मन्दिर की कर डाली है। जब कि इन भूत भविष्यत् चौबीसियो मे एक रूपता या समानता नहीं है और ना ही इनका कोई पुरातात्त्विक या ऐतिहासिक अस्तित्व उपलब्ध होता है। इस तरह की पुरातात्विक धोखाधड़ी और हेरा फेरी कालान्तर में जैन पुरातत्व को बहुत घातक सिद्ध होगी और हमारी ऐतिहासिक प्रमाणिकता पर प्रश्न चिह्न लग जावेंगे अत: इस दुष्प्रवृत्ति को तुरन्त ही रोका जाय।

देवगढ़ का प्राचीनतम नाम इतिहास और पुरातात्विक लुअच्छगिरि के नाम से विख्यात था। जब ११वी सदी में चन्देल नरेश श्री कीर्तिवर्मा का शासन आया तो देवगढ़

कीर्तिनगर नाम से विख्यात हुआ जिसका उल्लेख भ० शान्तिनाथ के मन्दिर के सामने स्थित विशाल शिला स्तम्भ पर उत्कीर्ण है। इसके बाद इसका नाम देवगढ़ कब और कैसे पड़ा इस विषय मे इतिहास और पुरातत्व सर्वथा मौन है। लगता है देव प्रतिमाओ की बहुलता के ही कारण इसका नाम देवगढ़ पड़ गया हो जो अब तक तक चला आ रहा है। यहां स० १४८१ मे विख्यात धन-श्रेष्ठी सिंघई होलीचन्द्र नाम से एक प्रसिद्ध धर्मनिष्ठ श्रावक हुए थे जिन्होने अपने गुरु आचार्य पद्मनंदी और उनकी गुरु परम्परा के प्रथम संस्थापक आचार्य वसन्तकीर्ति की प्रतिमाएँ स्थापित कराई थी जो काल प्रभाव के कारण आज अनुपलब्ध है, पर इन सबका द्योतक एक विशाल शिलालेख कलकत्ता म्यूजियम मे विद्यमान है, इसमे संस्कृत के ७५ श्लोक है। सिंघई होलीचन्द्र के सलाहकार एव परम विद्वान् मित्र श्री शुभसोम, श्री गुणकीर्ति श्री वर्द्धमान और श्री वरपति नाम के चार सहायक थे जिनके सत्परामर्श पर ही सघाधिपति होलीचन्द्र ने यह पुनीत कार्य किया था। यह विस्तृत शिलालेख एक ६ फुट लम्बे ३ फुट चौड़े तथा १-१/२ फुट मोटे विशाल शिला-खड पर उत्कीर्ण है।

"अंत मे देवगढ़ की प्रबंध समिति से निवेदन करूगा कि यहा की पुरातात्विक संपदा में किसी भी तरह की छेड़छाड़ या फेर बदल न करें जो जिस स्थिति में है उसी स्थिति में रहने दें।" हा, जो खण्डित मूर्तियां हैं और उनके नाक कान हाथ पैर आदि का जीर्णोद्धार करना है तो वह किसी विख्यात पुरातत्वविद् के निर्देशन मे ही किया जाय, आगम ग्रंथो मे फेर बदल की भांति इनमें मनमाने ढंग से अल्प ज्ञानवश किसी तरह का खिलवाड़ न किया जावे। श्रद्धेय आचार्य विद्यासागर जी महाराज से निवेदन करूगा कि जिस वट वृक्ष को उन्होंने पुष्पित एव पल्लवित किया है और ऐसा सुन्दर सलौना स्वरूप प्रदान कराया है उसे आन्तरिक रूप से दूषित एव विषाक्त और अप्रमाणित होने से बचाने म अपने आशीवचनो का प्रयोग कर जैन पुरातत्व की रक्षा करें। समाज के विख्यात पुरातत्वविद् भी इस ओर ध्यान दे और ऐसे अप्रमाणिक कार्यों को न होने दे। दिसबर जनवरी मे शायद वहां पचकल्याणक प्रतिष्ठा या गजरथ चल इस अवसर पर यहां हुई इस पुरातत्व सबधी छेडछाड की समीक्षा हो तथा उसका निराकरण किया जाव।

श्रुत-कुटीर, ६८ विश्वास मार्ग,
विश्वास नगर, शाहदरा दिल्ली

श्री नन्हें दास के दो आध्यात्मिक पद

(१. राग रामकली)

चलि पिय ताहि सरोवर जाहि।
जाहि सरोवर कमल, कमल रवि विन विगसाहि।
अति हो मगन मधुकर रस पिय रमाहि माहि समाहि। चल०
पहुप वास सुगध सीतल लेत पाप नसाहि॥ चल०
एक प्रफुल्लित सद दलनि मुख नहिं कुम्हिलाहि॥ चल०
गुंजवारी बैठि तिन एव भमर हुई विरमाइ॥ चल०
हस पछी सदा उझुल तेउ मलिमलि न्हाइ॥ चल०
अनगिनै मुक्ताफल मोती तेऊ चुनि चुनि खाई॥ चल०
अचिरज एक ज छल छल समुझि लेऊ मन माहि॥ चल०
अब बिनि उड़ उदास 'नन्हें' बहुरि उडिवो नाहि॥ चल०

(२. राग गौरी)

मन पछी उडि जैहें।
जा दिन मन पंछी उडि जैहे,
ता दिन तेरे तन तरुवर को नाम न कोऊ लैहें॥ मन०
फूटी पार नीर के निकसत, सूख कमल मुरझैहें॥ मन०
कित गई पुरइन कित गई सोभा जित तित धूरि उडैहें॥ मन०
जो जो प्रीतम प्रीति करें हैं सोऊ देख डरैहें॥ मन०
जा मदर सो प्रेत भये ते सब उठि उठि खैहे॥ मन०
लोग कुटुम सब लकड़ो का साथी आगै कोउ न जैहें॥ मन०
देहरी लो मेहरी को नातो हस अकेलो उड़ि जैहें॥ मन०
जा संसार रैन का सपना कोउ काऊ न पतियैहें॥ मन०
'नन्हें दास' वास जगल का हस पयानो लैहें॥ मन पंछी०

—श्री कुन्दन लाल जैन के सौजन्य से

साक्षी भाव

☐ श्री बाबूलाल जैन, नई दिल्ली

मन से मुक्त होने का मात्र एक ही उपाय है वह है साक्षी भाव। साक्षीभाव का अर्थ होता है प्रतिरोध न करे। क्योंकि जैसे ही प्रतिरोध किया, कर्त्ताभाव आ जाता है।

हमारे मन में हर समय विचारो का कल्पनाओं का तांता लगा हुआ है, रात सपने देखते हैं, दिन विचार चलते हैं हम इन विचारों और विकल्पों के साथ एक हो जाते हैं। किसी विचार को बुरा मान लेते हैं। जिसको बुरा मानते हैं उसको भगाना चाहते हैं। जितना भगाने का उपाय करते हैं उतना ही वह गाढ़ा होता जाता है। जैसे गेंद को दीवाल पर जितने जोर से मारो वह उतने ही जोर से वापिस आती है। अगर दीवाल पर न मारे तो वापिस ही नही आती। जितने हम विचारो और कल्पनाओ का विरोध करते हैं उतना ही उनका घिराव बढ़ता है। दिन की जगह रात को सपनों मे घिराव हो जाता है। अतः उनका विरोध मत करो, उनसे लड़ें नहीं, उनको दबाये नहीं। नहीं तो दबाने दबाने मे जिंदगी नष्ट हो जायेगी। तब यह सवाल पैदा होता है अगर विचारो को नहीं दबावे तो अनाचार फैल जावेगा, आचरण बिगड़ जावेगा। दबावे नही तब क्या करे? इसका उत्तर है कि विचारों का साक्षी बने अगर दबाते हैं तो कर्त्ता बन जाते हैं जब कर्त्ता न बने तो ज्ञाता रह जाते हैं। दर्पण के समान मात्र ज्ञाता रह जावे। न उन विचारो की प्रशंसा करनी है, न पश्चाताप करना है मात्र साक्षीभाव देखते रहना। जब हम उसको देखते हैं तो वह दृश्य बन जाता है और देखने वाला दृश्य से अलग हो जाता है तब हमारी शक्ति उसमे नही लगती, देखने मे लगने लगती है। जैसे जैसे देखने पर जोर आता जाता है वैसे वैसे दृश्य दूर होता जाता है। फिर एक समय आता है तब दृश्य नहीं रहता मात्र दृष्टा रह जाता है। यही समाधि है। जो हो रहा है, उठ रहा है उसको दबाने की चेष्टा न करे, उसमें भला बुरा न माने, मात्र जो हो रहा है उसको जानने की चेष्टा करे और पूर्ण ताकत लगाकर मात्र उसको जाने। अगर ऐसा हुआ तो हम पायेंगे कि न विचार रहा, न विकार रहा न आगे की, भविष्य की आकुलता रही, बीते की याद रही, मात्र साक्षीपन बना हुआ है।

अगर हम नदी या तालाब मे उतरेंगे तो पानी मैला हो जायेगा परन्तु यदि किनारे बैठकर देखते रहें तो कुछ समय बाद मैला नीचे बैठ जावेगा। किनारे बैठकर देखते रहना है। अगर हमने यह क्यो हुआ, ऐसा नहीं होना चाहिए था तब साक्षीभाव नही बनेगा। परन्तु यह मान कर चलें कि जो विचार उठ रहे हैं वही उठने के है उसमे कुछ अच्छा बुरा नहीं है। यह तो कर्म का मैला है उसके अनुसार हो रहा है और मैं जान रहा हूं मैं जानने वाला हूं इनको बदली करने वाला अथवा रोकने वाला नही हूं तब यह साक्षीभाव बनेगा। जहाँ साक्षीभाव बना, विकल्प का कार्य खतम होने लगेगा। जब मन का काम नही रहा तब संसार ही नही रहा। अब उसको किसी नाम से कहें कुछ देर के लिए शांत होकर बैठ जावो। शरीर को निढाल छोड दो फिर मन की धारा को देखते रहो, और कुछ भी न करो, न मंत्र, न भगवान का नाम। यह तो मन के खेल हैं। तुम अपने जीवन के ही दृष्टा बनो। खुद का जीवन भी ऐसे देखो जैसे वह भी एक अभिनय है। यह पत्नी, बच्चे, परिवार, धन-दौलत सब अभिनय के अंग हैं। हमे यह अभिनय करना पड़ रहा है। यह पृथ्वी की बड़ी मच है। जिसने अपने को कर्त्ता समझा वही चूक गया, जिसने अपने को अभिनेता जाना उसने पा लिया। जिसको पाना है वह दूर नही है। मिला ही हुआ है सिर्फ उसकी तरफ हम पीठ किये हुए हैं। मुंह उधर कर लेना है। यह साक्षी-भाव ही साधन है और यही साध्य है। श्वास चले और साक्षी रहे। श्वास भीतर आई हमने देखी, श्वास बाहर गयी हमने देखी, बस मात्र श्वास के दृष्टा रहना है। उसने अपने जीवन मे व्यर्थ को छोड़ दिया और सार्थक को पकड़ लिया। जब श्वास का दृष्टा बनना है तब न भविष्य का विकल्प बनता है न भूतकाल की याद। मात्र श्वास को आते जाते देखता है। जोर श्वास लेने पर नहीं रहकर श्वास

(शेष पृ० २२ पर)

आचार्य जिनसेन की काव्य कला

□ एम. एल. जैन, नई दिल्ली

जिन महानुभावों ने जिनसेन का स्वाध्याय किया है वे जानते हैं कि महाकवि एक ओर दर्शन शास्त्र के अधिकारी थे तो दूसरी ओर अप्रतिम प्रतिभा के साहित्यकार भी। जहां अपने गुरु वीरसेन की अधूरी धवला टीका को पूर्ण कर जिनवाणी का अक्षय-कोष भरा वहां महापुराण का लेखन भी किया। इसके प्रथम भाग आदि पुराण को वह पूरा नही कर पाये किन्तु जितना कुछ लिखा उससे उसको व्याकरण, कोष, छन्द अलंकार व साहित्य के विविध आयामों की व दिशाओ की जानकारी पद पद पर अंकित है। देखा जाए तो आदिपुराण की शैली संस्कृत-काव्य साहित्य की निराली शैली है। विशाल विद्वत्ता के कारण यह शैली एक ओर व्यास, कालिदास, माघ आदि कवियो से मुकाबला करती है तो दूसरी ओर बाण, हर्ष आदि साहित्यकारोकी बराबरी करती है। नवी शताब्दी तक प्राप्त संस्कृत काव्य कला की सारी तकनीक इस अकेले महाकाव्य मे संदर्शित है। आइए इसका थोडा-सा आनद बांटा जाए।

माता मरुदेवी के गर्भाधान के पश्चात् का प्रसंग है। माता का मनोरंजन करने के लिए देवियां आई हैं और नाच गान के साथ-साथ काव्य गोष्ठी भी करती हैं जिसमें व्याजस्तुति आदि अलकारो के साथ-साथ पहेलियां, एकालपक, क्रियागुप्त, गूढक्रिया, स्पष्टान्धक, समानोपमा, गूढचतुर्थक, निरौष्ठ्य, बिन्दुमान, बिन्दुच्युत, मात्राच्युत-प्रश्नोत्तर, व्यञ्जनच्युत, अक्षरच्युतप्रश्नोत्तर, द्वयक्षरच्युत, एकाक्षरच्युत, निन्हुवैकालापक, बहिर्लापिका, अन्तर्लापिका, आदि विषम सन्तरालापक, प्रश्नोत्तर, गोमूत्रिका, अर्धभ्रम जैसे छन्दो का मनोहारी सरस प्रयोग है। कुछ नमूने पेश हैं—

पहेली नाभेरभिमतो राजस्त्वयि रक्तो न कामुकः,

न कुतो ऽप्यधर कान्त्या यः सहोजोधर स कः।

इस पहेली का जवाब पहेली में ही रखा है। देवी पूछती है—

आप मे रक्त (आसक्त) होते हुए भी जो नाभिराजा को अभिमत (प्रिय) है, कामुक भी नही है, अधर (नीचे) भी नही है, कान्ति के कारण वह सदा ओजधर (ओजस्वी) रहता है, वह कौन है ?

माता मरुदेवी का उत्तर है—अधर क्योंकि अधर न स्वय कामुक है, शरीर के नीचे भाग मे स्थित नही है, सदा कान्तिमान है और पति नाभिराय को प्रिय है ही।

क्रियागुप्त :

नयनानन्दिनी रूपसंपद ग्लानिमम्बिके,

आहाररतिमुत्सृज्य नानाशानामृतं सति।

इस पद्य मे 'नय' और 'अशान' क्रियाएं गुप्त हैं।

हे सति, हे माता आप आनददायिनी रूप संपत्ति को ग्लानि में न लाएं (नय न) आहार से प्रेम छोड़कर नाना प्रकार के अमृत का भोजन कीजिए (अशान)।

स्पष्टान्धक :

वटवृक्ष. पुरोऽय ते घनच्छाय: स्थितो महान्,

इत्युक्तोऽपि न त घर्मेश्रित कोऽपि वदाद्भुतम्।

(पृ० २१ का शेषांश)

देखने पर, देखने वाले पर रहना चाहिए। जब यह अभ्यास गहरा होगा तब अन्य कार्य करते हुए भी ज्ञाता पर जोर आ जायेगा और तत्काल ऐसा लगेगा वह काम तो हो रहा है परन्तु मैं जान रहा हूं, इसी रास्ते से आगे बढ़ने का उपाय होता है। उस समय भूत, भविष्यत् की बुद्धिपूर्वक वाली चिन्ताओं के रुकने से जो शांति का आभास होगा वह परमशांत अवस्था का नमूना है। पं. प्रवर टोडर मल जी साक्षीभाव के लिए यह लिखा है—"साक्षी भूत तो वाका नाम है जो स्वयमेव जैसे होय तैसे देख्या जान्या करै। जो इष्ट अनिष्ट मानि राग-द्वेष उपजावै ताको साक्षीभूत कैसे कहिए जातै साक्षीभूत रहना अर कर्त्ता हर्त्ता होना ये दोऊ परस्पर विरोधी हैं। एक कै दोउ सम्भवै नाहीं।" 卐

देवी का सवाल है—यह गहरी छाया वाला बड़ा बड़ है का पेड़ आपके सामने खड़ा है ऐसा कहने पर भी धूप में खड़ा कोई व्यक्ति वहां नहीं गया—बताइए यह कैसा आश्चर्य है ?

जवाब में माता कहती है कि इसमें कोई आश्चर्य नहीं क्योंकि दर असल इसका अर्थ इस प्रकार है—

वटवृक्ष (वट+वृक्ष अर्थात् हे वट्, यह रींछ) तेरे सामने घनच्छायः (बादल के समान काला) बड़ा भारी खड़ा है ऐसा कहने पर भला कौन वहां जाता चाहे धूप में ही क्यों न खड़ा हो।

निरौष्ठ्य :

जगज्जयी जितानङ्गः सता गतिरनन्तदृक्,
तीर्थकृत्कृत कृत्यश्च जयतात्तनयः स ते।

इस पद्य का अर्थ सरल है किन्तु इसमे उकार पवर्ग और उपध्मानीय अक्षर नही है।

एकाक्षर च्युत :

का—कः श्रयते नित्यं का—की सुरतप्रियाम्,
का—नने वदेदानी च—रक्षरविच्युतम्।

देवी पूछती है—हे माता, किसी वन में एक कौआ सम्भोगप्रिय कागली का निरन्तर सेवन करता है परन्तु इसमें चार अक्षर कम है।

मरुदेवी ने पूर्ति की—

कामुकः श्रयते नित्य कामुकी सुरतप्रियाम्,
कान्तानने वदेदानीं चतुरक्षर विच्युतम्।

हे सुन्दरमुखी, कामी पुरुष सम्भोग प्रिय कामिनी का सदा सेवन करता है। इस प्रकार चारो एकाक्षर की पूर्ति कर दी।

बिन्दु च्युत :

मकरन्दारुणं तोय धत्ते तत्पुरखातिका,
साम्बुजं क्वचिदुद्बिन्दु चलत् मकरदारुणम्।

देवी वर्णन करती है—उसके नगर की परिखा ऐसा जल धारण कर रही है जो लाल कमलों के पराग से लाल हो रहा है, कहीं कमलों से सहित है, कहीं उड़ती हुई जल की छोटी-छोटी बूंदो से शोभायमान है और कहीं जल मे चल रहे मगरमच्छ आदि से भयंकर है।

इस पद्य में तोयं व जलं शब्द पानी के लिए दो बार प्रयोग होने से जलं का बिन्दु लोप करके जल मकरदारुणम् पाठ किया जाता है। इसी प्रकार प्रारंभ के मकरदारुणम् बिन्दु लोप करके मकरदारुणम् तथा अंत के मकरदारुणम् में बिन्दु जोड़कर मकरंदारुणम् पाठ आसानी से करके भी वही अर्थ सारे पद्य का निकाला जा सकता है।

आदिव्यञ्जन पृथक्

वराशनेषु को रुच्यः को गम्भीरो जलाशयः,
का कान्तस्तव तन्वांगी वदादिव्यञ्जनैः पृथक्।

हे तन्वांगि उत्तम भोजनों में रुचि बढ़ाने वाला क्या है ? गहरा जलाशय क्या है और आपका पति कौन है ? तीनों प्रश्नों के जवाब मे आदि व्यञ्जन पृथक् हो ? श्लोक में जवाब नहीं है किन्तु कवि ने लिखा है कि माता मरुदेवी का जवाब था—'सूप', 'कूप' और 'भूप'।

गोमूत्रिक :

गो मूत्र के समान ऊँचे नीचे वाले छन्द का नाम गोमूत्रिका होता है—देवी कहती है—

त्वमम्ब रेचितं पश्य नाटके सुरसान्वितम्,
स्वमम्बरे चितं वैश्यपेटकं सुरसारितम्।

हे माता नाटक में होने वाले रसीले नृत्य को देखिए, तथा देवों द्वारा लाया हुआ और आकाश मे एक जगह इकट्ठा हुआ यह अप्सराओं का समूह भी देखिए।

इस गोमूत्रिका को समझने के लिए निम्न चित्र देखिए—

त्व व चि प ना के र न्वि
म रे त श्य ट सु सा तं
स्व ब चि वै पे कं र रि

बीच की पंक्ति के अक्षर दोनों श्लोकार्धों में हैं इन्हीं की वजह से गोमूत्र सम पंक्ति निर्मित हो सकी है। बीच की पंक्ति के अक्षरों को दोनों ही प्रथम व तृतीय पंक्ति पढ़ने मे साथ में पढ़ना होगा।

इस विशिष्ट कवि गोष्ठी के अतिरिक्त सर्ग १९ ऐसी विशेषताओं से भरा पड़ा है। देखिए—

सानूनस्य द्रुतमुपयान्ती घनसारात्
सारासारा जलदघटेय समसारान्

तारातारा धरणिधरस्य स्वरसारा
सारादु र्व्यक्ति मुहुरुपयातिस्तनितेन ॥१७५॥

सारासारा सारसमाला सरसीयं सारं
कूजत्यत्र वनान्ते सुरकान्ते।
सारासारा नीरदमाला नभसीयं तारं
मद्र निश्वनतीत: स्वनसारा।
श्रित्वास्याद्रे: सारमणीद्ध तटभाग
सारं तारं चारुतरागं रमणीयम्।
सम्भोगान्ते गार्यात कान्त रमयन्ती
सा रन्तारं चारुतरागं रमणीयम् ॥१७६-१७७॥

विजयार्ध पर्वत का वर्णन किया जा रहा है—

यह उत्कृष्ट वेग से बरसने वाली (सारासारा) तारा के समान अतिशय निर्मल (तारा तारा) यह जलद घटा इस धरणीधर की एकसी ऊँचाई (समसारान्) वाले शिखरो (सानून्) के पास बार बार (मुहु.) जल्दी से (हुतं) जोर से (घनसारात्) आती है किन्तु जब गरजती है (स्तनितेन) तब ही व्यक्त होती है (वर्ना पता ही नही चलता) ॥१७५॥

इधर देवों से शोभित (सुरकान्ते) वन के बीच में (वान्ते) तालाब में यह आने जाने वाली (सारासारा) सारस पंक्ति (सारसमाला) जोर से (सारं) कूजन कर रही हैं ॥१७६॥

आकाश मे जोर से बरसती (सारासारा) और शब्द करती हुई यह मेघमाला उच्च और गम्भीर स्वर से गरज रही है।

संभोग बाद इस अद्रि के श्रेष्ठ मणियों से देदीप्यमान (सारमणीद्ध) अतिशय सुन्दर तटभाग पर आश्रय लेकर उस पति को जो रमण करने के योग्य है (रंतारं) श्रेष्ठ व निर्मल व सुन्दर शरीर वाला है प्रसन्न करने के लिए (रमयन्ती) कोई स्त्री उच्च स्वर से मनोहारी गायन कर रही है।

इस काव्यानद के लिए पं० पन्नालाल जी द्वारा सपादित अनूदित आदिपुराण प्रथम भाग का सहारा लिया गया है। रसास्वादन के अरिरिक्त प्रस्तुत लेखक का कोई योगदान नही है। □□

सही क्या है? एक प्रश्न

जिनसेन प्रथम के हरिवंशपुराण (७८३ ई०) के सर्ग ८, श्लोक १७६–१७७ मे भगवान आदिनाथ के कान कुण्डलों की शोभा का वर्णन इस प्रकार किया है—

कर्णाविक्षतकायस्य कथंचिद् वज्रपाणिना, विद्धौ वज्रघनौ तस्य वज्रसूचीमुखेन तौ।
कृताभ्यां कणयोरीश: कुण्डलाभ्यामभास्तत:, जम्बूद्वीप: सुभानुभ्यां सेवकाभ्यामिवान्वित: ॥

ऐसे अक्षतकाय जिन बालक के वज्र के समान मजबूत कानों को इन्द्र वज्रमयी सूची की नोक से किसी तरह वेध सका था। तदनंतर कानों मे पहनाए हुए दो कुण्डलों से भगवान् इस तरह शोभित हो रहे थे जिस तरह कि सदा सेवा करने वाले दो सूर्यों से जम्बूद्वीप सुशोभित होता है।

जिनसेन द्वितीय ने आदिपुराण (८४८ ई०) के चतुर्दश पर्व श्लोक १० में बताया है—

कर्णावविद्ध सच्छिद्रौ कुण्डलाभ्यां विरेजतु:।
कान्तिदीप्ती मुखे द्रष्टुमिन्द्रार्काभ्यामिवाश्रितौ ॥

भगवान के दोनो कान बिना भेदन किए ही छिद्र सहित थे। इन्द्राणी ने उनमे मणिमय कुण्डल पहनाए थे, जिसमे वे ऐसे जान पड़ते थे मानों भगवान् के मुख की कान्ति और दीप्ति को रखने के लिए सूर्य और चन्द्रमा ही उनके पास पहुचे हों।

शंका यह है कि क्या तीर्थंकरों के कान बिना भेदन के जन्मजात सछिद्र होते थे अथवा इन्द्र वज्र सूची से उनका कर्णभेदन संस्कार करता था? क्या तीर्थंकरों की मूर्तियों में कान सछिद्र दिखाये जाते हैं?

पाठक शंका समाधान सम्पादक अनेकान्त को लिखकर करने की कृपा करें। —मांगीलाल जैन, नई दिल्ली

कुन्दकुन्द की प्राचीन पाण्डुलिपियों की खोज

डॉ० ऋषभचन्द्र जैन फौजदार

प्राचीन प्राकृत आगम परम्परा में कुन्दकुन्द का सातिशय महत्व है। इसीलिए भगवान महावीर के प्रमुख शिष्य गौतम गणधर के साथ उनका स्मरण किया जाता है। उनके ग्रन्थों में श्रमण परम्परा का सांस्कृतिक इतिहास सुरक्षित है। भाषा की दृष्टि से भी उनके ग्रन्थ विशेष महत्वपूर्ण हैं। कुन्दकुन्द के ग्रंथों में ऐसे विषय सुरक्षित हैं, जो अन्य आगमों में उपलब्ध नहीं हैं। अभी भी भारत तथा विदेशों मे कुन्दकुन्द के ग्रंथों की शताधिक पाण्डुलिपियाँ सुरक्षित हैं। आज तक उनका पूरा सर्वेक्षण नहीं हुआ। सर्वेक्षण के अभाव में उनके ज्ञात सभी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हो पाये। सभी शास्त्र भंडारों का सर्वेक्षण होने पर उनके अन्य ग्रन्थ भी मिलना सम्भव है, जो आज तक मात्र सूचनाओं में है। उनके उपलब्ध ग्रन्थों की पाडुलिपियों की सूची भी प्रकाशित नहीं हुई, इससे यह निश्चित रूप से कह पाना सम्भव नहीं है कि किस ग्रन्थ की कितनी पाण्डुलिपियां कहां सुरक्षित है।

कुन्दकुन्द के प्रत्येक ग्रन्थ के अनेक संस्करण निकले हैं। उनमें प्राय एक-दो प्राचीन पाण्डुलिपियों का उपयोग हुआ है। सम्पादन और पाठालोचन के अभाव में अध्ययन-अनुसन्धान भी गलत दिशा में जा रहा है। अतः सम्पादन-पाठालोचन के मान्य सिद्धान्तों के आधार पर कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के प्रामाणिक संस्करण अत्यन्त आवश्यक हैं। कुन्दकुन्द के दो हजारवें वर्ष में सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के प्राकृत एवं जैनागम विभाग में उक्त कार्य प्राकृत एवं जैनविद्या के मान्य विद्वान् प्रोफेसर गोकुलचन्द्र जैन के निर्देशन में आरम्भ हुआ है। मैं उक्त विभाग मे यू० जी० सी० प्रोजेक्ट के अन्तर्गत नियमसार का पाठालोचन पूर्वक सम्पादन कर रहा हूं। अन्य ग्रन्थों पर दूसरे विद्वान् कार्य कर रहे हैं।

सम्पादन योजना के अन्तर्गत मैंने नियमसार की पाण्डुलिपियों की खोज का कार्य प्रारम्भ किया। इस सन्दर्भ मे देश-विदेश के शोध संस्थानों, पाण्डुलिपि संग्रहालयों, मन्दिरों के शास्त्र भण्डारों, निजी संग्रहों के स्वामियों विद्वानों से पत्राचार द्वारा नियमसार की पाण्डुलिपियों की जानकारी हेतु निवेदन किया है। राजस्थान, दिल्ली एवं मध्यप्रदेश के कतिपय प्राचीन शास्त्र भंडारों में स्वयं जाकर सर्वेक्षण किया। सर्वेक्षण से प्राप्त कतिपय महत्वपूर्ण सूचनाओ का उल्लेख मैंने अपने विगत लेखों मे किया है।

नियमसार के प्रकाशित संस्करणों की प्रस्तावनाओं मे चार पाण्डुलिपियों की सूचना प्राप्त हुई। किन्तु उनमें से एक भी पांडुलिपि उपलब्ध नहीं हुई। प्रथम संस्करण मे उपयोग की गई पांडुलिपि भी शास्त्रभंडार मे उपलब्ध नहीं है। अन्य तीन से पूरी सम्पर्कसूत्र प्राप्त नही हो पाये।

नियमसार की पाण्डुलिपियों की खोज के क्रम में मैंने देश-विदेश के लगभग पचास पांडुलिपि संग्रहालयों की ग्रन्थसूचियों (कैटलाग्स) का सर्वेक्षण किया। इस सर्वेक्षण से लगभग तीस पांडुलिपियों की सूचना मिली है। उन सबकी फोटो या जीराक्स प्राप्त करने हेतु सम्पर्क किया जा रहा है। नियमसार की एक पांडुलिपि स्ट्रासवर्ग लायब्रेरी जर्मनी मे भी सुरक्षित है। उसे प्राप्त करने हेतु प्रयत्न हो रहे है।

राजस्थान की सर्वेक्षण यात्रा में चार नयी पांडुलिपियों की जानकारी मिली। उनमे दो महापूत चैत्यालय, अजमेर तथा दो सिद्धकूट चैत्यालय अजमेर की है। इनमें से दो पांडुलिपिया मूल गाथाओं की हैं। एक हिन्दी टीका तथा एक संस्कृत टीका सहित है। मध्यप्रदेश के सर्वेक्षण में गौराबाई दि० जैन मन्दिर, कटरा बाजार, सागर के मंदिर में एक पांडुलिपि की सूचना मिली, किन्तु पांडुलिपि वहां उपलब्ध नही है। इन दो सर्वेक्षण यात्राओ में पाँच नई पांडुलिपियों की सूचनायें प्राप्त हुई हैं।

नियमसार की अब तक प्राप्त पांडुलिपियों का संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित हैं :—

१. आमेर शास्त्रभंडार, जयपुर (संख्या ५८६)

इसमें मूलप्राकृत गाथायें, संस्कृत छाया तात्पर्यवृत्ति संस्कृत टीका है। इसकी पत्रसंख्या १२६ है। प्रत्येक पृष्ठ पर ६ पंक्तियां हैं। प्रत्येक पंक्ति में अक्षरों की संख्या ३३-३६ तक है। इसकी मूल पांडुलिपि साह राजाराम के पढ़ने के लिए महात्मा गोवर्द्धन ने पाटसूनगर में संवत् १७६६ में लिखी थी। उसी से संवत् १८२४ में यह प्रतिलिपि की गई है।

२. आमेर शास्त्र भंडार, जयपुर (५८८)

यह मूलप्राकृत, संस्कृत छाया एवं तात्पर्यवृत्ति संस्कृत टीका सहित है। इसकी पत्रसंख्या ८४ है। पंक्तियां प्रति पृष्ठ ११ हैं। यह संवत् १८३७ की पांडुलिपि से सं० १६१५ में प्रतिलिपि की गई है।

३. सरस्वती भवन, मंदिरजी ठोलियान, जयपुर (संख्या ३१७)

यह प्रति मूलप्राकृत, संस्कृतछाया, तात्पर्यवृत्ति संस्कृत टीका सहित है। पत्रसंख्या १२७ तथा प्रतिपृष्ठ पंक्ति संख्या ६ है। इसमें दो प्रकार की लिपि है। अन्तिम प्रशस्ति मे लिपिकाल सूचक श्लोक इस प्रकार है—

"सवत् कृपानाथगजर्षिचन्द्रे मासे सिते वर्तिनि मार्गशीर्षे।
षष्ठयां तिथौ संलिखितो मयैष ग्रंथो विचार्यो विदुषादरेण॥"

४. दि० जैन सरस्वती भंडार लूणकरण पांड्या जयपुर

इसमें मूल प्राकृत, संस्कृत छाया, तात्पर्यवृत्ति संस्कृत टीका सकलित है। पत्रसंख्या ८३ तथा पक्ति संख्या प्रति-पृष्ठ १२ है। इसका लेखनकाल संवत् १७६४ है।

५. दि० जैन सरस्वती भंडार, नया मन्दिर, धर्मपुरा, दिल्ली (संख्या ई-१३(क))

प्रति मूल प्राकृत, संस्कृत छाया एवं तात्पर्यवृत्ति संस्कृत टीका सहित है। पत्रसंख्या ७७ तथा प्रतिपृष्ठ पंक्तियाँ १२ हैं। प्रति पंक्ति अक्षर ४२-४६ हैं। संवत् १८६१ में महात्मा गुमानीराम के पुत्र ने इसे लिपिबद्ध किया है।

६. दि० जैन मन्दिर पार्श्वनाथ चौगान, बूंदी

इसमें मूल प्राकृत गाथाएं तथा हिन्दी भाषा टीका है। इसकी पत्र संख्या १५३, पंक्तियाँ प्रति पृष्ठ १२ तथा प्रति पंक्ति अक्षर संख्या ३८-४० है। संवत् १६७६ में प्रति तैयार की गई है। हिन्दी टीका ब्र० शीतलप्रसाद कृत है। ऐसा नियमसार के प्रथम संस्करण की भूमिका से स्पष्ट है, जो स्वयं ब्र० शीतलप्रसाद द्वारा सम्पादित एवं हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई से प्रकाशित है। डा० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल ने राजस्थान के शास्त्र भंडारों की सूची भाग ५, पृ० ७० पर भाषा टीकाकार जयचन्द छाबड़ा को लिखा है। प्रति के लेखनकाल में भी १२ वर्ष का अन्तर है। इसकी एक प्रति जैन सिद्धान्त भवन आरा के संग्रह में है। पत्र संख्या १२० है। लिपिकार संवत् १६७७ है।

इसकी एक अन्य प्रति महापूत चैत्यालय, सरावगी मुहल्ला, अजमेर में भी है। यह संवत् १६८६ में लिखी गई है।

७. सेनगण दि० जैन मन्दिर, कारंजा

प्रति में मूलप्राकृत, संस्कृत छाया, तात्पर्यवृत्ति संस्कृत टीका है। पत्र सख्या १५६ है। प्रत्येक पृष्ठ पर ६ पंक्तियाँ हैं तथा प्रति पंक्ति अक्षर संख्या २६-३० है। प्रति में लिपिकाल का उल्लेख नहीं है।

८ सिद्धकूट चैत्यालय, अजमेर

इसमे मूल प्राकृत गाथाएँ हैं। पत्र संख्या ११ तथा प्रति पृष्ठ पंक्ति संख्या ८ है। लिपिकाल का उल्लेख नहीं है।

६. ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन, ब्यावर

मात्र मूल प्राकृत गाथाएँ हैं। पत्र संख्या १० तथा पक्ति संख्या प्रति पृष्ठ १४ है। लिपिकाल का उल्लेख नहीं है।

१०. महापूत चैत्यालय, अजमेर

मूल प्राकृत गाथाएं मात्र हैं। पत्र संख्या १३ है। प्रत्येक पृष्ठ पर ८ पंक्तियाँ हैं। लेखनकाल का उल्लेख नहीं है।

क्रम संख्या ८, ६, १० की तीनों मूल गाथाओं की पांडुलिपियाँ संस्कृत टीका की प्रति से तैयार हुई हैं।

(शेष पृ० २६ पर)

गतांक से आगे :

अपरिग्रही ही आत्मदर्शन का अधिकारी

☐ पद्मचन्द्र शास्त्री संपादक 'अनेकान्त'

जैन का मूल अपरिग्रह है और अहिंसा आदि सभी इसी की सन्तान हैं। इसी हेतु हमारे पूर्व महापुरुषों व आचार्यों ने अपना लक्ष्य अपरिग्रह को बनाया। और वे पूर्ण अपरिग्रही होने से पूर्व मोक्ष न पा सके। गत अंकों में हम इसी विषय को आधार बनाकर जैन के महत्त्व को दर्शाते रहे हैं। हमारा उद्देश्य है कि आज का जैन, जो इस मूलमार्ग से भटक गया है और कहीं-कहीं परिग्रह समेटे ही आत्मा को देखने-दिखाने की बातें करने लगा है प्रकारान्तर से तीर्थंकरों के आचारयुक्त व वैराग्यभाव के मार्ग से मुंह मोड़ने लगा है, वह सु-मार्ग पर आए। आश्चर्य नहीं कि कुछ परिग्रह-प्रेमी लोग अपरिग्रह जैसे मूल जैन सिद्धान्त से मुकर रहे हों। अभी हमने लिखा था—'अपरिग्रही ही आत्म-दर्शन का अधिकारी।' इस पर हमे एक विचार मिला कि—

चौथे गुण स्थान में नाम मात्र को चारित्र—परिग्रह-त्याग व संयम नहीं होता, पर वहां पर सम्यग्दर्शन के कारण आत्मानुभव हो जाता है। सो क्या यह परिग्रह अवस्था में आत्मानुभव की बात ठीक नहीं? इस गुण-स्थान में तो जीव परिग्रही ही होता है—आदि।

हमारी समझ से आगम के विभिन्न उद्धरणों से तो अपरिग्रह में ही आत्मानुभव की पुष्टि होती है। अधिक क्या, सम्यग्दर्शन भी अपरिग्रही भाव में उत्पन्न होता है यही सिद्ध होता है। यथा—

१. सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः।

२. गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान्।
अनगारो गृही श्रेयान्, निर्मोहो मोहिनो मुनेः॥

३. एकान्ते नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः।
पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यांतरेभ्यः पृथक्।
सम्यग्दर्शनमेतदेवनियमादात्मा च तावानयम्,।
तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसंततिमिमां आत्मायमेकोऽस्तुनः।

सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनों की एकरूपताहोना मोक्ष का मार्ग है। निर्मोही—मूर्च्छा रहित अपरिग्रही गृहस्थ मोक्षमार्ग-स्थित है और मोही ग्रहत्यागी-मुनि नाम धारक व्यक्ति से निर्मोही गृहस्थ श्रेष्ठ है। 'जीव वस्तु चेतना लक्षण तो सहज ही है परन्तु मिथ्यात्व परि-णाम के कारण भ्रमित हुआ अपने स्वरूप को नहीं जानता इसे अज्ञानी ही कहना। अतएव ऐसा कहा कि मिथ्या परिणाम के जाने से यही जीव अपने स्वरूप का अनुभव-शीलो होश्रो। क्या करके? 'इमां नवतत्त्व सन्तति मुक्त्वा' नव तत्त्वों की अनादि सन्तति को छोड़कर। भावार्थ इस प्रकार है—संसार अवस्था मे जीवद्रव्य नौ तत्त्वरूप परि-णमा है, वह तो विभाव परिणति है, इसलिए नौ तत्त्वरूप वस्तु का अनुभव मिथ्यात्व है। इस मिथ्यात्वरूपी परिग्रह को छोड़कर शुद्धनय से अपने एकत्व में आना सम्यक्त्व है।' इसी प्रकार आत्मदर्शन के लिए भी सर्व प्रकारके उस परिग्रह (जो विभाव रूप है) को छोड़ना जरूरी है और इसी परिग्रह के छोड़ने पर हम जोर दे रहे है और यही परिग्रह-त्याग जैन का मूल है।

इसमे मतभेद नहीं कि सम्यग्दर्शन की अपूर्व महिमा है और गुणस्थानो की चर्चा भी उपयोगी है। पर हमारे अनुभव में ऐसा आने लगा है कि आज कुछ लोगों को पहिचान से बाह्य होने जैसे सम्यग्दर्शन और गुणस्थानों की चर्चा परिग्रह-सचय का बहाना जैसी बन बैठी है और ऐसे लोग चतुर्थ गुणस्थान से आगे-पीछे नहीं हटना चाहते—आगे बढ़े तो त्याग, व्रतादि में प्रवेश का सकट और पीछे चले तो सम्यग्दर्शन मे मिथ्यात्व और अनंतानुबंधीरूप भूत की बाधा। ऐसे जिस व्यक्ति से बात करो वह आत्म दर्शन को सम्यग्दर्शन से जोड़ने लगता है। कहता है—जिसको सम्यग्दर्शन होगा उसे ही आत्मदर्शन होगा या आत्मदर्शन वाले को नियम से सम्यग्दर्शन होगा, आदि।

सो हम भी इसका निषेध नहीं करते। हां, हम कुछ और गहराई में जाकर सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति मे भी मूल कारण मिथ्यात्व व अनंतानुबंधी परिग्रहों के अभाव पर भी लक्ष्य दिलाते है। क्योंकि इनके अपरिहार मे सम्यग्दर्शन दुर्लभ है। और इस परिग्रह के त्याग के बिना आगे के गुणस्थान और अन्तत: मोक्ष भी दुर्लभ है। इसलिए हम अपरिग्रह से आत्मदर्शन की व्याप्ति बिठाते है मात्र बाह्य वेष से नहीं।

चौथे गुणस्थानवर्ती जीव के लिए छहढाला मे स्पष्ट कहा गया है—

'गेही पै गृह मे न रचे ज्यो जल मे भिन्न कमल है।
नगर नारि का प्यार यथा, कादे मे हेम अमल है॥'

उक्त भाव अपरिग्रहरूप ही है। आचार्यों ने मूर्च्छा-ममत्वभाव को अन्तरंग परिग्रह मे लिया है और इसके बिना ही बहिरंग का त्याग सम्भव है। यदि बाह्य मे त्याग है और अन्तरग मे मूर्च्छा है तो वह अपरिग्रह भी मात्र कोरा दिखावा-छलावा है। हम मात्र बाह्यवेश को ही अपरिग्रह मे नहीं मानते। 'सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्ग:', 'निर्मोही नैव मोहवान्' और 'नवतत्त्व सन्तति के विकल्प को छोड़ना' व 'द्रव्यान्तरेभ्य: पृथक्' भी तो अपरिग्रह की श्रेणी मे ही है।

हम तो स्पष्ट कहेंगे कि समस्त जैन, अपरिग्रह से सराबोर है और जैन की जड़ मे भी अपरिग्रह समाया हुआ है। ऐसे मे कैसे सम्भव है कि मूर्छा-परिग्रह सजोते हुए आत्मदर्शन हो जाय या सम्यग्दर्शन भी हो जाय?

चतुर्थ गुणस्थान का नाम अविरत सम्यग्दृष्टि है। इस गुणस्थान के विषय मे कहा गया है कि—

'णो इंदिएसु विरदो णो जीवे थावरे तसे वापि।
जो सद्दहदिजिणुत्त, सम्माइट्ठो अविरदो सो॥'

जो इन्द्रिय-विषयो से विरत नही है, त्रस-स्थावर रक्षा मे सन्नद्ध नही है, पर जिन-वचनों, सप्त तत्त्वो मे श्रद्धा मात्र रखता है वह अविरत सम्यग्दृष्टि जीव होता है। पर इस गुणस्थान के लिए मिथ्यात्व (जो घोर परिग्रह है) और अनतानुबधी चौकड़ी रूप परिग्रह का न होना अनिवार्य है। और उनके अभाव मे ही सम्यग्दर्शन होता है। फलत:—यदि मूर्च्छा (पर में अपनत्वबुद्धि) के त्यागरूप अपरिग्रह के साथ सम्यग्दर्शन और आत्मदर्शन की व्याप्ति की जाय तो इसमे गहराई ही है। आखिर, हमने ऐसा तो कहा नही कि 'पूर्ण अपरिग्रही ही सम्यग्दर्शन का अधिकारी है। हमने तो परिग्रह के एकांश और मिथ्यात्वरूपी जड़ को भी पकड़ा है जिसे आचार्यों ने परिग्रह माना है।

जीव को सम्यग्दर्शन के लिए जिन तत्त्वो का श्रद्धान होना बतलाया है वे तत्त्व भी विभाव भावरूप—कर्मरूप परिग्रह के ज्ञान कराने और त्याग भाव में ही है और तत्त्वों का क्रम भी कर्म-परिग्रह को दर्शाने के भाव मे ही है और मोक्ष मार्गरूप रत्नत्रय भी अपरिग्रह से ही फलित होता है। फिर भी हम 'सम्यग्दृष्टि को आत्मदर्शन होता है' इसका निषेध नही करते, हम तो और गहराई मे जाकर उन परिग्रहों (मिथ्यात्व आदि व बाह्यपरिग्रह) के अभाव पर ही जोर देते हैं जो कि सम्यग्दर्शन के होने मे और आगे बढने में भी बाधक हैं।

कहा जाता है कि सम्यग्दृष्टि जीव भी, जब तक चारित्रमोहनीय का प्रबल उदय है, चारित्र धारण नहीं कर सकता। सो हमे यह स्वीकार करने में भी कोई आपत्ति नही—यदि यह निश्चय हो जाय कि अमुक जीव सम्यग्दृष्टि है या अमुक के अमुक गुणस्थान है। वरना प्राय: जो हो रहा है, वही और वैसा ही होता रहेगा। सम्यग्दर्शन और आत्मोपलब्धि कराने के बहाने परिग्रह-संचय चलता रहेगा। आज इसी आत्मदर्शन प्राप्ति की रट मे चारित्र भी स्वाहा हो रहा है। यदि किसी पर कोई पैमाना सम्यग्दर्शन और गुणस्थानों की पहिचान का हो तो देखें। खेद यह है कि आज इस पहिचान का कोई पैमाना नही तब लोग सम्यग्दर्शन प्राप्ति के लिए ढोल पीटे जा रहे है ओर पहिचान का जो पैमाना (अन्तरंग-बहिरंग) परिग्रह मूर्च्छा के त्याग जैसा है उसकी उपेक्षा कर रहे हैं—बाह्य परिग्रह में भी लिपट रहे हैं जब कि तीर्थंकरो ने उसे भी सर्वथा निषिद्ध कहा है।

आगम मे पच्चीस दोषों का वर्णन आता है और सभी दोष कर्म (परिग्रह) जन्य होते हैं तथा जब तक इन दोषों का परिहार नही होता तब तक सम्यग्दर्शन निर्दोष नही कहलाता। इसके सिवाय आगम में सम्यग्दर्शन का मुख्य

(अन्तरंग) हेतु दर्शन मोहनीय रूप परिग्रह (जो मिथ्यात्व ही है) के क्षय आदि को ही कहा है—

'अंतर हेऊ भणिदा दंसण मोहस्स खयपहुदी।' इस भांति सम्यग्दर्शन का मूल अपरिग्रह ही ठहरता है। फिर आश्चर्य है कि अपरिग्रह के साथ आत्मोपलब्धि की व्याप्ति पर लोगों को आपत्ति हो और वे मात्र पहिचान से बाह्य—सम्यग्दर्शन के गुणगान में लगे हों और आत्मदर्शन की उत्पत्ति में बाधक मूर्च्छा और बाह्य परिग्रह से भी नाता जोड़े—आत्मा को दिखा रहे हों? विचारना यह भी होगा जिस सम्यग्दर्शन को आचार्यों ने सराग और वीतराग के भेदों में विभक्त किया है उनमें चौथे गुणस्थान में सराग सम्यग्दर्शन होता है या वीतराग? यदि सराग होता है तो राग में आत्मदर्शन कैसे? यदि वीतराग सम्यग्दर्शन होता है तो श्रेणी माड़ने पर कौनसा सम्यग्दर्शन होता है? आदि। पाठक इस पर विचार करें। हम इस पर आगे कुछ लिखेंगे। यह तो हम पहिले ही लिख आए हैं कि अरूपी आत्मा का शुद्ध-स्वरूप मोही छद्मस्थ की पकड़ से बाह्य है और परिग्रह-सचय करते क्षण तो उसकी पकड़ सर्वथा ही असम्भव-सी है।

एक बात और। जैन, निवृत्तिप्रधान धर्म है और तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम सूत्र में भी निवृत्ति की ही बात कही गई है—मोक्षमार्ग को प्रधान रखा गया है। सम्यग्दर्शनादि उसी के साधन हैं और इन साधनों का साधन भी परिग्रह से निवृत्ति—अपरिग्रह—एकाकीपन ही है। फिर ऐसे मे कैसे सम्भव है कि हम एकाकी होने की बात करें और पर—परिग्रह से जुड़े रहें? फलतः—न तो सम्यग्दृष्टि अन्तर परिग्रहों मे रत होता है और ना ही कोई आत्म-दृष्टा ऐसा कर सकता है। तथा ना ही परिग्रही-भाव क्षण मे आत्मदर्शन होता है। अधिक क्या खुलासा करें? हमारा अभिप्राय निश्चय आत्मदर्शी से है—बनावटी या बाजारू आत्मदर्शियों से नही।

हम कई बार स्पष्ट कर चुके हैं कि हम जो भी लिखते हैं—'स्वान्तः सुखाय' लिखते हैं और आगम के आलोक में लिखते हैं। किसी को रास न आए तो इसे छोड़ दें? सचमुच आज के समार में विरले हैं जो जैन के मूल—अपरिग्रह पर दृष्टि दे। (क्रमशः)

(पृ० २६ का शेषांश)

संस्कृत टीका के अनुसार इनमे मूल का विभाजन १२ अधिकारों में किया गया है।

उक्त सभी पाण्डुलिपियाँ कागज पर देवनागरी लिपि में लिखी हुई है। परिचय से यह भी स्पष्ट है कि प्रायः सभी प्रतियाँ उत्तर भारत की है। मात्र एक प्रति महाराष्ट्र के कारंजा भंडार की है।

कन्नड़ लिपि में ताडपत्र पर लिखी प्रतियों मे अभी तक जिनकी सूचना मिली हैं, उनमें जैन मठ श्रवणबेलगोला जैन मठ मूडबिद्री, ऐलक पन्नालाल सरस्वती, भवन उज्जैन की प्रतियां हैं। कुन्दकुन्द भारती दिल्ली मे भी कुछ प्रतियाँ सुरक्षित हैं। इनकी फोटो या जीराक्स हेतु सस्थाओं के सम्बद्ध अधिकारियों से निवेदन किया है।

उत्तर से दक्षिण और दक्षिण से उत्तर में विभिन्न कालों में धार्मिक सांस्कृतिक आदान-प्रदान होते रहे हैं। इसमें मध्यप्रदेश की अहं भूमिका होना स्वाभाविक है। अतः कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की प्राचीन पाण्डुलिपियां मध्यप्रदेश में भी सुरक्षित होनी चाहिए। इसके लिए विस्तृत सर्वेक्षण कार्यक्रम बनाया जा रहा है समय एव साधनो की सीमा होने पर भी मैंने कुछ सर्वेक्षण कार्य जून ९१ में किया है। अब पत्राचार एव अन्य माध्यमो से सम्पर्क किया जा रहा है।

नियमसार की प्राचीन पाण्डुलिपियो की खोज का कार्य निरन्तर चल रहा है। इस सन्दर्भ में देश के विभिन्न राज्यो के शोध सस्थानों, पांडुलिपि संग्रहालयो, मन्दिरों के शास्त्र भंडारों, निजी संग्रहों के मालिकों से सम्पर्क किया जा रहा है। खोज के क्रम मे मध्यप्रदेश तथा दक्षिण भारत की यात्रा का कार्यक्रम भी बनाया जा रहा है। सम्बद्ध व्यक्तियों, विद्वानों एवं कुन्दकुन्द प्रेमी जनों से मेरा विनम्र निवेदन है कि उनकी जानकारी मे कहीं भी नियमसार की प्राचीन पांडुलिपि हो तो उसकी सूचना मुझे देने की कृपा करें तथा उसकी जीराक्स या फोटो या माइक्रोफिल्म उपलब्ध कराने मे सहयोग करें।

आवास—२९, विजयानगरम् कालोनी,
भेलूपुर, वाराणसी-२२१०१०

देखो, कहीं श्रद्धा डगमगा न जाए

☐ पद्मचन्द्र शास्त्री संपादक 'अनेकान्त'

जैसे हिन्दुओं के मूल ग्रन्थ वेद हैं और उन्हें ईश्वरकृत मानने जैसा विश्वास है। यह विश्वास कोरा और व्यर्थ नहीं है—इनमें श्रद्धा का बल हिन्दू के हिन्दुत्व को कायम रखने मे कारगर है। वैसे ही जैन आगम सर्वज्ञ-वाणी हैं और ऐसी श्रद्धा ही जैनियो के जैनत्व को कायम रखे हुए है। उक्त प्रकार की श्रद्धा जिस दिन क्षीण हो जायगी—जैनत्व भी लुप्त हो जायगा। जिनवाणी को परम्परित पूर्वाचार्य ही कायम रखे रहे—वे लगाव रहित—अपरिग्रही होने के कारण ही जिनवाणी के रहस्यो का उद्घाटन करने में समर्थ हुए। उन पूर्वाचार्यों मे हमारी उत्कट श्रद्धा है। यह कार्य रागी-द्वेषी जनो के वश का नहीं था।

जब मूल वेदो की विविध व्याख्याएँ स्व-मन्तव्यानुसार हुई तो हिन्दू लोग कहीं सायणाचार्य, कहीं महीधराचार्य और कहीं महर्षि दयानन्द के मत को मानने वाले जैसे विविध भागों में बंट गए। वैसे ही जैनियो में भी मूल की विविध व्याख्याओ को लेकर अनेकों मान्यताएं चल पड़ी और विवाद पनपने लगे। जैसे कहीं सोनगढ़ी, कहीं जयपुरी और कहीं स्थितिपालक की मान्यताएँ आदि। फिर भी आश्चर्य यह कि सभी अपने को मूलाम्नायी कहते रहे। हिन्दुओ में विवाद होने पर भी किसी ने वेदकर्ता और ऋचावाहक को लांछित नहीं किया—सबकी श्रद्धा उन पर टिकी रही। ऐसे ही जैनियो मे भी आगमवाहक आचार्यों और मूल में श्रद्धा जमी रही और जमी भी रहनी चाहिए।

कदाचित् यदि कोई तर्कवादी व्यक्ति (परिग्रही को आत्मदर्शन होना मानने जैसी परिग्रह-प्रेमियो की मान्यतानुरूप—भ्रान्त परिपाटी की भांति) अपने तर्कों के बल पर आचार्यों को सन्देहास्पद स्थिति मे ला खड़ा करने की कोशिश करे और कहे कि जब 'सम्यग्दृष्टि की पहिचान दुर्लभ है और आगम में ग्यारह अंग नौ पूर्व के ज्ञाता को सुदृष्टि और द्रव्यलिंगी—मिथ्यादृष्टि होने तक के दोनों भांति के कथन हैं, और उसके उपदेशों से अनेकों जीवों के उद्धार होने की बात भी है। तब क्या गारण्टी है कि हमारे कुन्दकुन्दादि आचार्य सर्वथा सम्यग्दृष्टि ही रहे हों, आदि।' तो ऐसे वचनों से समाज की श्रद्धा डगमगा जायगी और जैन की हानि ही होगी। तथा प्रश्न यह भी खड़ा होगा कि जो पूर्वाचार्यों को सम्यग् या मिथ्यादृष्टि होने जैसी सन्देहास्पद लाइन में खड़ा करने की बात कर रहा हो, उसके वचनों को भी प्रामाणिकता कहाँ रहेगी। क्योंकि वह भी तो उन्हीं आचार्यों के वचनों को आधार बना अपनी सचाई घोषित कर रहा है, जिन्हें उसने स्वयं सन्देहास्पद स्थिति मे ला खड़ा किया हो। सो हमें परम्परित आचार्यों को सन्देहास्पद न मानकर उन्हें सादर, सर्वथा सम्यग्दृष्टि ही मानना चाहिए—ऐसा हमारा निवेदन है।

यतः शुद्ध आत्मा सम्यग्ज्ञान स्वभावी है और सम्यग्ज्ञान मे मुख्य कारण सम्यक्त्व है। लोक में भी जिसे हम सरल आत्मा की आवाज के नाम से कह दिया करते हैं उससे भी अन्तरंग-भाव का बोध होता है और सम्यग्ज्ञानी के अन्तरग भावों से प्रसूत वाक्य को प्रमाणता होती है। और ऐसी प्रमाणता सम्यग्दृष्टि मे ही होती है। द्रव्यलिंगी तो मिथ्यादृष्टि होता है और उसका ज्ञान भी सम्यक्त्व बिना मिथ्या होता है और वचन भी उससे प्रभावित होते है। कदाचित् उसके उपदेश से कइयो को लाभ भी मिल जाय; पर उसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं कहला सकता और न उसमे (सम्यक्त्व के बिना) वैसे कथन की शक्ति होती है जो 'आप्तोपज्ञमनुलंघ्यमदृष्टेष्ट विरोधकम्, तत्त्वोपदेशकृत' की समता को धारण कर सके। हमारे परम्परित आचार्य कुन्दकुन्दादि जैसा वस्तुतत्व का विवेचन कर

सके वह उनके सम्यक्त्व का ही प्रभाव था—जिसके कारण उनका ज्ञान निर्मल हुआ और वे जिनवाणी के रहस्य को वहन कर सके। द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि की श्रद्धा तो 'जिन' से भी डगमगाई रहती है; तब वह जिन की वाणी का यथार्थ कथन कैसे कर सकता है ? अतः निश्चय ही हमारे परम्परित आचार्य सम्यग्दृष्टि ही थे जो 'अहमिक्को खलु-सुद्धो' जैसे वाक्य और वस्तु के गुण-पर्याय आदि का कथन करने में समर्थ हुए। ऐसी स्थिति में परम्परित किन्हीं भी आचार्य में अपने मिथ्या तर्क के बल पर 'वे सम्यग्दृष्टि थे या मिथ्यादृष्टि' जैसा भ्रम फैलाना आगम का घात करना होगा।

प्रश्न यह भी उठेगा कि आज जो नवीन-नवीन व्याख्यायें की जा रही हैं और छोटे-मोटे अनेक लेखक अनेक स्व ग्रन्थ लिखकर अपने नामों से प्रकाशित कराने की धुन मे हैं—जिन्हें नाम या अर्थ संग्रह का भूत सवार है। क्या, उन पर सम्यग्दृष्टि होने की कोई मुहर लगी है ? या कही वे भी विभिन्न वेषों में द्रव्यलिंगीवत् बाह्याचार-क्रिया तो नहीं कर रहे ? या वे निश्चय सम्यग्दृष्टि जिन भगवान की जिनवाणी को न कह अपनी वाणी कह रहे है तो उनके कथनानुसार कदाचित् मिथ्यादृष्टियों (?) द्वारा वहन की गई जिनवाणी और वे स्वयं भी प्रामाणिक कैसे है ? क्योंकि जैनियों में द्रव्यलिंगी को प्रामाणिकता नही दी गई—उसे मिथ्यादृष्टि कहा गया है और मिथ्यादृष्टि का वचन मद्यपायी के वचनों सदृश बावला जैसा वचन होता है। अतः उसकी बात सही कैसे मानी जाय ?

एक प्रसंग में हम पहिले भी लिख चुके हैं कि आधुनिक लेखकों की पुस्तकों से अल्पज्ञ भले ही धर्म-प्रचार होना मान लें पर, दूरगामी परिणाम तो जिनवाणी का लोप ही है। आश्चर्य नहीं कि ऐसे लेखन, व्यवहार से मूल आगमों के पठन-पाठन और परम्परित आचार्यों के नामों के स्मरण भी लुप्त हो जायें और वर्तमान लेखन व लेखकों के नाम उभर कर सामने रह जायें। यदि वर्तमान सिलसिला चलता रहा तो निश्चय ही जिनवाणी का लोप समझिए।

जिनवाणी की रक्षा के लिए प्राचीन आचार्य और उन द्वारा संकलित आगम के मूल का संरक्षण आवश्यक है और वह मूल-पाठी तैयार करने से ही होगा। जब तक नई वाणी लिखी जाती रहेगी तब तक मूल पीछे छूटता चला जायगा और एक दिन ऐसा आयगा कि जिनवाणी नाम शेष भी लुप्त हो जायगा तथा उसका स्थान अल्पज्ञ वाणी ले लेगी। फिर इसकी भी क्या गारण्टी है कि आज जो लिखा जा रहा है वह मूल का सही मन्तव्य ही हो, क्योंकि—"मुण्डे-मुण्डे मतिभिन्ना"—वर्तमान पन्थवाद भी इसी का जीता जागता उदाहरण है।

आगम के विषय मे 'अनात्मार्थं विनारागैः' और 'आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम्। तत्त्वोपदेश कृत्' आदि कथन आए हैं। सो आज के कितने नए लेखक वीतरागी है, कितने परमार्थ चाहने वाले हैं, तथा उनमे कितने निष्पक्ष हैं, कितनों के ग्रन्थ सर्वथा अनुल्लंघ्य है, कितनों के कथन में प्रत्यक्ष—परोक्ष प्रमाणों से दूषण नहीं है, और कितने सर्व हितकारी हैं ? इस पर विचार किया जाय। पर यह निर्णय करना भी सरल नहीं—इसमें भी पक्षपात रहने की सम्भावना है। फलतः—मूल आगम और परम्परित आचार्य-नामों को स्थायी रखने के लिए आवश्यक है कि मूलपाठी तैयार किए जाय—अन्धाधुन्ध नए लेखनो पर रोक हो। क्योंकि जिनवाणी ही हमारा संबल है। उसकी व्याख्याएँ मौखिक वाचनो तक ही सीमित हों—ताकि गलत रिकार्ड से बचा जा सके।

दि० जैनों में स्तुति बोली जाती रही है—'जिनवाणी माता दर्शन की बलिहारियाँ' और सुना भी गया है कि किसी जमाने में लोग दक्षिण में जाकर महान् शास्त्रों के दर्शन मात्र से अपना जन्म सफल मान लिया करते थे। वर्तमान वातावरण के परिप्रेक्ष्य में कहीं भविष्य में उक्त तथ्य भी न झुंठला जाय और लोग परम्परित आचार्यों द्वारा संकलित परम्परित जिनवाणी के दर्शनो तक को भी न तरस जाएँ और उन्हें स्थान-स्थान पर जिनवाणी के स्थान पर नवीन लेखकों की वाणी जिनवाणी के रूप में दर्शन देने लगे। हम नहीं समझ पा रहे कि वर्तमान के

कितने लेखक परम्परित आचार्यों से महान् और सम्यग्ज्ञानी हैं, जो उनकी मूल रचनाओं से लोगों को वंचित कर स्वयं को आगे लाने में तत्पर होने जैसा कर रहे है और लोगो को जिनवाणी का सही तत्त्व दे पा रहे है ?

कभी-कभी हम सोचते हैं कि क्या हम उन जैसे श्रद्धानी भी नही जिन्होंने कुरआन के भावो को तोड़-मरोड कर लिखने जैसे दुःसाहस को बर्दाश्त नहीं किया था। काश, हममे एक भी ऐसा कट्टर श्रद्धालु निकला होता जो सम्यग्दृष्टिवत् आगम की रक्षा में सन्नद्ध होता, तो हममें आगम के प्रति भ्रान्त-विविध मतभेद न होते और हमें आगम के सुरक्षित रहने का स्पष्ट संकेत मिलता।

अन्त में निवेदन है कि यश अथवा अर्थ संग्रह से तत्पर कई लेखक गण हमारे कथन को उनके प्रति बगावत न समझें और ना हों एकाकी या संगठित हो, हमारे प्रति विद्रोह को सन्नद्ध हो—क्योंकि हम तो **'कहीं हमारी श्रद्धा न डगमगा जाए'** इसी भाव मे कुछ लिख सकते हैं।

—:०:—

(पृ० ३ कवर का शेषांश)

कि मैं घट बनाऊँ, उसके अनन्तर उसके आत्मप्रदेश चञ्चल होते हैं जिनसे हस्तादि व्यापार होता है। हस्त के व्यापार द्वारा मृत्तिका को आर्द्र करता है पश्चात् दोनों हाथो मे उसे खूब गीली करता है, पश्चात् मिट्टी को चाक के ऊपर रखता है, पश्चात् दण्डादि द्वारा चक्र को घुमाता है। इसी भ्रमण मे हस्त के द्वारा मिट्टी को घटाकार बनाता है। पश्चात् जब घट बन जाता है तब उसे सूत के द्वारा पृथक कर पश्चात् अग्नि में पका लेता है। यहाँ पर जितने व्यापार हैं सब जुदे जुदे है फिर भी एक दूसरे मे सहकारी कारण है किन्तु जब घट निष्पन्न हो जाता है तब केवल मिट्टी ही उपादान कारण रह जाती है। अनन्तर जब घट फूट जाता है तब भी मिट्टी ही रहती है। इसी आशय को लेकर अष्टावक्र गीता मे लिखा है—

"मत्तो विनिर्गतं विश्वं, मय्येव च प्रशाम्यति।
मृदि कुम्भो जले वीचिः, कटकं कटके यथा॥"

जो पदार्थ जहाँ उदय होता है वही उसका लय होता है। यही कारण है कि वेदान्ती जगत का मूल कारण ब्रह्म मानते हैं। परमार्थ से देखा जाये तो आत्मा की विभावपरिणति ही का नाम संसार है किन्तु केवल आत्मा मे ही यह संसार नहीं हो सकता है। अतएव उन्होंने माया को स्वीकार किया है। इसका यह भाव है कि केवल ब्रह्म जगत का रचयिता नहीं। जब उसे माया का संसर्ग मिले तभी यह संसार बन सकता है। अब कल्पना करो कि यदि ब्रह्म सर्वथा शुद्ध था तब माया का संसर्ग कैसे हुआ ? शुद्ध विकार होता नही अतएव मानना पड़ेगा कि यह माया का सम्बन्ध अनादि से है। यहाँ पर यह शङ्का हो सकती है कि अनादि से सम्बन्ध है तो छूटे कैसे ? उसका उत्तर सरल है कि बीज से अंकुर होता है। यदि बीज दग्ध हो जावे तो अंकुरोत्पत्ति नही हो सकती। यही माया भव का बीज है। जब वास्तव तत्त्वज्ञान हो जाता है तब वह संसार का कारण जो भ्रमज्ञान है वह आप से आप पर्यायन्तर हो जाता है। (६, १०।१२।५१)

७. बहुत से मनुष्यों की यह धारणा हो गई है कि निमित्त कारण इतना प्रबल नही जितना उपादान होता है। यह महती भ्रान्ति है। कार्य की उत्पत्ति न तो केवल उपादान से होती है और न केवल निमित्त से किन्तु उपादान और सहकारी कारण के योग से कार्य उत्पन्न होता है। यद्यपि कार्य उपादान में ही होता है परन्तु निमित्त की सहकारिता बिना कदापि कार्य नही होता। जैसे कुम्भ मिट्टी से ही होता है परन्तु कुलालरूप निमित्त बिना कार्य नही होता। (२८।१२।५१)

(वर्णीवाणी से साभार)

निमित्त और उपादान

१. लोगों की भावना तो उत्तम है किन्तु परिणमन पदार्थों के कारण कूट के मिलने पर होता है। उपादान कारण में ही कार्य की उत्पत्ति होती है। किन्तु सहकारी कारण के बिना उपादान का विकास असम्भव है।

(३।८।४७)

२. निमित्त के बिना उपादान का विकास नहीं होता। यद्यपि उपादान का विकास निमित्तरूप नहीं परिणमता परन्तु निमित्त की सहकारिता के बिना केवल उपादान कार्य का उत्पादक नहीं। (१६।११।४७)

३. जो काम होते हैं वह होते ही हैं, सामग्री से ही होते हैं। अहम्बुद्धि से आप अपने को सर्वथा कर्ता मानते हैं यही महती अज्ञानता है। यह कौन कहता है कि निमित्त रूप कार्य हुआ परन्तु अपने को सर्वथा कर्ता मानना न्याय सिद्धान्त के प्रतिकूल जाता है। घट उत्पत्ति कुम्भकार आदि के निमित्त से होती है परन्तु घट बना कहाँ? इसको मत छोड़ दो। तब तुम्हारा निमित्त भी चरितार्थ है। अन्यथा अभाव में संसार भर के कुम्भकार प्रयत्न करें क्या घट बन जावेगा? मृत्तिका के उपादान वाले यही पाठ घोषणा करते हैं कि मिट्टी ही घट की जनक है, कुम्भकार तो कुम्भकार ही है। तब जगत भर की मृत्तिका का सग्रह कर लो क्या कुम्भकार के बिना घट बन जावेगा? अतः यही मानना पड़ेगा कि घट के उत्पादन में सामग्री कारण है। केवल उपादान और केवल निमित्त दोनों ही अपने अस्तित्व को रक्खे रहो कुछ नहीं होगा। यही पद्धति सर्वत्र जानना। यदि इस प्रक्रिया को स्वीकार न करोगे तब कदापि कार्य की सत्ता न बनेगी। इस विषय मे वाद-विवाद कर मस्तिष्क को उन्मत्त बनाने की पद्धति है। इसी प्रकार जो भी कार्य हो उसके उपादान और निमित्त को देखो, व्यर्थ के विवाद में न पड़ो।

(२३।६।५१)

४. बहुत मनुष्यों की धारणा हो गई है कि जब कार्य होता है तब निमित्त स्वयं उपस्थित हो जाता है। यहाँ पर विचार करना चाहिए कि यदि निमित्त कुछ करता ही नही तब उसकी उपस्थिति की क्या आवश्यकता है? यदि कुछ आवश्यकता उसकी कार्य मे है तब उपादान ही केवल कार्य का उत्पादक है ऐसे दुराग्रह से क्या प्रयोजन? अष्टसहस्री मे श्री विद्यानन्द स्वामी ने लिखा है कि **"सामग्री हि कार्यजनिका नैकं कारणं"** कार्य की उत्पादक होती है, एक कारण नही। (१७।७।५१)

५. पदार्थों के परिणमन उपादान और निमित्त की सहकारिता मे होते हैं परन्तु जो सहकारी कारण होते है उसी समय किसी को सुख मे निमित्त होते है तथा किसी को दुःख मे निमित्त होते हैं। अतः उपादान कारण पर लोग विशेष बल देते हैं। यह ठीक है घट की उत्पत्ति मिट्टी से ही होगी, चाहे कुम्भकार ही बनावे, चाहे जुलाहा बनावे, चाहे वैश्य बनावे, किन्तु निमित्त कारण अवश्य वांछनीय है। (१५।१०।५१)

६. यद्यपि सभी पदार्थ अपने में ही परिणमन करते हैं परन्तु कार्य जब होता है तब उस विकास परिणाम के लिए उपादान कारण और निमित्त की अपेक्षा करता है। जैसे जब कुम्भकार घट बनाता है उस काल में मिट्टी, चक्र, चीवर, जल, दण्ड सूत्र को लेकर ही घट के निर्माण का उद्यम करता है। प्रथम तो उसके यह विकल्प होता है

(शेष पृ० ३२ पर)

कागज प्राप्ति :—श्रीमती अंगूरी देवी जैन (धर्मपत्नी श्री शान्तिलाल जैन कागजी) नई दिल्ली-२ के सौजन्य से

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

सम्पादन परामर्शदाता : श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री

प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीरसेवामन्दिर के लिए मुद्रित, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५३

प्रिन्टेड

पत्रिका बुक-पैकिट

वीर सेवा मन्दिरका त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ४४ : कि० ४ अक्तूबर-दिसम्बर १९९१

इस अंक में—

प्रकाशक :

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

आगमिक ज्ञान-कण

—ज्ञानी की ऐसी बुद्धि है कि जिसका संयोग हुआ उसका वियोग अवश्य होगा इसलिए विनाशीक से प्रीति नहीं करनी।

× × × ×

—जानने में और करने में परस्पर विरोध है। ज्ञाता रहेगा तो बन्ध न होगा यदि कर्ता होगा तो अवश्य बन्ध होगा।

× × × ×

—ज्ञान से बन्ध नहीं होता अज्ञान से बन्ध होता है। अविरत सम्यग्दृष्टि का पर का स्वामीपना छूट गया है चारित्रमोहनीयरूपी विकार होता है सोई बन्ध भी होता है मगर वह अनन्त ससार का कारण नही है क्योंकि स्वामीपना छूटने से अनन्त ससार छूट गया।

× × × ×

—*आचार्य कहते हैं कि शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि तो मैं शुद्ध चैतन्य मात्र मूर्ति हू।* परन्तु मेरी परिणति मोहकर्म के उदय का निमित्त पाकर मैली है—राग-द्वेष रूप हो रही है।

× × × ×

—द्रव्यकर्म भावकर्म और नोकर्म आदि पुद्गल द्रव्यों में अपनी कल्पना करने को सकल्प और ज्ञेयों के भेद से ज्ञान में भेदों की प्रतीति को विकल्प कहते है।

× × × ×

—पर-द्रव्य मे आत्मा का विकल्प करता है वह तो अज्ञानी है। और अपने आत्मा को ही अपना मानता है वह ज्ञानी है।

× × × ×

—सर्वज्ञ ने ऐसा देखा है कि जड और चेतन द्रव्य ये दोनो सर्वथा पृथक् है कदाचित् किसी प्रकार से भी एक रूप नही होते।

× × × ×

—जब तक पर-वस्तु को भूलकर अपनी जानता है तब तक ही ममत्व रहता है और जब यथार्थ ज्ञान हो जाने से पर को पराई जाने, तब दूसरे की वस्तु से ममत्व नही रहता।

× × × ×

कषाय के उदय से होने वाली मिथ्या प्रवृत्ति को असयम कहते है।

× × × ×

—सम्यक्त्व तथा चारित्र के घातक का उदय सर्वथा थम जाने पर जो स्वभाव प्रकट होते है उन्हें औपशमिक कहते है।

× × × ×

— इच्छा है वह परिग्रह है जिसके इच्छा नही है उसके परिग्रह नही है।

(श्री शान्तिलाल जैन कागजी के सौजन्य से)

कागज प्राप्ति :—श्रीमती अंगूरी देवी जैन (धर्मपत्नी श्री शान्तिलाल जैन कागजी) नई दिल्ली-२ के सौजन्य से

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वर्ष ४४ किरण ४ | वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ | वीर-निर्वाण संवत् २५१८, वि० सं० २०४८ | अक्टूबर-दिसम्बर १९९१

जिनवाणी-महिमा

नित पीजो धी-धारी ।

जिनवानि सुधासम जानके नित पीजो धी-धारी ।।
वीर-मुखारविन्द तें प्रगटी, जन्म जरा गद-टारी ।
गौतमादिगुरु उर घट व्यापी, परम सुरुचि करतारी ।।
सलिल समान कलित, मलगंजन, बुध-मन-रंजनहारी ।
भंजन विभ्रमधूलि प्रभंजन, मिथ्या जलद निवारी ।।
कल्यानकतरु उपवन धरनी, तरनी भवजल-तारी ।
बन्धविदारन पैनी छैनी, मुक्ति नसैनी सारी ।।
स्वपरस्वरूप प्रकाशन को यह, भानु-कला अविकारी ।
मुनिमन-कुमुदिनि-मोदन-शशिभा, शम सुख सुमन सुवारी ।।
जाको सेवत, बेवत निजपद, नसत अविद्या सारी ।
तीन लोकपति पूजत जाको, जान त्रिजग हितकारी ।।
कोटि जीभि सौं महिमा जाको, कहि न सके पविधारी ।
'दौल' अल्पमति केम कहै यह, अधम उधारन हारी ।।

卐卐

गतांक से आगे :

कर्नाटक में जैन धर्म

□ श्री राजमल जैन, जनकपुरी

शिवकुमार द्वितीय सैगोत (७७६-८१५ ई.) को अपने जीवन में युद्ध और बन्दीगृह का दु.ख भोगना पड़ा। फिर भी उसने जैनधर्म की उन्नति के लिए कार्य किया। उसने श्रवणबेलगोल की चन्द्रगिरि पहाड़ी पर 'शिवमार बसदि' का निर्माण कराया था, ऐसा वहां से प्राप्त एक लेख से ज्ञात होता है। आचार्य विद्यानन्द उसके भी गुरु थे।

राचमल्ल सत्यवाक्य प्रथम (८१५-८५३ ई.) ने अपनी राजनीतिक स्थिति ठीक की। किन्तु उसने धर्म के लिए भी कार्य किया था। उसने चित्तूर तालुक मे वल्लमलै पर्वत पर एक गुहा-मन्दिर भी बनवाया था। सम्भवत: इसी के आचार्य गुरु आर्यनन्दि ने प्रसिद्ध 'ज्वालामालिनी कल्प' की रचना की थी।

सत्यवाक्य के उत्तराधिकारी एरेयगंग नीतिमार्ग (८५३-८७० ई.) को कुडलूर के दानपत्र मे 'परमपूज्य अर्हद्भट्टारक के चरण-कमलों का भ्रमर कहा गया है। इस राजा ने समाधिमरण किया था।

राचमल्ल सत्यवाक्य द्वितीय (८७०-९०७ ई.) पेन्ने कडंग नामक स्थान पर सत्यवाक्य जिनालय का निर्माण कराया था और बिलियूर (वेलूर) क्षेत्र के बारह गांव दान में दिये थे।

नीतिमार्ग द्वितीय (९०७-९१७ ई.) ने मुडहल्लि और तोरमवु के जैन मन्दिरों को दान दिया था। विमलचन्द्राचार्य उसके गुरु थे।

गंगनरेश नीतिमार्ग के बाद, बुतुग द्वितीय तथा मरुलदेव नामक दो राजा हुए। ये दोनों भी परम जिनभक्त थे। शिलालेखों में उनके दान आदि का उल्लेख है।

मारसिंह (९६१-९७४ ई.)नामक गंगनरेश जैनधर्मका महान् अनुयायी था। इस नरेश की स्मृति एक स्मारक स्तम्भ के रूप मे श्रवणबेलगोल की चन्द्रगिरि पर के मंदिर-समूह के परकोटे मे प्रवेश करते ही उस स्तम्भ पर आलेख के रूप में सुरक्षित है। मारसिंह ने अपना अन्तिम समय जानकर अपने गुरु अजितसेन भट्टारक के समीप तीन दिन का सल्लेखना व्रत धारण कर बंकापुर मे अपना शरीर त्यागा था: उसने अनेक जैन मन्दिरों का निर्माण कराया था। वह जितना धार्मिक था उतना ही शूर-वीर भी था। उसने गुर्जर देश, मालवा, विन्ध्यप्रदेश, वनकासि आदि प्रदेशो को जीता था तथा 'गगसिह', 'गगवज्र' जैसी उपाधियो के साथ-ही-साथ 'धर्म-महाराजाधिराज' की उपाधि ग्रहण की थी। वह स्वय विद्वान था और विद्वानों एव आचार्यों का आदर करता था।

राचमल्ल सत्यवाक्य चतुर्थ (९७४-९८४ ई.)—इस शासक ने अपने राज्य के प्रथम वर्ष मे ही पेग्गूर ग्राम की बसदि के लिए इसी नाम का गांव दान मे दिया और पहले के दानों की पुष्टि की थी।

राचमल्ल का नाम श्रवणबेलगोल की गोम्मटेश्वर महामूर्ति के कारण भी इतिहास प्रसिद्ध हो गया है। इसी राजा के मन्त्री एवं सेनापति चामुण्डराय ने गोम्मटेश्वर की मूर्ति का निर्माण कराया था। राजा ने उनके पराक्रम और धार्मिक वृत्ति आदि गुणों से प्रसन्न होकर उन्हें 'राय' (राजा) की उपाधि से सम्मानित किया था।

उपर्युक्त नरेश के बाद, यह गंग साम्राज्य छिन्न-भिन्न होने लगा। किन्तु जो भी उत्तराधिकारी हुए वे जैनधर्मके अनुयायी बने रहे। रक्कसगंग ने अपनी राजधानी तलकाड में एक जैन मन्दिर बनवाया था और विविध दान दिए थे।

सन् १००४ ई. में चोलों ने गंग-राजधानी तलकाद पर आक्रमण किया औरउस पर तथा गंगवाड़ी के बहुत से भाग पर अधिकार कर लिया। परवर्ती काल में भी, कुछ विद्वानों के अनुसार, गंगवंश १६वीं शती तक चलता रहा किन्तु होयसल, चालुक्य, चोल, विजयनगर आदि राज्यों के सामन्तों के रूप में।

जैनधर्म-प्रतिपालक गंगवंश कर्नाटक के इतिहास में सबसे दीर्घजीवी राजवश था। उसकी कीर्ति उस समय और भी अमर हो गई जब गोम्मटेश्वर महामूर्ति की प्रतिष्ठापना हुई।

चालुक्य राजवंश :

कर्नाटक में इस वश का राज्य दो विभिन्न अवधियों मे रहा। लगभग छठी सदी से आठवीं सदी तक इस वंश ने ऐहोल और वादामि (वातापि) नामक दो स्थानो को क्रमशः राजधानी बनाया। दूसरी अवधि १०वीं से ११वीं सदी की है जबकि चालुक्य वंश की राजधानी कल्याणी (आधुनिक बसव कल्याण) थी। जो भी हो, इतिहास मे यह वश पश्चिमी चालुक्य कहलाता है।

पहली अवधि अर्थात् छठी से आठवीं सदी के बीच चालुक्य राजाओ का परिचय ऐहोल और वादामी के प्रसग में इसी पुस्तक मे इसी पुस्तक मे दिया गया है। फिर भी यह बात पुन: उल्लेखनीय है कि चालुक्य नरेश पुलकेशी द्वितीय के समय उसके आश्रित जैन कवि रविकीर्ति द्वारा ६३४ ई. मे ऐहोल म बनवाया गया जैन मन्दिर (जो कि अब मेगुटी मन्दिर कहलाता है) चालुक्य-नरेश की स्मृति अपने प्रसिद्ध शिलालेख म सुरक्षित रखे हुए है। यह शिलालेख पुरातत्त्वविदो और सस्कृत साहित्य के मर्मज्ञो के बीच चर्चित है। इसी लेख से ज्ञात होता है कि पुलकेशी द्वितीय ने कन्नौज के सम्राट हर्षवर्धन को प्रयत्न करने पर भी दक्षिण भारत मे घुसने नही दिया था। उसके उत्तराधिकारी मंगेश ने वातापि मे राजधानी स्थानान्तरित कर ली थी। उस स्थान के पहाड़ी के ऊपरी भाग में बना जैन गुफा-मन्दिर और उसमे प्रतिष्ठित बाहुबली की सुन्दर मूर्ति कला का एक उत्तम उदाहरण है। आश्चर्य होता है कि चट्टानों को काटकर सैकड़ो छोटी-बड़ी मूर्तिया इस गुफा-मन्दिर में बनाने में कितना कौशल अपेक्षित रहा होगा और कितनी राशि व्यय हुई होगी।

अनेक शिलालेख इस बात के साक्षी हैं कि चालुक्य-नरेश प्रारम्भ से ही जैनधर्म को, जैन मन्दिरो को सरक्षण देते रहे हैं। अन्तिम नरेश विक्रमादित्य द्वितीय ने पुलिगुरे (लक्ष्मेश्वर) के 'धवल जिनालय' का जीर्णोद्धार कराया था।

कल्याणी को जैन राजधानी के रूप मे स्मरण किया जाता है (देखिए 'कल्याणी' प्रसंग)। तैलप द्वितीय का नाम इतिहास मे ही नहीं, साहित्य मे भी प्रसिद्ध है। तैलप द्वारा बन्दी बनाये गये धारानगरी के राजा मुंज और तैलप की बहिन मृणालवती की कथा अब लोककथा-सी बन गई है। तैलप प्रसिद्ध कन्नड़ जैन कवि रत्न का भी आश्रयदाता था। इस नरेश ने ९७३ ई. में राष्ट्रकूट शासकों की राजधानी मान्यखेट पर भीषण आक्रमण, लूटपाट करके उसे अधीन कर लिया था। कोगुलि शिलालेख (९९२ ई.) से प्रतीत होता है कि वह जैनधर्म का प्रतिपालक था। एक अन्य शिलालेख में, उसने राजाज्ञा का उल्लंघन करने वाले को वसदि, काशी एव अन्य देवालयों को क्षति पहुंचाने वाला घातकी घोषित किया है। वसदि या जैन मन्दिरका उल्लेख भी उसे जैन सिद्ध करन में सहायक है।

तैलप के पुत्र सत्याश्रय इरिवबेडेग (९९७-१००९ ई.) के गुरु द्रविड़ सघ कुन्दकुन्दान्वय के विमलचन्द्र पण्डितदेव थे। इस राजा के बाद जयसिंह द्वितीय जगदेकमल्ल (१०१४-१०४२ ई.) इस वंश का राजा हुआ। यह जैन गुरुओं का आदर करता था। उसके समय मे आचार्य वादिराज सूरि ने शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त की थी और इस नरेश ने उन्हें जयपत्र प्रदान कर 'जगदेकमल्लवादी' उपाधि से विभूषित किया था। इन्हीं सूरि ने 'पार्श्वचरित' और 'यशोधरचरित' की रचना की थी।

जयसिंह के बाद सोमेश्वर प्रथम (१०४२-६८ ई.) ने शासन किया। कोगलि से प्राप्त एक शिलालेख में उसे स्याद्वाद मत का अनुयायी बताया गया है। उसने इस स्थान के जिनालय के लिए भूमि का दान भी किया था। उसकी महारानी केयलदेवी ने भी पोन्नवाड के त्रिभुवन-तिलक जिनालय के लिए महासेन मुनि को पर्याप्त दान दिया था। एक शिलालेख से ज्ञात होता है कि सोमेश्वर ने तुंगभद्रा नदी मे जलसमाधि ले ली थी।

सोमेश्वर द्वितीय (१०६८-१०७६ ई.) भी जिनभक्त था। जब वह बंकापुर मे था तब उसने अपने पादपद्मोपजीवी चालुक्य उदयादित्य की प्रेरणा से बन्दलिके की शान्तिनाथ वसदि का जीर्णोद्धार कराके एक नयी प्रतिमा स्थापित की थी। अपने अन्तिम वर्ष मे उसने गुड्डिगेरे के श्रीमद् भुवनैकमल्ल शान्तिनाथ देव नामक जैन मन्दिर को

'सर्वनमस्य' दान के रूप मे भूमिदान किया था।

विक्रमादित्य षष्ठ त्रिभुवनमल्ल साहसतुंग (१०७६-११२८ ई.) इस वंश का अन्तिम नरेश था। कुछ विद्वानों के अनुसार, उसने जैनाचार्य वासवचन्द्र को 'बालसरस्वती' की उपाधि से सम्मानित किया था। गद्दी पर बैठने से पहले ही उसने बल्लियगांव मे 'चालुक्यगंगपेर्म्मानिडि जिनालय, नामक एक मन्दिर बनवाया था और देव पूजा मुनियों के आहार आदि के लिए एक गांव दान मे दिया था। एक शिलालेख से ज्ञात होता है कि उसने हुनसि हदल्गे में पद्मावती-पार्श्वनाथ बसदि का निर्माण कराया था। इसके अतिरिक्त अनेक स्थानों पर मन्दिर बनवाए तथा चोलों द्वारा नष्ट किए गए मन्दिरों का जीर्णोद्धार भी कराया था। उसके गुरु आचार्य अर्हनन्दि थे। उसकी रानी जक्कलदेवी भी परम जिनभक्ता थी।

उपर्युक्त चालुक्य नरेश के उत्तराधिकारी कमजोर सिद्ध हुए। अन्तिम नरेश सम्भवतः नूर्म्मडि पैलप (११५१-५६ ई.) था जिसे परास्त कर कल्याणी पर कलचुरि वंश का शासन स्थापित हो गया। इस वंश का परिचय आगे दिया जाएगा।

राष्ट्रकूट-वंश :

इस वंश का प्रारम्भिक शासन-क्षेत्र मुख्यतः महाराष्ट्र प्रदेश था किन्तु उसके एक राजा दन्तिवर्मन् ने चालुक्यों को कमजोर जान आठवीं शती के मध्य में (७५२ ई.) कर्नाटक प्रदेश पर भी अधिकार कर लिया था। कुछ विद्वानो का मत है कि उसने प्रसिद्ध जैनाचार्य अकलंक का अपने दरबार में सम्मान किया था। इसका आधार श्रवणबेलगोल का एक शिलालेख है जिसमे कहा गया है कि अकलंक ने साहसतुंग को अपनी विद्वत्ता से प्रभावित किया था। सहसतुंग दन्तिवर्मन् की ही एक उपाधि थी।

दन्तिवर्मन् के बाद कृष्ण प्रथम अकालवर्ष शुभतुंग (७५७-७७३ ई.) राजा हुआ। उसी के समय मे एलोरा के सुप्रसिद्ध मन्दिरों का निर्माण हुआ जिनमें वहां के प्रसिद्ध जैन गुहा मन्दिर भी है। उसने चालुक्यों के सारे प्रदेशों को अपने अधीन कर लिया। उसने आचार्य परवादिमल्ल को भी सम्मानित किया था। इस नरेश की परम्परा मे ध्रुव-धारावर्ष-निरुपम नामक शासक हुआ जिसने (७७६-७९३ ई.) तक राज्य किया। उसकी पट्टरानी बैंग के चालुक्य नरेश की पुत्री थी और जिनभक्ता थी। डॉ॰ ज्योतिप्रसाद जैन के अनुसार, अपभ्रंश भाषा के जैन महाकवि स्वयम्भू ने अपने रामायण, हरिवंश, नागकुमार-चरित, स्वयम्भू छन्द आदि महान ग्रन्थों की रचना, इसी नरेश के आश्रय में, उसी की राजधानी मे रहकर की थी। कवि ने अपने काव्यों में ध्रुवराय धवलइय नाम से इस आश्रयदाता का उल्लेख किया है।...पुन्नाटसंघी आचार्य जिनसेन ने ७८३ ई. में समाप्त अपने 'हरिवंशपुराण' के अन्त में इस नरेश का उल्लेख "कृष्ण नृप का पुत्र श्री वल्लभ जो दक्षिणापथ का स्वामी था" इस रूप मे किया है।

राजा ध्रुव के बाद गोविन्द तृतीय (७९३-८१४ ई.) राजा हुआ था। उसके समय मे राज्य का खूब विस्तार भी हुआ और उसकी गणना साम्राज्य के रूप में होने लगी थी। उसने कर्नाटक में मान्यखेट (आधुनिक मलखेट) में नई राजधानी और प्राचीर का निर्माण कराया था। कुछ विद्वानों के अनुसार, वह जैनधर्म का अनुयायी तो नहीं था किन्तु वह उसके प्रति उदार था। उसने मान्यखेट के जैन मन्दिर के लिए ८०२ ई. मे दान दिया था। ८१२ ई. मे उसने पुनः शिलाग्राम के जैन मन्दिर के लिए अर्ककीर्ति नामक मुनि को जालगंगल नामक ग्राम भेंट मे दिया था। इसके समय में महाकवि स्वयम्भू ने भी सम्भवतः मुनि-दीक्षा धारण कर ली थी जो बाद मे श्रीपाल मुनि के नाम से प्रसिद्ध हुए थे।

सम्राट् अमोघवर्ष प्रथम (८१५-८७७ ई.)—यह शासक जैनधर्म का अनुयायी महान् सम्राट् और कवि था। वह बाल्यावस्था मे मान्यखेट राजधानी का अभिषिक्त राजा हुआ। उसके जैन सेनापति बकयरस और अभिभावक कर्कराज ने न केवल उसके साम्राज्य को सुरक्षित रखा अपितु विद्रोह आदि का दमन करके साम्राज्य मे शान्ति बनाए रखी तथा वैभव मे भी वृद्धि की। अनेक अरब सौदागरों ने उसके शासन की प्रशंसा की है। सुलेमान नामक सौदागर ने तो यहाँ तक लिखा है कि उसके राज्य मे चोरी और ठगी कोई भी नही जानता था, सबका धर्म और धार्मिकसम्पत्ति सुरक्षित थी। अन्य राजा लोग अपने-अपने राज्य मे स्वतन्त्र रहते हुए भी उसकी प्रभुता स्वीकार करते थे।

सम्राट् अमोघवर्ष ने कन्नड़ भाषा में 'कविराजमार्ग' नामक एक ग्रन्थ अलकार और छन्द के सम्बन्ध में लिखा है जिसका आज भी कन्नड़ में आदर के साथ अध्ययन किया जाता है। उसके समय मे सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और कन्नड़ में विपुल साहित्य का सृजन हुआ। उसके बचपन के साथी आचार्य जिनसेन ने जैन-जगत् मे सुप्रसिद्ध 'आदिपुराण' जैसे विशालकाय पुराण की रचना की। वे आचार्य ऋषभदेव और भरत का जीवन-चरित्र लिखने के बाद ही स्वर्गस्थ हो गए। उनके शिष्य आचार्य गुणभद्र ने उत्तरपुराण मे शेष तीर्थंकरो का जीवन-चरित लिखा। ग्रन्थ के अन्त में उन्होने लिखा है कि सम्राट् अमोघवर्ष जिनसेनाचार्य के चरणो की वन्दना कर अपने आपको धन्य मानता था। आयुर्वेद, व्याकरण आदि से सम्बन्धित अनेक ग्रन्थ उसी के आश्रय में रचे गए। उसने 'प्रश्नोत्तर-रत्नमालिका' नामक पुस्तक स्वय लिखी है जिसके मगला-चरण मे उसने महावीर स्वामी की वदना की है। उसके कुन्नूर लेख तथा सजन ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि वह एक श्रावक का जीवन व्यतीत करता था तथा जैन गुरुओ और जैन मन्दिरों को दान दिया करता था। रत्नमालिका' से यह भी सूचना मिलती है कि वह अपने अन्त समय मे राजपाट को त्याग कर मुनि हो गया था। सम्बन्धित श्लोक है—

विवेकात्त्यक्तराज्येन राज्ञेयं रत्नमालिका।
रचितामोघवर्षेण सुधियां सदलङ्कृतिः॥

अर्थात् विवेक का उदय होने पर राज्य का परित्याग करके राजा अमोघवर्ष ने सुधीजनो को विभूषित करने वाली इस रत्नमालिका नामक कृति की रचना की।

प्राचीन भारतीय इतिहासज्ञ डॉ. अनन्त सदाशिव अल्तेकर ने अपनी पुस्तक 'राष्ट्रकूट एण्ड देअर टाइम्स' में लिखा है कि सम्राट् अमोघवर्ष के शासनकाल में जैन धर्म एक राष्ट्रधर्म या राज्यधर्म (State Religion) हो गया था और उसकी दो-तिहाई प्रजा जैनधर्म का पालन करती थी। उनके बड़े-बड़े पदाधिकारी भी जैन थे। उन्होंने यह भी लिखा है कि जैनियों की अहिंसा के कारण भारत विदेशियों से हारा यह कहना गलत है। (सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य का भी उदाहरण हमारे सामने है।) डा. ज्योति प्रसाद जैन ने लिखा है कि "प्रो० रामकृष्ण भण्डा-रकर के मतानुसार, राष्ट्रकूट नरेशों मे अमोघवर्ष जैनधर्म का महान् संरक्षक था। यह बात सत्य प्रतीत होती है कि उसने स्वयं जैनधर्म धारण किया था।"

सम्राट् अमोघवर्ष के महासेनापति परम जिनभक्त बंकेयरस ने कर्नाटक में बंकापुर नामक एक नगर बसाया जो कर्नाटक के एक प्रसिद्ध जैन केन्द्र के रूप मे प्रसिद्ध हुआ और आज भी विद्यमान है।

कृष्णराज द्वितीय (८७८-९१४ ई.) सम्राट् अमोघवर्ष का उत्तराधिकारी हुआ। 'उत्तरपुराण' के रचयिता आचार्य गुणभद्र उसके विद्यागुरु थे। उसी शासनकाल मे आचार्य लोकसेन ने 'महापुराण' (आचार्य जिनसेन के आदिपुराण और आचार्य गुणभद्र के उत्तरपुराण) का पूजोत्सव बंकापुर में किया था। आज इस नगरी में एक भी जैन परिवार नही है, ऐसी सूचना है। पूजोत्सव के समय इस नरेश का प्रतिनिधि शासक लोकादित्य वहां राज्य करता था। इस राष्ट्रकूट शासक ने भी मूलगुण्ड, वदनिके आदि के अनेक जैन मन्दिरों के लिए दान दिए थे। स्वयं राजा और उसकी पट्टरानी जैनधर्म के प्रति श्रद्धालु थे। उसके सामन्तों, व्यापारियों ने भी जिनालय बनवाए थे।

इन्द्र तृतीय (९१४-९२२ ई.) भी अपने पूर्वजों की भांति जिनभक्त था। उसने चन्दनपुरिपत्तन की बसदि और बड़नगरपत्तन के जैन मन्दिरो के लिए दान दिए थे और भगवान शान्तिनाथ का पाषाण-निर्मित सुन्दर पाद-पीठ भी बनवाया था। अपने राज्याभिषेक के समय उसने पहले से चले आए दानो की पुष्टि की थी तथा अनेक धर्मगुरुओ, देवालयों के लिए चार सौ गांव दान किए थे।

कृष्ण तृतीय (९३९-९६७ ई.) इस वश का सबसे अन्तिम महान् नरेश था। वह भी जैनधर्म का पोषक था और उसने जैनाचार्य वादिघंगल भट्ट का बड़ा सम्मान किया था। ये आचार्य गंगनरेश मारसिंह के भी गुरु थे। इस शासक ने कन्नड़ महाकवि पोन्न को 'उभयभाषाचक्र-वर्ती' की उपाधि से सम्मानित किया था। ये वही कवि पोन्न हैं जिन्होंने कन्नड़ में 'शान्तिपुराण' और 'जिनाक्षर-माले' की रचना की है। उसके मन्त्री भरत और उसके

पुत्र नन्न ने अपभ्रंश भाषा मे रचित 'महापुराण' के महाकवि पुष्पदन्त को आश्रय दिया था। कवि ने लिखा है कि नन्न जिनेन्द्र की पूजा और मुनियो को दान देने में आनंद का अनुभव करते थे। कवि पुष्पदन्त ब्राह्मण थे किन्तु मुनि के उपदेश से जैन हो गए थे। उन्होंने सल्लेखनाविधि से शरीर त्यागा था।

खोट्टिग नित्यवर्ष (९६७-९७२ ई.) ने शान्तिनाथ के नित्य अभिषेक के लिए पाषाण की सुन्दर चौकी समर्पित की थी ऐसा दानवलपाडु के एक शिलालेख से ज्ञात होता है। उसी के समय मे ९७१ ई. मे राजरानी आर्यिका पम्बव्वे ने केशलोंच कर आर्यिका दीक्षा ली थी और तीस वर्ष तपस्या कर समाधिमरण किया था।

गोम्मटेश्वर महामूर्ति के प्रतिष्ठापक वीरमार्तण्ड चामुण्डराय एव गगनरेश मारसिंह जब अन्य स्थानों पर युद्धों मे उलझे हुए थे तब मालवा के परमार सिपक ने मान्यखेट पर आक्रमण किया जिसमे खोट्टिग मारा गया। उसके पुत्र को भी मारकर चालुक्य तैलप ने मान्यखेट पर अधिकार कर लिया।

कृष्ण तृतीय के पौत्र और गगनरेश मारसिंह के भान्जे राष्ट्रकूट वंशी इन्द्र चतुर्थ की मारसिंह ने सहायता की, उसका राज्याभिषेक भी कराया। श्रवणबेलगोल के शिलालेखानुसार, मारसिंह ने ९७४ ई. मे बकापुर मे समाधिमरण किया। इन्द्रराज भी ससार से विरक्त हो गया था और उसने भी ९८२ ई. मे समाधिमरण किया। इस प्रकार राष्ट्रकूट वंश का अन्त हो गया। इस वंश के समय में लगभग २५० वर्षो तक जैनधर्म कर्नाटक का सबसे प्रमुख एवं लोकप्रिय धर्म था।

कलचुरि वंश :

चालुक्य वश के शासन को इस वश के विज्जल कलचुरि नामक चालुक्यों के ही महामण्डलेश्वर और सेनापति ने ११५६ ई. मे कल्याणी से समाप्त कर दिया। लगभग तीस वर्षों तक अनेक कलचुरि राजाओं ने कल्याणी से ही कर्नाटक पर शासन किया।

कलचुरियो का शासन मुख्य रूप से वर्तमान महाभारत, महाकोसल एवं उत्तरप्रदेश में तीसरी सदी से ही था। इनके सम्बन्ध मे डा. ज्योति प्रसाद जी का कथन है कि अनुश्रुतियों के अनुसार इस वंश का आदिपुरुष कीर्तिवीर्य था, जिसने जैन मुनि के रूप मे तपस्या करके कर्मों को नष्ट किया था। 'कल' शब्द का अर्थ कर्म भी है और देह भी। अतएव देहदमन द्वारा कर्मो को चूर करने वाले व्यक्ति के वशज कलचुरि कहलाये। इस वश मे जैनधर्म की प्रवृत्ति भी अल्पाधिक बनी रही। प्रो० रामास्वामी आय्यगर आदि अनेक दक्षिण भारतीय इतिहासकारो का मत है कि पांचवी छठी शती ई. मे जिन शक्तिशाली कलभ्रजाति के लोगो ने तमिल देश पर आक्रमण करके चोल, चेर तथा पाण्ड्य नरेशो को पराजित करके उक्त समस्त प्रदेश पर अपना शासन स्थापित कर लिया था वे प्रतापी कलभ्र नरेश जैनधर्म के पक्के अनुयायी थे। यह सम्भावना है कि उत्तर भारत के कलचुरियो की ही एक शाखा सुदूर दक्षिण मे कलभ्र नाम से प्रसिद्ध हुई और कालान्तर मे उन्ही कलभ्रो की सन्तति मे कर्नाटक के कलचुरि हुए।

आयंगार के ही अनुसार, कलचुरि शासक विज्जल भी "अपने कुल की प्रवृत्ति के अनुसार जैनधर्म का अनुयायी था। उसका प्रधान सेनापति जैनवीर रेचिमय्य था। उसका एक अन्य जैन मन्त्री ब्राह्म बलदेव था जिनका जामाता बासव भी जैन था।" इसी बासव ने जैनधर्म और अन्य कुछ धर्मों के सिद्धान्तो को सम्मेलित कर 'वीरशैव' या 'लिंगायत' मत चलाया (इस आशय का एक पट्ट भी 'कल्याणी' के मोड़ पर लगा है। देखिए जैन राजधानी 'कल्याणी' प्रकरण)। जो भी हो, विज्जल और उसके वशजो ने इस मत का विरोध किया। किन्तु वह फैलता गया और जैनधर्म को कर्नाटक में उसके कारण काफी क्षति पहुंची। कहा जाता है कि विज्जल ने अपने अन्त समय मे पुत्र को राज्य सौप दिया और अपना शेष जीवन धर्म-ध्यान मे बिताया। सन् ११८३ ई. मे चालुक्य सोमेश्वर चतुर्थ ने कल्याणी पर पुनः अधिकार कर लिया और इस प्रकार कलचुरि शासन का अन्त हो गया।

अब्लूर नामक एक स्थान के लगभग १२०० ई. के शिलालेख से ज्ञात होता है कि वीरशैव आचार्य एकान्तद रामय्य ने जैनो के साथ विवाद किया और उनसे ताड़पत्र पर यह शर्त लिखवा ली कि यदि वे हार गये तो वे

जिनप्रतिमा स्थापित करेंगे। कहा जाता है कि रामय्य ने अपना सिर काटकर पुनः जोड़ लिया। जैनों ने जब शर्त का पालन करने से इनकार किया तो उसने सैनिकों, घुड़सवारो के होते हुए भी हुलिगेरे (आधुनिक लक्ष्मेश्वर) मे जैन मूर्ति आदि को फेंककर जिनमन्दिर के स्थान पर वीरसोमनाथ शिवालय बना दिया। जैनो ने राजा विज्जल से इसकी शिकायत की तो राजा ने जैनो को फिर वही शर्त लिख देने और रामय्य को वही करिश्मा दिखाने के लिए कहा। जैनो ने राजा से क्षतिपूर्ति की माँग की, न कि झगड़ा बढ़ाने की। इस पर राजा ने रामय्य को जय-दिया। इस चमत्कार की कथनी मे विद्वानो का सन्देह है और इसका यही अर्थ लगाया जाता है कि वीरशैव या लिंगायत मत के अनुयायियो ने जैनो पर उन दिनो अत्याचार किये थे। एक मत यह भी है कि विज्जल भी वासय की बहिन और अपनी सुन्दर रानी पद्मावती के प्रभाव से वीरशैव मत की ओर झुक गया था किन्तु उसे विषाक्त ग्रास खिलाकर मार दिया गया।

होयसल राजवंश :

यह वंश कर्नाटक के इतिहास मे सबसे प्रसिद्ध राजवंश है। इस वश से सम्बन्धित सबसे अधिक शिलालेख श्रवणबेलगोल तथा अन्य अनेक स्थानों पर पाये गये हैं। इस वश के राजा विष्णुवर्धन और उसकी परम जिनभक्त, सुन्दरी, नृत्यगानविशारदा पट्टरानी शान्तला तो न केवल कर्नाटक के राजनीतिक और धार्मिक इतिहास तथा जनश्रुतियो मे अमर हो गये है अपितु उपन्यास आदि साहित्यिक विधाओ के भी चिरजीवी पात्र हो गये है। मूडबिद्री के प्राचीन जैन ग्रथो मे भी उसके चित्र सुरक्षित हैं।

उपर्युक्त वश अपनी अद्भुत मन्दिर और मूर्ति-निर्माण कला के लिए भी जगविख्यात है। बेलूर, हलेबिड और सोमनाथपुर (सभी कर्नाटक मे) के तारों (star) की आकृति के बने, लगभग एक-एक इंच पर सुन्दर, आकर्षक नक्काशी के काम वाले मन्दिरों ने उनके शासन को स्मरणीय बना दिया है। उसके समय की निर्माणशैली अब इस वश के नाम पर होयसल शैली मानी जाती है। उसकी पृथक् पहिचान है और पृथक् विशेषता।

होयसल वंश की राजधानी सबसे पहले सोसेयूरु या शशकपुर (आजकल का नाम अंगडि) फिर बेलूर और उसके बाद द्वारावती या द्वारसमुद्र या दोरसमुद्र में रही। अन्तिम स्थान आजकल हलेबिड (अर्थात् पुरानी राजधानी) कहलाता है और नित्य ही यहा सैकड़ों पर्यटक मन्दिर देखने के लिए आते है।

इस वश की स्थापना जैनाचार्य सुदत्त वर्धमान ने की थी। होयसलनरेश जैनधर्म के प्रतिपालक थे, उसके प्रबल पोषक थे। रानी शान्तला तो अपनी जिनभक्ति के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध है। उसके द्वारा श्रवणबेलगोल में बनवायी गयी 'सवतिगन्धवारण बसदि' और वहां का शिलालेख उसकी अमर गाथा आज भी कहते है। इस वश का इतिहास बड़ा रोचक और कुछ विवादास्पद (सही दृष्टि हो तो विवादास्पद नही) है। विशेषकर विष्णुवर्धन को लेकर तरह-तरह की अनुश्रुतियां प्रचलित है। जो भी हो, होयसलवश का इतिहास और उससे सम्बन्धित तथ्यों की संक्षिप्त परीक्षा इसी पुस्तक मे 'हलेबिड' के परिचय के साथ की गई है। वह पढ़ने पर बहुत सी बातें स्पष्ट हो जाएँगी।

होयसल का अन्त १३१० ई. मे अलाउद्दीन खिलजी के और १३२६ ई. मे मुहम्मद तुगलक के आक्रमणो के कारण हो गया।

विजयनगर साम्राज्य (१३३६-१५६५ ई.) :

यह हम देख चुके है कि होयसल साम्राज्य का अन्त अलाउद्दीन खिलजी और मुहम्मद तुगलक के आक्रमणो के कारण हुआ। अन्तिम होयसलनरेश बल्लाल की मृत्यु के बाद उसके एक सरदार सगमेश्वर या सगम के दो बेटों—हरिहर और बुक्का ने मुसलमानों का शासन समाप्त करने की दृष्टि से सगम नामक एक नये राजवंश की १३३६ ई. मे नीव डाली। उन्होंने अपनी राजधानी विजयनगर या (विद्यानगर) मे बनाई जो कि आजकल हम्पी कहलाती है। यह वाल्मीकि रामायण में वर्णित किष्किन्धा क्षेत्रमे स्थित है और प्राचीन साहित्य मे पम्पापुरी कहलाती थी। अजैन तीर्थयात्री इसे पम्पाक्षेत्र कहते हैं और आज भी बाली-सुग्रीव की गुफा आदि की यात्रा करने आते हैं।

(क्रमशः)

अतिशय क्षेत्र अहार के जैन यंत्र

□ डॉ० कस्तूरचन्द्र 'सुमन' जैनविद्या संस्थान, श्रीमहावीरजी (राज०)

मध्यप्रदेश के टीकमगढ़ जिले में जैनपुरातत्व की दृष्टि से अतिशय क्षेत्र अहार का मौलिक महत्व है। यहाँ चन्देल कालीन स्थापत्य एवं शिल्प कला का अपार वैभव संग्रहीत है। निश्चित ही यह स्थली अतीत मे जैनों की उपासना का केन्द्रस्थल रही है।

मध्यकाल मे श्रावको ने भिन्न-भिन्न प्रकार के व्रतों की साधनाएँ की तथा उन व्रतो से सम्बन्धित यन्त्र भी प्रतिष्ठापित किये। अहार केत्र में जिन व्रतों की साधनाएँ हुई तथा उनसे सम्बन्धित जो यन्त्र प्राप्त हुए हैं, उनकी संख्या [illegible]तीस है। इन यन्त्रों मे पीतल और तांबा धातु व्यवहृत हुई है। पीतल धातु से निर्मित फलक तेरह और तांबा धातु के फलक अठारह है। इनके आकार दो प्रकार के हैं—गोल और चौकोर। पीतल धातु के गोल आकार में बारह और एक चौकोर यत्र है। इसी प्रकार ताम्र धातु के गोल यंत्र दस तथा आठ चौकोर यत्र हैं। इन यंत्रों का विवरण निम्न प्रकार है—

(१) ऋषिमण्डल यन्त्र

यह यन्त्र पीतल धातु के तेरह इंच वाले फलक पर निर्मित है। इसमे निर्माण काल आदि से सम्बन्धित कोई लेख नहीं है।

(२) चिन्तामणि पार्श्वनाथ यन्त्र

यह यन्त्र पीतल धातु से निर्मित चौदह इंच वर्तुलाकार फलक पर उत्कीर्ण है। इस यन्त्र पर भी निर्माण काल आदि से सम्बन्धित कोई लेख उत्कीर्ण नही है। यत्र प्राचीन प्रतीत होता है।

(३) श्रीवृहद् सिद्धचक्र यन्त्र

यह यन्त्र १३ इंच के वर्तुलाकार ताम्रधातु के एक फलक पर उत्कीर्ण है। गुलाई में एक पंक्ति का लेख भी उत्कीर्ण है। इस लेख की लेखन शैली आधुनिक लेखन-शैली से भिन्न है। उर्दू भाषा के समान इसमें दायीं से बायीं ओर लिखा गया है। शब्द रचना में वर्णों का प्रयोग दायीं ओर न किया जाकर बायी ओर किया गया है। शब्द के आदि का वर्ण अन्त मे प्रयुक्त हुआ है। जैसे टीकमगढ़ निम्न वर्ण क्रम में लिखा गया है—'ढ़ ग म क टी'। अभिलेख निम्न प्रकार उत्कीर्ण है—

संवत् २०२६ श्री सिद्धक्षेत्र अहारमध्ये गजरथ पंचकल्याणक प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठाप्य इह श्री सिद्धचक्र यत्र नित्यं प्रणमति टीकमगढ म. प्र.

(४) सरस्वती यन्त्रम्

यह यंत्र ताम्र धातु के एक चौकोर फलक पर उत्कीर्ण है। इस फलक की ऊंचाई सत्रह इच और चौड़ाई दस इंच है। इसके शिरोभाग पर चार पंक्ति का संस्कृत भाषा और नागरी लिपि में निम्न लेख उत्कीर्ण है—

१. विक्रम संवत् २०१४ फाल्गुन शुक्ला पंचम्यां
२. रविवासरे अहार क्षेत्रे श्री इन्द्रध्वज पंच-
३. कल्याणक गजरथ प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापि-
४. तम्।

(५) मातृका यन्त्र

यह यन्त्र ताम्रधातु के एक चौकोर फलक पर उत्कीर्ण है। इस फलक की लम्बाई-चौड़ाई दस इंच है। इसके शिरोभाग पर संस्कृत भाषा और नागरी लिपि में निम्न चार पंक्ति का लेख है—

१. विक्रम संवत् २०१४ फाल्गुन शुक्ला पंचाम्यां रवि-
२ वासरे अहारक्षेत्रे श्री इन्द्रध्वज पञ्चकल्या-
३ णक गजरथ-प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापि-
४ तम्।

(६) अचल यन्त्र

यह यन्त्र पीतल धातु के फलक पर उत्कीर्ण है। यह १० इंच ऊँचा और ६.३ इंच चौड़ा है। यन्त्र के नीचे दो पंक्ति का संस्कृत भाषा और नागरीलिपि में निम्न लेख

उत्कीर्ण है—

१. सवत् १९६६ फागुण वदी ११

२. प्रतिष्टत नग्र सरकनपुर

विशेष

इस यत्र लेख से ज्ञात होता है कि ग्राम सरकनपुर मे सम्वत् १९६६ मे कोई विधान आयोजित हुआ था जिसमे जिसमे इस यत्र की प्रतिष्ठा कराई गयी थी। यह यन्त्र सम्भवत: सुरक्षा की दृष्टि से अहार क्षेत्र को सौपा गया प्रतीत होता है। यह भी सम्भव है कि सरकनपुर के जैनों ने अहारक्षेत्र मे आकर विधान आयोजित करके इस यन्त्र की प्रतिष्ठा कराई हो।

(७) ऋषिमण्डल-यन्त्र

पीतल धातु मे वर्तुलाकार मे निर्मित इस यन्त्र का फलक ९.९ इच आयताकार है। नीचे सस्कृत भाषा और नागरी लिपि मे निम्न लेख उत्कीर्ण है—

सवत् १७६? वर्षे फागुन सुदि ६ बुधवासरे श्री मूलसघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुदकुदाचार्यान्वये भट्टारक श्री विश्वभूषणदेवास्तत्पट्टे भ० (भट्टारक) श्री देवेन्द्रभूषणदेवास्तत्पट्टे श्री सुरेन्द्रभूषणदेवास्तदाम्नाये लंवकंचुकान्वये सा० (साधु) परता पु०···प्रासापति पा० सुभा (शुभा) एसे नित्य प्रणमति श्री······ ··

(८) सिद्धचक्र यन्त्र

यह यन्त्र पीतल धातु के १०.३ इच वर्तुलाकार एक फलक पर उत्कीर्ण है। यत्र के नीचे यत्र-प्रतिष्ठाता श्रावक श्रावक का हिन्दी भाषा और नागरी लिपि में नामोल्लेख भी किया गया है। यह यत्र सम्वत् विहीन है। भाषा प्रयोग से यह अर्वाचीन प्रतीत होता है। लेख इस प्रकार है—

श्री सिघई वृन्दावन शिखरचन्द जी लार।

(९) कल्याण त्रैलोक्यसार यन्त्रम्

यह यन्त्र ९ इच के वर्तुलाकार एक ताम्र धातु से निर्मित फलक पर उत्कीर्ण है। यन्त्र की गुलाई मे सस्कृत भाषा और नागरी लिपि मे निम्न लेख भी अंकित है—

विक्रम सवत् २०१४ फाल्गुण शुक्ला पचम्यां रविवासरे अहारक्षेत्रे श्री इन्द्रध्वज-पचकल्याणक गजरथ प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापितम्।

(१०) मोक्षमार्ग-चक्र यन्त्र

ताम्र धातु से निर्मित वर्तुलाकार ८ इच के एक फलक पर उत्कीर्ण इस यन्त्र के नीचे भी लेख है, जिसमें यन्त्र की अहार क्षेत्र मे संवत् २०१४ मे प्रतिष्ठा कराये जाने का उल्लेख है। लेख निम्न प्रकार है—

विक्रम सवत् २०१४ फाल्गुण शुक्ला पञ्चम्यां रविवासरे अहारक्षेत्रे श्री इन्द्रध्वज पचकल्याणक गजरथ प्रतिष्ठ यां प्रतिष्ठापितम्।

(१२) वर्द्धमान-यन्त्रम्

ताम्र धातु से निर्मित ९.९ वर्तुलाकार फलक पर निर्मित इस यन्त्र पर सस्कृत भाषा और नागरी लिपि में निम्न लेख उत्कीर्ण है—

विक्रम संवत् २०१४ फाल्गुण शुक्ला पंचम्यां रविवासरे अहारक्षेत्रे श्री इन्द्रध्वज पंचकल्याणक गजरथ प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापिताम्।

(१३) नयनोन्मीलन यन्त्र

यह यन्त्र फलक आठ इच वर्तुलाकार ताम्र धातु से निर्मित है। नीचे संस्कृत भाषा और नागरी लिपि मे तीन पक्ति का निम्न लेख है—

१. विक्रम संवत् २०१४ फाल्गुण शुक्ला पंचम्यां

२. रविवासरे अहारक्षेत्रे श्री इन्द्रध्वज पंचकल्याणक

३. गजरथ प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापितम्।

(१४) पूजा यन्त्रम्

यह यन्त्र ताम्र धातु से निर्मित ८ इच के वर्तुलाकार एक फलक पर अकित है। गुलाई मे निम्न लेख सस्कृत भाषा और नागरी लिपि मे उत्कीर्ण है—

स० (सवत्) २०१४ फाल्गुण शुक्ला ५ रविवासरे अहारक्षेत्रे गजरथ पचकल्याणक प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापितम्।

(१५) विनायक यन्त्र

इस यन्त्र का फलक ताम्र धातु से निर्मित है। यह फलक ८ इच वर्तुलाकार है। नीचे लेख उत्कीर्ण है जिसमे लाला राजकुमार सुशीलकुमार बहरामघाट जिला बाराबंकी द्वारा सवत् २०२५ में कार्तिक शु० (शुक्ला) ८ अष्टमी मंगलवार के दिन इस यन्त्र की प्रतिष्ठा कराये जाने का उल्लेख है। ज्ञात होता है यह यन्त्र प्रतिष्ठाकर्ता ने इस क्षेत्र को भेंट में दिया था।

(१६) पंचपरमेष्ठी यन्त्र

यह यन्त्र पीतल धातु के वर्तुलाकार ६ इंच के एक फलक पर उत्कीर्ण है। नीचे संस्कृत भाषा और नागरी लिपि मे चार पंक्ति का निम्न लेख अंकित है—

१. संवत् १६५६ श्री.........(शुभ नाम समये वर्षे) फागुन मासे सुक्ल (शुक्ल) पक्षे तिथि १०मी गुर (गुरु) वासरे पुष (पुष्य) नक्षत्रे श्री मूलसंघे बनात्कारगने (णे)

२. सरस्वतीगछे (गच्छे) कुंदकुद आचार्यान्वये श्रीमत् सा (शा) स्त्रोपदेशात् जिनविंब जत्रोपतिष्ठतं परगनो ओड़छो नग्र वांघ (बंधा) श्री महाराजाधिराज श्रीमहोराजा

३. श्री महेंद्र महाराजा (।) विक्रमाजीत राज्योदयात् ज्यात (जात) गोलापूरब बैंक षु(खु)रदेले मनीराय तत् भाता मोनदेतवो पुत्र २ जेष्ट पुत्र खले भार्या भगुतो तयो पुत्र-२ दीपसा लारसा झुतारे

४. दुतीय पुत्र उमेद भार्या स्याणे (सयानी) तयोः पुत्र-४ एवसुष(ख) दुलारे गुडारात लाडेले नित्य प्र-(ण)मति।

इस यन्त्रलेख में 'ख' वर्ण के लिए 'ष' वर्ण का प्रयोग हुआ है प्रस्तुत लेख में आये मनीराम का नामोल्लेख सोनागिरि मे संवत् १८८३ के एक हिन्दी शिलालेख की सातवीं पंक्ति मे भी हुआ है। दोनों नाम अभिन्न ज्ञात होते हैं।

(१७) सोलहकारण यंत्र

यह यन्त्र पीतल के ६.६ इची गोल फलक पर उत्कीर्ण है। यन्त्र के नीचे निम्न लेख है—

संवत् १६६६ फाल्गुन मासे कृष्ण पक्षे प्रतिष्ठतं नग (नग्र) सरकनपुर मध्ये माधौ सेठ मूलचं-(द) पलए।

(१८) सोलहकारण यंत्र

पीतल धातु के गोल ६ इंच के एक फलक पर उत्कीर्ण इस यन्त्र पर तीन पंक्ति का एक लेख अंकित है—

१. सवत् १८५६ श्री सुव (शुभ) नाम समये व्रषे (वर्षे) फाल्गुन मासे सुक्ल (शुक्ल) पक्षे तिथ (थि) १० दसमी गुर (रु) बासरे श्री मूलसंघे वलात्कारगने(णे) सरस्वतीगच्छे श्री कुंदकुद आचार्य(र्य)न्वये श्रीमत्

२. सा (शा) स्त्रोपदेशात् श्री जिनविंब जंत्रो पतिष्टतं (प्रतिष्ठतं) परगनो ओडछो नग्र बाध (बधा) श्री महाराजाधिराजा श्री महाराजा श्री महेंद्र महाराजा। विक्रमाजीत देवराज्वोदयात् जात (जाति) गोलापूरब बैंक षु(खु) रदेले मनीराम तत भार्या मोनदे तयोः पुत्र ....

३. जेष्ट (ज्येष्ठ) पुत्र लले भार्या भगुती तयोः पुत्र-२ दीपसा...............दुतिय पुत्र उमेद भार्या स्याभेतयोः पुत्र-४ सवसुष(ख) दुलारे तुडाव्रत लाडिले नित्य प्रन(ण) मति (मंति)।

इस लेख मे ख वर्ण के लिए 'ष' वर्ण का प्रयोग हुआ है। श के स्थान स का प्रयोग भी द्रष्टव्य है।

(१६) दशलक्षण धर्म यंत्र

यह यंत्र पीतल धातु के ६.५ इंच वर्तुलाकार एक फलक पर उत्कीर्ण है। यत्र पर निम्न लेख भी अंकित है—

सवत् १८५६ श्री सुत्र (शुभ) नाम समए (ये) व्रषे (वर्षे) नाम फाल्गुन (ण) मासे गु (शु)क्ल पक्षे तिथौ १० गुरुवासरे श्री मूलसघे वलात्कारगने (णे) सरस्वतीगछे (च्छे) श्री कुदकुदाचार्ज(र्य)न्वये श्रीमत सा(शा स्त्रोपदेशात् श्री जिनविव जत्रो पतिष्ठत (प्रतिष्ठित) नग्र............ .... नित्यं प्रन(ण)मति।

(२०) दशलक्षणधर्म यंत्र

यह यन्त्र पीतल धातु से निर्मित ८.५ इच के वर्तुलाकार एक फलक पर उत्कीर्ण है। नीचे निम्न लेख है—

सवत् १६६६ फाल्गुन सु(शु)क्ल ११ प्रतिष्ठत नग्र सरकनपुर मध्ये माधौ सेठ मूलचद पलए।

(२१) सिद्धचक्र यंत्र

पीतल धातु से निर्मित ७.३ इच के वर्तुलाकार एक एक फलक पर उत्कीर्ण इस यन्त्र के नीचे दो पक्ति का लेख है—

१. संवत् १६८१ जेष्ठ (ज्येष्ठ) कृष्ण १० को सेठ पल्टूलाल श्री कुंदकुंदाचार्यान्वये........................

२. ... ...सरकनपुर........

(२२) अष्टांग सम्यग्दर्शन यंत्र

यह यन्त्र ५.३ इंच के वर्तुलाकार पीतल धातु के एक फलक पर निर्मित है। अहार क्षेत्र में प्राप्त यन्त्रो मे एक मात्र यही यन्त्र है जिसमें ४क सम्वत् का प्रयोग हुआ है। श्री गोविन्ददास कोठिया ने इस यन्त्र का सम्वत् विक्रम सम्वत् बताया है। उन्होंने सम्वत् सूचक अंकों मे शून्य को सात अंक मानकर इस यन्त्र का सम्वत् १६६७ माना है।

इसी प्रकार एकम तिथि का उल्लेख किया है। इस यन्त्र-लेख का उल्लेख 'प्राचीन शिलालेख' पुस्तक मे लेख नम्बर १२८ से हुआ है। शक सम्वत् होने से यह लेख विक्रम सम्वत् १७४२ का ज्ञात होता है। लेख निम्न प्रकार है—

मूलपाठ

१. शके (शक् सम्वते) १६०७ मार्गसिर (मार्गशीर्ष) शुक्ल १० बुधे श्री मूलसघे सरस्वतीगछे (गच्छे) वलात्कारगणे कुंदकुंदाच्चर्यो (चार्यो) भट्टारक श्रीविशालकीर्त्तिस्तत्पट्टे भट्टारक श्री पद्मकीर्त्तिस्तयो: उपदेशात् ज्ञानी-(सी) छी (छि)

१. तवान् मीवनकारे सेमवा भार्या निवाउभागाइर नयो. पुत्र यादोजी भार्या देवाउ प्रणमंती-(ति)।

पाठ टिप्पणी

दूसरी पंक्ति मे मीवनकार विशेषण शब्द है जिसका अर्थ सम्भवत: मिलाई करने वाला है।

भावार्थ—शक् सम्वत् १६०७ के अगहन मास के शुक्ल पक्ष की १०वीं बुधवार के दिन मूलसंघ सरस्वती गच्छ वलात्कारगण और आचार्य कुन्दकुन्द की आम्नाय के भट्टारक विशालकीर्ति तथा उनके पट्ट पर बैठने वाले पद्मकीर्ति इन दोनों के उपदेश इपानियों मे सुशोभित मिलाई करके जीविका करने वाले सेमवा और उसकी पत्नी निवाउभागा इन दोनों का पुत्र यादोजी और पुत्रवधू देवाउ प्रणाम करते है।

(२३) तेरहविधचारित्र यंत्र

यह यन्त्र ताम्र धातु से ६ इंच की गुलाई में निर्मित है। यन्त्र के बाह्य भाग मे दो पंक्ति का संस्कृत भाषा और नागरी लिपि मे निम्न लेख अंकित है—

१. संवत् १६८३ फागुन (फाल्गुन) सु० (सुदि) ३ श्री धर्मकीर्त्ति उपदेशात् समुकुट भ० (भट्टारक) किसुन (किशुन) पुत्र मोदन-स्याम (श्याम)-रामदाम-नंदराम-सुषा (खा)नंद-भगवानदास पुत्र आसा(शा)-

२. जात सि······(साराम) द (दा)मोदर-हिरदेशम किसु(शु)नदास-वैसा(शा)ष(ख) नंदन परवार/एते नमंति।

पाठ टिप्पणी

इस यन्त्र लेख मे सुदि शब्द के लिए सु०, भट्टारक के लिए भ०, खवर्ण के लिए 'ष' तथा 'श' के लिए स वर्ण का व्यवहार हुआ है। देशी बोली में प्रयुक्त फागुन शब्द का व्यवहार भी उल्लेखनीय है।

भावार्थ—सम्वत् १६८३ के फाल्गुन सुदी तृतीया के दिन श्री धर्मकीर्ति के उपदेश से श्रेष्ठ भट्टारक किशुन के पुत्र मोदन, श्याम, रामदास, नन्दराम, सुखानन्द और भगवानदास तथा उसके पुत्र आशाजात, श्रीराम, दामोदर, हिरदेराम, किशुनदास और वैशाखनन्दन के परिवार ने प्रतिष्ठा कराई। वे सब इस यन्त्र को नमस्कार करते हैं। प्राचीन शिलालेख पुस्तक मे इसका लेख नम्बर १२७ है।

(२४) सोलहकारण यन्त्र

यह यन्त्र ७.३ इच गोल ताम्र फलक पर उत्कीर्ण है। यन्त्र का भाग कुछ ऊपर उठा हुआ है। दो पंक्ति का निम्न लेख है—

१. संवत् १७२० वर्षे फागुन (फाल्गुन) सुदि १० शुक्रे श्री व० (वलात्कारगणे) म० (मूलसघे) स० (सरस्वती-गच्छे) कुंदाकुंदाचार्यान्वये भ० (भट्टारक) श्री सकलकीर्ति-उपदेशात् गोलापूर्वान्वये गोत्र पेथवार प० (पण्डित) वसेदास भा० (भार्या) परवति (पार्वती) तत्पुत्र ५ जेष्ट डोगरूदल, विसु(शु)न चैन-उग्रसेनि नित्यं प्रनमम

२. ति सि० (सिघई) ष(ख)रगसेनिक यन्त्र प्रतिष्ठा-मैइयत्र प्रतिष्ठित ।। सुष(ख)चन ।।

पाठ टिप्पणी

इस यन्त्र मे व, म, स, भ, भा, सि. शब्दो के प्रथम वर्ण देकर शब्दों के संक्षिप्त रूप दर्शाये गये हैं। पूर्ण शब्द लेख मे सक्षिप्त वर्णों के आगे कोष्टक मे लिखे गये है। श के स्थान में 'स' तथा ख स्थान मे 'ष' वर्ण व्यवहृत हुए हैं।

भावार्थ—मूलसघ वलात्कारगण सरस्वतीगच्छ कुन्दकुन्दाचार्याम्नाय के भट्टारक सकलकीर्ति के उपदेश से गोलापूर्व पेथवार गोत्र के पण्डित वसेदास और उनकी पत्नी पार्वती के पांच पुत्रों मे ज्येष्ठ डोंगर, ऊदल, विशुन-चैन, उग्रसेन और सुखचैन ने सम्वत् १७२० मे फाल्गुन सुदी १०वीं को सिंघई खरगसेन की यन्त्र प्रतिष्ठा में इस यन्त्र की प्रतिष्ठा कराई। वे यन्त्र को नित्य नमस्कार करते हैं।

(२५) सिद्धचक्र यन्त्र

ताम्र धातु से निर्मित ६ इंच के चौकोर फलक पर इस यन्त्र में तीन पंक्ति का लेख उत्कीर्ण है—

१. पं० (पण्डित) मोजीलाल जैन देवराहा मन्दिर जी को भेंट

१. फाल्गुन सुदी १२ रविवार संवत् २०२१ पपौराजी

३. गजरथ महोत्सव।

भावार्थ—पपौरा क्षेत्र में सवत् २०२१ के फाल्गुन शुक्ल द्वादशी रविवार के दिन हुए गजरथ महोत्सव में देवराहा निवासी पडित मौजीलाल जी जैन को भेंट मे दिया।

(२६) विनायक यन्त्र

यह यन्त्र ५ इंच के चौकोर ताम्र फलक पर उत्कीर्ण है। इस पर कोई लेख उत्कीर्ण नही है।

(२७) तेरहविधचारित्र यन्त्र

यह यन्त्र ताम्र धातु के ६.२ इंच चौकोर फलक पर निर्मित है। यन्त्र का भाग फलक के मध्य मे ४½ इंच वर्तुलाकार है। बाह्य भाग मे गुलाई मे संस्कृत भाषा और नागरी लिपि मे उत्कीर्ण किया गया छह पंक्ति का लेख है जो यन्त्र के टूटे हुए कोण से आरम्भ होता है। लेख निम्न प्रकार है।

मूल पाठ

१. संवत् (सम्वत्) १६४२ फाल्गुन सित (शुक्ल) १० गुरौ मृगे श्री अवरजलालस्यराज्ये पेरोजावादे श्री मूलसंघे वलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुंदकुंदाचार्यान्वये भट्टारक श्री ध

२. र्म्मकीर्त्तिदेवास्तत्पट्टे श्री भट्टारक शीलसूत्रनदेवास्तत्पट्टे भट्टारक श्री ज्ञानसूत्रदेवास्तदाम्नाये लंवकंचुक जातो साधु

३. श्रीहरुजु पुत्री-२ दौदि-नगरू तत्र दौदि भार्या प्रभा तत्पुत्रा: ५ लोहगु धरणीध-

४. र भायारु-दोसी लो-श्री कमलै तत्र लोह-(गु) भार्या

५. ....कमलापति भार्या माता तत्पपुत्रा: ३ मित्रसेनि-चद्रसेनि-उदयसेनि। तत्र मित्रसेन (न) भार्य(र्या) पराणमती तत्पात्रौ ससुरामल्ल-चंदसेन भार्या कल्हण एतेषा... ..

६. ....सम्यकचारित्र।

पाठ टिप्पणी

यह यन्त्र लेख 'प्राचीन शिलालेख' पुस्तक मे लेख नम्बर १२५ से प्रकाशित हुआ है जिसमे अन्तिम तीन पंक्तियां नहीं हैं। इस लेख मे अनुनासिक अनुस्वार के रूप में, संख्या अंकों में और शुक्ल शब्द के लिए 'सित' शब्द का व्यवहार हुआ है।

भावार्थ—सम्वत् १६४२ के फाल्गुन सुदि १० शुक्रवार मृगसिर नक्षत्र में अकबर जलालुद्दीन महाराज के राज्य में उत्तरप्रदेश के फिरोजाबाद नगर मे श्रीमूलसघ, बलात्कारगण, सरस्वतीगच्छ, कुन्दकुन्दाचार्य की आम्नाय के भट्टारक श्रीधर्मकीर्तिदेव के पट्ट के उत्तराधिकारी भट्टारक शीलसूत्रनदेव और इनके पश्चात् पट्ट पर बैठने वाले भट्टारक ज्ञानसूत्रदेव की आम्नाय के शाह हरजू के पुत्र दौदि और नगरु इनमे दौदि के पाच पुत्र—लोहगु, धरणीधर, भायारु, दोसीलो और श्री कमलै। इनमे कमलापति के तीन पुत्र—मित्रसेनि, चन्द्रसेनि, उदयसेनि तथा मित्रसेनि के पुत्र—ससुरामल्ल और चन्द्रसेन के पुत्र ने इस यन्त्र की प्रतिष्ठा कराई। यह यन्त्र भेंट स्वरूप इस क्षेत्र को प्राप्त हुआ ज्ञात होता है।

(२८) सोलहकारण यंत्र

यह यन्त्र ताम्र धातु के ६ इच चौकोर एक फलक के मध्य मे ऊपर उठे हुए भाग पर सोलह भागो मे उत्कीर्ण है। यन्त्र के ऊपरी भाग मे दो पक्ति का सस्कृत भाषा और नागरी लिपि मे एक लेख भी अंकित है जिसमे सवत् सूचक अंक अपठनीय है। लेख निम्न प्रकार है—

मूलपाठ

१. इं (ऐ)द्रं पदं प्राप्य पर प्रमोद धन्यात्मतामात्मनिमान्यमाना (नः)। ..... (दृक्) शुद्धि-

२. मुख्यानि जिनेंद्रलक्ष्म्या महाम्यह षोडश-कारणानि ॥१॥ अथ संवत् (अंक नहीं है)

पाठ टिप्पणी

इस यंत्र-लेख में उल्लिखित श्लोक के चारो चरणों में ११-११ वर्ण हैं। प्रथम तीन चरणो मे वर्ण तगण-तगण-जगण दो गुरु के क्रम मे हैं किन्तु अन्तिम चरण में जगण,

तगण, जगण एक गुरु और एक लघु वर्ण के क्रम में वर्ण व्यवहृत हुए हैं। प्रथम तीन चरणों की दृष्टि से इन्द्रवज्रा और अन्तिम चरण की दृष्टि से उपेन्द्रवज्रा छन्द का व्यवहार हुआ ज्ञात होता है। अन्तिम चरण का अन्तिम वर्ण दीर्घ होना चाहिए था। यंत्र लेखों में यही एक लेख है जिसमें पद्य का व्यवहार हुआ है।

भावार्थ—परम प्रमोद रूप इन्द्र के पद को धारण कर अपने अन्दर अपने आपको धन्य मानता हुआ तीर्थंकर लक्ष्मी की मैं पूजा करता हूं। यह पद्य संस्कृत षोडश-कारण पूजा का स्थाप-पद्य है।

(२६) अष्टांग सम्यग्दर्शन यन्त्र

यह यन्त्र ताम्र धातु के ५½ इंच चौकोर एक फलक पर उत्कीर्ण है। इसकी तीन कटनियां हैं। मध्य के दो भाग ऊपर की ओर उठे हुए हैं। दूसरी कटनी की अपेक्षा प्रथम कटनी (मध्य भाग) अधिक ऊँचा है। ऊपरी भाग में संस्कृत भाषा और नागरी लिपि में तेरह पंक्ति का लेख अंकित है जो ह्रीं बीजाक्षर की ओर से आरम्भ हुआ है। यह सर्वाधिक प्राचीन यंत्र है। 'प्राचीन शिलालेख' पुस्तक में इसका उल्लेख लेख संख्या १२६ से हुआ है। लेख निम्न प्रकार है—

मूलपाठ

१. कल्पनातिगता बुद्धिः परभावा विभाविका। ज्ञानं निश्चयतो ज्ञे-
२. य तदन्य व्यवहारतः॥ संवत् १५०२ वर्षे का-
३. र्तिग (क) सुदि ५ भौ (यंत्र) मदिने श्री का-
४. ष्ठासंघे भ (यंत्र) ट्टारक श्री गु-
५. णकीर्त्ति (यंत्र) देव तत्प।
६. ट्टे श्री य (यंत्र) स (श) की-
७. र्त्तिदेव
८. तत्पट्टे श्री (यंत्र) मलैकी-
९. र्त्तिदेवाः (यंत्र) अग्रोत्का-
१०. न्वये स० (साहु) नरदेवा (यंत्र) स्तस्य भार्या स० (साहुणी)
११. जैणी ययेः (यो.) पुत्र स० (साहु) विहराज तस्य भार्या साध्वी हरसो स० (साहु) वरदेव-
१२. भ्राता स० (साहु) रूपचंद तस्य पुत्र स० (साहु) नालिगु द्वितीय समलू। स० (साहु) नालिगु पु-
१३. त्र आढू प्रतिष्ठ (तम्)।

पाठ टिप्पणी

इस यंत्र लेख में स० साहु के और सा० साहुणी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। स के स्थान में स का व्यवहार भी द्रष्टव्य है।

भावार्थ—संवत् १५०२ कातिक सुदि पंचमी भौमवार के दिन काष्ठासंघ के भट्टारक श्री गुणकीत्तिदेव के प्रशिष्य और श्री यशकीत्तिदेव के शिष्य भट्टारक मलय-कीत्तिदेव की आम्नाय के अग्रवाल साहु वरदेव के पुत्र शाहु विहराज और पुत्रवधू हरसो ने तथा वरदेव के भाई शाहु रूपचन्द यो के नालियुग और ममलू दो पुत्रो तथा नालिगु के पुत्र आढू ने इस यंत्र की प्रतिष्ठा कराई।

(३०) धर्मचक्र यन्त्र

यह यन्त्र पीतल धातु के ७ इंच वर्तुलाकार एक फलक पर ४६ आरे बनाकर बनाया गया है। इस पर कोई लेख नहीं है। इस यन्त्र के आरे ७-७ दिन तक सात प्रकार के मेघों के बरसने के पश्चात् नयी सृष्टि के धर्म और काल परिवर्तन के चक्र की ओर ध्यान आकृष्ट करते है।

(३१) श्री पार्श्वनाथ चिंतामणि यंत्र

यह यन्त्र चौकोर दो इंच के एक ताम्र फलक पर उत्कीर्ण है। कोई लेख नहीं है। यन्त्र सोलह भागो मे विभाजित है। प्रत्येक भाग में ऐसी संख्या है जिसका बायें से दायें या ऊपर से नीचे चार खण्डों का योग १५२ आता है।

यंत्र निम्न प्रकार है—

णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं

६८	७५	२	७
६	३	७२	७१
७४	६९	८	१
४	५	७०	७३

णमो लोए सव्व साहूण

णमो आइरियाण णमो उवज्झायाण

विशेष

यन्त्रो की क्रम सख्या वही रखी गयी है जो संख्या यन्त्रों के पृष्ठ भाग में पेंट से अंकित है। यन्त्रों का विवरण निम्न प्रकार है :—

क्रमाक	नाम यत्र	संख्या	क्रमांक	नाम यत्र	संख्या
१	ऋषिमण्डल	२	११	नयनोन्मीलन	१
२	चिंतामणि पार्श्वनाथ	२	१२	पूजा	१
३	सिद्धचक्र	४	१३	विनायक	२
४	सरस्वती	१	१४	पंचपरमेष्ठी	१
५	मातृका	१	१५	सोलहकारण	४
६	अचल	१	१६	दशलक्षण	२
७	कल्याण त्रैलोक्य सार	१	१७	अष्टांग-सम्यग्दर्शन	२
८	मोक्षमार्गचक्र	१	१८	तेरहविधचारित्र	२
९	निर्वाण संपत्कर	१			
१०	वर्द्धमान	१	१९	धर्मचक्र	१
१५		१५		कुल यन्त्र संख्या	१६ ३१

नोट :—सभी यंत्र मन्दिर संख्या-२ भोंयरा मन्दिर में सुरक्षित हैं।

मुनि श्री मदनकीर्ति द्वय

☐ ले० श्री कुन्दनलाल जैन, दिल्ली

जैन वाङ्मय के इतिहास में हमें मदनकीर्ति नाम के दो मुनियो के ऐतिहासिक साक्ष्य उपलब्ध होते हैं। पहले मदनकीर्ति तो वे हैं जिन्होंने स० १२६२ के लगभग 'शासन चतुस्त्रिंशतिका' (शासन चौतीसी) नामक सुपुष्ट रचना की थी जिसमें विभिन्न ऐतिहासिक सिद्ध क्षेत्रों एवं अतिशय क्षेत्रों का वर्णन है। इन्हें पाठक मदनकीर्ति प्रथम के नाम से पहिचान करें।

दूसरे मुनि मदनकीर्ति वे है जिनके शिष्य ब्र० नरसिंहक ने झुंझुणुपुर मे सं० १५१७ में "तिलोयपण्णत्ती" की प्रतिलिपि की थी तथा सं० १५२१ में इन्ही के शिस्य नेत्रनंदी के लिए 'पउमचरिउ' की प्रतिलिपि की गई थी, इन्हें हम मुनि मदनकीर्ति द्वितीय के नाम से सबोधित करेंगे।

मुनि मदनकीर्ति प्रथम—मुनि मदनकीर्ति प्रथम तेरहवी सदी के विख्यात मनीषी विद्वान् थे जो 'यतिपति' और 'महाप्रामाणिक चूडामणि' शीर्षक विरुदो (उपाधियों-विशेषणों) से सुशोभित थे। इनके गुरु का नाम श्रीविशाल कीर्ति था। "शब्दार्णव चन्द्रिकाकार" मुनि सोमदेव ने विशालकीर्ति का अपने ग्रन्थ में उल्लेख किया है वे लिखते हैं कि—कोल्हापुर प्रान्त के अर्जुरका ग्राम मे वादीभवज्रांकुश विशालकीर्ति की वैयावृत्य से वि० सं० १२६२ में यह ग्रन्थ समाप्त किया।" वादीन्द्र मुनि विशालकीर्ति को, पं० आशाधर जी ने, जो धारा नगरी के निवासी थे, न्यायशास्त्र का अभ्यास कराया था अतः विशालकीर्ति और मुनि मदनकीर्ति प्रथम धारा नगरी में ही निवास करते होंगे। प० आशाधर जी ने अपने 'जिनयज्ञकल्प' (प्रतिष्ठासारोद्धार) नामक ग्रन्थ जो वि० सं० १२८५ में समाप्त हुआ था, की प्रशस्ति मे मुनि मदनकीर्ति प्रथम को यतिपति कहा है तथा उनके द्वारा 'प्रज्ञापुंज' की उपाधि प्राप्ति का उल्लेख किया है—

इत्युदय सेनमुनिना कवि सुहृदायोऽभिनन्दितः प्रीत्यः।
प्रज्ञापुञ्जोऽसीति च योऽभिहितो मनदकीर्ति यतिपतिना॥

स० १४०५ मे श्वे० विद्वान् राजशेखर सूरि ने 'प्रबन्धकोष' (चतुर्विंशति प्रबध) नामक ग्रन्थ लिखा था जिसमें चौबीस विशिष्ट व्यक्तियों के परिचयात्मक प्रबंध लिखे हैं उनमें से एक 'मदनकीर्ति प्रबन्ध' नामक प्रबंध भी है इसमें मुनि मदनकीर्ति प्रथम की विद्वत्ता एवं प्रतिभा का विशिष्ट वर्णन करते हुए उन्हें 'महाप्रमाणिक चूडामणि' लिखा है। साथ ही लिखा है कि वे इतने प्रतिभाशाली थे कि एक दिन मे पाच सौ श्लोक रच लेते थे पर लिख नहीं पाते थे। वे वाद-विवाद में बड़े निष्णांत थे। अपने प्रतिपक्षियों को अकाट्य युक्तियों द्वारा सदैव परास्त कर दिया करते थे इसलिए वे 'महाप्रामाणिक चूडामणि' के विरुद से विख्यात हुए थे।

एक बार वे अपने गुरु विशालकीर्ति जी की आज्ञा बिना ही महाराष्ट्र आदि प्रदेशो में वाद विवाद के लिए चल दिये; भ्रमण करते हुए कर्णाटक प्रान्त के विजयपुर राज्य के राजा कुन्तिभोज की राज्यसभा में पहुंचकर उन्होंने अपनी विद्वत्ता और प्रतिभा का परिचय दिया, जिससे राजा प्रभावित हुआ और उसने अपने पूर्वजों के वर्णन का अनुरोध किया तो मुनि जी ने लेखक की मांग की, इस पर महाराज कुन्तिभोज ने अपनी विदुषी पुत्री मदन मंजरी से आग्रह किया और उसने पर्दे के पीछे छिपकर लिखना स्वीकार कर लिया। कालान्तर मे दोनो में प्रेम प्रसंग बढ़ गया, जब गुरु विशालकीर्ति को इसका पता तो उन्होंने प्रताड़ना भरे पत्र लिखकर अपने शिष्यों को उनके पास उन्हें वापिस लिवा लाने को भेजा, पर मुनि जी पर इसका कोई असर न हुआ किन्तु कुछ दिनों बाद उन्हें स्वयं बोध हुआ और आत्मग्लानि से पीड़ित हुए तब उन्होंने इस दुष्कर्म से निवृत्ति लेकर पुनः दीक्षा धारण

की और "शासनचतुस्त्रिंशतिका" की रचना की जिसमे अपनी दुर्बलता को स्वीकार करते हुए आद्य छंद लिखा है—

शासनचतुस्त्रिंशतिका—

यत्पापवासाद्वालो यं यमौ सोपाश्रय स्मय ।
शु(शो)क्ष्यत्यसौ यतिर्जैनभूचु श्रीपूज्यसिद्धय: ॥१॥

इस अनुष्टुप् छन्द के एक-एक अक्षर से प्रारम्भ करते "शासनचस्त्रिंशतिका" के शेष तेतीस छन्दों की रचना की है अंत मे मालिनी छंद मे प्रशस्ति स्वरूप आत्म परिचय दिया है—

इति हि मदनकीर्तिश्चिन्तयन्नात्मचित्ते,
विगलति सति रात्रेस्तु र्यभागार्द्धभागे ।
कपटशतविलासान् दुष्टवागान्धकारान्,
जयात विहरमाण: साधुराजीव बन्धु: ॥३५॥

प्रथम श्लोक के प्रत्येक अक्षर से प्रारम्भ होने वाले शेष तेतीस छदों के विषय मे श्री सोमदेव ने 'यशस्तिलकचम्पू मे लिखा है—

अग्रेतन वृत्तानामाद्याक्षरै: निर्मित: श्लोकोऽयम् ।
य: पापनाशाय यतते सयतिर्भवेत् ॥७।४४

यहां हम इसी के स्पष्टीकरण हेतु लिखते हैं—किस अक्षर से कौन-सा छद प्रारम्भ होता है तथा उसमें किस क्षेत्र का वर्णन है ? ये सभी छद संस्कृत के शार्दूलविक्रीडित छंद है—

यत्—यद्द्वीपस्यशिखेव······ प्रथम छद इसमें कैलास क्षेत्र का उल्लेख है ।

पा—पादाङ्गुष्ठ नख प्रभासु······ द्वि० छंद में पोदनपुर के बाहुबली का उल्लेख है ।

प—पत्र यत्र विहायसि······तृ० छंद में श्रीपुर (शिरपुर) के अतरीक्ष पार्श्वनाथ का उल्लेख है ।

वास—वास सार्थपते: पुरा······चतुर्थ छंद में हुलगिरि के शखजिन तीर्थ का उल्लेख है ।

सा—सानन्दं निधयो नवाऽपि ···· पंचम छंद में धारा के पार्श्वनाथ का उल्लेख है ।

द्वा—द्वापंचाशदनूनपाणि परमो—छठे छंद में बृहत्पुर के ५७ हाथ ऊँचे बृहद्देव का उल्लेख है ।

लो—लोकै: पचशतीमितैरविरतं······ सातवें छंद में जैनपुर (जैनवद्री) के गोम्मटदेव का उल्लेख है ।

यं—यं दुष्टो न हि पश्यति······ आठवें छद मे पूर्व दिशा के पार्श्वनाथ का उल्लेख है ।

य—य: पूर्वं भुवनैक मण्डनमणि······ नवे छद मे वेत्रवती (वेतवा) के तट पर स्थित शान्तिजिन का उल्लेख है सम्भवत: बजरगगढ़ या अहार क्षेत्र के शांतिनाथ हो ।

यौ—यौगा: यं परमेश्वर हि कपिल···दशवे छद मे योगों (कापालिकों) का उल्लेख है ।

सो—सोपानेषु सकपर्टमिष्ट ..११वे छंद मे सम्मेदशिखर से निर्वाण प्राप्त बीस तीर्थंकरों का उल्लेख है ।

पा—पाताले परमादरेण परया १२वे छद मे पुष्पपुर (पटना) के पुष्पदन्त का उल्लेख है ।

स्र(श्रा)—स्रष्टेति द्विजनाग्रकैर्हरिरिति ··१३वें छद मे नागद्रह के पार्श्व का उल्लेख है ।

य—यस्या: पार्थसिनामविंशति भिदा···१४वें छंद मे सम्मेदगिरि की अमृतवापी का उल्लेख है ।

स्म—स्मार्ता पाणिपुटोदनादनमिति···१५वे छद मे वेदात वादियो का उल्लेख है ।

य:—यस्य स्नानपयोऽनुलिप्तमखिल १६वे छद मे पश्चिम सागर के चन्द्रप्रभु का उल्लेख है ।

शु(शो)—शुद्धे सिद्धशिला तले सुविमले···१७वें छद मे छाया पार्श्वप्रभु का उल्लेख है ।

क्ष—क्षाराम्भोधिपय: मुधाद्रवइव···१८वें छन्द में पांच सौ धनुष प्रमाण आदिनाथ का उल्लेख है ।

ति—तिर्यञ्चोऽपिनमन्तियं निजशिरा···१९वें छन्द मे पावापुर के महावीर का उल्लेख है ।

सौ—सौराष्ट्रे यदुवंशभूषण मणे:···२०वें छन्द में गिरनार के नेमिनाथ का उल्लेख है ।

य—यस्याऽद्याऽपि सुदुन्दुभिश्वरमलं···२१वें छन्द में चंपापुर के वासुपूज्य का उल्लेख है ।

ति—तिर्यग्वेषमुपास्य पश्यततपो···२२वें छन्द मे वैशेषिकों का उल्लेख है ।

जै—जैनाभासमतं विधाय कुधिया···२३वें छन्द मे श्वेताम्बरों का उल्लेख है ।

न—नाऽभूतं किलकर्म जालमसकृत् ··२४वें छन्द मे शैवो का उल्लेख है ।

भू—भूर्ति: कर्मशुभाशुभं हि···२५वें छन्द में सांख्यों का उल्लेख है ।

चा—चार्वाकैश्चरितोज्झितरभिमतो···२६वें छन्द मे चार्वाकों का उल्लेख है।

श्री—श्रीदेवी प्रमुखाभिरचितपदाम्भोज:—२७वे छन्द मे नर्मदान्डे शान्तिजिन का वर्णन है।

पू—पूर्वं याऽऽश्रमजगाम सरितां···२८वें छन्द में अवरोध नगर के मुनि सुव्रतनाथ का वर्णन है।

ज्य—जायानाम परिग्रहोऽपि भविनां···२९वें छन्द मे अपरिग्रह का वर्णन है।

सि—सिक्ते सत्सरितोऽम्बुभि: शिखरिण:···३०वें छन्द मे विपुलाचल का वर्णन है।

ध—धर्माधर्मशरीर जन्यजनक···३१वें छन्द मे बौद्धों का वर्णन है।

य:—यस्मिन् भूरिविधातुरेकमनसो·· ३२वें छन्द में विंध्यगिरि का वर्णन है।

आ—आस्ते सम्प्रति मेदपाठविषये···३३वें छन्द में मेवाड के मल्लिनाथ का वर्णन है।

श्री—श्रीमन्मालव देश मगलपुरे·· ३४वे छन्द में मालवा के मंगलपुर में स्थित अभिनंदन स्वामी का वर्णन है।

इस तरह मुनि मदनकीर्ति प्रथम ने केवल ३५ छन्दो की रचना कर इतिहास में अपना स्थान बना लिया है जैसे कि हिन्दी मे पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने केवल एक कहानी—'उसने कहा था' लिखकर इतिहास में अपना स्थान बना लिया है। मुनि जी की इस रचना के अतिरिक्त भण्डारों में खोज करने पर सम्भवत: राजा कुन्तिभोज के पूर्वजों की गाथा मिल जावे तो वह इतिहास की बहुमूल्य धरोहर सिद्ध होगी। 'शासन चतुस्त्रिंशतिका' के प्रत्येक छन्द के अन्त में 'दिग्वाससां शासनम्' का प्रयोग कर मुनिश्री ने दिगम्बरत्व की प्रधानता को विशेष रूप से घोषित किया है। इन छन्दों में अनेकों ऐतिहासिक घटनाओं का समावेश है जैसे ३४वें छन्द मे म्लेच्छ शहाबुद्दीन गोरी का मालवा के आक्रमण का उल्लेख है। २८वें छद में आश्रमपत्तन (केशोराय पाटन) में मुनि सुव्रत नाथ का चैत्यालय ऐतिहासिक है। यहां नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव और ब्रह्मदेव रहते थे। यहां सोमराज श्रेष्ठी के लिए नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव ने 'द्रव्यसग्रह' की रचना की थी तथा ब्रह्मदेव ने उसकी टीका की थी। देखो ब्रह्मदेवकृत द्रव्यसंग्रह की टीका का आद्य गद्यांश। इस तरह और भी कई ऐतिहासिक घटनाएँ इन ३५ छन्दो से जुड़ी हुई हैं। नवम छन्द में वेतवा के शान्ति जिन। लगता है पाडा साहु द्वारा निर्मित शान्तिनाथ की प्रतिमा आहार क्षेत्र या बजरंगगढ़ स्थित प्रतिमा हो। उपर्युक्त कृति से यह तो स्पष्ट ज्ञात होता है कि मुनि श्री पर्यटक थे और विभिन्न तीर्थस्थलों की उन्होंने यात्रा की थी। स्व० पं० परमानन्द जी का मत है कि मुनिश्री पुन: दीक्षित न होकर अर्हद्दास नाम से गृहस्थ हो गये थे और मुनि सुव्रत काव्य जैसी कृतियों की रचना की पर इसमे कितनी प्रमाणिकता है यह शोध का विषय है पर 'शासनचतुस्त्रिंशतिका' का पहला अनुष्टुप् छन्द निश्चय ही उनके पुन: दीक्षित होने का द्योतक है।

तीसरे छन्द मे वर्णित श्रीपुर महाराष्ट्र के अकोला जिला स्थित वाशिम ताल्लुके का ग्राम शिरपुर है जहां अंतरिक्ष पार्श्वनाथ की सातिशय प्रतिमा विद्यमान है और दिगम्बरी प्रतिमा है। कहते हैं इसके नीचे से घुड़सवार या सिर पर घड़ा रखे पनिहारिन निकल जाती थी पर अब काल दोष से उतना प्रभाव तो नहीं रहा फिर भी इसके नीचे से अभी भी रुमाल या पतला कपड़ा निकल सकता है। सम्पूर्ण क्षेत्र दिगम्बरी है पर इस सातिशय प्रतिमा पर श्वेताम्बरों ने अपना अधिकार कर लिया है और एक विवादास्पद स्थिति पैदा कर दी है, आशा है लोग मिल बैठकर समुचित समाधान ढूंढ़ निकालेंगे।

मुनि मदनकीर्ति द्वितीय—मुनिश्री मदनकीर्ति द्वि० बलात्कार गण की दिल्ली जयपुर शाखा की आचार्य परम्परा में भट्टारक पद्मनंदी के शिष्य थे। इस शाखा की स्थापना भ० शुभचन्द्र ने सं० १४५० में की थी, वे ५६ वर्ष तक इस पट्ट पर आसीन रहे। वे ब्राह्मण जाति के थे। इसी परम्परा मे मुनि मदनकीर्ति द्वि० के शिष्य नरसिंहक ने झुन्झुणपुर में "तिलोयपण्णत्ती" की मार्गशीर्ष शुक्ला ५ भौमवार सं० १५१७ को प्रतिलिपि की थी तथा ज्येष्ठ सुदी १० बुधवार सं० १५२१ को ग्वालियर में "पउमचरिउ" की प्रतिलिपि इन्ही मुनिश्री के शिष्य ने नेत्रनंदी के लिए लिखी थी। इस आचार्य परम्परा में प्रभाचन्द्र पद्मनंदी, शुभचन्द्र, जिनचन्द्र, पद्मनंदी, मदनकीर्ति, नेत्रनंदी आदि अनेक भट्टारक हुए हैं। पउमचरिउ

की प्रशस्ति मूलरूप से उद्धृत कर रहे हैं—"संवत् १५२१ वर्षे ज्येष्ठ मासे सुदि १० बुधवारे श्री गोपाचल दुर्गे श्री मूलसंघे बलात्कारगणे''' ''भ० श्री प्रभाचन्द्र देवाः तत्र श्री पद्मनंदि शिष्य श्री मदनकीर्ति देवाः तच्छिष्य श्री नेत्र-नंदी देवाः तन्निमित्रे खंडेलवाल लुहाडिये गोत्रे संगही धामा भार्या धनश्री''''''"

तिलोयपण्णत्ती की मूल प्रशस्ति निम्न प्रकार है—"स्वस्ति श्री संवत् १५१७ वर्षे मार्ग सुदि ५ भौमवारे मूलसंघे बलात्कारगणे''''''भ० पद्मनंदी देवाः तत्पट्टे भ० श्री शुभचन्द देवाः मुनिश्री मदनकीर्ति तच्छिष्य ब्रह्म नर-सिंहकस्य''''''श्री झुञ्झुणपुरे लिखितमेतत्पुस्तकम् ।"

इस तरह मुनिश्री मदनकीर्ति द्वि० का संक्षिप्त-सा उल्लेख मिलता है, इनकी किसी कृति का कोई पता नहीं चलता है। पर मुनिश्री मदनकीर्ति प्रथम की विद्वत्ता एवं प्रतिभा से जैन साहित्य का इतिहास जगमगा रहा है। यद्यपि उनकी छोटी-सी एक ही रचना 'शासनचतुस्त्रिंश-तिका' उपलब्ध है पर यदि भण्डारों को खोजा जाय और उसमें महाराज कुन्तिभोज के पूर्वजों की यशोगाथा यदि मिल जाती है तो इतिहास की बहुमूल्य धरोहर हाथ लग सकती है। मुनिश्री मदनकीर्ति प्रथम इतिहासवेत्ता भी थे अपनी छोटी-सी कृति में उन्होने इतिहास की अनेकों घट-नाओं का उल्लेख किया है जिन्हें लोग प्रायः विस्मृति के गर्भ में डुबा चुके हैं। जहां वे इतिहास के वेत्ता थे वहां उन्हें जैनेतर दर्शनों सांख्य, वैशेषिक, चार्वाक, शैव, मीमांसक नैय्यामिक, कापालिक आदि का भी गम्भीर अध्ययन था इसी के बल पर वे वाद-विवाद में कभी परा-जित नहीं होते थे और दिगम्बर शासन की धर्मध्वजा को फहराते हुए निर्भयता पूर्वक विभिन्न प्रदेशों मे विचरण किया करते थे और अपनी यश पताका फहराते रहते थे। उन्होंने गिरकर संभलना सीखा था, ऐसे दृढ़ अध्यवसायी परमपुनीत मुनिश्री के चरणों मे अपने श्रद्धा सुमन समर्पित करता हूं।

श्रुत कुटीर, ६८ विश्वास मार्ग,
विश्वासनगर, शाहदरा दिल्ली-३२

दिगौडा (टीकमगढ़) निवासी देवी दास भायजी के दो पद :—

(१)

राग केदारो, राग सोरठ—

तिन्हि निज पर गुन चीन्हौ रे।

चेतन अंक जीव निज लच्छन जड सु अचेतन रीन्हों रे।
दरसन ज्ञान चरन जिनके घट प्रकट भये गुन तीनो रे।
जाननहार हुतो सोई जान्यो लखन हार लखि लीन्हो रे।
ग्राहक जोग वस्तु ग्राहज करि, त्याग जोग तजि दीनो रे।
धरने की सु सुधार ना धरि, पुनि करने काज सु कीनो रे।
सत रागादि विभाव परिनमन सो समय प्रति खीनो रे।
देवियदास भयो सिव सनमुख सो निरग्रंथ उछीन्हो रे॥

(२)

राग नट—

नियति लटी हो नियति लटी,
हम देखी जग जोवनि की नियति लटी।
सुमति सखि सरवंग विसरि करि ढोके दुर्गति नकटी॥१॥
राजकथा तसकर त्रिय भोजन विसवा सर मुख सुठटी।
क्रोध कलित प्रति सुमान मय लोभ लगन अंतर कपटी॥२
सपरस लीन गंध रसना रुख वरन रूप सुर नर प्रगटी।
श्रवन सबद सुन मगन रहत पुनि निद्रा जुत अस्नेह हटी॥३
बसत प्रमाद पुरां जुग जुग के छांड़ि सबै निज बल सुभटी।
टुक सुख काज इलाज करत बहु परबस परि मरजाद घटी।
गुरु उपदेश विषे सुन आवत तिनतैं भव परणति उचटी।
देवीदास कहत जिय सींचत फलहत बेलि नहीं उखटी॥ण॥

—श्री कुन्दन लाल जैन के सौजन्य से

जैन यक्ष-यक्षी प्रतिमाएँ

□ श्री रामनरेश पाठक

शासन देवता समूह में २४ यक्षों और उतनी ही यक्षियों की गणना है। ये यक्ष और यक्षी तीर्थंकरों के रक्षक कहे गये हैं। तीर्थंकर प्रतिमाओं के दायें ओर यक्ष और बायें ओर एक यक्षी की प्रतिमाएँ बनाये जाने का विधान है[1]। पश्चातकाल में स्वतंत्र रूप से भी यक्ष-यक्षियों की प्रतिमाएँ बनाई जाने लगी थी। यद्यपि तांत्रिक युग के प्रभाव से विवश होकर जैनों को इन देवों की कल्पना करनी पड़ी थी किन्तु इन्हें जैन परम्परा में सेवक या रक्षक का ही दर्जा मिला है न कि उपास्य देव का यक्ष-यक्षियों प्रतिमाएँ सर्वांग सुन्दर सभी प्रकार के अलंकारों से युक्त बनाने का विधान है[2]। करण्ड मुकुट और पत्र कुण्डल धारण किये प्राय: ललितासन में बनायी जाती है। केन्द्रीय संग्रहालय गूजरी महल ग्वालियर में प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ एवं बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ के यक्ष-यक्षियों की चार प्रतिमाएँ संरक्षित हैं। जिसका विवरण निम्नलिखित है :—

गोमुख यक्ष—प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ के शासन देवता की गंधावल जिला देवास मध्य प्रदेश से प्राप्त गोमुख यक्ष का मुख पशु आकार (गोववक्त्र) और शरीर मानव का है। (सं. क्र. २३०) अप सव्य ललितासन में बैठे हुए शासन देव की दायीं नीचे की भूजा भग्न है। दायीं ऊपरी भुजा में गदा, बायीं ऊपरी भुजा में परशु व नीचे की भुजा में बीजपूरक लिए है। यक्ष आकर्षक करण्ड मुकुट मुक्तावली, उरुबन्ध, केयूर, बलय, मेखला से सुसज्जित है[3]। कलात्मक अभिव्यक्ति ११वीं शती ई० परमार युगीन शिल्प कला के अनुरूप है।

चक्रेश्वरी—प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ की शासन यक्षी चक्रेश्वरी की ग्वालियर दुर्गसे प्राप्य मानवरूपी गरुड़ पर सवार है, सिर एवं ऊपर के दो हाथ खंडित हैं। (सं. क्र. ३०५) नीचे के दो हाथ आंशिकरूप से सुरक्षित हैं। दोनों ओर दो चक्र बने हुए हैं, यक्षी एकावली, हार, उरुबंध, केयूर, बलय, मेखला पहने हुए हैं एवं पैरों में अधोवस्त्र धारण किये हुए हैं। गरुड़ के सिर पर आकर्षक केश, चक्र कुण्डल, हार मेखला पहने हुए है। दोनों पार्श्व में त्रिभंग मुद्रा में परिचारिका, चांवरधारिणी सुशोभित है। बांया हाथ कट्यावलम्बित है। दोनों पार्श्व में अंजली हस्त मुद्रा मे भू-देव और श्रीदेवी का आलेखन है[4]। १०वीं शती की यह प्रतिमा काफी भग्न अवस्था मे है। कलात्मक अभिव्यक्ति की दृष्टि से मूर्ति उत्तर प्रतिहार कालीन शिल्प कला के अनुरूप है।

गोमेध अम्बिका—बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ के शासन यक्ष-यक्षी गोमेध अम्बिका की प्रतिमा ग्वालियर दुर्ग से प्राप्त हुई है। (सं. क्र. २६४) गोमेध अम्बिका सव्य ललितासन मे बैठे हुए है। गोमेध की दायीं भुजा एवं मुख भग्न है। बायी भुजा से बायी जघा पर बैठे हुए बालक जेष्ठ पुत्र शुभंकर को सहारा दिये है। बालक का सिर भग्न है। वे मुक्तावली एवं केयूर धारण किये है। अंबिका की दायी भुजा में स्थित आम्रलुम्बी भग्न है। बायीं भुजा से बालक कनिष्ट पुत्र प्रियंकर को सहारा दिये हुए है। देवी आकर्षक केश, चक्र एवं पद्म कुण्डल, मुक्तावली, उरुबन्ध, बलय व नूपुर धारण किए है। देवी का दायां पैर पद्म पर रखे हुए है। बायें पार्श्व मे आम्रलुम्बी आंशिक रूप से सुरक्षित है। उसके नीचे एक पुरुष अंकित है, जिसकी दायीं भुजा भग्न है। बायीं भुजा कट्यावलम्बित है। पादपीठ पर दोनों ओर दो कुन्तलित केश युक्त ललितासन मे दो प्रतिमा अंकित है जिसकी दायीं भुजा अभय मुद्रा में बायीं, बायें पैर की जघा पर है। मध्य में दो योद्धा युद्ध लड़ रहे है। राजकुमार शर्मा की सूची में इस मूर्ति को स्त्री-पुरुष दो बालक लिखा हुआ है[5]। ११वीं शती ई० की यह मूर्ति कच्छाघात युगीन शिल्प कला के अनुरूप है।

अम्बिका —बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ के शासन यक्षी अम्बिका की तुमेन जिला गुना मध्यप्रदेश से प्राप्त हुई है। (स. क्र. ४१) सव्य ललितासन में सिंह पर बैठी हुई है। बायीं जंघा पर लघु पुत्र प्रियंकर खड़ा हुआ है। दायें ओर ज्येष्ठ पुत्र शुभंकर खड़ा हुआ है। देवी दायीं भुजा में आम्रलुम्बी लिए है एवं बायीं भुजा से अपने लघु

(शेष पृ० २० पर)

की प्रशस्ति मूलरूप से उद्धृत कर रहे हैं—"संवत् १५२१ वर्षे ज्येष्ठ मासे सुदि १० बुधवारे श्री गोपाचल दुर्गे श्री मूलसंघे बलात्कारगणे······भ० श्री प्रभाचन्द्र देवा: तत्र श्री पद्मनंदि शिष्य श्री मदनकीर्ति देवा: तच्छिष्य श्री नेत्र-नंदी देवा: तन्निमित्रे खंडेलवाल लुहाड़िये गोत्रे संगही धामा भार्या धनश्री·····"

तिलोयपण्णत्ती की मूल प्रशस्ति निम्न प्रकार है—"स्वस्ति श्री संवत् १५१७ वर्षे मार्ग सुदि ५ भौमवारे मूलसंघे बलात्कारगणे······भ० पद्मनदी देवा: तत्पट्टे भ० श्री शुभचन्द देवा: मुनिश्री मदनकीर्ति तच्छिष्य ब्रह्म नर-सिंहकस्य·····श्री झुझुणपुरे लिखितमेतत्पुस्तकम् ।"

इस तरह मुनिश्री मदनकीर्ति द्वि० का संक्षिप्त-सा उल्लेख मिलता है, इनकी किसी कृति का कोई पता नही चलता है। पर मुनिश्री मदनकीर्ति प्रथम की विद्वत्ता एवं प्रतिभा से जैन साहित्य का इतिहास जगमगा रहा है। यद्यपि उनकी छोटी-सी एक ही रचना 'शासनचतुस्त्रिंश-तिका' उपलब्ध है पर यदि भण्डारों को खोजा जाय और उसमें महाराज कुन्तिभोज के पूर्वजों की यशोगाथा यदि मिल जाती है तो इतिहास की बहुमूल्य धरोहर हाथ लग सकती है। मुनिश्री मदनकीर्ति प्रथम इतिहासवेत्ता भी थे अपनी छोटी-सी कृति में उन्होने इतिहास की अनेकों घट-नाओं का उल्लेख किया है जिन्हें लोग प्राय: विस्मृति के गर्भ में डुबा चुके हैं। जहां वे इतिहास के वेत्ता थे वहां उन्हें जैनेतर दर्शनों सांख्य, वैशेषिक, चार्वाक, शैव, मीमांसक नैय्यायिक, कापालिक आदि का भी गम्भीर अध्ययन था इसी के बल पर वे वाद-विवाद में कभी परा-जित नही होते थे और दिगम्बर शासन की धर्मध्वजा को फहराते हुए निर्भयता पूर्वक विभिन्न प्रदेशों में विचरण किया करते थे और अपनी यश पताका फहराते रहते थे। उन्होने गिरकर संभलना सीखा था, ऐसे दृढ़ अध्यवसायी परमपुनीत मुनिश्री के चरणों मे अपने श्रद्धा सुमन समर्पित करता हूं।

श्रुत कुटीर, ६८ विश्वास मार्ग,
विश्वासनगर, शाहदरा दिल्ली-३२

दिगौड़ा (टीकमगढ़) निवासी देवी दास भायजी के दो पद :—

(१)

राग केदारो, राग सोरठ—

तिन्हि निज पर गुन चीन्हो रे।

चेतन अंक जीव निज लच्छन जड सु अचेतन रीन्हों रे।
दरसन ज्ञान चरन जिनके घट प्रकट भये गुन तीनो रे।
जाननहार हुतो सोई जान्यो लखन हार लखि लीन्हो रे।
ग्राहक जोग वस्तु ग्राहज करि, त्याग जोग तजि दीनो रे।
धरने की सु सुधार ना धरि, पुनि करने काज सु कीनो रे।
सत रागादि विभाव परिनमन सो समय प्रति खीनो रे।
देवियदास भयो सिव सनमुख सो निरग्रंथ उछीन्हो रे॥

(२)

राग नट—

नियति लटी ही नियति लटी,
हम देखी जग जीवनि की नियति लटी।
सुमति सखि सरवंग विसरि करि डोकें दुर्गति नकटी॥१॥
राजकथा तसकर त्रिय भोजन विसबा सर मुख सुठटी।
क्रोध कलित प्रति सुमान मय लोभ लगन अंतर कपटी॥२
सपरस लीन गंध रसना रुख वरन रूप सुर नर प्रगटी।
श्रवन सबद सुन मगन रहत पुनि निद्रा जुत अस्नेह हटी॥३
बसत प्रमाद पुरां जुग जुग के छांड़ि सबै निज बल सुभटी।
टुक सुख काज इलाज करत बहु परबस परि मरजाद घटी।
गुरु उपदेश विषै सुन आवत तिनतें भव परणति उचटी।
देवीदास कहत जिय सींचत फलहन बेलि नहीं उखटी॥ण॥

—श्री कुन्दन लाल जैन के सौजन्य से

जैन यक्ष-यक्षी प्रतिमाएँ

□ श्री रामनरेश पाठक

शासन देवता समूह में २४ यक्षों और उतनी ही यक्षियों की गणना है। ये यक्ष और यक्षी तीर्थंकरों के रक्षक कहे गये हैं। तीर्थंकर प्रतिमाओं के दायें ओर यक्ष और बायें ओर एक यक्षी की प्रतिमाएँ बनाये जाने का विधान है[1]। पश्चातकाल में स्वतंत्र रूप से भी यक्ष-यक्षियों की प्रतिमाएँ बनाई जाने लगी थी। यद्यपि तांत्रिक युग के प्रभाव से विवश होकर जैनों को इन देवों की कल्पना करनी पड़ी थी किन्तु इन्हें जैन परम्परा में सेवक या रक्षक का ही दर्जा मिला है न कि उपास्य देव का यक्ष-यक्षियों प्रतिमाएँ सर्वांग सुन्दर सभी प्रकार के अलंकारों से युक्त बनाने का विधान है[2]। करण्ड मुकुट और पत्र कुण्डल धारण किये प्राय: ललितासन में बनायी जाती है। केन्द्रीय संग्रहालय गूजरी महल ग्वालियर में प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ एवं बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ के यक्ष-यक्षियों की चार प्रतिमाएँ संरक्षित हैं। जिसका विवरण निम्नलिखित है :—

गोमुख यक्ष—प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ के शासन देवता की गंधावल जिला देवास मध्य प्रदेश से प्राप्त गोमुख यक्ष का मुख पशु आकार (गोववत्रक) और शरीर मानव का है। (सं. क्र. २३०) अप सव्य ललितासन में बैठे हुए शासन देव की दायीं नीचे की भूजा भग्न है। दायी ऊपरी भुजा में गदा, बायी ऊपरी भुजा में परशु व नीचे की भुजा में बीजपूरक लिए है। यक्ष आकर्षक करण्ड मुकुट मुक्तावली, उरुबन्ध, केयूर, बलय, मेखला से सुसज्जित है[3]। कलात्मक अभिव्यक्ति ११वीं शती ई० परमार युगीन शिल्प कला के अनुरूप है।

चक्रेश्वरी—प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ की शासन यक्षी चक्रेश्वरी की ग्वालियर दुर्गसे प्राप्य मानवरूपी गरुड़ पर सवार है, सिर एवं ऊपर के दो हाथ खंडित हैं। (सं. क्र. ३०५) नीचे के दो हाथ आंशिकरूप से सुरक्षित हैं। दोनों ओर दो चक्र बने हुए हैं, यक्षी एकावली, हार, उरुबंध, केयूर, बलय, मेखला पहने हुए हैं एवं पैरों में अधोवस्त्र धारण किये हुए हैं। गरुड़ के सिर पर आकर्षक केश, चक्र कुण्डल, हार मेखला पहने हुए है। दोनों पार्श्व में त्रिभंग मुद्रा में परिचारिका, चांवरधारिणी सुशोभित है। बांया हाथ कट्यावलम्बित है। दोनों पार्श्व में अंजली हस्त मुद्रा में भू-देव और श्रीदेवी का आलेखन है[4]। १०वीं शती की यह प्रतिमा काफी भग्न अवस्था मे है। कलात्मक अभिव्यक्ति की दृष्टि से मूर्ति उत्तर प्रतिहार कालीन शिल्प कला के अनुरूप है।

गोमेघ अम्बिका—बाईसवे तीर्थंकर नेमिनाथ के शासन यक्ष-यक्षी गोमेघ अम्बिका की प्रतिमा ग्वालियर दुर्ग से प्राप्त हुई है। (सं. क्र. २६४) गोमेघ अम्बिका सव्य ललितासन मे बैठे हुए है। गोमेघ की दायी भुजा एवं मुख भग्न है। बायी भुजा से बायीं जघा पर बैठे हुए बालक जेष्ठ पुत्र शुभंकर को सहारा दिये है। बालक का सिर भग्न है। वे मुक्तावली एवं केयूर धारण किये है। अंबिका की दायीं भुजा मे स्थित आम्रलुम्बी भग्न है। बायीं भुजा से बालक कनिष्ट पुत्र प्रियंकर को सहारा दिये हुए है। देवी आकर्षक केश, चक्र एवं पद्म कुण्डल, मुक्तावली, उरबन्ध, बलय व नूपुर धारण किए है। देवी का दायाँ पैर पद्म पर रखे हुए है। बायें पार्श्व में आम्रलुम्बी आंशिक रूप से सुरक्षित है। उसके नीचे एक पुरुष अंकित है, जिसकी दायी भुजा भग्न है। बायी भुजा कट्यावलम्बित है। पादपीठ पर दोनो ओर दो कुन्तलित केश युक्त ललितासन में दो प्रतिमा अंकित है जिसकी दायी भुजा अभय मुद्रा में बायीं, बायें पैर की जघा पर है। मध्य में दो योद्धा युद्ध लड़ रहे है। राजकुमार शर्मा की सूची में इस मूर्ति को स्त्री-पुरुष दो बालक लिखा हुआ है[5]। ११वी शती ई० की यह मूर्ति कच्छाधात युगीन शिल्प कला के अनुरूप है।

अम्बिका –बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ के शासन यक्षी अम्बिका की तुमेन जिला गुना मध्यप्रदेश से प्राप्त हुई है। (स. क्र. ४१) सव्य ललितासन मे सिंह पर बैठी हुई है। बायीं जंघा पर लघु पुत्र प्रियंकर खड़ा हुआ है। दायें ओर ज्येष्ठ पुत्र शुभंकर खड़ा हुआ है। देवी दायीं भुजा में आम्रलुम्बी लिए है एवं बायीं भुजा से अपने लघु

(शेष पृ० २० पर)

"कामां" के कवि सेढ़ूमल का काव्य

□ डा० गंगाराम गर्ग, भरतपुर

चौरासी खम्भा और पुष्टिमार्गीय कृष्ण भक्ति सम्प्रदाय के प्राचीन पीठ के रूप में भरतपुर जिले के कामवन कस्बे का ऐतिहासिक और सांस्कृतिक महत्त्व है। यह कस्बा जयपुर के संस्थापक सवाई जयसिंह के पुत्र कीर्तिसिंह की जागीरदारी में भी रहा था। दिगम्बर आम्नाय के सुधारवादी पंथ 'तेरहपंथ' के विकास में इस उपनगर की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। सांगानेर कस्बे मे उत्पन्न जोधराज गोदीका (लेखन काल संवत् १७२३ के आस पास) को रूढ़ाचार के प्रति तीव्र विरोध करने की प्रेरणा

(पृ० १६ का शेषांश)

पुत्र प्रियंकर को सहारा दिये हुए है देवी आकर्षक केश कुण्डल, मुक्तावली, केयूर, बलय, मेखला नूपुर पहने हुए है। ऊपर आम्र वृक्ष की छाया है। एस. आर. ठाकुर ने इस मूर्ति को पार्वती लिखा[६] है। जबकि डा. ब्रजेन्द्रनाथ शर्मा ने इस मूर्ति को अम्बिका ही लिखा है[७]। डा. राजकुमार शर्मा की सूची में इस प्रतिमा को पार्वती लिखा गया है[८]। उक्त प्रतिमाएँ केन्द्रीय सग्रहालय गूजरी महल में संरक्षित है।

पुरातत्ववेत्ता, पुरातत्व एवं सग्रहलय
नलघर सुभाष स्टेडियम के पीछ,
रायपुर (म० प्र०)

सन्दर्भ-सूची

१. वसुनन्दि ५/१२ २. वसुनन्दि ४/२१
३. शर्मा राजकुमार मध्यप्रदेश के पुरातत्व का सदर्भ ग्रन्थ भोपाल १६७४ पृ० ४७४ क्रमाक २२६.
४. शर्मा राजकुमार पूर्वोक्त पृ० ४७६ क्र० ३०१.
५. शर्मा राजकुमार पूर्वोक्त पृ०४७६ क्र० २६४.
६. ठाकुर एस.आर. कैटलोग आफ स्कप्चर्स आर्किलोजिकल म्यूजियम एम. बी. पृ० ७.
७. शर्मा बृजेन्द्रनाथ 'जैन प्रतिमाएँ, दिल्ली १६७६ पृ. ७६
८. शर्मा राजकुमार पूर्वोक्त पृ० ४६८ क्र० ४८.

सांगानेर के जैन समाज को प्राप्त कांमा के जैन समाज की चिट्ठी से ही मिली थी। क्षत्रियवंशोत्पन्न कवियित्री पानकुँवरि की जिनेन्द्रभक्ति और हेमराजकृत मुक्तक काव्य 'दोहा शतक' ने जैन साहित्य के इतिहास में भी कांमा नगर को गरिमापूर्ण स्थान दिलवाया है। मध्य युग मे उत्तर भारत मे जैन समाज के उत्सव बड़े उत्साह पूर्वक व्यापार स्तर पर मनाये जाते थे। इन उत्सवों में 'कांमा' का रथोत्सव बड़ा प्रसिद्ध था। शताधिक पदों का रचयिता अर्चचित जगराम गोदीका (अभी तक अर्चचित) कांमा आकर श्रद्धापूर्वक रथोत्सव में सम्मिलित हुआ था। उसी के शब्दों में—

सुफल फली मन कामना जब कामा आये।
रथारूढ़ प्रभु देखि कै अति आनंद पाये।
बन बिहार को जब सुन्यौ, वाजित्र बजाये।
तब संघ उछाह सौं जिन मंगल गाये।
मूरति सुन्दर सोहनी, लखि नैन सिराये।
निरखि निरखि चित्त चोप सौं, फिरि फिरि ललचाये।
फुनि पूजा विधि जब लसी, अंग अंग सरसाये।
तब 'जगराम' जिनंद पै अष्टांग नवाये॥

'कांमा' मे प्रति वर्ष आयोजित होने वाली इस 'रथयात्रा' में विभिन्न स्थानों के श्रावकों के भाग लेने की चर्चा कवि सेढ़ूमल ने भी की है—

कामा सैहर सुहावै हो, देखत चित्त न अघावै।
तेरहपंथी दिढ़ सरधानी, और चलन नहिं भावै हो।
जामैं जिनमंदिर शुभ सोहै, देखत चित्त न अघावै।
बरस बरस में होइ जाया, भविजन पुन्य कमावै हो।
देश देश के श्रावग आवै, पूजा देखि लुभावै।
'सेढ़ू' जे परभावना करि है, सो मनवांछित पावै।

कामा नगर के प्रति अधिक झुकाव और आकर्षण रखने वाले कवि सेढ़ूमल दीग के प्रसिद्ध सेठ अमैराम और

चेतन के बड़े श्रद्धापात्र थे। कवि ने स्वयं भी उनके द्वारा सहस्रों व्यक्तियों को दिये जाने वाले आहार दान का उल्लेख करते हुए उनके धर्मानुराग की चर्चा इस प्रकार की है—

जैन कुल जन्म खंडेलवाल निरपतेला वीग सहर नांमी
जास घर है।
पिता बालकिस्न जाको, धर्म ही सों राग अति,
और विकल्प जो मन मैं न धर है।
धन सो माता जिन जाये ये भ्रात,
कुल के आभूषण वित्त सारू दुख हर है।
अभयराम्र चेतन नाम करायो श्री जू को धाम,
या तै बड़ाई सेढ़ू ज्यौं की त्यौं करि है॥

दीवान जी मन्दिर, वासन गेट, भरतपुर में प्राप्त एक गुटके में सेढ़ू के ५०-६० पद सारग, सोरठ, गौरी, परभाती, धनाश्री, काफी, ईमन, बसत, धमाल रागों मे उपलब्ध है। इन पदो के अतिरिक्त इन्होंने दोहे भी लिखे। अभी तक केवल १२ दोहे उपलब्ध हैं। जिनेन्द्र देव के प्रति अपनी एक निष्ठता सेढूमल ने इन शब्दो में अभिव्यक्त की है—

जिनराज देव मोहि भावै हो,
कोई कछु न कहौ क्यों न माई।
और न चित्त सुहावै हो॥१
जाको नाव लेत इक छिन मैं कोट कलेस नसावै हो।
पूजत चरन कंवल नित ताके, मनवांछित रिध पावै हो।
इंद्रादिक सुर काकूं सेवत, देखत त्रिपत न पावै हो।
तीन लोक मन वच तन पूजै, 'सेढ़ू' तिन जस गावै हो।

अन्य आराध्यों की लघुता में कवि सेढूमल ने उनके अवतारी जीवन में भोगे गए दुःख और सुख को महत्त्वपूर्ण कारण माना है। राग और रोष से रहित जिनेन्द्र की आराधना के लिए सेढूमल किसी भी संकल्प-विकल्प की गुञ्जायश नहीं समझते—

कौन हमारो सहाइ प्रभू विन, कौन हमारो सहाइ।
और कुदेव सकल हम देखें, हाहा करत विहाइ।
निज दुख टालन कौ गम नाहीं, सो क्यों परं नसाय।
राग रोष कर पीड़त अत ही, सेवग क्यों दुखदाय।
यातै संकलप विकलप छांडो, मन परतीत जु लाइ।
सेढ़ूं ये भव भव सुखदाइ, सेवो श्री जिनराय॥

नवधा भक्ति के विभिन्न अंगों मे 'पाद सेवन' और 'कीर्तन' में कवि की विशेष आस्था है—

करो हो ध्यान, अब करो हो ध्यान,
प्रभु चरन कमल को करो हो ध्यान।
जातं होय परम कल्यान।
आंन देव सेवो सुख जांन, ति तै पै हौ अति दुख महान।
जाकी करत इन्द्रादिक सेव आन।
सोहै अघ तम नासन मान।।
'सेढं' जिन गुन नित करो हो गांन,
यही है अब तेरो सयान॥

अपने आराध्य की उपासना के लिए प्रचलित पद्धतियो मे से भक्त सेढूमल ने नाम स्मरण को अधिक चाहा है। उनकी दृष्टि मे ससार के दु.ख-सागर से उबारने और पशु पक्षी तक का उद्धार करने म 'जिन' का नाम ही सार्थक है—

श्री जिन नाम अधार मेरे, श्री जिन नाम अधार।
आगम विकट दुख सागर मैं से, ये ही लेह उबार।
या पटतर और नहि दूजो, यह हम निहचै धार।
या चित धरते पसु पंखी भी उतरे भवदधि पार।
नर भव जन्म सफल नहीं ता विन, और सब करनी छार।
सोढं मन और वचन काय करि, सुमिरत क्यों न गंवार।

कवि सेढूमल द्वारा लिखित दोहों मे कुछ ही दोहे प्राप्त है। सत महिमा और नाम महिमा स सम्बन्धित कवि के दो मुक्तक इस प्रकार है—

दुरजन कभी न सुख करै, लाख करो जो होय।
दूध पिलावो सर्प कूं, हालाहल विष होय॥१
श्री जिनवर के नाम की, महिमा अगम अपार।
भाव भगति कर जपत जे, ते पावति भव पार॥१२

सेढूमल कवि होने के अतिरिक्त श्रेष्ठ लिपिकर्त्ता थे। इन्होंने रामचन्द्रकृत चतुर्विंशति पूजा को माघ बदि १३ सवत् १८८८ वि. मे लिपिबद्ध किया। इनकी अन्य लिपिकृत रचना नवलसाहि कृत 'वर्धमान पुराण' सवत् १८७७ का है। दोनों लिपिकृत ग्रन्थो की सुवाच्यता और सुन्दरता को देखकर सेढूमल और उन जैसे सैकड़ों लिपिकर्ताओं के

प्रति मन में यकायक श्रद्धाभाव उमड़ पड़ता है जिन्होंने पिछले चार-पांच सौ वर्षों में अपने कठिन श्रम से भारतीय वाङ्मय को सुरक्षित और चिरजीवी बनाया है। वेल-वेडियर प्रेस प्रयाग ने संत साहित्य और पुष्टिमार्गीय संस्था कांकरौली ने कृष्ण भक्ति साहित्य के प्रकाशन में बड़ी तत्परता दिखलाई है। विभिन्नजिनालयो मे परम्परा से उपलब्ध लक्षाधिक हस्तलिखित कृतियो की उपेक्षा करके उन्हें चूहों और दीमकों की दया पर छोड़ना उचित न होगा। द्यानतराय, विनोदीलाल, नथमल विलाला, देवीदास जगराम गोदीका जैसे श्रेष्ठ कवियो के काव्य-रत्नों को कब तक हम वेष्ठनों मे कैद रखेंगे? मध्ययुग मे सेढ़ूमल जैसे त्यागी तथा अन्य वृत्तिभोगी ब्राह्मणो से जैन-श्रेष्ठि परम्परागत जैन ग्रन्थो की सहस्रो प्रतिलिपियां करवा कर विभिन्न जिनालयों में भेजा करते थे इसलिए ये कवि गुजरात, महाराष्ट्र, राजस्थान, मध्यप्रदेश, बिहार सभी क्षेत्रों में बड़े लोकप्रिय हो गए।

इनके ग्रन्थ-रत्नों की चमक ने ब्रजभाषा अथवा पश्चिमी हिन्दी को बड़ा लोकप्रिय बनाया तथा विषम परिस्थितियों मे भी देश की भावात्मक एकता मे योगदान किया। आज वैज्ञानिक और सुविधा सम्पन्न युग में भी प्राचीन परम्परा से मिलता-जुलता रूप सुगमता से व्यव-हार्य हो सकता है। श्रेष्ठ कवियों की खोज, प्रकाशन और हिन्दी साहित्य मे उन्हें स्थान दिलवाने के लिए श्रेष्ठिजनों, शोधक और प्रतिष्ठित विद्वानो का समन्वित प्रयास अपे-क्षित हो गया।

□□

परिग्रह-पाप

परिग्रह ग्रहग्रस्तः सर्वं गिलितुमिच्छति।
धनं न तस्य संतोषः, सरित्पूरमिवार्णवः॥

—परिग्रहरूपी ग्रह से ग्रसित प्राणी समस्त धन को निगलना चाहता है उसे सन्तोष उसी प्रकार नही होता जिस प्रकार नदियो की बाढ़ से समुद्र को सन्तोष नही होता।

परिग्रहममुक्त्वा यो मुक्तिमिच्छति मूढधीः।
खपुष्पैः कुरुते सारं स बन्ध्यासुतशेखरम्॥

—जो मूर्ख 'परिग्रह' को छोड़े बिना मुक्ति (आत्मशुद्धस्वरूप) प्राप्त करना चाहता है, वह बन्ध्या के सुत और आकाश पुष्पों से मुकुट बनाना चाहता है।

द्रव्यं दुःखेनचायाति स्थितं दुःखेन रक्ष्यते।
दुःख शोककरं पापं धिक् द्रव्यं दुःख भाजनम्॥

—धन दुःख से आता जाता है, दुख से ठहरता है और दुख से रक्षा किया है। दुख-शोक को कराने वाले पापरूप द्रव्य को धिक्कार है—द्रव्य दुख का भाजन है।

शय्याहेतुं तृणादानं मुनीनां निन्दितं बुधैः।
यः स द्रव्यादिकं गृण्हन् किं न निन्द्यो जिनागमे॥

—विद्वानों से शय्या-हेतु तृण को ग्रहण करने वाले मुनि की निन्दा की गई है—जो मुनि द्रव्यादि को ग्रहण करता है वह जिन-आगम मे निन्द्य है।

सम्यग्दर्शन के तीन रूप

□ श्री मुन्नालाल जैन 'प्रभाकर'

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का मूल कारण तत्त्वविचार है। तत्व विचार के अभ्यास के बल तें मिथ्यात्व कर्म के निषेकों की स्थिति अनुभाग शक्तिहीन होय है और हीन होते-२ कुछ निषेक आगामी काल में उदय आने योग्य सम्यग्-मिथ्यात्व व सम्यग्प्रकृति रूप हो जाते हैं और कुछ निषेक बाद में उदय आने योग्य हो जाते हैं। उसी प्रकार सम्यग्-मिथ्यात्व के कुछ निषेक भी सम्यक्प्रकृति रूप हो जाते हैं कुछ सम्यग्मिथ्यात्वरूप में ही रहते हैं। ये सम्यग्मिथ्यात्व के निषेक तथा मिथ्यात्व के वो निषेक जिनको बाद में उदय आने योग्य किये थे सत्ता में रहते हैं इनको सदवस्था रूप उपशम कहते हैं और जिन मिथ्यात्व तथा मिश्रमिथ्यात्व के निषेकों को सम्यक्प्रकृति रूप किये थे उनका स्वमुख से उदय का अभाव होता है तथा परमुख सम्यक्प्रकृति के रूप में उदय आता है और निर्जरा हो जाती है जिससे मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व के निषेक बिना फल दिये खिर जाते है। उसके बाद जब इन मिथ्यात्व सम्यग्मिथ्या-त्व के निषेकों का उदय काल आता है तो इनका अभाव होता है और सम्यग्प्रकृति का उदय रहता है। उस समय जो सम्यग्दर्शन होता है वह क्षयोपशम सम्यग्दर्शन कहा जाता है। क्योंकि इसमे मिथ्यात्व के कुछ सर्वघाती निषेको का उदयाभावी क्षय हो गया, कुछ का सदवस्था रूप उप-शम है तथा इसी प्रकार सम्यग्मिथ्यात्व के कुछ निषेक सम्यक्प्रकृति रूप होकर खिर गये उनका अभाव है और कुछ निषेको का उपशम है तथा सम्यक्प्रकृति का उदय है इसलिए इस सम्यग्दर्शन को क्षयोपशम सम्यग्दर्शन कहते हैं। यह सब क्रिया अंतरकरण विधान ते (तत्वविचार में उपयोग लगाने से) अनिवृत्तिकरण के समय अपने आप होती है। इस सम्यग्दर्शन मे सम्यक्प्रकृति का उदय बना रहता है परन्तु इसके उदय रहने से सम्यक्त्व की विराधना नहीं होती चल, मल, अगाढ़ दोष लगते रहते हैं इसका विशेष वर्णन लब्धिसार ३ में देखें तथा मोक्षमार्ग प्रकाश पृ० ३१६ में तत्वविचार के विषय मे कहा है देखो तत्व-विचार की महिमा। तत्वविचार विना देवादिक की प्रतीति करें, बहुत शास्त्र अभ्यासै, बहुत व्रत पाले, तपश्चरणादि भी करे तब भी सम्यक्त्व की प्राप्ति का अधिकारी नही है। तथा तत्वविचार वाला इन सब क्रियाओं के बिना सम्यग्-दर्शन का अधिकारी हो हैं। इससे सिद्ध होता है कि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए तत्वविचार करना ही मुख्य कारण हो है, हाँ बहुत से जीव पहिले देवादिक की प्रतीति करें, शास्त्र अभ्यासें, व्रत पालें तथा तपश्चरण भी करें और बाद में तत्वविचार करने लग जाएँ तो सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के अधिकारी हो जाते हैं क्योंकि तत्वविचार में उपयोग को लगाने से अंतरकरण के द्वारा विवक्षित कर्मों की अघस्तन और उपरितन स्थितियो को छोड़ मध्यवर्ती अंतरमुहूर्त मात्र स्थितियों का परिणाम विशेष के द्वारा अभाव हो जाता है (मो. मा. पृ. ३२१)।

यह क्षयोपशम सम्यक्त्व चतुर्थ गुणस्थान में होता है इस क्षयोपशम सम्यक्त्व का उत्कृष्ट काल ६६ हजार सागर है और यदि बीच में मिथ्यात्व प्रकृति का उदय आ जाता है तो मिथ्यात्व में आ जाता है। क्योंकि मिथ्यात्व के निषेकों की सत्ता है और यदि सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति का उदय आ जाता है तो तीसरे मिश्रगुणस्थान को प्राप्त हो जाता है क्योंकि इसकी भी सत्ता है। इस अंतरमुहूर्त बाद चतुर्थ गुणस्थान को प्राप्त हो जाता है। ऐसी क्रिया होती रहती है जब तक सम्यग्मिथ्यात्व वा मिथ्यात्व के निषेकों का क्षय नही होता। इस जीव का पुरुषार्थ तो सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए तत्वविचार करना मात्र है। बाकी कार्य स्वयं होता रहता है जैसे अग्नि के संयोग से मक्खन पिघल जाता है तथा सूर्य के प्रकाश के कारण से अंधकार नष्ट हो जाता है। अब सम्यक्त्व होने के पश्चात इस

जीव का कर्तव्य आत्मचिंतन करना है जिसके निमित्त से चरित्रमोह के निषेक भी क्रम से हीन होते-२ क्षय को प्राप्त हो जाते हैं तथा बाद में ज्ञानावर्णी, दर्शनावर्णी और अंतराय कर्म का भी क्षय हो जाता है जो अनादिकाल से मिथ्यात्व के कारण मलिन हो रहा था। इस मलिनता के नाश हो जाने से अपने निज स्वभाव पारिणामिक भाव को प्राप्त हो जाता है जैसा उमा स्वामी महाराज ने तत्वार्थ सूत्र के १०वें अध्याय मे कहा है—'औपशमकादि भव्यत्वानां च, फिर केवलज्ञान तथा केवलज्ञान के पश्चात् सिद्ध पर्याय प्रगट हो जाती है। जहा सम्मत्त, णाण, दंसण, वीर्यत्व, सूक्ष्मत्व, अगुरु लघुत्व, अव्याबाधत्व तथा अवगाहनत्व आदि आठ गुण प्रकट हो जाते हैं। ये गुण सदा स्थिर रहते हैं।

अब उपशम सम्यग्दर्शन कहते हैं। अंतरकरण विधान तें अनिवृत्ति करण के द्वारा मिथ्यात्व (दर्शन मोह) के परमाणु जिस काल में उदय आने योग्य थे तिनको उदीर्णा रूप होकर उदय न आ सके। ऐसे किये; इसको उपशम कहते हैं। इसके बाद होने वाले सम्यक्त्व को ही प्रथमोपशम सम्यक्त्व कहते है। ये अनादि मिथ्यादृष्टि के होता है। यह सम्यग्दर्शन चतुर्थादि गुणस्थान से सप्तम गुणस्थान पर्यन्त पाइये है। बहुरि सप्तम गुणस्थान मे उपशम श्रेणी के सम्मुख होने पर जो क्षयोपशम सम्यक्त्व से सातवें गुणस्थान मे जो सम्यक्त्व होता है उसे द्वितीयोपशम सम्यक्त्व कहते हैं। इस सम्यग्दर्शन मे दर्शनमोहनी की तीनों प्रकृतियां उपशम रहती है।

अब क्षायिक सम्यग्दर्शन का स्वरूप कहिये हैं यहां दर्शनमोहनी की तीनों प्रकृतियों के सर्व निषेकों का पूर्ण नाश होने पर जो निर्मल तत्व श्रद्धान होता हैउसे क्षायक सम्यग्दर्शन कहते है। यह सम्यग्दर्शन चतुर्थादि गुणस्थाननि विषे कही क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि के होता है।

क्षायक सम्यग्दर्शन कैसे होता है सो कहते है। प्रथम तीन करण अधःकरण, अपूर्वकरण तथा अवृत्तिकरण के द्वारा मिथ्यात्व के परमाणुओं को मिश्र मोहनीय रूप वा सम्यक्त्व प्रकृतिरूप परिणमावे वा निर्जरा करें। इस प्रकार मिथ्यात्व की सत्ता नाश करे, फिर मिश्र मोहनीय के परमाणुओं को सम्यक्त्व प्रकृति के परमाणु रूप करें वा निर्जरा करें इस प्रकार मिश्र मोहनी का नाश करें। तत्पश्चात सम्यक्त्वप्रकृति के परमाणु उदय आकर खिर जाते हैं। अगर इन परमाणुओं की स्थिति बहुत बाकी होय तो स्थिति कांडादिक के द्वारा घटावें और जब स्थिति अंतरमुहूर्त मात्र रह जाती है तब उसको कृत-कृत वेदक सम्यग्दृष्टि कहते हैं। इस प्रकार मिथ्यात्व के सर्व निषेकों का नाश होने के पश्चात क्षायक सम्यग्दर्शन होता है। यह सम्यग्दर्शन प्रतिपक्षी मिथ्यात्व कर्म के अभाव होने से अत्यन्त निर्मल है तथा वीत राग है। जहां से यह सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है सिद्ध अवस्था तक रहता है इसका कभी नाश नही होता।

जैनाचार्यों ने सम्यग्दर्शन की बड़ी महिमा बतायी है। इसके बिना मुनि के व्रत पालन करने पर भी केवलज्ञान नहीं होता चाहे कितना कठोर तपश्चरण भी क्यों न करें। व्रतों के पालन करने में रंच मात्र भी दूषण न लगने दें। कहा भी है—इसलिए कोटि उपाय बनाय भव्य ताकों उर लाओ। लाख बात की बात यह निश्चय उर लाओ। तोरि सकल जंग द्वंद फंद निज आतम ध्याओ।

दैव योग से (विशेष पुण्योदय से) कालादि लब्धियों के प्राप्त होने पर तथा संसार समुद्र निकट रह जाने पर और भव्य भाव का विपाक होने से इस सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। यह सम्यग्दर्शन आत्मा का अत्यन्त सूक्ष्म गुण है जो केवल ज्ञानगम्य होने पर भी मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी के स्वानुभवगम्य है। पंचाध्यायी गा. ४६२ तथा सम्यग्दर्शन के विषय में पचाध्यायी की उ., गाथा ३७२ में प्रश्न किया है कि ऐसा कोई लक्षण है जिससे जाना जा सके कि यह सम्यग्दृष्टि है। उसके उत्तर में गाथा ३७४ में कहा है प्रशमसंवेग, अनुकम्पा तथा आस्तिक्य आदि और भी अनेक गुण हैं। जिनसे सम्यग्दृष्टि पहिचाना जा सकता है वे गुण सम्यग्दर्शन के अविनाभावी है जो सम्यग्दर्शन के साथ अवश्य होते हैं उन गुणो के बिना सम्यग्दर्शन कदापि नहीं होता तथा मिथ्यादृष्टि के कदापि होते नहीं जैसे जितना भी इन्द्रियजन्य सुख तथा ज्ञान है वह सम्यग्दृष्टि के लिए हेय है, त्याज्य है क्योंकि प्रशम गुण के होने से पंचेन्द्रिय संबन्धी विषयों में तथा असंख्यात लोक प्रमाण कषायों की

स्वभाव से ही शिथिलता हो जाती है तथा अनंतानुबंधी कषाय के अभाव होने से अपराधी जीवों पर भी क्षमा-भाव आ जाता है। तथा संवेग गुण के होने से आत्मा के धर्म और धर्म के फल तथा साधर्मियों में अति उत्साह और अनुराग हो जाता है। और सभी प्रकार की संसारिक भोगों की अभिलाषायें शान्त हो जाती हैं क्योंकि संसारिक सुखो की अभिलाषायें मिथ्यात्व के उदय मे ही होती हैं। सम्यग्दृष्टि के संसार में न कोई शत्रु है न कोई मित्र इस कारण अपने कुटुंबीजनों से तथा अन्य संबन्धियों से राग न होने के कारण संसार के सभी जीवों के प्रति करुणा का भाव होता है, सबके हित की भावना होती है। इस गुण को अनुकंपा गुण कहते हैं।

जिसकी जीव संज्ञा है वही आत्मा है। आत्मा स्वयं सिद्ध है अमूर्त है, चेतन है। इसके अतिरिक्त जितना भी अजीव है वह सब अचेतन है ऐसी बुद्धि होती है। जिस व्यक्ति में ये बाह्य चिन्ह देखे जाते हैं वह अनुमान से जाना जाता है कि अमुक व्यक्ति सम्यग्दृष्टि है या मिथ्यादृष्टि? इतना विशेष है कि अनुमान ज्ञान सत्य भी होता है और असत्य भी हो सकता है। यदि हमने उसकी परीक्षा ठीक नहीं की हो तथा इसके लिए छह ढाला में भी कहा है —'पर द्रव्यन ते भिन्न आपमे, रुचि सम्यक्त्व भला है।' अर्थात् सम्यग्दृष्टि की परद्रव्यो में अरुचि तथा स्व-आत्मा में रुचि हो जाती है। उसकी पर द्रव्यों की चाह नहीं रहती ये सम्यग्दृष्टि के अविनाभावी चिन्ह हैं, जिनसे सम्यग्दृष्टि जाना जाता है और अपने आपका तो निश्चित पता चल जाता है कि मैं कौन हूं सम्यग्दृष्टि या मिथ्या-दृष्टि? जैसे किसी व्यक्ति के शरीर के किसी अंग में पीड़ा होती है तो क्या उसको मालूम नही पड़ता कि मेरे को फलाने अंग में पीड़ा हो रही है। जिसको पीड़ा होती है उसको अवश्य ही पता लगता है। इसी प्रकार जब सम्यग्दर्शन हो जाता है तब उसको अवश्य ही पता लग जाता है। ऐसा नहीं हो सकता कि सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् स्वयं को पता न चले और यदि अपने सम्यग्दर्शन होने में उसको संदेह है तो निश्चित मिथ्यादृष्टि है जैसे कोई मिश्री खाये और उसको उसका स्वाद न आए ऐसा नहीं हो सकता, परन्तु ठीक पता सम्यग्दर्शन होने के बाद ही पता चलता है। इससे पहिले हर एक व्यक्ति अपने को सम्यग्दृष्टि मानता है परन्तु अन्तर सम्यग्दर्शन होने के पश्चात ही पता चलता है। इन चिन्हों के द्वारा अपने आप में देखकर पता लगा सकता है कि मैं कहां हूं? देखें—कि मेरी रुचि, चाहना पर-द्रव्यों के संग्रह की कुछ कम हुई है या नहीं। यदि शरीर कुटुंबीजनों तथा धन आदि में लालसा कम नही हुई तो निश्चित ऐसा जीव सम्यग्दृष्टि नही है। ये बात अपने सम्यक्त्व के पहिचान की है। अमुक व्यक्ति सम्यग्दृष्टि है या नहीं? इसकी क्या पहिचान है? इसके उत्तर के लिए मोक्ष मार्ग प्रकाशक पृ० ३:४ पर कहा है 'वचन प्रमाण तें पुरुष प्रमाण हो है' तथा पुरुष के वचनों का भाव सच्ची प्रतीति हो है जिससे पुरुष की प्रमाणता हो जाती है फिर उसके वचनों में किसी भी प्रकार का संदेह सम्यग्दृष्टि को नहीं होता और यदि है तो वह निश्चित रूप से सम्यग्दृष्टि नहीं है। सम्यग्दृष्टि द्वारा रचित शास्त्रों मे कही भी आगम के विरुद्ध कोई भी वचन नहीं पाया जाता, जिससे उनके सम्यक्त्व मे किसी भी प्रकार की शंका की जाय। क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना ऐसी व्याख्या नहीं हो सकती। सारांश यह है कि इस मनुष्य भव को सार्थक बनाने के लिए हमें अपने उपयोग को तत्व विचार में लगा कर भेद ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। भेद ज्ञान होने के पश्चात अपने उपयोग को आत्म चिंतन में लगा कर अपनी आत्मा से कर्मों को पृथक करना चाहिए।

आत्मा से कर्मों को पृथक करने के लिए सर्व प्रथम कुछ समय के लिए एकान्त में बैठ कर जहां किसी प्रकार का संसार संबन्धी बाधा न हो सभी प्रकार आरंभ परि-ग्रह का त्याग करके बैठना चाहिए, और विचार करना चाहिए यह देह अचेतन है, यह देह में नहीं हूं इस देह में रहने वाला इस देह से किंचित न्यून ज्ञायक स्वरूपी चैतन्य का जो पिंड है वह मैं हूं। मैं एक हूं अकेला हूं मेरा कोई साथी सगा नहीं है, मैं अकेला जन्म लेता हूं अकेला ही मरण को प्राप्त होता हूं। इसके अतिरिक्त जितने भी पदार्थ हैं चाहे चेतन हों अथवा अचेतन। सब पर हैं मैं उन सबसे भिन्न हूं ऐसा वचन तथा मन से चिन्तवन करते

(शेष पृ० २६ पर)

पद्मावती पूजन, समाधान का प्रयत्न

□ जस्टिस एम० एल० जैन

अनेकान्त वर्ष ४३ कि० ३ जुलाई-सितंबर १९९० पृ० १६-१७ पर "भगवान पार्श्वनाथ के उपसर्ग का सही रूप" इस शीर्षक का एक लेख छपा है। लेखक हैं क्षुल्लक चित्तसागर जी महाराज। पद्मावती पूजन पर उनकी दो आपत्तियां हैं —

पहली तो यह कि मूर्तियो मे से नागकुमार देव धरणेन्द्र का लोप हो गया है और मात्र पद्मावती ही दिखाई देती हैं :

दूसरी यह कि "मुनिराज आर्यिका से भी ५-७ हाथ दूर रहे ऐसा विधान होते हुए भी पद्मावती स्त्री पर्यायी ने महाव्रती मुनिराज पार्श्वनाथ को उठाकर अपने सिर पर कैसे बिठाया और उसमे क्या कोई प्रकार का औचित्य है ? समझ मे नहीं आता ऐसा भद्दा और विचित्र विकल्प मूर्तिकारों को कैसे आया ? उनका प्रेरक कौन रहा होगा ? उसमें क्या कोई बुद्धिमानी है या स्टट रूप फरेब कार्य है ? यह सब विचारणीय है।"

पद्मावती प्रकरण में गुणभद्र ने अपने उत्तर पुराण में लिखा है कि शम्बर नामक असुर ने तपोलीन पार्श्वनाथ को देखा तो—

[लोकमानो विभङ्गेन स्पष्ट प्राग्वैरबन्धन:
रोषात्कृत महाघोषो महावृष्टिमपातयत् ।
व्यधात्तदैव सप्ताहान्यन्यांश्च विविधान्विधि:
महोपसर्गान् शैलोपनिपातान्तानिनिवान्तक:] ॥३२॥

अर्थात् उस असुर ने विभंगावधिज्ञान से पूर्वभव का वैर बन्धन स्पष्ट देखा तो महाघोष किया और महावृष्टि की, सात दिन तक लगातार भिन्न-भिन्न प्रकार के महा उपसर्ग किए, छोटे मोटे पहाड़ तक लाकर उनके समीप गिराए, तब धरणेन्द्र भगवान् को फणाओं के समूह से आवृत कर खड़ा हो गया और उसकी पत्नी मुनिराज पार्श्वनाथ के ऊपर बहुत ऊचा वज्रमय छत्र तानकर स्थित हो गई, लेकिन—

स पातु पार्श्वनाथोऽस्मान् यन्महिम्नैव भूधर:,
न्यषेधि केवल भक्तिभोगिनी छत्र धारणम् ।

अर्थात् उपसर्ग का निवारण धरणेन्द्र पद्मावती ने किया था परन्तु इसी उपसर्ग के बीच उन्हें केवल ज्ञान हो गया और नागदपति का कार्य अपने आप समाप्त हो गया।

गुणभद्र ने आगे बताया कि पर्वत का फटना, धरणेन्द्र का फणामण्डल का मण्डप तानना, पद्मावती के द्वारा छत्र लगाया जाना, घातिया कर्मों का क्षय होना, केवलज्ञान की प्राप्ति होना, धातुरहित परमौदारिक शरीर की प्राप्ति होना, जन्म-मरण रूप संसार का विघात होना, शम्बर देव का भयभीत होना, तीर्थंकर नामकर्म का उदय होना, सब विघ्नो का नष्ट होना, ये सब कार्य एक साथ प्रगट हुए।

इस वर्णन से यह सिद्ध होता है कि पार्श्वनाथ को सात दिन तक महा उपसर्ग जिसमें महावृष्टि भी शामिल थी, अपने ध्यान से न डिगा सका। डिगाता भी तो कैसे ? जन्माभिषेक के समय जिन बालक भगवान के श्वास निश्वास से इन्द्र झूले के मानिंद झूलते रहते थे और जिनका शरीर वज्र वृषभनाराच संहनन का बना था ऐसे बली प्रभु को शम्बर का उपसर्ग क्या कंपायमान कर सकता था ? फिर नागदंपति तो आया भी सात दिन की देरी से और वह भी उस समय जब केवलज्ञान होने में कुछ क्षण ही शेष थे। इसलिए नागदंपति का कोई योगदान उपसर्ग निवारण में नही था और थोड़ा था भी तो केवलज्ञान होते ही उनका प्रयत्न (केवलं निषेधि) विफल हो गया। इसके अतिरिक्त धरणेन्द्र किस कृतज्ञता को प्रगट करने आया था ? जिस समय पार्श्वनाथ का मामा महिपाल पत्नी वियोग के कारण पञ्चाग्नि तप कर रहा था उस समय पार्श्वनाथ के मना करने पर भी उसने लकड़ी को काटा तो लकड़ी के भीतर स्थित सर्पदंपति के

(पृ० २५ का शेषांश)

करते अपने उपयोग को पर पदार्थों से हटावे और निरंतर हटाने का प्रयास करे। यही अपने में रहना है तथा यही केवलज्ञान व मुक्ति प्राप्ति का उपाय है। उत्तम संहनन के बिना मुक्ति भी नही होती। पर से हटने का उद्यम करें तो हमारे कर्मों की शक्ति क्षीण हो सकती है और आगामी भवो मे उत्तम संहनन की प्राप्ति और मुक्ति भी हो सकती है। इसलिए पर-पदार्थों से विरक्ति कर सम्यग्दर्शन प्राप्ति का उद्यम करना चाहिए। 卐卐

दो-दो टुकड़े हो गए। वही नागयुगल धरणेन्द्र पद्मावती हुए। इसमें पार्श्वनाथ का सर्पदंपति पर क्या अनुग्रह हुआ जिससे वे पाताल लोक से चलकर प्रभु सेवा में उपस्थित हुए। मरणासन्न नागदपति को णमोकार सुनाने की बात गुणभद्र ने नही लिखी है।

खैर, जिस समय की यह पौराणिक घटना है वह नागपूजा का युग था। इस कारण महेन्द्र दम्पति बुद्ध की रक्षा करते है, विष्णु शेषनाग पर सोए हैं, शिव का शरीर तो सर्पों से घिरा हुआ है ही, कृष्ण काले नाग के फण पर त्रिभगी मुद्रा मे खड़े बंशी बजा रहे हैं; इन सब रूपो को पार्श्वनाथ की मूर्तियों में यत्र तत्र सम्मिलित कर लिया गया है। धरणेन्द्र शेषनाग का ही दूसरा नाम है क्योंकि शेषनाग के सर पर धरणि स्थित है ऐसी हिन्दू मान्यता है और पद्मावती विष्णु की सहशायिनी लक्ष्मी का अपर नाम है। सर्प शिव की भाति पार्श्वनाथ के शरीर को वेष्टित करता है और सर पर फण ताने हुए है। कृष्ण की भाति सर्पिणी के सर पर प्रभु विराजमान किए गए हैं। मूर्तिकार की कल्पना व जैनेतर अन्य मूर्तियो की तरह सर्प के एक से लेकर १४ फण तक उनकी मूर्तियों मे पाए जाते हैं। इस प्रकार नागपूजा के आधार पर पार्श्वनाथ की मूर्तियों मे विष्णु, शिव, कृष्ण व बुद्ध चारों की नागसंबंधी पूजा का काल्पनिक योग से ही पद्मावती की मूर्ति कला का रूप बना है ऐसा जान पड़ता है। जैनेतर विद्वान तो यहां तक कहते है कि नागपूजा ईरान (पारस) की सर्पपूजा के आधार पर खड़ी की गई है। संस्कृतियों का परस्पर विनिमय कोई नई बात नही है।

क्षुल्लक महाराज को सकलकीर्ति की इस कल्पना पर कि नाग ने पार्श्वनाथ को फणों पर उठा लिया एतराज नहीं है। स्त्री पर्यायी पद्मावती पूजन में भी उन्हें एतराज नहीं है उन्हें एतराज है स्त्री पर्यायी पद्मावती के सर पर प्रभु के रखे जाने से, किन्तु जब पार्श्वनाथ के शरीर का स्पर्श करती हुई सर्पिणी उन पर फणाछत्र तान रही है तो इससे यही सिद्ध होता है कि महाव्रती पर स्त्री-स्पर्श का कोई प्रभाव नही पड़ता चाहे वह एक या अनेक फणों वाली विषधरा नाग महिला पद्मावती कितनी ही सुन्दर रही हो। यदि महाव्रती परम तपस्वी तीर्थंकर को भी स्त्री-स्पर्श से व्यभीचार हो सकता है तो उसके थोड़ी दूर पास मे खड़े रहने से, देखने से, गाने से, भजन गान ही सही, विकार उत्पन्न होना मानना पड़ जाएगा। ध्यानस्थ प्रभु को तो स्त्री-स्पर्श के उपसर्ग परीषह का पता भी न चला होगा।

दर असल जैन धर्मावलंबियो ने प्रचलित नागपूजन को भी जिन पूजा का साधन बनाया है क्योंकि—

> चारित्रं यदभाणि केवलदृशादेव त्वया मुक्तये
> पुंसां तत्खलु मादृशेन विषये काले कलौ दुर्धरम्
> भक्तिर्या समभूदिह त्वयि दृढा पुण्यैः पुरोपार्जितैः
> संसारार्णव तारणे जिन ततः सैवास्तु पोतो मम !

जिनेन्द्र भक्ति संसार सागर से पार उतारने वाली है। जिन बिंब किसी आसन पर हो सिंहासन हो चाहे सर्पासन या पद्मासन, पूज्य है। पद्मावती के शीर्ष पर जिनबिंब की ही पूजा होती है। स्वयं पद्मावती भी भक्त साधर्मी होने के कारण आदरणीय है प्रतिष्ठा पाठ व मंत्र-तंत्र की साधना में भी उसके आह्वान और आराधन किए जाते हैं क्योंकि यह सब विधान जिनवाणी के दृष्टिवाद अंग के विद्यानुवाद पूर्व में सम्मिलित हैं।

पद्मावती के सर पर विराजमान पार्श्वनाथ की मूर्ति यही घोषित करती है कि वह देवाधिदेव जिनेश्वर की भक्तिमयी सेविका है। बुद्ध महायान पंथ मे तारादेवी के केशमुकुट मे बुद्ध की मूर्ति रखी हुई दिखाई जाने वाली प्रतिमायें आठवीं शताब्दी की श्री लंका मे अनेकों पाई जाती हैं। यदि यह जैनाचरण विधान के विपरीत है तो पद्मावती की इसी प्रकार की मूर्तियों की कल्पना तारादेवी की उक्त मूर्तियो के प्रचलन के पश्चात ही की गई होगी, किन्तु इसमें न कोई भद्दापन है, न विचित्रता न फरेब। सर पर प्रभु की मूर्ति रखना भक्ति रूप का उच्चतम संकेत है। अपने चिंतन-ध्यान मे सिर में निहित प्रभु की मूर्ति का ही यह बाह्य कलात्मक रूप है।

धरणेन्द्र का लोप हो जाना यह ही दर्शाता है कि तंत्र मंत्र के प्रभाव के कारण पद्मावती पति से आगे बढ़ गई किन्तु इस कारण से पौराणिक नागदम्पति और जैन श्रावकों की जिनेन्द्र भक्ति मे कोई कमी नहीं आती।

२१५, मंदाकिनी एन्क्लेव,
नई दिल्ली-११००१९

काशी के आराध्य सुपार्श्वनाथ

□ डॉ० हेमन्तकुमार जैन, वाराणसी

वाराणसी ने अनेक विभूतियों को जन्म दिया है, वाराणसी मन्दिरों का शहर कहा जाता है, यहां पर वरुणा से अस्सी के बीच हर दूसरे तीसरे मकान के बाद एक छोटा मन्दिर मिल जायगा। भदैनी में स्थित गंगा के सुरम्य तट जैन घाट पर श्री सुपार्श्वनाथ का जिनालय है, यहां प्रसिद्ध मन्दिरो मे श्री छेदीलाल का दि० जैन मन्दिर, भदैनी का श्वेताम्बर जैन मन्दिर, भेलूपुर के दिगम्बर, श्वेताम्बर जैन मन्दिर और धर्मशाला, मैदागिन दिगम्बर जैन मन्दिर और धर्मशाला ग्वालदास साहू लेन पंचायती दिगम्बर जैन मन्दिर भाट की गली जैन मन्दिर, खोजवा जैन मन्दिर, नरिया जैन मन्दिर और अन्य धर्मावलम्बियो में विश्वनाथ मन्दिर, गोपाल मन्दिर, भैरोनाथ मन्दिर, तुलसी मानस मन्दिर, संकटमोचन मन्दिर, बौद्ध मन्दिर, दुर्गा मन्दिर, कबीर मन्दिर, कीनाराम समाधि, अन्नपूर्णा, शीतला, काली मन्दिर आदि सभी के नगर को गौरवान्वित करते हैं। इन्हीं कारणों से कहा जाता है कि यहां कदम-कदम पर मन्दिर हैं।

तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ की जन्म भूमि भदैनी वाराणसी में है, यहां पर एक दिगम्बर जैन मन्दिर का निर्माण श्री मान् स्व० बाबू देवकुमार जी रईस आरा वालों ने कराया था। एक बार क्षुल्लक गणेशप्रसाद वर्णी वाराणसी यात्रा पर आये, उन्होंने समाज के सामने एक संस्कृत विद्यालय खोलने की योजना का प्रस्ताव रखा। जिसमे पहले सहयोग देने वाले श्री झम्मनलाल जी कामावाले थे इन्होंने वर्णी जी को एक रुपया दान दिया। वर्णी जी ने एक रुपये के ६४ पोस्टकार्ड खरीद कर ६४ स्थानो पर डाल दिया सभी जगह से सहायता राशि आने लगी। ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी दिनांक १२ जून १६०५ ई० को श्री स्याद्वाद विद्यालय का उद्घाटन हुआ। वर्णी जी की तरह महामना मदनमोहन मालवीय ने एक रुपये के ६४ पोस्टकार्ड खरीद कर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना की थी जो एशिया के विश्वविद्यालयों में तीसरे स्थान पर विश्वविख्यात है। श्री स्याद्वाद विद्यालय के प्रथम छात्र श्री वर्णी जी ही बने। इस महाविद्यालय ने ८५ वर्ष में हजारों विद्वानों को उच्च शिखर तक पहुंचाया है।

तीर्थंकरों में भगवान सुपार्श्वनाथ सर्वाग्रणी हैं। आज भारत में अन्य धर्म संभवतः कुछ विस्मृत अथवा लोगों की दृष्टि से ओझल हो गये हों परन्तु जैन धर्म तो प्रत्येक भारतीय के मानव-मानस मे ओतप्रोत होता जा रहा है। अहिंसा के मार्ग से चलने वाले हर प्राणी की दीर्घायु होती है। तीर्थंकरो का जन्म भारत की धर्म-ह्रास बेला में हुआ था, उस काल में धर्म, अर्थ एवं काम के क्षेत्र में सामाजिक अस्त-व्यस्तता को सुव्यवस्थित रूप प्रदान करने का समस्त श्रेय तीर्थंकरों को ही है।

सातवें तीर्थङ्कर सुपार्श्वनाथ का जन्म वाराणसी में हुआ था। इनके पिता का नाम सुप्रतिष्ठ तथा माता का नाम पृथिवी था। हरिवंश पुराण में इनके माता-पिता का वर्णन इस प्रकार पाया जाता है—

पृथिवी सुप्रतिष्ठोऽस्य, काशी वा नगरी गिरिः।
स विशाखा शिरीषश्च सुपार्श्वश्च जिनेश्वरः॥

अर्थात् पृथिवी माता, सुप्रतिष्ठ पिता काशी नगरी, सम्मेदशिखर निर्माण क्षेत्र, विशाखा नक्षत्र, शिरीष वृक्ष और सुपार्श्व जिनेन्द्र ये सब तुम्हारे लिए मंगल स्वरूप हों।

श्री कविवर वृन्दावन जी कृत श्री वर्तमान जिन चतुर्विंशति जिन पूजन में कहा गया है—

नृप सुपरतिष्ठ वरिष्ठ इष्ट, महिष्ट शिष्ट पृथी प्रिया।

सुपार्श्वनाथ का पूर्व भव में जन्म जम्बूद्वीप के विदेह क्षेत्र में हुआ था। धातकीखण्ड द्वीप की नगरी क्षेमपुरी थी। इसका नाम नन्दिषेण था। तथा महामण्डलेश्वर और ग्यारह अंग के वेत्ता थे। इन्होंने सिंह निष्क्रीडित तप कर

एक माह के उपवास के साथ प्रायोपगमन सन्यास धारण किया था साधना के अनुसार स्वर्ग में उत्पन्न हुए थे। इनके गुरू का नाम अरिन्दम था आप मध्यग्रैवेयक स्वर्ग से चयकर भरतक्षेत्र में उत्पन्न हुए थे।

सुपार्श्वनाथ का जन्म ज्येष्ठ शुक्ल की द्वादशी को हुआ था। आपका जन्म विशाखा नक्षत्र में होने का योग है। इनके चैत्यवृक्षों की ऊंचाई इनके शरीर से बारहगुनी ऊंची मानी गयी है। आप सामान्य राजा थे। आपके शरीर का वर्ण प्रियग वृक्ष की मजरी के समूह के समान हरित था। आपने राजा बनने के बाद दीक्षा धारण की थी। इनका कुमार काल पाच लाख पूर्व माना गया है। शरीर की ऊंचाई २०० धनुष या चार हाथ प्रमाण की थी। राज्य १४ लाख २० पूर्वांग किया है।

आपका दीक्षा कल्याणक जन्मभूमि मे मनाया गया था। ज्येष्ठ शुक्ला द्वादशी को वसन्तवन लक्ष्मीबास का स्मरण हो जाने के कारण विशाखा नक्षत्र मे, अपराह्न काल मे, नगर के सेहेतुक वनमें जाकर एक हजार राजाओं के साथ दीक्षा धारण कर ली। आपका ९ वर्ष तक छद्मस्थ काल चलता रहा। इनकी पालकी का नाम सुमनोरमा था इनने दीक्षा धारण करने के बाद दो दिन का उपवास किया, फिर नृभक्त ने पारणा देकर गाय के दूध से बनी खीर का आहार दिया था। प्रथम पारणा के स्थान का नाम पाटली खण्ड था और प्रथम पारणा मे दान देने वाले का नाम महादत्त था। इनकी आदि पारणा मे नियम से रत्नवृष्टि उत्कृष्टता से साढ़े बारह करोड़ और जघन्य रूप से साढ़े बारह लाख प्रमाण की होती थी। आपके दानी पुरुष तपाये हुए सुवर्ण के समान कान्ति वाले वर्ण के थे। आपके दानी पुरुष तपश्चरण कर मोक्षगामी हो गए थे।

फाल्गुन कृष्ण सप्तमी की वेला के बाद अपराह्न काल में सहेतुक वन मे विशाखा नक्षत्र में केवल ज्ञान हो गया था। इनका केवलि काल एक लाख पूर्व अट्ठाइस पूर्वांग नौ वर्ष माना गया है।

भगवान् सुपार्श्वनाथ को पूर्वाह्न काल में एक माह पूर्व अनुराधा नक्षत्र मे ५०० मुनियों के साथ योगनिवृत्ति सम्मेद शिखर पर विराजमान हो गये। फाल्गुन कृष्ण षष्ठी को मोक्षगामी हुए। इनकी मुख्य आर्यिका का नाम मीना था। इनके तीन लाख श्रावक, पाँच लाख श्राविकाएँ, पनचावनवेह गणधर, तीन लाख ऋषि, दो हजार तीस पूर्वधर, दो लाख चवालिस हजार नौ सौ बीस शिक्षक, नौ हजार अवधिज्ञानी, ग्यारह हजार तीन सौ केवली, पन्द्रह हजार एक सौ पचास विक्रिया ऋषिधारी, नौ हजार छः सौ विपुलमतिमन: पर्यय ज्ञानी, आठ हजार वादी, तीन लाख तीस हजार आर्यिकाएँ थी। मुख्य गणधर का नाम बलदत्त था। मुख्य यक्ष का नाम विजय, यक्षिणी पुरुषदत्ता थी। इनके अशोक वृक्ष का नाम शिरीष था। समवशरण भूमि नौ योजन की थी।

> इक्ष्वाकु प्रथम: प्रधान मुदगादादि वंशस्तत्-
> स्तस्मादेव च सोमवंश इति यस्त्वन्यकुरुग्रादय: ।

अर्थात् सर्वप्रथम इक्ष्वाकु वंश उत्पन्न हुआ फिर उसी इक्ष्वाकुवंश से सूर्यवंश और चन्द्रवंश उत्पन्न हुए। उसी समय कुरुवंश तथा उग्रवंश आदि अन्य अनेक वंश प्रचलित हुए।

(१) पूर्वाह्न काल मे, अष्ट कर्मों को नष्ट करने वाले संसार भ्रमण का अन्त करने वाले कायोत्सर्ग आसन का धारण जिनेन्द्र सुपार्श्वनाथ सिद्धि को प्राप्त हुए। इन्होंने एक माह पूर्व विहार करना बन्द कर दिया था।

सभी गणधर सात ऋषियों से युक्त तथा समस्त शास्त्रों के पारगामी थे।

तीर्थङ्कर का संघ—(१) पूर्वधर (२) शिक्षक (३) अवधिज्ञान (४) केवल ज्ञानी (५) वादी (६) विक्रय ऋषि के धारक और (७) विपुलमत्ति मन: पर्यय के भेद से सात प्रकार का होता है।

वर्तमान के संदर्भ में विचारणीय

☐ पद्मचन्द्र शास्त्री संपादक 'अनेकान्त'

यह तो सर्व विदित है कि हम ऐसे स्थान पर बैठे हैं जहां से जैन शोध का मार्ग प्रशस्त हुआ, समीचीन धर्म-शास्त्र—रत्नकरन्ड श्रावकाचार जैसे आचार ग्रन्थ का सपादन और मेरी-भावना जैसी कृति का निर्माण तथा आगम ग्रन्थों के उद्धार का कार्य सपन्न होता रहा। हम इन्ही माध्यमों के सहारे समाज को विविध संबोधन देते रहे हैं। निःसन्देह, उन्हें किन्ही ने तथ्यरूप में स्वीकार किया होगा और कुछ हमसे रुष्ट हुए होंगे—उनकी तुष्टि का हमारे पास उपाय नही। हम 'हित मनोहारि च दुर्लभं वच.' का अनुसरण कर चलते रहे हैं—'कह दिया सो बार उनसे जो हमारे दिल मे है।'—हाँ, हम यह भी कहते रहे है कि हमारा कोई आग्रह नही, ग्रहण करें या छोड़ दें। अस्तु,

आज प्रायः सभी धर्म प्रेमी अनुभव कर रहे है कि जैन की स्थिति दिनोदिन चिन्तनीय होती जा रही है। जनता मे न वैसा दृढ़ श्रद्धान है, न वैसा ज्ञान और ना ही वैसा चारित्र है जैसा लगभग ६० वर्ष पूर्व था। समाज मे तब धर्म की धुरी को थामने और वहन करने वाले दो प्रमुख अग थे—त्यागी और विद्वान पण्डित। इन्हे श्रावकों का सहयोग रहता था और ये आगमानुसार प्रभावना मे तत्पर थे—धर्म-धुरा को खीचते रहे। दुर्भाग्य से आज त्यागी तो हैं, पर त्यागी कम। पण्डित तो हैं विद्वान् कम। ये हम इसलिए कह रहे हैं कि आज त्याग, राग से लिपटा जा रहा है और पण्डिताई पैसे कमाने या गुजारे का पेशा मात्र बनकर रह गई है—दो-चार अपवाद हुए तो क्या? जब कि राग और पैसा दोनों ही धर्म नही, परिग्रह हैं और परिग्रह की बढ़वारी मे धर्म का विकास रुद्ध हो जाता है—तीर्थंकरादि महापुरुषों ने परिग्रह का सर्वथा त्याग किया।

हमने पूर्ववर्ती दिगम्बराचार्यों के जीवन भी पढ़े हैं और दिगम्बर मुनियों, त्यागियों की चर्या का शास्त्रों में अवलोकन भी किया है। वे क्रमशः परिग्रह से रहित और परिग्रह परिमाण में रहते हैं—आदर्श होते हैं। इसी प्रकार धर्म प्रभावना मे अग्रसर विद्वान् भी परिग्रह तृष्णा के स्थान पर परिग्रह-परिमाण और सतोष के सहारे धर्म की गाड़ी को खीचते रहे। जैसे—श्री टोडरमल जी, सदासुख जी और बीते युग के निकटवर्ती गुरु गोपाल दास बरैया आदि। बरैया जी के विषय में तो श्री नाथूराम प्रेमी ने लिखा है—"धर्म कार्यों के द्वारा आपने अपने जीवन मे कभी एक पैसा भी नही लिया। यहां तक कि इसके कारण आप अपने प्रेमियों को दुखी तक कर दिया करते थे। पर, भेंट या विदाई तो क्या, एक दुपट्टा या कपड़े का टुकड़ा भी ग्रहण नही करते थे।"—जब कि आज के अधिकांश पण्डित प्रायः इसके अपवाद हैं—बड़े वेतन पाने वाले तक पर्यूषणादि में अच्छा पैसा लेते है—प्रतिष्ठा, विवाह आदि सस्कारों की बात तो अलग।

यह समाज का दुर्भाग्य रहा कि उक्त दोनो धाराएँ क्षीण होती गयी। ऐसा क्यों और किन कारणो से हुआ? यह ऊहापोह और तत्तत्कालीन परिस्थितियो पर विचार करने से स्पष्ट हो सकेगा—उसमे मतभेद भी रहेंगे। अतः हम उस प्रसग में नहीं जाते हैं। इतना ही पर्याप्त है कि उक्त दोनों धाराओं का ह्रास धर्माचार तथा धर्मज्ञान के पंगु होने का कारण हुआ। यह विडम्बना ही है कि जिन्होंने धर्म की प्रभावना की उनके हमसफर ही ह्रास में कारण हुए—बाड़ ने ही खेत पर धावा बोल दिया। ऐसे में 'पल्लवग्राहि पाण्डित्यम्' ने धर्म के ज्ञानदान का बोझा उठाया और उसमें कई वर्ग सम्मिलित हुए—कुछ नाम-धारी पण्डित, कुछ स्वाध्यायी तथा कुछ धनिक वर्ग भी। इस प्रकार धर्म की गाड़ी चलती-सी दिखती रही। लोगों ने संतोष किया—'एरण्डोऽपि द्रुमायते।' पर, आचार

फिर भी गिरता गया और आज स्थिति यह है कि ऊँची-ऊँची तत्त्वचर्चा, खोज और प्रचार की बातें करने वाले कई व्यक्तियों को रात्रिभोजन और अपवित्र होटलों तक से परहेज नही रह गया है। यहां तक कि प्रथम तीर्थंकर के नाम से स्थापित एक प्रतिष्ठान ने तो निर्वाण उत्सव की रूपरेखा बनाने के लिए बुलाई मीटिंग हेतु छपाए निमन्त्रण पत्र में साफ शब्दो में यह तक छपाने में गौरव समझा कि— **बैठक के पश्चात् आप सभी रात्रो भोजन करने की कृपा करें।'**—खेद !

आज हर व्यक्ति की दृष्टि आचार पर उतनी केन्द्रित नहीं है जितनी प्रचार पर। वह स्वयं आचारादर्श न होकर दूसरो के संस्कार और आचार सुधार की बातें करने लगा है। यहां तक कि 'अपने को देखो, अपना लोटा छानो, कोई किसी दूसरे का कर्ता नहीं है" आदि, जैसे गीत गाने वाले कई लोग भी दूसरों मे प्रचार करके उन्हें सुधारने की धुन मे हैं। कई यश-ख्याति या अर्थ-अर्जन हेतु अपने तत्त्व ज्ञान-सबधी बीसियो पुस्तकें तक छपवाकर बेचने और वितरित कराने की धुन मे है—पैसा समाज का हो और नाम उनका। पर सर्वज्ञ ही जाने—उन पुस्तकों में कितनी आगमानुसारी हैं और कितनी लेखकों के गृहीत स्व-मनोभावों से कल्पित या कितनी कालान्तर में जैन तत्त्व-सिद्धान्तों को विचार-श्रेणी मे ला खड़ा करा देने वाली ?

कुछ लोग निश्चय से आत्मा के अदृश्य, अरूपी और अकर्ता होने की एकांगी बाते भले ही करते हों, पर हमने तो ऐसी अनेकों आत्माओं को व्यावहारिक प्रतिष्ठाओं, रात्रि के विवाह समारोहों, सगाई आदि मे प्रत्यक्ष रूप में देखा है—कईयों को परिग्रह सग्रही और कषायों के पुंज भी देखा है—भगवान ही जाने ये निमित्त को भी किस रूप में मानते और क्यों जुटाते हैं ? अब तो कई लोग परिग्रह समेटे आत्मोपलब्धि—आत्मदर्शन की धुन मे हैं। ऐसे लोगों को विदित होना चाहिए कि—परिग्रह मे आत्म-दर्शन दिगम्बरों का सिद्धान्त नहीं है—इस चर्चा में तो सवस्त्र मुक्ति और स्त्री-मुक्ति जैसे विष की गन्ध है। यदि परिग्रह में आत्म-दर्शन होता तो दिगम्बर मत ही न होता—क्योकि आत्मदर्शन, आत्मा के अखण्ड होने से अधूरा नही होता और संसार में ही पूरा आत्मदर्शन होने पर मुक्ति की आवश्यकता ही न होती। इस तरह सात तत्त्वों में से मोक्ष तत्त्व ही न मानना पड़ेगा और परिग्रही संसार मे ही मुक्ति की कल्पना करनी पड़ेगी—जैन का घात ही होगा।

कुछ लोग अपनी सयम सम्बन्धी कमजोरी को दूर करने के मार्ग की शोध को छोड़ जड़-मात्र की खोज मे लग बैठे। कहने को आज जैनियो में सैकड़ों पी-एचडी. डिग्रीधारी होंगे। खोजना पड़ेगा कि कितनो की थीसिसें मात्र सयम-चारित्र की शोध मे हैं ? कितनो ने श्रावकाचार और श्रमणाचार पर स्वतत्र शोध-ग्रन्थ लिखे हैं ? और कितनों ने अपने चारित्र को शोधों के अनुसार ढाला है ? केवल लिखने से इतिश्री मानने से कुछ होना-जाना नहीं है—असली प्रचार तो आचार से होता है जैसा कि तीर्थंकरों और त्यागियों ने आदर्श सामने रखकर किया—'अवाग्वपुषा मोक्षमार्गं निरूपयन्तम्।'—ध्यान रहे—आचार की बढ़वारी ही प्रचार का पैमाना है। यदि आचार गिर रहा है तो प्रचार कैसा ?

यदि पुस्तकें बनाने, वितरण कराने से प्रचार माना जाय, तब तो साठ वर्ष पहिले न तो इतनी पुस्तके थी और ना ही प्रचार में आयी, जितनी भरमार आज है। इसके अनुसार तो तब से आज आचार की स्थिति सैकड़ों गुना श्रेष्ठ होनी चाहिए, जब मात्र बालबोध, छहढाला आदि जैसी चन्द पुस्तकें ही उपलब्ध थी। फलतः हम तो विद्वानों, त्यागियो और आगमों की रक्षा मे प्रचार देखते हैं। क्या, हम ऐसा मान लें कि "तीन रतन जग मांहि" में अब वीतराग देव हैं नहीं, और सजीव गुरुओ के सुधार पर हमारा वश नहीं—**हम भयभीत या कायर है।** तब अजीव आगमरूपी रत्न को हम मनमर्जी से छिन्न-भिन्न कर डालें—उनकी मनमानी व्याख्याएँ करें। हमारी दृष्टि से तो मूल आगम को अक्षुण्ण रख, उनके शब्दार्थ किये जाएँ और गलत रिकार्ड से बचाव के लिए उनकी मौखिक व्याख्याएँ ही की जायें। हमारी समझ में व्याख्याओं में भ्रान्ति हो सकती है। ये कोई तुक नहीं कि आगम-भाषा को लोग नहीं समझते। यदि नहीं समझते, तो समाज को उस भाषाके ज्ञाता तैयार करने चाहिए—भला

जो समाज बनावट-दिखावटमें पैसोंको पानीकी तरह बहाता हो—क्या वह कुछ आचारवान विद्वानों के तैयार करने में उसे नहीं लगा सकता? क्या वह नई-नई सस्ती किताबों को छपाकर प्रचार करने मे आगम और धर्म की रक्षा मानता है? यदि ऐसा होता रहा तो धर्म प्रभाव का सर्वथा लोप ही समझिए। यह धर्म किन्ही इधर-उधर झांकने वालों का नही, यह तो त्यागियो-व्रतियों और आगम ज्ञाताओ क्रियावानों का धर्म है, जो उन्ही के सहारे कायम रहा है और कायम रह सकता है। यह समाज को समझना है कि इसे कैसे कायम रखा जाय?

अपनी बात और क्षमायाचन :

'अनेकान्त'की ४४वें वर्ष की अन्तिम किरण पाठको को देते हुए हमे सन्तोष हो रहा है कि उनके और लेखको के सहयोग से हम 'अनेकान्त' देते रहने मे समर्थ रहे। सस्था के अधिकारियों का पूरा योग रहा। हम सभी के आभारी हैं।

पाठकों को विदित हो कि हम 'अनेकान्त' पत्रिका में विभिन्न-शीर्षकों द्वारा जितना हम जानते हैं—संस्था की रीति-नीति, जन मान्य-आचार-विचार और सिद्धान्त संबंधी वास्तविक शोधो को देने का भरसक प्रयत्न करते रहे हैं। हमारा लक्ष्य अन्य शोधो के साथ समाज में जनाचार-पालन और सिद्धान्त-ज्ञान के प्रति व्याप्त उपेक्षाभाव का निरसन भी रहा है। हमारा दृढ़ निश्चय है कि जैनधर्म व्यावहारिक और निश्चय दोनो रूपों में स्व-पर शोध का धर्म है और इसमे मुख्यता स्व-शोध की ही है—मात्र जड-शोधो की नही। जब कि आज जैनियों में भी मात्र जड़-शोधें व्याप्त हो गई हैं और जिसका फल स्पष्ट समक्ष है—आचार-विचार और धर्म-ज्ञान में गिरावट। हम स्मरण करा दें कि संस्था की स्थापना मे एक उद्देश्य यह भी रहा है—

"ऐसी सेवा बजाना जिससे जैनधर्म का समीचीनरूप, उसके आचार-विचारों की महत्ता, तत्त्वों का रहस्य और सिद्धान्तों की उपयोगिता सर्व साधारण को मालुम पड़े—उसके हृदय पर अंकित हो जाय—और वे जैनधर्म की मूल बातों, उसकी विशेषताओ तथा उदार नीति से भले प्रकार परिचित होकर अपनी भूल को सुधार सकें।"

पत्रिका-संचालन के समय प्रकाशित हुआ अनेकान्त की स्थापना का उद्देश्य :—"जैन समाज में एक अच्छे साहित्यिक तथा ऐतिहासिक पत्र की जरूरत बराबर महसूस हो रही है और सिद्धान्त विषयक पत्र की जरूरत तो उससे भी पहिले से चली आती है। इन दोनों जरूरतों को ध्यान में रखते हुए समन्तभद्राश्रम (वीर सेवा मन्दिर) ने अपनी उद्देश्य सिद्धि और लोकहित साधना के लिए सबसे पहिले 'अनेकान्त' नामक पत्र को निकालने का महत्त्वपूर्ण कार्य अपने हाथ में लिया है।"

चूंकि पत्रिका अपने ४४ वर्ष पूर्ण कर रही है और संपादक का कर्तव्य है कि वह सम्पादन मे जान-अजान या अज्ञानतावश हुई भूलो पर पाठको से क्षमा याचना करे—हालां कि हमारी अल्पबुद्धि से हम उचित ही लिखते रहे हैं और प्रबुद्धजनों ने उसे सराहा भी है।

वैसे तो हमारे केश, जैन आगम-पठन और समाज मे ही श्वेत हुए हैं ऐसे में यदि कोई श्याम केश, चिंतनक्षेत्र मे हमारी अवमानना भी करे तो वह हमें हमारी परम्परा तक पहुंचाने मे हमारा सहकारी ही होगा। क्योंकि अपमानित होना तो निरीह विद्वानो की परम्परा रही है—हम बुरा न मानेंगे। हाँ, ऐसे मे भी हमें अनुभव मे आई यह बात फिर भी कचोटती रहेगी कि समाज मे सयम के शिथिलाचार का मर्ज हद पार कर, बेहद हो चुका है। फलत: बिहारी का दोहा चरितार्थ होने जा रहा है—

"रे गन्धी मति अन्ध तू अतर दिखावत काहि।"

फिर भी दया-पात्रों से भी दया याचना के साथ हमारी बुढ़ापे की नम-आखे नेताओं, थोथे नारेबाजों और धर्म-धुरन्धर बनने वालों की ओर निहार रही हैं कि वे समझें—सही रास्ते में आएं—जैनाचार और मूल-आगमों की रक्षा और विद्वानों की बढ़वारी करें। वरना, हम तो मिट जाएँगे और धर्मह्रास का पाप उनके ही माथों पर होगा।

अगर अब भी न सँभले तो, मिट जाओगे जमाने से।
तुम्हारी दास्तां तक भी न होगी दास्तानों में ॥'

"हमने क्या खोया क्या पाया"

आज अकस्मात मुझे अपना बचपन याद आ गया जब मैं जैन पाठशाला में पढ़ता था। और स्कूल के नियमानुसार धर्म की परीक्षा से उत्तीर्ण होना अनिवार्य था। छहढाला, रत्नकरंड श्रावकाचार व मोक्षशास्त्र तो छठीं-सातवीं व आठवीं कक्षा मे ही पढ़ लिए थे।

जैनियों की पहिचान के तीन मुख्य चिन्ह है :—

(१) नित्य देवदर्शन।

(२) पानी छान कर पीना।

(३) रात्री भोजन का त्याग।

गर्मी में प्यास लगती, जिस स्थान या दुकान पर लोटे पर छनना लगा होना, निश्चिन्त होकर जल पी लेते सन्तोष रहना शुद्धता का। आज तीनो चिन्ह प्राय: लुप्त हो है। पानी छानकर पीना तो जैनी भूल ही गये है। रात्री मे भोजन युवक और वृद्ध सब के लिए अनिवार्य-सा हो गया है विवाह आदि मे स्पष्ट देख सकते है। ज्यादा वैभवशाली व ऐश्वर्यपूर्ण विवाहो मे तो कही-कही मदिरा अभक्ष भी चलने लगा है। देव दर्शन न होकर मात्र भिक्षुकवृती होती जा रही है। शायद भगवान हमसे प्रसन्न होकर हमे धन-दौलत, लौकिक ऐश्वर्य प्रदान कर दे और हमारे परिग्रह व सांसारिक सुख मे बढ़ोतरी हो जाए, पुत्र पौत्र की प्राप्ति हो जाए। यद्यपि यह सब पूर्व संचित पुण्य के योग से ही प्राप्त होते है। पाप का उदय हो तो अभाव के ही दर्शन होते है।

पुण्य के विषय में निम्न बाते विचाराधीन है :—

(१) पुण्यानुबंधी पुण्य—पुण्य के उदयकाल मे समस्त अनुकूलता धन-सम्पत्ति, वैभव, सन्तान सुख, समाज म मान्यता प्राप्त होने पर भी निरन्तर देव पूजा, गुरू उपासना, दीन-दुखियों की सेवा, चारो प्रकार के दान, सत-समागम, शुद्ध आचरण, श्रुत अभ्यास, आत्म-साधना द्वारा आत्मोन्नति करना, अपने आचरण से दूसरो को धर्म मार्ग की ओर प्रभावित करना यह सब कार्य पुण्य के उदय मे नवीन पुण्य संचयकर उज्ज्वल भविष्य प्रदान करते है और धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरुषार्थ की सिद्धि करते हैं।

(२) पापानुबंधी पुण्य—जिसके उदय में पूर्व संचित पुण्य के कारण समस्त अनुकूलताएँ धन ऐश्वर्य प्राप्त है। फिर भी क्रोध, मान, मायाचारी और लोभ के वशीभूत पाँच इन्द्रियों के भोगो में लिप्त प्राणी धर्म से विमुख आत्म-कल्याण से रहित कार्यों में अग्रसर होकर भविष्य को अंधकारमय बनाता है जैसा आज प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहा है। बाहर धार्मिकता का दिखावा है। अंतरग मे आचार विहीनता, अभक्ष भक्षण आदि धर्म विमुख कार्यों से निरन्तर शासन की अप्रभावना कर पाप बंधकरता है और अपने भविष्य को अंधकारमय बनाता है।

(३) पुण्यानुबंधी पाप—पाप के उदय मे कोई अनुकलता प्राप्त नही, जीवनयापन भी दुष्कर है। फिर भी सन्तोष पूर्वक अपने कर्म का उदय जान शान्ति पूर्वक जीवन चलाता है। धर्म मार्ग से विचलित नही होता शासन की अप्रभावना अवहेलना भूल कर भी नही करता सबसे प्रेम का बर्ताव करता है। आत्मकल्याण में निरन्तर लगा रहता है इस प्रकार प्रतिकूलता मे ही आगामी भविष्य उज्ज्वल बनाता है।

(४) पापानुबंधी पाप—आज भी पाप का उदय दुखी कर रहा है। आगामी मे भी क्रोध की आग मे जल रहा है। धर्म मे विमुख होकर पापकार्य मे लगा है। ऐसे जीव को शान्ति सुख के दर्शन होने सम्भव ही नही है। वह अनंत काल कुगति मे दुख भोगता है अनंत संसारी होता है।

जरा हम भी विचारें कि हम किस श्रेणी मे चल रहे हैं। क्या हमारा जीवन जैसा हम प्रदर्शित कर रहे हैं वैसा ही है। क्या हममे जैनत्व (जीतने वालों) के चिन्ह हैं क्या हम भगवान जिनेन्द्र देव की आज्ञानुसार शासन की प्रभावना कर रहे हैं क्या हम अपना आगामी मार्ग प्रशस्त व कल्याणकारी बना रहे हैं। कही ऐसा तो नही हमारे दैनिक चर्या खान-पान रहन-सहन अतिथि सत्कार धार्मिक क्रिया द्वारा हमें देखने वाले हमारे विषय मे गलत धारणा बना कर जिनेन्द्र देव के शासन की निन्दा करें और हम अपने तीर्थंकरों के प्रशस्त मार्ग पर दोषारोपण के कारण बन जाये। जिन शासन की प्रभावना को धूमिल कर अपने आप को अयोग्य पुत्र साबित करे, जरा सोचने का विषय है।

—श्री प्रेमचन्द जैन

७/३२, दरियागंज, नई दिल्ली

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। ५५ ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५-००

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ७-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : स० पं० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, सात विषयों पर शास्त्रीय तर्कपूर्ण विवेचन २-००

Jaina Bibliography : Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References.) In two Vol.

Volume I contains 1 to 1044 pages, volume II contains 1045 to 1918 pages size crown octavo.

Huge cost is involved in its publication. But in order to provide it to each library, its library edition is made available only in 600/- for one set of 2 volume. 600-00

सम्पादन परामर्शदाता : **श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन,** सम्पादक : **श्री पद्मचन्द्र शास्त्री**

प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीरसेवामन्दिर के लिए मुद्रित, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५३

प्रिन्टेड

पत्रिका बुक-पैकिट

वीर सेवा मन्दिरका त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ४५ : कि० १ जनवरी-मार्च १९९२

इस अंक में—

प्रकाशक :

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

पूज्य बड़े वर्णीजी का एक प्रवचन

संसार भर की दशा बड़ी विचित्र है। कल का करोड़पति आज भीख मांगता फिरता है। संसारी जीव मोह के कारण अन्धा होकर निरन्तर ऐसे काम करता है जिससे उसका दुःख ही बढ़ता है। यह जीव अपने हाथों अपने कन्धे पर कुल्हाड़ी मार रहा है। यह जितने भी काम करता है प्रतिकूल ही करता है। संसार की जो दशा है, यदि चतुर्थकाल होता तो उसे देखकर हजारों आदमी दीक्षा ले लेते। पर यहाँ कुछ परवाह नहीं है। चिकना घड़ा है जिस पर पानी की बूंद ठहरती ही नहीं। भय्या ! मोह को छोड़ो, रागादि भावों को छोड़ो, यही तुम्हारे शत्रु है, इनसे बचो। वस्तुतत्त्व की यथार्थता को समझो। श्रद्धा को दृढ़ राखो। धनंजय सेठ के लड़के को सांप ने काट लिया, बेसुध हो गया। लोगों ने कहा—वैद्य आदि को बुलाओ, उन्होंने कहा वैद्यों से क्या होगा ? दवाओं से होगा ? मंत्र-तंत्रों से क्या होगा ? एक जिनेन्द्र का शरण ही ग्रहण करना चाहिए। मन्दिर में लड़के को ले जाकर सेठ स्तुति करता है :-

"विषापहारं मणिमौषधानि मन्त्रं समुद्दिश्य रसायनं च।
भ्राम्यन्त्यहो न त्वमिति स्मरन्ति पर्यायनामानि तवैव तानि ॥"

इस श्लोक के पढ़ते ही लड़का अच्छा हो गया। लोग यह न समझने लगें कि—धनंजय ने किसी वस्तु की आकांक्षा से स्तोत्र बनाया था, इसलिए वह स्तोत्र के अन्त में कहते हैं :—

"इति स्तुतिं देव ! विधाय दैन्याद्वरं न याचे त्वमुपेक्षकोऽसि।
छाया तरुं संश्रयतः स्वतः स्यात्कश्छायया याचितयात्मलाभः ॥"

हे देव ! आपका स्तवन कर बदले में मैं कुछ चाहता नहीं हूँ और चाहूँ भी तो आप दे क्या सकते है ? क्योंकि आप उपेक्षक है—आपके मन में यह विकल्प ही नहीं कि यह मेरा भक्त है इसलिए इसे कुछ देना चाहिए। फिर भी यदि मेरा भाग्य होगा तो मेरी प्रार्थना और आपकी इच्छा के बिना ही मुझे प्राप्त हो जायगा। छायादार वृक्ष के नीचे पहुंचकर छाया स्वयं प्राप्त हो जाती है। आपके आश्रय में जो आयेगा उसका कल्याण अवश्य होगा। आपके आश्रय से अभिप्राय शुद्ध होता है अभिप्राय की शुद्धता से पापास्रव रुककर शुभास्रव होने लगते है। वह शुभास्रव ही कल्याण का कारण है।

देखो ! छाया किसकी है ? आप कहोगे वृक्ष की, पर वृक्ष तो अपने ठिकाने पर है। वृक्ष के निमित्त से सूर्य की किरणें रुक गयीं, अतः पृथिवी में वैसा परिणमन हो गया, इसी प्रकार कारणकूट मिलने पर आत्मा में रागादि भावरूप परिणमन हो जाता है। जिस प्रकार छायारूप होना आत्मा का निजस्वभाव नहीं है। यही श्रद्धान होना तो शुद्धात्मश्रद्धान है—सम्यग्दर्शन है।

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०
वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे
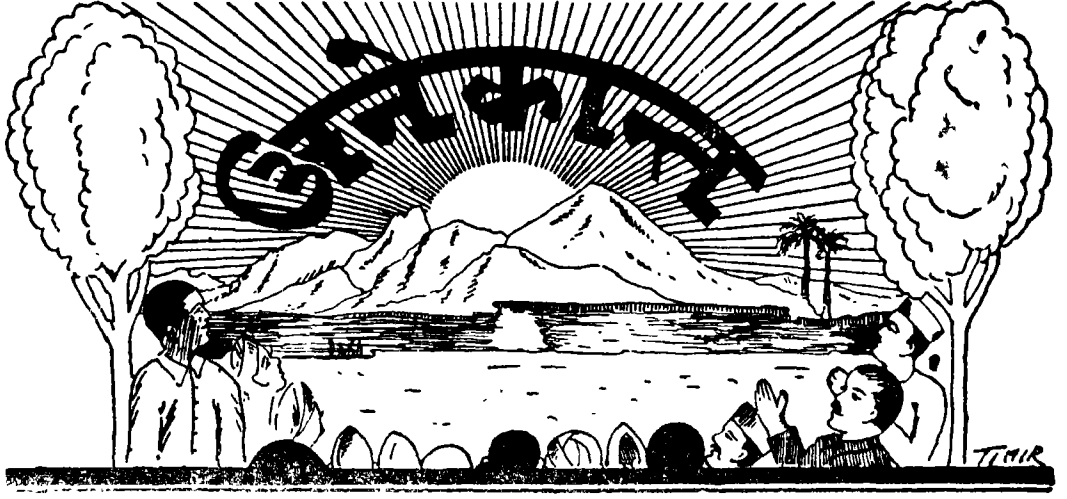
परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वर्ष ४५ किरण १ } वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ वीर-निर्वाण सवत् २५१६, वि० सं० २०४६ { जनवरी-मार्च १९९२

परम दिगम्बर-गुरु

बसत उर गुरु निरग्रंथ हमारे ।
प्रजलो ध्यान अगिनि जिनके घट विकट मदन वन जारे ।
तजि चौबीस प्रकार परिग्रह पंच महाव्रत धारे ।
पंच समिति गुपति तीन नयायुत त्रस थावर रखवारे ।
शुद्धोपयोग योग परिपूरन अधरम चूरन हारे ।
रत्नत्रय मण्डित तप संजम सहित दिगम्बर धारे ।
भूख तृषादिक सहत परीषह तीन भवन उजियारे ।
मन वच काय निरोध सोधि तिन भवभ्रम सब तजि डारे ।
स्व पर दया सुख सिंधु गुनाकर सील धुरंधर धारे ।
'देवियदास' गह्यो तिनकौ पथ तिन्हि तिन्हि तें सब तारे ।।

गतांक से आगे :

कर्नाटक में जैन धर्म

□ श्री राजमल जैन, जनकपुरी, दिल्ली

आजकल की हम्पा में लगभग २६ कि. मी. के घेरे में बिखरे पड़े जैन-अजैन स्मारकों, महलों और साथ ही बहने वाली तुंगभद्रा का परिचय इसी पुस्तक में दिया गया है। वहीं इस स्थान का रामायण काल से इतिहास प्रारंभ कर विजयनगर साम्राज्य का इतिहास और जैनधर्म के प्रति बिजयनगर शासकों का दृष्टिकोण, उनके सेनापतियो आदि द्वारा विजयनगर मे ही कुन्थुनाथ चैत्यालय (आधुनिक नाम गणगित्ति बसदि) आदि मन्दिरो के निर्माण का उल्लेख किया गया है। इस वश के द्वितीय नरेश बुक्काराय प्रथम (१३६५-७७ ई.) ने जैनों (भव्यों) और वैष्णवो (भक्तो) के बीच जिस ढंग से विवाद निपटाया उसका सूचक शिलालेख कर्नाटक के धार्मिक एवं राजनीतिक इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है। उसमे श्रवणबेलगोल की रक्षा और जीर्णोद्धार आदि की भी व्यवस्था की गई थी। आगे चलकर शासक देवराय की पत्नी ने श्रवणबेलगोल मे 'मंगायीवसदि' का निर्माण कराया था। संगम राजा देवराय द्वितीय (१४१९-४६ ई.) तो कारकल मे गोमटेश्वर की ४१ फुट ५ इच ऊची प्रतिमा के प्रतिष्ठा-महोत्सव मे सम्मिलित हुआ था। विजयनगर में इस वंश से पहले भी जैन मन्दिर थे, खुदाई मे दो मन्दिर और भी निकले बताए जाते हैं। स्वय इस कुल के राम मन्दिर मे तीर्थंकर प्रतिमाएँ उत्कीर्ण हैं। यह ठीक है कि यह वंश जैन नही था किन्तु इसके परिवार के कुछ सदस्य जिनधर्मावलम्बी, उसके प्रति उदार, सहिष्णु और पोषक थे इसमे सन्देह नही। मन्त्री, सेनापति मे से कुछ जैन थे और उन्होंने जैन मन्दिरों का निर्माण या जीर्णोद्धार कराया था। राजा देवराज द्वितीय (१४१९-४६ ई.) के सम्बन्ध मे यह उल्लेख मिलता है कि उसने विजयनगर के 'पान-सुपारी' बाजार मे एक चैत्यालय बनवाकर उसमे पार्श्वनाथ की प्रतिमा विराजमान की थी।

उपर्युक्त वंश का सबसे प्रसिद्ध नरेश कृष्ण देवराय (१५०९-३९ ई.) हुआ है जो कि रणवीर होने के साथ ही साथ धर्मवीर भी था। उसने बल्लारी जिले के एक जिनालय को दान दिया था और मूडबिद्री की गुरु बसदि के लिए भी स्थायी वृत्ति भी दी थी। एक शिलालेख में उसने स्याद्वादमत और जिनेन्द्र भगवान को नमस्कार करने के साथ ही वराह को भी नमस्कार किया है।

कालान्तर मे इस वंश का राज्य भी मुसलमानों के सम्मिलित आक्रमण का शिकार हुआ। राजधानी विजयनगर पांच माह तक लूटी और जलाई गई। अनेक मन्दिर मूर्तियां नष्ट हो गए। विजयनगर के विध्वंस के बाद भी इसके वंशज चन्द्रगिरि से १४६५ ई. से १६८४ ई. तक राज्य करते रहे। उनके समय मे भी हेग्गरे की वसदि, मूत्तर की अनन्तजिन बसदि और मलेयूर की पार्श्वनाथ बसदि का निर्माण या जीर्णोद्धार इन राजाओं के उपशासको या महालेखाकार आदि ने करवाया था।

विजयनगर के (हम्पी) के जैन स्मारकों, जैनधर्म के इस क्षेत्र का प्राचीन इतिहास और विजयनगर शासकों, उनके सेनापतियों आदि का जैनधर्म से सम्बन्ध आदि विवरण के लिए इसी पुस्तक मे 'हम्पी' देखिए।

मैसूर का ओडेयर राजवंश :

कर्नाटक पर शासन करने वाले राजवंशो में अन्तिम एवं सुविदित नाम ओडेयर राजवश का है। आधुनिक मैसूर (प्राचीन महिशूर, मैसूरपट्टन) इस वंश की राजधानी रही। इतिहासकारो का मत है कि यह वंश भी उस गगवंश की ही एक शाखा है जो जैनधर्म के अनुयायी के रूप मे कर्नाटक के इतिहास में प्रसिद्ध है। कालान्तर में इस वश ने अन्य धर्म स्वीकार कर लिया किन्तु इसके शासको ने श्रवणबेलगोल को हमेशा आदर की दृष्टि से देखा और उसका सरक्षक बना रहा। स्वतन्त्रता-पूर्व तक

वे महामस्तकाभिषेक में सम्मिलित होते रहे।

ओडेयर वंश से सम्बन्धित सबसे प्राचीन शिलालेख १६३४ ई. का है। उसमे उल्लेख है कि जिन महाजनों ने श्रवणबेलगोल की जमीन-सम्पत्ति गिरवी रख ली थी, उसे तत्कालीन मैसूरनरेश चामराज ओडेयर ने स्वयं कर्ज चुका कर छुड़ाने की घोषणा की। इस पर महाजनो ने भूमि आदि कर्ज से स्वय मुक्त कर दी। इस पर नरेश ने शिलालेख लिखवाया कि जो कोई भी इस क्षेत्र की जमीन गिरवी आदि रखने का कार्य करेगा वह महापाप का भागी होगा और समाज से बहिष्कृत माना जायगा।

'मुनिवंशाभ्युदय' नामक एक कन्नड़ काव्य मे वर्णन है कि मैसूरनरेश चामराज श्रवणबेलगोल पधारे और उन्होने गोम्मटेश्वर के दर्शन किए। उन्होने चामुण्डराय से सम्बन्धित लेख पढवाए, वे सिद्धर बसदि गए और उन्होंने कर्नाटक के जैनाचार्यों की परम्परागत वंशावली सुनी और पूछा कि आधुनिक कहां हैं। जब उन्होने यह जाना कि चन्नरायपट्टन के सामन्त के अत्याचारो के कारण गोम्मटेश्वर की पूजा बन्द कर गुरु भल्लातकीपुर (आजकल के गेरुसोप्पे) चले गए है तो उन्होंने सम्मानपूर्वक गुरु (भट्टारक जी) को श्रवणबेलगोल बुलवाने का प्रबन्ध किया और दान देने का वचन दिया। उन्होंने किया भी वैसा ही और चन्नरायपट्टन के सामन्त को हराकर पदच्युत कर दिया।

शिलालेख है कि चिक्कदेवराज ओडेयर ने कल्याणी सरोवर का निर्माण या जीर्णोद्धार करवाया था तथा उसका परकोटा बनवाया था। उन्होने १६७४ ई. मे जैन साधुओ के आहार के लिए भट्टारक जी को मदने नामक गांव भी दान मे दिया था।

उपर्युक्त नरेश के उत्तराधिकारी कृष्णराज ओडेयर ने श्रवणबेलगोल के भट्टारक जी को अनेक सनदे दी थी जो उनके वंशजो द्वारा मान्य की गयी। उनमें ३३ मंदिरों के व्यय एवं जीर्णोद्धार के लिए तीन गांव दान में दिए जाने का उल्लेख है।

मैसूरनरेश कृष्णराज ओडेयर चतुर्थ भी श्रवणबेलगोल आए थे और उन्होने नवम्बर १९०० ई. मे अपने आगमन के उपलक्ष्य मे अपना नाम चन्द्रगिरि पर खुदवा दिया था जो अभी भी अंकित है।

मैसूर नरेशों की गोम्मटेश्वर-भक्ति का विशेष परिचय अनेक पुस्तकों में उपलब्ध है।

टीपू सुल्तान :

हैदर अली और टीपू सुल्तान ने भी अपनी राजधानी श्रीरंगपट्टन से राज किया। उन्होंने श्रवणबेलगोल के मन्दिरों और गोम्मटेश्वर की मूर्ति को हानि नही पहुंचाई। टीपू सुल्तान ने तो गोम्मटेश्वर को नमन भी किया था।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद :

मैसूर के ओडेयर वंश की सत्ता समाप्त होकर प्रजातान्त्रिक कर्नाटक सरकार बनी। उसके मुख्यमन्त्रियों सर्वश्री निजलिंगप्पा, देवराज अर्स और श्री गुण्डुराव ने गोम्मटेश्वर के महामस्तकाभिषेक आदि मे जो सहर्ष सहयोग दिया वह स्मरणीय है। एक हजार वर्ष पूर्व होने पर तो भारत की प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाधी ने भी महामस्तकाभिषेक के अवसर पर गोमटेश के प्रति अपने श्रद्धा-सुमन अर्पित किए थे।

वर्तमान मे भारत सरकार का पुरातत्त्व विभाग और कर्नाटक सरकार का पुरातत्त्व विभाग, धारवाड़ विश्वविद्यालय कर्नाटक के जैन स्मारकों मे वैज्ञानिक ढग से सहर्ष सक्रिय सहयोग प्रदान कर रहे है। कुछ स्मारक, प्राचीन मूर्तियां, शिलालेख आदि तो इन्ही के कारण सुरक्षित रह गए हैं। ये सभी संस्थान जैन समाज की विपुलप्रशंसा के पात्र है।

कर्नाटक के छोटे राजवंश :

कर्नाटक में पृथक् राजा या सामन्त आदि के रूप मे और भी अनेक धर्मानुयायी वंश रहे हैं जो थे तो छोटे किन्तु धार्मिक प्रभाव के उनके कार्य बहुत बड़े थे (जैसे कारकल का राजवंश, हुमचा का सान्तर राजकुल आदि)। इनका भी संक्षिप्त परिचय यहां दिया जा रहा है।

सेन्द्रक वंश :

नागरखण्ड या वनवासि के एक भाग पर शासन करने वाले इस वंश का बहुत कम परिचय शिलालेखों से मिलता है। ये पहले कदम्ब शासको के और बाद मे चालुक्यों के सामन्त हो गए। जैन धर्मपालक इस वंश के सामन्त भानुशक्ति राजा ने कदम्बराज हरिवर्मा से जिनमन्दिर की

पूजा के लिए दान दिलवाया था। इसी प्रकार इस वंश के द्वारा एक जैन मन्दिर के निर्माण और पुलिगेरे (लक्ष्मेश्वर) के शंख जिनालय के लिए भूमिदान का भी उल्लेख मिलता है।

सान्तर वंश :

जैनधर्म के परमपालक इस वश का मूलपुरुष उत्तर भारत से आया था। वह भगवान पार्श्वनाथ के उरगवंश में उत्पन्न हुआ था। उसकी कुलदेवी पद्मावती देवी थी जो कि पार्श्व प्रभु की यक्षिणी है। इस देवी की अतिशय मान्यता आज भी हुमचा मे एक लोक-विश्वास और पूजनीयता में अग्रणी है। इस वंश की राजधानी पोम्बुर्च्चपुर (शिलालेखो में नाम) थी जो घिसते-घिसते हुमचा (हुचा) हो गई है। वहां पद्मावती का मन्दिर दर्शनीय है। राजमहल के अवशेष भी हैं। यह स्थान उत्तर भारत के महावीरजी या राजस्थान के तिजारा जैसा लोकप्रिय है।

सान्तरवंश का प्रथम राजा जिनदत्तराय था। उसी ने कनकपुर या पोम्बुर्च्चपुर (हुमचा) मे इस वश की नीव पद्मावती देवी की कृपा से डाली थी। इस वश द्वारा बनवाए गए जैन मन्दिरो, दान आदि का विस्तृत परिचय 'हुमचा' के प्रसग मे दिया गया है। पाठक कृपया उसे अवश्य पढ़े। इस वश की स्थापना की उपन्यास जैसी कहानी भी वहाँ दी गई है।

सान्तर वंश की एक शाखा ने कारकल में भी राज्य किया। इसी जिनदत्तराय के वशज भैरव पुत्र वीर पाड्य ने कारकल में बाहुबली की लगभग ४२ फुट ऊँची (४० फुट ५ इच ऊंची) प्रतिमा कुछ किलोमीटर दूर से किस प्रकार लाकर सन् १४३२ ई. मे स्थापित की थी, इसका रोमांचक विवरण इस राजवश के शासको सहित कारकल के प्रसंग मे इसी पुस्तक मे दिया गया है। इस प्रतिमा के दर्शनों के लिए आज भी यात्री वहा जाते है और इस प्रतिमा को तथा वहां की चतुर्मुख बसदि को देखकर पुलकित हो उठते है। दोनो ही छोटी वृक्षहीन सरल पहाड़ियों पर हैं। यह स्थान मूडबिद्री से बहुत पास है।

कर्नाटक मे सान्तर राजवंश ने जैनधर्म की जो ठोस नीव डाली वह भुलाई नही जा सकती। श्रवणबेलगोल की गोम्मटेश्वर प्रतिमा के बाद दूसरे नम्बर की बाहुबली प्रतिमा इसी सान्तर वंश की देन है। जिनदत्तराय ने अपना राज्य राज्य लगभग ८०० ई. मे स्थापित किया था। कारकल मे इस वंश ने लगभग १६०० ई. तक राज्य किया।

रट्ट राजवंश :

शिलालेखों से ही ज्ञात होता है कि इस वश का प्रथम पुरुष पृथ्वीराम था जो कि मैलपतीर्थ के कारेयगण के गुणकीर्ति मुनि के शिष्य इन्द्रकीर्ति स्वामी का शिष्य था। उनकी राजधानी आधुनिक सौन्दत्ति (प्राचीन नाम सुगन्धवर्ति) था। इस वश ने राष्ट्रकूट वश की अधीनता मे लगभग ६७८ ई. से १२२६ ई. तक शासन किया। उसने तथा उसके वशजो ने सौन्दत्ति में जिन मन्दिरो का निर्माण कराया। मुनियो के आहार आदि के लिए दान तथा मन्दिरो की आय के लिए कुछ गांव समर्पित कर दिए थे।

इस वंश के एक शासक लक्ष्मीदेव ने १२२६ ई. में अपने गुरु मुनि चन्द्रदेव की आज्ञा मे मल्लिनाथ मन्दिर का निर्माण कराके विविध दान दिए थे। डा० ज्योतिप्रसाद के अनुसार, 'मुनि चन्द्रदेव राजा के धर्मगुरु ही नही, शिक्षक और राजनीतिक पथ-प्रदर्शक भी थे। उन्ही की देख-रेख मे शासन-कार्य चलता था। स्वय राजा लक्ष्मीदेव ने उन्हें रट्ट राज्य संस्थापक-आचार्य उपाधि दी थी। कहा जाता है कि सकटकाल में उन्होने प्रधानमन्त्री का पद ग्रहण कर लिया था और राज्य के शत्रुओं का दमन करने के लिए शस्त्र भी धारण किए थे। सकट निवृत्ति के उपरान्त वह फिर से साधु हो गए थे। वह काणूरगण के आचार्य थे।"

गंगधारा के चालुक्य :

सुप्रसिद्ध चालुक्य वश की एक शाखा ने गंगधारा (सम्भवतः प्राचीन पुलिगेरे या आधुनिक लक्ष्मेश्वर नगरी या उसका उपनगर) राजधानी मे राष्ट्रकूटों के सामन्त के रूप मे ८०० ई. से शासन किया। दसवीं सदी मे गंगधारा की प्रसिद्धि एक राजधानी के रूप मे थी। इस वश के अरिकेशरी राजा ने कन्नड़ भाषा के महान जैन कवि पम्प को भी आश्रय दिया था। उसके उत्तराधिकारी बद्दिग द्वितीय के शासनकाल में ही प्रसिद्ध जैनाचार्य सोमदेव सूरि ने गगधारा मे अपने निवास के समय सुप्रसिद्ध काव्य

'यशस्तिलक चम्पू' तथा प्राचीन भारतीय राजनीति-सिद्धान्त ग्रन्थ के रूप में प्रसिद्ध 'नीतिवाक्यामृत' की रचना कौटिल्य के अर्थशास्त्र की सूत्र-शैली में की थी। प्राचीन भारतीय राजनीतिक सिद्धान्तों के अध्ययन के सिलसिले मे आज भी यह ग्रन्थ विश्वविद्यालयों मे पठित-संदर्भित किया जाता है। उपर्युक्त राजा ने ही लक्ष्मेश्वर मे 'गंग-कन्दर्प' जिनालय का निर्माण कराया था। इस वश के राजा जैन-धर्म के अनुयायी रहे।

कोंगाल्व वंश :

इस राजवश ने कर्नाटक के वर्तमान कुर्ग और हासन जिलो के बीच के क्षेत्र पर, जो कि कावेरी और हेमवती नदियों के बीच था, शासन किया। उस समय यह प्रदेश कोंगलनाड कहलाता था। इस वश का सम्बन्ध प्रसिद्ध चोलवश से जान पडता है। सम्राट् राजेन्द्र चोल ने इसके पूर्वपुरुष को अपना सामन्त नियुक्त किया था। यह वश ग्यारहवी सदी मे अवश्य विद्यमान था (शिलालेख बहुत कम मिले है) और जैनधर्म का अनुयायी था। सोमवार ग्राम मे पुरानी बसदि एक पाषाण पर लगभग १०८० ई. के शिलालेख से विदित होता है कि राजेन्द्र पृथ्वी कोंगाल्व नामक इस वश के राजा ने 'अदटरादित्य' नामक चैत्यालय का निर्माण अपने गुरु मूलसघ, कानूरगण, तगरिगळ गच्छ के गण्डविमुक्तिदेव के लिए कराया था और पूजा-अर्चना के लिए दान दिया था। आचार्य प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेव का वह बडा आदर करता था और उसने अपने शिलालेख के प्रारम्भ में उनकी बड़ी प्रशसा की है। लेख मे यह भी उल्लेख है कि उसके शिलालेख की रचना चार भाषाओ के ज्ञाता सन्धिविग्रहक नकुलार्य ने की थी। इस राजा ने अपने को 'ओरेयुपुरवराधीश्वर' तथा 'सूर्यवशी-महामण्ड-लेश्वर' कहा है।

कुछ इतिहासकारों का मत है कि यह वंश चौदहवीं शताब्दी या उसके बाद तक शासन करता रहा और अन्त तक जैनधर्म का अनुयायी बना रहा। जो भी हो, इस वश के सम्बन्ध मे अधिक जानकारी प्राप्त नहीं है।

चंगाल्व वंश :

इस वंश का शासन कर्नाटक के चगनाडु (आधुनिक हुणसूर तालुक) में था, जो कि आगे चलकर पश्चिम-मैसूर और कुर्ग जिलों तक फैल गया। इस वंश से सम्बन्धित अधिकांश शिलालेख ग्यारहवी-बारहवी सदी के हैं। किन्तु पन्द्रहवीं शताब्दी में भी यह वश अस्तित्व मे था। ये चोल एव होयसल नरेशो के सामन्त प्रतीत होते हैं। इस वंश के अधिकांश राजा शैव मत को मानते थे किन्तु ११-१२वी सदी में ये जिनभक्त थे।

उपर्युक्त वश का सबसे प्रसिद्ध राजा वीरराजेन्द्र चोल नन्नि चगाल्व ने चिक्क हनसोगे नामक स्थान पर देशीगण पुस्तकगच्छ के लिए जिनमन्दिर का निर्माण लगभग १०६० ई मे कराया था। उसी स्थान की एक बसदि का उसने जीर्णोद्धार कराया था जिसके सम्बन्ध में यह प्रसिद्धि थी कि उसका निर्माण श्री रामचन्द्र ने करवाया था। सन् १०८० ई. के एक शिलालेख से, जो कि हनसोगे की बसदि मे नवरग-मडप के द्वार पर उत्कीर्ण है, यह प्रतीत होता है कि इस चगाल्व तीर्थ मे आदीश्वर, नेमीश्वर आदि जिनमन्दिर थे जो भट्टारक या मुनियो के सरक्षण में थे एव चंगाल्व नरेश ने उनका जीर्णोद्धार कराया था।

चगाल्व नरेश मरियपेग्गडे पिल्दुवय्य ने 'पिल्दुवि-ईश्वरदेव' नामक एक बसदि का निर्माण १०९१ ई. के लगभग कराया था। मुनियों को भी आहार दान दिया था।

श्रवणबेलगोल के १५१० ई. के एक शिलालेख से यह भी ज्ञात होता है कि इस वश के एक नरेश के मन्त्री-पुत्र ने गोम्मटेश्वर की ऊपरी मजिल का निर्माण कराया था।

निडुगल वंश :

उत्तर मैसूर के कुछ भाग पर राज्य करने वाले इस वश के शासन सम्बन्धी उल्लेख तेरहवीं शताब्दी के प्राप्त होते है। अमरापुर तथा निडुगल्लु बेट्ट (जैन बसदि) के शिलालेखो से ज्ञात होता है कि ये राजा स्वय को चोल-वश के तथा ओरेयुरपुरवराधीश कहते थे।

उपर्युक्त वश के इरुगोल के शासनकाल मे मल्लिसेट्टि ने तैलगेरे बसदि के प्रसन्न पार्श्वनाथ के लिए सुपारी के दो हजार पेडो के हिस्से दान मे दिए थे। इसी राजा के पहाड़ी किले का नाम कालाञ्जन था। उसकी चोटियां ऊंची होने के कारण वह 'निडुगल' कहलाया। उसी के

दक्षिण में गंगेयनमार ने एक पार्श्व जिनालय बनवाया था। अपने इस धर्मप्रेमी गगेयन की प्रार्थना पर राजा इरुंगोल ने पार्श्वनाथ की दैनिक पूजा, आहारदान आदि के लिए भूमि का दान किया था। वहां के किसानों ने भी अखरोट और पान का दान किया था तथा किसानों ने अपने कोल्हुओं से तेल ला-लाकर दान में दिया था।

ऐसा उल्लेख मिलता है कि इस राजा को विष्णुवर्धन ने हराया था।

अलुप वंश :

इसका शासन-क्षेत्र तुलुनाडु (मूडबिद्री के आस पास का क्षेत्र) था। दसवीं सदी मे तौलव देश के प्रमुख जैन-केन्द्र थे मूडबिद्री, गेरुसोप्पा, भटकल, कारकल, सोदे, हाडुहल्लि और होन्नावर। इनमें से कुछ तो अब भी प्रमुख जैन केन्द्र हैं। इस वंश के शासकों ने जैनधर्म को राज्याश्रय भी प्रदान किया था और अनेक जैन बसदियों के लिए दान दिया था। ये राजा १११४ ई. से लगभग १३८४ ई. तक राज्य करते रहे। इस वंश का राजा कुलशेखर-अलुपेन्द्र तृतीय मूडबिद्री के पार्श्वनाथ का परमभक्त था। देखिए 'मूडबिद्री' प्रकरण।

बंगवाडि वंश का वंश :

अलुपवंश के बाद तुलुनाड में इस वंश ने राज्य किया (देखिए 'मूडबिद्री')।

संगीतपुर के सालुव मण्डलेश्वर :

सगीतपुर या हाडुहल्लि (उत्तरी कनारा या कारवाड जिला के समृद्ध नगर में इस वंश ने पन्द्रहवीं शताब्दी मे राज्य किया। महामण्डलेश्वर सालुवेन्द्र भगवान चन्द्रप्रभ का बड़ा भक्त था। उसके मन्त्री ने भी पार्श्वनाथ का एक चैत्यालय पद्माकरपुर में बनवाया था।

चोटर राजवंश :

मूडबिद्री को अपनी राजधानी बनाने वाले इस वंश के राजा १६८० ई. मे स्वतन्त्र हो गए थे। इस वंश ने लगभग ७०० वर्षो तक मूडबिद्री मे राज्य किया। इनके वंशज और इनका महल आज भी मूडबिद्री में विद्यमान हैं। वे जैनधर्म का पालन करते है और शासन से पेंशन पाते हैं। (देखिए 'मूडबिद्री')

भैररस वंश :

कारकल का यह राजवंश हुमचा के परम जिनभक्त राजाओं की एक शाखा ही था। यह वंश जैनधर्म का अनुयायी रहा। इसी वंश के राजा वीरपाण्ड्य ने सन् १४३२ ई. में कारकल मे बाहुबली की ४१ फुट ५ इंच ऊंची प्रतिमा निर्माण कराकर वहां की पहाड़ी पर स्थापित की थी जिसकी आज भी वन्दना की जाती है। इस वंश के विवरण के लिए देखिए 'कारकल' प्रकरण।

अंजिल वंश :

अपने आपको चामुण्डराय का वंशज बताने वाला यह वंश बारहवीं सदी मे उदित हुआ। इसका शासन-क्षेत्र वेणूर था। वेणूर ही इसकी राजधानी रही और इसका प्रदेश तुलुनाडु के अन्तर्गत सम्भवत. पुंजलिके कहलाता था। यह वंश प्रारम्भ से अन्त तक जैनधर्म का अनुयायी रहा। इसी वंश के शासक तिम्मराज ने १६०४ ई. मे वेणूर में बाहुबली की ३५ फुट ऊंची प्रतिमा स्थापित की थी जो आज भी पूजित है। इस वंश के वंशज आज भी विद्यमान हैं और सरकार से पेंशन पाते हैं। (देखिए 'वेणूर' प्रकरण)।

कर्नाटक के उपर्युक्त सक्षिप्त इतिहास पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस राज्य मे जैनधर्म की विद्यमानता एवं मान्यता अत्यन्त प्राचीन है। कम-से-कम महावीर स्वामी के समय मे तो वहां जैनधर्म का प्रचार था जो कि पार्श्वनाथ-परम्परा की ही प्रवाहमान धारा मानी जाए तो कोई बहुत बड़ी ऐतिहासिक आपत्ति नहीं उठ सकती है, क्योंकि पार्श्वनाथ यहां तक कि भगवान नेमिनाथ ऐतिहासिक पुरुष मान लिए गए हैं। इसी प्रकार कर्नाटक के लगभग हर छोटे या बड़े राजवंश ने या तो स्वयं जैनधर्म का पालन किया या उसके प्रति अत्यन्त उदार दृष्टिकोण अपनाया। मध्ययुग की ऐतिहासिक या राजनीतिक परिस्थितियों को देखते हुए भी यह निष्कर्ष अनुचित नहीं होगा कि कर्नाटक मे प्रचुर राज्याश्रय प्राप्त होने के कारण बहुसख्य प्रजा का धर्म भी जैनधर्म रहा होगा।

कर्नाटक
अहिंसा के स्मारकों की भूमि

अत्यन्त प्राचीनकाल से ही कर्नाटक जैनधर्म का प्रमुख केन्द्र रहा है। इस प्रदेश का जो इतिहास श्रुतकेवली भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त मौर्य के आलेखों, विभिन्न मन्दिरों, शिलालेखों आदि से प्राप्त हुआ है उससे इस कथन की पुष्टि होती है। यहां इतने मन्दिर और तीर्थ कालान्तर मे बने या विकसित हुए कि इस भूमि को अहिंसा के स्मारको की भूमि कहना अनुचित नही होगा।

कर्नाटक विभिन्न शैली के मन्दिरो की निर्माणशाला या विकासशाला रहा है। ईसा की प्रारम्भिक सदी मे यहां काष्ठ के जैनमन्दिर निर्मित होते थे। एक कदम्बनरेश ने हलासी (पलाशिका) मे ईसा की पाचवी सदी मे लकड़ी का एक जैनमन्दिर बनवाया था। हुमचा के शिलालेखों में उल्लेख है कि वहां पाषाण मन्दिर बनवाया गया। यह तथ्य यह भी सूचित करता है कि पहले कुछ मन्दिर पाषाण के नही भी होते थे। काष्ठमन्दिरो के अतिरिक्त कर्नाटक म गुफा-मन्दिर भी हैं जो पहाड़ी की चट्टान को काट-काटकर बनाए गए। इस प्रकार के मन्दिर ऐहोल और बादामी मे है। कालान्तर मे पाषाण की काफी चौड़ी मोटी शिलाओ से मन्दिर बनाए जाने लगे। ऐसा एक मन्दिर ऐहोल मे ६३४ ई. मे बना जो इसलिए भी प्रसिद्ध है कि प्राचीन मन्दिरो मे वही एक ऐसा मन्दिर है जिसकी तिथि हमे ज्ञात है। हम्पी (विजयनगर) का गानिगित्ति मन्दिर विशाल शिलाखण्डो से निर्मित मन्दिरो का एक सुन्दर उदाहरण है। तीन मोटी और ऊँची शिलाओ से उसकी दीवार छत तक पहुंच गई है। शायद उसमे जोड़ने के लिए मसाले का भी प्रयोग नहीं किया गया है। मंदिरो के शिखरों का जहा तक प्रश्न है, कर्नाटक मे उत्तर भारतीय और दक्षिण भारतीय दोनों ही प्रकार के शिखरो के मन्दिर विद्यमान हैं। मूडबिद्री के मन्दिर तो नेपाल और तिब्बत की निर्माण शैली से सयोगवश या सम्पर्कवश साम्यता रखते हैं। सुन्दर नक्कासीयुक्त एक हजार स्तम्भो तक के मन्दिर (मूडबिद्री) कर्नाटक मे हैं। और उनमे से कुछ की पालिश अभी भी अच्छी हालत में है। कुछ मदिरों में संगीत की ध्वनि देने वाले स्तम्भ भी हैं। नक्कासी में भी यहां के मन्दिर आगे हैं। बेलगांव की कमल बसदि का कमल आबू के मन्दिरों के कमल से होड़ करना चाहता है तो जिननाथपुरम् के मन्दिर काम उत्कीर्णन मन मोह लेता है। मानस्तम्भों की भी यहां विशेष छवि है: कारकल मे एक ही शिला से निर्मित ६० फुट ऊँचा मानस्तम्भ है तो मूडबिद्री मे मात्र ४० इच ऊँचा मानस्तम्भ देखा जा सकता है।

मूर्तिकला का तो कर्नाटक मानो संग्रहालय ही है। यहा मूडबिद्री मे पकी मिट्टी (clay) की मूर्तियां है तो पाषाण से निर्मित विशालकाय गोम्मट (बाहुबली) मूर्तियां है। श्रवणबेलगोल की ५७ फुट ऊँची मूर्ति तो अब विश्व-विख्यात हो चुकी है। कारकल की ४२ फुट ऊँची बाहुबली मूर्ति खड़ी करने का विवरण ही रोमाचक है। वेणूर और धर्मस्थल तथा गोम्मटगिरि की मूर्तियों का अपना ही आकर्षण है। बादामी का गुफा मन्दिर की बाहुबली मूर्ति तो जटाओ से युक्त है और श्रवणबेलगोल की मूर्ति से भी प्राचीन है। पार्श्वनाथ की मूर्ति के विभिन्न अकन देखने के लायक हैं। हुमचा मे कमठ के उपसर्ग सहित, तो कही-कहीं सहस्रफण वाली ये मूर्तियां मोहक हैं। चतुर्मुखी पाषाण-मूर्तियो का एक अलग ही आकर्षण है। यक्ष यक्षिणी की भी सुन्दर मूर्तिया है।

पचधातु, अष्टधातु, सोने-चांदी और रत्नो की मूर्तियां भी अनेक स्थानों मे है।

ताडपत्रो पर लिखे गए हजारो ग्रन्थ इस प्रदेश में हैं। प्राचीन धवल, जयधवल और महाधवल ग्रन्थ भी इसी प्रदेश से हमे प्राप्त हुए।

जैन और अजैन राजाओ की धार्मिक सहिष्णुता के लेख भी यहां प्राप्त होते है। जैसे हम्पी के शासक की राजाज्ञा। विजय नगर साम्राज्य के अवशेष यही हैं। हनुमान की किष्किधा भी यही है।

कुन्दकुन्दाचार्य ने जिस पर्वत से विदेह-गमन किया था वह कुन्दाद्रि भी यही है।

कर्नाटक मे कई हजार शिलालेख बताए जाते हैं। केवल श्रवणबेलगोल मे ही ६०० के लगभग शिलालेख हैं।

(शेष पृ० ८ पर)

अपभ्रंश भाषा के प्रमुख जैन साहित्यकार : एक सर्वेक्षण

लेखक — जिनमती जैन एम. ए., प्राकृत शोध संस्थान वैशाली (बिहार)

जैनधर्म के मनीषियों ने विभिन्न भाषाओं में अपनी कृतियां लिखकर भारतीय वाङ्मय को सम्बर्धित किया है। मध्यकाल में विभिन्न आचार्यों ने तत्कालीन अपभ्रंश भाषा को अपनी कृतियों की भाषा को अपनाया है। छठी शताब्दी से लेकर ई. सन १०वी शताब्दी तक जो जैन साहित्य सृजित हुआ है उसकी भाषा अपभ्रंश ही है।

अपभ्रंश का स्वरूप अपभ्रंश भाषा मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा के तृतीय स्तर की प्राकृत भाषा मानी जाती है। इस भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि जब प्रथम और द्वितीय स्तर की प्राकृतो ने साहित्य का रूप ले लिया और वैयाकरणो ने उन्हें

(पृ० ७ का शेषांश)

इनसे जैन राजाओं और जैन आचार्यों की परम्परा स्थापित करने में बड़ी सहायता मिली है।

काजू, काफी, नारियल, कालीमिर्च, सुपारी, इलायची आदि के सुन्दर वृक्षो से हरी-भरी मोहक पहाडियां और जोग झरने (६०० फुट ऊँचे से गिरने वाले) पर्यटक को सहज ही आकर्षित करते हैं।

कर्नाटक मे लगभग २०० स्थानों पर जैन तीर्थ मंदिर या ध्वस्त स्थान हैं।

यद्यपि इस पुस्तक मे प्रचुर मात्रा मे जैन धार्मिक स्थानों और पुरातात्विक स्मारको का परिचय कराया गया है, किन्तु उसका मुख्य उद्देश्य तीर्थयात्रियों के लिए एक उपयोगी निर्देशिका प्रस्तुत करना है। कर्नाटक की पुरासंपदा के ऐतिहासिक महत्त्व का भी कुछ दिग्दर्शन है।

सन्तोष की बात यह है कि कर्नाटक के विश्वविद्यालयो और शोध-संस्थानोमे अध्ययन और खोज प्रयत्न जारी हैं। बावजूद इसके कोई भी पुस्तक ऐतिहासिक साक्ष्य की परिपूर्णता का दावा नही कर सकती। ●

व्याकरणो के नियमों से बांध दिया तो उस समय जन-साधारण जो भाषा बोलते थे वही अपभ्रंश के नाम से विख्यात हुई। अपभ्रंश का साधारण अर्थ भ्रष्ट च्युत और अशुद्ध होता है[१]। भर्तृहरि ने मसत्कालीन शब्दों को अपभ्रंश कहा है[२]। कुछ लोगों ने इसे ग्रामीण या देशी भाषा भी कहा है। अन्य कुछ विद्वानो ने इसे आभीरों की बोली माना है। डॉ० ग्रियर्सन ने स्थानीय प्राकृत को अपभ्रंश भाषा कहा है। डॉ० हीरालाल जैन का मत है कि इस भाषा का सर्व प्रथम उल्लेख पातञ्जल महाभाष्य मे मिलता है[३] लेकिन यहां पर पातञ्जलि ने संस्कृत से अपभ्रष्ट शब्दों को अपभ्रंश कहा है। दण्डी ने संस्कृत के अतिरिक्त अन्य सभी शब्दों को अपभ्रंश माना है[४]। भरत मुनि ने अपभ्रंश भाषा को उकार बहुला कहा है[५]। जो हो यह तो निश्चय ही है कि अपभ्रंश भाषा जनसाधारण की भाषा थी। आज वह प्राकृत और आधुनिक हिन्दी आदि भाषाओ की सेतु मानी जाती है।

प्रमुख अपभ्रंश भाषा के साहित्यकार—अपभ्रंश भाषा मे जिन आचार्यों ने जैनधर्म के सिद्धान्तानुसार रचनाए की है उनमे चउमुख, द्रोण, स्वयम्भू, त्रिभुवन, पुष्पदन्त, धवल, धनपाल, वीर, मुनि नयनन्दि, कनकामर, योगेन्दु, रामसिंह, विबुध श्रीधर, रइधू और हरिदेव प्रमुख साहित्यकार है। इनका संक्षिप्त परिचय निम्नांकित है—

चउमुख—चउमुख या चतुर्मुख अपभ्रंश भाषा के प्राचीनतम कवि हैं। इनका उल्लेख धवल, धनपाल वीर आदि कवियों ने किया है[६]। डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री ने "अपभ्रंश भाषा और साहित्य की शोध प्रवृत्तियां" नामक कृति में लिखा है कि चतुर्मुख से पहिले गोविन्द नामक कवि हुए थे, जिन्होंने अपभ्रंश भाषा मे कृष्ण विषयक प्रबन्ध काव्य लिखा था[७]। इस उल्लेख से ऐसा पता चलता है कि चतुर्मुख गोविन्द के उत्तरवर्ती महाकवि हैं। चतुर्मुख

के विषय में विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं होती है। स्वयम्भू और उनके पुत्र त्रिभुवन के उल्लेख से ज्ञात होता है कि महाकवि चतुर्मुख ने दुवई एवं ध्रुवकों से युक्त पद्धडिया छन्द का आविष्कार किया था। इसके अतिरिक्त ऐसा प्रतीत होता है कि चतुर्मुख ने व्यास शैली में महाभारत एवं पञ्चमी चरिउ नामक ग्रंथ की रचना की थी[8]। लेकिन किसी कारण से आज वे ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। चूंकि स्वयम्भू ने चतुर्मुख का उल्लेख किया है, इसलिए यह कहा जा सकता है कि चतुर्मुख स्वयम्भू के पहिले के है। स्वयम्भू का समय ई. सन् ६७६-६७७ के आसपास का माना जाता है। इसलिए चतुर्मुख को ईस्वी सन् ६०० का कवि माना जा सकता है।

२. **द्रोण**— द्रोण कवि का भी उल्लेख त्रिभुवन स्वयम्भू ने अपने रिट्ठनेमि चरिउ में किया गया है। इसके अलावा पुष्पदन्त, धवल, धनपाल, आदि ने भी सम्मानपूर्वक स्मरण करते हुए उनकी लोकप्रियता को सूचित किया है[9]। इससे सिद्ध होता है कि द्रोण नामक कवि अवश्य ही हुए है। द्रोण ने भी अपभ्रंश भाषा मे महाभारत की कथा लिखी थी। उनकी यह कृति अनुपलब्ध है। ये भी स्वयम्भू के पूर्ववर्ती एव चतुर्मुख के उत्तरवर्ती थे।

३. **स्वयम्भू**—अपभ्रंश भाषा के सर्वप्रथम महाकवि हैं। मारुतदेव और पद्मनी के पुत्र स्वयम्भू[10] को इनके उत्तरवर्ती कवियों ने महाकवि कविराज चक्रवर्ती जैसी उपाधियों से विभूषित किया है[11]। इनके परिवार में इनकी दो पत्नियां—आदित्याम्बा और सामिअब्बा एवं त्रिभुवन नामक पुत्र था। धनञ्जय के आश्रय मे रहने वाले और कालीदास के समकक्ष अपभ्रंश के महाकवि स्वयंभू का पारिवारिक जीवन सुखी एवं सम्पन्न था[12]। पउम चरिउ, रिट्ठनेमि चरिउ, स्वयम्भू छन्द, शोद्धचरिउ, पञ्चमी चरिउ और स्वयम्भू व्याकरण के रचयिता महाकवि स्वयम्भू के जन्म-काल एवं उनके जन्म-स्थान के विषय में विद्वानों मे मतभेद है। उनकी कृतियों में जिन पूर्ववर्ती कवियों का उल्लेख हुआ है और उनके उत्तरवर्ती कवियों में स्वयम्भू का उल्लेख किया है उसके आधार पर कहा जा सकता है कि स्वयम्भू ईसवी सन् ८वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के महाकवि थे। इनके जन्म-स्थान पर डा० हीरालाल जैन, पं० नाथूराम प्रेमी, डा० भोलाशंकर व्यास एव डा० भायाणी ने गवेषणात्मक विचार व्यक्त किये हैं। इससे पता चलता है कि वे दाक्षिणात्य थे[13]।

४. **त्रिभुवन स्वयम्भू**— स्वयम्भू के पुत्र एवं आगम व्याकरण के ज्ञाता त्रिभुवन स्वयम्भू ने भी अपभ्रंश भाषा में अपने पिता के अधूरे कार्य को पूरा किया है। पउमचरिउ की प्रशस्ति गाथा से ज्ञात होता है कि उन्होंने पउम चरिउ को पूरा किया था[14]। डा० हीरालाल जैन का मत है कि त्रिभुवन स्वयम्भू ने स्वयम्भू के रिट्ठनेमि चरिउ के अपूर्ण अश को पूरा किया है[15]। लेकिन पउमचरिउ की प्रशस्ति गाथा के आधार पर डा० भायाणी ने माना है कि त्रिभुवन स्वयम्भू ने पउमचरिउ रिट्ठनेमि चरिउ और श्री पञ्चमी चरिउ को पूरा किया है[16]। पं० नाथूराम प्रेमी का भी यही मत है कि त्रिभुवन स्वयंभू ने अपने पिता की उक्त अपूर्ण कृतियों को पूर्ण किया है। इसका समय ईसवी सन् ९वी शताब्दी माना है।

५. **पुष्पदन्त**—पुष्पदन्त अपभ्रंश भाषा के दूसरे ऐसे महाकवि हैं, जिन्होंने अपभ्रंश भाषा मे महापुराण, जसहर चरिउ णायकुमार चरिउ लिखकर अपभ्रंश साहित्य को समृद्ध किया है। णायकुमार चरिउ की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि उनके पिता का नाम केशव और माता का नाम मुग्धा देवी था। ये शिवभक्त थे और बाद में जैन गुरु से उपदेश पाकर जैन हो गये थे। बाद मे उनके माता पिता ने जैन सन्यास विधि से मरण किया था। पुष्पदन्त काश्यप गोत्रीय ब्राह्मण कुल मे उत्पन्न हुए थे[17]। इससे पता चलता है कि पुष्पदन्त को जैनधर्म की शिक्षा अपने माता-पिता से मिली होगी। जसहर चरिउ में वे कहते हैं कि "पापहारिणी मुग्धा नामक ब्राह्मणी के उदर से उत्पन्न श्यामल वर्ण, काश्यप गोत्री केशव के पुत्र, जिनेन्द्र-चरणो के भक्त, धर्म मे आसक्त, व्रतों से संयुक्त, उत्तम सात्विक स्वभावी अथवा श्रेष्ठ काव्य शक्तिधारी, शंका-रहित, अभिमान चिह्न, प्रफुल्लमुख, खण्ड कवि ने यह यशोधर कथा की रचना की और उसके द्वारा विद्वानों की सभा का मनोरंजन किया[18]।

उपर्युक्त कथन से सिद्ध होता है कि खण्ड या खण्डू[19]

नाम वाले पुष्पदन्त दुर्बल श्यामल शरीर वाले, कमल के समान प्रफुल्लित मुख वाले, स्वाभिमानी और महान् आत्मविश्वासी, श्रेष्ठ काव्य शक्तिधारी जैनधर्म दर्शन के मर्मज्ञ स्पष्टवादी और उग्र स्वभाव के व्यक्तित्व वाले थे। महाकवि पुष्पदन्त ने अपने आश्रयदाता का नाम मान्यखेट नगरी के राजा कृष्णराज के महामंत्री नन्न थे।

महाकवि पुष्पदन्त के जन्मस्थान के बारे मे विद्वानों में मतभेद है। पं० नाथूराम प्रेमी[20] का मत है कि अपभ्रंश साहित्य की रचना उत्तरी भारत मे हुई है। पुष्पदन्त की रचनाए अपभ्रंश भाषा मे रची गयी हैं, इससे सिद्ध है कि पुष्पदन्त उत्तर से दक्षिण आए होंगे। अतः इनका जन्म उत्तरी भारत मे किसी स्थान पर हुआ होगा। डा० हीरालाल जैन का मत है कि पुष्पदन्त दुष्टों के कारण भ्रमण करते हुए मान्यखेट पहुंचे थे और वही पर उन्होने अपनी रचनाएँ लिखीं। इससे सिद्ध होता है कि वे मान्यखेटा निवासी नहीं थे[21]। दूसरी बात यह है कि इनके बचपन के नाम 'खण्ड' से प्रतीत होता है कि वे महाराष्ट्र के निवासी थे, क्योंकि यह नाम आजकल महाराष्ट्र मे बहुत प्रचलित है। डा० पी. एल. वैद्य ने पुष्पदन्त की रचनाओं में आई हुई लोकोक्तियो और शब्दो के आधार पर उन्हें उत्तरी भारत के किसी स्थान का माना है। उपर्युक्त विचारों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि पुष्पदन्त का जन्म उत्तरी भारत मे ही हुआ था।

महाकवि पुष्पदन्त के समय के विषय में भी विद्वानो में मतभेद है। क्योंकि उन्होने अपने जन्मकाल के विषय मे कुछ भी उल्लेख नही किया है। इसलिए डा० हीरालाल जैन, पं० नाथूराम प्रेमी, डा० पी. एल. वैद्य आदि विद्वानों ने महाकवि की कृतियों मे उल्लिखित घटनाओ, ग्रंथ और ग्रंथकारो एवं उनके उत्तरवर्ती कवियों की कृति मे उल्लिखित पुष्पदन्त के नाम के आधार पर उनका समय निर्धारण किया है। महापुराण में ईसवी सन् ८१६ मे रचे गये (वीरसेन के) धवला और ८३७ मे रचे गये जयधवला के उल्लेख से सिद्ध होता है कि पुष्पदन्त इनके बाद हुए होंगे[22]। इसी प्रकार ईसवी सन् ९८७ में लिखी गयी धर्म परिक्खामे इनका उल्लेख हुआ है[23]। इससे सिद्ध है कि पुष्पदन्त बुध हरिसेन के पूर्व महाकवि के रूप में प्रसिद्ध हो चुके थे। डा० हीरालाल ने लिखा है कि महापुराण की रचना ईसवी सन् ९६५ में समाप्त हो चुकी थी[24]। इससे स्पष्ट है कि पुष्पदन्त का समय ई. सन् ८१६—९७२ के मध्य निर्धारित किया जा सकता है। डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ने इनका समय ईसवी सन् की १०वी शताब्दी माना है[25]।

धनपाल—अपभ्रंश भाषा मे महाकाव्यों की रचना करने वालो मे महाकवि धनपाल का नाम आदर के साथ उल्लिखित हुआ है। "भविसयत्तकहा" नामक महाकाव्य लिखकर ये अमर हो गए। महाकवि धनपाल का विस्तृत परिचय उपलब्ध नही है। इनके महाकाव्य के आधार पर कहा जा सकता है कि धनपाल का जन्म धक्कड़ वैश्य कुल मे हुआ था। इनके पिता का नाम माएसर (माहेश्वर) और माता का नाम धनश्री था[26]। ये दिगम्बर जैन मत के अनुयायी थे। धनपाल ने अपने को सरस्वती पुत्र कहा है।

महाकवि धनपाल के समय का निर्धारण करते हुए डा० हरमन जैकोवी, श्री पी. वी. गुणे, डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री आदि ने अपने विचार व्यक्त किए है[27]। डा० हीरालाल जैन ने ईसवी सन् १०वी सदी का महाकवि माना है[28]। राहुल सांकृत्यायन का भी यही मत है[29]। फिर भी इनके समय के सम्बन्ध में गम्भीर अन्वेषण एवं अनुसधान की आवश्यकता है।

धवल—अपभ्रंश भाषा में हरिवंश पुराण नामक महाकाव्य के रचयिता महाकवि धवल के पिता का नाम सूर माता का नाम केसुल्ल था। इनके महाकाव्य से ज्ञात होता है कि इनके गुरु का नाम अम्बसेन था। ब्राह्मण कुल मे उत्पन्न हुए महाकवि धवल जैन मुनि के कारण जैन मतानुयायी हो गये थे[30]।

महाकवि ने अपने हरिवंश पुराण की उत्थानिका में जिन आचार्यों का उल्लेख किया है उससे ज्ञात होता है कि वे ईसवी सन् १०-११वी के महाकवि थे[31]।

वीरकवि—अपभ्रंश भाषा में जंबूसामिचरिउ के रचयिता, काव्य व्याकरण, तर्क कोश, छन्द शास्त्र द्रव्यानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग आदि विषयो के ज्ञाता

महाकवि वीर ने अपना परिचय स्वय दिया है। उससे ज्ञात होता है कि महाकवि वीर का जन्म मालव देश के गुलखेड नामक ग्राम में हुआ था। लाडवर्ग गोत्र में उत्पन्न महाकवि देवदत्त इनके पिता थे। इनकी माता का नाम श्रीसन्तुआ था[३२]। इनके तीन भाई थे—सीहल्ल, लक्षणांक एवं जसई। महाकवि वीर की जिनमति, पद्मावती, लीलावती और जयादेवी नाम की चार पत्नियाँ थी[३३]। 'जंबूसामिचरिउ' की प्रशस्ति से यह भी ज्ञात होता है कि इनकी प्रथम पत्नी से नेमिचन्द्र नाम का पुत्र हुआ था जो विनय गुण से युक्त था[३४]। संस्कृत भाषा के पडित, राजनीति में दक्ष, स्वभाव से विनम्र उदार, मिलनसार, भक्त व्रती एवं धर्म में आस्था रखने वाले[३५] 'वीर महाकवि' ने अपने पिता की प्रेरणा से 'जंबूसामिचरिउ' की रचना की थी। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि अपने पिता के मित्रों के अनुरोध पर अपभ्रंश भाषा में इस महाकाव्य को लिखा था। अपने पिता की स्मृति में मेघवन पट्टण में महावीर भगवान का मन्दिर भी बनवाया था[३६]। महाकवि वीर के विषय में यह भी ज्ञात होता है कि उन्होंने जैन ग्रंथों के अलावा शिव पुराण' वाल्मीकि रामायण, महाभारत, भरत नाट्य शास्त्र आदि का भी अध्ययन किया था[३७]।

महाकवि वीर का जन्म कब हुआ यह तो बतलाना सम्भव नही है। लेकिन 'जंबूसामिचरिउ' की समाप्ति वि. सं. १०७६ में माघ शुक्ल १०वीं के दिन हुई थी। इससे सिद्ध है कि वीर निश्चित ही ११वीं शती से पहिले हुए थे। दूसरी बात यह है कि वि० की आठवी शदी मे हुए स्वयंभू एव ९-१० वि० की शदी में हुए पुष्पदन्त का इन्होंने उल्लेख किया है। इससे यह भी स्पष्ट है कि वि० सं० १०२९ और १०७६ के मध्य महाकवि वीर का जन्म हुआ होगा[३८]।

कनकामर—अपभ्रंश भाषा के महाकवि मुनि कनकामर का जन्म ब्राह्मण वंश के चण्ड ऋषि गोत्र में हुआ था। 'करकंडुचरिउ' की प्रशस्ति से ज्ञान होता है कि इनके बचपन का नाम विमल था। वैराग्य होने पर इन्होंने दिगम्बर दीक्षा ली थी। इनके गुरु का नाम उक्त प्रशस्ति में बुधमंगलदेव बतलाया गया है। मुनि दीक्षा लेने के बाद इनका नाम मुनि कनकामर हुआ। इनका शरीर कनक अर्थात् सोने के समान अत्यन्त मनोहर था[३९]। महाकवि कनकामर ने मात्र अपभ्रंश भाषा मे 'करकडुचरिउ' नामक महाकाव्य की रचना की और इसी एक मात्र कृति से वे अमर हो गए। डा० हीरालाल जैन ने 'करकडुचरिउ' की प्रस्तावना मे ऊहापोह के साथ मुनि कनकामर के समय का विश्लेषण करते हुए उन्हें १०४०-१०५१ ईसवी सन् का बतलाया है[४०]। डा० नेमिचन्द्र शास्त्री का भी यही मत है[४१]। इनका व्यक्तित्व साधुमय था और ये उदार हृदय के मनस्वी थे। इनके आश्रयदाता का नाम विजयपाल नरेश, भूपाल और कर्ण राजा थे ऐसा प्रशस्ति से ज्ञात होता है। 'करकडुचरिउ' की प्रशस्ति से यह भी ज्ञात होता है कि उनके चरण कमलों से भ्रमर स्वरूप तीन पुत्र थे—आहुल, रल्हु और राहुल[४२]। इनके माता-पिता एवं जन्म स्थान के बारे में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है, लेकिन 'आसाइय' नगरी में रह करके 'करकंडुचरिउ' की रचना की थी। डा० हीरालाल ने अपनी गवेषणात्मक 'करकंडुचरिउ' की प्रस्तावना में इस नगरी को मध्यप्रदेश मे माना है।

मुनि नयनन्दी—अपभ्रंश भाषा मे 'सुदंसणचरिउ' 'सैलविहिविहाण काव्य' की रचना करने वाले मुनि नयनन्दि माणिक्यनन्दि त्रैविद्य के शिष्य थे। ये आचार्य कुन्दकुन्द की परम्परा में हुए थे, उनके ग्रंथ से ज्ञात होता है[४३]। 'सुदर्शनचरित्र' की अन्तिम सन्धि में उन्होंने अपनी गुरु परम्परा का उल्लेख किया है। उससे ज्ञात होता है कि सुनक्षत्र, पद्मनन्दि, विष्णुनन्दि, नन्दिनन्दि, त्रिभुवनन्दि, विशाखनन्दि, रामनन्दि, माणिक्यनन्दि और इनके प्रथम शिष्य जगविख्यात एवं अनिद्य मुनि नयनन्दि हुए। उन्होंने अवन्ती देश की धारानगरी में राजा भोजदेव के शासनकाल में विशाल जिन मन्दिर मे वि० स० ११०० में सुदर्शन चरित्र की रचना की थी[४४]।

योगीन्दु—अपभ्रंश भाषा मे आध्यात्म तत्त्व की रचना करने करने वाले जोइन्दु, योगीन्दु, योगीन्द्रदेव, जोगीचन्द, जोगचन्द के नाम से जाने जाते हैं। ऐसा लगता है कि अपभ्रंश शब्द जोइन्दु के ही शेष शब्द हिन्दी भाषा में पर्यायवाची बन गये हैं। योगीन्दु ने अपने विषय

में कुछ भी नहीं लिखा है। उनके 'परमात्म प्रकाश' से केवल इतना ही ज्ञात होता है कि अपने मुमुक्षु शिष्य भट्ट प्रभाकर को सम्बोधित करने के लिए परमात्म प्रकाश की रचना की थी"[५]।

डॉ० ए० एन० उपाध्ये ने योगीन्दु को ईसा की छठी शताब्दी का आचार्य माना है। जबकि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इन्हे ८वीं-९वीं शताब्दी का कवि माना है। डा० हरिवंश कोछड़ ने भी इनका समर्थन किया है[४६]। डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ने चण्ड और पूज्यपाद के साथ तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत कर योगीन्दु को छठी शताब्दी के उत्तरार्ध का आचार्य माना है[४७]। योगीन्दु की कृतियो के अध्ययन से भी यही सिद्ध होता है। आचार्य योगीन्दु ने संस्कृत और अपभ्रंश भाषा मे रचनाए की है। परमात्म प्रकाश, नौकार श्रावकाचार, योगसार, सावयधम्मदोहा' ये अपभ्रंश भाषा मे लिखे हैं। 'अध्यात्मसन्दोह', सुभाषित तन्त्र, अमृतासीती, तत्त्वार्थटीका की भाषा सस्कृत है। इस प्रकार हम देखते है कि आचार्य जोइन्दु ने दोहा शैली में आध्यात्मिक ग्रथों की रचना की वैदुष्यपूर्ण रचना की है।

रामसिंह—मुनि रामसिंह एक आध्यात्मिक अपभ्रंश भाषा के कवि थे। इनका समय वि. स. १००० माना जाता है। इन्होने पाहुड दोहा, सावयधम्म दोहा की रचना की थी।

विबुध श्रीधर—अपभ्रंश भाषा के कवि विबुध श्रीधर के पिता का नाम बुधगोल्ह और माता का नाम वील्हा देवी था। ये अग्रवाल कुल में उत्पन्न हुए थे[४८]। विबुध श्रीधर ने 'वड्ढमाणचरिउ' की प्रशस्ति में कहा है कि नेमिचन्द्र की प्रेरणा से उन्होने 'वड्ढमाणचरिउ' की रचना की है। इससे सिद्ध है कि नेमिचन्द्र साहू उनके आश्रयदाता थे। 'पासणाहचरिउ' की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि 'पासणाहचरिउ' के रचने की प्रेरणा उन्हे नट्टल साहू से प्राप्त हुई थी"[४९]।

विबुध श्रीधर ने 'पासणाहचरिउ' का रचनाकल वि० सं० ११९० बतलाया है। इससे सिद्ध होता है कि ये वि० सं० १२वीं शती के कवि हैं। डा० राजाराम जैन ने इनका समय वि० सं० ११८९-१२३० माना है[५०]।

विबुध श्रीधर ने 'वड्ढमाणचरिउ' और 'पासणाहचरिउ' महाकाव्यो की रचना की थी। 'पासणाहचरिउ' के उल्लेख से ज्ञात होता है कि इन्होंने 'चंदप्पहचरिउ' की भी रचना की थी जो अनुपलब्ध है। डा० राजाराम जैन ने इनके अलावा 'सुकुमालचरिउ' एवं 'भविसयत्तकहा' तथा 'सन्तिजिणेसरचरिउ' को भी विबुध श्रीधर की कृतियां मानी हैं। लेकिन डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ने श्रीधर द्वितीय (वि. सं. १२००) को 'भविसयत्तचरिउ' का और श्रीधर तृतीय (वि. स. १३७२) को 'सुकुमालचरिउ' का कवि माना है। इसलिए सिद्ध है कि विबुध श्रीधर ने केवल 'पासणाहचरिउ' और 'वड्ढमाणचरिउ' की रचना की थी"[५१]।

रइधू—रइधू के विषय मे डा० राजाराम जैन ने विस्तार से विवेचन किया है। ये अपभ्रंश भाषा के महाकवि हैं। इनका अपर नाम सिंहसेन था। इनके पिता का नाम हरिसिंह साहू था और माता का नाम विजय श्री था। ये सघपति देवराज के पौत्र थे। इनकी पत्नी सावित्री से उदयराज नामक पुत्र उत्पन्न हुआ था। बहोल और मानसिंह नामक इनके दो बड़े भाई थे। इनका जन्म वि. सं. १४५७-१५३६ में ग्वालियर में हुआ था। ये पद्मावती पुरवाल वंश के थे। डा० राजाराम जैन ने इनकी निम्नांकित रचनाएं मानी हैं—(१) मेहेसरचरिउ, (२) णेमिणाहचरिउ, (३) पासणाहचरिउ, (४) सम्मइ जिणचरिउ, (५) तिसट्ठिमहापुरिसचरिउ, (६) महापुराण, (७) बलहद्दचरिउ, (८) हरिवंश पुराण, (९) श्रीपाल चरित (१०) प्रद्युम्न चरित, (११) वृत्तसार, (१२) कारणगुणषोडशी, (१३) दशलक्षण जयमाला, (१४) रत्नत्रयी, (१५) षड्धर्मोपदेशमाला, (१६) भविष्यदत्त चरित, (१७) करकंडु चरित, (१८) आत्मसम्बोधन काव्य, (१९) उपदेशरत्नमाला, (२०) सिमधर चरित, (२१) पुण्याश्रव कथा, (२२) सम्यक्त्वगुणनिधान काव्य, (२३) सम्यग्गुणारोहण काव्य, (२४) षोडशकारण जयमाला, (२५) बारहभावना, (२६) सम्बोधपंचासिका, (२७) धन्यकुमार चरित, (२८) सिद्धान्तार्थसार, (२९) वृहत्सिद्धचक्र पूजा, (३०) सम्यक्त्वभावना, (३१) जसहरचरिउ, (३२) जीवंधरचरित, (३३) कौमुइ कहापबंधु, (३४) सुक्कोसलचरिउ, (३५) सुदंसणचरिउ, (३६) सिद्धचक्कमाहप्प, (३७) अणथमिउकहा[५२]।

हरिदेव—अपभ्रंश भाषा में 'मयणपराजयचरिउ' की रचना करने वाले हरिदेव ने इस खण्ड काव्य मे जैन सिद्धान्तानुसार आचार विषयक तत्वो का उल्लेख किया है। इनका उल्लेख करते हुए बतलाया है कि कौन से तत्व मोक्षमार्ग एव मोक्ष की प्राप्ति मे बाधक हैं और कौन से तत्व मोक्ष-प्राप्ति में साधक है। 'मयणपराजयचरिउ' के प्रारम्भ मे हरिदेव ने जो अपना परिचय दिया है उससे ज्ञात होता है कि इनके पिता का नाम चगदेव और माता का नाम चित्रा था। किंकर कृष्ण राघव और द्विजवर इनके भाई थे। इनकी छठी पीढी मे नागदेव द्वितीय हुए थे जिन्होंने संस्कृत मे मदन पराजय की रचना की थी। इनका जन्म सोमकुल में वि. सं. १२-१५वी शती के बीच में हुआ था[२६]। 'मयणपराजयचरिउ' मे जिस प्रकार जैन-धर्म विषयक तत्वों का उल्लेख हुआ है, उससे सिद्ध होता है कि वे जैनधर्म मे दीक्षित अवश्य हुए होंगे।

उपर्युक्त उल्लेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि अपभ्रंश भाषा में जैनधर्म दर्शन एव सस्कृत प्रचुरमात्रा मे सम्बधित करने के लिए अपभ्रंश के महाकवियो ने महाकाव्य और खण्ड काव्य लिखकर भारतीय वाङ्मय के सम्वर्धन मे बहुत बड़ा योगदान दिया।

सन्दर्भ-सूची

१. डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री : अपभ्रंश भाषा और साहित्य की शोध प्रवृत्तियां पृ ८। २. वही। ३. द्रष्टव्य—डा हीरालाल जैन : भारतीय सस्कृति मे जैनधर्म का योगदान। ४. डा. राजाराम जैन : रइधू साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन पृ. ६-१०।

५. वही पृ. ८।

६. (क) चउमुह सयम्भुएवाण…। स्वयम्भू : पउमचरिउ प्रशस्ति गा. ७।

(ख) डा. हीरालाल जैन : भारतीय सस्कृति मे जैन-धर्म का योगदान पृ १५५। ७. पृ २५।

८. डा. राजाराम जैन : रइधू साहित्य का आलोच-नात्मक परिशीलन पृ. ११-१४।

९. (क) महाकवि पुष्पदन्त : महापुराण भाग १, प्रथम सन्धि ६-५।

(ख) रइधू साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन पृ. १५।

१०. माउर-सुय-सिटिकइराए… । पउमचरिउ, प्रशस्ति गाथा १६।

११. "कइरायस्स……" पउमचरिउ, प्रशस्ति गाथा ४ एवं १६। और भी देखें—जैन विद्या (स्वयम्भू विशेषांक) १, पृ. ६।

१२. (क) णामेण साऽमिअव्वा। सयम्भु घरिणी महासत्ता। पउमचरिउ सन्धि २० की पुष्पिका ॥ (ख) आइच्चु-एवि-पडिएवि-पडिमोवमाए आइच्चम्बिमाए। बी-अमउज्झा-कण्ड सयम्भु-घारणाएं लहविय ॥ वही, सन्धि ४२ की पुष्पिका।

१३. (क) डा. विद्याधर जोहरापुरकर : स्वयम्भू का प्रदेश, जैनविद्या अक १, पृ. १७-१८।

(ख) विस्तृत परिचय के लिए देखे—डा. नेमिचन्द्र शास्त्री : तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, खड ४, पृ ६४-६८।

१४. पउमचरिउ, प्रशस्ति गाथा ३-४।

१५. डा. हीरालाल जैन : भारतीय सस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृ १५४।

१६. प्रशस्ति गाथा १०-६।

१७ णायकुमारचरिउ की कवि प्रशस्ति की पक्ति ११-१५।

१८. पुष्पदन्त : महापुराण सन्धि ४ कडवक ३१ पृ १५६

१९. पुष्पदन्त : महापुराण, भाग १, सधि १, काव्य ६।

२०. डा. नेमिचन्द्र शास्त्री : तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा खण्ड ४, पृ. १०५।

२१. डा. हीरालाल जैन णायकुमार चरिउ की प्रस्तावना पृ. १६।

२२. डा नेमिचन्द्र शास्त्री : ती. म. और उनकी आचार्य परम्परा खण्ड ४, पृ. १०६ १०७।

२३. वही।

२४. णायकुमार चरिउ, प्रस्तावना, पृ. १६-१८।

२५. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा पृ. १०८।

२६. धक्कडवंसणिवंसि भाएसरहो समुब्भविण। धणसिरिहा वि सुएण। विरइउ सरसइसमविण ॥ भविसयत्तकहा २२/६ १०

२७. देखें तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, खंड ४, पृ. ११३-११४।
२८. भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृ. १६१।
२९. जैनविद्या, अंक ४, अप्रैल १९८६, पृ. ९।
३०. (क) डा. हीरालाल जैन : भारतीय संस्कृति मे जैन-धर्म का योगदान।
(ख) डा. राजाराम जैन : र. सा. आ. प. पृ. २१-२२
३१. डा. नेमिचन्द्र शास्त्री : ती. म. आ. प. खड ४, पृ. ११८-११९।
३२. प्रशस्ति गाथा ६।
३३. प्रशस्ति गाथा ८।
३४. पउमकलसंगरुहो संताणकतत्तविडवि पारोहो।
विणयगुणमणिनिहाणो तणलो तह नेमिचंदोत्ति॥ वही ९
३५. (क) देखें—ती. म. आ. प. खड ४, पृ. १२५।
(ख) जंबूसामिचरिउ की प्रस्तावना पृ. १९।
३६. सो जयउ कई वीरो जिणंदस्स कारियं जेण।
पाहाणमयं भवणं पियरुद्देसेण मेहवणे॥ प्र. गा. १०
३७. देखें—जंबूसामिचरिउ की प्रस्तावना १९।
३८. (क) वही पृ. १३।
(ख) ती. म. आ प. खंड ४, पृ. १२६-२७।
३९. देखें—'करकंडुचरिउ' १०/२८।
४०. वही पृष्ठ ११-१२।
४१. देखें—ती. म. आ. प. भाग ४, पृ. १६०-१६१।
४२. 'करकंडुचरिउ' १०-२९।
४३. जिणिंदस्स वीरस्स तित्थे महंते।
महाकुंदकुंदाण्णए षतसंते॥
... ... ॥ 'सुदंसणचरिउ', १२-९-२
४४. वही १२-१०।
४५. 'परमात्म प्रकाश' २/२११।
४६. जैन विद्या अंक ९ (दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र महावीर जी राजस्थान) १९८८, पृ. २।
४७. ती. म. आ. प. खंड २, पृ २४७-२४८।
४८. (क) पासणाह चरिउ, प्रशस्ति।
(ख) वड्माणचरिउ, प्रशस्ति १०/४१।
४९. डा. नेमिचन्द्र शास्त्री : ती. म. आ. प. खंड ४, पृ. १३८-३९।
५०. 'वड्ढमाणचरिउ' की प्रस्तावना पृ. ७।
५१. वही पृ. ९।
५२. ती. म आ. प., खड ४, पृ. १४५-१४९।
५३. डा. राजाराम जैन : रइधू साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन, पृ. ४६-५ ।
५४. डा. हीरालाल जैन : 'मयणपराजय चरिउ' की प्रस्तावना पृ. ६१।

—प्राकृत शोध संस्थान, वैशाली

'अनेकान्त' के स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

प्रकाशन स्थान—वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२
प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर के निमित्त श्री बाबूलाल जैन, २ अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-२
राष्ट्रीयता—भारतीय।
प्रकाशन अवधि—त्रैमासिक।
सम्पादक—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज, नई दिल्ली-२
राष्ट्रीयता—भारतीय।
मुद्रक—गीता प्रिंटिंग एजेंसी, न्यू सीलमपुर, दिल्ली-५३
स्वामित्व—वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज, नई दिल्ली-२
मैं बाबूलाल जैन, एतद् द्वारा घोषित करता हूं कि मेरी पूर्ण जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है।

बाबूलाल जैन
प्रकाशक

जैनधर्म एवं संस्कृति के संरक्षण तथा विकास में तत्कालीन राजघरानों का योगदान

□ डॉ० कमलेश जैन, रिसर्च एशोसिएट
—सं. स. वि. वि., वाराणसी

वर्तमान बिहार प्रांत का धार्मिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक दृष्टि से अद्वितीय स्थान है। प्राचीनकाल में यह क्षेत्र 'मगध' और 'विदेह' के नाम से प्रसिद्ध होता है। 'मगध' जैनपुराणों में वर्णित ७३ देशों, महाभारत मे उल्लिखित १८ महाराज्यों, प्राकृत भगवती सूत्र के १६ जनपदों तथा वर्द्धमान महावीर एवं बुद्ध कालीन ६६ महाजनपदों में परिगणित किया गया है। प्राग्-ऐतिहासिक काल से मगध और विदेह श्रमणधर्म/जैनधर्म और संस्कृति के प्रधान केन्द्र रहे हैं। वर्तमान मे उपलब्ध जैनधर्म, साहित्य और संस्कृति का, प्राचीन काल में इसी क्षेत्र में सर्वाधिक संरक्षण, पोषण एव संवर्द्धन हुआ। जैन परम्परा के २४ तीर्थंकरों में से २२ तीर्थंकरो ने इसी क्षेत्र में निर्वाण प्राप्त किया। छह तीर्थंकरो के गर्भ, जन्म, ज्ञान और निर्वाण कल्याणक भी यहीं हुए।

यह वही पवित्र भूमि है, जहां पर वर्द्धमान महावीर एवं तथागत बुद्ध जैसे महान् पुरुषों का जन्म हुआ। इसी को उन्होने अपनी साधना तथा कर्मभूमि बनाया। और उत्कृष्ट, नैतिक, परमोपयोगी, सर्वजनग्राह्य, लोककल्याणकारी, सर्वजनहितकारी विचारों एवं क्रियाओं से शताब्दियों तक प्रभावित किया तथा आज भी हम उनके इस अवदान से आप्लावित तथा अनुप्राणित हैं। यह बिहार प्रांत उन्हीं ऐतिहासिक महान् आत्माओं की कर्मस्थली है, जिनके पावन उपदेशों ने न केवल भारतवर्ष को, अपितु समस्त संसार को अहिंसात्मक आचरण का प्रशस्त मार्ग दिखाया।

इस क्षेत्र के ऐतिहासिक राजाओं, महाराजाओं एवं सम्राटो ने भी शताब्दियों तक देश-विदेश की राजनीति को प्रभावित किया है। प्राचीन भारतीय इतिहास मे शिशुनागवंश लेकर गुप्तवंश तक के सभी प्रभावशाली सम्राट यही हुए। जिन्होंने इस क्षेत्र में रहकर सम्पूर्ण भारत पर शासन किया। उपलब्ध जैन-जैनेतर सन्दर्भों, पुरातात्विक अवशेषों के अनुसार, यहां के कई नरेश जैनधर्म के अनुयायी, अनुरागी एवं भक्त रहे हैं। उन्होने इस धर्म को न केवल राष्ट्रीय-धर्म के समान प्रतिष्ठा दी, वरन् उसके संरक्षण, उद्धार एव प्रचार-प्रसार मे श्री महनीय योगदान दिया है। इसकी प्रभावना के लिए उन्होने महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं। अत आधुनिक बिहार प्रांत का धार्मिक, राज-राजनैतिक एवं सांस्कृतिक दृष्टिकोण से विशेष योगदान है।

प्रस्तुत निवन्ध में आधुनिक बिहार प्रान्तीय तत्कालीन प्रमुख जैन राजाओ, राज्य से सम्बद्ध प्रमुख व्यक्तियों एवं उनके द्वारा जैनधर्म, साहित्य एवं संस्कृति के संरक्षण तथा प्रचार-प्रसार हेतु किए गये उपायो का संक्षिप्त आकलन किया गया है।

प्रायः ढाई हजार वर्ष पूर्व जिनधर्म या श्रमणधर्म की सर्वाधिक प्रभावना वर्द्धमान महावीर द्वारा हुई। जैनधर्म, जैन साहित्य एव जैन-संस्कृति का जो स्वरूप आज उपलब्ध है, उसका सबसे अधिक श्रेय वर्द्धमान महावीर को ही जाता है। वर्द्धमान का जन्म वैशाली के ज्ञातृकुल में हुआ था। उनके पिता सिद्धार्थ इस कुल के मुखिया थे। उनकी माता त्रिशला वैदेही वैशाली गणतंत्र के शासक चेटक की बेटी थी (एक अन्य अनुश्रुति के अनुसार त्रिशला चेटक की बहिन थी)। महावीर ने अनेक वर्षों तक इसी बिहार प्रान्त के (दक्षिण बिहार) पर्वतीय तथा जांगलिक प्रदेशों में कठोर आत्म साधना की। उनका प्रथम उपदेश राजगृह या पञ्चशैलपुर के विपुलाचल पर हुआ। मगध सम्राट श्रेणिक बिम्बसार उनका प्रमुख श्रोता था। इन्द्र-

भूति आदि ग्यारह प्रधान शिष्य थे। महावीर का अनेक स्थानों पर विहार हुआ, इसमें यह स्वाभाविक ही था कि यह क्षेत्र उनके उपदेशों से प्रभावित हो। अतएव तत्कालीन प्रसिद्ध राजा-महाराजाओं में से अधिकतर उनके उपदेश से प्रभावित हुए। उनके उपदेश का सार गौतम आदि गणधरो (शिष्यो) ने द्वादशांग श्रुत के रूप में गूथा। और वही द्वादशांगश्रुत विपुल जैन साहित्य का मूल आधार बना। अन्त मे इसी क्षेत्र के एक विशिष्ट स्थान पावा में महावीर ने निर्वाण लाभ किया। महावीर के जीवन काल मे ही उनके भक्त अनुयायियो की संख्या लाखों में पहुंच गयी थी, जिसका निरन्तर विकास होता रहा और धीरे-धीरे समस्त भारत तथा विदेश में भी उनके अनुयायी भक्त बने। इनके अतिरिक्त अनेक व्यक्ति पार्श्व आदि पूर्व तीर्थंकरो के ही उपासक बने रहे।

यद्यपि भगवान महावीर को आर्हत श्रमण या जिनधर्म की ऋषभादि पार्श्वनाथ पर्यन्त एक लम्बी परम्परा विरासत मे मिली थी। उनके माता-पिता आदि भी पार्श्व के अनुयायी बताए गये है। महावीर परम्परा से प्राप्त उस धर्म को युगानुरूपता प्रदान की उसका पुनः उद्धार किया, और उसमे यथोचित परिवर्तन-परिवर्द्धन कर लोककल्याण के लिए उनका उपदेश किया। महावीर के उपदेशों से प्रभावित होकर राजा लोग उनके भक्त हुए। अनेक विशिष्ट व्यक्ति उनके सम्पर्क में आए और उनके अनुयायी होते गये। इस प्रकार तद्-तद् राजा का श्रद्धास्पद धर्म ही प्रायः राष्ट्रधर्म या राज्य धर्म के रूप मे प्रतिष्ठित होता गया और जैनधर्म राजकुल का धर्म बना रहा। इस तरह ई. पू. की अनेक शताब्दियों में जैनधर्म को राष्ट्रधर्म-राज्य धर्म जैसा स्थान प्राप्त रहा, अर्थात् राज्याश्रय प्राप्त रहा।

ई. पू. सातवीं शती की मगध राज्यक्रान्ति के पश्चात् शिशुनागवंशीय प्रारम्भिक राजाओ में सर्वप्रसिद्ध राजा बिम्बिसार श्रेणिक था। इसके पूर्वजो ने काशी से आकर मगध की गद्दी पर अधिकार किया था। डा० काशीप्रसाद जायसवाल के अनुसार "काशी से आने वाला मगध का प्रथम नरेश शिशुनाग था और इसी कारण मगध का यह ऐतिहासिक राजवंश शिशुनागवंश कहलाता है। यह राजा उसी वंश में पैदा हुआ था, जिसमे ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती एवं तीर्थंकर पार्श्वनाथ का जन्म हुआ था। अतः मगध के इस व्रात्य क्षत्रिय नागवंश का कुलधर्म प्रारम्भ मे ही जैनधर्म रहा प्रतीत होता है। श्रेणिक के कुमारकाल मे ही उसके पिता ने किसी कारण कुपित होकर उसे राज्य से निर्वासित कर दिया था। और अपने दूसरे पुत्र चिलातिपुत्र को अपने राज्य का उत्तराधिकार सौंप दिया था। अपने निर्वासन काल मे श्रेणिक ने देश-देशान्तरों का भ्रमण किया और अनेक अनुभव प्राप्त किये। इसी निर्वासन काल मे वह कुछ जैनेतर श्रमण साधुओं के सम्पर्क मे आया और उनसे प्रभावित होकर उनका भक्त हो गया। साथ ही जैनधर्म से विद्वेष भी करने लगा। कुछ अन्य अनुश्रुतियों के अनुसार वह बौद्ध हो गया था। परन्तु जैन साहित्य के परिप्रेक्ष्य मे यह निश्चय किया जा सकता है कि वर्द्धमान महावीर को केवल ज्ञान प्राप्त होने से पहले वह जैनधर्म का अनुयायी हो गया था। साथ ही प्राचीन जैन साहित्य के आलोक मे यह अवश्य प्रतीत होता है कि श्रेणिक अपने पूर्वार्द्ध जीवन काल मे किसी जैनेतर परंपरा (महावीर की मान्यताओ से पृथक् विचार वाले अन्य श्रमण) का भक्त हुआ होगा। संभवतः इसी लिए जैन परम्परा मे उसकी अवनति (नरकादि गमन) की बात कही गयी है। और चूंकि वह महावीर की प्रथम ग्रामसभा (समवशरण) होने तक पुनः जैनधर्म का पक्का श्रद्धालु (अनुयायी) हो चुका था। पश्चात् उसने जैनधर्म का प्रचार-प्रसार एवं उसकी प्रभावना भी की, सम्भवतः इसीलिए उसके जन्मान्तर मे उत्कर्ष (भावी तीर्थंकर होने) की बात कही गयी है।

श्रेणिक के भाई के राज्य कार्य से विरक्त होने के फलस्वरूप लगभग ई. पू. छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे श्रेणिक मगध की राज्य गद्दी पर बैठा। उसने राजधानी राजगृह का पुनर्निर्माण किया। राज्य के संगठन एवं शासन को सुव्यवस्थित किया। एक कुशल एवं योग्य राजनीतिज्ञ के समान उसने पड़ौसी राजाओं से यथोचित सन्धियां की। अपने से शक्तिशाली राजाओं को अपना मित्र तथा सम्बन्धी बनाया। इस प्रकार श्रेणिक ने अत्यंत सूझ-बूझ एवं राजनीतिक निपुणता से ५२ वर्षों तक मगध पर शासन किया। ई. पू. ५३३ में उसकी मृत्यु हुई। जैन

साहित्य से यह भी पता चलता है कि विम्बसार श्रेणिक मात्र एक विजयी, प्रतापवान् राजा ही नहीं था, अपितु वह एक कुशल शासक एवं निपुण राजनीतिज्ञ भी था। उसने एक नीतिपरायण आचारसंहिता के आधार पर शासन किया था, अतएव उसके राज्य में न तो किसी प्रकार की अनीति थी और न किसी प्रकार का भय था। प्रजा भली भांति सुख का अनुभव करती थी। वह दयावान् एवं मर्यादाशील था। साथ ही दानवीर एवं निर्माता भी था। उसने जैनधर्म और संस्कृति का बहुविधि प्रचार-प्रसार तथा विकास किया। उसने सम्मेदशिखर पर्वत पर जैन निषिद्यकाएँ बनवायी। अन्यत्र जैन मन्दिर बनवाये। अनेक स्तूपों का निर्माण कराया एवं अनेक चैत्य आदि भी उसके द्वारा बनवाये बताये गये हैं। राजगृह के प्राचीन भग्नावशेषों में श्रेणिक के समय की मूर्तियां आदि भी मिली बताई जाती हैं।

जैन अनुश्रुतियों के अनुसार श्रेणिक अपनी प्रिय पत्नी चेलना के प्रभाव से जैनधर्म का भक्त बना था। चेलना महावीर की मौसी या ममेरी बहिन थी। महावीर का प्रथम उपदेश विपुलाचल पर हुआ था। राजा श्रेणिक परिवार एवं परिकर सहित महावीर की धर्मसभा मे उपस्थित हुआ एवं श्रावकसघ का नेता बना था। रानी चेलना श्राविका संघ की मुखिया बनी। यह भी कहा जाता है कि श्रेणिक ने वर्द्धमान महावीर के समक्ष एक-एक करके साठ हजार प्रश्न उपस्थित किये और महावीर ने उनका सविस्तार समाधान किया था। इन्हीं प्रश्न-उत्तरो के आधार पर जैनवाङमय की रचना की गई।

श्रेणिक के अभयकुमार, मेघकुमार, वारिषेण; कुणिक आदि कई पुत्र थे। अभयकुमार आदि पुत्रों के विरक्त हो जाने के फलस्वरूप श्रेणिक ने चेलना से उत्पन्न पुत्र कुणिक अपरनाम अजातशत्रु को राज्यपाट सौंप दिया। और स्वय धर्मध्यानपूर्वक शेष जीवन व्यतीत करने का निश्चय किया। राज्यसत्ता प्राप्त होने पर कुणिक ने किसी (देवदत्त) के बहकाने पर अपने पिता को बन्दीगृह मे डाल दिया। कालान्तर मे वहीं उसकी मृत्यु हुई। इस तरह धर्मपरायण प्रतापी वंश एवं मगध के प्रथम ऐतिहासिक सम्राट श्रेणिक विम्बसार का दुःखान्त हो गया।

जैन साहित्य के अनुसार अजातशत्रु कुणिक अत्यधिक महत्वकांक्षी एवं क्रूर स्वभाव का राजा था। कुणिक महावीर का भक्त था और अपने कुलधर्म जैनधर्म का ही अनुयायी था। केम्ब्रिज हिस्ट्री के अनुसार उसने जैन श्रावक के व्रत धारणकिये थे। कुणिक गौतम बुद्ध का भी आदर करता था, परन्तु वह उनका भक्त या अनुयायी नही था। बौद्ध साहित्य में उसकी बहुत निन्दा की गई है और उसे पितृहन्ता कहा गया है। परन्तु, जैन परम्परा में अजातशत्रु की प्रशसा मिलती है। उसने मूर्तिनिर्माण कला को प्रोत्साहन दिया और उसके द्वारा महावीर आदि तीर्थंकरो की मूर्तियां बनवाई गयी। इसके अतिरिक्त उसके द्वारा स्वय अपनी मूर्तियां भी बनवाई गयी प्रतीत होती हैं। परखम नामक स्थान से एक राजा की मूर्ति मिली है, जिसे डा० जायसवाल ने स्वय अजातशत्रु कुणिक की मूर्ति के रूप मे पहचाना है। उनके मतानुसार यह मूर्ति उसी के शासनकाल मे निर्मित हुई प्रतीत होती है।

कुणिक एक प्रतापी राजा था। वह शासनकार्य में भी अत्यन्त निपुण था। उसने अनेक विषयो मे अपने पिता की नीतियों का अपनाया। उसने साम-दाम-दण्ड-भेद की नीति अपनाकर अपने राज्य का अत्यधिक विस्तार किया तथा साम्राज्य शक्ति को भी सुदृढ़ किया। पिता-पुत्र दोनो के शासनकाल में भारत की श्रमण विचारधारायें मध्यएशिया होकर ईरान तक पहुंची थी।

अजातशत्रु के बाद उसका पुत्र उदयी या उदयिन मगध की राजगद्दी पर आसीन हुआ। जैन साहित्य में उसके बहुत उल्लेख मिलते हैं और उसका विवेचन एक महान् जैननरेश के रूप मे किया गया है। उसने पाटलिपुत्र को बसाया, और अपनी राजधानी को राजगृह से पाटलिपुत्र ले आया। इस नरेश की भी एक प्रस्तर मूर्ति मिली बताई जाती है। उदयी के पश्चात् शिशुनाग वशीय कुछ और उत्तराधिकारियो ने मगध पर शासन किया। और वे भी जैनधर्म के भक्त तथा अनुयायी रहे, ऐसा माना जाता है।

कालान्तर मे मगध में नंदवश की स्थापना हुई। इस वंश का प्रसिद्ध उत्तराधिकारी काकवर्ण कालाशोक था। वह नंदवश का सर्वाधिक प्रतापी राजा था। खारवेल के

हाथीगुफा शिलालेख से यह तथ्य प्रकट है कि मगध के प्रतापी राजा नन्द (महापद्मनन्द) ने कलिंग पर विजय प्राप्त की और उस राष्ट्र के इष्टदेवता कलिंगजिन-आदि-जिन (तीर्थंकर ऋषभदेव की प्रतिमा को उठाकर पाटलिपुत्र (मगध) ले आया था। राजा खारवेल पुन. इस मूर्ति को मगध से कलिंग ले गया और अपने राज्य में उसे फिर प्रतिस्थापित किया। इस उल्लेख से राजानन्द एव खारबेल की जिनधर्म में श्रद्धा एवं भक्ति का महान् परिचय मिलता है। विन्सेन्ट स्मिथ तथा कैम्ब्रिज हिस्ट्री के अनुसार, नन्दराजा जैनधर्म के अनुयायी थे। इस वश के अन्य उत्तराधिकारी भी जैनधर्मानुयायी रहे है। इन्ही नन्दवंशीय राजाओ के समय में श्रुतकेवली भद्रबाहु की मृत्यु हुई। सम्भवतः इसी समय वह परम्पराप्रसिद्ध भयकर दुर्भिक्ष पड़ा, जिसकी सूचना पाकर भद्रबाहु दक्षिण की ओर विहार किए थे।

तत्पश्चात् चन्द्रगुप्त मौर्य ने आचार्य चाणक्य की सहायता से मौर्य साम्राज्य की स्थापना की। प्राचीन जैन अनुश्रुतियों के अनुसार चाणक्य के माता-पिता जन्म से ब्राह्मण और धर्म से श्रावक (जैन) बनाये गये हैं। चन्द्रगुप्त ने चाणक्य के सहयोग से साम्राज्य का संगठन एवं शासन की सुचारु व्यवस्था की। उसने पड़ोसी राजाओं को जीतकर उज्जैनी को अधिकृत किया। और फिर दक्षिणदेश की विजय करने के लिए यात्रा की। सुराष्ट्र में गिरिनगर (गिरनार) के नेमिनाथ की उसने वन्दना की। और गिरिनगर पर्वत की तलहटी मे सुदर्शन झील नामक विशाल सरोवर का निर्माण करवाया। इसी झील के तट पर निर्ग्रन्थ मुनियो के निवास के लिए उसने अनेक गुफाएं बनवायीं, जो आज चन्द्रगुफा आदि के रूप से प्रसिद्ध है।

चन्द्रगुप्त मौर्य जैनधर्मानुरागी था। वह साधुओं का विशेष रूप से आदर करता था। जैनपरम्परा मे उसे शुद्ध क्षत्रिय कुल मे उत्पन्न कहा गया है, ब्राह्मण साहित्य की भांति वृषल या शूद्र नही। उसने अनेक अतिथिशालाएँ, धर्मशालाओं का निर्माण कराया। स्वय सम्राट श्रमणो और ब्राह्मणों को निमन्त्रित करता था। उनका आदर करा था। इस सम्राट के त्रिरत्न, चैत्य एव दीक्षावृक्ष आदि जैनधर्म के प्रतीकों से युक्त सिक्के भी प्राप्त हुए हैं।

२५ वर्ष राज्य करने के बाद अपने पुत्र बिन्दुमार को राज्य देकर चन्द्रगुप्त मुनि होकर दक्षिण की ओर चला गया। और श्रवणबेलगोल पहुंचा। वहां पर्वत पर तपस्या कर देहत्याग किया। उसी समय से वह पर्वत चन्द्रगिरि के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उनके समाधिमरण स्थान पर चरण-चिह्न भी बने हुए हैं। प्राचीन प्राकृत ग्रन्थ "तिलोयपण्णत्ति" में चन्द्रगुप्त मौर्य को उन मुकुटबद्ध मांडलिक सम्राटों में अन्तिम कहा गया है, जिन्होंने दीक्षा लेकर अपना अन्तिम जीवन जैनमुनि के रूप में व्यतीत किया। उसके पुत्र बिन्दुमार को भी उसका अनुकरण करने वाला बताया गया है। उसने भी अनेक मन्दिरों आदि का निर्माण कराया था।

बिन्दुमार के पश्चात् उसका पुत्र अशोक मौर्यसाम्राज्य का अधिपति बना। आधुनिक इतिहासकारों ने उसकी गणना संसार के महान् सम्राटों मे की है। अशोक के अपने श्रद्धास्पद धर्म के विषय में कोई स्पष्ट जानकारी नही मिलती है। उसके सम्बन्ध मे सबसे बड़े आधार वे ऐतिहासिक शिलालेख हैं जो उसके द्वारा लिखाये माने जाते है। इन शिलालेखो के आधार पर कुछ विद्वानों की मान्यता बनी है कि वह बौद्धधर्म का अनुयायी था और बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसार के उद्देश्य से उसने ये लेख लिखवाये। कुछ अन्य विद्वानो के अनुसार, इन शिलालेखों के भाव और विचार बौद्धधर्म की अपेक्षा जैनधर्म के अधिक निकट हैं। उसका कुलधर्म भी जैन था इसलिए वह अपने सम्पूण जीवन भर नही तो कम से कम अपने जीवनकाल के पूर्वार्द्ध मे वह अवश्य जैन रहा है। अनेक विद्वान् ऐसे भी हैं, जिनका मत है कि वह न मुख्यत. बौद्ध था और न ही जैन, अपितु एक नीतिपरायण सम्राट था, जिसने प्रजा के नैतिक उत्कर्ष के लिए एक ऐसा व्यवहारिक राष्ट्रधर्म लोक के सम्मुख प्रस्तुत किया था जो सर्वजनग्राह्य था। उसके जीवन के प्रमुख एवं भीषण कलिंग युद्ध ने उसकी मानसिक कायाकल्प कर दी, और उसने युद्धों से विरत रहने की प्रतिज्ञा की। फिर उसने अनेक लोकोपयोगी कार्य कराये। अशोक श्रमण और ब्राह्मण दोनों वर्गों का आदर करता था। उसने पशुवध का निवारण करने और

मांसाहार का निषेध करने के लिए कड़े नियम बनाये थे। वर्ष के ५६ दिनों मे उसने सभी स्थानो पर सब प्रकार की जीवहिंसा बन्द रखने के लिए राजाज्ञा जारी की थी। ये दिन कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे वर्णित पवित्र दिनों एवं जैन परम्पराओं में मान्य पर्व-दिनो से प्राय: पूरी तरह मेल खाते हैं। शिलालेखों में अशोक के द्वारा निर्ग्रन्थों(नग्नमुनियों)का विशेष ग्रादर करने के उल्लेख है। राजतरंगिणी एवं आइने-अकबरी के अनुसार अशोक ने कश्मीर मे जैनधर्म का प्रवेश कराया था और इस कार्य मे उसने अपने पिता बिन्दुसार तथा पितामह चन्द्रगुप्त का अनुकरण किया था।

सम्राट अशोक के बाद उसका पुत्र कुणाल, जिसका दूसरा नाम सुयश भी है, मौर्य साम्राज्य का उत्तराधिकारी बना। किन्तु वह अपनी विमाता के छल से अन्धा हो गया था। प्रारम्भ मे उसके पुत्र सम्प्रति ने पिता के नाम से राज्य किया। कालान्तर मे सम्प्रति स्वतंत्र राज्य करने लगा। सम्प्रति ने उज्जैनी को अपनी प्रधान राजधानी बनाया। अपने पितामह अशोक की तरह वह भी एक महान्, शान्तिप्रिय एवं प्रतापी सम्राट था। जैनाचार्य सुहस्ति उसके धर्मगुरु थे। उनके उपदेश से सम्प्रति ने एक आदर्श राजा की तरह जीवन बिताया। उसने जैनधर्म की प्रभावना एवं प्रचार-प्रसार के लिए अथक प्रयत्न किये। बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसार मे जो स्थान सम्राट अशोक को दिया जाता है, जैनधर्म प्रचार-प्रसार मे उससे कही अधिक महत्त्व सम्राट सम्प्रति को दिया जा सकता है। जैनसाहित्य विशेषतया, श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थों मे सम्प्रति के जीवन परिचय आदि के सम्बन्ध विषद वर्णन प्राप्त होते हैं। सम्प्रति ने जैन तीर्थों की वन्दना की और जीर्णोद्धार कराये। अनगिनत जिनालयो एवं मूर्तियो को विभिन्न स्थानों में निर्माण तथा प्रतिष्ठापित कराया। विदेशों मे जैनधर्म के प्रचार हेतु प्रचारक भिजवाये। साम्राज्य भर मे अहिंसा प्रधान जैन आचार का प्रसार करवाया। कर्णाटक के श्रवणबेलगोल मे भी उसके द्वारा जैन मन्दिरों का निर्माण कराया बताया जाता है।

प्रो० जयचन्द्र विद्यालकार के अनुसार "चाहे चन्द्रगुप्त के चाहे सम्प्रति के समय मे जैनधर्म की बुनियाद तामिल भारत के नये राज्यों में भी जा जमी, इसमे सन्देह नहीं। उत्तर पश्चिम के अनार्य देशों में भी सम्प्रति के समय में जैन प्रचारक भेजे गये और वहां जैन साधुओं के लिए अनेक विहार स्थापित किये गये। इस प्रकार अशोक और सम्प्रति दोनों के कार्यों से आर्यसंस्कृति एक विश्व-संस्कृति बन गयी और आर्यावर्त का प्रभाव भारत की सीमाओं के बाहर तक पहुंच गया। अशोक की तरह उसके इस पोते ने भी अनेक इमारते बनवाई। राजपूताने की जैनकला कृतियाँ उसके समय की मानी जाती हैं। जैन लेखकों के अनुसार सम्प्रति समूचे भारत का स्वामी था।"

'विन्सेण्ट स्मिथ के अनुसार" सम्प्रति प्राचीन भारत में बड़ा प्रभावक शासक हुआ है। उसने, अशोक ने जिस प्रकार बौद्धधर्म का प्रचार किया था उसी प्रकार जैनधर्म का प्रचार किया। धर्म प्रचार के कार्यों की दृष्टि से चन्द्रगुप्त से भी बढ़कर इसका स्थान है।" कुछ विद्वानो का यह भी मत है कि अशोक के नाम से प्रचलित शिलालेखों मे से कई शिलालेख सम्प्रति द्वारा खुदवाये गये हो सकते हैं। उनका कथन है कि सम्राट अशोक की उपाधि "देवानां प्रिय" थी और सम्प्रति को वह "प्रियदर्शिन" कहता था। अत: जिन लेखों मे "देवाना प्रियस्य प्रियदर्शिन राजा" द्वारा उनके लिखाये जाने का उल्लेख है। वे अभिलेख जिनमें जीवहिंसा निषेध एव धर्मोत्सवों आदि का वर्णन है।

सम्प्रति के पश्चात् उसके अनेक उत्तराधिकारी भी अपने पूर्वजों की भांति जैनधर्म के भक्त रहे। उन सबके द्वारा भी दूर-दूर तक जैनधर्म का प्रचार होना बताया जाता है। कालान्तर मे मौर्यवंश के साथ-साथ मगध साम्राज्य का भी अन्त हो गया। इसके बाद ई. पू. २-१ शती मे शुंगवंश की शासन स्थापना होने पर मगध एवं मध्यप्रदेश से जैनधर्म का राज्याश्रय समाप्त हो गया। इस प्रकार अपने मूल केन्द्र मे ही जैनधर्म शक्तिहीन, प्रभावहीन एव अवनत सा हो गया। और जिस अहिंसामयी जैनधर्म ने अनेक शताब्दियों तक न केवल भारतवर्ष की विचारधारा को प्रभावित किया, वरन् विदेशी चिन्तन को भी प्रभावित किया, वही जैनधर्म अशक्त सा हो गया।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से स्पष्ट है कि आधुनिक बिहार प्रान्त प्रागैतिहासिक काल से जैनधर्म एव संस्कृति का प्रधान केन्द्र रहा है और इस धर्म एवं संस्कृतिके संरक्षण, पोषण एव विकास में तत्कालीन राजाओं-राजघरानों का अप्रतिम योगदान है। □

लक्षाधिक जिनविम्बों के प्रतिष्ठापक :—

साहु श्री जीवराज पापड़ीवाल

□ ले० श्री कुन्दनलाल जैन, दिल्ली

श्री जीवराज पापडीवाल मुंडासा नगर के निवासी थे जो तत्कालीन राजस्थान का एक प्रसिद्ध नगर था और इस समय यहां श्री राजा स्योसिंह रावल का राज्य था जैसा कि फतेहपुर स्थित भगवान पार्श्वनाथ की मूर्ति के लेख से ज्ञात होता है :—

"सं० १५४८ वैसाख सुदि ३ श्रीमूलसघे भ० जिनचन्द्रदेवा: साहु जीवराज पापड़ीवाल नित्य प्रणमति सौख्य शहर मुडासा श्री राजा स्योसिंह रावल।"

श्री पापड़ीवाल खण्डेलवाल जाति के जैन थे। पापड़ीवाल आपका गोत्र था। शाह वखतराम ने अपने "बुद्ध बिलास" नामक ग्रन्थ मे इस गोत्र का उल्लेख निम्न शब्दों में किया है "जनवाणी भूलना पापड़ीवाल बनाये।"

श्री पापड़ीवाल दि० जैन संस्कृति के प्रबल पोषक एवं संरक्षक थे। जब उन्होने यवनो द्वारा मूर्तिभजन का दुरभियान देखा तो उनकी आत्मा तड़फ उठी और उन्होंने मन ही मन प्रतिज्ञा की कि यवन लोग जितनी भी मूर्तियां तोड़ेंगे मैं उतनी ही नवीन प्रतिमाओ का निर्माण कर उन्हें जगह-जगह प्रतिष्ठित कराऊंगा। यद्यपि धृष्ट यवनो ने पुरानी कलापूर्ण अनेको मूर्तियों का भंजन कर कला एवं पुरातत्व का अपमान तो किया ही साथ ही भारतीय संस्कृति की बहुमूल्य धरोहर को सदा के लिए नष्ट कर दिया खण्डित कर दिया। इस पीड़ा से पीड़ित श्री पापड़ीवाल ने लक्षाधिक जिनविम्बों का निर्माण करवाया और अक्षय तृतीया (वैशाख शुक्ल तृतीया) सं० १५४८ तदनुसार ई. सन् १४९२ मे एक विशाल गजरथ प्रतिष्ठा महोत्सव कराया, इस महायज्ञ के होता श्री भ० जिनचन्द्र थे जो जयपुर शाखा के दिल्ली पट्ट पर आसीन थे। इसी प्रतिष्ठा समारोह में श्री पापड़ीवाल ने जो लक्षाधिक जिनविम्बो का निर्माण कराया था, उन्हें प्रतिष्ठित कराया और फिर उन्हें भिन्न भिन्न स्थानों पर विराजमान कराया।

इस शुभ कार्य के लिए श्री पापडीवाल ने यात्रासंघ का आयोजन किया जिसमें हजारों यात्री सम्मिलित थे। इस यात्रा के लिए सहस्राधिक विशिष्ट वाहनों का तथा पालकियों का निर्माण कराया गया था जिनमे सभी जिनविम्ब विधिवत् रूप से विराजमान कर शिखर जी आदि क्षेत्रो की यात्रा के लिए प्रस्थान किया। जिनविम्बो की प्रतिष्ठा और आदर को ध्यान में रखते हुए लोग जिनविम्बों की पालकियो को स्वयं कंधों पर रख कर ले जाते थे। मार्ग मे जहां विश्राम होता वहीं मन्दिर में एक मूर्ति विराजमान कर देते। जहां मन्दिर या चैत्यालय नही होता वहीं चैत्यालय का निर्माण करा कर मूर्ति विराजमान करा देते। इस तरह वैशाख शुक्ला तृतीया (अक्षय तृतीया) सं० १५४८ की प्रतिष्ठित मूर्तिया श्री पापड़ीवाल ने जहां जहां की तीर्थ यात्रा की वहीं वहीं विराजमान करते हुए आगे बढते गये।

इस तरह श्री पापड़ीवाल द्वारा प्रतिष्ठित सं० १५४८ की मूर्तियां गुजरात, पंजाब, हरियाणा, बंगाल उ० प्र०, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, बिहार, बुन्देलखड आदि प्रदेशों मे प्रचुरता से मिलती हैं। ये मूर्तियां इस बात की प्रतीक हैं कि यवनो द्वारा मूर्तिभंजन की चुनौती को श्री पापड़ीवाल ने मिशन के रूप मे सभाला था और वे अपने मिशन में पूर्णतया कामयाब भी हुए थे। दि० जैन संस्कृति के प्रबल पोषक श्री पापड़ीवाल की उस महान् गजरथ प्रतिष्ठा को इस अक्षय तृतीया को पांच सौ वर्ष हो जावेंगे, दि० जैन समाज को इस दिशा में कुछ समारोह कर श्री पापड़ीवाल का पुण्य स्मरण करना चाहिए। यहां हम कुछ मूर्ति लेख प्रस्तुत कर रहे हैं जिनमें श्री पापड़ीवाल एवं भ० श्री

जिनचन्द्र का नामोल्लेख है, ये मूर्तियां छतरपुर के जैन मन्दिरों में विद्यमान हैं ये मूर्तियां मूलरूप से छतरपुर की कम हैं पर आसपास के गांवों से जो उजड़ गये हैं लाकर यहा के मन्दिरों में विराजमान कर दी गई हों। कुछ मूर्तियों मे स १५४८ के पहले का संवत् उत्कीर्ण है इससे ऐसा लगता है कि जब ये मूर्तियां बनीं उसी वर्ष का संवत् उत्कीर्ण कर दिया गया हो क्योंकि लक्षाधिक जिनविम्बों का निर्माण एक दो नहीं अपितु दशों वर्षों में हो पाया होगा पर सामूहिक प्रतिष्ठा और गजरथ महोत्सव निश्चय ही अक्षय तृतीया सं. १५४८ में हुआ था। कुछ मूर्ति लेख —

(१) भ० पार्श्वनाथ श्वेत पाषाण पद्मासन १३' ऊंची ८.५" चौड़ी सं. १५४३ वर्षे बैशाख सुदी ३ मूल संघे भ० श्री जिनचन्द्र शाह जीवराज पापडीवाल नित्यं प्रणमते। सह सुग सा श्री।

(२) भ० पार्श्वनाथ श्वेत पाषाण पद्मासन १६" उ. १०.५" चौड़ी स० १५४३ बैशाख सुदी ३ श्री मूल सघे भ० श्री जिनचन्द्र जीवराज पापड़ीवाल वस प्रणमत सुरम सरमने श्री रजा जिए संघ ····।

(३) श्री भ० चन्द्रप्रभु श्वेत पाषाण पद्मासन ३.१३" उ. ६.५" चौड़ी सं. १५४६ बैशाख सुदी ३ मूलसंघे भ० जिनचन्द्रदेव शाह जीवराज पापडीवाल।

(४) भ० पार्श्वनाथ श्वेत पाषाण पद्मासन १३" उ. १०" चौड़ी सं. १५४५ वर्षे बैशाख सुदी ३ शुभ जिनराज मानन्द वा जिनचन्द्र जीवराज।

(५) भ० पार्श्वनाथ श्वेत पाषाण ४०" उ. २८" चौड़ी स. १५४८ बैशाख सुदी ३ भ० श्री जिनचन्द्र देव शाह जीवराज पापड़ीवाल मुरासा सीसिघ राजा जी।

(६) भ० चन्द्रप्रभु श्वेत पाषाण पद्मासन १७" उ. १३" चौड़ी सं. १५४८ बैशाख सुदी ३ श्री मूल सघे भ० श्री जिनचन्द्र देव शाह जीवराज पापड़ीवाल नित्य प्रणमते शर्म श्री रासी जाससघ।

(७) भ० अजितनाथ श्वेत पाषाण पद्मासन १५" उ. १२" चौड़ी सं. १५४८ वर्षे बैशाख सुदी ३ भ० श्री जिन-चन्द्र देव··· त्रुटित अश मे पापड़ीवाल का नाम है।

(८) भ० पार्श्वनाथ श्वेत पाषाण पद्मासन ३.२५" उ. १०" चौड़ी सं. १५४८ बैशाख सुदी ३ श्री मूलसघे भ० जिनचन्द्र देव शाह जीवराज पापड़ीवाल वीतरागाय ······प्रणमत।

(९) भ० पार्श्वनाथ श्वेत पाषाण पद्मासन १६" उ. १०" चौड़ी सं. १५४८ वर्षे बैशाख सुदी ३ मूलसंघे भ० श्री जिनचन्द्र देव जीवराज पापड़ोवाल।

(१०) भ० चन्द्रप्रभ् श्वेत पाषाण पद्मासन १५.५" उ. ११.५" चौडी सं. १५४८ वर्षे बैशाख सुदी ३ श्री मूलसघे भ० जिनचन्द्र देव तस्य जीवराज शिष्य दीवी जनत प्रणमत शुभं भवतु नित्यं प्रणमत।

(११) भ० पार्श्वनाथ श्वेत पाषाण पद्मासन १३.५" उ. ८.५" चौडी सं. १५४६ वर्षे बैशाख सुदी ५ मूलसंघे भ० श्री जिनचन्द्र देव शाह जीवराज पापड़ीवाल नयसु रामासुर मम श्रीरस्तु। तिममघ्ये

(१२) भ० पार्श्वनाथ श्वेत पाषाण पद्मासन १५" उ. १०" चौड़ी सं. १४८० वर्षे बैशाख सुदी ३ श्री मूलसंघे भ० श्री चन्द्रदेव शाह जीवराज पापडीवाल नित्यं प्रणमत सरमम श्री राजा जी स्योसिह रावल लसहार मुद्दाम।

नोट :— इसमें स. १४८० गलत है यह सं. १५४८ होना चाहिए। 'लिपिकार प्रथम अंक' के आगे ५ लिखना भूल गया जिससे अन्तिम अंक शून्य जोड़ दिया।

(१३) भ० अजितनाथ श्वेत पाषाण पद्मासन १०" उ. ८" चौडी स. १५४८ वर्षे मूलसघे······भ० जिनचन्द्र और जीवराज पापड़ीवाल त्रुटित अश में होना चाहिए।

(१४) भ० पार्श्वनाथ श्याम पाषाण पद्मासन ७" उ. ५" चौड़ी स. १५४८ वर्षे ···त्रुटित अश वही भ० जिनचन्द और जीवराज का उल्लेख होगा।

(१५) भ० चन्द्रप्रभु श्वेत पाषाण पद्मासन १०" उ. ८" चौड़ी स. १५४८ वर्षे······ त्रुटित अश में उपरोक्त नाम होंगे।

(१६) भ० अरहनाथ श्वेत पाषाण पद्मासन ११" उ. ६" चौड़ी स. १५४८ वर्षे बैशाख सुदी जीवराज··· "

(१७) भ० मुनि सुव्रतनाथ श्वेत पाषाण पद्मासन ८" उ. ६" चौड़ी स. १५४८ वर्षे बैशाख सुदी ३ ·····त्रुटित अश में वही नाम होंगे।

(१८) भ० पार्श्वनाथ श्वेत पाषाण पद्मासन १०.५"

उ. ७" चौड़ी सं. १५४८ वर्षे······त्रुटित अंश में वही नाम होंगे।

(१९) भ० पार्श्वनाथ श्वेत पाषाण पद्मासन ३.७" उ. ४" चौडी स. १५४८ वर्षे बैशाख······त्रुटित अश मे वही नाम होंगे।

(२०) भ० अजितनाथ श्वेत पाषाण पद्मासन १०" उ. ८" चौड़ी सं. १५४८ वर्षे बैशाख सुदी ३ श्री जिनचन्द्र देव जय श्री भट्टारक राजे सा सघे।

(२१) भ० पार्श्वनाथ श्वेत पाषाण पद्मासन १५" उ. १०" चौड़ी सं. १५४८ वर्षे बैशाख सुदी ३ मूलसघे भ० जिनचन्द्र देव·········

(२२) तीर्थंकर प्रतिमा चिन्ह उकेरना भूल गये श्वेत पाषाण पद्मासन १७" उ. १३.५" सं. १५४८ बैशाख सुदी ३ श्री मूलसंघे भ० जिनचन्द्र देव शाह जीवराज पापड़ीवाल······

(२३) भ० चन्द्रप्रभु श्वेत पाषाण पद्मासन ६" उ. ७" चौड़ी मूर्तिलेख क्रमांक २२ के समान।

(२४) भ० अजितनाथ श्वेत पाषाण १४' उ. १०.२५" चौड़ी मूर्ति लेख क्रमांक २२ के समान।

(२५) भ० महावीर श्वेत पाषाण पद्मासन १२" उ. ६.५" चोड़ी सं. १५४८ वर्षे बैशाख सुदी ३ श्री मूलसंघे भ० श्री जिनचन्द्रदेव शाह जीवराज पापडीवाल नित्यं प्रणमति सदामस्तु।

(२६) भ० अजितनाथश्वेत पाषाण पद्मासन १४" उ. १०" चौड़ी मूर्ति लेख क्रमांक २५ के समान।

(२७) भ० चन्द्रप्रभु श्वेत पाषाण पद्मासन १२" उ. ६.५" चौड़ी मूर्ति लेख क्रमांक २५ के समान।

(२८) भ० चन्द्रप्रभु श्वेत पाषाण पद्मासन १२" उ. ६" चौड़ी मूर्ति लेख क्रमांक २५ के समान।

(२९) भ० सुपार्श्वनाथ श्वेत पाषाण पद्मासन ११" उ. ६" चौड़ी मूर्ति लेख क्रमांक २५ के समान।

(३०) भ० पार्श्वनाथ श्वेत पाषाण पद्मासन १३' उ. ८" चौड़ी मूर्ति लेख क्रमांक २५ के समान।

(३१) भ० पार्श्वनाथ श्वेत पाषाण पद्मासन १३" उ. ६.२५" चौड़ी सं. १५४८ वरष बैशाख सुदी ३ श्री मूलसघे भ० श्री जिनचन्द देवा: शाह जीवराज पापड़ीवाल नम्र प्रणमति सर मम श्री राजा जी सिवसिंह उका सहर मुडासा।

(३२) भ० पार्श्वनाथ श्वेत पाषाण पद्मासन १३.५" उ. ८.२५ चौड़ी सं. १५४८ वरष बैशाख सुदी ३ श्री मूल सघे सरस्वती गच्छे भट्टारक जी श्रीजिन चन्द्रदेव······ ···

(३३) भ० ऋषभनाथ श्वेत पाषाण पद्मासन १६" उ. १३" चाड़ी श्री सं. १५५ बैशाख सुदी १ श्री मूलसघे भट्टारक श्रीजिन चन्द्रदेव शाह जीवराज पापड़ीवाल नित्य प्रणमति सोहाराम रा सागये संघा रावल।

उपर्युक्त मूर्तिलेख श्रीकमलकुमार द्वारा सकलित- *"जिनमूर्ति-प्रशस्ति लेख से साभार"*।

उपर्युक्त मूर्तिलेखों से प्रतीत होता है कि श्री पापड़ीवाल ने मुख्यतया श्वेत पाषाण की और पद्मासन प्रतिमाएँ ही निर्मित कराई थी। उन्हें अक्षय तृतीया बहुत अभीष्ट थी। अक्षय तृतीया का जैन सस्कृति में अपना ही विशेष महत्व है, आज के शुभ दिन भ० आदिनाथ को हस्तिनापुर के राजा श्रेयांस ने षड्मासोपवास के बाद इक्षु रस का आहार दान दिया था तब से अक्षय तृतीया का जैन इतिहास मे प्रतिष्ठित पर्व के रूप में प्रचलन है, यह शुभ दिन हर मांगलिक कार्य के लिए श्रेयस्कर समझा जाता है इसीलिए श्री पापडीवाल ने इस दिन को गजरथ प्रतिष्ठा कराई थी। श्री पापडीवाल राजश्रेष्ठि थे इसीलिए इतना विशाल आयोजन करा सके पर इतने विशाल कार्य मे भूले होना भी सम्भव है इसीलिए किसी मूर्ति में चिन्ह का उकेरना रह गया, तो किसी मे सवत् गलत अंकित हो गया तो किसी में नामोल्लेख करना भी रह गया पर ये सब भूले क्षम्य हैं।

श्री पापड़ीवाल भ० जिनचन्द्र के शिष्य थे जिन्होने इनके जिनबिम्बों की प्रतिष्ठा की थी, वे अपने समय के प्रतिष्ठित विद्वान् और प्रभावक आचार्य थे। वे मूल संघ सरस्वती गच्छ बलात्कार गण के दिल्ली पट्टाधीश आचार्य पद्मनन्दी के प्रशिष्य तथा शुभचन्द्र के शिष्य थे। आचार्य जिनचन्द्र तर्क व्याकरणादि ग्रन्थ कुशली, मार्ग प्रभावक, चारित्रचूडामणि आदि विरुदो (उपाधि या विशेषण) से सुशोभित थे। उन्होने "चतुर्विशत जिन स्तोत्र" नामक रचना का भी निर्माण किया था। (शेष पृ० २४ पर)

१७वीं शताब्दी के महान् कवि कविवर बुलाकीदास एक परिचय

☐ उषा जैन, एम. ए., रिसर्च स्कालर

जैन कवियों द्वारा निबद्ध हिन्दी साहित्य इतना अधिक विशाल एवं विस्तृत है कि उसकी जानकारी प्राप्त करना भी कठिन लगता है। यद्यपि विगत ४०-५० वर्षों मे जैन हिन्दी साहित्य को प्रकाश मे लाने के बहुत प्रयास हुए हैं और डा० कामताप्रसाद जैन, पं० नाथूराम प्रेमी, डा० नेमीचन्द्र शास्त्री, प० परमानन्द शास्त्री देहली एव डा० कस्तूरचन्द जी कासलीवाल, जयपुर ने हिन्दी जैन कवियों द्वारा निबद्ध हिन्दी साहित्य को प्रकाश मे लाने को महत्वपूर्ण कार्य किया। डा० कासलीवाल साहब तो जैन कवियो द्वारा निबद्ध हिन्दी साहित्य को २० भागो मे प्रकाश मे प्रकाश लाने का एक भागीरथ प्रयत्न कर रहे है जिसके १० भाग प्रकाशित हो चुके हैं। इसी कार्य के लिए उन्होंने श्री महावीर ग्रन्थ अकादमी नामक सस्था की स्थापना की और अब तक १०० से अधिक हिन्दी जैन कवियों पर १० भागो मे विस्तृत समीक्षा की है। इस प्रकार का यह पहला प्रयास है फिर भी अभी तक जैन कवियो की इतनी अधिक रचनाएँ प्रकाशित एव अचर्चित हैं जिनका प्रकाशन बहुत ही आवश्यक है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि श्री महावीर ग्रन्थ अकादमी के माध्यम से हिन्दी मे शोध करने वाले मुझ जैसी शोधार्थियो को विशेष लाभ हो सकेगा।

मैं विगत दो वर्षों से १ वीं-१७वी शताब्दी के हिन्दी जैन कवियो पर शोध कार्य कर रही हू मुझे शोध के क्षेत्र में इन दो शताब्दियो में होने वाले प्रयासो, कवियो का परिचय प्राप्त हुआ और उनकी महत्वपूर्ण कृतियो को पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। प्रस्तुत लेख मे मैं एक ऐसे कवि का परिचय देने का प्रयास कर रही हू जिसकी कृतियों ने मुझे अतीव प्रभावित किया तथा उसने हिन्दी साहित्य को अत्यधिक महत्वपूर्ण सामग्री भेंट की। ऐसे कवि का नाम है कविवर बुलाकीदास जिसको काव्य रचना करने की प्रेरणा स्वय उनकी माता श्री जैनुलदे ने दी थी। इस प्रकार की एक भी महिला का नाम नही मिलता जिसने अपने पुत्र को काव्य रचना करने की ओर प्रेरित किया हो। इनके पूर्वज बयाना रहते थे। लेकिन रोजी-रोटी के लिए आगरा आकर रहने लगे थे। बुलाकीदास के पिता का नाम नन्दलाल था और उनकी मां थी जैनुलदे। बुलाकीदास का जन्म कब हुआ इसका उनकी रचनाओं में कोई उल्लेख नही मिलता लेकिन वे महाकवि बनारसीदास की मृत्यु के पश्चात् आगरा मे उत्पन्न हुए। उनके समय में आगरा जैन विद्वानो का केन्द्र था। और उसी साहित्यिक वातावरणमें कविका लालन-पालन हुआ। उनकी माता जैनुलदे स्वाध्यायशीला महिला थी इसलिए उनका अवश्य ही किसी न किसी विद्वान से सम्पर्क रहा होगा।

बुलाकीदास का बचपन का नाम बुलचन्द था। कुछ बड़े होने के पश्चात् अपनी माता के साथ आगरा छोड़ दिल्ली आकर रहने लगे। यहीं पर कवि ने गोपाचल के (ग्वालियर) निवासी पं० अरुणरत्न के पास जैन ग्रन्थों का विशेष अध्ययन किया। बुलचन्द देहली मे आकर बुलाकीदास कहलाने लगे और उनका यह नया नाम ही सर्वत्र प्रसिद्ध हो गया। हिन्दी मे काव्य रचना करने की उनकी रुचि जागृत हुई जिसकी प्रेरणा उन्हें अपनी मां से प्राप्त हुई। कवि ने सर्व प्रथम संवत् १७४७ में अपनी प्रथम कृति 'प्रश्नोत्तर श्रावकाचार" लिखने का श्रेय प्राप्त किया। यह कृति भट्टारक सकलकीर्ति के "प्रश्नोत्तर श्रावकाचार" का हिन्दी पद्यानुवाद के रूप में है। जैन कवियों ने सस्कृत व प्राकृत की सभी मौलिक कृतियों का हिन्दी में पद्यानुवाद करने का जो मार्ग अपनाया वह बहुत ही महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ और हिन्दी के प्रचार प्रसार में उनका सर्वाधिक योगदान रहा। प्रश्नोत्तर श्रावकाचार की रचना जब समाप्त हुई तो उनकी मां जैनुलदे ने उसे आदि से अन्त तक सुना और अपने लाडले पुत्र को आशीर्वाद दिया और उसे मानव जीवन को सार्थक करने वाला कार्य बतलाया। प्रश्नोत्तर श्रावकाचार का सं० १७४७ बैशाख सुदी द्वितीया बुधवार को जहांनाबाद (दिल्ली) एव पानीपत (हरियाणा) में पूर्ण किया जिसका

कवि ने निम्न प्रकार वर्णन किया—

सत्रहसे सैताल में दूज सुदी बैशाख।
बुधवार मेरोहिनी भयो, समापत भाष ॥१०४॥
तीनि हिसे या ग्रन्थ के, भये जहानाबाद।
चौथाई जल पथ विषै, वीतराग परमाद ॥१०५॥

कवि की इस प्रथम रचना का सर्वत्र स्वागत हुआ और मन्दिरों में उसका स्वाध्याय होने लगा।

पानीपत में कुछ समय रहने के पश्चात् बुलाकीदास अपनी माता के साथ वापस देहली लौट आये लेकिन माता और पुत्र दोनों ही स्वाध्याय प्रेमी थे। बुलाकीदास स्वय भी प्रवचन करते और अपने ज्ञान से सबको लाभान्वित करते। कुछ समय पश्चात् माता ने अपने पुत्र के समक्ष पाण्डवपुराण को हिन्दी मे निबद्ध करने का आग्रह किया क्योंकि संस्कृत व अपभ्रंश दोनो ही उसके लिए सहज समझ मे नही आती थी। माता ने कहा यद्यपि शुभचन्द्र का पाण्डवपुराण संस्कृत मे उपलब्ध है लेकिन उसको कठिन है। बुलाकीदास को माता की बात अच्छी लगी और उन्होने पाण्डवपुराण को हिन्दी मे निबद्ध करने का कार्य अपने हाथ मे ले लिया। वे प्रतिदिन जितने छन्द निबद्ध करते अपनी माता को समझाते थे। काव्य निबद्ध करने का और माता को उसे सुनाने का कार्य कितने ही महीनों अथवा वर्षों तक चलता रहा लेकिन स० १७५४ असाढ़ सुदी द्वितीया का वह पुण्य दिन था जब कवि ने पूरे पाण्डवपुराण को हिन्दी मे निबद्ध करने का सौभाग्य प्राप्त किया। कवि को अपनी माँ का आशीर्वाद प्राप्त करना कितना महत्वपूर्ण और प्रिय होता है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण कवि द्वारा निबद्ध पुराण में अपनी माता के नामोल्लेख को पढ़ करके जाना जा सकता है।

पाण्डवपुराण का हिन्दी साहित्य में महत्वपूर्ण उल्लेख है। जैन समाज मे इन काव्यो का विगत ३०० वर्षों से पठन-पाठन हो रहा है। राजस्थान के जैन ग्रन्थ भंडारों में पाण्डवपुराण की पचासों पाण्डुलिपियां संग्रहीत हैं। जिनका उल्लेख डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल, जयपुर ने राजस्थान के जैन ग्रन्थ सूची के पाचो भागों मे किया है। यहीं नहीं कवि बुलाकीदास एव उनकी रचनाओ का विस्तृत अध्ययन श्री महावीर ग्रन्थ अकादमी द्वारा प्रकाशित कवि बुलाखी चन्द बुलाकीदास एव हेमराज नामक भाग-६ मे किया है। जिसमे शोधार्थियों को कवि के जीवन एव उनकी कृतियों के अध्ययन मे पूरी-पूरी सुविधा मिली है।

अन्त मे मैं यही कहना चाहूंगी कि बुलाकीदास का पाण्डवपुराण हिन्दी की महत्वपूर्ण कृति है जो वस्तु वर्णन, भाषागत, विशेषताओं, छन्द, अलकार एवं रस की दृष्टि से १७०० शताब्दी की एक महत्वपूर्ण काव्यकृति है। कथा प्रधान होने पर भी जिसमें काव्य कला के स्थान-स्थान पर दर्शन होते हैं। इसलिए ऐसी हिन्दी की बेजोड़ कृति का जितना अधिक समीक्षात्मक अध्ययन होगा उतना ही काव्य का गौरव बढ़ेगा।

—कसरावद
प. निमाड़—म. प्र.

(पृ० २२ का शेषांश)

इस अक्षय तृतीया ५ मई १९९२ को श्री पापडीवाल के इस शुभ प्रतिष्ठित कार्य को ५०० वर्ष हो जावेगे जैन समाज को उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन हेतु विभिन्न स्थानो पर उच्च स्तरीय समारोह एवं कार्यक्रम आयोजित किये जावें और उस महान् धर्मप्रभावक का पुण्य स्मरण किया जावे तथा जैन संस्कृति के इस मूक सेवक के प्रति विनयांजलि एवं श्रद्धांजलि प्रस्तुत की जावे।

यहां हमने केवल छतरपुर के ही मूर्तिलेख प्रस्तुत किए हैं यदि खोज की जावे तो उत्तर प्रदेश, पंजाब, हरियाणा, बंगाल, बिहार, बुन्देलखण्ड, मध्यप्रदेश, राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र, एवं कर्नाटक आदि प्रदेशों के छोटे-छोटे गांवों और नगरों में पापड़ीवाल द्वारा निर्मित तथा भ० जिनचन्द्र द्वारा प्रतिष्ठित लाखो मूर्तियां प्राप्त हो सकेंगी। आज से ५०० वर्ष पूर्व इतिहास की यह एक ऐसी अनूठी घटना है जिसमे इतने अधिक जिनबिम्बों का निर्माण और प्रतिष्ठा किसी और ने कराई थी और भविष्य में भी कोई आशा नही कि इतने विशाल स्तर पर जिनबिम्बों का निर्माण हो सके। ऐसे स्वनामधन्य श्री जीवराज पापड़ीवाल को हम शतशः विनम्र विनयांजलि प्रस्तुत करते हैं और आशा करते हैं कि जैन समाज भी सामूहिक स्तर पर उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करे।

श्रुति कुटीर
६८ विश्वास मार्ग, विश्वास नगर,
शाहदरा दिल्ली-११००३२

भट्टारक हर्षकीर्ति के 'पद'

☐ डॉ० गंगाराम गर्ग, भरतपुर

भट्टारक सकलकीर्ति, ब्रह्म जिनदास, ब्रह्म यशोधर भीमसेन तथा ब्रह्म बूचराज के इने-गिने पदों के रूप मे जैन पद साहित्य का बिखरा-बिखरा अस्तित्व प्राप्त हो जाने पर भी सत्रहवीं शताब्दी के भक्त कवि गंगादास के ५०-६० पदों में ही इस विशिष्ट काव्यरूप का धारा-रूप निर्मित हुआ है। गंगादास के बाद आविर्भूत भट्टारक रत्नकीर्ति और भट्टारक कुमुदचन्द्र के पदों में दास्यभावना की अपेक्षा राजुल-विरह की अभिव्यक्ति अधिक हैं। जैन पद काव्यधारा को गतिमान बनाने में महाकवि बनारसीदास और उनके गुरु पाण्डे रूपचन्द के समकालीन कवि हर्षकीर्ति का विशिष्ट योगदान है। अभी तक प्राप्त २५-३० पदों के अतिरिक्त हर्षकीर्ति की ज्ञात रचनाएँ इस प्रकार है :—

(१) चतुर्गति बेलि (सं० १६८३, (२) नेमि राजुल गीत, (३) नेमीश्वर गीत, (४) मोरडा, (५) नेमिनाथ का बारहमासा, (६) कर्म हिंडोलना, (७) बीस तीर्थंकर की जखडी, (८) पार्श्व छन्द, (९) श्रीमंधर को समोसरन, (१०) जिनराज की जयमाल, (११) जिन जी को बधावो, (१२) पर नारी निवारण गीत, त्रेपन क्रिया जयमाल (सं. १६८४) तथा सासु बहू को संवादो।

एक विशिष्ट पद के आधार पर डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल ने इनका सम्बन्ध प्रसिद्ध तीर्थ श्री महावीर जी से जोडते हुए इन्हें राजस्थानी माना है। हर्षकीर्ति का इससे अधिक परिचय अभी तक ज्ञात नहीं हो सका।

हर्षकीर्ति के प्राप्त कतिपय पदों का प्रतिपाद्य भक्ति, राजुल विरह एवं नीति-प्रतिपादन 'आत्म-निरूपण' रहा है। जिनेन्द्र के नाम स्मरण में हर्षकीर्ति की अधिक आस्था है :—

नहिं छांडो हो जिनराज नाम।
दोष अठारह रहत देव, जाकी सुर नर करत सेव।
जिन देह जोति जीती सहस भांन।
प्रभु सो सरण सोभाभिराम।
मणि छांडि कांच खंड को गहत।
दूध छांडि कजिका को पिबति।
धारि सुभ दया सार,
कौन आन धर्म सेवै असार।
मिथ्यात पाप उपजै अनंत।
काडूं मधे काडू घोवंत।
कहै 'हरषकीर्ति' प्रभु गहो पाय।
मिथ्यात करत थैं मोहि छुडाय॥

भक्ति के प्रेरक तत्वो में जन्म-जन्मांतरों के कष्टों और काल की भयावहता का आभास सभी संत और वैष्णव भक्तों ने बहुलता से कराया है। जन भक्त कवियों को भी इन दोनों स्थितियों ने भयाक्रान्त किया है। नरक तिर्यंच गति और नर गति के कष्टो के प्रसंग मे हर्षकीर्ति का कथन है :—

हूं तो कांई बोलू रै, भव दुख बोलणी न आवै।
नरक निगोदिहिं काल अनादि ही, कर्म लिखा भटकावै रे।
नर गति लीन्हो तीरजंच छीनुं, गर्भयबास डरावै रे।
जौंनि अधमुख मास रह्यो नो, ग्रिरै अर विललावै।
जोबनरातो आरंभखातो, धरि चिंता मन तावै रे।
पर कै कारण परधन वांछित आपण नेम ललावै रे।
संपति हीणुं आप दुखीनुं, जण गण पै रीरावै रे।
देस विदेस फिरतन कीनै, सही मूल गवावा रे।
लख चोरासी जूंनि जु वामी, धरि धरि स्वांग कछावै रे।
'हरषकिरत' सति मो भजि श्रीजिन,
तातै अनंत सुख पावै रे।

समर्थ काल कर्मों के अनुसार व्यक्ति को अवश्य ही दण्डित अथवा पुरस्कृत करता है—ऐसा हर्षकीर्ति का विश्वास है—

अवधि दिन पूरे होत बजाइ।
सिर परि करज करत कंप को, छूटत नाहिं गेगाई।
करि कछु सोचि समझि घट भीतरि, फल ए मुक्त कमाइ।
खोटो विणज रहैत नहिं पइयरदा, मुहड दीये पराइ।
दूरि विदेस विषम अति मारग, संगी न कोइ तिसताइ।
'हरषकीरति' तुम साव छतो, अब भलो न फेंट गहाइ।

संत और भक्त कवियो के अनुकरण पर जैन कवियों ने प्रबोधन के बहाने 'दुष्ट' 'शठ' आदि हीन विशेषणो के प्रयोग के साथ मन को फटकारने की प्रवृत्ति नहीं अपनाई है किन्तु 'चेतन' को विषयासक्ति से विरक्त होकर अपना 'दर्शन' एव ज्ञान' समन्वित स्वरूप पहचानने की प्रेरणा अवश्य दी है। हर्षकीर्ति का कथन है :—

महीजादा कचरा कांदा घो रे
कछु चेतन प्यारे बांजना हो रे।

धर्म न सकल नर का आणि मिलाया, कुल बल जोबन भाया
भोगोपभोग का लेगा नाही, काम अनन विड़ाया।
करमन विह्वल कीया रूप गुमाया, नरक निगोदि भ्रमाया।
असुचि बिषारी मांझि घर राखे, तू त्रिभुवन राया।
षलक मैं अजहु तेरा भरम करदा, दरसन ग्यान गुरादा।
'हरषकीर्ति' प्रभु आयो, दिषालो ज्यौं बदली वन चंदा।

'समवशरण' उत्सव के आयोजन और भक्ति मे सभी प्रसिद्ध भक्त कवियों ने दो-चार पद अवश्य लिखे ही है। हर्षकीर्ति इस अवसर पर खिरने वाली जिनेन्द्र की बाणी सुनने को आतुर है। यह बाणी सप्त तत्त्व और षट्द्रव्य के प्रतिपादन के साथ-साथ आस्थावान् श्रोता को मोक्ष भी प्रदान करती है :—

पावन धुनि सुनि जिनराज की।
अक्षर रूप अनक्षर साषित, भाखित विध शिवकार की।
सप्त तत्त्व नव भाव द्रव्य छह, नय प्रमाण गुण गाज की।
जा प्रसंग पाय परमारथ, तृबक भये शिव माज की।
अस्ति कथचित नासति बोलतु, चर थीर वस्तु समाज की।
बंदतु नद हेत करि चेतन, मुंचति वह अप लाज की।
फाटत मोह तम सजतु ग्यान मद, स्यादवाद बरसात की।
'हरषकीरति' जिन की धुनि सुनियां,
सफल घड़ी सो आजकी।

पुद्गल की परिवर्तनशीलता मे निरन्तरता मानते हुए भी जैन दार्शनिकों ने उसके अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया और न शकराचार्य की तरह उसे 'माया' कह कर मात्र 'भ्रम' प्रतिपादित किया। शकर का दार्शनिक शब्द 'माया' सन्त और भक्त कवियो मे पर्याप्त मात्रा में व्यवहृत हुआ। धन-दौलत और वैभव का प्रतीक मानकर इसके त्याग की भी सीख दी गई। जैन भक्तिकाव्य परम्परा से हटकर केवल हर्षकीर्ति ने 'उल्लेख' अलकार के रूप मे माया का तथ्यात्मक स्वरूप प्रस्तुत किया है :—

माया मार रे प्यारे नात, सुन नर माया मारै रे।
माया कारणि करू पाडु, भारथ करि भरि बूथा।
माया कारिण मजन कटूंबी, करि करि कलह बिगूता।
माया कारण रामदेव जी, करि बनवास बिरच्या।
माया माता माया माता, माया भाई चाचा।
माया कारण जहर जरावै, सक न मानै मीना।
माया जोगी माया भोगी, माया राणा राजा।
'हरिषकिरति' ते धनि मुनिवर, छाडि कीया अपकाजा।

'माया' के लोभ मे कष्ट पाने वाले कौरव, पाडव, भरत और राम की चर्चा करके उक्त पद मे माया के आकर्षण से दूर रहने की प्रेरणा दी है। ऐसा ही प्रभावकारी पद हर्षकीर्ति ने मोह और लोभ के विरोध मे लिखा है :—

रे कांइ मोह नी कूंडी रे।
मोह नी कूंडी रे कांई, मोह न कूडी है रे।
जांनतु है निहबल नहिं काई, इहि जुग नाथि जुडी रे।
लोभ ही लागि भार अति भरियो, जोबत नांम बूडी रे।
ए विकलप थयो बलदेव भवांणु, राम रुचै शिव रूडी रे।
'हरषकीरति' भवनां सुख ए ही, जिन कचियानी चूडी रे।

'सोरठ' राग मे लिखित एक कथात्मक गीत में हर्षकीर्ति राजा 'भरत' का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए एक अनुकरणीय तथ्य प्रतिपादित करते है कि अपार धन और वैभव के मध्य रहकर भी मनुष्य अपरिग्रह और विरक्ति भाव का निर्वाह कर मोक्ष का अधिकारी हो सकता है—

भरथ भूप घर ही मैं वैरागी।
सहस बतीस मुकट बध राजा, सेव करैं बड़भागी।
छिनबैसहस अतेवर जानौं, नहीं भयो अनुरागी।

कोड़ि अठारा तुरंगम राजै, कोड़ि चौरासी पागी।
लख चौरासी गज रथ सोहै, सुरति धर्म सों लागी।
नौ निधि रतन चौदा घरि राजै, मन चिंता सब भागी।
अंत मुहूरत एक ही माही, लोल्या मुक्ति सौं लागी।
ज्यों जल मांही कंवल निति ही रहै, नहीं भयो रस भागी।
'हरषकीर्ति' सेवग की लजां, दीजे मुक्ति मोहि मागी।

समकालीन कवि बनारसीदास ने अपने सरस और श्रेष्ठ रहस्यवादी काव्य 'समयसार नाटक भाषा' में 'चेतन' तत्त्व की पर परिणति और स्वरूप-स्थिति को अनेक दृष्टान्तों के माध्यम से माधुर्यपूर्ण शैली में समझाया है। इसके विपरीत कविवर हर्षकीर्ति ने सर्वमान्य लोक शैली में 'चेतन' तत्त्व को रूपायित कर साधारण जनता में अपना स्थान बनाया है। किसी भी कृत्रिम शब्दावली दृष्टान्त और रूपक अलंकार के मोह में न पड़कर सर्वबोध भाषा में 'चेतन' का उद्बोधन हर्षकीर्ति की व्यापक जनप्रियता का संकेत है :—

अविनासी जीवड़ा चेतनी हो।
तुम चेतन माया बाधो फिरो बादि ॥टेक॥
हो माया तुम्हारी जाति न पांति न, ना कुल की वरनारी।
इन तो तुम से मोहन ठिगे हैं, काहे को बढ़ावत रारी।
हा जिह कुल जाय जाय उपजो तिहा ही रह्यो ललचाई।
ते दुख नरक निगोद सहे है, तेउ डारी बिसराई।
मात पिता सुत बंधु सहोदर, सज्जन भिन्न अब लोय।
इनके मोह जाल विचि, वेबा चेतन पद सोय।
हृदय चेत मूढ़ मति ग्यांनी, चेतन पद तुव मांहि।
'हरषकिर्रति' जिनवर पद गावै, रहे चरण चित लाइ।

गुरु कृपा और सत्संग के बल पर ममता, काम-क्रोध, तृष्णा, मान, अभिमान, दुर्मति, द्रोह आदि-आदि कुभावों से मुक्त चेतन का अनुपम चित्र भी हर्षकीर्ति ने लोक-जीवन से उतारा है :—

साधो मूला बेटो जायो।
गुरु परताप साध की संगति, षोदि कुटुंब सब पायो।
ममता माई जनमत पाई, खाया सुख दुख भाई।
काम क्रोध काका दोय खाया, खाई त्रिसना बाई।
पाप पुन्य पड़ोसी खाया, मान अभिमान दोय खाया।
मोह नगर को राजा खायो, पीछै पैस्या गामां।
दुरमति दादी दोहि बडो दादो, मुख देखत ही मुवा।
मगल रूप बटी बधाई, तब याचिमण हुवा।
'भाउँ' नाम धरायो बेटा को, बरणी जोसिन जाई।
कहत 'हर्षकीर्ति' सुणो माधो, सब घट मांहि समाही।

पूर्ववर्ती पद रचयिता रत्नकीर्ति और कुमुदचन्द्र द्वारा अपने पदों में हर्षकीर्ति ने भी इन प्रसंग में दो भावपूर्ण पद लिखे हैं। बिना किसी अवगुण के परित्यक्ता राजुल का 'परेखा' किस कठोर हृदय को द्रवित नहीं कर देता—

हम बोल बोले की परतीति।
समुदविजै सुत कौन संभारो, आठ भवन की रीति।
नारायण उपदेस कराये, पसु सब आणि जमीति।
हमारो दोस नहिं जगजीवन, डारत हो यह रीति।
औगण बिनि हमको तजि चाले, देखो क्यों न अनीति।
'हरषकीरति' प्रभु प्रीति निबाहो, हारहु सारी मजीति।

प्राकृतिक उपादानों में पावसकालीन मेघ पपीहा द्वारा प्रियतम की टेर ने राजुल की विरह-वेदना और अकुलाहट को बढाया है। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के अतिरिक्त पूर्ववर्ती हिन्दी काव्य परम्परा के अनुकूल हर्षकीर्ति का एक भावपरक पद है :—

गरजन लागे री घन बादर।
नेमि बिना कहो कैसे रहो री आलि, क्यो उतरै दुख सागर।
पपीहड़ा पीव पीव रटत है आली, मो मन की धरत न धागर
सोचत सोचत रयण दिनारी आलि, पसुवन के भये आगर।
हरषकीर्ति प्रभु आइ मिलो अब, राजमती करि आदर।

उत्तर मध्ययुग में प्राप्त हिन्दी के विशाल जैन पद साहित्य की विशेषताओं के परिप्रेक्ष्य में उक्त विवेचन को परखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि हर्षकीर्ति किसी बंधी बधाई लीक पर चलने के हिमायती नहीं हैं। अपने भक्तिभाव को उन्मुक्त होकर सरल और प्रभावोत्पादक काव्यशैली में प्रकट करना ही उनका लक्ष्य है। कविवर हर्षकीर्ति के अद्यतन अचर्चित कतिपय पद दिगम्बर जैन मन्दिर कुम्हेर जिला भरतपुर में प्राप्त एक गुटके 'स्तुति संग्रह' में संगृहीत हैं। □□

"पुष्पदन्तकृत—जसहरचरिउ में दार्शनिक समीक्षा"

□ श्री जिनेन्द्र जैन

साहित्य-निर्माण की दृष्टि से मध्ययुग (लगभग ६०० ई. से १७०० ई. तक) जैन साहित्य का स्वर्ण-युग माना जाता है। क्योंकि इस अवधि मे जैन कवियो ने सस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश इन तीनों ही भाषाओं मे काव्य-ग्रन्थों की रचनाएँ की हैं, जिनमे जीवन के विभिन्न पक्षो को प्रतिपादित करते हुए तत्कालीन धर्म एव दर्शन पर विशेष प्रकाश डाला गया है। १०वी शताब्दी मे अपभ्रश भाषा के महाकवि पुष्पदन्त एक उद्भट व समर्थ कवि हुए हैं, जिन्होंने महापुराण[1], णायकुमारचरिउ[2] तथा जसहरचरिउ[3] नामक ग्रन्थो की रचना करके अपभ्रश साहित्य मे विशेष स्थान प्राप्त किया है। 'महापुराण' मे तीर्थंकरो एव महापुरुषों के जीवन-चरित्र का विवेचन है। श्रुतपञ्चमी के माहात्म्य को स्पष्ट करने के लिए कवि ने वैराग्य एव पुरुषार्थ प्रधान "णायकुमारचरिउ" नामक चरित ग्रन्थ का सृजन किया एव "जसहरचरिउ" मे अहिंसा प्रधान सिद्धांत की पुष्टि की है।

तत्कालीन समाज मे व्याप्त नैतिक, धार्मिक व दार्शनिक बुराइयो पर उन्होने अपनी लेखनी चलायी और एक शाश्वत तथा वास्तविक मानव-धर्म का प्रतिपादन किया है। उनके द्वारा इस ग्रन्थ मे बताया गया यह मानव-धर्म (सच्चा धर्म) समस्त गृहस्थ ग्राह्य होने क कारण उन्हे एक सच्चा समाज-सुधारक भी कहा जा सकता है। यहाँ उनके द्वारा रचित जसहरचरिउ मे प्रतिपादित दार्शनिक मतों की समीक्षा प्रस्तुत की गई है।

जसहरचरिउ एक अहिंसा प्रधान काव्य-ग्रन्थ है, जिसमे कवि ने यशोधर के पूर्व भवो का वृत्तान्त प्रस्तुत किया है। और यह बताया है कि जीव-हिंसा करने से व्यक्ति अनेक भवों तक अलग-अलग योनियो मे जन्म लेता रहता है। महाकवि पुष्पदन्त यद्यपि जैन थे, इसलिए उन्होने जैन धर्म व दर्शन के सिद्धान्तो की विशद् व्याख्या तो प्रस्तुत की ही है साथ ही अन्य भारतीय दर्शनों पर भी अपनी लेखनी चलाई है। भारतीय दर्शनों के परिप्रेक्ष्य में उन्होंने जैन धर्म व दर्शन से साम्य न रखने वाले सिद्धान्तों की समीक्षा प्रस्तुत की है। यहां उन्हीं सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला गया है।

पशु हिंसा सम्बन्धी समीक्षा :—

यज्ञ मे पशु-बलि सम्बन्धी वेद सम्मत मान्यता तथा उनकी (वेदों) अपौरुषेयता पर कवि ने प्रश्नचिन्ह लगाया है। ग्रन्थ मे वर्णित पशु-बलि हिंसा के सन्दर्भ में यशोधर की माता के मुख से यह कहना कवि को उचित प्रतीत नही होता कि—"जगत मे धर्म का मूल वेद-मार्ग है। राजा को वेदों का ही अनुशरण करना चाहिए। वेदों मे पशु-बलि को धर्म कहा गया है। क्योंकि पशु को मारने व खाने वाले स्वर्ग एवं मोक्ष के अधिकारी होते हैं[4]। पशु-बलि को उचित नही ठहराते हुए कवि ने उसके खण्डन मे पशु-हिंसा करने वालों को महापापी व मायाचारी बताया है[5]। तथा वेद सम्मत उक्त पशु-बलि के सिद्धान्त का अनुशरण करने वाले को नरकगामी भी कहा है[6]।

यह सर्वसाधारण मान्यता है कि वेद अपौरुषेय हैं। उन्हें किसी ने भी नही बनाया, किन्तु कवि इस पर अपना आक्षेप लगाये हुए कहता है कि विचार करने से प्रतीत होता है कि शब्दों की पंक्तियां आने आप ही आकाश में स्थित नहीं रह सकती, वायु से संघर्ष होने पर ही शब्द उत्पन्न होता है और आकाश मे फैल जाता है। तथा मनुष्य के मुख से वह वर्ण और स्थान एव संकेतमय (अर्थमय) बुद्धि द्वारा भाषाओं के भेदानुसार निकलता है। ऐसी अवस्था मे यह कहना कि वेद अपौरुषेय (स्वयम्भू) हैं, उचित प्रतीत नहीं होता[7]। याज्ञिकी हिंसा, मांस-भक्षण और रात्रभोजन को धर्म का प्रतीक मानने वाले पौराणिक मतों की आलोचना/समीक्षा कवि ने अपने अन्य ग्रन्थो मे भी की है। णायकुमारचरिउ[8] नामक उनकी एक अन्य

कृति में इसका स्पष्ट वर्णन देखने को मिलता है। अहिंसा धर्म की प्रतिष्ठा और महत्ता के लिए कवि ने कहा है कि पुण्य के अर्जन हेतु चाहे मंत्र-पूजित खड्ग से पशु-बलि करे अथवा यज्ञ करे या अनेक दुर्धर तपों का आचरण करे, किन्तु जीव-दया के बिना सब निष्फल है। शास्त्रों में यही कहा गया है कि जो पाप है वह हिंसा है और जो धर्म (पुण्य) है, वह अहिंसा है। इसलिए प्राणिवध को आत्मवध समरूप माना गया है[१०]।

"प्रत्यक्ष ही प्रमाण है" का खण्डन :—

भारतीय दर्शनों में चार्वाक दर्शन की अपनी अलग मान्यता है, महत्ता है। उसके अनुसार "प्रत्यक्ष ही प्रमाण है" ऐसा मानना, जीव और उसकी सत्ता को अभिन्न करना है तथा मोक्ष आदि के अस्तित्व को नकारना है। क्योंकि मोक्ष की कल्पना अनुमान से सिद्ध है न कि प्रत्यक्ष प्रमाण से।

जसहरचरिउ में एक स्थान पर जब तलवर मुनि से कहता है कि "मैं किसी धर्म, गुण या मोक्ष आदि को नहीं जानता हूं। मैं केवल पचेन्द्रिय सुख (जो प्रत्यक्ष है) को ही सब कुछ मानता हू"। इसके उत्तर म मुनि द्वारा यह कहना कि—"ससार मे जीव अनेक योनियो मे जीवन-मरण के दुःखों और कर्मों के फल को भोगता है। इसीलिए मैं पंचेन्द्रिय सुख का त्याग करके निर्जन स्थान मे रहते हुए भिक्षावृत्ति करता हू[१२]।" चार्वाक दर्शन के "प्रत्यक्ष ही प्रमाण है" के खण्डन को प्रतिपादित करता है।

क्षणभंगुरता की समीक्षा :—

बौद्ध दर्शन मे प्रत्येक वस्तु क्षण-विध्वंसी बताई गयी है। प्रत्येक वस्तु का मात्र एक ही क्षण अस्तित्व रहता है। हर अगले क्षण मे वह परिवर्तित हो जाती है। इसी प्रकार बौद्ध दर्शन मे जीव की भी क्षणिक सत्ता मानी गई है। जिसके लिए कवि आपत्ति करता है कि—"यदि जीव (चेतन) क्षण-क्षण में अन्य-अन्य हो जाता है तो छः मास तक व्याधि (रोग) की वेदना (दुःख) कौन (रोगी) सहन करता है"। क्योंकि जो प्रारम्भ मे रोग ग्रस्त होता है, छः माह में उसका अस्तित्व क्षणिकवाद के अनुसार समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार बौद्धों की यह मान्यता कि वासना के नष्ट होने पर ज्ञान प्रकट होता है, कुछ अपूर्ण होती है, क्योंकि वासना का भी क्षणमात्र के लिए अस्तित्व रहता है, दूसरे ही क्षण वह परिवर्तित हो जाती है[१४]।

जीव-आत्मा की पृथक् सत्ता विषयक समीक्षा :—

दार्शनिक सिद्धान्तों की समीक्षा के अन्तर्गत कवि ने अन्य दर्शनों की जीव/आत्मा विषयक मान्यताओं को भी अछूता नहीं छोड़ा। जीव (आत्मा) और देह (शरीर) को पृथक् सत्ता नहीं मानने वाले चार्वाक दर्शन के—"जिस प्रकार वृक्ष के पुष्प से गन्ध भिन्न नहीं होती, उसी प्रकार देह से जीव भी अभिन्न है।" उक्त कथन पर कवि ने अपनी समीक्षात्मक शैली में आत्मा और पर (देह) के भेद को स्पष्ट किया है कि -"जिस प्रकार चम्पक की वास तेल में भी लग जाती है और फूल से उसकी गन्ध (सुवास) पृथक् है, उसी प्रकार यह देह और जीव की भिन्नता भी सिद्ध है। इन दोनों का पृथक् अस्तित्व है[१५]।

ग्रन्थ मे जीव की सत्ता को लेकर प्रश्न मिलता है कि क्या जीव को शरीर से अलग हुआ किसी ने देखा है। इसके समाधान में अनुमान का सहारा लेकर कहा गया है कि—"जिस प्रकार दूर से आता हुआ शब्द दिखाई नहीं देता, परन्तु शब्द कान मे लगने पर अनुमान-ज्ञान होता है, उसी प्रकार नरक-योनियो मे जीव की गति होती है। इसलिए जीव अनुमान से सिद्ध है[१६]।"

बौद्ध दर्शन में आत्मा को पचस्कध (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान) का समुच्चय मात्र माना गया है, किन्तु ये स्कध क्षणमात्र ही स्थायी रहते हैं इसलिए उनका यह कथन भी न्यायोचित नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार इस ग्रन्थ में जहाँ एक ओर अहिंसा की महत्ता को हिंसा के दुष्परिणामों के माध्यम से उजागर किया गया है, वहीं दूसरी ओर तत्कालीन समाज की धर्म एवं दर्शन विषयक मान्यताओं को भी प्रस्तुत किया गया है। जैनधर्म व दर्शन के सिद्धान्तों को प्रतिष्ठापित करते हुए अन्य दर्शनों की मान्यताओं पर अपनी आपत्ति प्रस्तुत करके कवि ने उक्त उक्तियों के माध्यम से उनका

(शेष पृ० ३२ पर)

आचार्य श्री विद्यासागर का रस विषयक मन्तव्य

☐ डॉ० रमेशचन्द्र जैन, बिजनौर

काव्यशास्त्रियों ने नव रस कहे हैं—शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शान्त। सहृदयों को रस की अनुभूति कराना ही काव्य का मुख्य प्रयोजन है। यह आनन्द की अनुभूति सभी रसों में समान रूप से हुआ करती है। फिर भी भावक सामग्री के भेद से इसमें चित्त की चार अवस्थाएँ हो जाती है—विकास, विस्तार, क्षोभ और विक्षेप। शृंगार में चित्त का विकास होता है, वीर में विस्तार, बीभत्स मे क्षोभ और रौद्र मे विक्षेप, हास्य, अद्भुत भयानक और करुण मे भी क्रमशः विकास आदि चारों हुआ करते है। शान्त रस मे मुदिता, मैत्री, करुण और उपेक्षा ये चार चित्त की अवस्थायें हुआ करती हैं।

आचार्य विद्यासागर ने प्रसङ्गानुकूल रसों का विवेचन किया है। वीर रस के विषय म शिल्पी के मुख से कहलाया गया है कि वीर रस मे तीर का मिलना कभी सम्भव नहीं है और पीर का मिटना त्रिकाल असम्भव। आग का योग पाकर शीतल जल चाहे भले ही उबलता हो, किन्तु धधकती अग्नि को भी नियन्त्रित कर उसे बुझा सकता है। परन्तु वीर रस के सेवन से तुरन्त मानव खून उबलने लगता है, वह काबू मे नही आता। दूसरों को शान्त करना तो दूर, शान्त माहौल भी ज्वालामुखी के समान खौलने लगता है, इसके सेवन से जीवन मे उद्दण्डता का अतिरेक उदित होता है पर, पर अधिकार चलाने की भूख इसी का परिणाम है। मान का मूल बबूल के ठूठ की भाँति कड़ा होता है। मान को धक्का लगते ही वीर रस चिल्लाता है। वह आप भूल कर आगबबूला हो पुराण पुरुष की परम्परा को ठुकराता है। (पृ० १३१-१३२)

वीर रस के पक्ष मे हास्य रस कहता है वीर रस का अपना इतिहास है। जो वीर नही हैं, अवीर हैं, उन पर क्या उनकी तस्वीर पर भी अबीर नहीं छिटकाया जाता है। यह बात दूसरी है जाते समय अर्थी पर सुलाकर भले ही छिटकाया जाता हो। उनके इतिहास पर न रोना बनता है न हँसना। (पृ० १३२-१३३)

हास्य रस के विषय में कहा है कि हँसनशील प्रायः उतावला रहता है। कार्याकार्य का विवेक, गम्भीरता और धीरता उसमे नही होती। वह बालक सम बावला होता है। तभी स्थितप्रज्ञ हँसते नही है। आत्मविज्ञ मोह-माया के जाल में नही फँसते हैं। खेद भाव के विनाश हेतु हास्य हास्य का राग आवश्यक भले ही हो, किन्तु वैरभाव के विकास हेतु हास्य का त्याग अनिवार्य है; क्योंकि हास्य भी कषाय है। (पृ० १३३)

रौद्र रस के विषय में आचार्य ने कहा है कि रुद्रता विकृति है, विकार है। भद्रता प्रकृति का प्रकार है, उसकी अमिट लीला है। (पृ० १३५)

कवि को शृंगार नही रुचता। वह कहता है शृंगार के ये अंग-अंग उगारशील हैं। युग जलता जा रहा है। शृंगार के रंग-रंग अगार शील है, युग जलता जा रहा है (पृ० १४५) कवि के इस कथन मे वियोगी—कामी की वह स्थिति द्योतित होती है, जब कामदेव कामी को दिन-रात जलाता ही रहता है। उसे कपूर, हार, कमल, चन्द्रमा आदि विपरीत परिणत हुए दिखाई देने लगते हैं। ये वस्तुएँ उसे कुछ भी सुख नहीं पहुचाती।

बीभत्स रस शृंगार को नकारता है, उसे चुनता नही है। शृंगार के बहाव में प्रकृति की नासा बहने लगती है। कुछ गाढ़ा, कुछ पतला, कुछ हरा, पीला मल निकलता है, जिसे देखत ही घृणा होती है।

करुण रस को भवभूति ने प्रधान रस माना है। भवभूति के कारुण्योत्पादक काव्य को सुनकर—

"अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्।"

भवभूति के अनुसार करुण रस ही एकमात्र मुख्य रस

है। निमित्त घटना (विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों की विलक्षणता से) यह भिन्न-२ रूप धारण कर लेता है, परन्तु यथार्थतः वह एक ही होता है —

> एको रसः करुण एव निमित्त भेदाद्-
> भिन्नः पृथक्पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
> आवर्तबुद्बुदतरङ्गमयान्विकारान्,
> नम्भो यथा, सलिलमेव हितत्समग्रतम्॥
> —(उ० रामचरित ३।४७)

आचार्य विद्यासागर की दृष्टि मे करुण हेय नही, उसकी अपनी उपादेयता है, अपनी सीमा भी है। करुणा करने वाला अहं का पोषक भले ही न बने किन्तु स्वयं को गुरु-शिष्य अवश्य समझता है और जिस पर करुणा की जाती , वह स्वयं को शिशु शिष्य अवश्य समझता है। दोनों का मन द्रवीभूत होता है। शिष्य शरण लेकर द्रवीभूत होता है, गुरु शरण देकर कुछ अपूर्व अनुभव करते है। पर इसे सही सुख नही कहा जाता है। किन्तु इसमे दुःख मिटने और सुख के मिलने का द्वार अवश्य खुलता है। करुणा करने वाला बहिर्मुखी अवश्य होता है। जिस पर करुणा की जा रही है, वह अधोमुखी अवश्य होता है।

करुणा की दो दृष्टियां हैं—एक विषयलोलुपिनी, दूसरी विषय लोपिनी, दिशा बोधिनी।

करुणा रस मे शान्त रस का आविर्भाव मानना बडी भूल है। उछलती हुई उपयोग परिणति करुण है। इसे नहर की उपमा दी जा सकती है। उजली मे उपयोग परिणति शान्त रस है। इसकी उपमा नदी से दी जा सकती है। नहर खेत मे आकर सुख जाती है। नदी सागर को जाती है, राह को मिटा कर सुख पाती है। करुणा तरल है, वह दूसरे से प्रभावित होती है। शान्त रस दूसरे के बहाव मे बहता नहीं है जमाना पलटने पर भी अपने स्थान पर जम जाता है। इससे यह द्योतित होता है कि करुणा मे वात्सल्य का मिश्रण सम्भव नहीं है (पृ० १५४—१५७)। हलकी सी मधुरता क्षणभंगुर दर्शाती है।

करुणा रस जीवन का प्राण है, वात्सल्य जीवन का त्राण है। किन्तु शान्त रस जीवन का गान है। यह मधुरिम क्षीरधर्मी है। करुणा रस पाषाण को भी मोम बना देता है। वात्सल्य जघनतम नादान को भी सोम बना देता है। किन्तु यह लौकिक चमत्कार की बात हुई। शान्त रस संयम रत धीमान् को ही 'ओम' बना देता है। संक्षेपतः सब रसो का अंत होना ही शान्त रस है। (पृ० १६०)।

इस प्रकार आचार्य विद्यासागर के मत में करुण रस मे सब रस समा जाते हैं। सब रसो की सत्ता का विलीन हो जाना शान्त रस है। इस प्रकार आचार्य विद्यासागर की रस विषयक अवधारणा रतये नही व्युपशान्तये है, जो उनके सन्त हृदय को लक्षित करती है।

निमित्त और उपादान

> केवल उपादान कारण ही कार्य का जनक है।
> यह मान्यना दोषपूर्ण लगी।
> निमित्त की कृपा भी अनिवार्य है।
> हाँ हाँ !

उपादान कारण ही कार्य में ढलता है, यह अकाट्य नियम है। किन्तु उसके ढलने मे निमित्त का सहयोग भी आवश्यक है। इसे यूं कहे तो और उत्तम होगा कि—

> उपादान का कोई यहां पर
> पर-मित्र है⋯⋯तो वह, निश्चय से निमित्त है।
> जो अपने मित्र का
> निरन्तर नियमित रूप से
> गन्तव्य तक साथ देता है। (पृ० ४८१ मूकमाटी)

सूक्ति-रत्न

१. श्रमण का शृंगार ही समता-साम्य है। (पृ० ३३०)
२. मोह और असाता के उदय मे क्षुधा की वेदना होती है, यह क्षुधा-तृषा का सिद्धान्त है, मात्र इसका ज्ञान होना ही साधुता नही है, वरन् ज्ञान के साथ साम्य भी अनिवार्य है। (पृ० ३३०)
३. कोष के श्रमण बहुत बार मिले हैं। होश के श्रमण विरले ही होते है। (पृ० ३६१)
४. उस समता से क्या प्रयोजन जिसमे इतनी भी क्षमता नहीं है, जो समय पर भयभीत को अभय दे सके। (पृ० ३६१)।

५. जब आँखें आती हैं तो दुःख देती हैं, जब आँखें जाती हैं तो दुःख देती हैं। जब आँखें लगती हैं तो दुःख देती हैं। आँखों में सुख कहाँ ? ये आँखें दुःख की खनी हैं, सुख की हनी हैं। यही कारण है कि सन्त संयत साधुजन इन पर विश्वास नहीं रखते और सदा सर्वथा चरणों लखते विनीत दृष्टि हो चलते हैं। (पृ० ३५९-३६०)
६. एक के प्रति राग करना दूसरो के प्रति द्वेष सिद्ध करता है। जो रागी भी है, द्वेषी भी है, वह सन्त नहीं हो सकता। (पृ०३६३)
७. पाप भरी प्रार्थना से प्रभु प्रसन्न नहीं होते। पावन प्रसन्नता पाप के त्याग पर आधारित है।
८. स्व को स्व के रूप में पर को पर के रूप में जानना ही सही ज्ञान है। स्व में रमण करना ही सही ज्ञान का फल है। (पृ० ३७५)
९. तन और मन का गुलाम ही पर-पदार्थों का स्वामी बनना चाहता है। (पृ० ३७५)
१०. सूखा प्रलोभन मत दिया करो, स्वाश्रित जीवन जिया करो। (पृ० ३८७)
११. पर के दुःख का सदा हरण हो। जीवन उदारता का उदाहरण बने। (पृ० ३८८)

(मूक माटी महाकाव्य)

—: o :—

पृ० २९ का शेषांश)

खण्डन करने का प्रयास किया है। दार्शनिक मान्यताओ के समीक्षात्मक विश्लेषण को प्रस्तुत करने के लिए इस ग्रंथ में चार्वाक, बौद्ध, सांख्य व वेदान्त आदि दर्शनों को मुख्य बिन्दु बनाया गया है। इस तरह दार्शनिक दृष्टि से इस इस ग्रन्थ मे पर्याप्त सामग्री मिलती है जो भारतीय संस्कृति को जानने में एक कड़ी का कार्य करती है।

—सहायक आचार्य प्राकृत भाषा एवं साहित्य विभाग,
जैन विश्वभारती इस्टीट्यूट (मान्य विश्वविद्यालय)
लाडनूं—(राज०), ३४१ ३०६

सन्दर्भ-सूची

१. महापुराण (पुष्पदन्त) सम्पा. व अनु.—पी. एल. बौद्ध, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली [भाग १-४)।
२. णायकुमारचरिउ (पुष्पदन्त) सम्पा व अनु.—डा. हीरालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली १९७२.
३. जसहरचरिउ (पुष्पदन्त) सम्पा. व अनु.—डा. पी. एल. वैद्य एवं डा. हीरालाल जैन भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९९२.
४. जगि वेउ मूलुधम्मछिवहो, वेएण मग्गु भासिउ णिवहो। तं किज्जइ बलि वेए महिउ, पसु मारणु परमधम्मु कहिउ। पसु हम्मइ पलु जिम्मइ सग्गहो मोक्खहो गम्मइ ।। जस० २।१५।८-१०
५. जस०—२।१६.
६. वही—३।११।१०.
७. वही - ।२९।१-६.
८. णयकुमारचरिउ—९।१।७-१९.
९. जस०—२।१८.
१०. वही—२।१४।६.
११. अण्णु धम्मु गुणु मोक्खु ण याणमि। हउँ पंचिदिय सोक्खइँ माणमि ।। जस० ३।९।३.
१२. जस०—३।२०।७-८.
१३. वही—३।२६।३.
१४. वही—३।२६।४.
१५. वही—३।२१।१५-१६.
१६. इरा एंतु सदुएउ दीसइ, पर कण्णम्मि लग्गओ। णज्जइ जेम तेम जगि जीउ वि बहुजोणीकुलं गओ ।। —जस० ३।२२।१-२.

ग्राह्य ज्ञान-कण

—दर्शन मोह के नाश होने पर चारित्रमोह की दशा स्वामीहीन कुत्ते की तरह हो जाती है—भौंकता है परन्तु काटने में समर्थ नहीं।

× × × ×

—आज तक हमने धर्मसाधन बहुत किया परन्तु उसका प्रयोजन जो रागादि निवृत्ति है उस पर दृष्टि नहीं दी। फल यह हुआ कि टस से मस नहीं हुए।

× × × ×

—पर-द्रव्य और पर-भाव संसार में भ्रमण के कारण हैं। पर-द्रव्य तो पर दिखाई देता ही है—मगर पर-भाव भी पर ही है, क्योंकि वह भी पर-द्रव्य की उपस्थिति से है—इसलिए पर-भाव भी पर ही है।

× × × ×

—वह दिन सबसे अभिशप्त मानना चाहिए जब इन्सान के दिल में बेईमानी से एक भी रुपया हासिल करने का विचार उत्पन्न हुआ हो।

× × × ×

—कठोर और कड़ी मेहनत की आदत, चाहे लोग इससे घबराते ही हों, हमारे कण्ठ में पुष्पहार की भाँति सुवासित-सुसज्जित रहती है।

× × × ×

—मेरा कुछ भी नहीं है—ऐसी भावना के साथ स्थिर हो। ऐसा होने पर तू तीन लोक का स्वामी (मुक्त) हो जायगा। यह तुझे परमात्मा का रहस्य बतला दिया है।

× × × ×

—जीव द्रव्य चेतन है और पुद्गल जड़ है—कोई जीव न तो पुद्गलरूप परिणमन करता है और न उसको ग्रहण करता है और न उसमें उपजता है। हाँ, जीव का स्वभाव जानना है सो उसको जानता है—ऐसा समझना।

× × × ×

—घर को छोड़ा, जगत को घर बना लिया। घर में तो परिमित कुटुम्ब होता है—यहाँ तो उसकी सीमा नहीं। यही ममता तो संसार की माता है।

—श्री शान्तिलाल जैन कागजी के सौजन्य से

विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते है। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो। पत्र में विज्ञापन एवं समाचार प्रायः नहीं लिए जाते।

कागज प्राप्ति :—श्रीमती अंगूरी देवी जैन, धर्मपत्नी श्री शान्तिलाल जैन कागजी नई दिल्ली-२ के सौजन्य से

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द । ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५-००

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ७-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : स० पं० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, सात विषयों पर शास्त्रीय तर्कपूर्ण विवेचन २-००

Jaina Bibliography : Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References.) In two Vol.

Volume I contains 1 to 1044 pages, volume II contains 1045 to 1918 pages size crown octavo.

Huge cost is involved in its publication. But in order to provide it to each library, its library edition is made available only in 600/- for one set of 2 volume. 600-00

सम्पादन परामर्शदाता : **श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन**, सम्पादक : **श्री पद्मचन्द्र शास्त्री**

प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीरसेवामन्दिर के लिए मुद्रित, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५३

प्रिन्टेड
पत्रिका बुक-पैकिट

वीर सेवा मन्दिरका त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ४५ : कि० २ अप्रैल-जून १९९२

इस अंक में—

प्रकाशक :

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

नैतिक शिक्षा-समिति : आशा की किरण

गर्मियों की छुट्टियों में दिगम्बर जैन नैतिक शिक्षा समिति दिल्ली ने राजधानी की इक्कीस कालोनियों में शिक्षण शिविर आयोजित किये। विद्वानों द्वारा प्रातः बच्चों को धर्म की प्रारम्भिक जानकारियां दी जाती थीं और रात्रि में समाज के पुरुषों और महिलाओं को धार्मिक शिक्षा दी जाती थी। लगभग ४००० शिक्षार्थी इन शिविरों से लाभान्वित हुए। बच्चों में देवदर्शन, पूजा, शाकाहार करने, रात्रि में भोजन नहीं करने, वर्क आदि अभक्ष्य ग्रहण नहीं करने के संस्कार भरे गये।

दिनांक ५-७-९२ को समापन समारोह में १४ बच्चों ने अपने भाषण दिये और उन्होंने स्वीकार किया कि इस तरह के शिविर वास्तव में हमारे जीवन को ऊँचा उठाने में सक्षम हैं।

समारोह के मुख्य अतिथि श्री चक्रेशकुमार जैन, महासचिव लोक सभा थे और अध्यक्षता महासमिति के अध्यक्ष श्री रतनलाल गंगवाल ने की। इस अवसर पर दिल्ली नगर के ५०० से अधिक लोग उपस्थित थे। इस अवसर पर शिविर के विद्वानों को सम्मानित भी किया गया।

नैतिक शिक्षा का यह कार्य-क्रम अब उत्तर प्रदेश और हरियाणा में भी चलाये जाने की योजना है। इस समारोह में श्री जैनेन्द्र कुमार जैन एडवोकेट रोहतक, श्री ताराचन्द प्रेमी हरियाणा व श्री जयनारायण जैन मेरठ भी उपस्थित थे।

समिति के संरक्षक श्री सुभाष जैन (शकुन प्रकाशन), श्री पदमप्रसाद जैन (सुप्रीम होजरी), अध्यक्ष श्री धनपाल सिंह जैन तथा मंत्री श्री विमल प्रसाद जैन (डेसू) हैं। सभी को हमारी बधाई। हम आशा करें कि ऐसे आयोजन बड़े पैमानों पर जगह-जगह होंगे—और जैन संस्कारों के प्रचार को बल मिलेगा।

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०
वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे
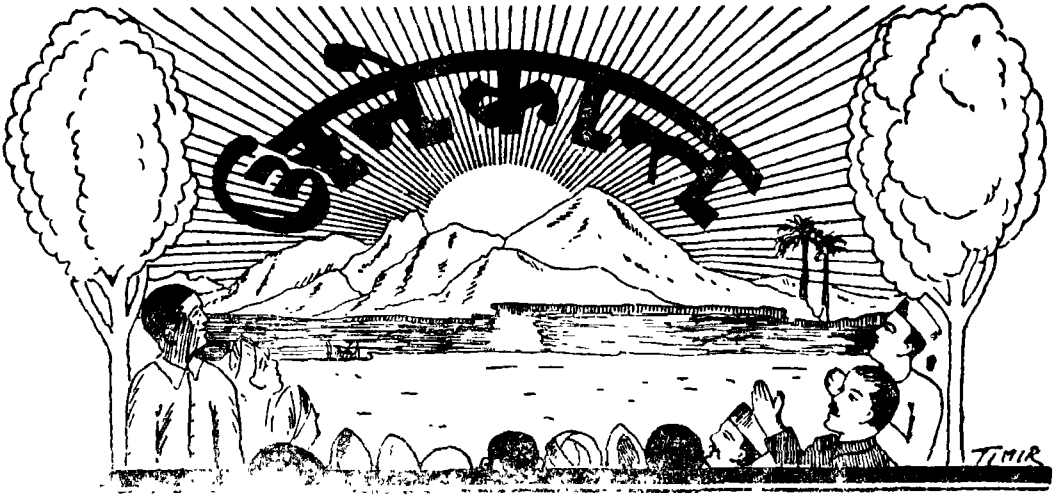
परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वर्ष ४५ किरण २ } वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ वीर-निर्वाण सवत् २५१८, वि० स० २०४६ { अप्रैल-जून १६६२

पंच परमेष्ठियों का स्वरूप

घण-घाइकम्म-रहिया केवलणाणाइ-परमगुण-सहिया ।
चोत्तिस-अदिसअ-जुत्ता अरिहंता एरिसा होंति ।।
णट्ठट्ठ-कम्मबंधा अट्ठ-महागुण-समण्णिया परमा ।
लोयग्ग-ठिदा णिच्चा सिद्धा ते एरिसा होंति ।।
पंचाचार-समग्गा पंचिंदिय-दंति-दप्प-णिद्दलणा ।
धीरा गुण-गंभीरा आयरिया एरिसा होंति ।।
रयणत्तय-संजुत्ता जिण-कहिय-पयत्थ-देसया सूरा ।
णिक्कंखभाव-सहिया उवज्झाया एरिसा होंति ।।
वावार-विप्पमुक्का चउव्विहाराहणासयारत्ता ।
णिग्गंथा णिम्मोहा साहू एदेरिसा होंति ।।

अर्थ--घन-घातिकर्म से रहित, केवलज्ञानादि परम गुणो से सहित और चौंतीस अतिशयों से युक्त अर्हन्त होते हैं ।।७१।। जिन्होंने आठ कर्मों के बन्ध को नष्ट कर दिया है, जो आठ गुणों से संयुक्त, परम, लोक के अग्रभाग में स्थित और नित्य हैं, वे सिद्ध हैं ।।७२।। जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य इन पाँच आचारों से परिपूर्ण, पाँच इन्द्रियरूपी हाथी के मद को दलने वाले, धीर और गुण-गम्भीर हैं, वे आचार्य हैं ।।७३।। जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीन रत्नों से युक्त, जिनेन्द्र के द्वारा कहे गये पदार्थों का उपदेश करने में कुशल और आकांक्षा रहित हैं, वे उपाध्याय है ।।७४।। जो सभी प्रकार के व्यापार से रहित हैं, सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तपरूप चार प्रकार की आराधना में लीन रहते है, बाहरी-भीतरी परिग्रह से रहित तथा निर्मोह हैं, वे ही साधु हैं ।।७५।।

अकलङ्कदेव की मौलिक कृति तत्त्वार्थवार्तिक

☐ डॉ॰ रमेशचन्द्र जैन, बिजनौर

जैनागमो की मूलभाषा प्राकृत रही है। संस्कृत में सर्वप्रथम जैन रचना होने का श्रेय गृद्धपिच्छाचार्य उमास्वामिकृत तत्त्वार्थसूत्र को है। तत्त्वार्थसूत्र सूत्र शैली में लिखा गया है। सूत्र रूप मे ग्रथित इस ग्रन्थ मे जैन तत्त्वज्ञान का सागर भरा हुआ है। लघुकाय सूत्रग्रन्थ होने पर भी यह 'गागर मे सागर' भरे जाने की उक्ति को चरितार्थ करता है। यही कारण है कि जैनधर्म की दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो परम्पराओ मे यह मान्य है। इस सूत्र ग्रन्थ का मुख्य नाम तत्त्वार्थ है। इस नाम का उल्लेख टीकाकारो ने किया है, जिसमे आचार्य पूज्यपाद, अकलङ्कदेव और विद्यानन्द प्रमुख हैं। जीव, अजीव, आस्रव, बध, सवर निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्वार्थ हैं। इन्ही सात तत्त्वार्थों का तत्त्वार्थसूत्र मे विवेचन है। ग्रन्थ की महत्ता को देखते हुए इस पर अनेक टीकाएँ लिखी गयीं। दिगम्बर परम्परा मे इस पर सबसे प्राचीन टीका आचार्य पूज्यपाद देवनन्दि कृत सर्वार्थसिद्धि प्राप्त होती है। यद्यपि सर्वार्थसिद्धि मे कुछ प्रमाण ऐसे हैं, जिनसे पता चलता है कि इससे पूर्व भी कुछ टीकाएँ लिखी गई थीं, जो आज अनुपलब्ध है। श्वेताम्बर परम्परा मे इस पर तत्त्वार्थाधिगम भाष्य प्राप्त होता है, जो स्वोपज्ञ कहा जाता है। किन्तु इसके स्वोपज्ञ होने में विद्वानो ने सन्देह व्यक्त किया है[1]। सर्वार्थसिद्धि मे तत्त्वार्थसूत्र का जो पाठ निर्धारित किया गया है, दिगम्बर परम्परा के सभी विद्वान् आचार्यों ने उसका अनुसरण किया है। सर्वार्थसिद्धि को ही दृष्टि मे रखते हुए उस पर भट्ट अकलङ्कदेव ने तत्त्वार्थवार्तिक और आचार्य विद्यानन्द ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक जैसी प्रौढ और गहन तत्त्वज्ञान से ओतप्रोत अनेक टीकाएँ लिखी हैं। इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्र पर सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक के जोड की टीकाएँ नही मिलती हैं, यद्यपि सख्या की दृष्टि से अनेक टीकाएँ प्राप्त हैं। समकालीन या परवर्ती समस्त टीकाएँ इन टीकाग्रन्थों से प्रभावित है। प्रस्तुत लेख का प्रतिपाद्य तत्त्वार्थवार्तिक ही है।

तत्त्वार्थवार्तिक तत्त्वार्थसूत्र पर अकलङ्कदेव द्वारा अतिगहन, प्रखर दार्शनिकता और प्रौढ शैली में लिखी गई मौलिक कृति है। इसे तत्त्वार्थराजवार्तिक अथवा राजवार्तिक के नाम से भी जाना जाता है। वार्तिककार अकलङ्कदेव ने सर्वार्थसिद्धि का अनुसरण करने के साथ-२ उसकी अधिकांश पंक्तियो को अपनी वार्तिक बना लिया है। वार्तिक के साथ उसकी व्याख्या भी है। चूंकि तत्त्वार्थसूत्र मे दस अध्याय है, अतः तत्त्वार्थवार्तिक मे दस ही अध्याय हैं, किन्तु उद्योत करके न्यायवार्तिक की तरह प्रत्येक अध्याय को आह्निको में विभक्त कर दिया गया है। इससे पहले जैन साहित्य में अध्याय के आह्निकों मे विभाजन करने की पद्धति नहीं पाई जाती। अकलङ्कदेव द्वारा तत्त्वार्थवार्तिक में दिए गए वार्तिक प्रायः सरल और संक्षिप्त है, किन्तु उनका व्याख्यान जटिल है। इस ग्रन्थ में अकलङ्कदेव के दार्शनिक, सैद्धान्तिक और वैयाकरण तीन रूप उपलब्ध होते हैं[2]।

दार्शनिक वैशिष्ट्य

तत्त्वार्थवार्तिक के अध्ययन से यह बात स्पष्ट पता चलती है कि इसके रचनाकार भट्ट अकलङ्कदेव विभिन्न भारतीय दर्शनों के तलस्पर्शी अध्येता थे। उन्होने विभिन्न दर्शनो के मन्तव्यों की समीक्षा कर अनेकान्तिक पद्धति से समाधान करने की परम्परा को विकसित किया। उनका वाङ्मय गहन है। विद्वान् भी उसका विवेचन करने मे कठिनाई का अनुभव करते है। उनके विषय मे वादिराज सूरि ने कहा है—

"भूयोभेदनयावगाहगहन देवस्य यद्वाङ्मयम्।
कस्तद्विस्तरतो विविच्य वदितुं मन्दः प्रभुर्मादृशः॥"

अर्थात् "अकलङ्कदेव की वाणी अनेक भङ्ग और नयों से व्याप्त होने के कारण अतिगहन है। मेरे समान अल्पज्ञ प्राणी उनका विस्तार से कथन और वह भी विवेचनात्मक कैसे कर सकता है?"

तत्त्वार्थवार्तिक मे न्याय वैशेषिक, बौद्ध, सांख्य, मीमांसा तथा चार्वाक मतों की समीक्षा प्राप्त होती है। इसमे न्याय, वैशेषिक और बौद्धदर्शन की समीक्षा अनेक स्थलो पर की गई है। अकलङ्कदेव का उद्देश्य इन दर्शनों की समीक्षा के साथ-साथ इनके प्रहारो से जैन तत्त्वज्ञान की रक्षा करना भी रहा है। इसमे वे पर्याप्त सफल भी हुए हैं। उन्होने जैन न्याय की ऐसी शैली को जन्म दिया, जिसके प्रति बहुमान रखने के कारण परवर्ती जैन ग्रन्थकार इसे अकलङ्क न्याय के नाम से अभिहित करते हैं। उनकी शैली को परवर्ती जैन न्याय ग्रन्थकारो ने, चाहे वे दिगम्बर परम्परा के रहे हो या श्वेताम्बर परम्परा के, खूब अपनाया। इस रूप मे आचार्य समन्तभद्र और सिद्धसेन के बाद जैन न्याय के क्षेत्र में उनका नाम बड़े गौरव के साथ लिया जाता है। यहाँ हम उनके द्वारा की गई विभिन्न दर्शनों की समीक्षा पर प्रकाश डालते हैं।

वैशेषिक समीक्षा—तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम अध्याय के प्रथम सूत्र की व्याख्या मे सांख्य, वैशेषिक और बौद्धो के मोक्ष के स्वरूप का वर्णन किया गया है। वैशेषिक आत्मा के बुद्धि, सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, और संस्कार रूप नव विशेष गुणों के अत्यन्त उच्छेद को मोक्ष कहते हैं। ऐसा मानते हुए भी कर्मबन्धन के विनाश रूप मोक्ष के सामान्य लक्षण मे किसी को विवाद नहीं है[१]।

वैशेषिक के मत से द्रव्य, गुण और सामान्य पदार्थ पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र हैं, इसलिए उनके मत मे उष्ण गुण के योग से अग्नि उष्ण है, ऐसा कहा जा सकता है, स्वयं अग्नि उष्ण नहीं हो सकती। अयुतसिद्ध लक्षण समवाय यह इसमें है, इस प्रकार की बुद्धि प्रवृत्ति का कारण होता है, इसलिए गुण-गुणी मे अभेद का व्यपदेश होता है और इस समवाय सम्बन्ध के कारण ही उष्णत्व के समवाय से गुण में उष्णता तथा उष्ण गुण के समवाय से अग्नि उष्ण हो जाती है[२]।

इसके उत्तर मे अकलङ्कदेव ने कहा है कि ऐसा नहीं है; स्वतन्त्र पदार्थों मे समवाय के नियम का अभाव है। यदि उष्ण गुण एव अग्नि परस्पर भिन्न हैं तो ऐसा कौनसा प्रतिविशिष्ट नियम है कि उष्ण गुण का समवाय अग्नि में ही होता है, शीत गुण मे नही? उष्णत्व का समवाय उष्ण गुण में ही होता है—शीत गुण में नही, इस प्रकार का प्रतिनियम दृष्टिगोचर नही होता[३]।

इसके अतिरिक्त समवाय के खण्डन में अनेक युक्तियाँ दी गई हैं—

१. वृत्त्यन्तर का अभाव होने से समवाय का अभाव है[४]।

२. समवाय प्राप्ति है, इसलिए उसमें अन्य प्राप्तिमान् का अभाव है, ऐसा भी नही है; क्योंकि इस प्रकार के कथन मे व्यभिचार आता है[५]।

दीपक के समान समवाय स्व और पर इन दोनो का सम्बन्ध करा देगा, ऐसा कहना भी उचित नही है, ऐसा मानने पर समवाय में परिणामित्व होने से अनन्यत्व की सिद्धि होगी[६]।

इन सब कारणों से गुणादि को द्रव्य की पर्यायविशेष मानना युक्तिसगत है।

वैशेषिक मानते हैं कि इच्छा और द्वेष से बन्ध होता है। इच्छा-द्वेषपूर्वक धर्म और अधर्म मे प्रवृत्ति होती है। धर्म से सुख और अधर्म से दु:ख होता है तथा सुख-दु:ख से इच्छा-द्वेष होते है। विमोही के इच्छा-द्वेष नही होते; क्योंकि तत्त्वज्ञ के मिथ्यादर्शन का अभाव है। मोह ही अज्ञान है। विमोही षट्पदार्थ तत्त्व के ज्ञाता वैरागी यति के सुख-दु:ख, इच्छा और द्वेष का अभाव है। इच्छा-द्वेष के अभाव से धर्म, अधर्म का भी अभाव हो जाता है। धर्म-अधर्म के अभाव में नूतन शरीर और मन के संयोग का अभाव हो जाता है। धर्म-अधर्म के अभाव मे नूतन शरीर और मन के सयोग का अभाव हो जाता है। शरीर और मन के संयोग के अभाव में जन्म नही होता, वह मोक्ष है[७]। इस प्रकार अज्ञान से बन्ध होता है, यह वैशेषिक भी मानता है।

अकलङ्कदेव के अनुसार वस्तु सामान्य विशेषात्मक है। इसे वे वैशेषिक मे भी घटित करते हैं। वैशेषिक पृथिवीत्व आदि सामान्य-विशेष स्वीकार करते हैं। एक

ही पृथिवीत्व स्व-व्यक्तियों में अनुगत होने से सामान्यात्मक होकर भी जलादि से व्यावृत्ति कराने का कारण होने से विशेष कहलाता है। इस प्रकार एक ही वस्तु में सामान्य विशेषात्मक स्वीकार करने वाले वैशेषिक सिद्धान्त में भी एक वस्तु के उभयात्मक मानने मे विरोध नहीं आता[१०]।

प्रथम अध्याय के दसवें सूत्र की व्याख्या मे ज्ञाता और प्रमाण भिन्न-२ हैं, ऐसा मानने वाले वैशेषिक के अज्ञत्व दोष आता है, इसका विवेचन किया है। यदि ज्ञान से आत्मा पृथक् है तो आत्मा के घट के समान अज्ञत्व का प्रसङ्ग आएगा। ज्ञान के योग से ज्ञानी होता है, यह कहना भी ठीक नही; क्योंकि जो स्वय अज्ञानी है, वह ज्ञान के सयोग से ज्ञानी नही हो सकता। जैसे जन्म से अन्धा दीपक का सयोग होने पर भी दृष्टा नहीं बन सकता, इसी प्रकार अज्ञ आत्मा भी ज्ञान के सयोग से ज्ञाता नही हो सकता[११]।

प्रथम अध्याय के बत्तीसवें सूत्र की व्याख्या मे कहा गया है कि वैशेषिको का मत है कि प्रतिनियत (भिन्न-२) पृथ्वी आदि जाति विशिष्ट परमाणु से अदृष्टादि हेतु के सन्निधान होने पर एकत्रित होकर अर्थान्तरभूत घटादि कार्यरूप आत्मलाभ होता है, यह कहना युक्तिसगत नही है; क्योंकि वैशेषिक के अनुसार परमाणु नित्य है, अत: उसमें कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति का अभाव है[१२]।

इसी प्रकार ५वें अध्याय के प्रथम सूत्र मे मोक्ष के कारणो के विषय मे विभिन्न वादियों के मतो का कथन करते हुए न्यायदर्शन की मान्यता की ओर सकेत किया गया है कि वे मानते हैं कि ज्ञान से ही मोक्ष होता है[१३]। तत्त्वज्ञान से सभी के उत्तर की (मिथ्याज्ञान) की निवृत्ति हो जाने पर उसके अनन्तर अर्थ है, उसकी भी निवृत्ति हो जाती है। मिथ्याज्ञान के अनन्तर क्या है? दोष है; क्योंकि दोष मिथ्याज्ञान का कार्य है। दोष कार्य होने से दोष के अनन्तर प्रवृत्ति है, क्योंकि दोष के अभाव में प्रवृत्ति का अभाव है। प्रवृति के उत्तर जन्म है, प्रवृत्ति का कार्य होने से। प्रवृत्ति रूप कारण के अभाव मे जन्म रूप कार्य का भी अभाव हो जाता है। जन्म के उत्तर दु:ख है, इसलिए जन्म के अभाव मे दु:ख का भी नाश हो जाता है। अत: कारण की निवृत्ति होने पर कार्य की निवृत्ति होना स्वाभाविक है। आत्यन्तिक दु.ख की निवृत्ति होना ही मोक्ष है; क्योंकि सुख-दु:ख का अनुपयोग ही मोक्ष कहलाता है[१४]।

जैनदर्शन के अनुसार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की समग्रता के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है। जैसे रसायन के ज्ञानमात्र से रसायनफल अर्थात् रोगनिवृत्ति नहीं हो सकती; क्योंकि इसमे रसायन श्रद्धान और रसायनक्रिया का अभाव है। पूर्ण फल की प्राप्ति के लिए रसायन का विश्वास, ज्ञान और उसका सेवन आवश्यक है। उसी प्रकार दर्शन और चारित्र के अभाव मे ज्ञानमात्र से मोक्ष की प्राप्ति नहीं सकती[१५]।

नैयायिक मानते है कि शब्द आकाश का गुण है, वह वायु के अभिघात आदि बाह्य कारणो से उत्पन्न होता है, इन्द्रिय प्रत्यक्ष है, गुण है, अन्य द्रव्यो मे नहीं पाया जाता, निराधार गुण नही रह सकते, अत: शब्द अपने आधारभूत गुणी आकाश का अनुमान करता है, ऐसा कहना युक्तिसगत नहीं है; क्योंकि पौद्गलिक होने से पुद्गल का विकार ही शब्द है, आकाश का गुण नहीं है[१६]।

पाँचवें अध्याय के २५वें सूत्र की व्याख्या मे यह सिद्ध किया गया है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु स्कन्ध के ही भेद हैं तथा स्पर्श, रस, शब्द आदि स्कन्ध की पर्यायें हैं। इससे नैयायिक के इस सिद्धान्त का खण्डन किया गया है कि पृथ्वी मे चार गुण, जल में गन्धरहित तीन गुण, अग्नि मे गन्ध और रस रहित दो गुण तथा वायु मे केवल स्पर्श गुण है। ये सब पृथिव्यादि जातियाँ भिन्न-२ हैं[१७]।

सल्लेखना के प्रसङ्ग मे कहा गया है कि जो वादी (नैयायिक) आत्मा को निष्क्रिय कहते हैं, यदि उनके पुन: साधुजन सेवित सल्लेखना करने वाले के लिए आत्मवध दूषण है तो ऐसा कहने वाले के आत्मा को निष्क्रिय मानने की प्रतिज्ञा खण्डित हो जाती है। निष्क्रियत्व स्वीकार करने पर आत्मवध की प्राप्ति नहीं हो सकती[१८]।

दान के प्रसङ्ग में कहा गया है कि आत्मा में नित्यत्व, अज्ञत्व और निष्क्रियत्व मानने पर दानविधि नहीं बन सकती। जिनके सिद्धान्त में सत्स्वरूप आत्मा अकारण होने से कूटस्थनित्य है और ज्ञानादि गुणों से भिन्न होने

से (अर्थान्तरभूत होने से) आत्मा अज्ञ है और सर्वगत होने से निष्क्रिय है, उनके भी विधिविशेष आदि से फलविशेष की प्राप्ति नहीं हो सकती; क्योंकि ऐसी आत्मा में कोई विकार-परिवर्तन की सम्भावना नही है[१९]।

पाँचवें अध्याय के दूसरे सूत्र की व्याख्या में नैयायिको के 'द्रव्यत्व योगात् द्रव्य' की विस्तृत समीक्षा की गई है।

चार्वाक दर्शन समीक्षा—पाँचवें अध्याय के २२वें सूत्र में शरीरादि को पुद्गल का उपकार कहा है। उक्त प्रसंग में कहा गया है—तन्त्रान्तरीया जीवं परिभाषन्ते, तत्कथं इति[२०]। अर्थात् अन्य वादी (चार्वाकादि) जीव को पुद्गल कहते हैं, वह कैसे? इस प्रश्न के उत्तर मे सूत्र कहा गया है कि स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण वाले पुद्गल हैं।

मीमांसा दर्शन समीक्षा—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनों की एकता से मोक्ष होता है, इस सिद्धान्त के प्रतिपादन के प्रसग मे अन्य मतों की समीक्षा के साथ मीमांसा के इस सिद्धान्त की भी समीक्षा की गई है कि क्रिया से ही मोक्ष होता है[२१]।

प्रथम अध्याय के बारहवें सूत्र की व्याख्या मे प्रत्यक्ष के लक्षण के प्रसंग में बौद्ध, वैशेषिक और सांख्य की समीक्षा के साथ मीमांसकों के इस मत की समीक्षा की गई है कि "इन्द्रियों का सम्प्रयोग होने पर पुरुष के उत्पन्न होने वाली बुद्धि प्रत्यक्ष है[२२]। मीमासको क इस मत को स्वीकार किया जायगा अर्थात् इन्द्रियनिमित्त से होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष माना जाएगा तो आप्त के प्रत्यक्ष ज्ञान नही हो सकता[२३]।

पांचवें अध्याय के सत्रहवें सूत्र मे कहा गया है कि अपूर्व नामक धर्म (पुण्य-पाप) क्रिया से अभिव्यक्त होकर अमूर्त होते हुए भी पुरुष का उपकारी है अर्थात् पुरुष के उपभोग साधनों मे निमित्त होता ही है, उसी प्रकार अमूर्त धर्म और अधर्म द्रव्य को भी जीव और पुद्गलो की गति और स्थिति में उपकारक समझना चाहिए[२४]।

पाँचवें अध्याय के २४वें सूत्र की व्याख्या मे स्फोटवादी मीमांसकों के विषय में कहा गया है कि वे मानते हैं कि ध्वनियाँ क्षणिक हैं। वे क्रम से उत्पन्न होती हैं और अनन्तर क्षण में विनष्ट हो जाती हैं। अतः उन ध्वनियों से अभिव्यक्त होने वाला, अर्थ के प्रतिपादन में समर्थ, अमूर्त, नित्य, अतीन्द्रिय, निरवयव और निष्क्रिय शब्दस्फोट स्वीकार करना चाहिए। उनका यह मत ठीक है अर्थात् शब्द को क्षणिक, अमूर्त, निरवयव और निष्क्रिय शब्द-स्फोट मानना उचित नहीं; क्योंकि ध्वनि और स्फोट में व्यंग्य-व्यंजक भाव नहीं है[२५]।

सांख्य दर्शन समीक्षा—प्रथम अध्याय के प्रथम सूत्र की व्याख्या मे विभिन्न वादियो की मोक्ष की परिभाषा के साथ सांख्यदर्शन की मान्यता की ओर भी निर्देश किया गया है। सांख्य यद्यपि प्रकृति और पुरुष का भेदविज्ञान होने पर स्वप्न में लुप्त हुए विज्ञान के समान अनभिव्यक्त चैतन्यस्वरूप अवस्था को मोक्ष मानता है[२६]। तथापि कर्मबन्धन के विनाशरूप मोक्ष के सामान्य लक्षण मे किसी को विवाद नहीं है[२७]।

पंचम अध्याय में आकाश के प्रदेशों की अनन्तता के विषय में आपत्ति होने पर बौद्ध और वैशेषिक द्वारा अनन्त को मान्यता दिए जाने का उल्लेख करते हुए सांख्य सिद्धान्त के विषय में कहा गया है कि सांख्य सिद्धान्त में सर्वगत होने से प्रकृति और पुरुष के अनन्तता कही गई है[२८]।

जैनधर्म में धर्म और अधर्म द्रव्य को गति और स्थिति मे साधारण कारण माना है। यदि ऐसा न मानकर आकाश को सर्वकार्य करने मे समर्थ माना जायगा तो वैशेषिक, बौद्ध और सांख्य सिद्धान्त से विरोध आएगा। उदाहरणार्थ सांख्य सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण मानते हैं। सत्त्व गुण का प्रसाद और लाघव, रजोगुण का शोष और ताप तथा तमोगुण का आवरण और सादनरूप भिन्न भिन्न स्वभाव है। यदि व्यापित्व होने से आकाश को ही गति एव स्थिति में उपग्रह (निमित्त) मानते हैं तो व्यापित्व होने से सत्त्व को ही शोष तापादि रजोगुणधर्म और सादन आवरण आदि तमोधर्म मान लेना चाहिए; रज, तम गुण मानना निरर्थक है तथा और भी प्रतिपक्षी धर्म हैं। उनको एक मानने से सङ्कर दोष आएगा। उसी प्रकार सभी आत्माओं मे एक चैतन्य रूपता और आदान-अभोगता समान है, अतः एक ही आत्मा मानना चाहिए, अनन्त नहीं अर्थात् आत्मा भी चैतन्य भोक्तृ आदि समान होने से

सर्व आत्मा में एकत्व का प्रसङ्ग आएगा[29]।

पांचवें अध्याय के सत्रहवें सूत्र की व्याख्या मे कहा गया है कि जैसे अमूर्त भी प्रधान पुरुषार्थ प्रवृत्ति से महान् अहंकार आदि विकार रूप से परिणत होकर पुरुष का उपकार करता है, उसी प्रकार अमूर्त धर्म और अधर्म द्रव्य को भी जीव और पुद्गलों की गति और स्थिति मे उपकारक समझना चाहिए[30]।

सांख्य का आकाश को प्रधान का विकार मानना ठीक नही है; क्योंकि आत्मा की तरह प्रधान के भी विकार रूप परिणमन नही हो सकता।

प्रश्न—सत्व, रज और तम इन तीन गुणों की साम्य अवस्था ही प्रधान है, उस प्रधान मे उत्पादक स्वभावता है। उस प्रधान के विकार महान्, अहकार आदि है तथा आकाश भी प्रधान का एक विकार है।

उत्तर—यह कथन भी अयुक्त है; क्योंकि प्रधान परमात्मा के समान नित्य, निष्क्रिय, अनन्त आदि अविशेषपने से परमात्मा का आविर्भाव और तिरोभाव नहीं होने से उसमे परिणमन का अभाव है, उसी प्रकार आत्मा के समान अविशेष रूप से नित्य, निष्क्रिय और अनन्त होने से प्रधान के भी विकार का अभाव है और प्रधान के विकार का अभाव होने से "प्रधान का विकार आकाश है', इस कल्पना का व्याघात होता है। अथवा जैसे प्रधान के विकार घट के अनित्यत्व, मूर्त्तत्व और असर्वगतत्व है, उसी प्रधान का विकार होने से आकाश के भी अनित्यत्व, अमूर्त्तत्व और असर्वगतत्व होना चाहिए या फिर आकाश की तरह घट के भी नित्यत्व, अमूर्त्तत्व और सर्वगतत्व होना चाहिए; क्योंकि एक कारण से दो परस्पर अत्यन्त विरोधी नहीं हो सकते[31]।

छठे अध्याय के दसवें सूत्र की व्याख्या में कहा गया है कि कारण तुल्य होने से कार्य तुल्य होना चाहिए, इस पक्ष में प्रत्यक्ष और आगम से विरोध आता है। मिट्टी के पिण्ड से घट, घटी, शराव, उदञ्चन आदि अनेक कार्य होने से उपर्युक्त सिद्धान्त से प्रत्यक्ष विरोध आता है। सांख्य एक प्रधान तुल्य कारण से महान् अहंकार आदि नाना कार्य मानते है[32]।

वस्तुओं में भिन्न-२ स्वभाव स्वीकार किए जाने में सांख्य का भी उदाहरण दिया गया है, जहाँ सत्त्व, रज, तम गुणो का प्रकाश, प्रवृति और नियम आदि स्वभाव माना गया है[33]।

योगदर्शन—मोक्ष के कारणो के विषय मे विभिन्न वादियों के मत वैभिन्न को दिखलाते हुए योगदर्शन की मान्यता की ओर निर्देश किया गया है, जिसके अनुसार ज्ञान और वैराग्य से मोक्ष होता है। पदार्थों के अवबोध को ज्ञान कहते है और विषयसुख की अभिलाषाओं के त्याग अर्थात् पंचेन्द्रियजन्य विषयसुखो में अनासक्ति को वैराग्य कहते है[34]। (क्रमशः)

सन्दर्भ-सूची

१. विशेष जानकारी के लिए सिद्धान्ताचार्य पं. फूलचन्द्र शास्त्री की सर्वार्थसिद्धि की प्रस्तावना देखिए।
२. न्यायकुमुदचन्द्र प्र. भाग (प. कैलाशचन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित प्रस्तावना पृ. ६३)।
३. तत्त्वार्थवार्तिक १।१८. ४. वही १।१।१२.
५. वही १।१।१३. ६. वही १।१।१४.
७. वही १।१।१५. ८. वही १।१।१६.
९. वही १।१।४४. १०. वही १।६।१४.
११. वही १।१०।८-९. १२. वही १।३२।४.
१३. केचित्तावदाहुः ज्ञानादेव मोक्ष इति वही १।१।६.
१४. तत्त्वार्थ वा. १।१।४५. १५. वही १।१।४६.
१६. वही ५।१८।१२. १७. वही ५।२६।१७.
१८. वही ७।२२।१०. १९. वही ७।३१।९.
२०. वही ५।२२।२९. २१. अपर आहुः क्रियात एव मोक्ष इति। तत्त्वार्थवार्तिक १।१।५.
२२. सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्मतत्प्रत्यक्षं। वही १।१।५. मी. द. १।१२।४.
२३. तत्त्वार्थवार्तिक १।१२।५.
२४. अपूर्वाख्यो धर्मः क्रियया अभिव्यक्तः सन्नमूर्तोऽपि पुरुषस्योपकारी वर्तते तथा धर्माधर्मयोरपि गतिस्थित्युपग्रहोऽवसेयः। वही ५। ७।४१.
२५. तत्त्वार्थवार्तिक ५।२४।५.
२६. वही १।१।८. २७. वही १।१।८.
२८. इतरे ब्रुवते-प्रकृतिपुरुषयोरनन्तत्वं सर्वगतत्वादिति। वही ५।९।४.
२९. तत्त्वार्थवार्तिक ५।१७।२३ ३०. वही ५।१७।४१.
३१. वही ५।१८।१. ३२. वही ६।१०।११.
३३. वही ६।२७।६. ३४. वही १।१।६.

संस्कृत जैन-चम्पू और चम्पूकार

□ डॉ॰ कपूरचन्द जैन

भारतीय काव्यशास्त्र मे काव्य के दृष्य और श्रव्य ये दो भेद किए गये है। श्रव्यकाव्य को भी गद्य पद्य और मिश्र इन तीनों भागों मे विभाजित किया गया है मिश्र रचना शैली के प्राचीनतम उदाहरण ब्राह्मण ग्रन्थों मे पाये जाते हैं। पालि की जातक कथाओं और प्राकृत के "कुवलयमाला" प्रभृति ग्रन्थो मे इस शैली के दर्शन होते है। "पचतन्त्र" और "हितोपदेश" जैसी रचनाओं मे तथा सस्कृत नाटको में दोनों का प्रयोग हुआ है।

किन्तु यहां गद्य और पद्य का अपना विशिष्ट स्थान रहा है। यहां कथात्मक भाग गद्य मे और उसका सार या उपदेश पद्य मे ग्रथित रहा। परन्तु जब गद्य तथा पद्य दोनो मे ही प्रौढता और उत्कृष्टता आने लगी तब नवगुणानुरागी कवियो ने सम्मिलित प्रौढ़ गद्य और पद्य की कसौटी पर अपने आपको परखा, फलतः अनेक कवियो ने गद्य की अर्थगरिमा व पद्य की रागमयता से समन्वित गद्य-पद्य मिश्रित काव्यो की रचना कर डाली। कालान्तर मे यह काव्य विधा चम्पू नाम से अभिहित हुई। महाकवि हरिचन्द्र ने लिखा हैं कि गद्यावलि और पद्यावलि दोनों मिलकर वैसे ही प्रमोद उत्पन्न करती है, जैसे बाल्य और तारुण्य अवस्था से युक्त कोई कान्ता—

"गद्यावलिः पद्यपरम्परा च प्रत्येकमप्यावहति प्रमोदम।
हर्षप्रकर्षं तनुते मिलित्वा द्राग्बाल्यतारुण्यवतीव कान्ता॥[1]

चम्पू शब्द चुरादिगणीय गत्यर्थक 'चपि" धातु से "उ" प्रत्यय लगाकर बना है। "चम्पयति इति चम्पू" किन्तु इस व्युत्पत्ति से शब्द का स्वरूप मात्र उपस्थित होता है। हरिदास भट्टाचार्य के अनुसार "चमत्कृत्य पुनाति सहृदयान्, विस्मयीकृत्य प्रमादयति इति चम्पूः" चम्पू की परिभाषा है। यह व्युत्पत्ति अधिक उपयुक्त जान पडती है। चम्पू काव्य चमत्कार प्रधान हुआ करते हैं। चमत्कार से तात्पर्य उक्ति वक्रता एव शाब्दी काट-छाट से है। चम्पू काव्यों मे रस एव औचित्य की अपेक्षा पाण्डित्य प्रदर्शन की ओर कृतिकारों का अधिक ध्यान रहा है। यों तो शब्दार्थ योजना वैचित्र्य सब जगह दिखाई पड़ता है, किन्तु चमत्कार प्रदर्शन की ओर सर्वाधिक प्रवृत्ति चम्पू काव्यों मे दृष्टिगत होती है।

चम्पूकाव्य की प्रतिष्ठा मध्यकाल में हुई फलतः इस पर अधिक ध्यान नही दिया गया। दण्डी ने कहा है—

मिश्राणि नाटकादीनि तेषामन्यत्रविस्तरः।
गद्यपद्यमयी काचिच्चम्पूरित्यपि विद्यते॥[2]

इसी प्रकार की परिभाषा विश्वनाथ[3] ने भी प्रस्तुत की है। किसी अज्ञात विद्वान की भी एक परिभाषा प्राप्त होती है, जिसमे उक्ति प्रत्युक्ति तथा विष्कम्भक का न होना तथा अक और उच्छ्वास का होना बताया गया है।

"गद्यपद्यमयी सांका सोच्छ्वासा कविगुम्फिता।
उक्तिप्रत्युक्ति विष्कम्भक शून्या चम्पूरुदाहृता॥[4]

चम्पूकाव्य की साक और सोच्छ्वास विशेषता हेमचन्द्र ने भी स्वीकार की है—

"गद्यपद्यमयी साका सोच्छ्वासा चम्पू।[5]

डा॰ के॰ भुजबली शास्त्री ने चम्पू शब्द को देश्य माना है। उनका कहना है कि चम्पू काव्य जैनो की अनुपम देन है। उन्होने कर्णाटक के प्रसिद्ध कवि श्री द॰ रा॰ वेन्द्रे के मत का उल्लेख किया है, तदनुसार कन्नड़ और तुलु भाषाओ मे "चपु और चपे" के रूप में जो शब्द उपलब्ध है, उनका अर्थ "सुन्दर" और "मिश्र" होता है। बहुत करके इन्ही शब्दो से चम्पू शब्द निष्पन्न हुआ होगा। आज भी कन्नड और तुलु भाषा के "केन् चेन्" ये मूल शब्द "केंपु चेंपु" के रूप में निष्पन्न होकर सुन्दर और मनोहर अर्थ को प्रदान करते है। गद्य पद्य मिश्रित काव्य विशेष को जनता ने सर्व प्रथम सुन्दर एवं मनोहर अर्थ मे 'चेंपु' के नाम से पुकारा होगा और वही बाद मे रूढ़ि के

बल से चेम्पु या चम्पु के नाम से प्रसिद्ध हुआ होगा[६]। डा० हीरालाल जैन और डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये का भी यही मत है कि सम्भवतः यह आर्यभाषा का शब्द न होकर द्राविड़ भाषा का शब्द हो[७]।

डा० छविनाथ त्रिपाठी ने "चम्पूकाव्य का आलोचनात्मक एवं ऐतिहासिक अध्ययन" ग्रन्थ मे चम्पूकाव्य की निम्न विशेषताएँ बताई है—यह गद्यपद्यमय होता है, अंकों से युक्त तथा उच्छ्वासो मे विभक्त होता है, उक्ति प्रत्युति एव विष्कम्भक नही होते आदि। किन्तु ये विशेषताएँ सभी चम्पू काव्यो में प्राप्त नही होती अतएव चम्पू काव्य की कोई निष्पक्ष और पूर्ण परिभाषा नहीं दी जा सकती तथापि डा० छविनाथ त्रिपाठी की निम्न परिभाषा उचित जान पड़ती है।

गद्यपद्यमयं श्रव्य 'सम्बन्ध' वहुवर्णितम्।
सालङ्कृतं रसै सिक्तं चम्पुकाव्यमुदाहृतम्॥[८]

चम्पू काव्यों ने सर्वप्रथम किस भाषा मे जन्म लिया यह प्रश्न भी कम विचारणीय नहीं है, संस्कृत के उपलब्ध चम्पू काव्यों में त्रिविक्रम भट्ट का 'नलचम्पू' प्रथम है इसका समय ९१५ ई० स्वीकार किया जाता है, यत: उन्होंने राष्ट्रकूट नायक तृतीय इन्द्र (ई० सन् ९१४-१५) के आश्रय मे उक्त चम्पू रचा था। इस राजा के नौसारी वाले दानपत्र के लेखक यही त्रिविक्रम भट्ट थे[९]। इनका एक अन्य चम्पू "मदालसा चम्पू" भी प्राप्त है।

दूसरा महत्वपूर्ण चम्पू आचार्य सोमदेव का 'यशस्तिलक चम्पू" है। उन्होंने भी राष्ट्रकूट राजा कृष्णराजदेव (तृतीय कृष्ण) समय ९४५-९७२ ई० के समय मे उक्त चम्पू समाप्त किया था। अत: यशस्तिलक का काल १०वी शती का उत्तरार्ध सिद्ध है।

चम्पू काव्यों की उपलब्ध परिभाषाओ मे दण्डी की परिभाषा सबसे पहली है। दण्डी का समय सप्तम शताब्दी या अष्टम शताब्दी का पूर्वार्ध स्वीकार किया जाता है वे बरार (विदर्भ) निवासी थे और बाद में काञ्ची के पल्लव राजाओं के आश्रय मे रहे थे। यह जनश्रुति सुविख्यात है कि पल्लव नृपति के राजकुमार को शिक्षित बनाने के लिए उन्होने अपने प्रख्यात ग्रन्थ काव्यादर्श की रचना की थी। कई लेखको का यह भी मत है कि काव्यादर्श मे वर्णित राजवर्मा ही काञ्ची के अधिपति पल्लव नृपति है। पल्लव नृपति शैव मतावलम्बी थे और उसके प्रचारक भी, इनका राज्यकाल ई. ६९० से ७२५ तक माना गया है।[१०]

उक्त विवेचन से इतना तो स्पष्ट है कि चम्पू काव्य का उद्भव दक्षिण भारत में हुआ। दण्डी चम्पूकाव्यों से परिचित थे, किन्तु वे चम्पूकाव्य कौन-कौन थे, यह अब भी रहस्य बना हुआ है। इस गुत्थि को सुलझाने के लिए हमे कन्नड के चम्पूकाव्यों की ओर जाना होगा। उपलब्ध कन्नड़ साहित्य मे भी दसवी शताब्दी के ही चम्पू काव्य प्राप्त होते हैं, जो सुप्रसिद्ध जैन कवि पम्प, पोन्न और रन्न के हैं। किन्तु इससे पूर्व भी चम्पू शैली के काव्यों और चम्पुओं के नाम उपलब्ध होते हैं। नृपतुंग (८१४–८७७ ई०) द्वारा लिखित "कविराजमार्ग" नामक लक्षण ग्रन्थ में विमलोदय, नागार्जुन, जयबन्धु, दुर्विनीत श्रीविजय, कवीश्वर आदि अनेक कन्नड़ कवियों का नामोल्लेख हुआ है। इनमें श्रीविजय का उल्लेख दुर्गसिंह (११४५ ई०) ने किया है और उनकी कविता को कवियों के लिए दर्पण एवं दीपक बताया है। मंगरस (१५०८ ई०) और दोड्डय्य (१५५० ई०) ने कहा है कि श्री विजय ने "चन्द्रप्रभपुराण" चम्पू शैली में लिखा है"। श्री विजय का समय ८वीं शती स्वीकार किया जाना चाहिए यत: नृपतुंग (८१४-८७७) ने इनका उल्लेख किया है।

इसी प्रकार गुणवर्म (प्रथम) का समय ९०० ई० माना गया है। केशिराज ने गुणवर्म के "हरिवंश" का उल्लेख किया है, जिसका अपरनाम "नेमिनाथपुराण" भी है। विद्यानन्द (१५५० ई०) ने अपने "काव्यसार" नामक संकलन ग्रन्थ में गुणवर्म के 'शूद्रक' ग्रन्थ का उल्लेख किया है तथा उसके गद्य-पद्य को उद्धृत किया है। "काव्यसार" में सभी उदाहरण चम्पू काव्यो के हैं। अत: इस अनुमान को पर्याप्त आकार मिल जाता है कि 'शूद्रक' चम्पू ग्रन्थ रहा होगा इस ग्रन्थ मे गंगराज एरेयप्प (८८६-९१३ ई०) की तुलना शूद्रक से की गई है तथा कन्नड़ जैन कवियों की यह विशेषता रही है कि वे एक लौकिक काव्य अपने आश्रयदाता के गुणगान मे और एक धार्मिक काव्य तीर्थंकरों की जीवनी से सम्बद्ध लिखते रहे है, इसी-

लिए पं० के० भुजबली शास्त्री ने लिखा है—इस (उक्त) परम्परा के प्रवर्तक गुणवर्म हैं, परवर्ती कवि पम्प, पोन्न और रन्न ने यही पद्धति अपनाई है। पम्प से पहले ही कन्नड़ में चम्पू शैली मे सम्पन्न ग्रन्थ रचने का श्रेय गुण-वर्म को प्राप्त है[12]।

इस प्रकार यह कहना असमीचीन जान नही पड़ता कि दण्डी जिन चम्पूकाव्यो से परिचित रहे होगे वे श्री विजय आदि के चम्पू ही रहे होगे। "कविराजमार्ग" भी मौलिक ग्रन्थ नही है। दण्डी के "काव्यादर्श" का ही कन्नड़ रूपान्तर है[13]। इससे यह सिद्ध है कि दण्डी दक्षिण मे रहे और कन्नड काव्य शास्त्रियों से उनकी घनिष्टता रही। "गद्य-पद्यमयी काचित चम्पूरित्यभिधीयते" में काचित् पद के द्वारा उन्होने चम्पूकाव्यों की अल्पता और उनके प्रति उपेक्षा ही सूचित की है। ऐसी उपेक्षा अन्य भाषा के काव्यों के प्रति ही होती है। अत: लगता यही है कि दण्डी कन्नड़ के चम्पुओ से ही परिचित थे।

अपने उद्भव के साथ ही चम्पूशैली अत्यधिक लोक-प्रिय हुई और विपुल मात्रा मे चम्पूकाव्यों का सृजन हुआ। डा० छविनाथ त्रिपाठी ने 'चम्पूकाव्यो' का आलो-चनात्मक एव ऐतिहासिक अध्ययन" ग्रन्थ मे प्रकाशित-अप्रकाशित लगभग २५० चम्पूकाव्यो की सूची दी है। जैन चम्पूकाव्यो की परम्परा का परिचय यहां हम प्रस्तुत कर रहे है।

यशस्तिलक चम्पू :—

न केवल जैन चम्पूकाव्यों अपितु समग्र संस्कृत चम्पू-काव्यों मे यशस्तिलक का स्थान अप्रतिम है। इसके रचयिता आचार्य सोमदेव का जीवन चरित सस्कृत के अन्य कवियों की भांति अन्धकाराछन्न नही है। यत: उन्होंने यशस्तिलक तथा नीति वाक्यामृत मे अपने सम्बन्ध मे पर्याप्त सूचनाएँ दी हैं। तदनुसार वे देवसंघ के तिलक आचार्य यशोदेव के प्रशिष्य और सकलतार्किक-चूडामणि, चुम्बितचरण श्रीमान् नेमिदेव के शिष्य थे। उनके बड़े भाई का नाम भट्टारक महेन्द्रदेव था तथा स्याद्वादाचलसिंह, तार्किकचक्रवर्ती, वादीभपचानन, वाक्कल्लोलपयोनिधि, कविकुलराज उनकी उपाधियाँ थी। उन्होंने षण्णवति प्रकरण, युक्तिचिन्तामणि सूत्र, महेन्द्रमातलिसंजल्प, युक्ति-चिन्तामणि, यशोधर महाराजचरित (यशस्तिलक) और नीतिवाक्यामृत नामक ग्रन्थों की रचना की थी[14]।

पं० कैलाश चन्द्र शास्त्री ने "अध्यात्मतरङ्गिणी" को भी सोमदेव की रचना बताई है[15]। श्री नाथूराम प्रेमी के अनुसार चालुक्यवंशीय अरिकेसिन् तृतीय के दानपत्र में सोमदेव को "स्याद्वादोपनिषत्" का कर्त्ता कहा गया है[16] डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ने अध्यात्मतरंगिणी का दूसरा नाम योगमार्ग बताया है[17]। इनमें से केवल "यशस्तिलक", "अध्यात्मतरगिणी" तथा "नीतिवाक्यामृत" ही प्राप्त तथा प्रकाशित हैं।

अपने रचनाकाल के विषय मे स्वयं सोमदेव ने लिखा है कि—शक संवत् ८८१ (९५९ ई०) मे सिद्धार्थ सवत्सर के अन्तरगत चैत्र मास की मदनत्रयोदशी (शुक्लपक्ष की त्रयोदशी) मे जब श्री कृष्णराज देव पांड्य, सिंहल, चोल व चेलम आदि राजाओ पर विजयश्री प्राप्त करके अपना राज्य माल्याटी (मेलपाटी) मे वृद्धिगत कर रहे थे तब यशस्तिलक समाप्त हुआ[18]। दक्षिण के इतिहास से विदित होता है कि उक्त कृष्णराजदेव (तृतीय) कृष्ण राष्ट्रकूट या राठौर वश के महाराजा थे और इनका दूसरा नाम अकाल वर्ष था। इनका राज्यकाल कम से कम शकसंवत् ८६७-८९४ (९४५-९७२ ई०) तक प्राय: निश्चित है[19]। अत: सोमदेव का समय ई० की १०वी शताब्दी प्राय: निश्चित मानना चाहिए।

सोमदेव महान् तार्किक और अक्खड़ किस्म के विद्वान् थे। उन्होने स्वयं कहा है कि 'मैं छोटों के साथ अनुग्रह, बराबरी वालो के साथ सुजनता और बड़ो के साथ महान् आदरभाव का बर्ताव करता हूं। किन्तु जो ऐंठ दिखाए है, उसके लिए गर्वरूपी पर्वत को विध्वंस करने वाले मेरे वज्रवचन कालस्वरूप हो जाते हैं। वाद के समय वृहस्पति भी मेरे सामने नही ठहर सकते'।[20] काव्यकला के विलास में उनका कौशल कम नही है, उनकी बुद्धिरूपी गौ ने जीवन भर तर्करूपी घास खाया पर उसी से काव्यरूपी दूध उत्पन्न हुआ है[21]। उनके राजनैतिक ज्ञान के सन्दर्भ में "नीतिवाक्यामृत" ही निदर्शन है। एक जगह तो उन्होने शब्दार्थ रस मे समग्र लोक को अपना उच्छिष्ट कह डाला है[22]।

"यशस्तिलक" के अन्तिम तीन आश्वासों मे सोमदेव का धर्माचार्यत्व प्रकट हुआ है। वे वेद और उपनिषदों के अप्रतिम ज्ञाता थे। पशुबलि को लेकर जो तर्क वैदिक ग्रन्थों के उद्धरण देकर प्रस्तुत किये गये है, वे इस बात के समुज्ज्वल निदर्शन हैं। 'यशस्तिलक' मे आठ आश्वास है। अन्तिम तीन मे धर्म का विवेचन है इसके गद्य पर कादम्बरी का प्रभूत प्रभाव है। इसी प्रकार कथावस्तु का संघठन भी कादम्बरी से प्रभावित है। सोमदेव का उद्देश्य अहिंसा के उत्कृष्टतम रूप की प्रतिष्ठा करना रहा है। इसकी कथावस्तु से उन्होने दिखाया कि जब आटे के भी मुर्गे की हिंसा करने मे लगातार छह जन्मों तक पशु योनि मे भटकना पडा तो साक्षात् पशु हिंसा करने का कितना विषाक्त परिणाम होगा इसकी कल्पना भी कठिन है, यशस्तिलक की संक्षिप्त कथावस्तु निम्न है—

यौधेय जनपद में मारिदत्त नाम का राजा था। जिसने एक कौलाचार्य के कहने पर सभी जोड़ो के साथ मनुष्य के जोड़े की बलि देने का विचार किया। सेवक दो प्रव्रजित भाई बहिन को पकड लाये, जो अल्पायु थे। (प्रथम सं०)।

मुनिकुमारो को देख राजा का क्रोध शान्त हो गया। और उसने उनका परिचय पूछा, मुनिकुमारों ने कहा— उज्जयिनी का राजा यशोधर था (द्वितीय आश्वास तथा तृतीय आश्वास) एक दिन रात मे छद्मवेश से उसने देखा कि उसकी रानी महावत के साथ सम्भोग कर लौट आई है। प्रातः यशोधर को उदास देखकर इसकी माता ने कारण पूछा। राजा ने अशुभ स्वप्न का बहाना बनाया, जिसकी शान्ति के लिए माता ने पशुबलि का प्रस्ताव रखा। राजा के न मानने पर अन्त मे आटे के मुर्गे की बलि देना तय हुआ। इधर रानी ने उस प्रसाद मे राजा को मारने के लिए विष मिला दिया। जिससे मा बेटे दोनो मर गये। (चतुर्थ आश्वास)

भावहिंसा के कारण वे दोनों छह जन्मों तक पशु-योनि मे भटकते रहे और क्रमशः मोर-कुत्ता, हिरण-सर्प, जल जन्तु, बकरा-बकरी, भैंस-भैंसा और मुर्गा-मुर्गी हुए। यहीं एक मुनि की वाणी सुन वे भाई-बहिन हुए तथा पूर्वजन्मों की स्मृति के कारण बाल्यावस्था मे ही प्रव्रजित हो गये। राजन् वे ही हम मुनिकुमार हैं। हमारे आचार्य नगर के समीप ही ठहरे है।

यह सुनकर राजा बडा आश्चर्यचकित हुआ और उसने दीक्षा देने का आग्रह किया (पचम आश्वास) आगे के तीन आश्वासो मे जैनधर्म के सिद्धान्तो का विशद्-विवेचन है जिसके वक्ता आचार्य सुदत्त है। सभी ने धर्म ग्रहण किया और यथायोग्य स्वर्ग-पद पाया, अन्तिम मंगल तथा आत्म-परिचय के साथ ग्रन्थ समाप्ति।

जीवन्धर चम्पू—दूसरा महत्वपूर्ण जैन चम्पू "जीवन्धर चम्पू" है। इसके कर्त्ता महाकवि हरिचन्द्र ने "धर्मशर्माभ्युदय" महाकाव्य की भी रचना की है। जिसमे पन्द्रहवे तीर्थंकर धर्मनाथ का चरित्र चित्रित है। यद्यपि श्री नाथूराम प्रेमी[13] ने जीवन्धर चम्पू का कर्त्ता महाकवि हरिचन्द्र को न मानकर किसी अन्य कवि को माना है, किन्तु डा० पन्नालाल साहित्याचार्य ने "धर्मशर्माभ्युदय" और 'जीवन्धर चम्पू" के भावों तथा शब्दो की समानता के आधार पर दोनो का कर्त्ता एक ही माना है[14]। डा० कीथ भी जीवन्धर चम्पू का कर्त्ता हरिचन्द्र को ही मानते है[15]।

हरिचन्द्र का समय, कुल, माता-पिता एव भाई आदि अज्ञात नही है। 'धर्मशर्माभ्युदय" की अन्तिम प्रशस्ति से इनका परिचय मिल जाता है, यद्यपि यह प्रशस्ति सभी हस्तलिखित प्रतियो में नही पाई जाती है, तथापि भाण्डारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट पूना से प्राप्त प्रति मे यह उल्लिखित है। यह प्रति विक्रम संवत् १५३५ मे लिखित है जिससे यह ज्ञात होता है, कि यदि यह प्रशस्ति बाद में जोडी गई है तो, १५३५ वि० स० के पूर्व जोडी गई है। प्रशस्ति मे हरिचन्द्र के पिता का नाम आर्द्रदेव आया है और धर्मशर्माभ्युदय मे भी आर्द्रदेव का उल्लेख हुआ है[16]। प्रशस्ति की भाषा भी महाकवि की भाषा से मिलती-जुलती है। अतः प्रशस्ति का हरिचन्द्र कृत मानना असमीचीन न होगा।

प्रशस्ति के अनुसार नोमक वंश के कायस्थ कुल मे आर्द्रदेव नामक श्रेष्ठ विद्वान हुए, जिनकी पत्नी का नाम रथ्या था, उन दोनो मे हरिचन्द्र नाम का पुत्र हुआ, हरिचन्द्र के छोटे भाई का नाम लक्ष्मण था। गुरु का नाम

क्या था ? यह उल्लिखित नहीं पर, गुरु के प्रसाद से उनकी वाणी निर्मल हो गई थी[27] ।

कायस्थो मे वैष्णव धर्म का प्रचार देखा जाता है पर हरिचन्द्र अपने परीक्षा प्रधान गुण के कारण जैन हो गये थे[28] । कदाचित इसी कारण उन्होंने धर्मशर्माभ्युदय के चतुर्थ सर्ग में दशरथ और सुमन्त्र के मध्य हुए वार्तालाप के माध्यम से यह दिखाया है कि कोई भी व्यक्ति किसी भी धर्म को मानने मे स्वतन्त्र है । उन्होने अपने जन्म स्थान के संदर्भ मे कोई सकेत नही दिया है पर उनके वर्णनो से ऐसा लगता है कि वे मध्य प्रान्त (वर्तमान मध्य प्रदेश) के निवासी थे[29] । हरिचन्द्र नाम के अनेक विद्वानो का उल्लेख संस्कृत साहित्य मे हुआ है । राजशेखर[30] और बाण भट्ट[31] ने हरिचन्द्र का उल्लेख किया है । साहसाक राज का प्रधान वैद्य भी हरिचन्द्र था[32] । पर ये तीनो उक्त हरिचन्द्र से भिन्न है । यतः "जीवन्धर चम्पू" तथा "धर्मशर्माभ्युदय" पर "यशस्तिलक" का प्रभूत प्रभाव पड़ा है, तथा उक्त तीनो हरिचन्द्र सातवी शती से पूर्व के हैं और सोमदेव का समय ई० की दसवी शती का उत्तरार्ध है । अतः हरिचन्द्र का समय ११-१ वी शती मानना चाहिए । धर्मशर्माभ्युदय की एक प्रति पाटण के सघवी-पाडा के पुस्तक भण्डार में मिली है, जिसका लेखन काल वि० स० १२८७ (१२३० ई०) है[33] ।

जीवन्धर चम्पू मे जैन कथानको मे प्रसिद्ध जीवन्धर का चरित्र चित्रित किया गया है । राजपुरी के राजा सत्यन्धर को उसका मंत्री छल से मार डालता है, रानी श्मसान मे एक पुत्र को जन्म देती है, जिसे एक वैश्य उठा लाता है । (प्रथम लम्भ) विद्यालय मे गुरू जीवन्धर को सारी कथा बताते हैं । जीवन्धर नन्दगोप की पुत्री का विवाह अपने मित्र गोविन्दा से कराते हैं । (द्वितीय लम्भ)

जीवन्धर वीणा वादन में गन्धर्वदत्ता को पराजित कर उससे विवाह करते हैं (तृतीय लम्भ) सुदर्शन यक्ष की सहायता से हाथी को पराजित कर गुणमाला से (चतुर्थ लम्भ) विषमोचन कर पद्मा से (पचम लम्भ) जिनालय के किवाड़ खोलकर क्षेमश्री से (षष्ठ लम्भ), राजपुत्रों को धनुर्विद्या सिखाकर कनकमाला से (सप्तम लम्भ), राजपुरी में ही विमला और सुरमजरी से (अष्टम-नवम लम्भ) तथा काष्ठांगार को स्वयंवर मे हराकर लक्ष्मणा से विवाह करते है (दशम लम्भ) अन्त में मामा की सहायता से काष्ठांगार को मारकर राजपुरी का राज्य प्राप्त करते है । उनके राज्य मे प्रजा सुखी थी । अन्त मे जिन दीक्षा लेकर उन्होने मोक्ष पद पाया, अन्तिम मगल के साथ काव्य समाप्ति (एकादश लम्भ) ।

पुरुदेव चम्पू :—

तीसरा महत्वपूर्ण जैन चम्पू "पुरुदेव चम्पू" है, इसके कर्त्ता महाकवि अर्हद्दास की "मुनिसुव्रत काव्य" तथा "भव्य जनकण्ठाभरण" ये दो रचनाएँ और उपलब्ध होती हैं । उन्होंने अपने जन्मस्थान के सन्दर्भ मे कोई सूचना नहीं दी है । श्री नाथूराम प्रेमी ने उनके ग्रन्थों का प्रचार कर्नाटक मे अधिक होने के कारण उनके कर्नाटक में रहने का अनुमान लगाया है[34] । पण्डित आशाधर अपने अतिम समय मे अवन्ती के नलकच्छपुर मे रहे थे और वहीं उन्होंने "जिनयज्ञ कल्प" और "अनगार धर्मामृत" की टीका आदि ग्रन्थ लिखे थे । यदि अर्हद्दास आशाधर के अन्तिम समय मे उनके पास पहुचे तो उनका स्थान अवंती प्रदेश मानना होगा किन्तु समुचित प्रमाणों के अभाव में कुछ निश्चित कह पाना सम्भव नही है ।

श्री नाथूराम प्रेमी ने मदनकीर्ति यतिपति के ही अर्हद्दास बन जाने का अनुमान लगाया है[35] । किन्तु पुष्ट प्रमाणों के अभाव में इस मत को भी वास्तविक रूप मे स्वीकार नही किया जा सकता ।

पण्डित आशाधर महान् विद्वान् होते हुए भी मुनि नही बने अपितु उन्होंने मुनियो के चरित्र में पनप रही तत्कालीन शिथिलता की कडी आलोचना की है । वे गृहस्थ पण्डित थे, अतः उनके शिष्य अर्हद्दास का भी गृहस्थ पण्डित होना सम्भव है । डा० गुलाबचन्द्र चौधरी ने अर्हद्दास को गृहस्थ पण्डित ही माना है[36] ।

यह विषय भी अत्यन्त विवादास्पद है कि महाकवि अर्हद्दास पण्डित आशाधर के साक्षात् शिष्य थे या नहीं ।

उन्होंने अपने तीनों ग्रन्थों की प्रशस्तियों में आशाधर का नाम बड़े आदर और सम्मान के साथ लिया है। भव्य-जनकण्ठाभरण के--

"सूक्त्येव तेषां भवभीरवो ये
गृहाश्रमस्याश्चरितात्मधर्माः ।
त एव शेषाश्रमिणां सहाय्या
धन्याः स्युराशाधरसूरिमुख्याः ॥"[३७]

(क्रमशः)

—निदेशक, प्राकृत एवं जैन विद्या शोधप्रबन्ध संग्रहालय,
खतौली (उ० प्र०)

सन्दर्भ

१. जीवन्धर चम्पू भारतीय ज्ञानपीठ १/६
२. काव्यादर्श चौखम्बा १/३१
३. साहित्य दर्पण चौखम्बा ६/३३६
४. नृसिंह चम्पू चौखम्बा भूमिका
५. काव्यानुशासन निर्णयसागर ८/६
६. मरुधर केशरी अभिनदन ग्रथ, ब्यावर पृ. २७६
७ पुरुदेव चम्पू भारतीय ज्ञानपीठ भूमिका
८. चम्पूकाव्य का आलोचनात्मक एवं ऐतिहासिक अध्ययन : त्रिपाठी चौखम्बा पृ. ४६ ।
९. संस्कृत साहित्य का इतिहास : वाचस्पति गैरोला, चौखम्बा, पृ. ६११ ।
१०. संस्कृत साहित्य की रूपरेखा, व्यास एव पाण्डेय, कानपुर, पृ. ६११ ।
११. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी, भाग ७, पृ. ८ ।
१२. वही पृ. ११ ।
१३. वही पृ. ९ ।
१४. यशस्तिलक चम्पू : महावीर ग्रन्थमाला वाराणसी ८/४६२ तथा नीतिवाक्यामृत, ज्ञानपीठ, ग्रन्थकर्तुः प्रशस्ति ।
१५. उपासकाध्ययन, ज्ञानपीठ, प्रस्तावना पृ. १३ ।
१६. जैन साहित्य और इतिहास, नाथूराम प्रेमी, बम्बई, पृ. ९१ ।
१७. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, डा. नेमिचन्द्र शास्त्री, सागर, भाग ३, पृ. ८८ ।
१८. यशस्तिलक चम्पू, उत्तराखण्ड पृ. ४८१ ।
१९. वही, ग्रन्थ परिचय पृ. २३ ।
२०. नीतिवाक्यामृत, प्रशस्ति ।
२१. यशस्तिलक चम्पू : उत्थानिका ।
२२. वही चतुर्थ आश्वास, पृ. ९५ ।
२३. जैन साहित्य और इतिहास, पृ. ४१२ पादटिप्पण ।
२४. महाकवि हरिचन्द्र : एक अनुशीलन, ज्ञानपीठ, पृ. १५-१८ ।
२५. संस्कृत साहित्य का इतिहास : अनु० मंगलदेव शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास पृ. ४१६ ।
२६. धर्मशर्माभ्युदय १९/१०१-१०२ श्लोकों से निर्मित छत्रबंध से निर्गत देखे धर्मशर्माभ्युदय, ज्ञानपीठ पृ. २२६ ।
२७. धर्मशर्माभ्युदय, प्रशस्ति ।
२८. महाकवि हरिचन्द्र : एक अनुशीलन पृ. १० ।
२९. वही पृ. १२ ।
३०. कर्पूर मंजरी, साहित्य भण्डार मेरठ, प्रथम जवनिका
३१. हर्ष चरित " " " ३/१२
३२. महाकवि हरिचन्द : एक अनुशीलन पृ. १३ ।
३३. वही पृ. १३ ।
३४. जैन साहित्य और इतिहास, पृ. १४३ ।
३५. वही पृ. १४३ ।
३६. जैन साहित्य का बृहद इतिहास, भाग ६, पृ. १४ ।
३७. भव्यजन कण्ठाभरण, सोलापुर, पद्य २३६ ।

प्राकृत साहित्य में स्याद्वाद : चिंतन

☐ डॉ० लालचन्द जैन,

केवल ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् भगवान महावीर की दिव्यध्वनि से सर्व प्रथम स्याद्वाद सिद्धान्त का अवतरण हुआ[१]। इसके बाद ही अहिंसा और अपरिग्रह सिद्धान्तों का आविष्कार हुआ, इसका कारण यह है कि केवलज्ञानी ने अपने केवलज्ञान के द्वारा तीन लोक के त्रिकालवर्ती पदार्थों को एक साथ जान लेने[३] पर भी उन अनन्त पर्यायों वाले अनन्त द्रव्यों का एक साथ कथन न करके क्रमशः किया था। क्योंकि वाणी की शक्ति ही ऐसी है कि वह विराट् स्वरूप वाली वस्तु का अखण्डरूप से युगपत् कथन नही कर सकती है।

भगवान महावीर के समय मे वस्तु के एक-एक पक्ष का कथन करके आपस में झगड़ रहे तथा अज्ञानता के कारण ही वस्तु के सच्चे स्वरूप को न जानने वालो में से किसी ने वस्तु को नित्य ही माना किसी ने अनित्य ही माना, किसी ने उसे सत् रूप माना, किसी ने असत् रूप। यह तो वैसा ही है जैसा कि जिन जन्मान्धों ने हाथी के जिस अग को स्पर्श करके जाना उसे वैसा ही कहने लगे और दूसरे को मिथ्या कहते हुए झगड़ने लगे[४]। महावीर ने कहा कि अनन्त धर्मात्मक वस्तु को एक धर्म वाली मानने से वह अवस्तु हो जायेगी। क्योंकि यह कोई क्रिया करने में असमर्थ रहेगी[५]।

कहा भी है—"एकान्त स्वरूप द्रव्य लेशमात्र भी कार्य नहीं करता और जो कार्य नहीं करता उसे द्रव्य कैसे कहा जा सकता है।" परिणाम रहित द्रव्य न तो उत्पन्न हो सकता है और न नष्ट, इसलिए उसे कार्यकारी नहीं कहा जा सकता है। इसी प्रकार पर्याय मात्र वाला विनाशी एवं प्रत्येक क्षण में बदलने वाला तत्त्व अन्वयी द्रव्य के बिना कोई कार्य नहीं कर सकता। आज यही कारण है कि भगवान महावीर ने कहा कि वस्तु स्वयमेव से अनंत धर्मात्मक है। अनन्त धर्म कहने का तात्पर्य यह है कि वस्तु में सत्-असत्, नित्य-अनित्य, एक-अनेक आदि परस्पर विरोधी धर्मों के जोड़े विद्यमान हैं[५]। इस प्रकार वस्तु में परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले धर्मों को प्रकाशित करने वाला सिद्धान्त अनेकान्त कहलाता है[६]। माइल्ल धवल ने सम्यक एकान्त के समूह को अनेकान्त कहा है[७]। अनेकान्तात्मक वस्तु का निर्दोष रूप से कथन करने वाली पद्धति स्याद्वाद कहलाती है। जब हम वस्तु के एक धर्म का कथन करते हैं तो ऐसा नही होता कि अन्य धर्म उसमे विद्यमान नहीं रहते हैं। कथन करते समय अभीष्ट धर्म मुख्य और अन्य धर्म गौण होते हैं।

स्याद्वाद सिद्धान्त का प्रयोग विभिन्न कालों में विभिन्न भाषाओं मे हुआ है। प्रस्तुत मे प्राकृत भाषा मे निबद्ध धार्मिक साहित्य मे देखना है कि स्याद्वाद का अस्तित्व है या नहीं[८]।

अर्धमागधी साहित्य में स्याद्वाद—आचारांग अर्ध-मागधी साहित्य का प्रथम अंग है। इसमे स्याद्वाद सूचक शब्द उपलब्ध नही है। सूत्र कृतांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के चौदहवें अध्ययन की गाथा[९] में आये यासियावाय शब्द का अर्थ डा० ए० एन० उपाध्ये ने स्याद्वाद किया है। पं० मालवणिया ने इसकी विस्तृत मीमांसा की है[१०]।

भगवती सूत्र (व्याख्या प्रज्ञप्ति) नामक पांचवें अध्याय में अनेकान्त और स्याद्वाद सूचक अनेक प्रसंग दृष्टिगोचर होते हैं। इसमें भगवान महावीर द्वारा स्वप्न में देखे गये चित्र-विचित्र पंख वाले पुंस्कोकिल को देखने का फल बतलाया गया है कि भगवान विचित्र अर्थात् स्व-पर सिद्धान्त बतलाने वाले द्वादशांग का उपदेश देंगे। मनीषियो ने विचित्र विशेषण का अभिप्राय अनेकान्त माना है[११]।

इस अंग में लोक, जीव आदि को नित्य-अनित्य, सान्त-अनन्त, शास्वत-अशास्वत, जीव को शरीर से भिन्न

अभिन्न आदि कहा गया है। इसके अलावा इसमें स्याद्वाद सूचक स्यात् शब्द का प्रयोग भी उपलब्ध है, जैसे—

गोयमा, जीवा, सिय सासया सिय असासया।

गोयणा दव्वट्ठयाए सासया भावट्ठयाए असासया ॥[१५]

इसी प्रकार भगवती सूत्र मे भंगो का उल्लेख भी हुआ है। गौतम ने महावीर से पूछा कि हे भगवान रत्न प्रभा पृथ्वी आत्मा है या अन्य है?

महावीर ने उत्तर दिया कि"— रत्नप्रभा पृथ्वी स्यात् आत्मा है। रत्नप्रभा पृथ्वी स्यात् अवक्तव्य है। इसे सुनकर गौतम की जिज्ञासा होने पर महावीर ने कहा—अपनी अपेक्षा से आत्मा है पर की अपेक्षा मे आत्मा नही है। उभय की अपेक्षा से अवक्तव्य है।

ज्ञातृधर्मकथा[१६] में शुक नामक परिव्राजक द्वारा किये गये प्रश्नों का उत्तर थावच्चा ने स्याद्वाद शैली मे दिये है। जैसे—हे भंते! सरिसवयाभक्ष्य या अभक्ष्य? हे शुक सरिसवया भक्ष्य भी है और अभक्ष्य भी है।

शुक—आप एक हैं? दो हैं? अनेक हैं? हे शुक! मैं द्रव्य की अपेक्षा एक और ज्ञानदर्शन की अपेक्षा दो हूं। इसी प्रकार अनेक प्रश्नों के उत्तर सापेक्ष रूप से दिये गये है।

इस प्रकार सिद्ध है कि अर्धमागधी आगम में स्याद्वाद का अस्तित्व है।

शौरसैनी आगमों में साहित्य में स्याद्वाद

दृष्टिवाद नामक बारहवे अग के अश रूप मे उपलब्ध षट्खण्डागम मे "सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता" के रूप में स्याद्वाद के बीज उपलब्ध है।

आचार्य कुन्दकुन्द के पाहुड में विशेषकर पंचास्तिकाय और प्रवचनसार में स्याद्वाद सूचक स्यात् शब्द का प्रयोग और सात भगों का नामोल्लेख उपलब्ध है—

"सिय अत्थि णात्थि उहमं अव्वत्तव्व पुणो य तत्तिदिमं।
दव्वं सु सत्तभग आदेशवसेणा संभवदि ॥[१७]

"अत्थित्ति य णत्थित्ति य हवदि अवत्तव्वमिदि पुणो दव्वं।
पज्जाएण दु केणवि तदुभयमादिट्ठमण्णं वा ॥"[१८]

'कषाय पाहुड' में भी स्याद् शब्द का प्रयोग उपलब्ध है। जैसे—"दव्वम्मि अणुत्तासेस धम्माण घटावणट्ठं सियासद्दो जोजेव्वो"[१८] अर्थात् द्रव्य में अनुक्त समस्त धर्मों को घटित करने के लिए स्यात् शब्द का प्रयोग करना चाहिए। कषाय पाहुड मे स्यात् शब्द के प्रयोग के सम्बन्ध में यह भी कहा गया है कि यदि स्यात् शब्द के प्रयोग का जो वक्ता अभिप्राय रखता है और यदि वह उसका प्रयोग नही करता है तो उसके अर्थ का ज्ञान हो जाता है[१९]।

कषाय पाहुड में स्यात् शब्द के प्रयोग सहित सप्त भगी भी उपलब्ध है—(द्रव्य) स्यात् कषाय रूप है, द्रव्य स्यात् अकषाय रूप है, द्रव्य अवक्तव्य है, द्रव्य स्यात् कषाय और अकषाय रूप है, द्रव्य स्यात् कषाय रूप और अवक्तव्य है, द्रव्य स्यात् अकषाय रूप अवक्तव्य। हर द्रव्य स्यात् कषाय रूप, अकषाय रूप और अवक्तव्य है[२०]। प्रथम और दूसरे भंग में विद्यमान स्यात् शब्द क्रमश: नोकषाय और कषाय को तथा कषाय और नोकषाय विषयक अर्थ पर्यायों को द्रव्य में घटित करता है। तीसरे भग मे यह कषाय और नोकषाय विषयक व्यञ्जन पर्यायों को द्रव्य में घटित करता है। चौथे भग में स्यात् कषाय और नोकषाय विषयक अर्थ पर्यायों मे घटित करता है। पांचवें भंग मे स्यात् द्रव्य मे नोकषायपने को घटित करता है। छठवें भंग में स्यात् द्रव्य मे कषायपने को घटित करता है। सातवें भंग मे स्यात् शब्द क्रम से कहे जाने वाले कषाय, नोकषाय और अवक्तव्य रूप तीनों धर्मों को द्रव्य में अक्रमरूप रहने को सूचित करता है।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में—कार्तिकेयानुप्रेक्षा मे अनेकान्तवाद की प्रतिष्ठा की गई है। सभी द्रव्य को अनेकान्तात्मक[२१] कहकर जहाँ एक ओर एकान्तवादियों की मीमांसा की गई है, वही अनेकान्तवाद का अर्थ क्रियाकारी बतलाया है[२२]। अनेकान्त को भी अनेकान्तात्मक सिद्ध करते हुए कहा गया है कि जो वस्तु अनेकान्त रूप है, वही सापेक्ष दृष्टि से एकान्त रूप भी है। श्रुतज्ञान की अपेक्षा अनेकान्त रूप और नय की अपेक्षा एकान्त रूप है। क्योंकि वस्तु निरपेक्ष नहीं होती है। यद्यपि वस्तु नाना धर्मों से युक्त है तो भी उसके एक धर्म का कथन किया जाता है, क्योंकि उस समय उसी की विवक्षा होती है, शेष धर्मों की नहीं होती है[२३]।

यद्यपि कार्तिकेयानुप्रेक्षा मे स्याद्वाद सूचक शब्दों का

प्रयोग नहीं हुआ है, लेकिन अनेकान्त का कथन करने के लिए प्रश्नवश व्यवहार चलाने को सप्तभगी कहा गया है[२४]।

इस प्रकार सिद्ध है कि आगम कालीन साहित्य मे स्याद्वाद की सत्ता विद्यमान है।

अनेकान्त स्थापन काल में स्याद्वाद—आगम-कालीन साहित्य मे स्याद्वाद के अस्तित्व का चिन्तन करने के पश्चात् अनेकान्त स्थापनकालीन प्राकृत साहित्य मे आचार्य सिद्धसेन के सम्मइसुत्तं के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इसमे अनेकान्त का गम्भीर विवेचन हुआ है। उन्होंने अनेकान्त को व्यवहार का कारण और तीन लोक का गुरू कहकर नमस्कार किया है[२५]। स्यात् शब्द का प्रयोग किये बिना द्रव्य को सामान्य-विशेषात्मक द्रव्यार्थिक और पर्यार्थिकनय द्रव्य पर्याय, नित्य-अनित्य आदि रूप से सापेक्ष मानकर विवेचन किया है[२६] और एकान्त मत मे बन्ध और मोक्ष का अभाव भी दिखलाया है यही नही बल्कि स्यात् शब्द का प्रयोग किये बिना अतीत आदि सात भंगो को दिखाया गया है[२७]।

न्यायसाहित्य में स्याद्वाद—आचार्य देवसेन कृत नयचक्र और माइल्लधवल नयचक्र (द्रव्यस्वभाव प्रकाशक), जिसे क्रमशः लघु और वृहद् नय चक्र कहा गया, प्राकृत भाषा मे निबद्ध है। इन मे भी अनेकान्त और स्याद्वाद का उल्लेख हुआ है।

लघुनयचक्र में स्याद्वाद—देवसेन के नयचक्र मे नय को अनेकान्त का मूल[२८] और नयो के समूह को अनेकान्त कहा गया है[२९]। स्याद्वाद को समझने के लिए आचार्य ने नय को समझना आवश्यक माना है[३०]।

द्रव्य स्वभाव नयचक्र में स्याद्वाद—माइल्ल धवल ने नयचक्र मे एकान्तवादियों के सिद्धान्तो को सदोष बतला कर उनकी उपमा जन्मान्धो मे दी है[३१]।

स्याद्वाद शब्द 'स्यात्'-'वाद'के मिलने से बना है। वाद का अर्थ कथन होता है। स्यात् पद की निम्नांकित विशेषताएं बतलाई गई है[३२]।

१. स्यात् सर्वथा नियम का निषेध करने वाला है।

२. स्यात् निपात् रूप है।

३. स्यात् वस्तु को सापेक्ष सिद्ध करता है।

स्यात् पद इस नियम का निषेध करता है कि वस्तु नित्य ही है और अनित्य ही है। ही का कथन करने वाला वाक्य दुर्नय कहलाता है[३३]।

'स्यात्' शब्द को निपात कहने का तात्पर्य यह है कि स्यात् अव्यय है। अतः इसका अर्थ सशय या शायद नही है। स्यात् किंचित और कथंचित का सूचक है[३४]।

'स्यात्' वस्तु को सापेक्ष सिद्ध करता है। वस्तु किसी अपेक्षा से नित्य है और अन्य अपेक्षा से वस्तु अनित्य भी है। इस तरह स्यात् द्रव्य के यथार्थ स्वरूप को बतलाता है। चाहे प्रमाण का विषय हो या नय का वह सापेक्ष हो तो सम्यक और निरपेक्ष हो तो मिथ्या होता है[३५]। स्यात् जहां वस्तु के एक धर्म को प्रकाशित करता है वही यह भी सिद्ध करता है कि उसके प्रतिद्वन्द्वी धर्म की भी सत्ता है[३६]। उस समय अन्य धर्म गौण हो जाते है।

'स्यात्' शब्द का प्रयोग प्रत्येक वाक्य के साथ न लगाने वालो के लिए कहा गया है कि वे अमृतमय भोजन छोड़कर विषमय भोजन करते है। क्योंकि 'स्यात्' के बिना वस्तु का स्वरूप प्रतिपादित नहीं होता है[३७]। यही कारण है कि वस्तु को स्यात् सापेक्ष पूर्वक नही जानने वालों को आचार्य ने मिथ्या दृष्टि कहा है[३८]।

सातभंगी—माइल्लधवल ने सात भगों के नाम बतला कर प्रमाण, नय और दुर्नय के सात भग बतलाये हैं। स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यात् अस्ति नास्ति, स्यात् अवक्तव्य, स्यादस्ति अवक्तव्य, स्यात् नास्ति अवक्तव्य और स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य। यह प्रमाण सप्तभगी है। क्योंकि इसमे वाक्य स्यात् पद सहित है। इसी प्रकार स स्यात् पद के साथ 'एव' पद पूर्वक नय भगी भी बन सकती है।

माइल्ल धवल ने स्याद्वाद सिद्धान्त का अनुकरण का फल बतलाते हुए कहा है कि स्याद्वाद दृष्टि से युक्त व्यक्ति सभी तरह की क्रिया से कर सकता है। इस सिद्धान्त मे किसी तरह का विरोध नहीं है[३९]।

स्याद्वाद जैन धर्म का पर्यायवाची है। इस अनुपम सिद्धान्त की जो उपयोगिता और आवश्यकता भगवान महावीर के काल मे थी उससे अधिक आज है। इस परमाणु युग मे विश्वशान्ति के लिए उत्पन्न खतरा स्याद्वाद के सिद्धान्त के आधार पर ही टाला जा सकता है।

(प्राकृत शोध संस्थान, वैशाली)

सन्दर्भ-सूची

१. केवलज्ञान सम्मिश्रो दिव्यध्वनिसमुद्भवः।
अत एव हि स ज्ञेये सर्वज्ञः परिभाषितः॥
माइल्ल धवलः नयचक्र, गाथा २५३ में उद्धृत।

२. आ० कुन्दकुन्द : प्रवचनसार, गाथा ३७-४१।

३. दव्वं विस्ससहावं एक्कसहावं कयं कुदिट्ठिहिं।
लद्धूण एयदेस जह करिणो जाइ अंधेहिं॥
माइल्ल धवल नयचक्र, गा० ५६

४. (क) सव्वं वियस्यते दव्वसहावा विद्रूसिया होंति।
दुट्ठे ताण ण हेऊ सिज्झइ ससार मोक्ख वा॥
वही गाथा ५५(४) कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा. २२६

(बी) परिमाणेण विहीण णिच्च दव्व विणस्सदेणेव।
णो उप्पज्जेदि समा एव कज्जं कह कुणदि॥
पज्जय भिन तच्च विणस्सए खणे-खणे वि अण्णण्ण।
अण्णइ दव्व विहीण ण य कज्ज किंपि साहेदि॥
कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा० २२७-२२६

५. अत्थित्ताइसहावा दव्वा सब्भाविणो ससब्भावो।
माइल्ल धवल : नयचक्र, गा० ७०

६. । को अणेयतो णाम जच्चतरत्तं।
वीरसेन धवला (जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भा. ४,५,१०५
॥ सति अणंताणता तीसुवि कालेसु सव्व दव्वाणि।
सव्व पि अणेयत तत्तो भणिदं जिणेदेहिं॥
कार्तिकेयानुप्रेक्षा, भा० २२४

७. नयचक्र, गाथा १८०।

८. णो छायए णोविय लूसएज्जा,
माणं ण सेवेज्ज पगासणं च।
णा यावि णण्ण परिहास कुज्जा,
ण यासियावाय विगारेज्जा॥

९. द्रव्य-आगमयुगकालीन दर्शन पृ० ६२।

१०. प० दलसुख मालवाणिया : आगमयुग का जैनदर्शन, पृ० ५२-५३।

११. ७।२।२७३।

१२. भगवती सूत्र, १२।१०।४६६।

१३. शलक अध्ययन।

१४. षट्खण्डागम १।२।५०, पृ० २६२।

१५. पचास्तिकाय, गा० १४।

१६. प्रवचनसार, गा० २३।

१७. द्रष्टव्य जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग-४, पृ० ५०१।

१८. वही, पृ० ५०३।

१९. गा० २२४, (१९) गा० २२५ २२६, २६२, २६४।

२०. जो तच्चमयेयंतं णियमा सद्दहदि सवभंगेहिं।
लोयाण पण्ह वसदो ववहार पवत्तणट्ठ च॥ ३११

२१. जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा ण विव्वडइ।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो णमो अणगतवायस्स॥
—सिद्धसेन सम्मइ सुत्तु २३।६६

२२. अत्थतर भूएहिं य णियएहिं दोहिं समयमाईहिं।
वयण वि संसाइय दव्वमन्तव्वय पडइ॥
अह देसो सब्भावे देसो असब्भाव पज्जवे णियओ।
तं दवियमत्थि णत्थि य आएसविसेसियं जम्हा॥
सब्भावे आइट्ठो देसो देसो य उभहया जस्स।
तं अत्थि अवतव्वं च होइ दवियं विसप्पवसा॥
आइट्ठो असब्भावे देसो देसोय उभयहा जस्स।
तं णत्थि अवत्तव्वं चहोइ दविय वियप्पवसा॥
सब्भावासब्भावे देसो देसो य उभयथा जस्स।
त अत्थि णत्थि अवत्तव्वयं च दविय वियप्पवसा॥
वही, १, गा० ३६-४०।

२५. जह सद्धाण माई सम्मत्त जह तवाइगुणणिलये।
धाओ एयरस तह णयमूलो अणेयतो॥ गा० ४

२६. एअतो एअणयो होई अणेयतमस्स सम्मूहो। गा० ६

२७. जह्मा ण णएण विणा होई णरस्स सियवाय पडिवत्ती।
तह्मा सो बोहव्वो एअत हंतु काम ण॥ गा० ३

२८. गा० ५६।

२९. णियमणिसंहणसीलो णिपादणादो य जोहुखलु सिद्धे।
सो सियसद्दो भणिओ ओ सावेक्ख पसाहेदि॥ गा. २५३

३०. गा० २५८। ३१. गा० २६१।

३२. सियसावेक्खा सम्मा मिच्छारूवा हु तेपि णिरवेक्खा।
तम्हा सिय सद्दादो विसयं दोहणंपि णायव्व॥
अवरोप्परसावेक्ख णयविषय वा।
त सावेक्ख भणिय निरवेक्ख वि विवरीय॥
गा० २५०-२५१

३३. गा. २५६। ३४. गा. २६०।

३५. गा. ५४ (गा. ७१-७२) ३६. गा. ७३।

३७. गा. २५५-२५७। ३८. गा. ६४।

प्राकृत और मलयालम भाषा

□ ले० श्री राजमल जैन, जनकपुरी दिल्ली

प्राचीन काल मे केरल तमिलगम (Tamilkam-तमिलनाडु) का ही एक भाग था। इस सारे प्रदेश की साहित्यिक भाषा भी 'चेन्लगिल' थी। चेर प्रदेश(केरल) मे प्रचलित तमिल की बोली को मलनाट्टतमिल कहा जाता था। जो भी हो, प्राचीन तमिल को भी प्राकृत ने किसी सीमा तक प्रभावित किया है। परिणामत: केरल की तत्कालीन भाषा को भी प्राकृत ने प्रभावित किया है।

मलयालम भाषा मे प्राकृत तत्त्व के सम्बन्ध में केरल में एकाधिक शोध-कार्य भाषाविदो द्वारा किए गए है। उनमें से एक हैं—डा० पी. एम. जोसफ। उन्होंने ६वी सदी से १५वी सदी तक के शिलालेखों और साहित्यिक कृतियों का अध्ययन कर मलयालम में गृहीत प्राकृत शब्द (Prakrit Loan words in Malaya'am) नामक महत्त्वपूर्ण शोध-प्रबंध प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत लेखक के मित्र के नाते उन्होंने केरल विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत किन्तु अप्रकाशित यह प्रबंध उपलब्ध करा दिया। उसकी सामग्री का इस अध्याय मे काफी प्रयोग किया गया है।

डा० जोसफ ने प्राकृत भाषा के प्रभाव को तीन काल-चरणो में बांटा है :—

(i) ईसापूर्व ६०० से ६०० ई० तक। इस काल में जो भी ब्राह्मण दक्षिण में (केरल) में आए, वे प्राकृत के किसी न किसी रूप का प्रयोग करते होंगे। इसके अतिरिक्त मगध के भी कुछ व्यापारी आए होंगे जो स्वभावत: मागधी का प्रयोग करते होंगे।

यह स्मरणीय है कि केरल में नंपूतिरि ब्राह्मणों का आगमन "अहिच्छत्र" से बताया जाता है।

(ii) दूसरे चरण में, जैन, बौद्ध और मागधी व्यापारियों का आगमन केरल मे हुआ होगा, (जैन ईसा से भी पहले केरल में विद्यमान है थे—लेखक) और उनके कारण अर्धमागधी, जैन शौरसेनी, जैन महाराष्ट्री, पैशाची आदि का प्रभाव सम्भव है।

(iii) तीसरे चरण में, उत्तर-पश्चिम भारत के लोग केरल में आए (सम्भवत: डा० जोसफ का संकेत गुजरात-राजस्थान से है)। उनके कारण "अपभ्रंश" का भी प्रभाव पडा।

केरल के प्रसिद्ध इतिहासकार श्री श्रीधर मेनन अपनी पुस्तक "सोशल एंड कलचरल हिस्ट्री आफ केरल" मे यह मत व्यक्त करते हैं कि—"It may be noted in this connection that during the period of the Aryanisation of Kerala, Sanskrit and its "Proto-forms" like "Prakrit" exercised a profound influence on the life and language of the people of Kerala." (P. 333)

दक्षिण भारत मे जैनधर्म के प्रभाव-प्रसार के सम्बन्ध में प्राय: सभी इतिहासकार इस बात को स्वीकार करते है कि भद्रबाहु चन्द्रगुप्त मौर्य के श्रवणबेलगोल आगमन के समय से अर्थात् ईसा से ३५० वर्ष पूर्व के लगभग कर्नाटक-तमिलहम् में जैनधर्म का प्रवेश हुआ। प्रस्तुत लेखक ने 'केरल मे जैनधर्म का इतिहास" अध्याय में यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि सुदूर अतीत से ही केरल में जैनधर्म विद्यमान था और चन्द्रगुप्त मौर्य केरल होते हुए ही श्रवणबेलगोल पहुंचे होगे (उपर्युक्त अध्याय देखिए।) किन्तु इतना तो स्पष्ट है ही कि चन्द्रगुप्त मौर्य के साथ बारह हजार मुनि आए थे। उनके साथ हजारो श्रावक एवं अकाल-भय से सत्रस्त हजारों नागरिक भी अपने सम्राट् के साथ आए होंगे। ये मगधवासी थे और प्राकृत भाषा भाषी थे। धर्म-प्रचार के लिए वे पहले से ही तमिल आदि दक्षिणी भाषाएं सीख कर नही आए होंगे। उन्हें अवश्य ही प्राकृत जैसी संपर्क-भाषा इन प्रदेशों मे भी

सुलभ थी इस बात की सम्भावना पर अवश्य ही विश्वास किया जा सकता है। श्री लंका मे बौद्धधर्म के प्रवेश के साथ (ईसा पूर्व सदियों मे) ही जिस सिंहली भाषा का विकास हुआ, उसमें भी प्राकृत तत्व पाए गए हैं। यह स्थिति उसी प्रकार की सम्भव है जैसी कि किसी समय संस्कृत की एक सपर्क भाषा के रूप मे थी और आजकल हिन्दी या अंग्रेजी की। दक्षिण भारत मे भी अशोक के शिलालेख प्राकृत मे हैं। यह भी इस तथ्य की सूचना है प्रान्त तमिलहम-केरल प्रदेश मे समझी जाती थी।

ईसा की प्रारंभिक सदियों मे आचार्य कुन्दकुन्द ने प्राकृत भाषा मे ही दिगम्बर सम्प्रदाय के प्रामाणिक ग्रन्थों की रचना की। उनका स्थान इस सम्प्रदाय मे महावीर के समकालीन और उनके प्रमुख शिष्य (गणधर) के बाद बड़े आदर से स्तुति मे लिया जाता है। वे दाक्षिणात्य विद्वान थे यह सर्वमान्य है। आचार्य ने इसकी रचना प्राकृत समझने वाली जनसमुदाय को ध्यान मे रखकर की होगी। स्वयं उनका इस भाषा मे पाण्डित्य भी यह संकेत देता है कि प्राकृत का पठन-पाठन व्यापक एवं व्यवस्थित रहा होगा। केरल के वामनाड जिले मे "तिरुनेल्ली" में आचार्य कुन्दकुन्द के चरण स्थापित हैं। उन्हें जैन परंपरा आचार्य के चरण मानती है और ब्राह्मण परम्परा राम के चरण घोषित करती है। आचार्य के श्रोता प्राकृत समझते होंगे।

केरल के अनेक शिलालेख या तो नष्ट हो गए हैं या अभी इस दिशा मे सर्वांगीण कार्य नही हुआ है। इस कारण केरल के समीपवर्ती पल्लव-राज्य प्रदेशो के जो शिलालेख ईसा की चौथी शताब्दी तक के अध्ययन-क्षेत्र मे आए हैं, उनसे यह निष्कर्ष सामने आया है कि इस अवधि तक पल्लव "शिलालेख प्राकृत" मे थे, उसके बाद संस्कृत मे और उसके बाद तमिल और संस्कृत मे। स्पष्ट है कि उपर्युक्त अवधि में भी प्राकृत समझी जाती थी। केरल पर भी उसका प्रभाव अनुमानित किया जा सकता है। मदुरै आदि स्थान केरल से बहुत दूर नही है।

सातवी सदी मे चीनी यात्री ह्वेनसांग भारत की यात्रा पर आया था। उसने यह लिखा है कि दक्षिण भारत मे उसने दिगम्बरो को बड़ी संख्या मे देखा। कन्याकुमारी से लगभग १६ कि. मी. की दूरी पर स्थित "कोट्टारू" मे उसने बहुत-से दिगम्बरो को देखा। अब यह स्थान नागर कोविल शहर का एक भाग है। यहां यह ध्यान देने योग्य है कि उसने दिगम्बर शब्द का ही प्रयोग किया है। इससे यह परिणाम निकलता है कि नग्न मुनियो ने आचार्य कुन्दकुन्द की प्राकृत रचनाओं जैसे नियमसार, समयसार आदि का प्रयोग अवश्य किया होगा क्योंकि जैनधर्म के प्रामाणिक ज्ञान के लिए ये ग्रन्थ अनिवार्य पाठ्यपुस्तको जैसे है।

आठवीं शताब्दी में भी केरल मे प्राकृत का पठन-पाठन होता था। इसका प्रमाण यह है कि मुसिरि (प्राचीन काल मे केरल का एक बन्दरगाह जो आजकल कोडंगलपुर के नाम से जाना जाता है) के एक विद्वान नीलकंठन ने तमिल संगम साहित्य की "इरैयनार" 'अकाप्पोरुल' (Iraiyanar Akapporui) पर एक टीका लिखा थी। उसमे उसने यह लिखा है कि यह टीका उसकी दस पीढियों से मौखिक रूप से चली आ रही थी जिसे उसने लिपिबद्ध कर दिया। इरैयनगर का अर्थ ईश्वर होता है। किन्हीं कारणो से यह कह दिया गया कि इसकी रचना शिवजी ने की है। किन्तु श्री के. एन. शिवराज नामक विद्वान ने यह खोज की है कि इस रचना और एक अन्य तमिल ग्रंथतोल कप्पियम (जिसे श्री शिवराज ने जैन कृति कहा है) के छंदो में अनेक समानतायें है। इस टीका मे पर्याप्त संख्या मे प्राकृत शब्दो को देखते हुए मार जॉन राल्सटन ने "दी एट एन्थालॉजीज" नामक पुस्तक मे यह मत व्यक्त किया है कि—"From the above it is clear that in Kerala Prakrit was studies and even learnt oraley down to the eighth century." (P 4)

एक स्वतंत्र भाषा के रूप मे मलयालम नौवी दसवी शताब्दी मे अस्तित्व मे आई किन्तु संस्कृत-प्राकृत का प्रभाव साथ मे लेकर। तत्कालीन साहित्य, शिलालेखो आदि पर यह प्रभाव भासित होता है। "तमिल के साथ संस्कृत-प्राकृत संकलन से स्वतंत्र केरलीय भाषा का प्ररूप-विकास लगभग नवम-दशम शती में परिलक्षित होता है।"

नौवीं शताब्दी के आते-आते केरल में ब्राह्मणो का प्रभाव वृद्धि की ओर अग्रसर था। वे सस्कृत के पक्षधर थे। किन्तु प्राकृत का अध्ययन-अध्यापन और प्रयोग जारी रहा, ऐसा लगता है।

नौवी से पन्द्रहवी सदी तक के शिलालेखो और साहित्य का विशेष अध्ययन प्राकृत के सन्दर्भ में डा० जोसफ ने किया है। उन्होने सदियो के अनुसार (जैसे नौवी-दसवी) मलयालम शब्दो की सूची देकर प्राकृत शब्दो की सूची देकर प्राकृत शब्दों से उनकी व्युत्पत्ति बताई है। इस कालावधि मे उन्होने ४०१ मलयालम शब्द प्राकृत से व्युत्पन्न है यह सिद्ध किया है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि इस अवधि मे तामिलनाडु के साथ केरल मे भी जैन ग्रन्थो, स्मारको आदि को क्षति पहुची। इस कारण यह सामग्री डूबती नाव मे से बचा ली गई या बच गई समझना चाहिए। अनेक मन्दिरो के शिलालेख क्षतिग्रस्त हुए है किन्तु किस कारण से यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता। कुछ शब्दो के उदाहरण यहां प्राकृत से व्युत्पत्ति बताने के लिए दिये जाते हैं :—

अच्चन—एक सम्माननीय व्यक्ति, पिता, प्राकृत रूप अज्ज सम्माननीय व्यक्ति, पितामह या मातामह।

आच्चयार—माननीया महिला, देवदासी, प्राकृत रूप अज्जिअ (महाराष्ट्रीय प्राकृत मे) एक पतिव्रता स्त्री, आर्या सस्कृत। इस शब्द पर डा० जोसेफ ने एक महत्व-पूर्ण टिप्पणी में लिखा है कि अच्चन का अर्थ पिता है किंतु अच्चि शब्द का अर्थ बदल दिया गया। केरल के ब्राह्मण जिन स्त्रियो से विवाह करते थे उन्हे तो प्राकृत शब्द से सम्बोधित किया जाता था किन्तु केवल मलयालम जानने वाली उनकी माताओं को 'आच्च' नही कहा जाता था। किन्तु यह शब्द देवदासी का बोधक हो गया क्योकि वे देवदासियां ब्राह्मणों की रखैल आगे चलकर हो गईं।

इयक्कि—यक्षी, प्राकृत रूप जक्खिणी।

कुट्टम्—कोढ, प्राकृत रूप कुट्ठ।

कोवम्—क्रोध, प्राकृत रूप कोव।

कावु—कावड़, प्राकृत रूप काव, कावड़ी।

चोकि—योगी, प्राकृत रूप (जैन प्राकृत मे) जोगि।

उपर्युक्त अध्ययन के अतिरिक्त डा० जोसेफ ने मलयालम भाषा मे प्राकृत शब्दो की खोज की है। वह सूची भी विस्तृत है। दक्षिण की चारो भाषाओ में प्राकृत के शब्दों का भी उन्होने अध्ययन किया है। यह तथ्य इस बात की पुष्टि करता है कि प्राकृत ने भी दक्षिण भारतीय भाषाओ को प्रभावित किया है। वह प्रभाव पूर्णतः मिट नही सका यद्यपि उसे सस्कृत के प्राबल्य का भी सामना करना पडा।

अब एक सक्षिप्त सर्वेक्षण कुछ मलयालम रचनाओं का जिनमें प्राकृत का प्रयोग हुआ है। इसकी अधिकांश सामग्री भी डा० जोसफ के अनुसार है।

प्राकृत काव्य - श्रीचिह्नकाव्य नामक एक कृति केरल के श्रीकृष्णलीला-शुक नामक लेखक की मिलती है। इसका काल तेरहवी सदी बताया गया है। उसमे कुल बारह सर्ग है जिनमे आठ स्वयं कृष्णलीलाशुक ने लिखा है। इन सर्गों मे वररुचि के अनुसार प्राकृत व्याकरण के नियम समझाए गए है। शेष चार सर्ग लेखक के शिष्य दुर्गाप्रसाद यति ने लिखे है। इन्होंने इस ग्रन्थ की भक्ति-विलास नामक सस्कृत टीका भी लिखी है। कथावस्तु का सम्बन्ध कृष्ण से है। उसके छन्दो मे "महाराष्ट्री (प्राकृत), शौरसेनी, मागधी और पैशाची" का प्रयोग हुआ है। इसमे कृष्ण द्वारा गाये चुरा लिए जाने जैसे प्रसंगो द्वारा प्राकृत व्याकरण के नियम समझाए गए है।

सम्भवतः पन्द्रहवी सदी की एक रचना कण्णस्स पणिक्कर नामक कवि की है। जिसका नाम है—'कण्णस्स-रामायणम्'। कवि सवर्ण नही था, इसलिए ब्राह्मणो को अपना देवता बनाते हुए इस रचना के लिए क्षमा-याचना की है और भाषा की शुद्धता बनाए रखी है किन्तु उसमे भी कुछ प्राकृत शब्द आ गए है।

अज्ञात नपूतिरि ब्राह्मण ने 'कृष्णगाथा' की रचना की है। इसमे केरल की तत्कालीन बोल-चाल की भाषा का प्रयोग अधिक किया है किन्तु इस कृति मे भी प्राकृत शब्द आए हैं।

नीलकठ द्वारा रचित एक काव्य सत्रहवी सदी मे प्राकृत मे 'सोरिचरित" नाम से उपलब्ध है। यह गाथाओ के रूप मे है और अनुप्रास के कारण कुछ कठिन है। इसलिए कवि के शिष्य रुद्रदास ने इसकी संस्कृत टीका

भी लिखी है। इसका विषय कृष्ण-बलभद्र का जीवन है।

'कंसवहो' नामक प्राकृत काव्य रामपाणिवाद ने रचा है। कवि का समय १८वीं सदी है। यह महाराष्ट्री प्राकृत में निबद्ध है। स्पष्ट है कि यह कंस के वध से सम्बन्धित है। यह एक सुन्दर तथा प्रसिद्ध रचना मानी जाती है।

उपर्युक्त कवि ने एक और प्राकृत काव्य 'उसानिरुद्ध' नाम से लिखा है। इसमे उषा और अनिरुद्ध के विवाह का वर्णन है। भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है और रचना वररुचि के प्राकृत व्याकरण के नियमों का अनुसरण करती है।

चंपूकाव्य—मे भी प्राकृत का प्रयोग परिलक्षित होता है। इस शीर्षक के अन्तर्गत तेरहवी सदी की दो-तीन रचनाएं आती है—(१) उण्णियाच्चीचरितम्—इसमें गधर्व और एक सुन्दरी का कथानक है। (२) उण्णच्चिरुतीवि चरितम्—इसकी नायिका एक देवदासी है, इन्द्र उसके यहां जाता है और अनेक प्रेमियो की भीड़ देखता है। (३) दामोदर चाक्यार की कृति उण्णियातिचरितम् मे एक राजकुमार से उत्पन्न एक नर्तकी की पुत्री की कथा है। उसके मधुर गीतो से चन्द्रमा भी आकर्षित हो जाता है।

सन्देश काव्य—कालिदास ने जिस प्रकार एक विरही यक्ष का सन्देश अलकापुरी स्थित उसकी प्रिया को भेजने के लिए मेघ को साधन बनाकर 'मेघदूत' नामक ललित काव्य की रचना की है। उसी शैली मे केरल के मलयाली कवियों ने अनेक सन्देश काव्यों का सृजन किया है। इनमे भी प्राकृत शब्दों और प्राकृत व्याकरण के नियमों का सयोजन है। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

'भृंगसन्देश' नामक एक ताड़पत्रीय ग्रन्थ डा० जोसफ ने ढूढ़ निकाला है। उसके कवि और काल अज्ञात हैं। किन्तु प्राकृत के दो व्याकरणकारों त्रिविक्रम और वररुचि की कृतियों से उद्धरण दिए गए हैं। माया के कारण नायक के विरह का इसमे सुन्दर चित्रण है।

पन्द्रहवीं सदी का एक सन्देश काव्य 'उण्णिनिलिसन्देशम्' है। वह भी इसी प्रकार का है।

कोकसन्देश—एक महत्वपूर्ण सृजन है। इसके केवल १७ श्लोक ही उपलब्ध हो पाए है किन्तु केरल के 'इरिगालउडा' नामक स्थान पर "विशाल भरत मन्दिर (कोविल)" के लिए यह अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ है। इसके एक श्लोक का आशय यह है कि कोक (सन्देशवाहक) भरत-मन्दिर मे न जाए क्योंकि ब्राह्मण उसमें प्रवेश नही करते हैं। इसी आधार पर अधिकांश विद्वानों का यह मत है कि यह "जैन मन्दिर" था और मूर्ति "ऋषभ पुत्र भरत" की सिद्ध होती है। यद्यपि ब्राह्मण परम्परा इसे राम के भाई भरत की मूर्ति बताती है। इसी पुस्तक मे 'हरिगुलकुडा' का भरत मन्दिर देखिए। नायक-नायिका बिछुड़ जाते है और नायक उपर्युक्त पक्षी के माध्यम से अपना सन्देश भेजता है। यह कृति चौदहवी सदी की अनुमानित की जाती है। ए० श्रीधर मेनन के अनुसार—"The koka sandesam was another "Sandesh Kavya" compoped about 1400 A.D."

भक्ति काव्य—प्राकृत से सम्बन्धित दो भक्ति काव्य है—(१) अनतपुरवर्णनम् (त्रिवेन्द्रम के मन्दिरों का वर्णन) (२) कालिनाटकम्—भद्रकाली और असुरों का कथानक। इसमे कुछ अन्यत्र अनुपलब्ध प्राकृत शब्द जैसे कल्ल (नशा), प्राकृत रूप कल्ल (शराब) आदि पाए गए हैं। यह कृति भी चौदहवी सदी की जान पड़ती है।

नाटक—का एक प्रकार सट्टक है जिसमें सभी पात्र प्राकृत बोलते हैं। रुद्रदास (तेरहवी सदी) ने चंडलेहा नामक एक इस कोटि नाटक लिखा है। डा० एन. उपाध्ये ने इसका संपादन भी किया है।

तुळ्ळण—केरल की एक हास्यरसपूर्ण नृत्य-विधा है। इसके गीत (तुळ्ळण पाट्टु=गीत) कहलाते है। इनमे भी प्राकृत का प्रयोग देखा जाता है। कवि कुंचन नपियार (१८वीं सदी) इसके लिए प्रसिद्ध है। उन्होंने 'पात्रचरितम्' नाम रचना के एक ही स्तोत्र मे १६ पंक्तियां अर्धमागधी मे लिखी हैं। उन्होने यह मत व्यक्त किया है कि अक्षर तो केवल ५१ है और व्याकरण भी केवल दो ही हैं 'प्राकृत व संस्कृत'। इस कवि के संबध मे श्रीदेव ने अपनी पुस्तक 'मलयालम साहित्य' मे लिखा है, "नंदियार ने सस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं में अनेक ग्रथ लिखे हैं। उनके द्वारा रचित प्राकृत व्याकरण बहुत प्रसिद्ध है।" इस हास्य कवि ने हिन्दी के भी छन्द लिखे हैं।

नाट्य विधा में प्राकृत—निम्न वर्ग के लोगों को प्राकृत बोलनी चाहिए, इस नियम के अनुसार अनेक रचनाओं में प्राकृत के अश पाए जाते हैं।

मच पर खेले जाने वाले "कुटियाट्टम" और "कूट्ट" मे स्त्री-पात्र प्राकृत बोला करते थे।

कथकलि—संगीतपूर्ण नृत्य है। कोटयत्तु सपूरण नामक रचनाकार की इस विधा की काव्य कृति (सत्रहवीं सदी) में उर्वशी और अप्सराएँ प्राकृत बोलती है। अश्व-तितिरुनाळ (अठारहवी शती)की रचना अम्बरीशचरितम् और वयस्कर मूस्स के दुर्योधनवधम् (उन्नीसवी सदी) मे भो प्राकृत का प्रयोग हुआ है।

सस्कृत नाटकोमे भी महाराष्ट्री और शौरसेनी प्राकृतो का प्रयोग नौवी सदी से ही देखा गया है।

व्याकरण—उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि 'वररुचि' के 'प्राकृत व्याकरण' को बहुत अधिक लोकप्रियता प्राप्त रही है। शायद इसी कारण केरली परम्परा यह मानती है कि वररुचि केरल के ही विद्वान थे। किंतु यह मत स्वीकार्य नहीं हो सकता है। इसका अर्थ केवल इतना ही लिया जा सकता है कि केरल मे प्राकृत का सदियो से पठन-पाठन और प्रयोग होता रहा और उनका मुख्य श्रेय वररुचि को है।

वैज्ञानिक साहित्य-इसमे १३वी सदीकी रचना मानी जाने वाली कृति "भाषा कोटिलियम्" छदशास्त्र सम्बन्धी १४वीं शताब्दी का ग्रन्थ है। इसमे दो अध्याय व्याकरण पर भी है। लेखक ने शब्दो को तीन वर्गों मे बांटा है। (a) देसी (b) सस्कृतभव; इस वर्ग मे प्राकृत शब्दो को भी सम्मिलित कर उन्हें दो वर्गों मे पुनः विभाजित किया है, एक तो वे जो परिवर्तित नही हुए (जैसे माणिक्क) तथा दूसरे ने जिनमें ध्वन्यात्मक परिवर्तन हुआ है; (c) संस्कृत समस् अर्थात् संस्कृत शब्द।

आयुर्वेद सम्बन्धी ग्रन्थ 'योगामृतम्' मे भी प्राकृत शब्दो का प्रयोग है। कुछ प्राकृत शब्दों को नवीन अर्थ प्रदान किया गया है। हड्डी टूटने पर लगाई जाने वाली खपच्ची को 'तूणी' और अशुद्ध रक्त चूस लेने वाली जोक के लिए 'जाळुविक्कु' इत्यादि मुहूर्त विधि नामक पुस्तक में प्राकृत प्रयोग है।

डा० जोसफ ने अपने भाषावैज्ञानिक अध्ययन के पश्चात् दो महत्वपूर्ण निष्कर्ष प्रस्तुत किए हैं—

(i) मलयालम और तमिल में प्राकृत के शब्द सबसे अधिक पाए गए हैं। इससे यह तथ्य सामने आता है—"The posibility of Karnataka jains preaching exclsively in Kerala may be ruled out."

(ii) केरल के लेखकों को प्राकृत का व्याकरण संबंधी विवेचन करते हुए वे कहते है कि—"The presence of Pali and Ardhamagadhi loan words shows that Buddhists and Jainas had come to Kerala. Perhaps tney might not have entered into literary activities or what they had written might have been destroyed by their Hindu rurals," जब अजैन लेखको ने भी प्राकृत को अपनाया, तब केरल के जैन लेखको ने प्राकृत मे कुछ भी नही लिखा यह बात गले नही उतरती। अवश्य ही जैन ग्रन्थ नष्ट हो गए होगे। किन्तु यह भी सत्य है कि इस दिशा में शोध-कार्य नही हुआ है। "त्रिवेन्द्रम की पब्लिक लायब्रेरी में शायद चालीस हजार हस्तलिखित और ताडपत्रीय ग्रन्थ हैं। अन्य स्थानो पर भी अवश्य होगे।

अनेक स्रोतो से इस अध्ययन के लिए सामग्री एकत्रित करने में प्रस्तुत लेखक का उद्देश्य यह भी है कि जैन विद्वान केरल मे प्राकृत के प्रयोग से परिचित हों और इस भूभाग मे प्राकृत भाषा और साहित्य सम्बन्धी खोज गम्भीरतापूर्वक करें।

आज भी प्राकृत शब्दों का प्रयोग

कुछ शब्दो के उदाहरण दिए जाते है। 'पळ्ळि' शब्द जैनो से सम्बन्धित है मुख्य रूप से। केरल के मन्दिर, मस्जिद, गिरजा घर आज भी इसी शब्द से सूचित किए जाते है। 'पळ्ळिक्कूम' एक प्राकृत शब्द है जो कि केरल मे 'स्कूल' के लिए प्रयोग मे लाया जाता है। प्राचीनकाल मे जैन मन्दिर के साथ-साथ पाठशाला भी केरल मे होती थी।

डा० के. गोद वर्मा ने 'केरल भाषा विज्ञानीयम्' में कुछ ऐसे शब्द दिए हैं जिनकी व्युत्पत्ति प्राकृत से ही संभव है। यथा—मकयिरम् (म.), मृगशिरा(स.) मागसिर(प्रा.);

चेट्टि (म.) श्रेष्ठिन् (सं.) सेट्ठी (प्रा.); कच्चवटम् (म.– पहले इससे कपड़े का व्यापार सूचित होता था। अब किसी भी प्रकार के व्यापार के लिए प्रयुक्त), कक्षापट (सं.) कच्छावट (प्रा-नंगापन छिपाने का वस्त्र)।

केरल मे कोडंगल्लूर के भगवती मन्दिर मे जो 'कुडुमी' (Kudumi) लोग भरणी उत्सव के समय आते हैं, उनकी भाषा कोंकणी का भ्रष्ट स्वरूप है। कुछ विद्वानों का मत है कि स्वय 'कोकणी' भी 'पैशाची प्राकृत' और 'बिहार की मागधी का सम्मिश्रण' है। इस तथ्य का उल्लेख करते हुए 'दी गोल्डन टावर' के लेखक श्री इन्दुचूडन ने लिखा है—"Trikkulasekharapuram is a place where lot of 'Prakrit' has been used through the ages." क्योंकि इस स्थान पर (जो कि कोडंगल्लूर के समीप है) अनेक सस्कृत नाटक लिखे और खेले गए। इनमे स्त्रियां और निम्न वर्ग के लोग प्राकृत बोलते थे। इस सम्बन्ध मे श्री इन्दुचूडन ने कुलशेखर वर्मा के नाटको में प्राकृत शब्दो के प्रयोग, केरल के कुडुमी जाति के लोगो की भाषाओ तथा कोकड़ी लोगो की बोलियो को अपने मत का आधार बनाया है। केरल मे प्राय: खेले जाने वाले सस्कृत नाटक 'आश्चर्यचूडामणि' का भी उन्होने उल्लेख किया है।

मणिप्रवाल भाषा शैली

ईसा की नौवी से बारहवी सदी मे मणिप्रवाल नामक एक अलग ही भाषा-शैली विकसित हुई। इसमे मलयालम या तमिल के साथ अधिकाधिक सस्कृत शब्दो के उपयोग की प्रवृत्ति चल पड़ी। वर्तमान मे मलयालम भाषा मे ८५ प्रतिशत सस्कृत शब्द बताए जाते है। किन्तु **मणिप्रवाल भाषा-शैली के प्रवर्तक भी जैन थे**। डा. ए. वेळु पिल्लै ने अपनी पुस्तक Epigraphical Endenees for Tamil Studies मे मत व्यक्त किया है कि—"We have to admit that the Jains first introduced the Manipravala style, equal admixture of Tamil and Sanskrit... ..The Jains gare this up after some time but the Vaishnavites took it up" यह उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त सदियो मे मलयालम तमिल से पृथक् होने के विकास-क्रम मे थी।

संस्कृत भी केरल को जैनों की देन

कुंजिकुट्टन संपूराम ने 'केरलम्' नामक एक काव्य में लिखा है। इनका समय उन्नसवी सदी के अंत और 'बीसवीं सदी का प्रारभ है। कवि ने दूसरे सर्ग के श्लोक संख्या ६८ मे यह उल्लेख किया है कि जैन लोगों की गतिविधियो के कारण ही केरल के सभी वर्णों के लोग सस्कृत सीख सके। यह सुविदित ही है कि सस्कृत एक वर्ण की विशेष सम्पत्ति रही है।

नमोऽस्तु से लिपि सीखनाप्रारंभ

एक लम्बी अवधि तक केरल मे 'वट्टेळत्तु' (Vatte-luttu) लिपि का प्रयोग होता रहा। तमिलनाडु मे तो यह पन्द्रहवी शताब्दी तक ही उपयोग मे लाई गई किन्तु केरल मे इसका उपयोग अठारहवी शताब्दी तक होता रहा। प्रसिद्ध केरलीय लिपिवेत्ता गोपीनाथ राव का मत है कि इस लिपि का आद्यरूप (प्रोटोटाइप) अशोक के शिलालेखो की ब्राह्मी लिपि है अर्थात् यह ब्राह्मी से विकसित हुई। जैन मान्यता है कि प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव ने अपनी पुत्री ब्राह्मी को यह लिपि सिखाई थी। एक प्राचीन जैन ग्रन्थ मे ब्राह्मी लिपि को नमस्कार भी किया गया है।

उपर्युक्त मत के विपरीत डा. हरप्रसाद शास्त्री का मत है कि वट्टेलुत्तु का विकास खरोष्ठी से हुआ है। दुःख की बात है कि कुछ लोग खरोष्ठी का शाब्दिक अर्थ 'गधे (खर) के ओठ जैसी लिपि करते हैं। ससार मे किसी भी लिपि का इस प्रकार नाम शायद ही मिलेगा। वास्तव मे, खरोष्ठी शब्द 'वृषभोष्ठी' भ्रष्ट या घिसा रूप है। वृषभ से रिखनोष्ठी और उससे खरोष्ठी बना है, ऐसा भाषाविज्ञान के नियमों से सम्भव है। वृषभ के ओठ से प्रचलित की गई अर्थात् प्रथम तीर्थंकर वृषभदेव द्वारा प्रचलित की गई लिपि वृषभोष्ठी है।

अब वट्टेळुत्तु शब्द की व्युत्पत्ति वह दो प्रकार से की जाती है—(१) Vatta (=गोल, वर्तुलाकार)—Ezhultu =लिखावट, लिपि। (२) Vatha (उत्तरी, उत्तर की)+ Ezhultu उत्तर भारत की लिपि। दूसरा अर्थ करने पर

(शेष पृ० २६ पर)

जैन कवि लक्ष्मीचंद के 'छप्पय'

□ डॉ० गंगाराम गर्ग, भरतपुर

रीतिकालीन शृंगारिक कवियों ने अपने मुक्तक काव्य मे दोहा, कवित्त, सवैया के अतिरिक्त छप्पय छंद का भी प्रयोग किया है। रोला और उल्लाला से निर्मित छप्पय छंद का प्रयोग राज-प्रशस्ति के गान मे व्यापकता से हुआ। अपभ्रंश का 'षट्पद' हिन्दी काव्य मे 'छप्पय' के नाम मे अवतरित होकर पृथ्वीराज रासो मे सर्वाधिक प्रयुक्त हुआ है। डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल के द्वारा छीहल कवि कृत 'बावनी' के प्रकाशित कर दिए जाने मे अपभ्रंश काव्य के बाद हिन्दी नीतिकाव्य के प्रवर्तक के रूप मे छीहल के प्रतिष्ठित होने की सम्भावना बढ़ी है। 'छीहल-बावनी' मे छप्पय छद ने ही धन, परोपकार, दान, त्याग आदि विभिन्न नैतिक अवधारणाओं को अधिक अनुभूतिमय बनाया है। छीहल के बहुत समय बाद रीतिकाल मे आविर्भूत बनारसीदास, द्यानतराय, देवीदास, मनोहरदास, लक्ष्मीचन्द तथा नथमल 'विलाला' आदि जैन कवियो ने भक्ति और नीति की अभिव्यक्ति के लिए छप्पय छंद का प्रयोग किया। दिगम्बर जैन मन्दिर चाकसू (जयपुर) मे प्राप्त एक गुटके मे लक्ष्मीचन्द के कतिपय छप्पय कवित्त तथा २८ दोहे सकलित हैं[1]। आचार-नीति के विधेयात्मक और निषेधात्मक दोनो पक्षो पर कतिपय नीति-उक्तियां उत्पादित की हैं। कवि ने सज्जन पुरुषो में सुगति, उपकार, सत्संग और पुण्य मे रुचि आदि गुण बतलाए हैं—

सज्जन गुन को गेह, कुमति मति दूरि निवारै।
सज्जन गुन को गेह, धरन उपगार जु करिहै,
सज्जन गुन को गेह, पाप मति कबहू न धरिसै।
सज्जन है परसंगति वहै, सगति कीए सुभ लहै।
ऐह जानि भवि मन आनि कै, 'लक्ष्मी' उर धरि जग लहै।

'शील' गुण को लक्ष्मीचन्द ने कुमति का विनाशक और यश का प्रदाता कहकर उसे धारण करने की शिक्षा दी है—

सील बडो ससार, सुजस ही बेलि बधावै।
सील बडो संसार, जलधि तै पार करावै।
सील बडो संसार, कुमति मेटन सुखदाई।
सील बडो संसार, पाप भवि मन वच काई।
सील रतन मय होत है, मन मैं धरि अति मंत।
'लषमी' कहत यह सीख मठि, भवि धार निश्चित।

मोक्ष की ओर अग्रसर करना शील का सबसे बडा गुण है। अतः सामान्य नर-नारी ही नही, अपितु मुनिवर भी शील व्रत का विशेष ध्यान रखते है—

सील रतन कौ धारि, मुनिश्वर ध्यान धरै जी।
सील रतन कौ धारि, सिव पंथ गहै जी।
सील रतन कौ धारि, नारि नर सुभ गति जैहै।
सील रतन कौ धारि, पूज्य संसार जु वहै है।
सील रतन व्रत को गहत, नर नारी दिढ धारि कै।
तिन कौ नमत सुर इद सब, 'लषमी' मन हरषाय कै।

मर्यादा-पालन की अनिवार्यता बतलाते हुए, नीतिकार लक्ष्मीचन्द ने राज के लिए 'प्रजा-वात्सल्यता', प्रजा के लिए 'राजाज्ञा-पालन', नारी के लिए 'शील-व्रत' और पुरुष के लिए 'शुभ-मार्ग ग्राह्य' करने का लक्ष्य निर्धारित किया है—

पावन राजा होय, प्रजा कौ सुख उपजावै।
पावन परिजा होय, राज सबै आनि न पावै।
पावन नारी होय, सील गुन दिढ करि पालै।
पावन नर जो होय भलै सुभ मारग चालै।
एह च्यारो राज पवित्र है, ते पवित्र सहजै बरै।
'लषमी' कहत ऐह, सब भवसागर तिरै।

जैन परम्परा के अनुसार लक्ष्मीचन्द की आस्था कर्म-फल मे भी है। शुभ कर्मों का फल पुण्य के रूप में कभी भी उदित हो सकता है—

पुन्य उदै तब होय, सुजस पुनि बेल बधावै।

1. 'गुरु निश्चै निरग्रंथ पाक्ति के आधार पर लक्ष्मीचंद के दिगम्बर जैन होने मे कोई सन्देह नहीं रह जाता।

पुन्य उदै तब होय, राज रिधि पल मैं आवै ।
पुन्य उदै तब होय सत्रु मित्र सम हो ही ।
पुन्य उदै तब होय, मिलैं फुनि चाहैं सोही ।
एह रोला जांनि पुन्य प्रभाव तैं, इन्द्रादिक सुष भूलते ।
फिर वहैं मुकति सुजान, 'लषमी' निचै पुन्य तैं ।

निषेधात्मक नीति तत्त्वों में कवि ने सामन्ती संस्कारों और दरबारी कवियों की वाणी मे 'काम-वासना' का प्रसार देखकर उसकी निंदा की है। शृंगारी कवियो ने परकीया प्रेम को शास्त्रीय जामा पहनाकर उसके मन-भावने चित्र खीचे, जिसके विरोध में लक्ष्मीचन्द के तीखे तेवर तिलमिला देने को बाध्य करते है—

परनारी परतषि, जानि अति विष की झाला ।
परनारी परतषि, जांनि तू अगनि विसाला ।
परनारी परतषि, सील गुन भानै छिन मैं ।
परनारी परतषि, जांनि अति षोटी मन मैं ।
एह जांनि भवि परनारि को, तजौ शील गुन धारिकै ।
'लषमी' कहत रावन गये, नरक भूमि निहारि कैं ।

कवि ने नरक और ससार-भ्रमण का भय दिखला कर भी परकीया-रति का दुष्परिणाम व्यक्त किया है—

परनारी रति होय, जलति संसार भ्रमैंगे ।
पर नारी रति होय, नीच गति मांहि परैंगे ।
पर नारी रति होय, निगोद्यां में दुख पावै ।
पर नारी रति होय, भली गति कबहू न जावै ।
पर नारी रति ते भया, तिनको हिरदो मलीन मन ।
पर वनिता तैं तजत हैं, 'लषमी वे नर बुद्धजन ।

पापोन्मुख नीति मनुष्य को राग, दुर्बुद्धि तथा अधर्म आदि दोषों में फंसाती है। अतः लक्ष्मीचन्द पाप से बचने की प्रेरणा देते हैं—

पाप उदै तबै होय, राग बहु व्यापै तन मैं ।
पाप उदै तदै होय, कुमति धारत अति मन मैं ।
पाप उदै तबै होय, धरम नहिं नैक सुहावै ।
पाप उदै तदै होय, ······ संसार भ्रमावै ।
एह जांनि उदो अति पाप को, नरक निगोद्यां में फिरत ।
एह जांनि पाप मनि छांडिकै, लषमी भवसागर तिरत ।

वैष्णव भक्त कवियों में नवधा भक्ति के सभी अंगों का विवेचन पर्याप्त मात्रा में हुआ है। जैन भक्ति काव्य में इन अंगों में 'प्रतिमा-दर्शन' को अधिक महत्वपूर्ण माना गया है। लक्ष्मीचन्द का कथन है—

जिन मुख देषैं आजि, आजि मो भयो जु चैनां ।
जिन मुख देषैं आजि, आज सुख भाषैं बैनां ।
जिन मुख देषैं आजि, आजि उर हरषैं नैनां ।
जिन मुख देषैं आजि, आजि मेटो भव फैनां ।
श्री जिन मूरति निरखि कै, मोहि रहै आनंद ।
·········   (अपूर्ण)

तीर्थंकरों के अतिरिक्त शील-व्रत धारण करने वाले तथा भक्तों की कुगति को निवारने वाले, मोक्षप्रिय साधुओं की वंदना भी लक्ष्मीचंद ने की है—

धनि साध संसार, काम सौ रहे अनूठे ।
धनि साध संसार, भ्रम्य तैं भव छूटैं ।
धनि साध संसार, कुगति कौं निवारो ।
धनि साध ससार, मुकति कांमनि अति प्यारी ।
धनि साध ससार मे, सील रतन करि हार ।
'लषमी' ऐसें गुरु सही, तिन पग धोक हमार ।

मन, वचन और काया मे जैन शास्त्रो मे श्रद्धान रखने की अपेक्षा बतलाते हुए नीतिकार लक्ष्मीचन्द ने उनके श्रवण मात्र को आनन्ददायी तथा पुण्यप्रद बतलाया है—

जैन ग्रंथ तब सुनैं, जानैं पुन्य पाप तैं न्यारो ।
जैन ग्रंथ तब सुनैं, पाप मति रहै न लगारो ।
जैन ग्रंथ तब सुनैं, पुन्य को होइ बढारो ।
जैन ग्रंथ तब सुनैं, श्रवन मे लागै प्यारो ।
जैन ग्रंथ सरधान करि, निहचै मन वच काय ।
ते भवि पावै परम गति, लिषमी कहत सुभाय ।

अलंकार-बंधन और शब्द-शृंगार के आडम्बर से कतई दूर व्यावहारिक भाषा में कतिपय नीत्युक्तियां कहकर लक्ष्मीचंद की कविता ने एक शिक्षिका के समान सर्व-साधारण को दिशा निर्देश दिया है। जैन नीतिकारो ने कवित्त और सवैयों में तो दृष्टान्त और उदाहरण अलंकारों का पर्याप्त प्रयोग किया किन्तु छप्पय मे अनुभूति मात्र ही प्रखरता के कारण अधिक प्रभावकारी हुई है। रीतिकालीन परिवेश मे आविर्भूत वृन्द और दीनदयाल गिरि की परंपरा के विनोदीलाल, मनोहरदास, लक्ष्मीचंद आदि कई जैन कवियों का सामयिक महत्व भी अधिक है। □ □

संग्रहालय गूजरीमहल ग्वालियर में सर्वतोभद्र प्रतिमाएँ

□ श्री नरेश कुमार पाठक

सर्वतोभद्रिका या सर्वतोभद्र प्रतिमा का अर्थ है, वह प्रतिमा जो सभी ओर शुभ या मंगलकारी है अर्थात् ऐसा शिल्प खण्ड जिसमें चारो ओर चार प्रतिमाएं निरूपित हो। पहली शती ईसवी मे मथुरा मे इसका निर्माण प्रारंभ हुआ, इन मूर्तियो मे चारो दिशाओ मे चार जिन मूर्तियां उत्कीर्ण है। ये मूर्तिया या तो एक ही जिन की या अलग-जिनो की होती है। ऐसी मूर्तियो को चतुर्विम्ब जिन चौमुखी और चतुर्मुख भी कहा गया है, ऐसी प्रतिमाएँ दिगम्बर स्थलो पर विशेष उल्लेखनीय है।

जिन चौमुखी की धारणा को विद्वानों ने जिन समवसरण की प्रारम्भिक कल्पना पर आधारित और उसमें हुए विकास का सूचक माना है। पर इस प्रभाव को स्वीकार करने मे कई कठिनाइया है। समवसरण वह देव निर्मित सभा है, जहा प्रत्येक जिन कैवल्य प्राप्ति के बाद अपना प्रथम उपदेश देते हैं। समवसरण तीन प्राचीरो वाला भवन है। जिसके ऊपरी भाग अष्ट प्रातहार्यों से युक्त जिन ध्यान मुद्रा मे (पूर्वाभिमुख) विराजमान होते हैं। सभी दिशाओ के श्रोता जिनके दर्शन कर सकें, उस उद्देश्य से व्यतर देवो ने अन्य तीन दिशाओ म भी उसी जिन की प्रतिमाएँ स्थापित की, वह उल्लेख सर्व प्रथम ८वी-९वीं शती ई० के जैन ग्रन्थो म प्राप्त होता है। प्रारम्भिक जैन ग्रन्थो मे चार दिशाओ मे चार जिन के निरूपण का उल्लेख नही प्राप्त होता, ऐसी स्थिति मे कुषाणकालीन जिन चौमुखी मे चार समवसरण की धारणा से प्रभावित और उनमे हुए किसी विकास के सूचक नही माना जा सकता। ८वीं-९वी शती के ग्रन्थों मे भी समवसरण मे किसी एक ही जिन की चार मूर्तियो के निरूपण का उल्लेख है, जब कि कुषाण कालीन चौमुखी चार अलग-अलग जिनों को चित्रण किया गया है। समवसरण मे जिन सदैव ध्यानस्थ मुद्रा मे आसीन होते है, जब कि कुषाणकालीन चौमुखी जिन मूर्तियां कायोत्सर्ग मे खडी है। जहां हमें समकालीन जैन ग्रन्थो मे जिन चौमुखी मूर्तियों की कल्पना का निश्चित आधार प्राप्त होता है, वह तत्कालीन और पूर्ववर्ती शिल्प मे ऐसे एक मुख और बहुमुख शिवलिंग एवं यक्ष-यक्षी मूर्तियां प्राप्त होती है, जिनसे जिन चौमुखी की धारणा से प्रभावित होने की सम्भावना हो सकती है। जिन चौमुखी पर म्बम्भिक तथा मौर्य शासक अशोक के सिंह एव वृषभ शीर्षक का भी कुछ प्रभाव असम्भव है। अशोक का सारनाथ सिंह शीर्षक स्तंभ इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है,

जिन चौमुखी प्रतिमाओ को मुख्यत: दो वर्गों मे बाटा जा सकता है। पहले वर्ग मे ऐसी मूर्तियां है, जिनमें एक ही जिन की चार मूर्तियां उत्कीर्ण है। दूसरे वर्ग की मूर्तियो मे चार अलग-अलग जिन की मूर्तियां है। पहले वर्ग की मूर्तियो का उत्कीर्णन लगभग ७वी-८वी शती ई० मे प्रारम्भ हुआ किन्तु दूसरे वर्ग की मूर्तिया पहली शती ईसवी मे ही बनने लगी थी। मथुरा की कुषाण कालीन चौमुखी मूर्तिया इसी दूसरे वर्ग की है। तुलनात्मक दृष्टि मे पहले वर्ग की मूर्तियो की सख्या मे बहुत कम है। पहले वर्ग की मूर्तियो में जिनो का लांछन सामान्यत: नही प्रदर्शित है[1]।

केन्द्रीय सग्रहालय गूजरी महल ग्वालियर मे पाच सर्वतोभद्रिका प्रतिमाए सग्रहीत है। सभी प्रतिमाएं लगभग ११वीं-१२वी शती ई० की एव मूर्तिकला की दृष्टि से उल्लेखनीय है। सग्रहीत प्रतिमाओ का विवरण इस प्रकार है :—

सग्रहालय मे पांच सर्वतोभद्रिका प्रतिमाएं सग्रहीत है। इनमे से चार ग्वालियर दुर्ग से प्राप्त हुई है। ११वी शती

ईसवी की है। पांचवी इसी काल खण्ड की विदिशा से प्राप्त हुई है। ग्वालियर दुर्ग से प्राप्त सफेद बलुआ पत्थर पर निर्मित सर्वतोभद्रिका मूर्ति (सं० क्र० ११५) मे स्तम्भ के चारो ओर तीर्थंकर कायोत्सर्ग मे ध्यानस्थ खड़े हुए हैं[३]। इस प्रकार की प्रतिमाओ को किसी भी तरफ से देखा जाय तीर्थंकर के ही दर्शन हो जाते है। जिससे मानव का कल्याण होता है। इसीलिए चारो तरफ मूर्तियो वाली प्रतिमा को सर्वतोभद्रिका की सज्ञा दी गई है। प्रस्तुत सर्वतोभद्रिका के चार तीर्थंकरों मे से केवल आदिनाथ को कंधे पर फैले केशों मे एव पार्श्वनाथ को मस्तक पर सप्त सर्पफण नागमौलि से ही पहचाना जा सकता है। किन्तु सर्वतोभद्रिका प्रतिमाओं मे चार विशिष्ट तीर्थंकरों की ही प्रतिमाए अधिकतर बनाई जाती रही हैं। यथा ऋषभनाथ (आदिनाथ) नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर स्वामी, अतएव इस सर्वतोभद्रिका प्रतिमा की अन्य दो प्रतिमाए तीर्थंकर नेमिनाथ एवं महावीर की हैं। चारों प्रतिमाएं पद्म पादपीठ पर खडी है। मुख खंडित है एवं प्रभावली से अलकृत है। ८० × १० × ४० से. मी. आकार की प्रतिमा कच्छपघात कालीन शिल्पकला के अनुरूप है।

ग्वालियर दुर्ग से ही प्राप्त दूसरी सर्वतोभद्रिका प्रतिमा (स. क्र. ३६२) मे चारो ओर कायोत्सर्ग मुद्रा मे तीर्थंकर प्रतिमाएं अकित हैं। प्रथम ओर कुन्तलित केश, प्रभामंडल, श्रीवत्स युक्त तीर्थंकर आदिनाथ हैं, दोनों ओर चांवरधारियों एव यक्ष गोमुख यक्षी चक्रेश्वरी का आलेखन है। दूसरी ओर तीर्थंकर नेमिनाथ कुन्तलित केश, कर्णचाप, श्रीवत्स युक्त है। दोनो ओर चांवरधारी व यक्ष गोमेध यक्षी अंबिका अकित है। नीचे लेख श्रीवावट लिखा है। तीसरी ओर कुन्तलित केश, कर्णचाप, प्रभामण्डल युक्त तीर्थंकर शान्तिनाथ है। दोनों ओर चांवरधारी खड़े है। नीचे पादपीठ पर शान्तिनाथ का ध्वज लांछन मृग एव यक्ष गरुण यक्षी महामानसी का अंकन है। नीचे लेख श्री सातिल श्री कलला लिखा हुआ है। चौथी ओर तीर्थंकर पार्श्वनाथ सर्पफण, नागमौलि, कर्णचाप, श्रीवत्स से अलकृत है। दोनों ओर चांवरधारी खड़े हुए है एव यक्ष धरण यक्षी पद्मावती का आलेखन है। १३५ × ६५ × ५० से. मी. आकार की प्रतिमा बलुआ पत्थर पर निर्मित है। तिथिक्रम की दृष्टि से ११वी शती ईसवी की है।

ग्वालियर दुर्ग से ही प्राप्त तीसरी सर्वतोभद्रिका प्रतिमा[३] (स. क्र. २७३) मे चारो कायोत्सर्ग मुद्रा में तीर्थंकर प्रतिमायें अकित हैं। प्रथम ओर प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ प्रभामण्डल से सुशोभित कायोत्सर्ग मुद्रा मे खड़े है। सिर लाइनदार केश विन्यास लम्ब कर्णचाप पादपीठ पर चक्र एव विपरीत दिशा मे मुख किए सिंहो का अकन है। दूसरी ओर कायोत्सर्ग मुद्रा मे तीर्थंकर नेमिनाथ खडित अवस्था में प्रभामण्डल से सुशोभित है। दोनो ओर विपरीत दिशा में मुख किए सिंह बने है। चौथी ओर कुन्तलित केश, नागफण मौलि युक्त कायोत्सर्ग मे तीर्थंकर पार्श्वनाथ खड़े है, कानों मे लम्ब कर्णचाप, नीचे विपरीत दिशा मे मुख किये सिंह और चक्र का आलेखन है। १२० × ५० × ५० से. मी आकार की बलुआ पत्थर पर निर्मित है। चौथी विदिशा से प्राप्त ९० × ४० × ४० से. मी. आकार की सफेद बलुआ पत्थर पर निर्मित (स. क्र. १३१) यह प्रतिमा प्रतिमा, प्रतिमाक्रमांक ११५ के अनुरूप है[४]।

ग्वालियर से ही प्राप्त पांचवीं सर्वतोभद्रिका प्रतिमा[५] मे चारो तरफ पद्मासन मुद्रा मे तीर्थंकर प्रतिमा अंकित है। (सं. क. २६१) प्रथम ओर तीर्थंकर आदिनाथ पद्मासन में में बैठे हुए है। सिर पर कुन्तलित केश, जिनकी जटाएँ स्कंध तक फैली हुई है। सिर के पीछे प्रभामण्डल बना है। पादपीठ पर सिंह एव चक्र का अंकन है। दूसरी ओर पद्मासन में तीर्थंकर नेमिनाथ बैठे हुए हैं। सिर पर कुन्तलित केश, पीछे प्रभामण्डल है। पादपीठ पर विपरीत दिशा मे मुख किये सिंह एव चक्र अकित है। तीसरी ओर तीर्थङ्कर महावीर पद्मासन मे बैठे है, मुख खण्डित है। सिर के पीछे प्रभामण्डल है। वक्ष पर श्रीवत्स चिह्न, पादपीठ पर विपरीत दिशा में मुख किये सिंहो का अकन है। चौथी तरफ तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ पद्मासन मे बैठे हुए है। सिर के ऊपर सप्तफण नाग मौलि है, पादपीठ पर विपरीत दिशा मे मुख किये सिंह, चक्र एव पूजक अकित है। प्रतिमा के वितान मे चारो ओर मृदग वादक,

मालाधारी विद्याधर, नीचे पादपीठ पर चारों ओर बारह जिन प्रतिमा एवं अठारह परिचारकों का आलेखन है। बलुआ पत्थर पर निर्मित प्रतिमा—११५ × ६० × ६० से. मी. आकार की है।

पुरातत्त्व एवं संग्रहालय, नलघर
सुभाष स्टेडियम के पीछे, रायपुर (म.प्र.)

सन्दर्भ-सूची

१. तिवारी मारुति नन्दन प्रसाद "जैन प्रतिमा विज्ञान" वाराणसी १९८१, पृ. १४८-४९.
२. ठाकुर एस. आर. कैटलॉग आफ स्कल्पचर्स इन दी आर्किलाजिकल म्यूजियम ग्वालियर एम. बी. पृष्ठ २०, क्रमांक २.
३. संग्रहालय मे सुरक्षित एलबम मे छायाचित्र क्रमांक ९२ इसका प्राप्तिस्थान ग्वालियर दुर्ग लिखा है।
४. ठाकुर एस. आर. पूर्वोक्त पृ. २३ क्रमांक १९.
५. संग्रहालय मे सुरक्षित एलबम मे छायाचित्र क्रमांक ९३ पर इस प्रतिमा स्थान ग्वालियर दुर्ग लिखा है.

(पृ० २२ का शेषांश)

ब्राह्मी से उसका मेल बैठ जाता है। वर्तुलाकार तो अक्षरो के गोल-गोल होने के कारण कहा गया होगा।

नाना मोना लिपि—उपर्युक्त लिपि को नाना मोना या नानम् मोनम् भी कहा जाता है। इस सम्बन्ध मे श्री गोपीनाथ राव ने लिखा है—"The name Nana-Mona is given to it be couse at the time, when the alphabet is taught to chidren for the first time, the 'benedictory' words 'namostu' etc are vegun, which are spelt nana (नाना) mona (मोना) ittanna (इत्तन्ना), tina (तीना) that is na, mo and tu and the alphabet, therefore came to be known as nana, mona alphabet. (Travancore Archicolugical Series, Vol. XVI—देवनागरी उच्चारण लेखक ने दिए हैं। नमोऽस्तु का प्रयोग जैनो द्वारा देवदर्शन, देवपूजन मे प्रारम्भ मे ही प्रतिदिन किया जाता है। मुनि, साध्वी और यक्ष-यक्षणियो को भी नमोऽस्तु किया जाता है।

कालांतर में वट्टेळुत्तु के दो भेद और भी हुए। अत मे ग्रंथ लिपि जिसमे संस्कृत लिखी जाती है, अपना ली गई। मलयालम भाषा की लिपि मे भी सुधार हुए। मुद्रण के कारण भी ये सुधार किए गए।

□□

श्री पं० देवीदास कृत चौबीसी-स्तुति

श्री आदिनाथ स्तुति

सवैया इकतीसा –सोभित उतंग जाको धणिक (धनुष) से पांच अंग परम सुरंग पीतवर्ण अति भारी है।
गुन सो अथंग देखि लाजत अनंग कोटि कोटि सूर सोम जातें प्रभा अधिकारी है।
दुविध प्रकार संग जाकै गो न सरवंग हरि कै भुजंग भी त्रसना निवारी है।
होत मन पंकज सु सुनत अभंग जाको ऐ(अै)से नाभि नंदन को वंदना हमारी है ॥१॥

अजितनाथ स्तुति

छप्पय—द्रव्य भाव नो कर्म कंजनासन समान हिम।
जन्म जरा अरु मरन तिमिर छय करन भान जिम।
सुख समुद्र गंभोर मार कांतार हुतासन।
सकल दोष पावक प्रचण्ड झर मेघ विनासन।
ज्ञाय(इ)क समस्त जग जगत गुरु भव्य पुरि(रु)ष तारन तरन।
बंदौ त्रिकाल सुत्रिसुद्धि कर अजित जिनेश्वर के चरन ॥२॥

श्री संभवनाथ स्तुति

सवैया— मोह कर्म छीनि कै सुपरम प्रवीन भये फटिक(स्फटिक)मनि भाजन मंझार जैसे नीर है।
सुद्ध ज्ञान साहजिक सूरज प्रकासे हिये नहो अनुतिमिर परोक्ष ताको पीर है।
सकल पदारथ के परचौ प्रतक्ष्य देव तिन्हि तें जगत्रय के विषै न धोर वीर हैं।
जयवंतु होहु अैसे संभव जिनेश्वर जू जाकै सुख दुख कोन करता सरीर हे ॥३॥

श्री अभिनंदन स्तुति

सवैया तेईसा —चार प्रकार महागुन सार करै तिन्हि घातन कर्म निकंदन।
धर्म मयी उपदेश सुनै तसु सोतल होत हृदय जिम चन्दन।
इन्द्र नरेन्द्र धरणेन्द्र जती सब लोक पती सुकरै पद वंदन।
घालि(डालि)गरै (गले)तिन्हि की गुनमाल त्रिसुद्ध त्रिकाल नमौ अभिनंदन ॥४॥

श्री सुमतिनाथ स्तुति

सवैया ३१--मोह को मरम छेदि सहज स्वरूप वेदि तज्यो सब खेद सुख कारन मुकति के।
सुभासुभ कर्म मल धोइ वीतराग भये सुर(ल)झे सुदुखतें निदान चार गति के।
क्षायक समूह ज्ञान ज्ञायक समस्त लोक नायक सो सुरग उरग नरपति के।
नमो कर जोरि सीसु नाइ(य) सो सुमतिनाथ मेरे हृदय हूजै आनि करता सुमति के ॥५॥

श्री पद्मप्रभु स्तुति

सवैया ३२— विनाशीक जगत जब लोकि जे उदास भये छोड़ि सब रंग हो अभंग वनु लियो है।
जोरि पद पद्म अडोल महा आतमीक जहां नासाग्र हो समग्र ध्यान दियो है।
हिरदै पद्म जाके विषै मनु राख्यो थंभि छपद स्वरूप हो अतीन्द्रिय रस पियो है।
जेई पद्म प्रभु जिनेस जू ने पाइ निज आपन लब्धि विभाव दूरि कियो है ॥६॥

श्री स्व(सु)पार्श्वनाथ स्तुति

सवैया ३१—विनसें विभाव जाही छिन में असुद्ध रूप ताही छिन सहज स्वरूप तिन्हि करखे(षे)।
मति सु(श्रु)ति आदि दै(छे)सु दाह दुख दूरि भयो हृदै तास सुद्ध आतमोक जल वरषे।

केवल सुदि(द्)ष्टि आई संपति अटूट पाई सकल पदारथ समय में एक परषे ।
तिनहो सुपारस जिनेस को बड़ाई जाके सुनै जग माहि भव्य प्रानी महां हरषे ॥७॥

श्री चन्द्रप्रभु स्तुति

कुण्डरि(ल)या—देवा देवानिके महाचन्द्रा प्रभु पद जाहि ।
बंदौ भवि उर कमलिनी विगसत देखे ताहि ।
विगसत देखें ताहि सु तो सब लोक प्रकासो ।
केतक करें प्रकासु चन्द्रमहि ज्योति जरासी ।
विमलचन्द्र मह चिन्ह देववानी सम मेवा ।
चंदा सहित कलंक वे सु निकलंकित देवा ॥८॥

पहुप दंत स्तुति

कवित्त छंद—मारयौ मनु तिन्हि मदन डर्यौ पि(पु)नि भगत अंत तिहि मिलौ न थानि ।
समोसरन महि सो प्रभु पग लर पहुप रूप हो वरषौ आनि ।
पुनि तिन्हि की सुनाम महिमा सौं अपगुन भयौ महागुन खानि ।
तेई पहुपदंत जिनवर के सेवत चरन कमल हम जानि ॥९॥

श्री सीतल नाथ स्तुति

कवित्त छंद—सीतल सरस भाव समता रस करि सुपरम अतर उर भीनौ ।
अति सीतल तुषार सम प्रगटे गुन उर करम कमल बन दोनौ ।
दरसन ज्ञान चरन पुनि सीतल निरमल जगे सहज गुन तीनौ ।
सीतलनाथ नमौं सु आपु तिन्हि सहज सुभाव आप लखि लीनौ ॥१०॥

श्री श्रीयंस(श्रेयांस) नाथ स्तुति

सवैया २—चौसठि चंवरि जाके सीस सुर ईस ढारें अतिशय विराजमान तास चारि अगरे ।
आठ प्रतिहार अन अंत है चतुष्टय कौ सुतिन्हि कौ प्रकाश लोकालोक विषें वगरे ।
क्षुधा तृषा आदि जे सुरहित अठारह दोष सुद्ध पद पाय मोक्षपुरी काजै डगरे ।
धरिकें सुहाथ माथ नमौं सो श्रीयांसनाथ मिटैं तिन्हि सों सुजगसौ अनादि झगरे ॥११॥

श्री वासुपूज्य स्तुति

सवैया ३१—घातिया करम मैटि सहज स्वरूप मेंटि भये भव्य तिन्हें जे करैया ज्ञान दान के ।
हेतु लाभ मोष(क्ष) को सुआतम अदोष कौ अतीन्द्रिय सुख भाग अतराय करैं हान के ।
उपभोग अंतराय अैसो विभूति पाइ समो सरनादि सुख हेत निरवान के ।
वीरज अनंत व्रत्य दर्शन प्रकाश्यौ सत्य अैसे वासुपूज्य सो समुद्र शुद्ध ज्ञान के ॥१२॥

श्री विमल नाथ स्तुति

तेईसा— निर्मल धर्म गह्यौ तिन्हि पर्म सुनिर्मल पंथ लह्यौ परमारथ ।
निर्मल ध्यान धर्यौ सर्वज्ञ जग्यौ अति निर्मल ज्ञान जथारथ ।
निमल सुक्ख सुनिर्मल दृष्टि विषैं सब भासि रहे सुपदारथ ।
निर्मल नाथ कर्यौ हमरी मति ज्यौं अपनौ सुकर्यौ सब स्वारथ ॥१३॥

श्री अनंतनाथ स्तुति

सवैया ३१—सहज सुभाव ही सौं वीतत विकल्प सबै लखौ तिन्हि जगत विलास जैसे सपनो ।
जानिबौ सुजान्यौ देखि वोहतौ सुदेखो सब दिव्यौ ज्ञान दर्शन खिप्यौ समस्त झपनो ।

अंतराय कर्म अंत किये तैं अनंत बल भयो मोह मर्दन अनंत सुख थपनो।
जयवंत होहु अैसे जग में अनंतनाथ पायो तिन्हि सदा को गमायो रूप अपनो ॥१४॥

श्री धर्मनाथ स्तुति

सवैया ६२—गुन कौं अनंत जाके गन फन पती थाके रसना सहस करि पारु नहीं पायो है।
घातिया करम चारि आठ दश दोष टारि सकति सम्हार भवभमन नसायो है।
परम अतीन्द्रिय ज्ञान प्रगट्यो सहज आन अति सुख दान परधान पद पायो है।
अैसे धर्मनाथ लियै मुकति वधू सो साथ जाको देवीदास हाथ जोरि सीसु नायो है ॥१५॥

श्री शांतिनाथ स्तुति

तेईसा—सुद्धोपयोग अतीन्द्रिय भोग लह्यो तिन्हि कर्म कलंक निवारे।
एक समै(मय) महि जे सर्वज्ञ सही सब लोक विलोकन हारे।
पूजत जे भवि या जग में तिन्हि पुन्य उदय पद उत्तम धारे।
ते भगवंत अनादि अनंत बसो उर सांति जिनेस हमारे ॥१६॥

श्री कुंथनाथ स्तुति

सवैया ३१—जाके गुन ध्यावै ते सु पावै परमारथ कै जाकै जस गावै कोटि तीरथ के किये मैं।
जाके बैन सुने नैन खुले उर अंतर के जाको नाम लेत फल महादान दिये मैं।
जाकी करै बंदना के पाप को निकंदना है देखे रूप सुख ज्यो अतीन्द्रिय रस पिये मैं।
तेई कुंथनाथ जू साथ मोक्ष मारग के देवीदास कहै जे सुवसो मेरे हिये मै ॥१७॥

श्री अरहनाथ स्तुति

सवैया ३१—मोह रिपु बांधि तिन्हि सुभट कषाय साधे धोधे मनु मदन विलात भयो डरि कैं।
आपने सु सहज स्वभाव सुद्ध नौका बैठि पार भये तृष्णा अपार नदो तरि कैं।
लियो पद साहजोक परम अदोष होइ जन्म जरा मरनादि सखा छांड़ि करि कैं।
बंदना सु कीजे अैसे अरह जिनेश्वर की होइ कै त्रिसुद्ध हाथ जोड़ि सीसु धरि कैं ॥१८॥

श्री मल्य(ल्लि)नाथ स्तुति

तेईसा—मारि महाबलवंत हन्यो सुजन्यो सुख राग विरोध वितोतो।
इन्द्रिन को बिसर्यो विउ(व्यो)पार हतो अति हों दुख कारन लीतो।
स्वारथ सुद्ध जग्यो परमारथ कारन खेद सबै जग जीतो।
मल्य जिनेस असल्य भये तिन्हि आपुन हु अपनो पद चीतो ॥१९॥

श्री मुनि सो(सु)व्रत स्तुति

तेईसा—अरि परिग्रह टारि महाव्रत धारि मिथ्यात्व मिटै दुख भूजो।
सेस नरेस सुरेस सबै जब आनि महां तिन्हिको पद पूजो।
जा सम और नहीं जग में सुख कारन देव निरंजन दूजो।
प्रान अधार सुधो तिन्हि के जयवंत सदा मुनि सोव्रत हूजो ॥२०॥

श्री नमिनाथ स्तुति

तेईसा—ध्यान कृपाण तै क्रोध निदान हन्यो तिन्ही मान बलो छल लोभा।
राज विभूति अनित्य लखो सब नीर भरे न रहै जिमि शोभा।

(शेष आवरण पृ० ३ पर)

दिल की बात दिल से कही—और रो लिए !

□ पद्मचन्द्र शास्त्री सं० 'अनेकान्त'

काश, एकांगी आत्मचर्चा न होती तो—

भारत धर्मप्रधान देश रहा है और धर्म का सम्बन्ध आत्मा से है। अतः सभी धर्मों ने प्रायः आत्मा को किसी न किसी रूप मे माना है। जैनो ने आत्मा को स्वतंत्र द्रव्य और अन्यो मे किसी ने ब्रह्म का अंश और किन्ही न और किसी रूप में। फलतः समय-समय पर लोगो मे आत्मा की जिज्ञासा रहती रही है और चर्चाएँ भी होती रही हैं। उपनिषद् काल मे तो इस चर्चा का विशेष जोर रहा है। कठोपनिषद मे एक प्रसंग में कहा है कि जब उद्दालक ऋषि ने ऋत्विजो को अपना सर्वस्व दान दे दिया और वह शेष बची बूढ़ी गौओ को भी दान मे देने लगा तब उसके पुत्र नचिकेता ने उससे कहा—पिताजी, इन बूढी गौओ को दान मे क्यों दे रहे हैं ? आपके सर्वस्व मे तो मैं भी हूं, मुझे दान मे दे दीजिए। जब पिता ने नचिकेता के बारम्बार कहने पर भी कोई उत्तर न दिया। नचिकेता ने फिर-फिर कहना चालू रखा। तब कुपित हो पिता ने कहा कि जा, तुझे मैं यम को देता हूं। ऐसा सुनते ही नचिकेता यम के द्वार पर जा पहुंचा। वहाँ मालुम हुआ कि यमराज कहीं बाहर गए है। तब यम के द्वार पर तीन दिन-रात भूखा-प्यासा पड़ा रहा। जब यम आये तो इसकी लगन मे प्रसन्न होकर कहा—तुझे मैं तीन वरदान देता हू। बोल और माँग ले। नचिकेता ने वरदान लेने से इन्कार कर दिया और कहा कि मुझे तो आप आत्मा का स्वरूप बताइये। यम ने कहा तू नही समझ सकेगा, इस आत्मा के विषय मे तो बड़े-बड़े महर्षि भी नहीं समझ पाए है। फिर भी आत्मा का स्वरूप जैसा है उसे सुन—

'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्यय
तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं,
निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ॥'

आत्मा शब्द, स्पर्श, रूप, रस-गन्ध रहित, अव्यय, अनादि अनन्त, महान् और ध्रुव है, उसको प्राप्त कर मृत्यु के मुख से छूट जाता है।

अन्य उपनिषदों मे भी कही प्रजापति, इन्द्र और असुरों और कही भारद्वाज और सनत्कुमार के माध्यम से आत्मा की चर्चा है। इस प्रकार उस समय आत्म-जिज्ञासा की धारा प्रवाहित होती रही।

जैनियो मे तो आत्मा की उपलब्धि का मार्ग अनादि मे प्रवाहित रहा है। भूतकाल की अनन्त चौबीसी और अनन्त अपरिग्रही मुनि ज्ञान और चारित्र के बल पर आत्मा के स्वरूप का अवगम कर शुद्ध दशा को प्राप्त होते रहे है। हाँ, उनमे विशेषता यह रही कि वे भेद-ज्ञान द्वारा आत्मस्वरूप के उस पद की प्राप्ति के लिए, पर से भिन्न—एकाकी-अपरिग्रही होने मे तत्पर रहकर ही आत्म-दर्शन या आत्म-स्वरूप की उपलब्धि कर सके हैं। यदि वे त्यागरूप चारित्र के बिना आत्मा की कोरी रट या चर्चा मात्र पर अवलम्बित रहते तो कदाचित् भी शुद्ध आत्मत्व को प्राप्त न होते।

जैनियों के मान्य मूल-आचार्य कुन्दकुन्द ने स्पष्ट कहा है—

"अहमिक्को खलु सुद्धो दंसण-णाण मइओ सदाऽरूवी।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणुमित्तं पि ॥"

मैं एकाकी (अकेला) हू, मैं निश्चय ही (स्वभावतः) शुद्ध हू, मैं दर्शन-ज्ञान मय और अरूपी (रूप-रस-गंध स्पर्श से रहित) हू। अन्य परमाणु मात्र भी मेरा नही है। इसका आशय ऐसा कि जब अन्य परमाणु मात्र भी मेरा नही है तब मैं एकाकी, शुद्ध, पूर्णदर्शन ज्ञानरूप और अरूपी हू। अथवा जब मैं शुद्ध हू तब अन्य परमाणु मात्र (भी) मेरा नही है। इस भांति गाथा की दोनों पंक्तियां परस्पर

सापेक्ष हैं, इस भांति आत्मा का स्वरूप है। जब कि आज कुछ आत्म-वादियो ने प्रायः गाथा की प्रथम पंक्ति मात्र को ग्राह्य मान दूसरी पंक्ति को उसमे घटित करने की सर्वथा ही उपेक्षा कर दी है। इसका परिणाम यह होना जा रहा है कि आत्मवादी भी मिथ्यारूप एकांगी मार्ग पर बढ़ते जा रहे है और साधारण व्यवहार-आचरण मे भी मुंह मोड़ने लगे हैं।

आत्मा के अरूपी होने का तात्पर्य है उसमे पुद्गल सम्बन्धी उन गुणो का अभाव, जो इन्द्रियो व मन को अग्राह्य और रागी छद्मस्थ की पहुंच के बाहर है, ऐसे में इन्द्रियाधीन रागी छद्मस्थों द्वारा अरूपी आत्मा का साक्षात्कार सर्वथा असम्भव है। फलत: छद्मस्थो का कर्तव्य है कि जो आंख, कान, नाक मन आदि ज्ञानेन्द्रियां उन्हे मिली हैं उनका उपयोग बाह्य-पदार्थों की सही जानकारी मे करें—बारह भावनाओं के द्वारा उनकी असारता का चिन्तन करे और उनसे विरक्त होवें। पर से अलग होकर आत्मा स्वय ही स्वभावतः स्वय मे रह जायगा। स्वभाव में आने का प्रयत्न नही होता। जैन के अनुसार तो पर से विरक्त होना ही वीतरागता है—स्व मे आने का प्रयत्न भी तो स्व के प्रति राग-भाव है और राग-भाव जैन मे सर्वथा वर्जित है। जैन के अनुसार तो जितनी-जितनी विरागता है उतनी-उतनी जैनत्व के प्रति निकटता और जितना-जितना राग उतनी-उतनी संसार परिपाटी की वृद्धि है। क्यो कि जैन-मत मे विरक्तता मात्र ही आत्म-ज्ञान और मुक्ति का द्वार है।

हमारे पूर्व महापुरुषों ने वैराग्य भाव से आत्म-दर्शन पाया और मुक्ति मार्ग खोजा है। और आज वैराग्य-भाव को तिलांजलि दे—परिग्रह मे लिपटे-लिपटे, परिग्रह बढ़ाते, इन्द्रिय विषयों मे रत रहते—उनमे रस लेते हुए, आत्म-चर्चा करते सुनते-सुनाते आत्मा के साक्षात्कार कर लेने की जो परिपाटी चल पड़ी है वह संसार पार कराने वाली नही—वह तो लोगों को भुलावे मे डालने का फरेब है। ऐसी मिथ्या परिपाटी ने तो जैनों की स्थूल व्यवहारी पहिचान को ही तिरोहित कर दिया है और बालको के नैतिक सुधार के प्रयत्न के साथ अब युवा और वृद्धो के चारित्र-सुधार हेतु भी नैतिक-शिक्षा समितियां स्थापित करने की चिन्ता तक भी की जाने लगी है, यानी कीचड़ में पैर सानो और फिर धोओ। खेद ! आज जो लोग त्याग किए बिना जो सम्यग्दर्शन प्राप्ति और आत्म-दर्शन कराने की धुन मे लगे हैं, उन्हें सोचना चाहिए कि उन्हें कितना आत्म-दर्शन हुआ और कितना सम्यग्दर्शन ? या उनके उपदेशों मे कितनो ने आत्मदर्शन या सम्यग्दर्शन प्राप्त किया ? यदि दो-चार हो तो नाम सोचे। आगमानुसार तो ये विषय केवलीगम्य है और आत्मदर्शन की प्राप्ति विराग-क्षण के आधीन है। अन्यथा, आचार्यों न राग-भाव के त्याग पर बल न देकर, इस धर्म को वीत-राग का धर्म न कहकर, सरागियो का धर्म कह दिया होता और हमारे देव भी वीतरागी देव न होकर रागी-देव होते।

एक ने कहा—सम्यग्दर्शन-आत्मदर्शन तो चौथे गुण-स्थान मे हो जाता है। तब हमने पूछा—ये तो बताओ कि आपको चौथा गुण स्थान है या पहिला ? और आपको उसका ज्ञान कैसे हुआ ? क्या, आगम मे कही छद्मस्थ को इसके ज्ञान हो जाने की बात कही है ? क्या केवली के सिवाय अन्य कोई इस बात को जान सकता है ? आदि।

सो लोगो ने विरक्तता और त्याग के बिना, अपने परिग्रह-पोषण के पाप को छुपाने के लिए त्याग-रूप चारित्र के कठिन श्रम से बचते हुए मन-गढ़न्त बातें गढ ली है और उल्टे मार्ग पर चल पड़े हैं—ससार के पदार्थों की असारता जैसी असलियत को जानकर उनमे विरक्ति लेने की बजाय परिग्रह समेटे हुए, अदृश्य-अरूपी आत्मा देखने दिखाने, पहिचानने-पहिचनवाने के व्यर्थ प्रयत्न मे लग पड़े है—जैसे वे परिग्रह की बढवारी करते ही अदृश्य आत्मा को पा लेंगे और बिना चारित्र पालन किए—राग-भाव मे आत्मा को पा लेंगे ? या इस भांति वे तीर्थंकरो के मार्ग, वीतरागत्व को मात दे देंगे ?

क्या करें ? कोई सुनता नही और जैन की ऐसी दशा पर रोना आता है। सोचते है—एकांगी आत्म-चर्चा न होती तो नैतिक स्तर—व्यवहार चारित्र तो बना रहता।

विद्वान् नहीं मिलते :—

लोग कहते हैं अब विद्वान् ही नही मिलते। हम कहते हैं—विद्वानो को समझने वाले ही कहां कितने हैं? जो विद्वान् तैयार हों? उक्त प्रसंग और अर्थ-युग के प्रभाव को जान पूर्व विद्वानों ने अपनी संतान को अपनी लाइन से मोडा और उनकी संतान प्रायः पाश्चात्य शिक्षा में दक्ष बनी और मजे में हैं। यह अर्थ युग का ही प्रभाव है कि आज प्रायः कितने ही नौ-सिखिए तक ठहराव कर, पूजा-पाठ, विवाह, प्रतिष्ठा और विधान जैसे धार्मिक कृत्य करा पैसा बटोरने के धन्दे में लगे है—जिनवाणी को बेचना कहां तक उसकी विनय है, इसे सोचिए? दूसरी ओर अर्थ-व्यवसायी हैं जो मर्जी माफिक कार्य कर देने के कारण इन धर्म-व्यवसाइयों को प्रभूत धन देने पर तुले है—ठीक ही है माफिक आचरण करने वाले को कौन नहीं चाहता?

भला, विद्वान् में यह बातें कहां? विद्वान् क्यों कहेगा, इनको खुश करने की बात और क्यों करेगा इनके मन चीते माफिक? वह तो सोचेगा—

'त्वं राजा वयमप्युपासित गुरु: प्रज्ञाभिमानोन्नताः।'

फलतः यह तो व्यापारी को सोचना होगा कि वह धर्म-रक्षण के लिए विद्वान् की सहाय करे या धर्म-विद्या को पैसे कमाने मे प्रयोग करने वाले की? हमारी समझ से समाज ने ठीक से नही समझा और विद्वानों का अभाव होता गया। यहाँ तक कि गत समय में कई स्वाभिमानी प्रकाण्ड विद्वान् तक अभाव मे घुटते-घुटते दम तोड़ गए। पर, धन्य है उन्हें और उनकी विद्वत्ता को जो बिके नहीं। हमे समाज की उक्त दशा पर रोना आता है और दिल की बात दिल से कहकर रो लेते हैं—सुनता कोई नहीं। हम कई नेताओं को कहते रहे हैं—ठोस विद्वान् तैयार करने में धन लगाओ। पर, किसका ध्यान है और किसे फुर्सत है यश-अर्जन के सिवाय? □□

(पृ० ३० का शेषांश)

जे निरवारि विसुद्ध भये तन चेतनि कर्म पुरातम गोभा।
श्री नमिनाथ सदा शिव(सिउ) के गुन की वरनौं सु कहा करि शोभा ॥२१॥

श्री नेमिनाथ स्तुति

तैईसा—राजमती सी त्रिया तजि कै पुनि मोख वधू सुत्रिया कौं सिधारे।
राज विभौ(भव) तजिकै सबही सब जीव निदान दए हितकारे।
आतम ध्यान धरयो गिरिनारि पै कर्म कलंक सवै तिन्हि जारे।
जादौं को वंस करो सब निर्मल जै(य) जगन्नाथ जगत्रय भारे ॥२२॥

श्री पार्श्वनाथ स्तुति

सवैया ३२—नाम को बड़ाई जाके पाहन सुपाई काहु ताहि स्पर्शे होहि कंचन सु लोह कौ।
अचिरज कहा है तिन्हि कौ निज ध्यान धरे होत है विनास रागदोष अरु मोह कौ।
तिन ही बतायौ मोक्ष मारग प्रकटरूप पारिवे को कर्म चेतन विछोह कौ।
देखो प्रभु पारस को परम स्वरूप जाने भयो सो करै या सुद्ध आतम की टोह कौ ॥२३॥

श्री वर्द्धमान स्तुति

सवैया—सकल सुरेस सीस नावत असुर ईस जाके गुन ध्यावत नरेस सर्व देस के।
धोई मैल कम चार घातिया पवित्र भये थिर हो अकंप विषै आतमा प्रदेस के।
तारन समर्थ भवसागर त्रिलोकनाथ कर्त्ता अनूप सुद्ध धर्म उपदेस के।
अैसे वर्द्धमान जू की बंदना त्रिकाल करौं दाता हमकौं सु होहु सुमति सुदेस के ॥२४॥

सौजन्य : श्री कुन्दनलाल जैन, दिल्ली

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

सम्पादन परामर्शदाता : श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री

प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीरसेवामन्दिर के लिए मुद्रित, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५३

प्रिन्टेड
पत्रिका बुक-पैकिट

वीर सेवा मन्दिरका त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ४५ : कि० ३ जुलाई-सितम्बर १९९२

इस अंक में—

प्रकाशक :

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

विसंगतियाँ दूर कैसे हों ?

हमारे एक प्रसिद्ध आचार्यश्री सभा को संबोधित कर रहे थे। उनकी प्रस्तुति मन को छूने वाली थी। उन्होंने कहा—'आज चारों ओर हिंसा का बोलबाला है। जैन समाज शाकाहार के सार्वजनिक प्रचार में तो लगी है किन्तु आज जैनों को ही संबोधित करना पड़ रहा है कि वे स्वयं अण्डा, मांस, मदिरा और धूम्रपान आदि का सेवन न करें। जैनों को तो आठ मूलगुणधारी होना चाहिए। हमारे शास्त्रों में मद्य, मांस, मधु और पाँच उदुम्बर फलों के त्याग का तथा झूंठ, चोरी, कुशील और परिग्रह को कम करने का उपदेश है।'

यह एक गम्भीर विषय है कि समाज में कहीं न कहीं, किसी न किसी रूप में ऐसी बुराइयाँ हैं। हमारे समाज के कई बड़े नेताओं, प्रचारकों और धर्मक्षेत्र के कई सामाजिक व्यक्तियों को रात्रि भोजन करते तक देखा जाता है और धूम्रपान तो साधारण-सी बात है। कहीं-कहीं अण्डे को शाकाहार की संज्ञा देकर उसके सेवन की परिपाटी भी बढ़ाई जा रही है। कुछ लोगों में धन की प्रचुरता उन्हें पाँच सितारा होटलों तक खींच रही है। विवाह आदि होटलों में होने लगे हैं। वहाँ शाकाहार का प्रबन्ध बताया जाता है, पर स्पष्ट देखा जा सकता है कि इन होटलों में भोजन बनाने, परोसने आदि के वर्तनों में भेद नहीं होता। इस प्रकार आचारहीनता की वृद्धि धर्मलोप का स्पष्ट संकेत दे रही है। यदि ऐसी बुराइयों को न रोका गया तो वह दिन भी हमें देखना पड़ सकता है कि यह पूछने पर मजबूर होना पड़े कि—क्या आप शाकाहारी जैन हैं ?

यदि आचारवान त्यागी, विद्वान्, नेता इस ओर लक्ष्य दें और पत्रिकाएँ ध्यान देकर निष्पक्ष ईमानदारी से प्रचार करें तो जैन का रक्षण संभव है। क्या कहें पत्रिकाओं के बारे में ? प्रायः कई पत्र-पत्रिकाएँ पक्षों को खींचातानी में फँसी है। ऐसी भी व्यक्तिगत पत्रिकाएँ हैं जो निजी स्वार्थ और टेक-संरक्षण में सार्वजनिक संस्थाओं पर भी व्यर्थ के मिथ्या कुठाराघात करती हैं।

पिछले दिनों 'तीर्थंकर' पत्रिका ने ही संस्था वीर सेवा मन्दिर को बदनाम करने के लिए कई लेख प्रकाशित किए और जब उन्हें वीर सेवा मन्दिर से रजिस्टर्ड पोस्ट द्वारा सप्रमाण स्पष्टीकरण छपाने के लिए भेजा गया तो वे आज तक मुँह छुपाए हुए हैं—हमारा स्पष्टीकरण नहीं छाप सके। हालाँ कि संपादक महोदय शाकाहार के प्रचार में लग्न हैं, पर हमें तो विशेष खेद हुआ 'तीर्थंकर' अगस्त ९२ के अंक में छपे अनुत्तर-योगी संबंधी सामग्री के बे तुके कोकशास्त्र जैसे अश्लील अंशों को पढ़कर। कई लोगों ने हमें कहा भी और कइयों ने तो अंक के पृष्ठ २४-२५ ही फाड़ फेंके। (पाठक उन्हें पढ़कर देखें)।

हमारा उद्देश्य किसी को बदनाम करना नहीं और ना ही 'तीर्थंकर' की तरह कोई प्रतिशोध। ये तो एक हकीकत है जिसके प्रति खेद होना चाहिए। नेताओं, त्यागियों, प्रचारकों व धर्म प्रेमियों और पत्रकारों आदि को संयम व सचाई वृद्धि की दिशा में निःस्वार्थ भाव से सावधान हो, प्रवर्तन करना चाहिए। तभी विसंगतियाँ दूर हो सकती हैं।

महासचिव : वीर सेवा मन्दिर
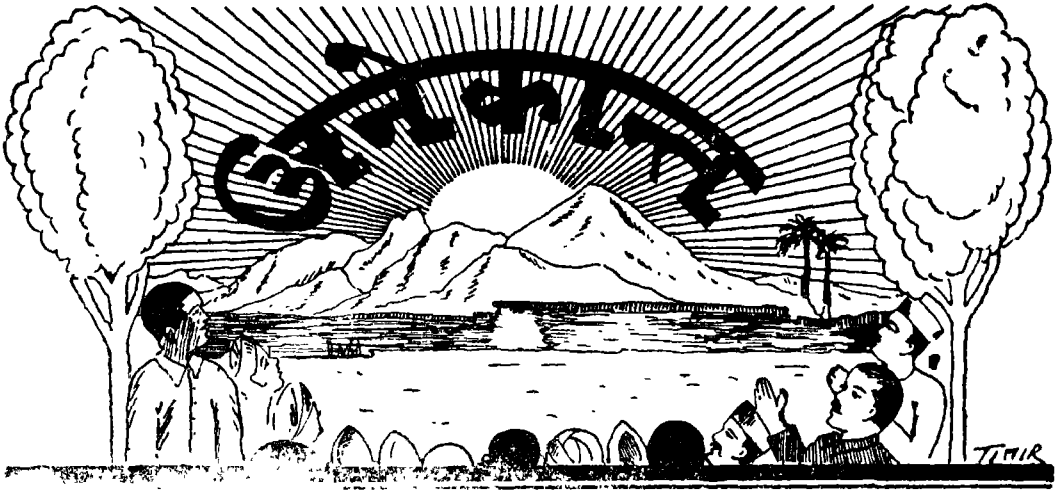
परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वर्ष ४५ किरण ३ | वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ | जुलाई-सितम्बर
वीर-निर्वाण संवत् २५१८, वि० सं० २०४६ | १९९२

उपदेशी-पद

मत राचो धी-धारी ।
भव रंभ-थंभ सम जानके, मत राचो धी-धारी ।
इन्द्रजाल को ख्याल मोह ठग विभ्रम पास पसारी ।।
चहुंगति विपतिमयी जामें जन, भ्रमत भरत दुख भारी ।
रामा मा, मा बामा, सुत पितु, सुता श्वसा, अवतारी ।।
को अचंभ जहाँ आप आप के पुत्रदशा विस्तारी ।
घोर नरक दुख ओर न छोर न लेश न सुख विस्तारी ।।
सुर नर प्रचुर विषय जुर जारे, को सुखिया संसारी ।
मंडल ह्वै अखंडल छिन में, नृप कृमि, सघन भिखारी ।
जा सुत-विरह मरी ह्वै बाघिनि, ता सुत देह विदारी ।।
शिशु न हिताहित ज्ञान, तरुन उर मदन दहन परजारी ।
वृद्ध भये विकलंगी थाये, कौन दशा सुखकारी ।।
यों असार लख छार भव्य झट भये मोख-मग चारी ।
यातें होहु उदास 'दौल' अब, भज जिनपति जगतारी ।।

गतांक से आगे :

अकलङ्कदेव की मौलिक कृति तत्त्वार्थवार्तिक

□ डॉ रमेशचन्द्र जैन, बिजनौर

वेद समीक्षा—प्रथम अध्याय के दूसरे सूत्र की व्याख्या में "पुरुष एवेदं सर्वम्" इत्यादि ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त की पंक्ति उद्धृत करते हुए कहा गया है कि ऋग्वेद मे पुरुष ही सर्व है, वही तत्त्व है। उसका श्रद्धान सम्यग्-दर्शन है। यह कहना उचित नहीं है; क्योंकि अद्वैतवाद मे क्रिया-कारक आदि समस्त भेद-व्यवहार का लोप हो जाता है[1]।

आठवें अध्याय के प्रथम सूत्र की व्याख्या में बादरायण, वसु, जैमिनि आदि श्रुतविहित क्रियाओं का अनुष्ठान करने वालों को अज्ञानी कहा है; क्योंकि इन्होने प्राणिवध को धर्म का साधन माना है। समस्त प्राणियों के हित के अनुशासन में जो प्रवृत्ति कराता है, वही आगम हो सकता है, हिंसाविधायी वचनों का कथन करने वाले आगम नही हो सकते, जैसे दस्युजनों के वचन[1]। अनवस्थान होने से भी ये आगम नहीं हैं अर्थात् कही हिंसा और कही अहिंसा का परस्पर विरोधी कथन इनमे मिलता है। जैसे पुनर्वसु पहला है पुष्य पहला है, ये परस्पर विरोधी वचन होने से अनवस्थित एवं अप्रमाण है, उसी प्रकार वेद भी कही पर पशुवध को धर्म का हेतु कहा है जैसे एक स्थान पर लिखा है कि पशुवध से सर्व इष्ट पदार्थ मिलते है। यज्ञ विभूति के लिए है, अतः यज्ञ में होने वाला वध अवध है। दूसरी जगह लिखा है कि 'अज', जिनमे अकुर उत्पन्न होने की शक्ति न हो, ऐसे तीन वर्ष पुराने बीज से पिष्टमय बलिपशु बनाकर यज्ञ करना चाहिए, इस प्रकार हिंसा का खण्डन किया गया है। इस प्रकार ये वचन परस्पर विरोधी हैं, अतः अव्यवस्थित तथा विरोधी होने से वेदवाक्य प्रमाण नहीं हो सकते[1]। इस तरह वेदवाक्य की प्रमाणता का तत्त्वार्थवार्तिक में विस्तृत खडन किया गया है[1]।

बौद्धदर्शन समीक्षा—अन्य दर्शनों की समीक्षा करते समय अकलङ्कदेव ने प्रायः बौद्ध, न्याय-वैशेषिक और सांख्य को दृष्टि मे रखा है, किन्तु इनमे भी बौद्ध मन्तव्यों की उन्होंने जगह-जगह आलोचना की है। इसका कारण यह है कि उनके समय बौद्धधर्म जैनधर्म का प्रबल विरोधी धर्म था। बौद्धधर्म का मर्मस्पर्शी अध्ययन करने हेतु अकलङ्कदेव को छिपकर बौद्ध मठ मे रहना पड़ा था। इस हेतु उन्हे अनेक कष्टो का सामना करना पड़ा, किन्तु वे दुःखों के बीच रहकर भी घबराए नहीं। बौद्ध शास्त्रों का अध्ययन कर उन्होंने जगह-२ उनसे शास्त्रार्थ कर जैन दर्शन की विजय दुन्दुभी बजायी। उनकी तर्कपूर्ण प्रतिभा को देखते हुए उन्हें अकलङ्क ब्रह्म कहा जाने लगा। तत्त्वार्थवार्तिक के कतिपय स्थल हम उदाहरण रूप में प्रस्तुत करते हैं। जिससे उनकी बौद्धविद्या में गहरी पैठ की जानकारी प्राप्त होती है।

प्रथम अध्याय के प्रथम सूत्र की व्याख्या मे कहा गया है कि यद्यपि बौद्ध रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पाँच स्कन्धों के निरोध से आत्मा के अभाव रूप मोक्ष के अन्यथा लक्षण की कल्पना करते है[1]। तथापि कर्म-बन्धन के विनाश रूप मोक्ष के सामान्य लक्षण मे किसी भी वादी का विवाद नहीं है। बौद्ध कहते हैं कि अविद्या प्रत्यय संस्कार के अभाव से मोक्ष होता है[1]। जैनों का कहना है कि संस्कारों का क्षय ज्ञान से होता है कि किसी कारण से? यदि ज्ञान से संस्कारों का क्षय होगा तो ज्ञान होते ही संस्कारों का क्षय भी हो जायगा और शीघ्र मुक्ति हो जाने से प्रवचनोपदेश का अभाव होगा। यदि संस्कार क्षय के लिए अन्य कारण अपेक्षित है तो चारित्र के सिवाय दूसरा कौन सा कारण है? यदि संस्कारों का क्षय चारित्र से होता है तो ज्ञान से मोक्ष होता है, इस प्रतिज्ञा की हानि होगी[1]।

पाँचवें अध्याय के नौवें सूत्र की व्याख्या में कहा गया

है कि बौद्ध लोकधातुओं को अनन्त मानते हैं[8]। अतः आकाश के प्रदेशों को जैनों द्वारा अनन्त माने जाने मे कोई विरोध नहीं है।

पाँचवें अध्याय के सत्रहवें सूत्र की व्याख्या मे कहा गया है कि कोई बौद्ध मानते है कि रूपण, अनुभवनिमित्त ग्रहण, संस्कृताभिसंस्करण, आलम्बन और प्रज्ञप्तिस्वभाव लक्षण रूप—वेदना, संज्ञा, सस्कार और विज्ञान ये पाँच स्कन्ध हैं। उन भिन्न लक्षण वाले स्कन्धों में यदि एक स्कन्ध के ही सर्व धर्मों की कल्पना करते है। यदि विज्ञान के नही होने पर भी अनुभव आदि नहीं होते है, विज्ञान के ही अनुभव आदि होते हैं। अतः एक विज्ञान को ही मानना चाहिए। उसी से ही रूपादि स्कन्धों का रूपण, अनुभवन, शब्द प्रयोग और सस्कारादि कार्य हो जायेंगे तो शेष स्कन्धों की निवृत्ति हो जाने पर निरालम्बन विज्ञान की भी स्थिति नहीं रह सकती अर्थात् विज्ञान की भी निवृत्ति हो जाने से सर्वशून्यता ही हाथ रह जायगी, परन्तु बौद्धों को पाँच स्कन्धों का अभाव इष्ट नहीं है[9]।

सभी वादी प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष पदार्थ को स्वीकार करते हैं। इसके समर्थन मे कहा गया है कि कोई (बौद्ध) कहते हैं कि प्रत्येक रूप परमाणु अतीन्द्रिय है। उनका समुदाय, जो कि अनेक परमाणु वाला है, वह इन्द्रियग्राह्य है। चित्त और चैतसिक विकल्प अतीन्द्रिय[10] है।

अमूर्त धर्म, अधर्म भी उपकारक होते हैं। इसके उदाहरण मे बौद्धों का यह सिद्धान्त उपस्थित किया गया है कि अमूर्त भी विज्ञान रूप की उत्पत्ति का कारण होता है। नाम रूप विज्ञान निमित्तक है[11]।

पाँचवें अध्याय के अठारहवें सूत्र की व्याख्या मे कहा गया है कि यदि कोई (बौद्ध) ऐसा कहे कि आकाश नाम की कोई वस्तु नही है, केवल आवरण का अभावमात्र है तो ऐसा कहना ठीक नही है। आकाश आवरण का अभाव मात्र नहीं है, अपितु वस्तुभूत है; क्योंकि नाम के समान उसकी सिद्धि है। जैसे नाम और वेदना आदि अमूर्त होने से अनावरण रूप होकर भी सत् हैं, ऐसा जाना जाता है, उसी प्रकार अमूर्त होने से अनावरण रूप होकर भी आकाश वस्तुभूत है, ऐसा जाना जाता है[12]।

५वे अध्याय के १९वें सूत्र की व्याख्या में यह सिद्ध किया गया है कि विज्ञान मे सामर्थ्य का अभाव होने से मन विज्ञान नही है। क्षणिक वर्तमान विज्ञान पूर्व और उत्तर विज्ञानों से जब कोई सम्बन्ध नही रखता, तब गुण-दोष विचार और स्मरणादि व्यापार में कैसे सहायक बन सकता है[13]।

पाँचवें अध्याय के २२वें सूत्र की व्याख्या मे कहा गया है कि क्षणिक एकान्तवाद मे प्रतीत्यवाद को स्वीकार करने से उसकी प्रक्रिया में जितना कारण होगा, उतना कार्य होगा, अतः उनके भी वृद्धि नही होगी। किं च सर्व के क्षणिक होने से अकुर का और उसके अभिमत कारण भौमरस, उदकरस आदि का विनाश होगा या पौर्वापर्य (क्रम) से। यदि कार्य और कारणों का युगपत् नाश होता है तो उनके द्वारा वृद्धि क्या होगी? क्योंकि वृद्धि के कारण जब स्वयं नष्ट हो रहे है, तब वे अन्य विनश्यमान पदार्थ की क्या वृद्धि करेंगे? अर्थात् विनश्यमान पदार्थ अन्य विनश्यमान पदार्थ की वृद्धि करते हुए लोक मे नही देखे जाते। यदि कार्य-कारण क्रमशः नष्ट होते है, तब भी नष्ट अकुर का भौमरस, उदकरस आदि क्या कर सकते है? अथवा विनष्ट रसादि. अकुर का क्या कर सकेंगे? अनेकान्तवाद में तो अकुर या भौमरसादि सभी पदार्थ द्रव्यदृष्टि से नित्य है और पर्यायदृष्टि से क्षणिक है। अतः वृद्धि हो सकती है[14]।

कारणतुल्य होने से कार्यतुल्य होना चाहिए, ऐसा कहने मे आगम विरोध आता है; क्योंकि बौद्ध अविद्यारूप तुल्य कारणों से पुण्य-अपुण्य और अनुभय संस्कारों की उत्पत्ति मानते है[15]।

सल्लेखना पर बौद्धो द्वारा आपत्ति किये जाने पर कहा है कि सभी पदार्थ क्षणिक हैं, इस प्रकार कहने वाले क्षणिकवादी के स्वसमय विरोध है, उसी प्रकार जब सत्त्व (जीव) सत्त्व सज्ञा (जीव का ज्ञान), वधक (हिंसक) और वधचित्त (हिंसा) इन चार चेतनाओ के रहने पर हिंसा होती है, ऐसा कहने वाले (इस मतवादी) के जब आत्म-वधक चित्त ही नही है, तब सल्लेखना करने वाले के आत्मघात होता है। ऐसा कहने वाले के असचेतित कर्म-बन्ध का अभाव है और उसमे भी आत्मघात का दोष देने पर स्वसमय (स्ववचन) विरोध आता है[16]।

सातवें अध्याय के ३९वें सूत्र की व्याख्या में दान के प्रसंग में कहा गया है कि प्रतिग्रह आदि क्रियाओं में आदर विशेष विधिविशेष है। सर्व पदार्थों को निरात्मक मानने पर विधि आदि रूप का अभाव हो जाता है। जिस दर्शन में निरात्मक (क्षणिक) है, उस दर्शन में विधि आदि की विशेषता नहीं हो सकती। यदि विधि आदि की विशेषता है तो सर्वभाव निरात्मक हैं। इस सिद्धान्त के व्याघात का प्रसङ्ग आता है। क्षण मात्र आलम्बन रूप विज्ञान में इस बात की सिद्धि नहीं होती। जब ज्ञान सर्वथा क्षणिक है, तब तप, स्वाध्याय और ध्यान में परायण यह ऋषि मेरा उपकार करेगा। इसके लिए दिया गया दान, व्रत, शील, भावना आदि की वृद्धि करेगा, इसकी यह विधि है। इस प्रकार का अनुसन्धान-प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकता; क्योंकि पूर्वोत्तर क्षण विषयक ज्ञान, संस्कार आदि के ग्राहक एक ज्ञान का अभाव है। अतः इस पक्ष में दानविधि नहीं बन सकती[१७]।

प्रथम अध्याय के छठे सूत्र की व्याख्या में अनेकान्तवाद का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि विज्ञानाद्वैतवादियों के सिद्धान्त मे बाह्य परमाणु एक नहीं है, किन्तु तदाकार परिणत विज्ञान ही परमाणु संज्ञा को प्राप्त होता है। ये ग्राह्याकार, ग्राहकाकार और संवेदनाकार इन तीन शक्तियो का अधिकरण एक विज्ञान को स्वीकार करते हैं। इसलिए अनेक धर्मात्मक एक वस्तु में विरोध नहीं है[१८]।

अन्यत्र कहा गया है कि जिसके सिद्धान्त से आत्मा ज्ञानात्मक ही रहता है—उसके सिद्धान्त में आत्मा के ज्ञानरूप परिणमन का अभाव होगा; क्योंकि ज्ञानरूप से वह स्वयं परिणत है ही, परन्तु जैन सिद्धान्त मे किसी पर्याय की अपेक्षा अन्य रूप से ही आत्मा का परिणमन माना जाय वा इतर रूप से ही परिणमन माना जाय तो फिर उस पर्याय का कभी विराम नहीं हो सकेगा। यदि विराम होगा तो आत्मा का भी अभाव हो जायगा[१९]।

अद्वैतवाद समीक्षा—जो (अद्वैतवादी) द्रव्य को तो मानते हैं, किन्तु रूपादि को नहीं मानते। उनका यह कहना विपरीत है। यदि द्रव्य ही हो, रूपादि नहीं हो तो द्रव्य का परिचायक लक्षण न रहने से लक्ष्यभूत द्रव्य का ही अभाव हो जायगा। इन्द्रियों के द्वारा सन्निकृष्यमाण द्रव्य का रूपादि के अभाव में सर्व आत्मा (अखण्ड रूप से) ग्रहण का प्रसङ्ग आएगा; और पाँच इन्द्रियों के अभाव का प्रसङ्ग आएगा; क्योंकि द्रव्य तो किसी एक भी इन्द्रिय से पूर्ण रूप से गृहीत हो ही जायगा। परन्तु ऐसा मानना न तो इष्ट ही है और न प्रमाण प्रसिद्ध ही है अथवा जिनका सिद्धान्त है कि रूपादि गुण ही हैं, द्रव्य नहीं है। उनके मत में निराधार होने से रूपादि गुणों का भी अभाव हो जायगा[२०]।

उपर्युक्त वादों की समीक्षा के साथ जैन दार्शनिक मान्यताओं का समर्थन अकलङ्कदेव ने प्रबल युक्तियों द्वारा किया है। इस दृष्टि से प्रथम अध्याय के छठे सूत्र की व्याख्या में सप्तभङ्गी का निरूपण, ९वें से १३वें सूत्र तक ज्ञानविषयक विविध विषयो की आलोचना, अन्तिम सूत्र की व्याख्या में ऋजुसूत्र का विषयनिरूपण, द्वितीय अध्याय के ८वें सूत्र की व्याख्या में आत्मनिषेधक अनुमानों का निराकरण, चतुर्थ अध्याय के अन्त मे अनेकान्तवाद के स्थापनपूर्वक नयसप्तभङ्गी और प्रमाणसप्तभंगी का विवेचन, पाँचवें अध्याय के २४वें सूत्र की व्याख्या मे स्फोटवाद का निराकरण, २२वें सूत्र की व्याख्या में अपरिणामवादियों द्वारा परिणामित्व पर आए दोषों का निराकरण, व्यासभाष्य के परिणाम के लक्षण की आलोचना तथा क्रिया को ही काल मानने वालों का खण्डन दर्शनशास्त्र के महत्त्वपूर्ण विषय है[२१]।

आगमिक वैशिष्ट्य

तत्त्वार्थसूत्र में आगमिक मान्यताओ को निबद्ध किया गया है। टीकाकारो ने इन सूत्रों की व्याख्या युक्ति और शास्त्र के आधार पर की है। अकलङ्कदेव का तत्त्वार्थवार्तिक भी इसका अपवाद नहीं है। प्रथम अध्याय के ७वें सूत्र की व्याख्या मे निर्देश, स्वामित्व आदि की योजना की गई है। प्रथम अध्याय के २०वें सूत्र की व्याख्या में द्वादशांग के विषयों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। आगम में ३६३ मिथ्यामत बतलाए गए हैं। तत्त्वार्थवार्तिक मे ८वें अध्याय के प्रथम सूत्र की व्याख्या में ३६३ मतों का प्रतिपादन इस प्रकार है—

परोपदेश से होने वाला मिथ्यादर्शन क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानी और वैनयिक मत के भेद से चार प्रकार का है। कौक्कल, काण्ठेविद्धि, कौशिक, हरि, श्मश्रवान्, कपिल, रमेश, हारित, अश्वमुण्ड, आश्वलायन आदि के विकल्प से क्रियावादी मिथ्यादृष्टियों के चौरासी भेद हैं। मरीचि, कुमार, उलूक, कपिल, गार्ग्य, व्याघ्रभूति, वाट्ठलि, माठर, मौद्गल्यायन आदि दर्शनों के भेद से अक्रियावादियों के १८० भेद हैं। साकल्य, वाष्कल, कुथुमि, सात्यमुग्नि, चारायरण, काठ, माध्यन्दिनी, मोद, पैप्पलाद, बादरायण, स्विष्टिकृत, ऐतिकायन, वसु, जैमिनि आदि मतों के भेद से अज्ञानवाद मिथ्यात्व के सडसठ भेद हैं। वशिष्ठ, जतुकर्ण, वाल्मीकि, रोमहर्षिरण, सत्यदत्त, व्यास, ऐलपुत्र, उपमन्यव, इन्द्रदत्त, अयस्थूलादि मार्ग के भेद से वैनयिक मिथ्यात्व के बत्तीस भेद हैं। इस प्रकार ३६३ मिथ्या मतवाद है[१२]।

यही कहा गया है कि आगम प्रमाण से प्राणिवध को धर्म का हेतु सिद्ध करना उचित नही है; क्योंकि प्राणिवध का कथन करने वाले ग्रन्थ के आगमत्व की असिद्धि है[१३]। १-२१-२२ की व्याख्या मे अवधिज्ञान का विषय, २-७ की व्याख्या मे सन्निपातिक भावो की चर्चा, २-४६ की व्याख्या में शरीरों का तुलनात्मक विवेचन, तीसरे अध्याय की व्याख्या मे अधोलोक और मध्यलोक का विस्तृत वर्णन, ४-१६ की व्याख्या मे स्वर्गलोक का विवेचन, पाँचवें अध्याय की व्याख्या में जैनो के षट्द्रव्यवाद का निरूपण, छठे अध्याय में आस्रव, सातवे में जैनाचार, आठवें मे कर्मसिद्धान्त, नवे मे मुनि आचार तथा ध्यान तथा दसव मे मोक्ष का विवेचन अवलोकनीय है[१४]।

व्याकरणिक वैशिष्ट्य

अकलङ्कदेव व्याकरण शास्त्र के महान् विद्वान् थे। पाणिनीय व्याकरण तथा जैनेन्द्र व्याकरण का उन्होंने भली भाँति पारायण किया था। व्युत्पत्ति और कोश ग्रन्थों का उनका अच्छा अध्ययन था। तत्त्वार्थवार्तिक में स्थान-स्थान पर सूत्रो एवं उसमे आगत शब्दो का जब वे व्याकरण की दृष्टि से औचित्य सिद्ध करते है, तब ऐसा लगता है, जैसे वे शब्दशास्त्र लिख रहे हो। इस प्रकार के सैकड़ों स्थल प्रमाण रूप मे उद्धृत किए जा सकते हैं। जैसे—

ज्ञानवान् में मतुप् प्रत्यय प्रशंसा अर्थ में है; क्योंकि ज्ञानरहित कोई आत्मा नही है। जैसे कहा जाता है कि यह रूपवान् है। रूप में मतुप् प्रत्यय प्रशंसा अर्थ में है; क्योंकि रूपरहित कोई पुद्गल नही है[१५]।

विभक्त कर्त्ता और अविभक्त कर्त्ता के भेद से करण दो प्रकार के हैं। जिसमे करण और कर्त्ता पृथक्-पृथक् होते हैं, उसे विभक्त कर्तृक (करण) कहते है। जैसे—

"देवदत्त परशु से वृक्ष को काटता है", इसमे परशु (कुल्हाडी) रूप करण देवदत्त रूप कर्त्ता से भिन्न है। जिसमें कर्त्ता से अभिन्न करण होता है, उसको अविभक्त कर्तृक (करण) कहते हैं। जैसे उष्णता से अग्नि ईंधन को जलाती है इसमे उष्णता रूप करण अग्नि रूप कर्त्ता से अभिन्न है। इसी प्रकार आत्मा ज्ञान के द्वारा पदार्थों को जानता है—यह अविभक्तकर्तृक करण है; क्योंकि उष्णता की अग्नि से और ज्ञान की आत्मा से पृथक् सत्ता ही नहीं है अथवा कुशूल के स्वातन्त्र्य के समान दृष्टान्त से जाना जाता है। जैसे देवदत्त कुशूल को तोड रहा है—इसमे कुशूल की भेदन क्रिया मे जब स्वतन्त्रता की विवक्षा की जाती है, तब कुशूल स्वय ही नष्ट हो रहा है; क्योंकि भेदन क्रिया तो कुशूल मे हो रही है, तब कुशूल स्वयं ही कर्त्ता और स्वयं ही करण बन जाता है। उसी प्रकार आत्मा ही ज्ञाता और ज्ञान होकर कर्त्ता एव करण रूप बन जाता है। अर्थात् आत्मा ज्ञान के द्वारा जानता है, इसमे अभिन्न कर्त्ता-करण है[१६]

आत्मा और ज्ञान में कर्त्तापना मान लेने पर लक्षण का अभाव होगा—ऐसा कहना उचित नहीं है—बाहुलकता होने से।

प्रश्न—कर्त्ता और कर्म मे एकता मानने पर लक्षण का अभाव होगा; क्योंकि 'युट्' प्रत्यय होता है।

उत्तर—ऐसा कहना योग्य नही है; क्योंकि व्याकरण शास्त्र में कहे गये 'युट्' और 'णिच्' प्रत्यय कर्त्ता आदि सभी साधनो से पाये जाते हैं। भाव कर्म में कहे गये 'त्य' प्रत्यय करणादि मे देखे जाते हैं। जिससे स्नान करता है—स्नानीय चूर्ण, जिसके लिए देता है—वह दानीय अतिथि, समावर्तन किया जाता है, वह समावर्तनीय गुरु कहलाता

है। इसी प्रकार करणाधिकरण और कर्मादि में युट् प्रत्यय देखा जाता है। जैसे—खाता है, वह निरदन, प्रस्कन्दन जिससे होता है वह प्रस्कन्दन इसी प्रकार सातों ही विभक्ति से होने वाले शब्दों में युट् प्रत्यय होता है[१७]।

एक ही अर्थ मे शब्दभेद होने से व्यक्तिभेद देखा जाता है। जैसे कि 'गेहं कुटी मठः' यहाँ एक ही घर रूप अर्थ में विभिन्न लिंग वाले शब्दों का प्रयोग है। पुष्यः, तारका, नक्षत्रम्', यहाँ एक ही तारा रूप अर्थ मे विभिन्न लिंगक और विभिन्न वचन वाले शब्दों का प्रयोग है। इसी प्रकार ज्ञान शब्द विभिन्न लिंग वाला होते हुए भी आत्मा का वाचक है[१८]।

'दर्शन ज्ञान चारित्राणि' में तीनो की प्रधानता होने से बहुवचन का प्रयोग किया गया है। जैसे—'प्लक्षन्न-ग्रोधपलाशा:' इसमे अस्ति आदि समान काल क्रिया वाले प्लक्षादि के परस्पर अपेक्षा होने से और सर्व पदार्थ प्रधान होने से इतरेतर योग मे द्वन्द्व समास और बहुवचन का प्रयोग है। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र मे अस्ति आदि समान क्रिया, काल और परस्पर सापेक्ष होने से इतरेतर द्वन्द्व और सर्वपदार्थ प्रधान होने से बहुवचनान्त का प्रयोग किया गया है[१९]।

'भुजि' के समान सम्यक् विशेषण की परिसमाप्ति प्रत्येक के साथ लगाना चाहिए अर्थात् द्वन्द्व समास के साथ कोई भी विशेषण चाहे वह आदि मे प्रयुक्त हो या अन्त मे, सबके साथ जुड़ जाता है। जैसे—गुरुदत्त, देव-दत्त, जिनदत्त को भोजन कराओ, इसमे भोजन क्रिया का तीनों मे अन्वय हो जाता है। वैसे ही प्रशसावचन सम्यक् शब्द का अन्वय दर्शनादि तीनो के साथ होता है—सम्यग्-दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र[२०]।

उपर्युक्त उदाहरण प्रथम अध्याय के प्रथम सूत्र के हैं। पूरे तत्त्वार्थवार्तिक मे इस प्रकार की सैकड़ो चर्चायें हैं। विशेष अध्ययन करने वालों को इन्हें ग्रन्थ से देखना चाहिए। इससे अकलङ्कदेव का व्याकरण के सभी अङ्गों का तलस्पर्शी ज्ञान सूचित होता है।

शब्दों के अनेक अर्थ

शब्दों के अनेक अर्थ होते हैं, इसके उदाहरण तत्त्वार्थ-वार्तिक में अनेक मिल जायेंगे। जैसे—प्रथम अध्याय के आठवें सूत्र की व्याख्या में अन्तर शब्द के अनेक अर्थ दिये गये हैं। अन्तर शब्द छेद, मध्य, विरह आदि अनेक अर्थों में है। उनमे से अन्यतम ग्रहण करना चाहिए। अन्तर शब्द के अनेक अर्थ हैं। यथा—सान्तरं, काष्ठं में अन्तर छिद्र अर्थ में है अर्थात् छिद्र सहित काष्ठ है। 'द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभते' यहाँ अन्तर शब्द अन्य अर्थ में है अर्थात् द्रव्यान्तर का का अर्थ अन्य द्रव्य है। 'हिमवत्सागरान्तरे' इसमे अन्तर शब्द का अर्थ मध्य है अर्थात् हिमवान पर्वत और सागर के मध्य में भरत क्षेत्र है। क्वचित् समीप अर्थ मे अन्तर शब्द आता है। जैसे—स्फटिक शुक्लरक्ताद्यन्तर-स्थस्य तद्वर्णता, श्वेत और लाल रंग के समीप रखा हुआ स्फटिक। यहाँ अन्तर का अर्थ समीप है। कही पर विशेषता अर्थ मे भी अन्तर शब्द का प्रयोग आता है। जैसे—'घोड़ा, हाथी और लोहे में, 'लकड़ी, पत्थर और कपड़े मे', स्त्री-पुरुष और जल में अन्तर ही नही महान् अन्तर है। यहा अन्तर शब्द वैशिष्ट्यवाचक है। कही पर बहिर्योग में अन्तर शब्द प्रयुक्त होता है। जैसे—'ग्राम-स्यान्तरे कूपा:' मे बाह्यार्थक अन्तर शब्द है अर्थात् गाँव के बाहर कुयें हैं। कहीं उपसंख्यान अर्थात् अन्तर्वस्त्र के अर्थ में अन्तर शब्द का प्रयोग होता है, यथा 'अन्तरे शारका:'। कही विरह अर्थ मे अन्तर शब्द का प्रयोग होता है। जैसे—'अनभिप्रेत श्रोतृ जनान्तरे मन्त्रयते' अर्थात् अनिष्ट व्यक्तियों के विरह में मन्त्रणा करता है। इस प्रकरण मे छिद्र, मध्य और विरह में से कोई एक अर्थ लेना।

अनुपहत वीर्य का अभाव होने पर पुन: उसकी उद्-भूति होना अन्तर है। किसी समर्थ द्रव्य की किसी निमित्त से अमुक पर्याय का अभाव होने पर निमित्तान्तर से जब तक वह पर्याय पुन: प्रकट नही होती, तब तक के काल को अन्तर कहते है[२१]

अन्त शब्द के अनेक अर्थ होने पर भी 'वनस्पत्यन्ता-नामेकम्' में विवक्षा वश समाप्ति अर्थ ग्रहण करना चाहिए। यह अन्त शब्द अनेकार्थवाची है। कहीं अन्त शब्द अवयव अर्थ में आता है। जैसे—वस्त्र का अन्त अर्थात् वस्त्र का एक अंश। कही सामीप्य अर्थ मे आता है। 'उदकान्तं गत:' पानी के समीप गया। कही अवसान

में आता है। जैसे—'संसारान्तं गतः' ससार का अन्त हो गया[22]।

अक्ष शब्द भोजन, सेवन तथा खेलने के अर्थ में आता है[23]।

प्रत्यय शब्द के अनेक अर्थ होने पर भी 'लब्धिप्रत्ययं च' सूत्र में हेतु अर्थ में लेना चाहिए। क्वचित् ज्ञान अर्थ मे प्रत्यय शब्द आता है। जैसे—'अर्थाभिधान प्रत्यया—अर्थ का ज्ञान। कहीं सत्यता में आता है। जैसे—'प्रत्ययं कुरु' इसमें सत्य करो, यह अर्थ होता है। क्वचित् कारण अर्थ मे प्रत्यय शब्द आता है—'मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये प्रत्यय हैं अर्थात् कर्मादान में कारण हैं। इस सूत्र मे प्रत्यय शब्द कारण का पर्यायवाची जानना चाहिए[34]।

—बिजनौर (उ० प्र०)

सन्दर्भ-सूची

१. तत्त्वार्थवार्तिक १।२।२४.
२. वही ८।१।१३.
३. वही ८।१।१२-१४.
४. वही ८।१।१५-२७.
५. अन्ये अन्यथालक्षणं मोक्षं परिकल्पयन्ति—रूपवेदना संज्ञा सस्कार विज्ञान पञ्चस्कन्धनिरोधादभावो मोक्षः इति। त० वार्तिक।
६. अविद्याप्रत्ययाः संस्काराः इत्यादिवचनं केषाञ्चित्। वही १।१।४६.
७. तत्त्वार्थवार्तिक १।१।५२.
८. केचित्तावदाहुः 'अनन्ता लोकधातवः' वही ५।६।४.
९. वही ५।१७।२३.
१०. वही ५।१७।३४।
११. वही ५।१७।४१.
१२. वही ५।१८।११.
१३. वही ५।१९।३२.
१४. वही ५।२२।१५.
१५. वही ६।१०।११.
१६. वही ७।२२।१०.
१७. वही ७।३६।७-८.
१८. वही १।६।१४.
१९. वही २।८।१२.
२०. वही १।३२।३.
२१. न्याय कुमुदचन्द्र : प्रस्तावना पृ० ४४.
२२. तत्त्वार्थ वा. ८।१।८-१२.
२३. वही ८।१।१३.
२४. न्यायकुमुदचन्द्र : प्रस्तावना पृ. ४४.
२५. तत्त्वार्थवार्तिक १।१।३.
२६. वही १।१।२१-२२.
२७. वही १।१।२५.
२८. वही १।१।२७.
२९. वही १।१।३४.
३०. वही १।१।३५.
३१. वही १।८।७-८.
३२. वही १।२२।१.
३३. वही २।२३।४.
३४. वही २।४७।१.

गतांक से आगे :

संस्कृत जैन-चम्पू और चम्पूकार

☐ डॉ० कपूरचन्द जैन

सूक्त्ये तेषां भवभीरवों ये, गृहाश्रमस्याश्चरितात्मधर्माः ।
त एव शेषाश्रमिणां सहाय्या, धन्याः स्युराशाधरसूरिमुख्याः ॥

उक्त पद्य के आधार पर डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ने लिखा है कि 'इस पद्य में' प्रकारान्तर से आशाधर की प्रशसा की गई है और बताया गया है कि गृहस्थाश्रम मे रहते हुए भी वे जैन धर्म का पालन करते थे तथा अन्य आश्रमवासियों की सहायता भी किया करते थे। इस पद्य में आशाधर की जिस परोपकार वृत्ति का निर्देश किया गया है, उसका अनुभव कवि ने सम्भवतः प्रत्यक्ष किया है और प्रत्यक्ष में कहे जाने वाले सद्वचन भी सूक्ति कहलाते हैं, अतएव बहुत सम्भव है कि अर्हद्दास आशाधर के समकालीन हों[1]। कैलाश चन्द्र शास्त्री ने भी उक्त आधार पर अर्हद्दास का आशाधर के लघु-समकालीन होने का अनुमान किया है[2]। किन्तु इस सन्दर्भ मे प० नाथूराम प्रेमी और प० हरनाथ द्विवेदी के मतों को दृष्टि ओझल नहीं किया जा सकता। प्रेमी जी ने लिखा है कि 'इन पद्यो मे स्पष्ट ही उनकी सूक्तियों या उनके सद्ग्रन्थो का ही संकेत है, जिनके द्वारा अर्हद्दास जी को सन्मार्ग की प्राप्ति हुई थी। गुरू शिष्यत्व का नही[3]। इसी प्रकार माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला से प्रकाशित 'पुरुदेव चम्पू' के सम्पादक पं० जिनदास शास्त्री फडकुले के मत पर कटाक्ष करते हुए प० हरनाथ द्विवेदी ने लिखा है—"पुरुदेव चम्पू" के विज्ञ सम्पादक फडकुले महोदय ने अपनी पाण्डित्यपूर्ण भूमिका मे लिखा है कि उल्लिखित प्रशस्तियो से कविवर अर्हद्दास पण्डिताचार्य आशाधरजी के समकालीन निर्विवाद सिद्ध होते है। किन्तु कम से कम मै आपकी इस समय निर्णायक सरणी से सहमत हो, आपकी निर्विवादिता स्वीकार करने मे असमर्थ हूं। क्योंकि प्रशस्तियों से यह नहीं सिद्ध होता कि आशाधर जी की साक्षात्कृति अर्हद्दास जी को थी कि नही। सूक्ति और उक्ति की अधिकता से यह अनुमान करना कि साक्षात् आशाधर सूरि से अर्हद्दास जी ने उपदेश ग्रहण कर उन्हें गुरू मान रखा था, यह प्रामाणिक प्रतीत नहीं होता। क्योंकि सूक्ति और उक्ति का अर्थ रचना-बद्ध ग्रन्थ-सन्दर्भ का भी हो सकता है[4]।

हमारे अनुमान से यह उचित प्रतीत होता है कि आशाधर के अन्तिम समय अर्थात् वि० स० १३०० में अर्हद्दास आशाधर जी के पास पहुंचे होंगे और एक-दो वर्ष साक्षात् शिष्यत्व प्राप्त कर उनके धर्मामृत से प्रभावित होकर काव्य रचना में प्रवृत्त हुए होंगे।

अर्हद्दास के काल निर्धारण में भी आशाधर और अजितसेन (अलकार चिन्तामणि के कर्ता अजितसेन) महत्वपूर्ण मानदण्ड है। अर्हद्दास ने अपनी कृतियों मे आशाधर का नामोल्लेख जिस सम्मान और श्रद्धा से किया है उससे तो इस अनुमान के लिए पर्याप्त आधार मिलता है कि वे आशाधर के साक्षात् शिष्य रहे होंगे। किन्तु आशाधर ने अपने ग्रन्थों में जिन आचार्यों और कवियो का उल्लेख किया है, उनमे अर्हद्दास का उल्लेख नही है। यहाँ तक कि उनकी अन्तिम रचना 'अनगार धर्मामृत की टीका' मे अर्हद्दास या उनके किसी ग्रन्थ का कोई उल्लेख नहीं है[5]।

इससे इतना तो निर्विवाद सिद्ध है कि वे आशाधर के पश्चात्वर्ती हैं। साथ ही आचार्य अजितसेन ने अपनी 'अलकार चिन्तामणि' मे जिनसेन, हरिचन्द्र, वाग्भट आदि के साथ ही अर्हद्दास के 'मुनिसुव्रत काव्य' के अनेक श्लोक उदाहरण स्वरूप दिये हैं। मुनिसुव्रत काव्य के प्रथम सर्ग का दूसरा श्लोक अलकार चिन्तामणि (भारतीय ज्ञानपीठ सस्करण) के पृष्ठ १२३, १५३ तथा २६६ पर उदाहरण स्वरूप दिया गया है। इसी प्रकार १/३४, २/३१, २/३२ तथा २/३३ श्लोक अलकार चिन्तामणि के क्रमशः पृष्ठ २०५, २२८ तथा २११ पर दिये गये हैं।

इससे यह स्पष्ट है कि अर्हद्दास आचार्य अजितसेन से पूर्ववर्ती हैं।

सौभाग्य से आशाधर के काल निर्धारणार्थ अधिक नहीं भटकना होगा, उन्होने अपनी अन्तिम रचना 'अनगार धर्मामृत की टीका' वि० सं० १३०० मे पूर्ण की थी[६]। अत: उनका रचना काल ई० की १३वीं शती का पूर्वार्ध निश्चित है। अजितसेन का रचना काल डा० नेमिचन्द्र शास्त्री[७] ने वि० स० १३०७-१३१७ तथा डा० ज्योतिप्रसाद जैन[८] ने १२४०-१२७० ई० (१२६६-१३२७ वि० स०) माना है।

आशाधर और अजितसेन के मध्यवर्ती होने के कारण अर्हद्दास का समय १३वी शताब्दी ई० का मध्यभाग मानना समीचीन होगा।

पुरुदेव चम्पू के १० स्तबको में तीर्थंकर ऋषभनाथ और उनके पूर्व भवों का चित्रण है। प्रारम्भ के तीन स्तबकों मे उनके १० पूर्वभवों का चित्रण है। अन्तिम कुलकर नाभिराय का ऋषभदेव पुत्र हुआ। (चतुर्थ स्तबक) देवताओं ने जन्मकल्याणक मनाया (पचम स्तबक) यशस्वती और सुनन्दा से उनका विवाह हुआ तथा १०१ पुत्र व २ पुत्रियाँ दोनो रानियों से हुईं। (षष्ठ स्तबक) पुत्रो को यथायोग्य उपदेश देकर उन्होने दीक्षा ले ली, (सप्तम स्तबक) १ वर्ष की कठोर साधना के बाद हस्तिनापुर में राजा श्रेयांश ने उन्हें सर्वप्रथम इक्षुरस का आहार दिया। (अष्टम स्तबक) पुत्र भरत ने दिग्विजय यात्रा की। (नवम स्तबक) भरत बाहुबलि का युद्ध हुआ तथा बाहुबलि, भगवान, भरतादि ने मोक्षपद पाया। अन्तिम मगल के साथ काव्य समाप्ति (दशम स्तबक)।

दयोदय चम्पू[९] :—

दयोदय चम्पू के रचयिता मुनि श्री ज्ञानसागर महाराज का गृहस्थावस्था का नाम भूरामल था। पिता का नाम चतुर्भुज और माता का नाम धृतवरी देवी था[१०]। जन्म जयपुर के समीप राणोली (वर्तमान सीकर जिला) ग्राम में छावडा गोत्रीय खण्डेलवाल जैन परिवार मे हुआ था। ये पाँच भाई थे। पिता चतुर्भुज की मृत्यु के समय वि० सं० १९५६ में भूरामल की आयु १० वर्ष की थी। अत: इनका जन्म समय १९४८ वि० सं० है ऐसा सटीक 'जयोदय'[११] 'दयोदय'[१२] 'वीरोदय'[१३] आदि ग्रन्थों से पता चलता है। किन्तु मूल 'जयोदय' जो ब्रह्मचारी सूरजमल जैन (वीरसागर महाराज संघस्थ) ने वीर नि०सं० २४७६ में प्रकाशित किया है, के प्राक्कथन में तत्कालीन जैन गजट के सम्पादक प० इन्द्रलाल जैन ने पिता की मृत्यु के समय उनकी आयु ७ वर्ष बताथी है[१४] जो भ्रान्त है। यत: लेखक स्वय मुनि ज्ञानसागर ग्रन्थमाला ब्यावर के प्रकाशक पं० प्रकाशचन्द जैन से मिला और उन्होंने १० वर्ष की अवस्था ही ठीक बताई।

पिता की मृत्यु के बाद इन्हें जीविकोपार्जनार्थ बाहर जाना पड़ा। वे बड़े भाव के साथ गया जाकर काम सीखने लगे, यहीं बनारस के कुछ छात्रों से परिचय हो जाने से आप स्याद्वाद महाविद्यालय में आ गये और बिना परीक्षा के ही सभी म त्वपूर्ण ग्रन्थों को पढ़ डाला, वे शाम को गमछे बेचकर विद्यालय में अपना भोजन खर्च जमा कराते थे[१५]।

अध्ययनोपरांत गाँव में दुकानदारी करते हुए जैन पाठशाला में नि.शुल्क पढ़ाया तथा आजीवन ब्रह्मचारी रहे। वि० सं० २००४ में मुनिदीक्षा ग्रहण की। २०२६ मे नसीराबाद (राजस्थान) मे समाधिमरण पूर्वक स्वर्गवास हुआ। नसीराबाद में आपकी स्मृति में एक स्मारक बनाया गया है।

मुनि श्री विलक्षण प्रतिभा के धनी थे उन्होंने हिन्दी और संस्कृत में लगभग २१ ग्रन्थों का प्रणयन किया। सस्कृत रचनाओ मे ३ महाकाव्य, १ खण्डकाव्य, १ चम्पू, १ शतक तथा १ छायानुवाद है।

महाकाव्य	जयोदय	जयकुमार सुलोचना की कथा
"	वीरोदय	भगवान महावीर की कथा
"	सुदर्शनोदय	सेठ सुदर्शन की शील कथा
खण्ड काव्य	भद्रोदय[१६]	सत्य का प्रभाव दिखाने वाली सत्यघोष की कथा।
चम्पूकाव्य	दयोदय	मृगसेन धीवर की कथा
शतक	मुनि मनोरजन शतक	मुनियों के कर्तव्य
छायानुवाद	प्रवचनसार (प्रतिरूपक)	कुन्दकुन्द के उक्त ग्रन्थ का श्लोक बद्ध अनुवाद।

दयोदय की कथावस्तु ७ लम्बों में बँटी है, धार्मिक काव्यों की तरह इसका उद्देश्य भी कथा के बहाने अहिंसा

का महत्व बताना है। कथा का मूल यद्यपि 'यशस्तिलक' तथा वृहत्कथाकोष में पाया जाता है पर उसमें पर्याप्त परिवर्तन और परिवर्धन है। अंगी रस शान्त है और नैषध की तरह प्रत्येक लम्ब के अन्त में लम्ब-प्रशस्ति दी गई है। विषय के आधार पर सर्गों के नाम भी दिये गये हैं।

महाराज श्री प्रखर पाण्डित्य के धनी थे। दयोदय में स्थान-स्थान पर वेद उपनिषदादि के दिये गये प्रमाणो से यह स्पष्ट है, सूक्तियों का तो यह भण्डार है। कुछ नवीन रागों की रचना भी महाराज श्री ने की है[१७]। पचनन्त्रादि की कथाएँ भी यहाँ देखी जा सकती है।

कथावस्तु इस प्रकार है। उज्जयिनी में गुणपाल सेठ रहता था, जिसकी पुत्री का नाम विषा था। दो मुनिराजों ने एक बालक (सोमदत्त) को कूड़े के ढेर के पास देखा, बड़े मुनि ने कहा कि यह विषा का पति होगा। तथा उसकी कथा इस प्रकार कही—यह पहले मृगसेन धीवर था, मुनि से पहली मछली न पकड़ने के व्रत से यहाँ के सेठ का पुत्र हुआ है मृगसेन की पत्नी विषा हुई है (प्रथम द्वितीय लम्ब) गुणपाल ने यह सुना तो उसे मारने का प्रयत्न करने लगा। पहले उसने चाण्डाल के द्वारा (तृतीय लम्ब) फिर पत्र भेजकर (चतुर्थ लम्ब) अनन्तर चण्डी के मन्दिर में मरवाने का प्रयत्न किया, पर सोमदत्त बचा रह गया, उल्टे उसका सगा पुत्र मारा गया और विषा का विवाह भी सेठ की अनुपस्थिति मे उसके पुत्र ने सोमदत्त से कर दिया (पंचम लम्ब)।

सेठ सेठानी ने विषमिश्रित लड्डुओं से उसे मारना चाहा पर बदले में वे दोनों मारे गये (षष्ठ लम्ब) रहस्य खुलने पर राजा ने भी अपनी पुत्री और आधा राज्य सोमदत्त को दिया। अन्त में सोमदत्त ने दीक्षा लेकर मोक्ष पद पाया। अन्तिम मंगल के साथ काव्य समाप्ति।

महावीर तीर्थंकर चम्पू[१८] :—

महावीर तीर्थङ्कर चम्पू के रचयिता श्री परमानन्द वैद्यरत्न (पाण्डेय) हैं। महावीर के २५००वें निर्वाणोत्सव पर पाण्डेय जी ने यह काव्य रचा है। श्री पाण्डेय का परिवार राजकुल से सम्बन्धित रहा। वदरिकाश्रम (गढ़वाल) के जैन मन्दिर में आने जाने के कारण वे जैन धर्म से प्रभावित हुए[१९]। वर्तमान में वे दिल्ली वासी हैं। श्री पाण्डेय मुनि विद्यानन्द जी के साथ वदरीनाथ की यात्रा में गये थे। लेखक ने आयुर्वेद सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ लिखे हैं[२०]। उनकी महत्वपूर्ण चम्पू रचना 'गणराज्य चम्पू' है, जो भारतीय गणतन्त्र की रजत जयन्ती के उपलक्ष्य में लिखा गया था।

उक्त चम्पू मे संस्कृत के साथ ही हिन्दी अनुवाद (गद्य-पद्यमय) दिया गया है। कथावस्तु को यद्यपि कवि ने बांटा नहीं है पर प्राक्कथन लेखक डा० कर्णसिंह के अनुसार इसके पूर्वार्ध में २४ तीर्थङ्करों और उत्तरार्ध में महावीर का चरित्र वर्णित है।

ग्रन्थारम्भ में दिल्ली मे लाल किले पर २५००वें निर्वाणोत्सव पर हुई दिगम्बरों और श्वेताम्बरों, स्थानकवासियों की गोष्ठी की चर्चायें हैं। आगे, दिल्लीस्थ लाल-किले की स्थापना, तीर्थङ्करों का तीर्थङ्करत्व एवं उनका संक्षिप्त परिचय दिया गया है। पुस्तक के १/३ भाग में मात्र कथा की उपस्थापना है। आगे १/३ भाग मे महावीर का चरित्र चित्रित है। शैली आधुनिक है तथा दिगम्बर और श्वेताम्बरों के मतभेदो का भी जगह-जगह उद्घाटित किया गया है। आधुनिक संस्कृत गीतिकाओ के लगभग ५ गीत दिये गये हैं तथा सुकरात, जरथुस्त, कन्फ्यूशियश आदि के समान महावीर को क्रान्तिवाहक बताया गया है।

आगे १/३ भाग में जैनधर्म, देशभूषण महाराज सुपार्श्वनाथ पंचक, मुनि विद्यानन्द, सुशीलकुमार, ब्र० कुमारी कौशल आदि का परिचय दिया गया है। अन्त में कहा गया है कि महावीर की शान्ति क्रान्ति के बिना देश का कल्याण नहीं हो सकता।

भाषा सरल-सरस और समास रहित है। अनुप्राश की छटा दर्शनीय है। साधारण पाठक भी इसे समझ सकता है। अध्ययन से पता चलता है कि लेखक ने श्वेताम्बर साहित्य का अध्ययन अधिक किया है। परम्परा भेद स्पष्ट कर दिया गया है, यह अच्छी बात है, अनेक चित्र भी है। रचना प्रशंसनीय एवं अनुकरणीय है।

वर्धमान चम्पू :—

वर्तमान में रचित जैन चम्पू काव्यों में वर्धमान चम्पू

महत्त्वपूर्ण चम्पू रचना है। यह कृति श्री महावीर जी से प्रकाशित है। इसके रचयिता स्व० श्री मूलचन्द्र शास्त्री का जन्म मालथौन (सागर म० प्र०) लगभग १९०५ ई० में हुआ था। पिता का नाम सटोले और माता का नाम सल्लो था। ऐसी उनकी दूसरी कृति 'वचनदूतम' से पता चलता है[१६]। आपने 'न्यायरत्न' नामक सूत्र ग्रन्थ 'लोकाशाह' महाकाव्य 'वचनदूतम' दूतकाव्य की रचना की है, अनेक स्तोत्रों की समस्या पूर्ति और तीन ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद किया है।

वर्धमान चम्पू में महावीर के पांचों कल्याणकों का चित्रण किया है। रचना सरल और सरस है।

भारत चम्पू :—

भारत चम्पू का उल्लेख श्री मुख्तार ने किया है। उन्होंने लिखा है 'जयनन्दी नाम के यों तो अनेक मुनि हो गये हैं, परन्तु आशाधर जी से जो पहले हुए हैं, ऐसे एक ही जयनन्दी मुनि का पता मुझे अभी तक चला है। जो कि कन्नडी भाषा के प्रधान कवि आदिपम्प से भी पहले हो गये है। क्योंकि आदि पम्प ने अपने 'आदिपुराण' और 'भारत चम्पू' में, जिसका रचनाकाल शक स० ८६३ (वि०स० ९९८) है, उनका स्मरण किया है[१९]। स्पष्ट है कि इसके लेखक आदिपम्प हैं, इसकी भाषा कन्नड़ है।

पुण्याश्रव चम्पू :—

इसके रचयिता श्री नागराज हैं, जिन्होंने शक स० १२५३ में उक्त चम्पू रचा। श्री जुगलकिशोर मुख्तार को समन्तभद्र भारती का एक स्तोत्र दक्षिण भारत मे प्राप्त हुआ है जो श्री नागराज की रचना है। इस सन्दर्भ मे पादटिप्पण मे श्री मुख्तार ने लिखा है—'नागराज नाम के एक कवि शक स० १२५३ मे हो गये हैं, ऐसा 'कर्णाटक कवि चरित्र' से मालूम होता है। बहुत सम्भव है कि यह स्तोत्र उन्ही का बनाया हुआ हो वे 'उभयकविता विलास' उपाधि से भी युक्त थे। उन्होने उक्त संवत् मे अपना पुण्याश्रव चम्पू बनाकर समाप्त किया था[२०]। इसकी प्रति क्या है? और वर्ण्यविषय क्या है, इसका उल्लेख श्री मुख्तार ने नही किया है। सम्भव है, इसमें किसी पुण्य के महत्व वाली कथा वर्णित हो।

भरतेश्वराभ्युदय चम्पू :—

इसके रचयिता पं० आशाधर जी हैं जिनके सम्बन्ध मे हम पीछे लिख आये हैं इसे अनेक विद्वान महाकाव्य मानते हैं, पर डा० राजवंश सहाय हीरा[१८] और डा० छविनाथ त्रिपाठी[२१] ने इसे चम्पू माना है। प्रेमी जी ने सोनागिर में इसकी प्रति होने का उल्लेख किया है[११]। प्रयत्न करने पर भी यह वहां नही मिली। इसका विवरण मद्रास कैटलाग संख्या १२४४४ मे है। नामानुरूप इसमें भरत के अभ्युदय का वर्णन है।

जैनाचार्यविजय चम्पू—

इसका लेखक अज्ञात है। डा० त्रिपाठी ने गवर्नमेन्ट ओरियन्टल लाइब्रेरी मद्रास मे इसकी प्रति होने का उल्लेख किया है, इसमे ऋषभदेव से लेकर मल्लिषेण तक अनेक जैनाचार्यों की विद्वत्ता एवं उनकी वादप्रियता के साथ उनकी अन्य सम्प्रदायों पर प्राप्त विजयो का वर्णन है[१७]।

इस प्रकार जैन चम्पू काव्यों की परम्परा अविछिन्न रूप से चली। यद्यपि संख्या की दृष्टि से अत्यल्प ही जैन चम्पू काव्यों का सृजन हुआ, पर गुणवत्ता और महत्व की दृष्टि से जैन चम्पूकाव्य पीछे नही है। 'यशस्तिलक' सस्कृत चम्पू काव्यों का मेरु है। 'जीवन्धर चम्पू' जहां कथा तत्व की दृष्टि से अपनी सानी नही रखता, वही 'पुरुदेव चम्पू' काव्य कला, विशेषता श्लेष प्रधान चम्पुओं मे अग्रगण्य है। 'दयोदय' आधुनिक शैली पर लिखे जाने से स्वत: ही हृदयग्राही बन गया है, फिर इसका कथानक इतना सुन्दर है कि, पाठक एक बार पढ़ना आरम्भ कर उसे सहज ही बीच मे नही छोड़ पाता। 'महावीर ही० च०' अन्य तीर्थंकरों का भी वर्णन करने से निश्चय ही उपादेय है। वर्धमान चम्पू का भी विद्वत्समाज मे समुचित आदर होगा, ऐसी आशा है।

उपर्युक्त चम्पुओं की महत्ता, वर्णन विशालता गुणवत्ता, सहृदयहारिता, काव्यात्मकता आदि के आधार पर यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि अप्रकाशित 'पुण्याश्रव', 'भारत', 'भरतेश्वराभ्युदय' और 'जैनाचार्यविजय चम्पू' भी निश्चय ही महत्वपूर्ण जैन चम्पू होगे।

—निदेशक, प्राकृत एवं जैन विद्या शोधप्रबन्ध सग्रहालय,
खतौली (उ० प्र०)

सन्दर्भ

१. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग ४, पृ. ५० ।
२. भव्यजन कण्ठाभरण, प्रस्तावना पृ० १० ।
३. जैन साहित्य और इतिहास, पृ. १४२ ।
४. मुनि सुव्रत काव्य, आरा, भूमिक पृ० ख ।
५. अनगार धर्मामृत, ज्ञानपीठ, देखिए प्रस्तावना ।
६. नलकच्छपुरे श्रीमन्नेमिचैत्यालयेऽसिधत् ।
विक्रमाब्दशतेष्वेषा त्रयोदशसु कार्तिके ।।
अनगारधर्मामृत की टीका प्रशस्ति २१ ।
७. अलंकार चिन्तामणि, ज्ञानपीठ, प्रस्तावना पृ० ३४ ।
८. व्यक्तिगत पत्र दिनांक २७-६-८२ के आधार पर ।
९. मुनि ज्ञानसागर ग्रन्थमाला ब्यावर (राजस्थान) से १९६६ ई० में प्रकाशित ।
१०. दयोदय चम्पू, प्रथम लम्ब, लम्ब प्रशस्ति ।
११. जयोदय महाकाव्य, ब्यावर, ग्रन्थकर्ता परिचय पृ. ६ ।
१२. जयोदय चम्पू, ब्यावर, ग्रन्थकर्ता परिचय पृ० ड ।
१३. वीरोदय महाकाव्य, ब्यावर, प्रकाशकीय ।
१४. जयोदय (मूलमात्र) प्रकाशक ब्रह्मचारी सूरजमल, प्राक्कथन, पृ० २ ।
१५. जयोदय महाकाव्य, ब्यावर, ग्रन्थकर्ता का परिचय पृ० १० ।
१६. यद्यपि इसमे ९ सर्ग हैं, पर 'दो शब्द' मे प्रकाशक पं० विद्याकुमार सेठी ने इसे खंडकाव्य ही कहा है ।
१७. यथा दयोदय चम्पू ७/२७ ।
१८. महावीर तीर्थंकर चम्पू प्रकाशक—राजेश पांडेय जयकृष्ण कुटी १७०१ चादनी चौक दिल्ली ।
१९. वही, प्राक्कथन ।
२०. जैन सन्देश (मथुरा) २३ व ३० जून १९८३ ।
२१. वचनदूतम, महावीर जी, प्रशस्ति ।
२२. जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश पृ. १९३ ।
२३. वही पृ. ४८९ ।
२४. सस्कृत साहित्य कोष, चौखम्बा, पृ. ३३० ।
२५. च० आ० एवं ऐतिहासिक अध्ययन, पृ. १२१ ।
२६. जैन साहित्य और इतिहास, पृ. १३७ ।
२७. च० आ० एवं ऐतिहासिक अध्ययन, पृ. २४७, २६७ ।

एको मे सासदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो ।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ।।
अथ मम परमात्मा शाश्वतः कश्चिदेकः,
सहजपरमचिच्चिन्तामणिर्नित्यशुद्धः ।
निरवधिनिजदिव्यज्ञानदृग्भ्यांसमृद्धः,
किमिह बहुविकल्पे मे फलं बाह्यभावैः ।।

निश्चय से मेरा आत्मा नित्य, एक, अविनाशी है। ज्ञान-दर्शन लक्षण का धारी है। मेरे आत्मीक भाव के सिवाय अन्य सर्वभाव मुझसे बाह्य हैं तथा सर्व ही भाव संयोग लक्षण हैं अर्थात् पर-द्रव्य के संयोग से उत्पन्न हुए हैं।

सांख्य और जैन दर्शन में ईश्वर

डॉ० सुदर्शन लाल जैन

'ईश्वर' शब्द को सुनते ही हमारे मन में यह विचार-धारा आती है कि इस जगत् को बनाने वाला, पालन करने वाला हमारे पाप-पुण्यरूप कर्मों का फल देने वाला, जीवों पर अनुग्रहादि करने वाला, सर्वेश्वर्यशाली, अनादि मुक्त, सर्वशक्तिसम्पन्न, अनन्त आनन्द में लवलीन, व्यापक तथा चैतन्यगुणयुक्त एक प्रभु है जिसकी इच्छा के बिना इस जगत् का पत्ता भी नहीं हिल सकता है[1]। यह आत्मा से पृथक् तत्त्व है। ऐसा ईश्वर भारतीय दर्शन में केवल न्याय दर्शन ही स्वीकार करता है। अन्य भारतीय दार्शनिक जिन्होंने ईश्वर को स्वीकार किया है उनकी मान्यता कुछ भिन्न है।

ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी दर्शन-परम्परायें :

भारतीय दर्शन में चार्वाक, बौद्ध, जैन, सांख्य, वैशेषिक और मीमांसा मूलतः अनीश्वरवादी दर्शन माने जाते हैं परन्तु परवर्तीकाल में चार्वाक को छोड़कर ये दर्शन भी किसी न किसी रूप में ईश्वरवादी बन गए। इनका ईश्वर वैसा नहीं है जैसा कि ऊपर ईश्वर का स्वरूप बतलाया गया है। मूलतः ईश्वरवादी वेदान्त और योगदर्शन का ईश्वर भी वैसा नहीं है जैसा कि न्यायदर्शन का ईश्वर है।

वेदान्त—इस दर्शन में नित्य, अनादि, अनन्त तथा शुद्ध सच्चिदानन्दस्वरूप एकमात्र निर्गुण ब्रह्मतत्त्व को स्वीकार किया गया है। इसके अतिरिक्त समस्त जगत् इसी का विवर्त (भ्रम) है। अर्थात् समस्त जगत् में एकमात्र ब्रह्म तत्त्व है वह जब मायोपाधि से युक्त होकर सगुणरूप को धारण करता है तब वह कथंचित् न्यायदर्शन के ईश्वर के तुल्य हो जाता है। न्यायदर्शन का ईश्वर तो मात्र जगत् का निमित्त कारण है जबकि वेदान्त का सगुण ब्रह्मरूप ईश्वर जगत् का निमित्त और उपादान दोनों कारण है। न्याय की दृष्टि से जगत् वास्तविक है और वेदान्त की दृष्टि से जगत् भ्रमात्मक या मायात्मक है। इस तरह वेदान्त की दृष्टि से परमब्रह्म ही सत्य है और उस परमब्रह्म का मायारूप ईश्वर है, जो परमसत्य नहीं है।

योगदर्शन—योगदर्शन सांख्यदर्शन का पूरक दर्शन है। इसमें प्रकृति (अचेतन) और पुरुष (चेतन) ये दो मुख्य तत्त्व हैं। पुरुष (चेतन आत्मा) संख्या में अनेक हैं। एक पुरुष-विशेष को ईश्वर कहा है जो अनादिमुक्त, क्लेशादि (शुभाशुभ कर्मों) से सर्वथा मुक्त, विपाक (कर्मों के फलोपभोग) तथा (नाना प्रकार के संस्कार) से सर्वथा अस्पृष्ट है[2]। यह प्राणियों पर अनुग्रहादि करता है। इस तरह इस दर्शन का ईश्वर एक पुरुषविशेष है और वह सत्यरूप है।

सांख्यदर्शन—इस दर्शन में प्रकृति और पुरुष ये दो ही तत्त्व हैं। प्रकृति और पुरुष का संयोग होने पर प्रकृति में क्षोभ पैदा होता है और महदादिक्रम से प्रकृति से इस जगत् की सृष्टि होती है। इसमें ईश्वर (पुरुषविशेष) की कोई आवश्यकता नहीं है। सृष्टि स्वाभाविक प्रक्रिया से होती है। जैसे वत्सविवृद्धि के लिए दूध की प्रवृत्ति स्वतः होती है[3]।

जैनदर्शन—जैनदर्शन में छः द्रव्यों की सत्ता मानी गई है—पुद्गल रूपी (अचेतन), जीव (चेतन = आत्मा), धर्म (गति–हेतु), अधर्म (स्थिति-हेतु), आकाश (अवगाह-हेतु) और काल (वर्तना या परिवर्तन हेतु)[4]। इनसे ही स्वाभाविक रूप से सृष्टि होती है[5]। इसका संचालक कोई ईश्वर नहीं है। इतना अवश्य है कि जीवन्मुक्तों और विदेहमुक्तों को (ईश्वर) परमात्मा शब्द से सम्बोधित किया गया है। परन्तु वे वीतरागी होने से अनुग्रहादि कुछ भी कार्य नहीं करते। वे केवल आदर्श पुरुष मात्र हैं।

समीक्षा :—सांख्यदर्शन और जैनदर्शन दोनों ही

मूलतः अनीश्वरवादी दर्शन हैं, परन्तु परवर्ती काल में सांख्यदर्शन ईश्वरवादी दर्शन बन गया। सांख्यदर्शन को ईश्वरवादी दर्शन बनाने मे सर्वप्रमुख भूमिका आचार्य विज्ञानभिक्षु की है। सांख्यदर्शन के उपलब्ध सर्वप्राचीन ग्रन्थ सांख्यकारिका तथा उसकी सभी प्राचीन टीकाओं में कही भी ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नही किया गया है। गौडपादभाष्य आदि टीकाओं में सृष्टिकर्ता ईश्वर के अस्तित्व का खण्डन अवश्य मिलता है। श्रीबालगङ्गाधर तिलक का विचार है कि ईश्वर कृष्ण की ६१वीं कारिका लुप्त हो गई है जिसकी रचना उन्होने गौडपादभाष्य के आधार पर करते हुए अनीश्वरवाद की स्थापना की है[७]।

सांख्यकारिका की प्रसिद्ध टीका युक्तिदीपिका मे स्पष्ट शब्दों मे प्रकृति की प्रवृत्ति में ईश्वरप्रेरणा का निषेध किया गया है[८]। गौडपादकार भी ईश्वर को सृष्टि का कारण मानने के मत को अस्वीकार करते हुए कहते हैं कि ईश्वर जब निर्गुण है तो उससे सत्व आदि गुणों वाली (सगुण) प्रजा की सृष्टि कैसे हो सकती है[९]? वाचस्पति मिश्र का कहना है कि जगत् की सृष्टि या तो स्वार्थवश सम्भव है या करुणावश। ईश्वर जब आप्तकाम है तो उसके स्वार्थ का कोई प्रश्न ही उपस्थित नही होता। करुणावश भी सृष्टि सम्भव नही है, क्योंकि सृष्टि से पूर्व शरीर इन्द्रियादि के अभाव होने से दुःखभाव होगा फिर ईश्वर की करुणा कैसी? करुणाभाव तो दूसरो के दुःखो के निवारण की इच्छा है। सृष्टि के पश्चात् प्राणियों को दुःखी देखकर करुणा मानने पर अन्योन्याश्रय दोष होगा। किञ्च, करुणा से सृष्टि मानने पर उसे सभी को सुखी ही उत्पन्न करना चाहिए, दुःखी नही। अतः अचेतन प्रकृति की स्वतः प्रवृत्ति मानना ही उचित है[९]।

वृत्तिकार अनिरुद्ध ने ईश्वरकर्तृत्व का खण्डन करते हुए कहा है कि ईश्वर की सिद्धि करने वाला कोई प्रमाण नही है[१०]। ईश्वर के जगत्कर्तृत्व में निमित्तकारणता का खण्डन करते हुए वे कहते हैं कि ईश्वर के न तो सशरीरी होने पर और न अशरीरी होने पर सृष्टि सम्भव है[११]। यदि ईश्वर स्वतन्त्र होकर भी जीवो के कर्मानुसार उनकी सृष्टि करता है तो उसकी आवश्यकता ही क्या है? क्योंकि वह कार्य कर्म से ही हो जायेगा। किञ्च राग के अभाव में वह सृष्टि कर ही नहीं सकता। इसी तरह अन्य तर्कों के द्वारा अनिरुद्ध सांख्यसूत्रों की वृत्ति करते हुए सांख्य को अनीश्वरवादी सिद्ध करते हैं। जैनदर्शन मे भी कुछ इसी तरह की युक्तियों के द्वारा जगत्कर्ता ईश्वर का खण्डन किया गया है।

इसके विपरीत आचार्य विज्ञानभिक्षु ने सांख्यप्रवचन-भाष्य में सांख्य शास्त्र के उपदेश कपिलमुनि को ईश्वर का अवतार[१२] तथा ईश्वर को मोक्ष प्रदाता बतलाया है[१३]। इस तरह इन्होंने सांख्य की निरीश्वरवादी-परम्परा में नया मोड़ दिया और कहा कि ईश्वर की सिद्धि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से न होने के कारण उसका अभाव नही माना जा सकता। इसीलिए सांख्यसूत्र मे 'ईश्वरासिद्धे.' (१/९२) कहा है। 'ईश्वराभावात् (सा०प्र०भा०) १/९२) नहीं, परन्तु विज्ञानभिक्षु का यह तर्क अनुचित है। किञ्च सांख्यसूत्र परवर्ती रचना है। अभी तक उसके कपिलमुनि प्रणीत होने की सिद्धि नहीं हो सकी है। वस्तुतः विज्ञान-भिक्षु का ईश्वर वेदान्त और योगदर्शन का मिला-जुला रूप है।

पहले बतलाया जा चुका है कि सांख्यदर्शन का अनुगामी योगदर्शन क्लेशादि से अपरामृष्ट पुरुषविशेष को ईश्वर मानता है। योगदर्शन का यह ईश्वर सब प्रकार के बन्धनों से सर्वथा अछूता है। इसमे निरतिशय उत्कृष्ट तत्त्वशाली बुद्धि रहती है जिससे यह ऐश्वर्यसम्पन्न माना जाता है। ज्ञान और ऐश्वर्य का प्रकृष्टतम रूप जिसमे देखा जाता है वही नित्य ईश्वर है। प्रकृति पुरुष के विवेकज्ञानपूर्वक मुक्त होने वाले जीवन्मुक्त और विदेह-मुक्त ईश्वर नही हैं क्योंकि वे पूर्व मे बन्धनयुक्त रहे है। किञ्च, यह ईश्वर अन्य पुरुषों (आत्माओ) से विशिष्ट है। सामान्यपुरुष अकर्ता है, परन्तु ईश्वर अकर्ता नही है। इस तरह योगदर्शन सांख्यानुगामी होकर भी पुरुषविशेष के रूप मे ईश्वर को स्वीकार करता है। वस्तुतः बुद्धि आदि प्रकृति के धर्म हैं तथा बुद्ध्यादि के रहने पर रहने वाले ऐश्वर्यादि गुणो का धारक पुरुषविशेष ईश्वर ऐश्वर्य सम्पन्न कैसे हो सकता है?

न्यायकुमुदचन्द्र[१४] आदि जैन ग्रन्थो मे योगानुसारी सांख्यदर्शन के इसी ईश्वरवाद का खण्डन किया गया है।

वस्तुतः जैसा कि पहले कहा जा चुका है—सांख्यदर्शन मूलतः जैनदर्शन की तरह अनीश्वरवादी है। डा० उर्मिला चतुर्वेदी ने सांख्यदर्शन और विज्ञानभिक्षु नामक शोधप्रबंध में विज्ञानभिक्षु का पक्ष लेते हुए सांख्य को ईश्वरवादी सिद्ध किया है। वस्तुतः सांख्यदर्शन के विकासक्रम को देखने से उसके तीन रूप दृष्टिगोचर होते हैं।

(१) उपनिषदों[१६], महाभारत[१७], गीता[१८] और पुराणों में प्रतिपादित सांख्य दर्शन।

(२) कपिलमुनि, वार्षगण्य[१९], अनिरुद्ध[२०], ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका और उसके टीकाकारों का सांख्यदर्शन।

(३) परवर्ती सांख्यदर्शन जिसका प्रतिनिधित्व विज्ञानभिक्षु करते हैं।

जब हम कपिल के सांख्यदर्शन से जैनदर्शन की तुलना करते हैं तो देखते हैं कि दोनों में बहुत साम्य है। दोनो में कहीं भी सर्वशक्तिसम्पन्न अनादि ईश्वर की आवश्यकता नहीं अनुभव की गई है परवर्ती काल मे जिस प्रकार सांख्यदर्शन मे ईश्वरकर्तृत्व का समावेश हुआ है उस प्रकार जैनदर्शन में नहीं हुआ है। यद्यपि जैनदर्शन में ईश्वरोपासना मिलती है परन्तु जैनदर्शन का ईश्वर कोई अनादिमुक्त पुरुषविशेष नही है अपितु सभी पुरुष (आत्मा) परमात्मा रूप हैं, उनमें से जो जीवन्मुक्त[२१] (अर्हत् या तीर्थंकर) और विदेहमुक्त[२२] (सिद्ध) है उन्ही को ईश्वररूप से उपासना की जाती है। जैनों के ये मुक्तपुरुष या ईश्वर उपासक पर न कृपा करते हैं और न निन्दक पर क्रोध। उपासना के द्वारा भक्त अपने आत्म परिणामों की निर्मलता से यश आदि को प्राप्त करता है। वस्तुतः जैनो के मुक्त तो सांख्यदर्शन की तरह साक्षी एवं तटस्थ हैं। वह शुद्ध चैतन्यरूप और साक्षी होने के साथ-साथ सर्वज्ञ, अनन्तशक्ति तथा अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द से भी सहित है जो सांख्यदर्शन के मुक्तपुरुष में नहीं है। ऐसे मुक्तात्माओं में ईश्वरत्व का आरोप निराधार नही है। यद्यपि निश्चय नय से ईश्वरकृपा नहीं है फिर भी व्यवहार से उसकी कृपा का उल्लेख मिलता है[२३]। वस्तुतः फल-प्राप्ति कर्मानुसार ही मानी जाती है। जैनदर्शन का कर्म-सिद्धान्त इतना व्यवस्थित है कि उसके रहते सृष्टिकर्ता ईश्वर की आवश्यकता नही अनुभव मे आती। इसके अतिरिक्त धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य के रहते ईश्वर को कोई कार्य नही बचता जिसके लिए सृष्टिकर्ता ईश्वर माना जाए। द्रव्य का स्वरूप उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक होने से भी किसी प्रेरक ईश्वर की आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार सांख्यदर्शन में भी प्रकृति को स्वरूपतः सत्व, रजस् और तमस् (आवरक) रूप[२४] मानने से ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं है। सत्व, रजस् और तमस् ये तीन गुण प्रकृतिरूप है, भिन्न नहीं। कर्मों से सर्वथा अस्पृष्ट सर्वदृष्टा ईश्वर कथमपि सम्भव नहीं है जैसा कि आप्तपरीक्षा मे कहा है—

नास्पृष्टः कर्मभिः शश्वद् विश्वदृश्वास्ति कश्चन।
तस्यानुपायसिद्धस्य सर्वथाऽनुपपत्तितः ॥८॥

इस तरह हम देखते हैं कि अर्हत् पद अथवा सिद्धपद (जीवन्मुक्त या विदेहमुक्त) को प्राप्त जीव ही जैनदर्शन मे ईश्वर है। यद्यपि प्रत्येक जीव मे यह ईश्वरत्व शक्ति है परन्तु अनादिकाल से कर्मबन्ध के कारण वह शक्ति ढकी हुई है। इस तरह पुरुषविशेष ईश्वर तो है परन्तु वह कभी बन्धन मे नही था ऐसा जैनदर्शन को स्वीकार्य नहीं है। किञ्च, वह पुरुषविशेष जिसने कर्मबन्धनों को नष्ट करके अनन्तचतुष्टय (अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्त आनन्द और अनन्त शक्ति) को प्राप्त किया है, ईश्वर तो है, परन्तु आप्तकाम और वीतरागी होने से सृष्टि के किसी भी कार्य में रुचि नही लेता है। इस दृष्टि से वह कथंचित् सांख्यों के मुक्तो की तरह साक्षी दृष्टा मात्र है। अनन्तज्ञान, अनन्त आनन्द आदि मानने से कथंचित् वेदान्त के ईश्वर तुल्य है। जैन ग्रन्थों में सांख्यदर्शन के ईश्वर का जो खण्डन मिलता है वह योगदर्शन की दृष्टि से है क्योकि सांख्यदर्शन मूलतः अनीश्वरवादी है। जैनदर्शन मे ईश्वरत्व अथवा महानता का द्योतन भौतिक ऐश्वर्यों से नहीं किया गया है क्योंकि वह ऐश्वर्य अन्यो के भी सम्भव है। उनकी ईश्वरता का मापदण्ड कर्ममल से रहित आत्मा की शुद्ध

परिणति है। जैसा कि आप्तमीमांसा में आचार्य समन्तभद्र ने कहा है—

देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः।
मायाविष्वपि दृष्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ।,१।।

दोषावरणयोर्हानिनिः शेषास्त्यतिशायनात्।
क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ।।४।।

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी

सन्दर्भ-सूची

१. अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं नरकमेव ।।
—उद्धृत, गौडपाद टीका ६१
आप्तपरीक्षा टीका पद्य २३, स्याद्वादमंजरी, पृ० ४१३—४१७.

२. क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष. ईश्वरः।
—योगसूत्र, १, २४.

३. सां० का० ५७.

४. तत्त्वार्थसूत्र, ५, १-३, ३६ तथा ५, १७-२२.

५. उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्। तत्वार्थसूत्र ५, ३०.

६. बालगंगाधरतिलककृत कारिका—
कारणमीश्वरमेके ब्रुवते काल परे स्वभाव वा।
कथं निर्गुणतो व्यक्तः कालः स्वभावश्च ।।
सांख्यकारिका मे मूलतः उपलब्ध कारिका—
प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति।
या दृष्टाऽस्मीति पुनर्नदर्शनमुपैति पुरुषस्य ।।
—सां० का०, ६१.

७ तस्माद्युक्तमेतत्पुरुषविमोक्षार्था प्रकृतेः प्रवृत्तिर्न चैतन्यप्रसग इति। युक्ति० ५७.

८. अत्र साख्याचार्या आहुः—निर्गुण ईश्वरः सगुणानां लोकानां तस्मादुत्पत्तिरयुक्तेति। गौड० ६१.

९. सांख्यतत्त्वकौमुदी, ५७.

१० यदीश्वरसिद्धौ प्रमाणमस्ति, तदा तत्प्रत्यक्षचिन्ता उपपद्यते। तदेव तु नास्ति। अनि०, १/६२ तथा ५/१०-११.

११. अनि०, १/६२.

१२. नारायणः कपिलमूर्तिः। सां०प्र०भा०, मंगलाचरण २.

१३. दीयतां मोक्षदो वह्निः। वही ६.

१४. न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० १११-११४.

१५. श्वेताश्वतरोपनिषद्, १/६.

१६. महाभारत, १२/३०६/३६.

१७. मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
—गीता, ९/१०.
अह कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा। गीता ७/६.

१८. ब्रह्मपुराण, १/३३, विष्णुपुराण, १/२/२६.

१९. तथा च वार्षगणाः पठन्ति प्रधानप्रवृत्तिप्रत्यया पुरुषेणापरिगृह्यमाणादिसर्गे वर्तते। युक्ति० १९.

२०. पूर्वसिद्धमीश्वरासत्वम्। अनि०, ५/२.
यदीश्वरसिद्धौ प्रमाणमस्ति, तदा तत्प्रत्यक्षचिन्ता उपपद्यते। तदेव तु नास्ति। अनि०, १/९२.

२१. सांख्यकारिका, ५७ तथा उसकी टीकायें।

२२. केवलणाणदिवायर-किरणकलाउप्पणासिण्णाणो।
णवकेवलद्धुग्गमसुजणिय परमप्पववएसो ।।
—गो० जीव० ६३.
असहायणाणदंसणसहिओ इदि केवली हु जोगेण।
जुत्तोति सजोगिजिणो अणाइणिहणारिसे उत्तो ।।
—गो० जीव० ६४.

२३. अट्ठविहकम्मवियला सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा।
अट्ठगुणा किदकिच्चा लोयग्गणिवासिणो सिद्धा ।।
—गो० जीव०, ६८.

२४. सिद्धि मे दिसंतु। तीर्थङ्करभक्ति ८, तित्थयरा मे पसीयन्तु ।। तीर्थं०, भक्ति ६.

२५. सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलञ्च रजः।
गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ।।
—सां० का०, १३.

नागदेव जैन मन्दिर नगपुरा

□ श्री नरेश कुमार पाठक

मध्यप्रदेश के दुर्ग जिले में राजनांदगांव मार्ग पर शिवनाथ नदी के दूसरे तट पर १६ कि०मी० की दूरी पर नगपुरा ग्राम स्थित है। गांव के बीच एक नवीन कमरा नुमा मढिया बनी है, जिसमे बीच में पीपल के पेड़ का चबूतरा बना है, उसमें कुछ प्रतिमा स्थापित है, जिसकी स्थानीय लोगों द्वारा पूजा की जाती है। इस मन्दिर में सबसे अच्छी हालत में सुन्दर प्रतिमा तेइसवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ की है, पुरातत्वविद श्री वेदप्रकाश नगायच का मत है, कि सम्भवतः इसके ऊपर नागफण होने के कारण ही ग्रामवासी इसे नागदेव मन्दिर कहते हैं[1]। यह भी सम्भव है कि इस प्रतिमा के कारण ग्राम का नाम भी नगपुरा हुआ है। दुर्ग जिला गजेटियर मे इसे कलचुरि कालीन जैन मन्दिर लिखा है[2]। मन्दिर मे प्राप्त पुराव-शेषो से स्पष्ट होता है कि, यहां एक जैन मन्दिर रहा होगा। मन्दिर ध्वस्त हो जाने के बाद मे श्रद्धालुओं ने इसी के ऊपर नवीन मन्दिर का निर्माण करवा दिया। यहां मन्दिर के दोनो द्वार शाखा रखी है। जिन पर नदी देवियो का अकन किया गया है। देवी एक हाथ में कलश लिए हुए है एवं मुकुट, चक्र, कुण्डल, हार, केयूर, बलय, मेखला व नूपुर पहने हुए है। नदी देवी के पार्श्व मे एक पुरुष प्रतिमा खड़ी है। नदी देवियों के अतिरिक्त चतुर्मुखी आसनस्थ गणेश, सर्प फण युक्त नाग प्रतिमा पैर युक्त प्रतिमा पादपीठ रखे हुए है। यहां पर जैन प्रतिमाओ की सख्या अधिक है जिसका विवरण निम्नानुसार है :—

पार्श्वनाथ—तेइसवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ पद्मासन मे शेष आसन पर ध्यानस्थ बैठे हैं। अर्ध उन्मीलित नेत्र, सिर पर कुन्तलित केश, लम्बे कर्णचाप, कंधे तक फैली हुई जटाये हैं। वक्ष पर श्रीवत्स चिह्न का सानुपातिक अंकन हुआ है। पादपीठ से सर्प का घुमावदार अकन तीर्थङ्कर के पीछे होता हुआ सिर के ऊपर सप्तफण की मौलि बनी हुई है। वितान में विद्याधर गन्धर्व, अभिषेक करते हुए गणराज, त्रिछत्र, दुन्दुभिक का अंकन है। दोनों हाथ की हथेलियां एक-दूसरे पर रखी है और पैर के तलुओं से टिकी हुई हैं। ध्यान में लीन इस प्रतिमा का काल लगभग ७वीं-८वीं शती ई० प्रतीत होता है। सम्पूर्ण प्रतिमा काफी आकर्षक एवं मांसलता लिए है[3], प्रतिमा का आकार ८० × ६० × ३० से०मी० है।

तीर्थङ्कर—यहां से दो लांछन विहीन तीर्थङ्कर प्रतिमा प्राप्त हुई हैं। प्रथम प्रतिमा तीर्थङ्कर प्रतिमा का अर्धभाग जिसमें तीर्थङ्कर कुन्तलित केश, लम्बे कर्णचाप से अलंकृत है। बितान मे त्रिछत्र, दुन्दभिक अभिषेक करते हुए गजराज, ऊपर पद्मासन में तीर्थङ्कर प्रतिमा बैठी हुई है। जिनके ऊपर मालाधारी विद्याधर एव पीछे प्रभामंडल है। दोनों पार्श्व मे एक-एक कायोत्सर्ग मुद्रा में जिन प्रतिमा का अकन है। प्रतिमा का आकार ४२ × ३० × ७ से.मी. है। दूसरी तीर्थङ्कर प्रतिमा पर दो पद्मासन मे तीर्थङ्कर बैठे हुए अंकित है। प्रतिमा का आकार ४० × २५ × १५ से०मी० है। कालक्रम की दृष्टि से दोनों प्रतिमा ७वीं-८वी शती ई० की प्रतीत होती है।

तीर्थङ्कर प्रतिमा वितान—यहां से दो तीर्थङ्कर प्रतिमा वितान प्राप्त हुए हैं। प्रथम प्रतिमा तीर्थङ्कर प्रतिमा का वितान है, जिस पर छत्र, गणराज, विद्याधर युगल, प्रभामण्डल, आंशिक रूप से सुरक्षित है। ऊपर स्तम्भ युक्त गवाक्ष के अन्दर तीन पद्मासन मे तीन पद्मासन मे तीर्थङ्कर प्रतिमा बैठी है। मध्य के तीर्थङ्कर के नीचे पाच कायोत्सर्ग मे जिन प्रतिमा खड़ी हैं। दायें ओर के तीर्थङ्कर के नीचे दो पद्मासन मे एव चार कायोत्सर्ग में जिन प्रतिमा अकित है। बांयी ओर तीर्थङ्कर प्रतिमा के नीचे एक पद्मासन मे एवं दो कायोत्सर्ग में तीर्थङ्कर प्रतिमा

(शेष पृ० १८ पर)

आचार्य कुन्दकुन्द और जैन दार्शनिक प्रमाण व्यवस्था

□ डॉ० कमलेश जैन, वाराणसी

ज्ञान एवं प्रमाणविषयक चिन्तन भारतीय दर्शनों का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय है। भारतीय दार्शनिक इतिहास को देखने से स्पष्ट होता है कि ज्ञान और प्रमाणमीमांसीय चिन्तन उत्तरोत्तर विकसित हुआ है। प्रारम्भ में ज्ञान मीमांसा पर ही अधिक बल दिया गया और ज्ञान सम्यक् (प्रमाण) है या मिथ्या (अप्रमाण), इसके निर्णय पर विस्तार से विचार किया गया। परन्तु तार्किक शैली के विकास के साथ ज्ञान। (प्रमाणविषयक) चिन्तन तार्किक पद्धति पर किया जाने लगा। इस प्रकार ज्ञानमीमांसा का क्रमश: विकास हुआ जो कि तार्किक युग में प्रमाणमीमांसा का प्रमुख आधार बना।

आचार्य कुन्दकुन्द रचित साहित्य में प्रमाणविषयक विवेचन नहीं है। 'प्रमाण' शब्द का प्रयोग कुन्दकुन्द के साहित्य में मात्र पांच स्थलों पर भिन्न-भिन्न प्रसगो मे हुआ है, परन्तु उन पांच स्थलों मे प्रयुक्त प्रमाण शब्द कही भी प्रमाणमीमांसीय सन्दर्भ से सम्बद्ध नहीं है, अपितु पांचों स्थानों पर प्रमाण का अर्थ परिमाण (परिमाप या समानता) से है। समयसार गाथा ४, प्रवचनसार गाथा १/२३-२४, मोक्षप्राभृत गाथा ६६।

कुन्दकुन्द के प्राय: सभी ग्रन्थों में ज्ञानसामान्य की चर्चा की गयी है। और आभिनिबोधिक/मत, श्रुति आदि के भेद से ज्ञान की पांच अवस्थाओ का विवेचन है। उनके प्रवचनसार में ज्ञानाधिकार नाम से एक स्वतंत्र अधिकार भी लिखा है। यहां पर ज्ञान का प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में विभाजन है। इस विभाजन का आधार लोक व्यवहार एवं जैनेतर धार्मिक-दार्शनिक परम्पराओं से सर्वथा भिन्न है। यह आधार है—आत्मसापेक्षता। जो ज्ञान अतीन्द्रिय एव आत्मसापेक्ष है, वह प्रत्यक्ष है। और जिस ज्ञान में इन्द्रिय, मन आदि की सहायता अपेक्षित होती है, वह परोक्ष है। यहाँ पर दोनो का अन्तर समझना आवश्यक है—

प्रत्यक्ष ज्ञान—यहाँ पर 'अक्ष' शब्द का अर्थ है—'आत्मा/अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा।'—सर्वार्थसिद्धि १/१२। केवलज्ञान आत्मा की योग्यता से प्रकट होता है। यह ज्ञान अतीन्द्रिय, आत्ममात्रसापेक्ष और स्वावलम्बी है। इसके प्रकट होने पर दूसरे किसी ज्ञान की स्थिति नहीं रहती, अत: अकेला रहने से 'केवल' कहलाता है। इसके होने में इन्द्रियादिक परद्रव्यों की सहायता

(पृ० १७ का शेषांश)

बैठी हैं, प्रतिमा का आकार ३४ × ३२ × ७ से०मी० है। द्वितीय प्रतिमा तीर्थङ्कर प्रतिमा वितान का बायां भाग है, इस पर स्तम्भ युक्त गवाक्ष के अन्दर पद्मासन में तीर्थंकर बैठे हैं। तीर्थङ्कर के बायें ओर एक पद्मासन में एवं दो कायोत्सर्ग में जिन प्रतिमा बैठी हैं। इसके अतिरिक्त इस खण्ड पर विभिन्न प्रकार की लता वल्लरियों का आलेखन है। प्रतिमा का आकार ३२ × ३३ × २० से० मी० है। तिथिक्रम की दृष्टि से दोनों प्रतिमा ७वीं-८वी शती ई० की प्रतीत होती है।

यद्यपि यह मन्दिर अपने प्राचीन अस्तित्व मे नही है, परन्तु यह दुर्ग जिले के जैन कला के विकास मे अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। —पुरातत्व संग्रहालय रायपुर (म०प्र०)

---

१. नगायच वेदप्रकाश 'नागदेव मन्दिर' नगपुरा का निरीक्षण प्रतिवेदन दिनांक १४-१०-८७.

२. दुर्ग डिस्ट्रिक गजेटियर पृ० १८२ एवं शर्मा राजकुमार 'मध्य प्रदेश के पुरातत्व का संदर्भ ग्रथ' भोपाल १९७४ पृ० २८३ क्रमांक १२३४.

३. शर्मा सीताराम 'भोरमदेव क्षेत्र पश्चिम-दक्षिण कोसल की कला' अजमेर १९९० पृ. १६२-१६३.

आवश्यक नहीं होती। अतः आत्मा की स्वशक्ति के आधार से प्रकट होने से, यह ज्ञान प्रत्यक्ष माना गया है। परमार्थतः जैनदर्शन में यही प्रत्यक्षज्ञान है —

—जदि केवलेण णाद हवदि हि जीवेण पच्चक्ख ॥
प्रवचनसार, गाथा १/५८.

परोक्ष ज्ञान—प्रकृत में अक्ष का अर्थ है—चक्षु। उपलक्षण से यहां पर चक्षु, कर्ण आदि पांचों इन्द्रियों तथा अनिन्द्रिय मन का ग्रहण होता है। चक्षु आदि इन्द्रियां परद्रव्य हैं, ये आत्मा का स्वभाव नहीं हैं। अतः परद्रव्यो—इन्द्रियादिक की सहायता से उत्पन्न होने वाला पदार्थों का विशेषज्ञान, परजनित होने से पराधीन है, इसलिए परोक्ष है। यह इन्द्रियों के द्वारा उत्पन्न ज्ञान पौद्गलिक इन्द्रियों द्वारा होता है, उनके आधीन होकर पदार्थ को जानता है, इन्द्रियां पराधीन हैं, अतः यह ज्ञान भी परोक्ष है, क्योंकि पराधीन ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। कहा भी गया है—

परदव्वं ते अक्खा णेव सहावो त्ति अप्पणो भणिदा।
उवलद्ध तेहि कध पच्चक्खं अप्पणो होदि ॥
ज परदो विण्णाणं तं तु परोक्ख त्ति भणिदमट्ठेसु।
—प्रवचनसार, गाथा १/५७-५८

ज्ञान जीव का निज गुण है, और गुण गुणी से पृथक् नही रह सकता। कर्मबन्ध से पूर्णतया मुक्त एव शुद्ध स्वरूप को प्राप्त जीव को यह ज्ञान गुण पूर्णरूप से प्रकट हो जाता है। ज्ञान स्वसवेद्य तथा स्व-पर प्रकाशक भी है, इसलिए वह ज्ञाता और ज्ञेय दोनों है। ससारी अवस्था मे कर्मबद्ध जीव के ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से ज्ञान का आवरण जैसे-जैसे कम होता है, वैसे-वैसे ज्ञान का क्रमिक विकास होता जाता है।

जैनपरम्परा ज्ञान को ही प्रमाण मानती है, परन्तु यहां यह विशेष ध्यानदेन योग्य है कि आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार ज्ञान की प्रमाणता (सत्यता-सम्यक्त्व) और अप्रमाणता (असत्यता-मिथ्यात्व) बाह्य पदार्थों को यथार्थ जानने अथवा अयथार्थ जानने पर आधारित नहीं है, अपितु जो ज्ञान आत्म-सशोधन मे कारण हैं, और अन्ततः मोक्षमार्ग मे उपयोगी—सहायक सिद्ध होते हैं, वे ज्ञान प्रमाण (सम्यक्) हैं। एव जो ज्ञान मोक्षमार्ग में अनुपयोगी हैं, वे अप्रमाण्य (मिथ्या) हैं—

आभिणिसुदोधिमणकेवलाणि णाणाणि पंचभेयाणि।
कुमदिसुदविभंगाणि य तिण्णि वि णाणेहिं संजुत्ते ॥
—पंचास्तिकाय, गाथ ४१

अतएक सम्यग्दृष्टि के सभी ज्ञान सम्यक् (प्रमाण) और मिथ्यादृष्टि के समस्त ज्ञान मिथ्या (अप्रमाण) कहे गये। आचार्य समन्तभद्र ने भी तत्वज्ञान (केवलज्ञान) को ही प्रमाण कहा है, क्योंकि वह एक साथ सबका ज्ञान कराने वाला होता है—

तत्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम्।
क्रमभावी च यज्ज्ञान स्याद्वादनयसस्कृतम् ॥
—आप्तमीमांसा, कारिका १०१

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि लोकव्यवहार मे जिसे प्रत्यक्षज्ञान कहा जाता है। अथवा, जैनेतर न्याय-वैशेषिकादि दार्शनिक परम्पराओ मे जिन इन्द्रियजन्य ज्ञानो को प्रत्यक्ष माना गया, वे सभी ज्ञान कुन्दकुन्द तक जैन परपरा मे—परोक्षज्ञान के ही अन्तर्गत थे। मूलतः यही प्राचीन आगम सरम्परा है, परन्तु बाद में इसका क्रमशः विकास हुआ है। प्रमाण-न्याय युग मे जैनदार्शनिको मे भी प्रमाण-मीमासा के अनुरूप अनेक नये शब्दो को समाहित किया है।

इससे यह भी स्पष्ट होता है कि प्रमाणयुग मे उपर्युक्त प्रत्यक्ष ओर परोक्ष ज्ञानो को ही प्रमाण माना गया। तत्त्वार्थसूत्रकार ने मति, श्रुत आदि ज्ञान के पाँच भेदों का विवेचन किया ओर उन्ही पाच को प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप दो प्रमाणों के नाम से विभक्त किया। यही से जैन परम्परा मे ज्ञानमीमासा का प्रमाणमीमांसीय विवेचन प्रारम्भ हुआ है। परन्तु, यहा पर भी ज्ञान की प्रमाणता (सत्यता) ओर अप्रमाणता (असत्यता) का आधार पूर्ववत् रहा। लौकिक प्रत्यक्ष को परोक्ष मानने की परम्परा भी पहले की तरह स्थिर रही।

इस प्रकार कुन्दकुन्द ने जो ज्ञान का प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप मे विभाजन किया था, उसे ही बाद में एक नयी व्यवस्था दी गयी, और उसे प्रमाणरूप से विवेचित किया गया। (शेष पृ० २३ पर)

"कसायपाहुड़ सुत्त" [सम्पादक—पं० हीरालाल सि० शास्त्री]

—शुद्धि-पत्र—

निर्माता—ब्र० स्व० रतनचन्द एवं पं० नेमिचन्द मुख्तार, सहारनपुर

प्रेषक—जवाहरलाल जैन/मोतीलाल जैन, भीण्डर

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१८	२०	द्रव्यप्रेयनिक्षेप	द्रव्यप्रेयनिक्षेप
१६	२७	उपाघात	उपघात
३८	७	जिस प्रकार	विशेषार्थ—जिस प्रकार
४४	२५	जीव अल्प हैं। इसी क्रम से	जीव अल्प है और रागभाव के धारक उनसे विशेषाधिक है। इसी क्रम से [देखो ज.ध. १।३५८-५६]
५३	३०	हो जाने पश्चात्	हो जाने के पश्चात्
७४	१८	नाकषायों के	नो कषायो के
७८	२	उवड्ढपोग्गलपरियट्ट।	उवड्ढपोग्गलपरियट्टं।
७८	४	आदि-सान्त	सादि-सान्त
८१	१८	गया है,	है,
८१	२३	स्थितिबन्ध का	स्थिति सत्त्व का
८३	१२	अनुत्कृष्ट बन्धप्ररूपणा	अनुत्कृष्ट विभक्ति प्ररूपणा
८३	१८	अजघन्य बन्धप्ररूपणा	अजघन्यविभक्ति प्ररूपणा
८४	३	बन्ध प्ररूपणा	विभक्ति प्ररूपणा
८४	१६	बन्ध-काल प्ररूपणा	विभक्तिकालप्ररूपणा
८५	१०	होती है अजघन्यबन्ध	होती है और जघन्यस्थितिबन्ध नवमगुणस्थान के अन्तसमय में होता है। अजघन्यबन्ध
८५	१२	स्थितिबन्ध के	स्थितिविभक्ति के
८७	१	स्थिति के बन्धक	स्थितिविभक्ति वाले [देखो ज. ध. ३।५६-६०]
८८	१२	स्थिति बन्ध का	स्थिति विभक्ति का
८८	१६	बन्धकाल	विभक्तिकाल
१०३	१६	उत्कृष्ट बन्ध	उत्कृष्ट विभक्ति
११२	७	स्थितिबन्ध वाले	स्थिति विभक्ति वाले
१५६	२४	शैल समना	शैल समान
१५७	१६	दारुस्थनीय	दारुस्थानीय
१६६	१२	अर्थपद उसे	उसे अर्थपद
१८३	१२	इन	इस
१८८	२७	सुत्ताण्ण ज्जहा	सुत्ताण जहा
१६२	१४	अनुपाल कर	अनुपालन कर

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२१४	२३	उदहरण	उदाहरण
२२७	३०	निगादिया	निगोदिया
२३१	३३	उत्कष्ट	उत्कृष्ट
२४६	१६	'कदि'	'कदि
२४८	८	चूाण-सूत्र	चूर्णिसूत्र
२५२	६	अंकमो	असंकमो
२५६	१६	सम्यग्मिथ्यात्व से	सम्यग्मिथ्यात्व के
२५६	२६	सबके कम	सबसे कम
२८४	२७	बन्धस्थानों मे	बन्धस्थान मे
२६३	३	सेससु	सेसेसु
३१३	१५	प्रमाण एक समय	प्रमाण तो वही रहता है, किन्तु अतिस्थापना के प्रमाण मे एक समय
३१८	१०	अवर्तित	अपवर्तित
३३३	२०	संकमों	सक्रमो
३३४	१६	समय	समान
३४२	५	संकासया	संकामया
३५६	१३	अनुभाग संक्रमण का जघन्य अन्तर कहते है ॥२२३॥	जघन्य अनुभाग संक्रमण का अन्तर कहते हैं ॥१२३॥
३६१	१८	जब	अब
३७१	३	जहण्णाणुमाग	जहण्णाणुभाग
३७४	४	होइ ?	को होइ ?
४१५	१२	सम्मत्त	सम्मत्तस्स
४३५	१५	अन्तरकाल	अनन्तकाल
४४८	६	वड्ढिपूण	वड्ढिदूण
४५८	२३	सक्रस	संक्रम
४७१	२४	उदारणा	उदीरणा
४८२	२०	कहा गया है	कहा गया है)
४६३	१२	मरकर तेतीस	मरकर एक समय कम तेतीस
५५७	२	या	य
५५७	२६	वर्गगाए	वर्गणाए
५७०	१०	असंख्यात होते हैं। विवक्षित	असख्यात होते हैं। क्रोध के असख्यात अतिरिक्त अपकर्ष हो जाने पर एक बार मान अपकर्ष अधिक होता है। लोभ, माया, क्रोध व मान से उपयोग होने के पश्चात् लोभ से उपयुक्त होता है। फिर माया से उपयुक्त न होकर पुनः लौटकर मान से उपयुक्त होता है। फिर लोभ का उल्लघन कर माया से उपयुक्त होता है। विवक्षित

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५९२	२७	॥ २८७-२८८ ॥	॥ २८७-२८९ ॥
५९५	४	सेढाओ	सेढोओ
६००	१७	द्वारा द्वारा	द्वारा
६०२	३	संधीदा	संधीदो
६०३	४	कहकम्मं	कोहकम्मं
६१४	५	जागे	जोगे
६१५	१०	उपशमम	उपशम
६३२	१७	सुत्त	सुप्त
६३५	१२	प्रथमोपशम सम्यक्त्व को	सम्यक्त्व को [यहां अनुवाद मे अनुवाद-कर्त्ता की बड़ी भूल हुई है।]
६३५	२७	प्रथमोपशम सम्यक्त्व	सम्यक्त्व

नोट—गाथा १०५ [पृ. १३५-३६] का अर्थ व विशेषार्थ गलत है। [देखो ज, ध. पु. १२ पृ. ३१७-१८]

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६७४	२४	वहां	यहाँ
७०३	१४	ऐसे	सेसे
७०९	१४	वह	यह
७२९	६	चढमाणस्स	माएास्स
७४२	२३	कोटिशतसहस्र	कोटि पृथक्त्व शतसहस्र
७४३	२८	पल्योपम के	जघन्य के
७५२	२०	और संज्वलन की	और क्रोध संज्वलन की
७६१	३२	चार	तीन
७६४	१	मूलणाहाए	मूलगाहाए
७६६	१०	यह पांचवीं भाषा गाथा	यह गाथा
७६६	१३	अथवा उससे पूर्व संसारावस्था मे वर्तमान	× × × × × ×
७६६	२५-२८	यहां पर पठित 'वा' शब्द समुच्चयार्थक ················गया है। अतएव	× × × × × ×
७६७	१७	भी बध्यमान	बध्यमान
७६८	२१	॥१४३॥	॥१४२॥
७८८	३१	अणिनन्तगुत	अनन्तगुणित
७९०	२९	स्पर्धकवर्गणा	स्पर्धक की आदिवर्गणा
७९७	२४	पूव	पूर्व
८००	२६	के अन्तर	के कृष्टि अन्तर
८०७	२७	समम से	समय से
८२०	१८	वेककाल	वेदक काल
८३८	३	९६४	९६५

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८४३	२७	यवमध्यपप्ररूपणा	यवमध्यप्ररूपणा
८५०	८	वेगस्स	वेदगस्स
८५५	६	अंतोमुहुत्तणा	अंतोमुहुत्तूणा
८५६	२३	प्रथम कृष्टि को	प्रथम संग्रह कृष्टि को
८९२	६	माण	मायं
८९६	६	बधगियराणं	बंधगियराणं ३
९००	१	पच्छिमक्खघो	पच्छिमक्खंधो

नोट :—(i) पृष्ठ ७६७ पर लिखित विशेषार्थ के अन्तर्गत निम्न ११ पंक्तियां पुन: देख लें—"समस्थिति में प्रवर्तमान पर प्रकृतिरूप सक्रमण··········· · · (दृष्टान्त दिया। इसी प्रकार"

नोट :—(ii) पृष्ठ ३९८ पर पक्ति १८-१९ मे "पश्चात् नियम से गिरता है और मिथ्यात्वी हो जाता है।" इस वाक्य का भी इस प्रकार सुधार करना चाहिए—:पश्चात् वेदक सम्यक्त्वी, सम्यग्मिथ्यात्वी हो अथवा मिथ्यात्वी हो जाता है। [कारण देखो—गा. १०३ पृ. ६३४-३५ तथा इसकी जयध. टीका]

(पृ० १९ का शेषांश)

इसके बाद तार्किक पद्धति से विकसित होने पर प्रत्यक्ष की उपर्युक्त परिभाषा मे भी परिवर्तन किये गये। लोकव्यवहार तथा जैनेतर धार्मिक-दार्शनिक परम्पराओं से सामञ्जस्य बैठाने के लिए आचार्य अकलङ्क, जिनभद्र आदि दार्शनिकों ने प्रत्यक्ष के पुन: दो भेद किए—१. सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष और २. पारमार्थिक प्रत्यक्ष। और दूसरा इन्द्रियजन्य ज्ञान को परोक्ष से प्रत्यक्ष मे स्थापित किया। परन्तु पारमार्थिक और सांव्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष मे व्याप्त प्रत्यक्षलक्षण विचारणीय रहा? तार्किक युग की चरम अवस्था में विशद और निश्चयात्मक ज्ञान को भी प्रत्यक्ष मान लिया गया।

निष्कर्ष रूप मे कहा जा सकता है कि कुन्दकुन्द मूलत: आध्यात्मिक तथा आगमिक आचार्य हैं, प्रमाणशास्त्रयुगीन या नैयायिक नही। उनके साहित्य मे प्रमाण विषयक चर्चा नहीं है। दूसरे शब्दों में, जैन परम्परा मे आचार्य कुन्दकुन्द तक प्रमाणमीमांसा का प्रवेश नहीं है। कुन्दकुन्द ने आत्ममीमांसा और ज्ञानमीमांसा की विस्तृत एवं सूक्ष्मतम विवेचना की है, जिससे सर्वज्ञता का सिद्धान्त स्थापित हुआ।

उपर्युक्त से यह भी स्पष्ट होता है कि जैन परम्परा मे आरम्भ मे ज्ञानमीमांसा पर अधिक जोर दिया गया। ज्ञान सम्यक् है या मिथ्या, अथवा, ज्ञान प्रमाण है या अप्रमाण, इस विषय पर विस्तार से चिन्तन किया गया, और यही मूल आगमिक परम्परा है।

परन्तु, तार्किक शैली के विकास के साथ-साथ प्रमाणविषयक चिन्तन क्रमश: तर्क पद्धति पर किया जाने लगा। भिन्न-भिन्न दार्शनिक सिद्धान्तो की समीक्षा एवं स्वपक्ष की स्थापना के फलस्वरूप प्रमाणमीमांसा का उत्तरोत्तर विकास भी हुआ। दूसरे शब्दों मे, ज्ञानविषयक प्राचीन चिन्तन की ही प्रमाणमीमांसीय व्याख्या प्रस्तुत की गयी।

—प्राकृत एवं जैनागम विभाग
संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी-२

जैन–मुनिचर्या

□ श्री बाबूलाल जैन, कलकत्ता वाले

सिंह सा पराक्रमी :—अगर पराक्रम सीखना हो तो सिंह से सीखना होगा। सिंह कैसा है ? जिसे किसी सहारे की दरकार नहीं—जिसने सब सहारे छोड़ दिये हैं—बेसहारा, वनों और पहाड़ों में विचरना।

हाथी-सा स्वाभिमानी :—हाथी मे एक स्वाभिमान है, अहंकार नहीं। अपने बल पर भरोसा है परन्तु बल का दिखावा नही।

वृषभ-सा भद्र :—बैल जैसा भद्र परिणामी—कभी झगड़ा नहीं करता, उसका व्यवहार सज्जनोचित है।

मृग-सा सरल :—मृग की आँखो मे झांक कर देखो, सरलता-भरोसा दिखता है, जिसने कभी पाप नही जाना। जिसकी आंखो मे पाप की रेखा ही नहीं है। क्वांरी कन्या जैसा निष्पाप। मृग स्वभाव से ही सरल होता है। उसकी सरलता साधी हुई नही है स्वाभाविक है। सीधा छोटे बच्चा जैसा सरल। जहां न पाखण्ड न मायाचार और न दिखावा—मात्र सहज।

पशु-सा निरीह :—असहाय अवस्था, समस्त उपद्रवों से परे।

वायु-सा निःसंग :—हवा बहती रहती है परन्तु निःसंग - नदियो से गुजरती है, फूलो के ऊपर से गुजरती है परन्तु रुक नही जाती, निःसग भाव।

सूर्य-सा तेजस्वी :—कपट में, पाखंड में ज्योति बुझ जाती है। जैसे ही व्यक्ति सरल होता है, निःसंग होता है, भद्र होता है, निरीह होता है, अकेला होता है, वैसे ही उसके भीतर एक अगाध ज्योति जलने लगती है।

सागर-सा गंभीर :—गहरा गम्भीर जिसकी थाह नही।

मेरु-सा निश्चल :—गाड़ी का चाक घूमता है परन्तु कील थिर रहती है, चाक घूमता है परन्तु कील थिर है। अगर कील भी घूमने लगे तो गाड़ी गिर जायेगी। ऐसे ही जिसने अपने भीतर की कील को, केन्द्र को पहचान लिया है इसलिए बाहर में, भीतर मे परिवर्तन आता है परन्तु वह कील हमेशा मेरु की तरह निश्चल है। साधु भोजन करता है, बोलता है, जन्म लेता है, मरता है, परन्तु वह कील हमेशा निश्चल है, बोलते हुए भी नही बोलता। चलते हुए भी नहीं चलता। सभी दुःख-सुख, प्रीति-अप्रीति सभी चक्के पर है, कील सबसे बाहर है। साधु की सारी चेष्टा यही है कि अपनी कील को, ज्ञायक भाव को पकड़े रहे। ध्यान में, समाधि में यही एक है। जिसने कील का सहारा लिया वह जन्म-मरण, दुःख-सुख सबसे अछूता रह जाता है।

चन्द्रमा-सा शीतल : —चन्द्रमा में ताप नही है मात्र प्रकाश है। साधु का सानिध्य जलाता नही है शीतल करता है। जहाँ जाकर आश्वासन मिले, बल मिले, हिम्मत मिले, आशा बँधे कि मुझे भी मिल सकता है।

मणि-सा कांतिमान :—जैसे किसी मणि को देखकर सम्मोहित हो जाते है—उसी की तरफ देखते रह जाते हैं, नजर वहाँ से हटती ही नही, वैसा।

पृथ्वी-सा सहिष्णु :—कुछ भी हो जाए साधु नही डगमगाता। रोग में, निरोग अवस्था मे, सम्मान मे, अपमान में, जीवन में, मरण मे, हर हालत मे एक समान।

सर्प-सा अनियत-आश्रमी :—सर्प अपना घर नही बनाता। जहाँ जगह मिल गयी वही विश्राम कर लेता है। इसका अर्थ है कि कोई सुरक्षा का उपाय नही करता। भोजन के लिए चौके चलाना, बसें साथ रखना, रुपिया-पैसा रखना, किसी अन्य के पास रखना, यह सब सुरक्षा के साधन नही करता।

आकाश-सा निरावलंब :—कोई सहारा नही, आकाश जैसा बिना आधार, बिना खंभे। दिगम्बर का

(शेष पृ० ३२ पर)

श्री शांतिनाथ चरित सम्बन्धी साहित्य

□ कु० मृदुल कुमारी, बिजनौर

'श्री शान्तिनाथ पुराण' जैन वाङ्मय का अनुपम ग्रंथ है। इस ग्रन्थ मे महाकवि 'असग' ने जैन धर्म के सोलहवे तीर्थंकर भगवान् शान्तिनाथ का चरित्र वर्णित किया है।

भगवान् शान्तिनाथ का चरित्र जैन साहित्यकारों का प्रिय तथा प्रेरक विषय रहा है। दसवी शताब्दी मे महाकवि असग ने 'श्री शान्तिनाथ पुराण' की रचना की। जिसमे भगवान् शान्तिनाथ के पूर्व भवो का विस्तृत वर्णन मिलता है। उनके गर्भ, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान, निर्वाण आदि पञ्चकल्याणको का वर्णन भी मिलता है। इन्होंने आचार्य गुणभद्र के उत्तर पुराण के बासठ-त्रेसठवें पर्व मे उल्लिखित भगवान् शान्तिनाथ के चरित को शान्तिनाथ पुराण के रूप मे प्रस्तुत किया है। इस पुराण मे १६ सर्ग है जिनमे कुल मिलाकर २३५० श्लोक है। इसकी रचना शक सवत् ९१० के लगभग हुई है। शान्तिनाथ पुराण के कवि प्रशस्ति पद्यो से स्पष्ट होता है कि असग ने साधुजनो का प्रकृष्ट मोह शात करने के लिए शान्ति जिनेन्द्र का यह 'शान्तिनाथ पुराण' रचा था[1]।

प्राकृत, सस्कृत, कन्नड, तमिल, मराठी आदि भारतीय भाषाओं मे इस चरित को आधार बनाकर लिखे गये अनेक कवियों के ग्रथ उपलब्ध होते है जिनका सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१. शान्तिनाथ पुराण : कन्नड़ कवि पोन्न—पोन्न कन्नड भाषा के प्रसिद्ध कवि हुए हैं। कवि चक्रवर्ती, उभय चक्रवर्ती, सर्वदेव कवीन्द्र और सौजन्य कुन्दांकुर आदि इनकी उपाधियां थी। इनके गुरु का नाम इन्द्रनदि था। पोन्न तो बाण की बराबरी करते हैं। नयसेन ने अपने धर्मामृत के ३९वें पद्य के निम्न वाक्य 'असगन देसि पोन्नत महोत्तेन तिवेत्त वेडगु' मे असग और पोन्न का नामोल्लेख किया है। पोन्न ने स्वयं शान्तिनाथ पुराण (९५० ई०) में कन्नड़ कविता में अपने को (कन्नड़ कवितेयोल असगम्) वाक्य द्वारा असग के समान होना बतलाया है।

यह महाकवि राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण तृतीय (ई. ९३९-९६८) के दरबारी कवि थे। इनकी रचना का काल ई० सन् ९५० के आसपास का रहा होगा। यह वेगिमण्डलान्तर्गत पुंगनूर के निवासी थे। वेगिमण्डल के पुंगनूर में नागमय्य नाम का एक जैन ब्राह्मण था। मल्लपय्य और पुन्नमय उसके दो पुत्र थे। वाणियवाडि के जिनचन्द्र देव इनके गुरु थे और अपने गुरु के गौरवार्थ विनयपूर्वक इन दोनों भाइयो ने १६वें तीर्थंकर शान्तिनाथ की जीवनी पर आधारित महाकवि पोन्न के द्वारा शान्तिनाथ पुराण की रचना कराई। इसका दूसरा नाम 'पुराण चूड़ामणि' है। मल्लपय्य की एक बेटी थी अत्तिमब्बे। 'दान चिन्तामणि' इस महिला की उपाधि थी। इसकी दानशीलता सर्वत्र विख्यात रही। इस देवी ने महाकवि पोन्न के शान्तिपुराण की एक हजार प्रतियां लिखवाकर रत्न एवं स्वर्ण की जिन प्रतिमाओं के साथ उनका सम्पूर्ण कर्नाटक मे दान किया[1]।

शान्तिनाथ पुराण के प्रारम्भ मे ९वें आश्वास तक तीर्थंकर शान्तिनाथ के ११ पूर्वभवो का वर्णन है। केवल अन्तिम तीन आश्वासो मे शान्तिनाथ का चरित्र प्रतिपादित है। पोन्न की इस शान्तिनाथ पुराण कथा मे और कमलभव (ई. १२३५) के शातिपुराण की कथा मे अनेक स्थलो पर अन्तर दृष्टिगोचर होता है, इसका क्या कारण है? यह स्पष्ट रूप से ज्ञात नही है। शांतिपुराण मे लोकाकार देशानिवेशन, चतुर्गतिस्वरूप आदि जैन पुराण के ८ लक्षणों के साथ महाकाव्यो के ९८ लक्षण भी मौजूद है। जहां तहां विविध रसोत्पत्ति की अनुपम रचनाएँ भी वर्तमान हैं फिर भी यह कहना पड़ेगा कि पप और रत्न की रचनाओ मे उपलब्ध वर्णन-सौंदर्य और पात्र रचना कौशल

पोन्न की कृतियों में नही है। हाँ, पोन्न का बन्ध प्रौढ़ है। वस्तुतः पारिभाषिक शब्द तथा सस्कत भाषा का व्यामोह, इन दोनो ने महाकवि पोन्न की कृतियों की शैली को क्लिष्ट बना दिया है तथापि कविता मे स्वाभाविकता और पांडित्य विद्यमान है। कवि ने इसमे १६ छन्दो का उपयोग किया है। काव्य में चम्पू काव्य के अनुकूल सुप्रसिद्ध अक्षर-वृत्त एवं कन्द अधिक हैं उनमे भी शान्तरसाभिव्यक्ति के सहायक कन्द अत्यधिक है। इस पुराण मे कुल १६३६ पद्य, २ गुष्ठे एव त्रिपादियाँ भी है। इसमे यत्र तत्र सुन्दर कहावतें भी मौजूद है[४]। पोन्न के अनुसार असग कन्नड़ कवियो मे सौ गुने प्रतिभाशाली थे[५]।

२. शान्तिनाथ चरित : शुभकीर्ति - शुभकीर्ति आचार्य का रचनाकाल सवत् १४३६ है। इन्होंने अपनी गुरु परम्परा का उल्लेख नही किया है। प्रस्तुत शांतिनाथ चरित १६ सधियों मे पूर्ण हुआ है। इसकी एक मात्र कृति नागौर के शास्त्र भडार मे सुरक्षित है। इस ग्रथ में जैनियो के १६वें तीर्थंकर भगवान् शातिनाथ का जीवन परिचय अंकित है। भगवान् शांतिनाथ ५वे चक्रवर्ती थे उन्होंने षट्खण्डो को जीतकर चक्रवर्ती पद प्राप्त किया था। अन्त मे अविनाशी पद प्राप्त किया। कवि ने इस ग्रथ को महाकाव्य के रूप मे बनाने का प्रयत्न किया है। काव्य कला की दृष्टि से यह भले ही महाकाव्य न माना जाए, परन्तु ग्रथकर्त्ता की दृष्टि उसे महाकाव्य बनाने की रही है। १५वी शताब्दी के विद्वान कवि शुभकीर्ति ने अत मे ग्रंथ का रचनाकाल स. १४३६ दिया है जो एक पद्य से स्पष्ट होता है[६]।

कवि ने ग्रथ निर्माण मे प्रेरक रूपचन्द्र का परिचय देते हुए कहा है कि वे इक्ष्वाकुवशी कुल मे आशाधर हुए, जो ठक्कुर नाम से प्रसिद्ध थे और जिन शासन के भक्त थे इनके धनवउ ठक्कुर नाम का पुत्र हुआ। उनकी पत्नी का नाम लोनावती था, जिसका शरीर सम्यक्त्व से विभूषित था, उससे रूपचन्द नाम का पुत्र हुआ, जिसने उक्त शातिनाथ चरित का निर्माण कराया। कवि ने प्रत्येक सधि के अत मे रूपचन्द की प्रशसा मे आशीर्वादात्मक अनेक पद्य दिए है[७]।

कवि ने शांतिनाथ चरित के विषय मे लिखा है कि शांतिनाथ का यह चरित वीर जिनेश्वर ने गौतम को कहा, उसे ही जिनसेन और पुष्पदत ने कहा वही मैंने भी कहा है[८]।

३. शान्तिनाथ चरित : कवि महाचन्द्र—कवि महाचन्द्र इल्लराज के पुत्र थे। प्रशस्ति मे काष्ठा संघ माथुरगच्छ पुष्करगण मे भट्टारक यशःकीर्ति और उनके शिष्य गुणभद्र सूरि थे।

कवि की एक मात्र कृति 'शांतिनाथ चरित' है जिसमे १३ संधियाँ अथवा परिच्छेद और २६० कड़वक हैं जिनकी आनुमानिक श्लोक संख्या पांच हजार है। ग्रंथ की प्रथम संधि के १२ कड़वकों में मगध देश के शासक राजा श्रेणिक और रानी चेलना का वर्णन, श्रेणिक का महावीर के समवसरण मे जाना और महावीर को वंदन कर गौतम से धर्म कथा का सुनना।

दूसरी संधि के २१ कड़वकों में विजयार्ध पर्वत का वर्णन, अकलंक कीर्ति की मुक्तिसाधना और विजयांक के उपसर्ग निवारण करने का कथन है। तीसरी सधि के २३ कड़वको मे भगवान् शांतिनाथ की पूर्व भवावली का कथन है। चौथी सधि के २६ कड़वकों मे शांतिनाथ के भवान्तर बलभद्र के जन्म का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। पाचवी संधि के १६ कड़वकों में वज्रायुध चक्रवर्ती का सविस्तार कथन है और छठी संधि के २६ कड़वकों में मेघरथ की सोलह कारण भावनाओं की आराधना और सर्वार्थसिद्धि गमन है।

सातवी संधि के २५ कड़वको मे मुख्यतः भगवान् शांतिनाथ के जन्म-अभिषेक का वर्णन है। आठवीं संधि के २६ कडवको में भगवान शांतिनाथ की कैवल्य प्राप्ति और समवसरण विभूति का विस्तृत वर्णन है। नवी संधि के २६ कड़वको मे भगवान् शातिनाथ की दिव्य ध्वनि एव प्रवचनो का कथन है।

दसवी सधि के २० कड़वकों में त्रेसठ शलाका पुरुषो का चरित सक्षिप्त वर्णित है। ११वी संधि के ३४ कड़वको में भौगोलिक आयामो का वर्णन है। भरत क्षेत्र का ही नही, तीनों लोकों का सामान्य कथन है। १२वी सधि के १८ कड़वकों में भगवान्शांतिनाथ द्वारा वर्णित सदाचार का कथन है। और अन्तिम १३वी सधि के १७ कड़वको मे शांतिनाथ का निर्वाणगमन है।

यद्यपि इस ग्रंथ में कथावस्तु की दृष्टि से कोई नवीनता नहीं है, किन्तु काव्यकला और शिल्प की दृष्टि से रचना महत्वपूर्ण है। ग्रंथ का वर्ण्य विषय पौराणिक है इसी से उसे पौराणिकता के सांचे में ढाला गया है। आलोच्यमान रचना अपभ्रंश के चरित काव्यो की कोटि की है। चरित काव्यों के सभी लक्षण हैं। प्रत्येक संधि के आरभ मे कवि ने अग्रवाल श्रावक साधारण की शांतिनाथ से मंगल कामना की है[९]।

ग्रंथ रचना में प्रेरक जोयणिपुर (दिल्ली) निवासी अग्रवाल कुलभूषण गर्ग गोत्रीय साहू भोजराज के पांच पुत्रो मे से द्वितीय पुत्र ज्ञानचन्द्र का पुत्र साधारण था, जिसकी प्रेरणा से ग्रंथ की रचना की गई है। कवि ने प्रशस्ति मे साधारण के परिवार का विस्तृत परिचय कराया है। उसने हस्तिनापुर की यात्रार्थ संघ चलाया था और निज मन्दिर का निर्माण कराकर उसकी प्रतिष्ठा सम्पन्न कर पुण्यार्जन किया था। ज्ञानचन्द्र की पत्नी का नाम सउराजही था जो अनेक गुणों से विभूषित थी। उससे तीन पुत्र हुए थे। पहला पुत्र सारंग साहु था, जिसने सम्मेद शिखर की यात्रा की थी। उसकी पत्नी का नाम तिलोकाही था। दूसरा पुत्र साधारण बड़ा विद्वान् और गुणी था। उसने शत्रुंजय की यात्रा की, उसकी पत्नी सोवाही थी उससे चार पुत्र हुए थे—अभयचन्द्र, मल्लिदास, जितमल्ल और सोहिल्ल। उनकी चार पत्नियों के नाम चंदणही, भदासही, समदो और भीखणही। ये चारो ही पतिव्रता, साध्वी और धर्मनिष्ठा थी। इस तरह साहू साधारण ने समस्त परिवार के साथ 'शांतिनाथ चरित' का निर्माण कराया[१०]।

कवि ने इस ग्रंथ की रचना वि. सं. १५८७ की कार्तिक कृष्ण पंचमी के दिन मुगल बादशाह बाबर के राज्यकाल मे योगिनीपुर में बनाकर समाप्त की थी[११]।

४. शांतिनाह चरियं : देवचन्द्राचार्य—आचार्य गुणसेन के शिष्य और हेमचन्द्राचार्य के गुरु पूर्णतल्लगच्छीय देवचन्द्राचार्य कृत १६वें तीर्थंकर शांतिनाथ का चरित लिखा गया[१२]।

इसका परिणाम ग्रन्थाग्र १२००० है। इसकी रचना संवत् ११६० में हुई। यह प्राकृत भाषा में गद्य पद्यमय है। बीच-बीच में अपभ्रंश भाषा भी प्रयुक्त हुई है। इसकी रचना खम्भात में की गई। ग्रंथ की प्रस्तावना में कुछ आचार्यों के नामों का उल्लेख है—इन्द्रभूति (कविराज चक्रवर्ती) भद्रबाहु—जिन्होंने वासुदेव चरित लिखा (सवाय लक्खं बहुकहाकलियम्) हरिभद्र समराादित्य कथा के प्रणेता दाक्षिण्यचिह्न सूरि कुवलयमाला के कर्ता तथा सिद्धर्षि उपमितिभवप्रपंचा के कर्ता (यह अब तक अप्रकाशित है)।

इनकी एक कृति 'मूल शुद्धि प्रकरण टीका' है। इसके चौथे और छठे स्थानक मे आने वाले चन्दना कथानक तथा ब्रह्मदत्त कथानक को देखने से ज्ञात होता है कि इनमें आने वाली अधिकांश गाथाएं तथा कतिपय छोटे-बड़े गद्य सन्दर्भ शीलाकाचार्य के 'चउपन्नमहापुरिसचरिय' मे आने वाले 'वसुमइसविहाणय' के अवशिष्ट भागों में से कितना ही भाग अल्पाधिक शाब्दिक परिवर्तन के साथ चउपन्नमहापुरिसचरिय का ही ज्ञात होता है। अनुमान है सांतिनाहचरिय पर भी चउप्पन्न का प्रभाव हो। चूंकि अप्रकाशित होने से कहना कठिन है। शांतिनाथ पर इस विशाल रचना के अतिरिक्त प्राकृत में एक लघु रचना ३३ गाथाओं में भी जिन वल्लभ सूरि रचित तथा अन्य सोमप्रभ सूरि रचित का उल्लेख मिलता है[१३]।

५. शांतिनाथ चरित : दुलीचन्द्र—इसमें १६वें तीर्थंकर शान्तिनाथ का चरित्र वर्णित है[१४]। भगवान् शांतिनाथ तीर्थङ्कर के साथ चक्रवर्ती तथा कामदेव भी थे। इन सभी विशेषताओ का इस काव्य मे वर्णन है। काव्य मे १६ अधिकार हैं तथा ग्रन्थाग्र ४३७५ श्लोक प्रमाण है। इसकी भाषा अलंकारिक तथा वर्णन रोचक एवं प्रभावोत्पादक है। प्रारम्भ में शृंगार रस के साथ-साथ शांत रस की ओर प्रवृत्ति पर कवि ने अच्छा प्रकाश डाला है[१५]।

६. शान्तिनाथ चरित : श्रीधर—११वी-१२वी शताब्दी के आचार्यों में श्रीधर ने सम्भवत: सं० ११८९ मे शांतिनाथ चरित की रचना की[१६]।

७. शांतिनाथ चरित : माणिक्यचन्द्र सूरि—मम्मट कृत काव्य प्रकार के टीकाकार माणिक्यचन्द्र सूरि की दूसरी रचना 'शांतिनाथ चरित है। इसकी एक ताडपत्रीय प्रति मिलती है। इसमे आठ सर्ग हैं। इसकी रचना विस्तार ५५७४ श्लोक प्रमाण है जो कवि ने स्वय

निर्दिष्ट किया है[१७]। इसका आधार हरिभद्र सूरि का समराइच्चकहा माना जाता है।

इसमें वैसे महाकाव्य के सभी बाह्य लक्षण समाविष्ट हैं परन्तु भाषा शैथिल्य सर्वांगीण जीवन के चित्र उपस्थित करने की अक्षमता एवं मार्मिक स्थलों की कमी इसे प्रमुख महाकाव्य मानने में बाधक है। सर्गों के नाम वर्णित घटनाओं के आधार पर रखे गये हैं। सप्तम सर्ग तो जैन धर्म के सिद्धान्तों से ही परिपूर्ण है। काव्य वैराग्य मूलक और शान्तरस पर्यवसायी है। इसका कथानक शिथिल है और इसमे प्रबन्ध रूढ़ियो का पालन हुआ है। मंगलाचरण परमब्रह्म की स्तुति से प्रारम्भ होता है। छठे, सातवें और आठवे सर्ग मे विविध आख्यानों का समावेश है। कई स्थलो पर स्वमतप्रशंसा और परमतखंडन किया है। इस काव्य मे स्तोत्रों और महात्म्य वर्णनों की प्रचुरता भी दिखाई देती है। छठे और आठवें सर्ग में तीर्थंकर शांतिनाथ के स्तोत्र तथा कई तीर्थों के महात्म्य का वर्णन है। इस शातिनाथ चरित का कथानक ठीक वही है जो मुनिभद्र सूरि के शांतिनाथ महाकाव्य का है, परन्तु इसमे कथानक का विभाजन नवीन ढंग से किया गया है। इसमे प्रथम सर्ग मे शांतिनाथ के प्रथम भव, द्वितीय, तृतीय भव का वर्णन है। द्वितीय सर्ग मे चतुर्थ पचम भव, तृतीय सर्ग में षष्ठ और सप्तम भव का, चतुर्थ सर्ग में अष्टम और नवम भव का, पंचम सर्ग मे दशम और एकादश भव का, षष्ठ सर्ग में शांतिनाथ के जन्म, राज्याभिषेक, दीक्षा, केवलोत्पत्ति तथा देशना का वर्णन है सप्तम सर्ग में देशना के अन्र्गत द्वादश भव तथा शील की महिमा का वर्णन है और अष्टम सर्ग में श्री शांतिनाथ का निर्वाण का वर्णन है। कथानक विभाजन की दृष्टि से नहीं अपितु नवीन अवान्तर कथाओं की योजना में भी माणिक्यचन्द्र सूरि ने अपनी मौलिकता प्रदर्शित की है।

इसकी भाषा सरल और प्रसाद गुण युक्त है। अधिकतर इसमें छोटे समासों वाली या समास रहित पदावली का प्रयोग हुआ है। इसमे शब्दालंकार के यमक और अनुप्रास के प्रयोग से भाषा में प्रवाह और माधुर्य आ गया है। अर्थालंकारों में उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक एवं विरोधाभास आदि अलंकार की सुन्दर योजना हुई है। इसमे प्रायः अनुष्टुप छन्द का प्रयोग हुआ है। परन्तु सर्ग के अन्त में छन्द बदल दिया गया है। मालिनी, शार्दूलविक्रीडित आदि कुछ छन्दों का प्रयोग हुआ है। शांतिनाथ चरित की रचना विक्रम की तेरहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध मानने में आपत्ति न होनी चाहिए। अनुमान किया जाता है कि यह कवि की वृद्ध अवस्था होगी क्योंकि इस कृति में कवि अपने पांडित्य प्रदर्शन के प्रति उदासीन है जबकि काव्य प्रकाश संकेत में उनके प्रौढ़ पांडित्य के दर्शन होते हैं[१८]।

८. शान्तिनाथ चरित : ज्ञान सागर—वृहत्तपागच्छ के रत्नसिंह के शिष्य ज्ञान सागर ने संवत् १५१७ में शांतिनाथ चरित की रचना की[१९]।

९. शान्तिनाथ चरित : मुनि भद्र सूरि—मुनिभद्र सूरि के शांतिनाथ चरित महाकाव्य की कथावस्तु का आधार मुनिदेव सूरि का शांतिनाथ चरित है।

मूल कथा के साथ-साथ इसमें अवान्तर कथाओं की भरमार है यथामंगल कुंभ कथानक, धनद, पुत्र कथा, अमरदत्त नृप कथा, वणिक् द्वय कथा, परिवार कथा, अमृताप्रभूपति कथा, स्कन्दिल पुत्र कथा, गुण वर्म कथा, अग्नि शर्मा द्विजकथा, भानुदत्त कथा, माधव कथा आदि। इसमे धनदत्त की कथा ५, ६, ७ सर्ग घेरे हुए है। इस अवान्तर कथाओं के चयन में भी प्रस्तुत काव्य के रचयिता मुनिभद्र ने मुनिदेव का अनुकरण किया है। इस तरह प्रस्तुत काव्य मे जैन धर्म के तत्वो का अनुकरण भी मुनिभद्र ने किया है। इसमें मुनिभद्र ने मौलिक सृजन शक्ति का परिचय नहीं दिया फिर भी यह काव्य अपनी प्रौढ भाषा शैली और उदात्त अभिव्यंजना शक्ति से अपना पृथक् स्थान रखता है।

यह काव्य १९ सर्गों मे विभक्त है। अनुष्टुप मान से रचना परिमाण ६२७२ श्लोक प्रमाण है। भवान्तर तथा अवान्तर कथानकों के प्राचुर्य के साथ इस काव्य में स्तोत्रों और महात्म्यों का समावेश भी अधिक मात्रा में हुआ है। प्रत्येक सर्ग का आरम्भ शांतिनाथ स्तवन से हुआ है और बीच-बीच मे देवताओं और कथानक के पात्रों द्वारा जिनेन्द्र स्तुति, मेघरथ आदि सत्पुरुषों की देवों द्वारा स्तुति की गई है। शत्रुंजय महात्म्य आदि एक दो महात्म्य भी हैं।

इस काव्य में अनेक स्त्री-पुरुष पात्र हैं किन्तु चरित्र की दृष्टि से शांतिनाथ, चक्रायुध, अशनिघोष सुतारा आदि प्रमुख हैं। प्रकृति चित्रण कम है, कहीं-कहीं सक्षेप में प्रातः संध्या, सर, उपवन, ऋतु वर्णन है। सौन्दर्यचित्रण भी है किन्तु परम्परागत उपमानों द्वारा ही मौलिक कल्पनाएँ कवि की सुन्दर हैं। इस काव्य मे सामयिक सामाजिक व्यवस्था सुन्दर है। अपने युग में जन्म, विवाह आदि अवसर पर सामाजिक धार्मिक कार्यों का विवरण देकर कवि ने रीति-रिवाजों पर अच्छा प्रकाश डाला है[२०]।

काव्य कला की दृष्टि से विविध रस हैं। शांत रस प्रधान परन्तु वीर रौद्र, शृंगार वात्सल्य की छटा भी है। काव्य की भाषा में प्रौढ़ता, लालित्य एवं अनेक रूपता के दर्शन होते है। अलंकारो मे यमक कई स्थलों पर प्रयोग मिलता है। अलंकारों में यमक के अतिरिक्त भाषा की सरलता अक्षत है। उपमा, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास की यत्र तत्र स्वाभाविक योजना है।

प्रत्येक सर्ग में एक छन्द तथा अंत में छन्द परिवर्तन है। १४वें सर्ग में विविध छन्दों का प्रयोग है। कुल मिला कर १९ छन्द हैं। उपजाति छन्द सर्वाधिक है[२१]।

कवि ने काव्य पंचक (रघुवंश, कुमार सभव, किरातार्जुनीयम्, शिशुपालवध, नैषध) के समकक्ष जैन साहित्य में काव्य के अभाव की पूर्ति के लिए उक्त काव्य रचना की है। इस काव्य का संशोधन राजशेखर सूरि ने किया था। कवि का रचना काल भी प्रशस्ति मे संवत् १४१० दिया गया है[२२]।

(क्रमशः)

सन्दर्भ-सूची

१. स पुराणमिदं व्यधत्त शान्तेरसग: साधुजन प्रमोह शान्त्यै: ॥
   कवि प्रशस्ति पद्य, श्रीशांतिनाथ पुराण पृ. २५७.
२. श्री परमानंद आचार्य : जैनधर्म का प्राचीन इतिहास, भाग २ पृ २१५-१६.
३. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास (भाग ७), पार्श्वनाथ विद्याश्रम प्रकाशन, पृ. १९.
४. जैन साहित्य का वृसत् इतिहास भाग ७, पृ. १९-२०
५. वही—पृ. १०.
६. आसी विक्रमभूपतेः कलियुगे शांतोत्तरे संगते।
   सत्यं क्रोधननामधेयविपुले संवच्छरे संमते।
   दत्ते तत्र चतुर्दशेतु परमो षट्‌त्रिंशके स्वांशके।
   मासे फाल्गुणि पूर्व पक्षकबुधे सम्यक् तृतीयां तिथौ ॥
   —जैनधर्म का प्राचीन इतिहास, भाग २, पृ. ४८५.
७. वही—पृ. ४८५.
८. शुभकीर्ति : शांतिनाथ चरित १०वी संधि।
९. जैनधर्म का प्राचीन इतिहास, भाग २, पृ. ५२५.
१०. वही—पृ. ५२५.
११. विक्रमरायहु ववगय कालहु,
    रिसिवसु-सर-भुविअंकालइ।
    कत्तिय पढम पक्खि पंचमिदिणि,
    हुउ परिपुण्ण वि उग्गंतइ इणि ॥
    —कवि महाचन्द्र : शांतिनाथ चरित प्रशस्ति
१२. जिन रत्नकोश, पृ. ३७९.
१३. डा० गुलाबचन्द्र चौधरी : जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग ६, पृ. ८६.
१४. दुलीचन्द्र पन्नालाल देवरी १९२३, हिन्दी अनुवाद—जिनवाणी प्र० का० कलकत्ता १९३९.
    (इसका अनुवाद सूरत से पं० लालाराम शास्त्रीकृत भी उपलब्ध है।)
१५. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास भाग ६, पृ. १०९.
१६. जै. ध. प्रा. इ. भाग २, पृ. ३५७.
१७. चतु: सप्तति संयुक्ते पञ्च पञ्चाशता शतो।
    प्रत्यक्षर गणनया ग्रन्थमानं भवेदिह ॥
    —ग्रन्थाग्र ५५७४ प्रशस्ति श्लोक २०.
१८. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग ६, पृ. १०५-६.
१९. वही—पृ. १०३.
२०. शांतिनाथ चरित : मुनिभद्र सूरि—सर्ग १/५४, ३/११३, ११९-१२८, ४/२६, ५९-६०.
२१. जैन साहित्य का वृहत् इतिहास भाग ६, पृ. ५१०.
२२. प्रशस्ति पद्य ११-१४ शांतिनाथ चरित : मुनिभद्र सूरि

दिल की बात दिल से कही—और रो लिए !

□ पद्मचन्द्र शास्त्री सं० 'अनेकान्त'

जयन्ती : एक गलत परम्परा :

तीर्थंकर भगवान तद्भव मोक्षगामी जीव होते हैं और उनके कल्याणकों के मनाये जाने का शास्त्रों में विधान है। जिनको पूर्व के किसी भव में तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता है उनके पांच कल्याणक होते हैं तथा चरम (चालू) भव में ही चौथे-पाँचवें गुणस्थान मे तीर्थंकर प्रकृति बाँधने वालों के तप, ज्ञान, मोक्ष ये तीन और छठे-सातवें गुणस्थान में तीर्थंकर प्रकृति बाँधने वालों के ज्ञान और मोक्ष ये दो कल्याणक होते हैं—"तीर्थबन्धप्रारम्भश्चरमांगाणामप्रमत्तसंयत देशसंयतयोस्तदा कल्याणानि निष्क्रमणादीनित्रीणि प्रमत्ताप्रमत्तयोस्तदा ज्ञाननिर्वाणे द्वे।"—गो. क./जी. प्र. ३८१/५४६/५ कल्याणक तद्भवमोक्षगामी के ही मनाये जाते है।

णमोकार मंत्र गर्भित किसी परमेष्ठी की जयंती मनाने का शास्त्रों में कही विधान नहीं है न कभी किसी पूर्व परमेष्ठी की जयन्ती मनाई ही गई। यदि कहीं जयन्ती मनाने का उल्लेख हो तो आगम मे देखें। वैसे तो एक-एक तीर्थंकर के समय मे कोड़ा-कोड़ियो मुनियो के मोक्ष जाने का वर्णन है—उनमें आचार्य, उपाध्यायऔर साधु सभी रहे—किसी की कोई जयन्ती नही मनाई गई। हम तो देख रहे हैं कि हमे कहीं, परम्परित पूर्वाचार्यो मे ही किसी एक की हो, किसी जयन्ती मनाये जाने का उल्लेख मिल जाय। आखिर, धरसेन, गुणधर, यतिवृषभ, भूतबलि, पुष्पदन्त, कुन्दकुन्द प्रभृति सभी तो हुए और ये वर्तमान आचार्य और मुनियों से अपनी श्रेष्ठता में न्यून नही कहे जा सकते। अस्तु, कहीं भी किसी की जन्म, दीक्षा जैसी जयंतियों अथवा कल्याणकों का उल्लेख नही है। जैसा चलन कि अब चल पडा है।

संस्कारों मे सोलह संस्कार श्रावक धर्म में है और श्रावक गण जन्म, विवाह आदि जैसे संस्कारों को जयन्ती (जन्मदिन आदि) के रूप में मनाते देखे जाते हैं और ऐसी जयन्तियाँ सांसारिक सुख समृद्धि की कामना में मनाई जाती हैं, जो श्रावक के लिए मनाना-मनवाना उपयुक्त है। साधु तो सांसारिक बन्धन काट कर परम्परया मोक्ष पाने के उद्देश्य मे बना जाता है और इसीलिए साधुओ को वैराग्य और तप जैसे संसार छेदक उपक्रमों मात्र का विधान है—'ज्ञान-ध्यान तपोरक्तः।' यदि सांसारिक चाहनाओं की ही पूर्ति करना हो तो साधु बनना ही निरर्थक है।

उक्त तथ्य के होते हुए भी पंचपरमेष्ठियों मे इस युग के तीर्थंकर महावीर के बताए सिद्धान्तो को प्रचार में लाने की दृष्टि से (आगम में उल्लेख के अभाव मे भी) दिल्ली की जैन मित्र मण्डल संस्था ने महावीर जयन्ती मनाना आरम्भ किया और धीरे-धीरे यह भारत मे प्रचलन पा गई। बाद को कतिपय अन्य तीर्थंकरो की जयन्तियाँ मनाना भी चालू हो गया। और किसी अपेक्षा धर्म प्रचार की दृष्टि से मोक्षप्राप्त आत्माओ के जन्म-कल्याणक का यह सम-रूप लोगो मे धर्म प्रचार का साधक सिद्ध हुआ। चूंकि महावीर आदि कृत्यकृत्य (मोक्ष प्राप्त) थे, उन्हें इससे कुछ लेना देना नही था। तीर्थंकरों को मोक्षप्राप्ति से पूर्व भी उनके कल्याणक उन्हें स्वय कोई आकर्षण पैदा नही करते, जबकि आज सभी मे आकर्षण ही आकर्षण शेष हैं।

वर्तमान में त्यागी-साधुओं की जयन्तियाँ मनाने की बाढ-सी आ गई है। जन्म और दीक्षा की जयन्तियाँ तो दर किनार रहा। अब तो आचार्यों मे सर्वज्ञ भी होने लगे, तब भविष्य में केवलज्ञान की जयन्ती की सम्भावना होनाभी कोई आश्चर्य नही। सुना है, कुछ समय पूर्वही लोगों ने एक आचार्य को 'कलिकाल-सर्वज्ञ' की उपाधि से भूषित किया है। सोचना यह है कि लोगों को क्या हो गया है?

जब इस काल मे यहाँ से मोक्ष नही, तब केवलज्ञान की सम्भावना कैसे ? और केवलज्ञान के दश-अतिशय उनमें किसने कब और कहाँ देखे ? आदि । इन विडम्बनाओं को देखने से ऐसा भी सन्देह होने लगा है कि भविष्य में कहीं मुनियों की चार या पाँच जयन्तियाँ तक मनाना भी चालू न हो जायँ ? लोगो का तो कहना है—इन जयन्तियों मे प्रभूत-द्रव्य का अपव्यय होता है। पर हम इससे उल्टा विचार कर चलते हैं—हमें द्रव्य के आय-व्यय की चिन्ता नहीं होती। द्रव्य तो आनी जानी चीज है, वह तो जैसे आया है वैसे ही जायगा, उसका क्या गम ? हमें तो दुःख तब होता है जब हम आगम-रक्षा का लोप और श्रावक व मुनियो द्वारा आगम-आज्ञा का उलघन देखते-सुनते है। सम्भव है कि परिग्रह-संग्रही को आत्म-दर्शन कराने की भांति यह भी कोई धर्म-मार्ग के घात की विडम्बना हो। वैसे भी आज तो अनेक शोधक कुन्दकुन्दाद्याचार्यों की कथनी के शुद्ध रूपो की खोज तक मे लगे हैं। इसलिए कई लोगो को तो आगम-रूपो पर सन्देह तक होने लगा है कि आज जो आगम-रूप माना जाता है, कही वह विकृत रूप तो नही है ? वे इसी प्रतीक्षा मे है कि जब शुद्ध-रूप समक्ष आए, तब उस पर चलने का विचार किया जाय। सर्वज्ञ जाने, ये शोधक है या और कुछ ?

स्व-समय और पर-समय ?

हम और आप दोनों ही इस मायने मे सदा भाग्यशाली रहे कि हमे और आपको कभी कोई अज्ञानी नही टकराया—जो भी मिला वह बुद्धिमान ही मिला। कभी किसी ने अपने को नासमझ नही समझा। चाहे लोग उसे अज्ञानी भले ही समझते रहे हो। पर, किसी के समझने से तो कोई मूर्ख नही हो जाता; जब तक कि उसे अपनी अज्ञानता का अनुभव स्वयं न हो।

हमारी सतहत्तर वर्ष की उम्र मे हमे बहुत से जानकार मिले। उनमे कई ऐसे मिले जिन्होने अपने को विविध ग्रन्थों का गहन स्वाध्यायी होने का दावा तक किया। हालां कि ऐसे विभिन्न विद्वानो मे भी आगमों के मूलार्थ करने के विषय मे भारी मत-भेद रहे।

हमने एक स्वाध्यायी और वाचक से कहा—कि हम मात्र किसी एक पक्ष को लेकर ही न चला करें—आचार्यों के मूल शब्दार्थ पर चिन्तन कर ही बोला करे।

वे बोले—हम तो कोई अपना पक्ष नही लेते, हम तो जिनवाणी के अनुसार ही व्याख्यान करते हैं।

हमने कहा—यदि ऐसा है तो आप कुन्दकुन्द स्वामी के समयसार की उस दूसरे नम्बर की गाथा को द्वितीय पंक्ति की व्याख्या कीजिए, जो उन्होने 'पर-समय' की व्याख्या मे कही है—'पुग्गलकम्मपदेसट्ठिय च जाण परसमयं।'

उन्होने कहा—जो जीव (व्यक्ति) पुद्गल कर्म प्रदेशों मे—उनके फलों मे, आपा मानता है वह पर-समय (परसमयी) है।

हमने कहा—'जिन खोजा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठ'—कुछ पाने के लिए, गहरे पानी में गोता लगाना पडता है—उसमे घुसना पडता है। समुद्र से मोती निकलता है, गहरे पानी मे पैठने से—केवल पानी के ऊपर तैरने से मोती नही निकलता। हमे आचार्यों के मूल-शब्दार्थ के अनुसार प्रवर्तन करना चाहिए।

ऊपर की गाथा की शब्दावली से तो कर्म या कर्मफलो मे आपा मानने या आपा जानने जैसा भावात्मक क्रियारूप अर्थ प्रकट नही होता। वहाँ तो स्पष्ट रूप मे द्रव्यरूप-पुद्गलकर्म प्रदेशो मे स्थितिमात्र की ही बात प्रकट होती है। वहाँ 'पुग्गलकम्मपदेसट्ठिय' शब्द पुद्गलरूप द्रव्यकर्मों को लक्ष्य कर रहा है और जड़द्रव्य कर्मों मे स्थित मात्र होना, आपा-पर मानने जैसे विकल्पो से सर्वथा विपरीत है। आपा-पर मानने जैसी क्रिया हो तो स्थिति कहाँ ? स्थित होना और क्रिया होना दोनो परस्पर विरोधी हैं। अत: वहाँ तो जीव यावत्काल पुद्गलरूप द्रव्य कर्मों से बँधा है तावत्काल जीव पर-समय है। जब यह रोधक-द्रव्यकर्मों से छुटकारा पाए तब स्व-समय होवे।

गाथा का भाव स्पष्ट ऐसा जान पड़ता है कि जब तक यह जीव आत्मगुण घातक (घातिया) पौद्गलिक द्रव्यकर्म प्रदेशों में स्थित है—उनसे बधा है, तब तक यह जीव पूर्णकाल पर-समयरूप है। मोह क्षय के बाद—केवलज्ञानी में ही स्व-समय जैसा व्यपदेश किया जा

सकता है। और वह अवस्था चारित्र के धारण किये बिना नही होती। जब कि आज परिपाटी ऐसी बनायी जा रही है कि कुछ एकन्ती बिना चारित्र पालन किए, परिग्रह की बढ़वारी मे रस लेते हुए, चतुर्थ-गुण स्थान में ही पूर्ण स्व-समय में आने के स्वप्न देख, कुन्दकुन्द के 'पुग्गलकम्मपदेसट्ठिय' जैसे कथन की अवहेलना कर रहे हैं। उन्हें कुन्दकुन्द के 'चरित्तदंसणणाणट्ठिय जैसी त्रिमूर्ति का भी किंचित् ध्यान नही। इन्हें पाँचवें-छठे गुणस्थान से भी कोई प्रयोजन नही। खेद है, कि जिस मनुष्यगति में संयम की विशेषता होनी चाहिए उस सयम (चारित्र) से ये मुंह मोड़ रहे हैं। जब कि इसमे आचार्यों ने श्रावक के व्रत, प्रतिमाओं और महाव्रतादि धारण करने का क्रम निर्धारित किया है।

वे बोले—अपेक्षा दृष्टि से यह कथन भी ठीक है। आचार्यों ने यह भी कहा है—'अणियदगुणपज्जओध पर समओ........'। पुद्गलकर्म प्रदेशस्थितत्वात्परमेकत्वेन युगपज्जानन् गच्छश्च पर-समय इति प्रतीयते'—"पुद्गल-कर्मोदयेनजनिता ये नारकाद्युपदेशा व्यपदेशा, संज्ञा पूर्वोक्त-निश्चयरत्नत्रयाभावात् तत्र यदा स्थितो भवत्ययं जीवस्तदा त जीवं पर-समयं जानीहि इति।"

इस प्रकार हम दोनों की बात अधूरी और चिन्तन का विषय ही बनी रह गई। विज्ञो को इस चर्चा मे हमारी मदद करनी चाहिए कि हम कोरी चर्चा में ही स्व-समय की बात करें या स्व-समय को प्राप्त तीर्थंकर-अर्हन्तो वत् संयमाचरण के साथ उस ओर बढ़ने का प्रयत्न भी करें? जब कि आचार्यों ने समुदित रत्नत्रय को ही मोक्षमार्ग कहा है। तब ये कोरे सम्यग्दर्शन व आत्मा देख रहे हैं।

—सम्पादक

(पृ० २४ का शेषांश)

अर्थ है आकाश जैसा—खाली। नग्न ही नहीं अपने को नग्न बना लिया, सबसे रहित।

ऐसा जैन साधु होता है जो मोक्ष मार्ग पर गमन करता है। प्रबुद्ध और उपशांत होकर—एक साथ शात भी और जागे हुए भी। जितना जागरण उतना शांत, साथ-साथ हैं। क्षणमात्र भी प्रमाद नहीं।

वास्तव मे भाव ही मुख्य लिंग है। द्रव्यलिंग परमार्थ नहीं है क्योकि भाव ही गुण-दोषो का कारण होता है। भाव ही असली बात है। क्रिया तो उसकी छाया है। जो भाव मे प्राप्त हुआ वह क्रिया मे आवेगा परन्तु जो क्रिया में घटता है वह भाव मे आवे यह जरूरी नही है। जो भाव में है वह क्रिया मे आवेगा, इसलिए कि भाव प्रधान है। लोग भाव की चिंता नही करते द्रव्य की चिंता करते हैं। अब तो द्रव्य की भी चिंता न रही मात्र द्रव्य (धन) की चिंता रह गयी। भावों की विशुद्धि के लिए ही बाह्य परिग्रह का त्याग किया जाता है जिसके भीतर परिग्रह की वासना है उसका बाह्य त्याग निष्फल है। अगर बाहर का त्याग किया भी जाए तो भी यही ध्यान रखकर किया जाए कि वह भीतर के त्याग के लिए निमित्त बने। परन्तु लोग बाहर से तो छोड़ देते है भीतर से छोड़ते नही। छोड़ने तक को पकड़ लेते है और त्याग का अहंकार आ जाता है।

जो देह आदि की ममता मे रहित है, मान आदि कषायों से पूरी तरह मुक्त है तथा जो अपनी आत्मा मे लीन है वही साधु भावलिंगी है। भावलिंगी वही है जिसने धन छोड़ा क्योंकि पकड ही नही रही। द्रव्यलिंगी वह है जिसने धन छोड़ा परन्तु पकड़ना न छोड़ा। और जिसने बाहर से भी नहीं छोड़ा वह तो कुलिंगी है।

ध्यान का दिया जलाना है। अगर आत्मध्यान का दिया जल गया तो सब कुछ मिल गया अन्यथा जैसे थे वैसे रह गये। २८ मूल गुणों का पालन तो वह लक्षण रेखा है जिसको लांघ गये तो व्यवहार मुनिपना भी नही रहेगा।

संचयित-ज्ञानकण

—मैं स्वभावत: एक हूं, चैतन्य हूं, रागादिक शून्य हूं, यह जो सामग्री देख रहा हूं पर-जन्य है, हेय है, उपादेय तो निज ही है।

—रागादिक गए बिना शान्ति की उद्भूति नहीं। अत: सर्व व्यापार उसी के निवारण में लगा देना ही शान्ति का उपाय है।

—मैं उसी को सम्यग्ज्ञानी मानता हूं जिसकी श्रद्धा में मान-अपमान से कोई हर्ष-विषाद नहीं होता।

—गृहस्थ अवस्था में नाना प्रकार के उपद्रवों का सद्भाव होने पर भी निर्मल अवस्था का लाभ अशक्य या असम्भव नहीं।

—इस ससार-वन में हमने अनन्त दुःख पाए। दुःख का मूल कारण हमारा ही दोष है। हम 'पर' को अपराधी मानते हैं, इसी से दुःखी होते हैं।

—अन्तरग की शान्ति पुरुषार्थ अधीन है, जब शुभ अवसर आवेगा, स्वयमेव कार्य बन जावेगा।

—हमने केवल 'पर' को ही उपकार का क्षेत्र बना रक्खा है। मैं तो उसे मनुष्य ही नहीं मानता जो स्वोपकार से वंचित है।

—केवल बाह्य पदार्थों के त्याग से ही शान्ति का लाभ नही, जब तक मूर्च्छा की सत्ता न हटेगी। अत: मूर्च्छा घटाना ही पुरुषार्थ है।

—अभिलाषा अनात्मीय वस्तु है। इसका त्याग ही आत्म-स्वरूप का शोधक है।

—मोह की दुर्बलता भोजन की न्यूनता से नहीं होगी, किन्तु रागादिक के त्यागने से होगी।

—ऊपरी लिबास से अन्तरग की चमक नही आती।

—कर्मोदय की प्रबलता देखकर अशात न होना। अर्जित कर्म का भोगना और समता-भाव से भोगना यही प्रशस्त है।

—औदयिक भाव ही कर्मबन्ध के जनक हैं और वे भाव ही जो केवल मोहनीय के उदय में होते हैं, शेष कुछ नही कर सकते।

—पर-पदार्थ के साथ यावत् सबंध है, तावत् ही संसार है।

—जितनी शान्ति त्याग करते समय रहेगी, उतनी ही जल्दी संसार से छुटकारा होगा।

—वर्णी जी

सौजन्य : **श्री शान्तीलाल जैन कागजी**

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

कागज प्राप्ति :—**श्रीमती अंगूरी देवी जैन, धर्मपत्नी श्री शान्तिलाल जैन कागजी, नई दिल्ली-२ के सौजन्य से**

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द । ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५-००

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ७-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : सं० पं० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, सात विषयों पर शास्त्रीय तर्कपूर्ण विवेचन २-००

Jaina Bibliography : Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References.) In two Vol.

Volume I contains 1 to 1044 pages, volume II contains 1045 to 1918 pages size crown octavo.

Huge cost is involved in its publication. But in order to provide it to each library, its library edition is made available only in 600/- for one set of 2 volume. 600-00

सम्पादन परामर्शदाता : श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री

प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीरसेवामन्दिर के लिए मुद्रित, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५३

प्रिन्टेड
पत्रिका बुक-पैकिट

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ४५ : कि० ४ अक्टूबर-दिसम्बर १९९२

इस अंक में—

प्रकाशक :

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

तब सुधार कैसे हो ? जब :—

☐ नितान्त अपरिग्रही कहलाने के अधिकारी कतिपय वेषधारी बैंक-बैलेन्स और भव्य भवनादि में लीन हों।

× × × ×

☐ समस्त समाज को एक सूत्र में बाँधने की बातें करने वाले स्वयं अपने सीमित-परिकर को ही एकता में रखने में असमर्थ हों।

× × × ×

☐ समाज को सच्चरित्र बनाने में उद्यमी स्वयं मद्य पान, धूम्रपान, रात्रि भोजन आदि में लीन हों। देव-दर्शन आदि दैनिक कर्तव्य तो संयोग से यदा-कदा ही करते हों।

× × + ×

☐ ऊँची ऊँची तत्त्वचर्चा का रस-पान कराने में उद्यमी स्वयं ही विसंवादों को जन्म देते हों।

× × × ×

☐ शुद्ध खान-पान का उपदेश देने वाले लुक-छुप कर बाजार में चाट पकौड़े, मेवा मिष्ठान्न उड़ाते हों और विवाह-शादियों में पंचतारा होटलों तक में भाग लेते हों।

× × × ×

☐ आत्मा को अजर-अमर, पूर्ण शुद्ध बताने व शरीरादि के नश्वर होने का उद्घोष करने वाले शारीरिक-व्याधिग्रस्त होने पर डाक्टरों के चक्कर में पड़, अशुद्ध दवाइयों के सेवन और अस्पतालों में भर्ती होते फिरें।

× × × ×

☐ प्रसिद्ध तीर्थक्षेत्र पर कमरे खाली होने पर भी साधारण यात्रियों को वञ्चित न हों और अपरिचित-परिचित नगर वासियों को रिजर्व रखे जाते हों।

× × × ×

☐ बिना राशि लिए पंचकल्याणक आदि कराने की घोषणा करने वाली संस्थाएँ अन्य कई बहानों से द्रव्य संचय करती हों।

× × × ×

☐ पंचकल्याणक प्रतिष्ठाएँ धार्मिक-भावना से अछूती—केवल द्रव्य-संचय के लिए होने लगें।

× × × ×

☐ समाज को मार्ग-दर्शन देने वाले (कथित) नेता स्वयं धर्म-विरुद्ध मद्य-मांस, तम्बाकू, खण्डसारी जैसे हेय व्यवसायों में लीन हों।

महासचिव

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ४५ किरण ४ | वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ | अक्टूबर-दिसम्बर
वीर-निर्वाण संवत् २५१८, वि० सं० २०४६ | १९९२

ऐसा मोही क्यों न अधोगति जावै ?

ऐसा मोही क्यों न अधोगति जावै,
जाको जिनवाणी न सुहावै ॥
वीतराग सो देव छोड़ कर, देव-कुदेव मनावे ।
कल्पलता, दयालता तजि, हिंसा इन्द्रासन वावै ॥ऐसा०॥
रुचे न गुरु निर्ग्रन्थ भेष बहु, परिग्रही गुरु भावै ।
पर-धन पर-तिय को अभिलाषै, अशन अशोधित खावै ॥ऐसा०॥
पर को विभव देख दुख होई, पर दुख हरख लहावै ।
धर्म हेतु इक दाम न खरचै, उपवन लक्ष बहावै ॥ऐसा०॥
ज्यों गृह में संचे बहु अंघ, त्यों वन हू में उपजावै ।
अम्बर त्याग कहाय दिगम्बर, बाघम्बर तन छावै ॥ऐसा०॥
आरंभ तज शठ यंत्र-मंत्र करि जनपै पूज्य कहावै ।
धाम-वाम तज दासी राखे, बाहर मढ़ी बनावै ॥ऐसा०॥

जैन एवं बौद्ध साहित्य में श्रमण परम्परा

□ डॉ रमेशचन्द जैन, बिजनौर

प्राचीन भारत की दो परम्परायें—भारतवर्ष मे प्राचीन काल से ही दो परम्पराएँ चली आ रही हैं— १. श्रमण और २. ब्राह्मण। दोनों परम्परायें अपने आपको सबसे प्राचीन सिद्ध करने का प्रयास करती हैं। जैन ग्रथों के अनुसार भगवान ऋषभ के पुत्र भरत ने ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की[१]। पद्मचरित मे ब्राह्मण की उत्पत्ति ब्रह्म के मुख से होना निर्हेतुक सिद्ध करते हुए कहा गया है कि समस्त गुणों के वृद्धिगत होने के कारण ऋषभदेव ब्रह्म कहलाए और जो जन उनके भक्त हैं, वे ब्राह्मण कहे जाते हैं[२]। इस प्रकार ब्राह्मणों की परम्परा का सम्बन्ध भगवान ऋषभदेव के पुत्र भरत से है। परवर्ती काल में ब्राह्मणों का आचार श्रमणों से भिन्न होता गया और इस प्रकार दो धाराओं ने जन्म लिया। यही कारण है कि ब्राह्मणत्व के प्रति आदरभाव होते हुए भी जो कर्म से ब्राह्मण नहीं हैं, उनकी जैन ग्रन्थकारों ने भर्त्सना की है। आचार्य रविषेण के अनुसार ब्राह्मण वे हैं, जो अहिंसाव्रत धारण करते है, महाव्रत रूपी चोटी धारण करते हैं, ध्यान रूपी अग्नि मे होम करते हैं; शान्त हैं और मुक्ति को सिद्ध करने में तत्पर रहते हैं। इसके विपरीत जो सब प्रकार के आरम्भ में प्रवृत हैं, निरन्तर कुशील में लीन रहते हैं तथा क्रियाहीन हैं, वे केवल ब्राह्मण नामधारी हैं, वास्तविक ब्राह्मणत्व उनमें नही है[३]। ऋषि, संयत, धीर, शान्त, दान्त और जितेन्द्रिय मुनि ही वास्तविक ब्राह्मण हैं[४]। ब्राह्मण का सम्बन्ध ब्रह्मचर्य से है। ब्रह्मचर्य धारण करने वाला ब्राह्मण कहलाता है[५]। पतंजलि ने ब्राह्मण और श्रमण इन दोनों में शाश्वतिक विरोध बतलाया है[६]।

श्रमण शब्द का अर्थ—श्रमण शब्द की अनेक व्युत्पत्तियाँ की गई हैं :—

१. जो श्रम-तप करते हैं (सूत्रकृतांग १.१६.१ आ० शीलककृत टीका पत्र २६३)।

२. जिसका चित्त राग द्वेष से अबाधित होता है[७]।

३. समतायुक्त जिसका मन है, वह श्रमण है[८]।

४. श्रमण धर्म रूप हो सकता है। जो आगम में कुशल है, जिसकी मोहदृष्टि हत गई है और जो वीतराग चारित्र में आरूढ़ हैं। उस महात्मा श्रमण को धर्म[९] (मोह क्षोभ विहीन आत्म परिणाम रूप[१०]) कहा है।

५. जो निःसंग, निरारम्भ, भिक्षाचर्या में शुद्धभाव, एकाकी, ध्यानलीन और सवगुणो से युक्त हो, वही श्रमण होता है[११]।

६. पवित्र मन वाला श्रमण है[१२]।

७. जो अनिश्रित, अनिदान—फलाशंसा से रहित, आदान रहित, प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन परिग्रह, क्रोध, मान, माया लोभ, प्रेय, द्वेष और सभी आस्रवों से विरत, दान्त, द्रव्यमुक्त होने के योग्य और व्युत्सृष्ट काय-शरीर के अनासक्त है। वह श्रमण है[१३]।

श्रमण के लिए ब्रह्मचर्य की आवश्यकता—श्रमण के लिए ब्रह्मचर्य आवश्यक है। ब्रह्मचर्य से विचलित होने वाला श्रामण्य को नष्ट कर देता है[१४]।

वन्दनीय श्रमण—जो ज्ञान, दर्शन, चरित्र, तप और वीर्य इन पांच आचारो का पालन करता है, वह श्रेष्ठ श्रमण है, वही वन्दनीय है। (प्रवचनसार-२), (अष्टपाहुड पृ० ७१)।

अन्तरात्मा और बहिरात्मा श्रमण—आवश्यक सहित श्रमण अन्तरात्मा है और आवश्यक रहित श्रमण बहिरात्मा है। (नियमसार-१४६)।

महाश्रमण—सर्वज्ञ, वीतराग महाश्रमण है। पचास्तिकाय—समयव्याख्या-२।

प्रश्नश्रमण—वैयावृत्य मे कुशल, विनयी, सर्वसघ का पालक, वैरागी और जितेन्द्रिय श्रमण प्रश्नश्रमण है।

—(अनगार धर्मामृत १६६ ज्ञानदीपिका)

श्रमणों के विभाग—प्रवचनसारोद्धार में श्रमणों के पांच विभाग बतलाए गये हैं :—

१. निर्ग्रन्थ	—	जैन मुनि
२. शाक्य	—	बौद्ध भिक्षु
३. तापस	—	जटाधारी, वनवासी, तपस्वी
४. गेरूक	—	त्रिदण्डी परिव्राजक
५. आजीवक	—	गोशाल के शिष्य ।

चारित्र क्षुद्रश्रमण—पार्श्वस्थ, अवसन्न, संसक्त, कुशील और मृगचरित्र श्रमण चारित्र क्षुद्र श्रमण हैं[15] ।

नामादि की अपेक्षा श्रमण के भेद—नाम, स्थापन्न, द्रव्य और भावनिक्षेप की अपेक्षा श्रमण चार प्रकार के होते हे[16] ।—नाम-श्रमण मात्र को नामश्रमण कहते हैं लेप आदि प्रतिमाओ मे श्रमण की आकृति स्थापना श्रमण है। गुणरहित वेषग्रहण करने वाले द्रव्य श्रमण हैं और मूल गुण—उत्तरगुणों के अनुष्ठान में कुशल भावयुक्त भावश्रमण है[17] ।

श्रमण के पर्यायवाची शब्द—जैन ग्रन्थों में श्रमण के अनेक पर्यायवाची नाम मिलते हैं, जो उनकी भिन्न-२ विशेषताओ को सूचित करते हैं। इनका सक्षिप्त लक्षण इस प्रकार है—

संयत—असयत रूप हिसा आदि को जानकर और श्रद्धा न करके उनसे जो अलग होता है अर्थात् उनका त्याग करता है, उस सम्यक्युत को सयत कहते है[18] ।

ऋषि—जो सब पापो को नष्ट करते हैं अथवा सात प्रकार की ऋद्धियों को प्राप्त करते हैं, वे ऋषि है[19] ।

मुनि—जो स्व-पर के अर्थ की सिद्धि को मानते हैं—जानते हैं, वे मुनि हैं[20] ।

साधु—सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की जो साधना करते है, वे साधु है[21] । पद्मप्रभमलधारिदेव ने साधु को आसन्नभव्यजीव तथा अत्यासन्न भव्य जीव कहा है[22] ।

वीतराग—जिनका राग विनष्ट हो गया है[23] ।

अनगार—नही है अगार गृह आदि जिनके सर्व-परिग्रह से रहित मनुष्य अनगार है। अनगार पांच महाव्रतों का पालक होता है। दिगम्बर परम्परा के अनगार अपने पास केवल दो उपकरण रखते हैं—एक जीवरक्षा के लिए मयूर के पंखों से निर्मित पिच्छिका और दूसरा शौचादि के लिए कमण्डलु । शरीर से बिलकुल नग्न रहते हैं और श्रावक के घर पर ही दिन मे एक बार खड़े होकर हाथों की अंजुलि को पात्र का रूप देकर भोजन करते हैं, किन्तु श्वेताम्बर परम्परा के अनगार पांच महाव्रतों का पालन करते हुए भी वस्त्र, पात्र रखते हैं। अनगारों की इस प्रवृत्तिभेद के कारण ही जैन सम्प्रदाय दो भागों में विभाजित हो गया और वे विभाग दिगम्बर और श्वेताम्बर कहलाए[24] ।

भदन्त—सर्व कल्याणों को प्राप्त हुए भदन्त कहलाते है[25] ।

दान्त—पांच इन्द्रियों को निग्रह करने वाले दान्त कहलाते है[26] ।

यति—उपशमक और क्षपक श्रेणी पर आरोहण करने वाले यति कहलाते है[27] ।

दिगम्बर—दिशायें ही जिनके अम्बर-वस्त्र है ।

अचेलक—वसुनन्दी सिद्धान्त चक्रवर्ती ने "अचेलकत्व नाग्न्यमिति यावत्" कहकर नग्न अवस्था का नाम अचेलकत्व बतलाया है[28] । श्वेताम्बर परम्परा में अचेलक्य के विषय मे विवाद है, क्योकि उनके यहां साधु वस्त्र धारण करते है।

निर्ग्रन्थ—वस्त्र आदि परिग्रह से रहित[29] ।

मुण्ड—जो केशलुचन करता है और जो इन्द्रियो के विषय का अपनयन करता है, उन्हें जीत लेता है, उसे मुण्ड कहा जाता है[30] ।

बहुश्रुत—समस्त शास्त्र का पारगामी[31] ।

भिक्षु—भिक्षाशील साधु । पचास्तिकाय में कहा है जिसे सर्व द्रव्यों के प्रति राग, द्वेष या मोह नहीं है, उस सम सुख-दुःख भिक्षु को शुभ और अशुभकर्म आस्रवत नही होते[32] । सूत्रकृतांग मे भिक्षु के १४ नाम कहे हुए हैं—समण, माहन, क्षान्त, दान्त गुप्त, मुत, ऋषि, मुनि, कृती (परमार्थ पण्डित), विद्वान्, भिक्षु, रूक्ष, तीरार्थी और चरणकरण पारविद्[33] ।

असंयम जुगुप्सक—प्राणी संयम और इन्द्रिय संयम में लगे हुए श्रमण[34] ।

यथाजातरूपधर—व्यवहार से नग्नत्व, निश्चय से

स्वात्म रूप यथाजात रूप होता है। इस प्रकार के रूप को जो धारण करते हैं, वे यथाजातरूपधर निर्ग्रन्थ होते है[३५]।

योगी—योग साधना करने वाला। मूलाचार में कहा है कि पश्चिम, पूर्व, उत्तर और दक्षिण दिशाओं की वायु से जिस प्रकार सुमेरु चलायमान नहीं होता, उसी प्रकार अचलित योगी सतत ध्यान करते हैं[३६]।

गणी—निन्दा, प्रशंसादि में समचित होने के कारण निश्चय, व्यवहार रूप पचाचार के आचरण में प्रवीण[३७] होने के कारण अथवा आचरण करने में और आचरण कराने में आने वाली समस्त विरति की प्रवृति के समान आत्मरूप—ऐसे श्रामण्यपने के कारण जो श्रमण हैं[३८] गुणाढ्य है, कुल, रूप तथा वय से विशिष्ट हैं और निज परमात्मतत्व की भावना सहित जो समचित श्रमणो[३९] को अति इष्ट हैं, वे गणी होते हैं। आचार्य अमृतचन्द्र ने इन्हें शुद्धात्मतत्व के साधक आचार्य तथा जयसेनाचार्य ने परमात्मभावना के साधक दीक्षा दायक आचार्य कहा है[४१]।

तपोधन—आचार्य जयसेन ने "श्रमणस्तपोधन" कह कर श्रमण और तपोधन में ऐक्य स्थापित किया है[४२]।

समित—जो शुद्धात्मस्वरूप मे भले प्रकार से परिणत हुआ है अथवा (व्यवहार) से जो ईर्या आदि पांच समितियों से युक्त हैं, वह समित हैं[४३]।

तपस्वी—शिवार्य ने तपस्वी की महिमा के विषय में कहा है कि असवृत अर्थात् अशुभयोग का निरोध न करने वाला यति महान काल के द्वारा भी जिस कर्म की बाह्य तप के द्वारा निर्जरा नहीं करता, उस कर्म की संवत् अर्थात् गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा और परिषहजय को करने वाला तपस्वी अति स्वल्पकाल में क्षय करता है[४४]।

निःसङ्ग—अपरिग्रही श्रमण। शिवार्य ने कहा है कि जितने भी परिग्रह (सग) राग-द्वेष को उत्पन्न करते हैं, उन परिग्रहों को छोड़ने वाला अपरिग्रही साधु राग और द्वेष को निश्चय से जीतता है[४५]।

क्षपक—जो अपने अपराध और शरीर को त्यागने के लिए प्रवृत्त हुआ है[४६]।

क्षपणक—आचार्य हेमचन्द्र ने अपने कोष में नग्न का पर्यायवाची शब्द क्षपणक दिया है[४७]।

पाणितलभोजी—हाथ में आहार करने वाले[४८]।

निर्यापक—शिक्षा गुरू और श्रुतगुरू[४९]।

गुरू—लिङ्ग ग्रहण के समय जो प्रव्रज्यादायक हैं, वे तपस्वियों के गुरू है[५०]।

स्थविर—बहुत काल से प्रव्रजित[५१]।

अमम—स्नेह पाश से निकले हुए[५२]।

निर्मम[५३]—निर्मोही[५४]।

ब्राह्मण—पद्मचरित मे कहा गया है कि ब्राह्मण वे हैं जो अहिंसाव्रत धारण करते है, महाव्रत रूपी लम्बी चोटी धारण करते है[५५]। ध्यान रूपी अग्नि मे होम करते हैं, शान्त हैं और मुक्ति के सिद्ध करने मे तत्पर रहते है[५६]।

वातवसन—वायुरूपी वस्त्रधारी। श्रमणाः दिगम्बराः श्रमणावातवसन्नाः इति निघण्टु।

विवसन—वस्त्र रहित मुनि। वेदान्तसूत्र की टीका में दिगम्बर जैन मुनि "विवसन" और "विसिच्' कहे गये हैं[५७]।

वातरशना—जिनसेनाचार्य ने दिग्वासा वातरशनों निर्ग्रन्थेश्मे निरम्बरः कहकर तीर्थंकर ऋषभदेव को वातरशना बतलाया है। वातरशना का अर्थ है—जिसकी वायु मेखला है। तैत्तिरीय आरण्यक के अनुसार "वातरशना" शब्द का अर्थ नग्न होता है।

नग्न—आचार्य कुन्दकुन्द ने एक नग्नपने को ही मोक्ष का मार्ग कहा है. शेष सब उन्मार्ग हैं।

सिद्धायतन—जिन मुनि के समीचीन अर्थ (आत्मा) सिद्ध हो गया है, जो विशुद्ध ध्यान और ज्ञान से युक्त है, मुनियों मे प्रधान हैं तथा समस्त पदार्थों को जानते है।

चैत्यगृह—जो मुनि बुद्ध (ज्ञानमयी आत्मा) को जानता हो, आप ज्ञानमयी हो और पांच महाव्रतों से शुद्ध हो, वह चैत्यगृह है[५९]।

अर्हन्मुद्रा—जो तप, व्रत और गुणो से शुद्ध हो, शुद्ध सम्यक्त्व को जानते हों, इस प्रकार दीक्षा और शिक्षा देने वाले आचार्य अर्हन्मुद्रा है[६०]।

जिनमुद्रा—जो सयमसहित हो। जिसके इन्द्रियावंश में हों, कषायों की प्रवृत्ति न होती हो और ज्ञान को स्वरूप मे लगाता हो, ऐसा मुनि ही जिनमुद्रा है[६१]।

बौद्ध साहित्य में श्रमण परम्परा

श्रमण संस्कृति की निगण्ठ(जैन), सक्क (शाक्य-बौद्ध) तावस (तापस), गेरुय (गेरुक) और आजीव (आजीवक) ये पांच प्रधान शाखायें मानी जाती हैं[१]। इनमे से प्रथम दो शाखायें आज जीवित हैं। अन्य शाखाओं का अन्तर्भाव इन्हीं में हो गया। पालि साहित्य मे श्रमणों के चार प्रकार बतलाए गए हैं—मग्गजिन, मग्गजीविन, मग्गदेशिन, और मग्गदूसिन[२]। इनमे पारस्परिक मतभेद के कारण अनेक दार्शनिक सम्प्रदायों ने जन्म लिया। बुद्ध इन्हें "दिट्ठि" शब्द से अभिहित करते है[३]। जैन साहित्य मे इन मतों की संख्या ३६३ बतलाई गई है। श्रमण परम्परा की बौद्ध शाखा की अपेक्षा जैन शाखा निश्चित रूप से बहुत प्राचीन है, विद्वानो ने इसे प्रागैतिहासिक माना है। भगवान् महावीर के समय से लेकर जैन और बौद्ध धर्मों का गहरा सम्बन्ध रहा। श्रमण परम्परा के प्रतिनिधि धर्म होने के कारण वैदिक धर्म से शास्त्रार्थ के समय दोनों के मन्तव्य एक रहते थे, क्योंकि हिंसामय यज्ञों में विश्वास, सृष्टिकर्ता ईश्वर की मान्यता आदि अनेक वैदिक बातों के विरुद्ध दोनो धर्मों को लोहा लेना पड़ा। ऐसा होने पर भी दोनों धर्मों को दार्शनिक मान्यतायें भिन्न भी थी।

गौतमबुद्ध के घर से निकलने के बाद ६ वर्ष तक विभिन्न प्रकार साधनामार्ग अंगीकार किए, जिनमें से एक अचेलक मार्ग भी था और यह जैन मुनि की चर्या का अंग था। 'मज्झिमनिकाय' के महासीहनादसुत्त मे सारिपुत्त से अपने पुराने जीवन के विषय में बुद्ध स्वयं कहते हैं—मैं वस्त्ररहित रहा, मैंने आहार अपने हाथ से किया। न लाया हुआ भोजन किया, न अपने उद्देश्य से बना हुआ किया, न निमत्रण से भोजन किया, न बर्तन में खाया, न थाली में खाया, न घर की ड्योढ़ी मे खाया, न खिड़की से लिया, न मूसल से कूटने के स्थान पर लिया, न दो आदमियो के एक साथ खा रहे स्थान से लिया, न गर्भिणी स्त्री से लिया, न बच्चे को दूध पिलाने वाली से लिया, न भोग करने वाली से लिया, न मलिन स्थान से लिया, न वहाँ से लिया जहाँ कुत्ता पास खड़ा था, न वहाँ से, जहाँ मक्खियां भिनभिना रही थीं। न मछली, न मांस, न मदिरा, न सड़ा मांड खाया, न तुष का मैला पानी पिया। मैंने एक घर से भोजन किया, सो भी एक ग्रास लिया या मैंने दो घरों से लिया सो दो ग्रास लिया। इस तरह मैंने सात घरों से लिया, सो भी सात ग्रास, एक घर से एक ग्रास लिया। मैंने कभी एक दिन में एक बार, कभी दो दिन में एक बार, कभी सात दिन में एक बार लिया, कभी पन्द्रह दिन भोजन नही किया। मैंने मस्तक, दाढ़ी व मूछों के केशों का लोंच किया। इस केशलोंच की क्रिया को जारी रखा। मैं एक बूंद पानी पर भी दयावान् था। क्षुद्र प्राणी की भी हिंसा मुझ से न हो, इतना सावधान था। इस तरह कभी तप्तायमान कभी शीत को सहता हुआ भयानक वन मे नग्न रहता था। आग नही तपता था। मुनि अवस्था में ध्यानलीन रहता था[४]।

ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जी ने उपर्युक्त क्रियाओं की तुलना मूलाचार मे प्रतिपादित साधु के आचार से की है[५]। इससे स्पष्ट है कि बुद्ध ने जैन आचार का भी अभ्यास किया था। बाद में इस कठोर चर्या को उन्होंने अनार्य और अनर्थों की जड़ मानकर छोड़ दिया और मध्यम मार्ग ग्रहण किया जो उनकी दृष्टि में कामसुखों में आसक्ति और आत्मक्लेशों मे आसक्ति के बीच का था[६]।

नौमी शताब्दी के 'जैनाचार्य देवसेन' ने दर्शनसार में लिखा है कि गौतमबुद्ध जैनो के २३वें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ के सम्प्रदाय मे आए हुए श्री पिहिताश्रव मुनि के शिष्य हुए थे। पिहिताश्रव ने सरयू नदी पर स्थित पलाश नामक ग्राम में उन्हें पार्श्व के सघ में दीक्षा दी थी। 'श्रीमती राइस डेविड्स' का मत है कि बुद्ध अपने गुरू की खोज मे वैशाली पहुंचे। वहा आलार और उद्रक से उनकी भेंट हुई, फिर बाद मे उन्होंने जैन धर्म की तप-विधि का अभ्यास किया[८]। 'डा० राधाकुमुद मुकुर्जी' के अभिमत मे बुद्ध ने पहले आत्मानुभव के लिए उस काल मे प्रचलित दोनों साधनाओं का अभ्यास किया। 'आलार और उद्रक' के निर्देशानुसार ब्राह्मण मार्ग का, तब जैन मार्ग का और बाद में अपने स्वतन्त्र साधना मार्ग का विकास किया[१०]। 'श्री धर्मानन्द कोशाम्बी' ने लिखा है कि निर्ग्रन्थों के 'श्रावक वप्प शाक्य' के उल्लेख से प्रकट है कि निर्ग्रन्थों का चातुर्मास धर्म शाक्य देश मे प्रचलित था। बुद्ध के द्वारा खोजे गए आष्टांगिक मार्ग का समावेश चातुर्याम में

हो जाता है[११]। दीघनिकाय के पासदिक सुत्त में बुद्ध चुन्द से कहते हैं—चुन्द ! ऐसा हो सकता है कि दूसरे मत वाले परिव्राजक ऐसा कहें—शाक्यपुत्रीय श्रमण आराम पसन्द हो विहार करते हैं ··चुनद, ये चार प्रकार की आराम पसन्दगी अनर्थयुक्त हैं—कोई मूर्ख जीवो का वध करके आनन्दित होता है, प्रसन्न होता है। यह पहली आराम पसन्दगी है। कोई चोरी करके आनन्दित होता है, यह दूसरी आराम पसन्दगी है, कोई झूठ बोलकर प्रसन्न होता है, यह तीसरी आराम पसन्दगी है, कोई पांचों भोगों का सेवन करके आनन्दित होता है, ये चौथी आराम पसन्दगी है। ये चारों सुखोपभोग निकृष्ट हैं। हो सकता है चुन्द, दूसरे मत वाले साधु ऐसा कहें—इन चार सुखोपभोग आराम पसन्दगी से युक्त हो शाक्यपुत्रीय श्रमण विहार करते हैं। उन्हें कहना चाहिए—ऐसी बात नही है। उनके विषय में ऐसा मत कहो, उन पर झूठा दोषारोपण न करो। इससे स्पष्ट है कि बुद्ध के मत में चार यामों का पालन करना ही तपश्चर्या मानी जाती थी। अत: बुद्ध ने पार्श्वनाथ के चातुर्याम धर्म को स्वीकार किया था। पार्श्वनाथ श्रमण परम्परा के थे। अत: उनकी परम्परा को अपनाने वाले बुद्ध भी श्रमण अथवा महाश्रमण कहलाए। दशवैकालिक निर्युक्ति मे कहा है—

जह मम न पियं दुक्ख जाणिय एमेव सव्वजीवाणं।
न हणइ न हणावेइ य सममणई तेण सो समणो[१२]॥

अर्थात् जैसे मुझे दुःख प्रिय नहीं है, इसी प्रकार सभी जीवों को नहीं है। अत: जो जीवो को न तो स्वय मारता है, न दूसरे से मरवाता है, सममन वाला वह श्रमण होता है। सुत्तनिपात मे गौतम बुद्ध ने कहा है—

समितावि पहाय पुन्नपाप विरजोन्त्वा इम परं च लोक।
जातिमरणं उपातिवत्ते, समणोतादि पवुच्यते तथत्ते॥
सुत्त निपात ३२/११

जो पुण्य और पाप को दूर कर शान्त हो गया है, इस लोक और परलोक को जानकर रंजरहित हो गया है, जो जन्म के परे हो गया है, स्थिर, स्थितात्मा वह श्रमण कहलाता है। परमपद मे समता का आचरण करने वाले को श्रमण कहा गया है—समचरिया समणाति वुच्चति, धम्मपद—ब्राह्मणवग्गो।

समण का सम्बन्ध शम उपशम से भी है। जो छोटे बड़े पापों का सर्वथा शमन करने वाला है, वह पाप के शमित होने के कारण श्रमण कहा जाता है।

श्रमण के दूसरे पर्यायवाची मुण्ड मुनि और भिक्षु भी हैं। धम्मपद मे कहा है—

न मुण्डकेन समणो अब्बतो अलिक मणं।
इच्छालोभ समापन्नो समणो किं भविस्सति॥ धम्मपद-१
(धम्मट्ठवग्गो)

अर्थात् व्रतरहित, झूठ बोलने वाला व्यक्ति मुण्डन करा लेने से श्रमण नहीं होता। इच्छा और लोभ से भरा मनुष्य क्या श्रमण होता है ?

न तेन भिक्षु सो होति यावता भिक्खते परे।
विस्सं धम्मं समादाय भिक्खु होति न तावता॥
धम्मपद—१२ धम्मट्ठवग्गो

यह मनुष्य केवल इतने मात्र से भिक्षु नही हो जाता है कि वह दूसरों से भिक्षा मांगता है। समस्त धर्मों को ग्रहण करके मनुष्य भिक्षु नहीं हो जाता।

योध पुन्नं च पाप च बाहेत्वा ब्रह्मचरिवा।
संखाय लोके चरतिस वे भिक्खूति वुच्चति॥
धम्मपद-१२ धम्मट्ठवग्गो

जो यहां पुण्य और पाप को छोडकर ब्रह्मचर्यवान है तथा लोक मे ज्ञानपूर्वक विचरण करता है। वही भिक्षु कहा जाता है।

न मोनेन मुनी होति मूलहरूपो अविद्दसु।
यो च तुलं व पगठह वरमादाय पण्डितो॥
पापानि परिवज्जेति, स मुनितेन सो मुनी।
यो मुनाति उभे लोके मुनी तेन पवुच्चति॥
धम्मपद—धम्मट्ठवग्गो १३-१४

मौन धारण करने से साक्षात् मूर्ख और अविद्वान व्यक्ति मुनि नहीं हो जाता किन्तु जो तुला के समान ग्रहण करके भले-बुरे को तोलता है और अच्छे को ग्रहण करता है, वह पण्डित है। जो पापों का परित्याग करता है, वह मुनि है और इसीलिए वह मुनि है। जो इस संसार मे (पाप और पुण्य) दोनों का मान करता है वह इसीलिए मुनि कहा जाता है।

मुण्ड शब्द का अनेक स्थानों पर बौद्ध श्रमण के रूप

में भी अनेक बार प्रयोग हुआ है। इसके अनेक प्रकरण बौद्ध साहित्य मे विद्यमान हैं—

जब सावत्थी मे अग्गिक भारद्वाज यज्ञाग्नि को प्रज्वलित कर उसमे आहुतिया दे रहे थे, उसी समय बुद्ध भिक्षाटन करते हुए उसके यज्ञस्थल के निकट पहुचे। अग्गिक भारद्वाज उन्हें दूर से ही देखकर चिल्लाया—अरे मुंडिए! भिक्षु, वृषल, वही खडा रह (तत्र एव मुण्डक, तत्र एव समणक, तत्र एव वसलक तट्ठहीति), बुद्ध ने शान्त भाव से उसे समझाया कि वसलक वह दुष्ट मनुष्य है जो धर्म और सदाचार के नियमो का पालन नही करता, मेरे जैसा साधु वसलक नही होता[७६]। भारद्वाज ब्राह्मण यज्ञ मे आहुतियां देने के बाद आहुति का अवशिष्टचून देने के लिए किसी व्यक्ति को ढूंढ रहा था, उस समय बुद्ध अपने सिर को ढके हुए एक वृक्ष के नीचे बैठे थे। पैरों की आहट सुनकर उन्होंने सिर पर से वस्त्र हटा लिया और ब्राह्मण को जाते देखा। ब्राह्मण उसका मुण्डित सिर देखते ही अति क्रुद्ध हुआ और चिल्ला पड़ा—अरे तू मुंडिया है। वह लौटने ही वाला था, पर फिर वह सोचकर कि कभी-कभी ब्राह्मण भी सिर मुड़ा लेते हैं, बुद्ध की ओर मुडा और उनकी जाति पूछी। बुद्ध ने उत्तर दिया – मैं न ब्राह्मण हूं न क्षत्रिय हूं, न वैश्य हूं, मैं एक संन्यासी हू, जो कुछ नहीं चाहता। मुझे दान देने का महान् फल होगा[७७]।

एक बार शाक्यों के देश मे ब्राह्मणो की एक सभा हो रही थी, उस समय बुद्ध सभागृह की ओर जाने लगे। ब्राह्मणों ने कहा—"कौन है ये मुंडिये श्रमण? ये क्या जाने सभा के नियम (के च मुण्डका समणका के च सभा धम्मं जानिस्सन्ति") परन्तु बुद्ध चुपचाप सभा भवन मे चले गए।

बुद्ध के साथ प्रायः श्रमणविशेषण लगता था। उनके समय श्रमण और ब्राह्मणों मे अनेक सम्प्रदाय थे, जो आपस मे वाद किया करते थे। बुद्ध के समकालिक वातस्यायन नामक परिव्राजक ने अपने समय के तार्किकों को सम्बन्ध मे कहा था—मैं देखता हूं, बाल की खाल निकालने वाले दूसरों से वाद-विवाद करने मे सफल, निपुण कोई कोई क्षत्रिय पंडित मानों प्रज्ञा में स्थित तत्व से दृष्टिगत को खण्डाखण्डी करके चलते हैं, सुनते हैं श्रमण गौतम अमुक ग्राम या निगम मे आवेगा। वे प्रश्न तैयार करते हैं, इन प्रश्नों को हम श्रमण गौतम के पास जाकर पूछेंगे, यदि वह ऐसा उत्तर देगा तो हम इस प्रकार वाद रोपेंगे[७८]।

उपालि गृहपति ने कहा था—जैसे बलवान पुरुष लम्बे बाल वाली भेड को बालों से पकड कर निकाले डुलावे, उसी प्रकार मैं श्रमण गौतम के वाद को निकालूंगा, घुमाऊंगा, डुलाऊंगा[७९]।

गौतम बुद्ध के समय बौद्ध भिक्षु अपना परिचय पूछा जाने पर अपने को श्रमण[७८] कहते थे अथवा अधिक स्पष्टता के लिए "शाक्यपुत्रीय" शब्द उसके पहले और जोड देते थे[७९]। जिससे अन्य सम्प्रदायो म भेद हो सके। बुद्ध को अनेक बार महाश्रमण कहा गया है[८०]।

जिन और वीर शब्द भी जो मौलिक रूप मे भगवान महावीर या पूर्वकालीन जैन महात्माओ के लिए प्रयोग किए जाते थे, पालि साहित्य मे बुद्ध के विशेषण बन गए।

गौतम बुद्ध के समकालीन श्रमण—बुद्ध के समकालीन छः प्रमुख सम्प्रदाय थे[८१]—पूरण कस्सप, मक्खलि गोसाल, पकुध कच्चायन, अजितकेश कम्बल, निगण्ठनातपुत और संजयवेलट्ठिपुत्त। इनकी मान्यताओं का विवरण बौद्ध साहित्य में अनेक प्रसगो मे हुआ है। दीघनिकाय के सामञ्ञफलसुत्त मे श्रामण्य के फल का निरूपण है। वहां इन छ श्रमणों से परिचय प्राप्त होता है, जो इस प्रकार है—

१. **पूरण कस्सप**—पूरणकस्सप के द्वारा पुण्य-पाप का खंडन किया गया है। किसी अच्छे कार्य को करने से पुण्य होता है और बुरे कार्य से पाप होता है, वे ऐसा नही मानते हैं। दान, दम, सयम, तप, परोपकार आदि कार्यों में कोई पुण्य नही है, हिंसा, झूठ, चोरी, परस्त्रीगमन में कोई पाप नहीं है। कोई व्यक्ति अपने आप कोई क्रिया नही करता, अतः अक्रिय होने से उसे पाप-पुण्य भी नहीं होता। यह पूरणकस्स का मत अक्रियावाद है।

२. **मक्खलि गोसाल**—मक्खलि गोसाल देववादी थे। कर्म करने में उनका विश्वास नहीं था। वे अकर्मण्यतावादी थे, उसकी शुद्धि का कोई कारण नही है। प्राणी स्वयं या दूसरे की शक्ति से कुछ नही कर सकता, उसमें

बल नहीं है, वीर्य और पराक्रम नहीं है। सभी प्राणी निर्बल और असहाय हैं। भाग्य और संयोग के फेर में पड़कर सुख या दुख का अनुभव करते हैं। यही मक्खलिगोसाल का नियतिवाद है।

३. **प्रकुध कच्चायन**—ये घोर अकृतवादी थे। इनके अनुसार पृथवी, जल, तेज, वायु, सुख, दुख और जीवन ये सब अकृत, अनिर्मित और अचल है। ये कभी न विकार को प्राप्त होते है और न परस्पर हानि पहुचाते हैं। यहां न कोई मारने वाला है, न कोई मरने वाला, न कोई सुनने वाला है, न कोई सुनाने वाला। यही इनका अकृतवाद है।

४. **अजित केश कम्बल**—ये भौतिकवादी थे। इनके मतानुसार इस ससार मे किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है। पाप-पुन्य का न कोई फल है, न स्वर्गादि की कोई रचना है। मरने के बाद जिन चार महाभूतो से व्यक्ति निर्मित हुआ है, उन्ही मे विलीन हो जाता है। आत्मा की सत्ता मानना व्यर्थ है।

५. **निगण्ठनातपुत्त**—वे विचारक जैन धर्म के अन्तिम तीर्थंकर थे। वे चार प्रकार के संवर को मानते थे—१. जल के व्यवहार का वारण करना। २ सभी पापों का वारण करना, ३. सर्भ पापों का वारण करने से पाप रहित होना। ४. सभी पापो के वारण करने मे लगा रहना।

भगवान पार्श्वनाथ के चातुर्याम का यह भ्रा रूप है, जो निर्ग्रन्थ नातपुत्त की मान्यता से जोडा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि बुद्ध के समय भगवान पार्श्वनाथ क अनुयायी थे।

६. **संजयबेलट्ठिपुत्त**—सजय का मत सन्देहवाद का प्रतिपादन करता है ये किसी भी तत्व जैसे —परलोक, देवता, पुण्यापुण्य के विषय मे कोई निश्चित मत का प्रतिपादन नही करते। उनका कहना है कि मैंने न परलोक देखा है, न देवता आदि को, तब कैसे कह दूं कि उनका अस्तित्व है? हो सकता है, उनका अस्तित्व हो भी। इसके विषय में मैं कुछ नहीं कह सकता। तथागत मरने के बाद होते हैं, यह भी मैं नहीं जानता।

उपर्युक्त श्रमणो मे आज निगंठनातपुत्त का ही मत बच पाया है।

सन्दर्भ-सूची

१. पद्मचरित ४/६१-१२. २. वही, ११/१६६-२०१
३. वही, १०६/८०-८३. ४. वही, १०६/८४.
५. ब्राह्मणे ब्रह्मचर्यतः। वही ६/२०६.
६. येषां च विरोधः शाश्वतिः (अष्टाध्यायी २/४/६) पर महाभाष्य-येषां च इत्यस्यावकाशः मार्जारमूषणं श्रमण श्रमणमाह्मण मित्यादौ, ज्ञेयः।
७. रागकोपानुपत्लु चित्तः समण इत्युच्यते—भगवती आराधना (विजयोदया टीका १३४)।
८. नेरूत्तकावदन्ति सममणो समणो इति। समणस्सभावो सामण्णं तच्च किं? समानता चारित्रं।
९. प्रवचनसार—९२.
१०. वही, तत्वदीपिका टीका। ११. मूलाचार, १००२.
१२. सहमनसाशोभनेन निदान परिणाम—पापरहितेन च चेतसा वर्त्तत इति समनसः। स्थानांग टीका पृ. २६८.
१३. सूत्र कृतांग १/१६/२.
१४. दशवैकलिक (जिनदासचूर्णि) पृ. १५१, उत्त. १६/१.
१५. भगवती आराधना—विजयोदया टीका-३४१.
१६. मूलाचार १००३. १७. वही १००३ तात्पर्यवृत्ति।
१८. भगवती आराधना—विजयोदया—१५४.
१९. मूलाचार—आचारवृत्ति—५६७. २०. वही ८८८.
२१. वही, २२. नियमसार—तात्पर्यवृत्ति—६.
२३. मूलाचार ८८८ (आचारवृत्ति)।
२४ धर्मामृत (अनगार)—प० कैलाशचन्द्र शास्त्री एव डा. ज्योतिप्रसाद जैन द्वारा लिखित प्रधान सम्पा०।
२५. मन्दताः सर्वकल्याण प्राप्तवन्तः। मूलाचार ८८८ (आचारवृत्ति)।
२६. दान्ताः पचेन्द्रियाणां निग्रहपरा.—वही ८८८ (आचा०)
२७. यतय उपशमक क्षपक श्रेण्यारूढ़ाः॥ प्रवचनसार—५० (तात्पर्यवृत्ति)।
२८. मूलाचार—आचारवृत्ति—३०.
२९. वस्त्रादिपूरिग्रहरहितत्वेन निर्ग्रन्थः॥ प्रवचनसार—तात्पर्यवृत्ति—२६६.

३०. मुंडे इंदिय केसावणायणेस मुंडो—दशवैकालिक—अगस्त्यसिंह–चूर्णि–पृ. ६५.
३१. बहुश्रुत सर्वरमन्द्र पारंग–मूलाचार आचारवृत्ति-१८१
३२. पंचास्तिकाय—२/१/१५. ३३. सूत्रकृतांग–२/१/१५
३४. मूलाचार—५६७ (आचारवृत्ति)।
३५. व्यवहारेण नग्नत्व यथाजातरूपं निश्चयेन त स्वात्मरूप तदित्यभूतं यथाजातरूप धरतीति यथा अति—स्फुधरः निर्ग्रन्थोजानइति। प्रवचनचार–२०४ तात्पर्य.
३६. मूलाचार ८८६. ३७. प्रवचनसार–तात्पर्यवृत्ति-३०३.
३८. वही, २०३ (तात्प्रदीपिका)।
३९. वही, तात्पर्यवृत्ति (२६८)।
४०. वही, तत्वप्रदीपिका—२०२. ४१. वही, तात्पर्यवृत्ति
४२. वही—२०९. ४३. प्रवचनसार—तात्पर्यवृति।
४४. भगवती आराधना—२३६. ४५. वही—२६६.
४६ वही ४६३ (विजयोदया)।
४७. नग्नो विवासिस मागधे च क्षपणके।
४८. भगवती आराधना—२१४०।
४९. प्रवचनसार—तात्पर्यवृत्ति—२१०।
५०. प्रवचनसार—२१०. ५१. मूलाचार—१८१.
५२. वही—आचारवृत्ति (७८३) ५३. वही—७८६
५४. वही—आचारवृत्ति। ५५. पद्मचरित १०९/८०.
५६. वही– १०९/८१.
५७. दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि, पृ. ७०।
५८. बोधपाहुक—७. ५९. वही—८.
६०. वही—१८. ६१. वही—१९.
६२. ठाणांग—पृ. ६४६। ६३. सुत्तनिपात १/५/२.
६४. वही—४/१२।
६५. अचेलको होमि... हत्थापलेखनो... नाभिहत न उद्दिस्सकत न निर्मंतण सादियागी, सो न कुम्भीमुखा पटिगण्हामि न कलोपि मुखा पटिगण्हामि, न एलक मतरं न दंडमंतरं न मुसलमतर, न द्विन्न भुजमानान न गब्भनिया, न पायमानया, न पुरिसतरगताम्, न संकितिसु, न यथ सा उपट्ठितो होति, न यथा मिक्खका संड संड चारिनी, न मच्छ, न मांसं न सुरं, न मेरय, थुसोदक पिवामि सो एकागारिको वा होमि, एकालोपिका, द्वागारिको होमि द्वालोपिको सत्तागारिको वा होमि सत्तालोपिका, एकाहं व आहारं-आहारेमि द्वीहिक व अहार आहारेमि सत्ताहिकम्मि आहारं आहारेमि। इति एयरूपं अद्धमासिक पि परियाम भत्तभोजनानुयोगं अनुयुतो विहरामि ··· केस्स मस्सुलोचको वि होमि कसमस्सु लोचनानुयोगं अनुयुयो—यावउदविन्दुम्हि पि मे दया वच्च पटिठताहोति। महा खुददके पाणे विसमगते सघातं आयादेस्संति। सो तत्तो सो सीनो एको मिसनके वने।
नग्गोन च अग्गि आसीनो एसनापसुतोमुनीति ॥
६६. ब्र० शीतलप्रसाद: जैन बौद्ध तत्वज्ञान, पृ. २०२-२०४। ६७. महावग्ग —१/१/७।
६८. सिरिपासणाहतित्थे सरयूतीरे पलासणयरत्थो।
पिहितासवस्य सिस्सो, महासुदो बुड्ढकंकत्ति मुणी ॥
६९. गौतम, दी मैन, २२/५।
७०. हिन्दू सभ्यता पृ० २३९।
७१. पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म, पृ० २४।
७२. या च समेति पापानि अणुं थूलानि सब्बसो।
समितत्ता हि पापानं समणाति पवुच्चति ॥
धम्मपद—१० (धम्मट्ठवग्गो)
७३. सुत्तनिपात—पृ० २१।
७४. वही, पृ० ७६, संयुत्तनिकाय १, पृ० १६७।
७५. संयुत्तनिकाय १, पृ० १८४।
७६. चूलहस्थिपदोपम सुत्त (मज्झिमनिकाय १/३/७)।
७७. उपालिसुत्त (मज्झिमनिकाय २/१/६)।
७८. महाअस्सपुर सुत्तन्त (मज्झिमनिकाय १/४/९)।
७९. विनयपिटक चुल्लवग्ग।
८०. विनयपिटक—महावग्ग।
८१. भरतसिंह उपाध्याय: बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन पृ० ८३४।

चिंतन के लिए :

८. पार्श्वनाथ और पद्मावती ×

□ श्री राजमल जैन

केरल के जैन मन्दिरों में पार्श्वनाथ की प्रतिमाएँ हर स्थान पर पाई जाती हैं। जहां प्रतिमा उकेरी गई हैं वहां भी पार्श्वनाथ की प्रतिमा अवश्य अंकित पाई जाएगी। इसी प्रकार खुदाई मे प्राप्त मूर्तियों में पार्श्वनाथ की प्रतिमायें ही अधिक प्राप्त हुई हैं। पद्मावती देवी पार्श्वनाथ की यक्षी या शासनदेवी हैं। पार्श्वनाथ की मूर्ति के साथ या अलग प्रतिमा के रूप में पद्मावती का अंकन भी सामान्यतया पाया जाता है। केरल मे वे अब भगवती के रूप में पूजी जाती हैं। उनके मन्दिर भगवती के मन्दिरों के रूप में परिवर्तित कर दिए गए हैं ऐसा कुछ विद्वानों का मत है। जैसे कल्लिल और तिरुच्चारणट्टमले के भगवती मन्दिर।

पार्श्वनाथ जैनों के तेईसवें तीर्थंकर हैं। वे केवल पौराणिक देवता नही हैं। वे इस भूतल पर सचमुच जन्मे थे। उन्होंने सत्य, अहिंसा आदि का उपदेश दिया था। उनकी स्मृति में आज भी बिहार का एक पर्वत 'पारसनाथ हिल' कहलाता है। इसी नाम का एक रेलवे स्टेशन भी है। उनकी वास्तविकता का इससे बड़ा और क्या प्रमाण हो सकता है? इसके अतिरिक्त, बौद्ध साहित्य में उनसे संबंधित उल्लेखों आदि के आधार पर हरमन याकोबी ने उनकी ऐतिहासिकता सिद्ध की है। डा० राधाकृष्णन ने भी उन्हें ऐतिहासिक व्यक्तित्व माना है।

तीर्थंकर पार्श्व का जन्म आज १९९१ से २८६८ वर्ष पूर्व हुआ था। इस गणना का आधार इस प्रकार है—अन्तिम और चौबीसवें तीर्थंकर महावीर का निर्वाण ईसा से ५२७ वर्ष पूर्व हुआ। उनसे २५० वर्ष पूर्व पारसनाथ हिल पर पार्श्वनाथ का निर्वाण जैन परम्परा मे मान्य है। उनकी आयु १०० वर्ष थी। इस प्रकार—१९९१+५२७+२५०+१००=२८६८ वर्ष का योग आता है।

पार्श्व का जन्म वाराणसी में हुआ था। उनका जन्म-स्थान आजकल की वाराणसी के भेलपुर नामक मुहल्ले में विद्यमान है। जैन यात्री आज भी उस स्थान की वंदना करते हैं। उनके पिता वाराणसी के राजा अश्वसेन थे। उनकी माता का नाम वामादेवी था। कुछ लेखक या आख्यान उनके पिता का नाम विश्वसेन और माता का नाम ब्राह्मीदेवी भी बताते हैं किन्तु सबसे अधिक ज्ञात और प्रचलित नाम अश्वसेन और वामादेवी ही है। बौद्ध साहित्य मे भी राजा अश्वसेन का उल्लेख मिलता है। उनका गोत्र काश्यप और वंश उरग था। उरग का अर्थ है—उर अर्थात् पेट के बल पर गमन करने वाला यानी नाग। इसका अर्थ यह है कि वे नागवंशी थे या नाग जाति में उत्पन्न हुए थे। उनके पैर मे सर्प का चिह्न भी जैन कथाओ मे वर्णित है। उनके वंश की राजकीय ध्वजा पर भी नाग का अंकन था। पार्श्व का शरीर नौ हाथ ऊँचा था। उनके जीवन की एक निम्नलिखित घटना की स्मृति मे सर्प फणावली उनकी प्रतिमाओ के साथ जुड गई।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ का जीवन अनेक काव्यों, पुराणों आदि का विषय है। दिगम्बर आम्नाय के ग्रन्थो में तिलोयपण्णत्ति और आचार्य गुणभद्र का उत्तरपुराण इनमे प्रमुख हैं। यह पुराण कर्नाटक के बंकापुर नामक स्थान मे ईस्वी सन् ८९८ मे पूर्ण हुआ था जब कि राष्ट्रकूट राजा अकालवर्ष राज्य कर रहा था। श्वेताम्बर ग्रन्थों मे कल्पसूत्र और आचार्य हेमचन्द्र का त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र प्रमुख है जिसमे कि त्रेसठ श्रेष्ठ पुरुषों का चरित्र वर्णित है। दोनो सम्प्रदायों मे मुख्य अंतर पार्श्व के विवाह को लेकर है। दिगम्बरों के अनुसार पार्श्व के विवाह का प्रस्ताव तो आया था किन्तु उन्होने उसे अस्वीकार कर दिया था। श्वेतांबर मान्यता इसके विपरीत है। उसके

× लेखक की अप्रकाशित पुस्तक 'केरल में जैन मतम्' का एक अध्याय।

अनुसार उनका विवाह राजा प्रसेनजित की पुत्री प्रभावती से हुआ था। किंतु प्राचीन श्वेतांबर ग्रंथ कल्पसूत्र से इसका समर्थन नहीं होता है। केरल में भी इसी प्रकार की एक भ्रांति है। वहां नागरकोविल नामक एक स्थान पर नागराज मन्दिर या कोविल है। उसमें पार्श्वनाथ की पीतल की मूर्ति शेषशायी विष्णु के रूप मे पूजित है (फणावली के कारण यह सम्भव हुआ होगा) यह मन्दिर १६वीं शताब्दी तक जैन मन्दिर था वहां यह बताया जाता है कि पार्श्वनाथ का विवाह हुआ था और और उनकी तीन फणों का छत्र धारण करने वाली दो पत्नी है। यह गलत धारणा इसलिए बनी जान पड़ती है कि इस मंदिर के प्रवेश द्वार पर तीन-चार फुट ऊँची धरणेन्द्र और पद्मावती की प्रतिमाएँ बनी हुई है जिनकी आकृति ऊपर की ओर मानवीय है और नीचे का भाग सर्पाकार है। दोनों के ऊपर तीन फणों की छाया है। जैन आख्यान की जानकारी के अभाव मे यह धारणा बन गई ऐसा जान पड़ता है : ये पार्श्व के यक्ष-यक्षी हैं।

पार्श्व की जीवन-गाथा अनेक पिछले जन्मों से चली आ रही शत्रुता और असाधारण क्षमा की अनोखी कहानी है जो आज भी इतनी ही रोचक बनी हुई है। इसके अतिरिक्त, अपने उपकारी पार्श्वनाथ के प्रति धरणेंद्र और पद्मावती ने कृतज्ञता का जो उदाहरण पार्श्व के ही जीवनकाल मे प्रस्तुत किया और जिस प्रकार पार्श्व के अनुयायियों का आज भी उपकार करते चले आ रहे हैं, वह भी एक अनूठा सत्य है। यह कहानी उत्तरपुराण के आधार पर यहाँ दी जा रही है।

सुरम्य देश में पोदनपुर नाम के एक नगर में अरविंद नाम का एक राजा राज्य करता था। उसकी नगरी में विश्वभूति नामक एक श्रुतिज्ञ ब्राह्मण भी निवास करता था। उसके दो पुत्र थे। एक का नाम कमठ था और दूसरे का नाम मरुभूति था। मरुभूति की स्त्री वसुंधरी अत्यन्त सुन्दर थी। उसको पाने के लिए कमठ ने मरुभूति को मार डाला।

मरुभूति मर कर मलय देश के एक वन में वज्रघोष नामक हाथी हुआ। इसी बीच राजा अरविंद राज्य त्याग कर मुनि हो गए थे और वे भ्रमण करते हुए उसी वन मे आकर ध्यानस्थ हुए। हाथी मद में था और वह उन्हें मारने के लिए लपका किंतु जैसे ही उसने उनके वक्षस्थल पर श्रीवत्स चिह्न देखा, उसे मुनि से अपने पूर्व जन्म के संबंध का स्मरण हो आया। मुनि से उसने धर्म श्रवण किया और लौट गया। अब वह दूसरों के द्वारा तोड़ी गई पत्तियों और शाखाओं को खाकर ही अपना जीवन-निर्वाह करने लगा। वह कमजोर हो गया। एक दिन वह पानी पीने के लिए वेगवती नदी के किनारे गया वहाँ वह दलदल में फँस गया। कमठ उसी वन में मरकर कुक्कुट सर्प के रूप मे जन्मा था। उसने हाथी को डस लिया। हाथी मर कर सहस्रार नामक स्वर्ग में देव के रूप मे उत्पन्न हुआ।

स्वर्ग में अपनी आयु पूर्ण करने के बाद मरुभूति का जन्म पुष्कलावती देश में राजा विद्युन्मति के यहाँ रश्मिवेग नामक पुत्र हुआ। राज-सुख भोगने के बाद जब उसे अपनी आयु अल्प जान पड़ी, तो उसने मुनि-दीक्षा ले ली। वह हिमगिरि की एक गुफा में ध्यान मे लीन हुआ। उधर कमठ का जीव धूमप्रभा नामक नरक की भयंकर यातनाएँ भोगने के बाद उसी स्थान पर अजगर के रूप में जन्मा था। उसने मुनि को निगल लिया। वे अच्युत स्वर्ग मे देव हुए।

स्वर्ग के सुखी जीवन के बाद मुनि के जीव ने पद्म देश के अश्वपुर नगर के राजा वज्रवीर्य के घर वज्रनाभि नामक पुत्र के रूप में जन्म लिया। उसने चक्रवर्ती के सुख भोगे और अंत मे मुनि जीवन अपना लिया। अजगर छठे भयंकर नरक में गया था। वहाँ असह्य यातनायें भोगने के बाद वह कुरंग नामक भील हुआ। संयोग से वज्रनाभि मुनि भी उसके स्थान के समीप योग मुद्रा में लीन हुए। भील ने वैरवश उनको अनेक प्रकार के कष्ट दिए जिनके कारण उनका प्राणांत हो गया। वे ग्रैवेयक नामक स्वर्ग विमान में श्रेष्ठ अहमिंद्र देव हुए।

अहमिंद्र पद का अतिशय सुखमय दीर्घ जीवन जीने के बाद मरुभूति का जीव कोशल देश की अयोध्या नगरी में राजा वज्रबाहु के यहाँ आनन्द नामक पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ। बड़ा होने पर उसने अष्टाह्निका पूजा करवाइ जिसमें विपुलमति नामक मुनि शामिल हुए। राजा आनन्द ने मुनि से प्रश्न किया—"जिनेन्द्र प्रतिमा तो

अचेतन है, उसमें भला-बुरा करने की क्षमता नहीं है, वह पुण्य फल कैसे प्रदान कर सकती है?" मुनि ने उत्तर दिया—"प्रतिमा अचेतन अवश्य है किंतु राग-द्वेष से रहित है, शस्त्र-अलंकार आदि से भी रहित है और शुभ भावों को दर्शाती है। उसका दर्शन करने वाले के भाव शुद्ध होते हैं तथा शुभ भावों के कारण पुण्य होता ही है।" राजा को इस उत्तर से बड़ा संतोष हुआ। उसने अनेक जिन-मन्दिरों और मूर्तियों का निर्माण कराया। एक दिन उसने अपने मस्तक पर एक सफेद बाल देखा, उसे देख उसे वैराग्य हो गया। पुत्र को राज्य देकर उसने तप की राह अपनाई। तीर्थंकर कर्मबंध में सहायक सोलहकारण भावनाओं का चिंतन करते हुए उसने घोर तप किया। अन्त में, आनन्द मुनि एक वन मे ध्यानस्थ हुए। उसी वन मे कमठ का जीव सिंह के रूप मे जन्मा था। वह प्रकट हुआ और उसने मुनि का कंठ पकड़ कर उसका प्राणांत कर दिया। आनंद मुनि अच्युत स्वर्ग के प्राणत नाम मे विमान में अहमिंद्र देव हुए।

स्वर्ग की अतिशय सुखपूर्ण दीर्घ आयु पूर्ण करने के बाद प्राणत विमान के इन्द्र वाराणसी के काश्यपगोत्री राजा विश्वसेन की रानी ब्राह्मीदेवी के गर्भ में आए। रानी ने उस समय सोलह स्वप्न देखे जिनका फल राजा ने यह बताया कि वे पूजनीय पुत्र को जन्म देगी। समय पर रानी ने पुत्र को जन्म दिया जिसका नाम पार्श्वनाथ रखा गया। वे उग्रवंश मे जन्मे थे। प्रसिद्ध इतिहासकार डा० ज्योतिप्रसाद जैन ने विभिन्न स्रोतों के आधार पर यह मत व्यक्त किया है कि पार्श्वनाथ उरगवंशी थे। उन्होंने लिखा है कि महाभारत युद्ध के बाद कौरवों और पांडवों के राज्य नष्ट हो गए और उनके स्थान पर नाग जाति के राजाओं के राज्य उदित हुए। वाराणसी का उरगवंशी राज्य भी इसी प्रकार के शक्तिशाली राज्यों मे से एक था। वैदिक धारा के ग्रंथों मे इन सत्ताओं का उल्लेख शायद इसलिए नहीं मिलता कि वे इस धारा की अनुयायी नहीं थीं। केरल मे भी उस समय नाग जाति प्रबल थी। उसकी अपनी शासन व्यवस्था थी।

पार्श्वनाथ जब सोलह वर्ष के हुए तब एक दिन वे क्रीड़ा के लिए अपनी सेना के साथ नगर के बाहर निकले। उन्होंने देखा कि उनकी माता का पिता (नाना) अपनी पत्नी के वियोग मे दुखी होकर पचाग्नि तप कर रहा है। उसके चारो ओर आग जल रही थी और ऊपर से तेज सूरज की धूप चमक रही थी। पार्श्व ने उसे नमस्कार नहीं किया। इससे वह क्रुद्ध गया। बझती आग मे लकड़ी डालने के लिए जैसे ही उसने फरसा उठाया कि पार्श्व बोल उठे—"इसे मत काटो, इसमें जीव है। आग तपने से पुण्य नही होता है। उससे जीव हिंसा होती है।" तापस नही माना। उसने लकड़ी काट डाली और उसमे प्रविष्ट नाग-नागिन के दो टुकड़े हो गए। पार्श्वनाथ ने उस जोड़े को धर्म का उपदेश दिया (णमोकार मत्र सुनाया) ताकि उनकी आत्मा को शांति मिले। इस दृश्य के कारण कमठ के जीव तापस महीपाल को वहाँ एकत्र जन-समुदाय के सामने बहुत नीचा देखना पड़ा। उसने मन ही मन पार्श्व से बदला लेने की ठान ली। आचार्य गुणभद्र ने पार्श्वनाथ का एक और नाम सुभौमकुमार भी दिया है।

पार्श्वनाथ जब तीस वर्ष के हुए, तब अयोध्या के राजा जयसेन ने एक दूत को भेंट आदि के साथ अश्वसेन और पार्श्वनाथ के पास यह सदेश देकर भेजा कि कुमार का विवाह उसकी पुत्री के साथ कर देने का उसका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया जाए। दूत ने प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की जन्मभूमि अयोध्या की महिमा का वर्णन किया। आदिनाथ का नाम सुनकर पार्श्वनाथ के सामने प्रथम तीर्थंकर की महान् तपस्या, अद्भुत त्याग और यशस्वी जीवन का चित्र सामने आ गया। उन्होंने अवधिज्ञान से यह जाना कि वे तो तीर्थंकर होने की क्षमता प्राप्त कर चुके हैं। इसलिए उन्होंने विवाह का प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया। वैराग्य हो जाने के कारण वे मुनि बन गये। एक दम नग्न, हाथ मे लकड़ी का कमडलु और मोर के सुकोमल पंखों की एक पिच्छी। उन्होंने उपदेश देने से पहले चार मास तक कठोर तपस्या की।

एक दिन पार्श्वनाथ देवदारु के एक वृक्ष के नीचे ध्यान-मग्न थे कि उस समय तापस महीपाल, जो मरकर अब शम्बर देव के रूप में उत्पन्न हुआ था, उधर से अपने विमान से कही जा रहा था। जैसे ही उसका विमान पार्श्वनाथ के ऊपर आया कि वह रुक गया। शम्बर ने

ज्यों ही पार्श्व को नीचे देखा, त्योंही पूर्व जन्म का वैर उसके मन मे उमड आया। उसने बादलों की घोर गर्जना की, बिजली की भयकर कड़कड़ाहट के साथ घनघोर वर्षा की, पत्थर फैंके तथा अन्य प्रकार से पार्श्वनाथ को कष्ट पहुंचाता रहा किंतु पार्श्व अपने ध्यान से नहीं डिगे। शम्बर के ये उपद्रव "कमठ के उपसर्ग" के नाम से जैन परम्परा मे जाने जाते हैं और बहुसंख्य जैन मन्दिरों में इनके चित्र या उत्कीर्णन पाए जाते हैं। कलाकारो ने इनका चित्रण भी अनेक प्रकार मे किया है। कर्नाटक के शिमोगा जिले के होम्बजा नामक एक स्थान में पार्श्वनाथ की ७वी शताब्दी की एक सात फुट ऊँची सुन्दर पाषाण प्रतिमा है। उसके दोनो ओर कमठ और उसकी पत्नी को पार्श्व पर उपसर्ग करते दिखाया गया है। पहले दृश्य में कमठ पत्थर फेंक रहा है, तो उसकी पत्नी के हाथ मे छुरिका है। दूसरे मे कमठ धनुष बाण ताने हुए है, तो उसकी पत्नी हाथ मे तलवार लिए हुए है। तीसरे मे दोनो ने सिंह का रूप धारण किया है। चौथे मे वे दोनों मदमत्त हाथी के रूप मे प्रदर्शित है। सबसे नीचे उन्हे हाथ जोड़कर पार्श्वनाथ से क्षमा मागते हुए दिखाया गया है। सम्भव है कि सातवी सदी मे उपलब्ध किंतु उत्तरपुराण (नौवी शताब्दी) को अनुपलब्ध किसी पुराण मे यह दृश्यावली वर्णित हो।

घनघोर वर्षा, ओलों की बरसात का परिणाम यह हुआ कि पानी पार्श्वनाथ की नासिका से ऊपर उठने को हुआ। ठीक उसी समय अधोलोक में नागकुमार जाति के देवो के इन्द्र धरणेन्द्र का आसन कंपित हो उठा। धरणेद्र ने अवधिज्ञान से यह जाना कि उनके उपकारी पार्श्वनाथ पर सकट आया है। वह अपनी इन्द्राणी पद्मावती सहित सर्प का रूप धारण कर वहाँ आया और पार्श्वनाथ पर फणो का मण्डप तान दिया। इन्द्राणी पद्मावती ने उसके भी ऊपर एक वज्रमयी छत्र लगा दिया। कुछ के मतानुसार पद्मावती ने पार्श्व को कमल के आसन पर विराजमान कर दिया। ये इन्द्र-इन्द्राणी और कोई नही अपितु पूर्व जन्म के वे ही सर्प-सर्पिणी थे जिनकी सद्गति के लिए पार्श्वनाथ ने उनके अंत समय मे णमोकार मंत्र सुनाया था। आचार्य गुणभद्र कहते है कि देखो सर्प स्वभाव से क्रूर होते है किंतु उन्होने भी अपने उपकारी को नही भुलाया। पार्श्वनाथ को अडिग देख कमठ ने भी उनसे क्षमा मांगी। जिस समय यह घटित हो रहा था, उसी समय पार्श्वनाथ को केवलज्ञान हो गया। अब वे इतने ऊँचे स्तर पर थे कि उन्हें न तो कमठ से कोई द्वेष था और न ही धरणेंद्र से कोई राग। उस समय वे उत्तम क्षमा के सर्वोत्तम साक्षात् उदाहरण थे।

जिस स्थान पर यह घटना घटी, वह स्थान उन दिनों संख्यावती के नाम से जाना जाता था किंतु इस अभूतपूर्व घटना की याद मे उसका नाम बदल कर अहिच्छत्र अर्थात् वह स्थान जहाँ अहि (सर्प) ने छत्र ताना था, कर दिया गया। आज भी वह इसी नाम से जाना जाता है। वह उत्तरप्रदेश के बरेली जिले के आंवला तहसील के रामनगर गांव का एक भाग है। यह कैसा संयोग है कि केरल नपूतिरि ब्राह्मण अहिच्छत्र से केरल मे आ बसे। क्या पार्श्वनाथ के धर्म के अत्यधिक प्रभाव के कारण उन्हे ऐसा करना पड़ा? केरल मे भी उन्हे नाग जाति के लोगो (नायर जाति) से मेलजोल बढ़ाना आवश्यक हुआ। यह बात दूसरी है कि आगे चलकर वे उन पर हावी हो गए।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने ६९ वर्ष और ८ मास तक पैदल घूम-घूम कर अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह अर्थात् आवश्यकता से अधिक सग्रह आदि नही करना आदि सिद्धांतों और आचार-विचार का उपदेश भारत और देशो में दिया था यह बात अनेक कथाओ से प्रमाणित होती है। उनका विहार, तिब्बत, नेपाल से लेकर कोकण, कर्नाटक, पल्लव आदि द्रविड़ देशो मे भी हुआ था। आज उनके उपदेश लिखित रूप मे उपलब्ध नही है। वे महावीर से पहले हुए थे और उनके उपदेश महावीर के प्रमुख शिष्य गौतम गणधर ने चौदह ग्रंथो के रूप मे सकलित किए थे जिन्हें "पूर्व" कहा जाता था। इनके सम्पूर्ण ज्ञाता आचार्य भद्रबाहु थे। इस प्रकार महावीर स्वामी के निर्वाण के १६२ वर्ष बाद ये स्मृति से लुप्त हो गए। यह स्मरणीय है कि पहले समस्त ज्ञान मौखिक था। वेद भी तो १४वी सदी में जाकर लिपिबद्ध किए गए। लुप्त हो जाने पर भी पूर्व ग्रथों का पता कुछ ग्रथो मे उनके उल्लेख से चलता है। इसी प्रकार का एक उल्लेख केशी-गौतम संवाद है जो कि पार्श्वनाथ और महावीर के शिष्यों के बीच हुआ माना

जाता है। केवल इस संवाद के आधार पर कुछ विद्वान यह मत व्यक्त करते है कि पार्श्वनाथ ने चातुर्याम धर्म का अर्थात् अहिंसा, सत्य, अचौर्य तथा अपरिग्रह का ही उपदेश दिया था। किंतु यह मत एकांगी माना जा सकता है क्योंकि इसका दूसरा प्रमाण उपलब्ध नही है। ऐसे विद्वान यह कथन करते हैं कि महावीर ने ब्रह्मचर्य नामक पांचवा व्रत और जोड़ दिया। जैन परम्परा यह मानती है कि सभी तीर्थङ्करो का उपदेश पांचों व्रतों का ही रहा यद्यपि कुछ समय धर्म का उच्छेद हुआ था। लिखित साहित्य के अभाव के संबंध मे यह भी स्मरणीय है कि पूर्वो के जानकार आचार्यों को "श्रुतधराचार्य" कहा जाता था और पार्श्व एवं महावीर के अनुयायियों को आज भी श्रावक (सुनने वाला) कहा जाता है। पार्श्व को अपना इष्ट देव मानने वाली बिहार-बंगाल की "सराक" जाति श्रावक ही है। अब यह जाति अजैन है।

अपनी आयु निकट जानकर पार्श्वनाथ बिहार की वर्तमान पारसनाथ हिल, जिसे जैन लोग सम्मेदशिखर कहते है, जिसकी सबसे ऊँची चोटी "सुवर्णभद्र कूट" पर ध्यानस्थ हुए। वही पर श्रावण शुक्ला सप्तमी के दिन उनका निर्वाण हुआ।

पार्श्वनाथ की ख्याति एक चमत्कारिक तीर्थङ्कर के रूप मे सर्वाधिक है। नौवी शताब्दी मे उत्तरपुराण की रचना करने वाले आचार्य गुणभद्र ने पार्श्व का स्तुति मे कहा है कि हे भगवान, गुणों आदि के विचार से सभी तीर्थङ्कर समान है किंतु आपका माहात्म्य अधिक ही प्रकट हुआ है। इसका कारण उन्होंने कमठ द्वारा किए गए उपसर्ग को बताते हुए यह मत प्रकट किया है कि उससे भगवान की असाधारण सहनशीलता और माहात्म्य प्रकट आज बीसवी सदी मे तो पार्श्वनाथ की महिमा कई गुना अधिक बढ़ गई है। अनेक पुराण-प्रसग और हजारों भक्त यह कहते मिल जायेंगे कि पार्श्व की कृपा से यह फल मिला। जैन मान्यता के अनुसार तो निर्वाण के बाद तीर्थङ्कर ऊर्ध्वलोक म सिद्धशिला पर निराकार विराजते हैं। वे सभी प्रकार के सांसारिक कर्मों-बंधनों से मुक्त हो वीतराग हो जाते है। वे न तो किसी का हित करते हैं और नही किसी का अहित। उनका गुणगान स्मरण या दर्शन तो केवल उन्हीं जैसे शुद्ध आचार एवं विचार की साधना और उसके परिणामस्वरूप मोक्ष-लाभ के लिए किया जाता है। तो फिर इतनी चमत्कारिता पार्श्वनाथ में कैसे आ गई? इसका समाधान यह है कि धरणेन्द्र और पद्मावती ने अपने उपकारी पार्श्वनाथ का उपसर्ग तो दूर किया ही, वे पार्श्व के भक्तो के कष्टों का भी निवारण करते हैं। ऐसा वे धर्मवत्सलता के कारण करते है। आचार्य गुणभद्र कहते है कि—"देखो, ये धरणेन्द्र और पद्मावती बड़े कृतज्ञ और बड़े धर्मात्मा है इस प्रकार की स्तुति को वे संसार में प्राप्त हुए है परन्तु तीनों लोकों के कल्याण की भूमिस्वरूह आपका ही यह उपकार है ऐसा समझना चाहिए। निष्कर्ष यह है कि पार्श्वनाथ की मूर्तियो अथवा भक्ति के जो चमत्कार देखे जाते हैं, उनके कर्ता ये दोनों ही होते है। ये पार्श्व के यक्ष-यक्षी अथवा शासनदेवता कहलाते है। चमत्कारों के क्षेत्र मे महादेवी पद्मावती ने असाधारण ख्याति प्राप्त की है। आचार्य मल्लिषेण ने अपनी रचना "भैरव पद्मावतीकल्प" मे उन्हें 'श्रीमत्पार्श्वजिनेशशासनसूरी पद्मावती देवता।" कहा है। पद्मावती के स्वतत्र मन्दिर भी होम्बुजा, नागदा, बघेरा आदि स्थानो पर निर्मित हुए हैं। केरल में वायनाड जिले के चुंडेल नामक स्थान के पास कूटमण्डा ग्राम की पद्माम्बा इस्टेट मे एक दर्पण मन्दिर (Mirror Temple) है जिसम पार्श्वनाथ और पद्मावती देवी की विविध छबियाँ दर्पण और बिजली की सहायता से दिखाई जाती है (इसे पिछले चालीस वर्षों मे हजारो जैन-अजैन लोगों ने देखा है। केरल सरकार ने इसे कालीकट-वायनाड़ के पर्यटक केन्द्रों मे गिनाया है) केरल के जैनों को बड़ी श्रद्धापूर्वक पद्मावती की आरती आदि करते देखा जा सकता है। दिल्ली के दिगम्बर जैन लाल मन्दिर में पद्मावती की आरती आदि करती भीड़ देखी जा सकती है। दिल्ली में ही श्वेतांबर समाज द्वारा कुछ करोड़ की लागत से वल्लभ स्मारक का निर्माण कराया जा रहा है। उसमे मूर्ति के लिए स्थान नहीं है किंतु उसके निर्माण से पहले पद्मावती का एक स्वतत्र मंदिर बनवाया गया. पालीताना में भी इसी समाज का एक भव्य समवसरण मन्दिर बना है जिसमें पार्श्वनाथ की १०८ प्रतिमाएँ है और धरणेन्द्र तथा पद्मावती की भी

इस प्रकार ये दोनों ही समाजों मे मान्य हैं। श्वे० में किसी भी मूर्ति या मन्दिर की प्रतिष्ठा या पंचकल्याणक महोत्सव के समय इनका आह्वान अवश्य किया जाता है।

पद्मावती जैनों मे ही लोकप्रिय नहीं है, अपितु अन्य मतों में भी वे मान्य हैं। वे तिरुपति के बालाजी की प्रिया हैं। कश्मीरी कौल संप्रदाय के ग्रन्थ शारदातिलक मे उनकी उपासना विधि दी गई है। यह उल्लेखनीय है कि कश्मीर में अशोक ने जैनधर्म का प्रचार किया था ऐसा कथन कश्मीर के इतिहास से संबंधित रचना राजतरंगिणी मे है।

जैन मान्यता के अनुसार धरणेन्द्र और पद्मावती नाग कुमार जाति के देवो के इन्द्र और इन्द्राणी है। इसको सूचित करने के लिए उनकी मूर्ति आधी मानव शरीर के रूप में तो आधी सर्प की देह के आकार की बनाई जाती है। इस प्रकार का अंकन नागरकोविल के नागराज मंदिर के प्रवेश द्वार पर है। यह मंदिर किसी समय जैन था। पार्श्वनाथ की धातु मूर्ति आज भी विष्णु के रूप मे पूजी जाती है। जैन मन्दिरों में इन शासन देवो को पार्श्व के आसन के नीचे या अलग किसी स्थान पर अथवा मन्दिर के बाहर स्थापित किया जाता है। इनके ऊँचे मुकुट में भी लघु पार्श्व प्रतिमा अंकित की जाती है। प्रतिमा मुकुट के ऊपर भी हो सकती है। इन पर तीन फणो की छाया भी प्रदर्शित प्रायः होती है। धरणेन्द्र और पद्मावती से भिन्न फणावली पार्श्वनाथ की मूर्ति पर अंकित की जाती है। सामान्य नियम यह है कि पार्श्व की मूर्ति पर सात फण होने चाहिए। किंतु कहीं-कहीं पाँच फण भी देखे जाते हैं जो कि वास्तव मे सातवें तीर्थङ्कर सुपार्श्वनाथ की प्रतिमा पर प्रदर्शित किए जाते हैं। दोनों तीर्थङ्करों की प्रतिमाओं की पहिचान उनके पादासन पर बने चिह्नों से होती है। पार्श्व का लांछन सर्प है जब कि सुपार्श्व का नंद्यावर्त। पुराण मे तो इतना ही संकेत है कि धरणेन्द्र ने फणामंडप तान दिया था किंतु कवियो, कलाकारों, भक्तों आदि ने अपने-अपने रंग भर दिये। कहीं-कहीं तो, ग्यारह या हजार फणों की योजना भी पाई जाती है। कर्नाटक के बीजापुर नगर के पास दरगान नाम के एक स्थान के पार्श्वनाथ मन्दिर मे सहस्रफणी सुन्दर पार्श्व प्रतिमा है। उनके फणों से दूध इस तरह निकलता है कि पार्श्वनाथ के अभिषेक का मनोहारी दृश्य मन को आनंद देता है। कलाकारों पर कौन रोक लगा सकता है?

तीनों लोक संबंधी जैन विवरण में नागकुमार देवों का विवरण उपलब्ध है। जिस पृथ्वी पर हम रहते हैं, उसके नीचे सात भूमियाँ और हैं। इनमे से पहली पृथ्वी के रत्नप्रभा नामक भाग मे इन देवों का निवास है। धरणेन्द्र और पद्मावती इनके स्वामी या इन्द्र और इंद्राणी है। पद्मावती धरणेन्द्र की अग्रमहिषी है। ये एक ही समय मे अनेक स्थानों पर अनेक रूप धारण कर सकते हैं। इस क्षमता को विक्रियाऋद्धि कहा गया है। यही कारण है कि वे अनेक भक्तो का कष्ट निवारण कर सकते हैं। सोचते ही ये कहीं भी प्रकट या अदृश्य रूप मे आ सकते हैं। ये एक साथ सौ लोगो का पोषण या मरण कर सकते हैं। धरणेन्द्र तो एक सेना को मार भगाने मे समर्थ है। दक्षिण भारत की एक रानी द्वारा आह्वान किए जाने पर उसके पति की रक्षा के लिए उन्होंने एक मायामयी सेना ही खड़ी कर दी थी ऐसा एक प्रसंग मिलता है। इनकी आयु दस हजार वर्ष बताई गई है। अभी वे और सात हजार वर्षों तक जगकल्याण करते रहेंगे। इनके भवन सदा सुगंधित रहते हैं। शायद यही कारण है कि इनका आह्वान गुलाब, चंदन आदि सुगंधित पदार्थों द्वारा किया जाता है। मंत्र-शास्त्र के ज्ञाता इस बात को भलीभांति जानते हैं कि बिना श्रद्धा के इन्हें प्रसन्न कर पाना कठिन है। इनसे संबंधित अनेक स्तोत्र, स्तुतियां या भजन संस्कृत, हिन्दी, कन्नड आदि भाषाओं मे विशेष रूप से पद्मावती के संबंध मे पाए जाते हैं। देवी पद्मावती को "त्रिफणा" और "त्रिनेत्रा" कहा गया है। वे तीसरे नेत्र से यह जान लेती है कि कहां क्या हो रहा है। इस क्षमता को जैनधर्म मे अवधिज्ञान की संज्ञा दी गई है। अधिकांशतः वे स्वप्न देकर मार्गदर्शन करती हैं ऐसा मंत्रविदों का अनुभव है। उनसे जुड़े मंत्रों की संख्या भी बहुत अधिक है। वे रक्तवर्ण हैं जब कि धरणेन्द्र श्यामवर्ण है। भवनवासी देवी पद्मावती और पार्श्वनाथ का संबंध प्राचीनकाल से है। इसे हिंदू या बौद्ध तांत्रिक प्रभाव बताना अनुचित है। उसकी प्रबलता तो ईसा के लगभग एक हजार वर्ष बाद हुई थी। जैन के ये रागी है और जैन में वीतराग की पूजा का विधान है।

□□

असंयत-समकित सत्-आचरण रहित नहीं होता

☐ श्री जवाहरलाल मोतीलाल जैन, भीण्डर

प्रश्न—अभक्ष्य भोक्ता के सम्यक्त्व हो सकता है या नहीं ? इसी तरह असयत समकिती के कुछ आचरण होते हैं या नहीं ?

उत्तर—यद्यपि प्राय: सभी गृहस्थाचार प्रतिपादक शास्त्रों में अभक्ष्य का त्याग पचम गुणस्थान में ही बताया है। इतना तक भी देखिए—प्राय: सभी शास्त्रो मे अष्ट-मूलगुण का पालन तथा सप्तव्यसन का त्याग करने के लिए भी प्रथम प्रतिमाधारी को ही (यानी पंचम गुणस्था-वर्ती को ही) कहा है।

यहां इतना विशेष है कि जैसे रात्रि भोजन त्याग छठी प्रतिमा में विहित है, यहा तक कि छठी प्रतिमा का नाम भी रात्रि भुक्ति त्याग है। तथापि इससे पूर्व भी प्रथम प्रतिमा वाला भी रात्रिभोजन का त्यागी होता है। [कार्तिकेयानुप्रेक्षा गा० ३२८ टीका तथा व० श्रा० ३१४ तथा सावयधम्मदोहा गा० ३७ तबोलोसहि जलु ···· ··· इत्यादि शब्द वाली गाथा] एवमेव सामायिक प्रतिमा में सामायिक की बात है, पर द्वितीय प्रतिमाधारी भी सामा-यिक करता है। प्रोषधोपवास चौथी प्रतिमा का नाम तथा काम कहा, परन्तु व्रत प्रतिमा वाला भी "पर्व चतुष्टय माहिं पाप तजि प्रोषध धरिये" (छह ढाला) इस कथन के अनुसार प्रोषध यथा-शक्ति करता ही है। इसी प्रकार यद्यपि प्राय: प्रथम प्रतिमा मे ही अष्टमूल पालन व सप्त व्यसन त्याग तथा एवमेव अभक्ष्य-भक्षण-त्याग शास्त्रो में लिखा है तथापि सातिचार व अनियमत: ये सब सम्यक्त्वी भी पालता है। प्रथम प्रतिमा मे सप्तव्यसन त्याग निरति-चार व अष्टमूलगुण पालन निरतिचार आवश्यक है [सा० ध० ३/७-८] व नियमत: पालन आवश्यक है। इतना ही नहीं प्रथम प्रतिमा वाला इन दोनों का मन वचन काय से पालन करता है। [क्रियाकोष १८३२] परन्तु असंयत सम्यक्त्वी के अष्टमूलगुण पालन व सप्त व्यसन त्याग अनियमत: (नियम लिए बिना ही) तथा सातिचार (सदोष) पलते हैं। सातिचार व अनियमत: भी पालता इसलिए है कि सम्यक्त्वी तो सदा आगे बढ़ने की चटापटी से युक्त रहता है। अत: सदा वह आगे के अभ्यास में प्रवृत्ति की वृद्धि रखता है कहा भी है—

हे अव्रत परि जगत तें, विरकित रूप रहात ॥१८१६
दोहा—नहिं चाहैं अव्रत दशा, चाहे व्रत-विधान।
मन में मुनिव्रत की लगन, सो नर सम्यकवान ॥१८१७ दो.
[दौलतरामकृत क्रियाकोश]

अव्रती तो है, पर जगत से विरक्त रहता है। वह अव्रत होता हुआ भी अव्रत दशा नहीं चाहता, वह व्रत-विधान चाहता है। उसमें मुनिव्रत पाने की लगन बनी रहती है; ऐसा जीव सम्यग्दृष्टि होता है। उसके मूलगुणो व व्यसन त्याग का पालन सातिचार-सदोष होने से ही वह प्रथम प्रतिमा का धारी नही कहला सकता। जैसे कि पहली प्रतिमा में पांच अणुव्रतों की प्रवृत्ति तो सम्भवती है, पर इनके अतिचार दूर करता नहीं, इसलिए व्रत प्रतिमा नाम नही पाता। [रा० वा० ७/२०/५५८ तथा चारित्र हाहुड़ (जयचन्द जी २३१]।

अब असंयत समकिती के सातिचार अष्टमूल पालन व सप्तव्यसन त्याग की क्या दशा क्वचित् कदाचित् हो सकती है ? उसके लिए निम्न प्रकरण द्रष्टव्य हैं—प्रथम प्रतिमा के प्रकरण में कहा है कि—

ननु साक्षान्मकारादित्रयं जैनों न भक्षयेत्।
तस्य किं वर्जनं न स्यादसिद्ध सिद्धसाधनात् ॥
मैवं यस्मादतिचारा: सन्ति तत्रापि केचन।
अनाचारसमा: नूनं त्याज्या: धर्मार्थिभि: स्फुटम् ॥
तद्भेवा: सन्ति बहव: मादृशां वागगोचरा: ।·······
लाटी संहिता १/८-६

अर्थ—"कदाचित् यहां पर कोई यह शंका करे कि

कोई भी जैनी मद्य, मांस, शहद का साक्षात् भक्षण नहीं करता इसलिए क्या जैनी मात्र के उसका त्याग नहीं हुआ? अवश्य हुआ। इसलिए सिद्ध साधन होने से आपके त्याग कराने का उपदेश निरर्थक है?

उत्तर—यह बात नहीं है, क्योंकि यद्यपि जैन इनका साक्षात् भक्षण नहीं करते है तथापि उनके कितने ही अतिचार हैं और वे अतिचार अनाचारों के समान हैं। इसलिए धर्मात्मा जीवों को (यानी प्रथम प्रतिमा वालों को) उन अतिचारों का भी त्याग अवश्य कर देना चाहिए। उन अतिचारो के बहुत से भेद तो मुझ जैसे पुरुष से कहे भी नहीं जा सकते।"

आगे कहा है—

निसर्गाद्वा कुलाम्नायादायातास्ते गुणाः स्फुटम्।
तद्विनापि व्रत यावत्सम्यक्त्वं च गुणोऽङ्गिनाम्॥
—ला० स० १/१५५

अर्थ—इस जीव के जब तक सम्यग्दर्शन गुण रहता है तब तक मद्य, मांस मधु का त्याग तथा ५ उदुम्बरों का त्याग रूप गुण, चाहे तो स्वभाव से हो या चाहे कुल परम्परा की परिपाटी से चले आ रहे हों, नियम रूप से या व्रत रूप से धारण न किये हों, तो भी वे गुण ही कहलाते है॥१५५॥ अर्थात् सम्यक्त्वी के ये होते ही हैं। तथापि प्रथम प्रतिमा रूप त्याग के परिणाम बिना सदोष-सातिचार ही पलते हैं। इसका अत्यन्त स्पष्ट खुलासा लाटी संहिता प्रथम सर्ग से जानना चाहिए। शिवकोटी विरचित रत्नमाला १९ मे कहा है—[श्रावका० सं० ३/४११]

मद्यमांसमधुत्यागसयुक्ताणुव्रतानि नुः।
अष्टौ मूलगुणाः पंचोदम्बरैरचार्भकेष्वपि॥१९॥

अर्थ—मद्य, मांस, मधु के त्याग से सयुक्त अणुव्रत मनुष्यो के ८ मूलगुण कहे गए है। ५ उदुम्बर फलों के साथ मद्य, मांस, मधु के त्यागरूप ८ मूलगुण तो बालको और मूर्खों मे भी होते है। [तो फिर सम्यक्त्वी जैसे एक देश जिन (बृ०द्र०स) के मांस आदि अभक्ष्य पदार्थ त्यागरूप कैसे नहीं होगे?]

[कुन्दकुन्दकृत रयणसार गा० ५ व ७ मे सम्यग्दृष्टि के सप्त व्यसन तथा सात भयो का अभाव बताया है।]

कार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका मे टीकाकार ने असयत सम्यक्त्वी के कुल ६३ गुण बताये हैं। जिनमे ४८ को मूलगुण कहा तथा १५ को उत्तर गुण कहा। यथा ३ मूढ़ता, आठ मद, ६ अनायतन, ८ शका आदि; इनके त्याग रूप २५ गुण।

संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, अनुकम्पा तथा वात्सल्य ये ८ तथा ५ अतिचार त्याग, शका आदि, सात भय त्याग, ३ शल्य त्याग इस तरह कुल ४८ हुए। तथा उत्तर गुणो मे ८ मूलगुण व सात व्यसन लिए। यथा—अष्टौ मूलगुणा सप्त व्यसनानि च इति पचदशसंख्योपेताः जघन्यपात्रस्य सम्यग्दृष्टेरुत्तरगुणाः भवन्ति।

[३२६ की टीका]

गुणभूषण श्रावकाचार १/४६ [श्रा० सं० २/४४०] में प्रशम, सवेग, निर्वेग, निन्दा, गर्हा, भक्ति, आस्तिक्य और अनुकम्पा; इन आठ को सम्यक्त्व के अनुमापक गुण बताया है। यानी इन ८ द्वारा जीव मे सम्यक्त्व की पहिचान होती है। [See Also वसुनन्दि श्रावकाचार] तथा पचाध्यायी उत्तरार्ध० ४६७] उक्त ८ सहित सम्यक्त्व के २५ गुण मिलाने से कुल ३३ गुण सम्यक्त्वी के हो जाते हैं। [गुणभूषण० १/६८]

महान् कविवर बनारसी० ने अपने नाटक समयसार १४ गुणस्थान अधिकार में लिखा है -

सत्य प्रतीति अवस्था जाकी।
दिन दिन रीति गहे समता की।
छिन-छिन करै सत्य को साको।
समकित नाम कहावै ताको॥२७॥

आत्म स्वरूप की सत्य प्रतीति होना, दिन प्रतिदिन समता भाव मे उन्नति होना और क्षण-२ सत्य का साख(?) करता है उसका नाम समकिती है।

करुणा वच्छल सुजनता, आतम निन्दा पाठ।
समता भगति विरागता, धरमराग गुन आठ॥३०॥

करुणा, वात्सल्य, सज्जनता, आत्मनिन्दा, समता, श्रद्धा, उदासीनता और धर्मानुराग; ये सम्यक्त्व के ८ गुण है।

चित्त प्रभावना भाव जुत, हैय उपादै वानि।
धीरज हरख प्रवीनता, भूषण पंच बखानि॥३१॥

जैनधर्म की प्रभावना करने का अभिप्राय हेय उपादेय का विवेक धीरज, सम्यक्त्व की प्राप्ति का हर्ष और तत्त्व-विचार में चतुराई; ये ५ सम्यक्त्व के भूषण हैं।

ग्यान गरब मति-मन्दता, निठुर वचन उद्गार।
रुद्र भाव आलस दशा, नास पंच परकार ।।३७।।

ज्ञान का अभिमान, बुद्धि की हीनता, निर्दय वचनों का भाषण, क्रोधी परिणाम और प्रमाद; ये ५ सम्यक्त्व के नाशक भाव हैं। दौलतराम ने अपने क्रियाकोश में अष्टमूलगुण, सात व्यसन त्याग आदि सब आवश्य बताये और कुल ६३ गुणों वाले को समकिती कहा। यथा— [श्रा० सं० ५/३७०-७१] गाथा १८१३ से १६ :—

अग निशंकित आदि बहु अठ गुण सवेगादि।
अष्ट मदनिको त्याग पुनि अर वसु मूलगुणादि ।।१३।।
सात व्यसन को त्यागिवो अर तजिवो भय सात।
तीन मूढ़ता त्यागिवो तीन शल्य पुनि भ्रात ।।१४।।
षट् अनायतन त्यागिवो अर पाचों अतिचार।
ए त्रेसठ त्यागे जु कोऊ सो समदृष्टि सार ।।१५।।
चौथे गुणथाने तनी कही बात ए भ्रात।
है अव्रत परि जगत मे, बिरकित रूप रहात ।।१६।।

पुरुषार्थ सिद्धयुपाय टी० पृ० ११७ (कुचामन सिटी) में लिखा है कि ८ मूलगुण पालन व सात व्यसन त्याग आदि ६३ गुण सम्यक्त्वी के अनिवार्य हैं।

यदि यह कहा जाय कि नही, हम तो नहीं मानते, सम्यक्त्वी मांस भक्षण प्रत्यक्षतः करता है तो उनका उत्तर उपासकाध्ययन में II आश्वास मे कहा है कि मांस भक्षियों को दया नही होती। तथा मधु व उदुम्बर फल सेवियों मे नृशंसता का अभाव नहीं होता। जब कि सम्यक्त्वी में अनुकम्पा गुण आवश्यक होना है "और मास भक्षण में तीव्र निर्दयपना है।" [रत्नकरण्ड श्रा० पृ. ६६ पृ ६८ सस्ती ग्रन्थमाला] भावसंग्रहदोहा [आ० देवसेन] में भी कहा है—सगे मज्जामिसरयहं मइलिज्जइ सम्मतु। अंजणगिरिसगे ससिहिं किरणह काला हुंति ।।२६।।

अर्थ—मद्य और मांस के सेवन में निरत पुरुषों के संग से सम्यक्त्व मलिन हो जाता है। स्वयं खाने की बात तो दूर रही, मात्र मांस भक्षी व मद्यपायी के संग-मात्र से सम्यक्त्व का मलीन होना बताया है। अंजनगिरि के संग से चन्द्र की धवल किरणे भी काली हो जाती है। आगे कहा है—

वेदलमीसिउ दहि महिउ जुत्तु ण सावय होइ।
खद्धइ दसण भगु, पर सम्मत्तु वि मइलेइ ।।३६।।
[श्रा० स० १/४८६]

अर्थ—द्विदलमिश्रित दही और मही भी श्रावक के खाने योग्य नही है। इनके खाने से दर्शन [दर्शन प्रतिमा] का भंग तो होना (ही) है, परन्तु सम्यग्दर्शन भी मलिन हो जाता है।

अव्रती सम्यक्त्वी सर्वथा अव्रती नही होना [जै० सि० को० ४/३७६] सम्यक्त्वी स्वय का बुरा करने वाले के प्रति भी प्रतिशोध का भाव नहीं रखता। [पं० ध० २/४२७/३८६] जिसके भोगाभिलाषा भाव है, वह निश्चय ही मिथ्यादृष्टि है। [पं० ध० २/५५१ पूर्वार्ध अर्थकार—पं० मक्खनलाल जी शा०]। शुद्धात्मा भावना से उत्पन्न निर्विकार यथार्थ सुखरूपी अमृत को उपादेय करके संसार, शरीर और भोगों में जो हेय-बुद्धि वाला है वह सम्यग्दर्शन से शुद्ध चतुर्थगुणस्थान वाला व्रतरहित दार्शनिक है। [वृ० द्र० सं० ४५] सम्यग्दृष्टि को सर्व प्रकार के भोगो मे प्रत्यक्ष रोग की तरह अरुचि होती है। [पंचा० उ० २६१/२७१]।

इस प्रकार ऐसे-ऐसे महागुणों से सम्पन्न सम्यक्त्वी प्रत्यक्ष दृश्यमान ऐसे अभक्ष्य पदार्थों को कैसे खा सकता है? नहीं खा सकता है। कहा भी है—वह मिथ्यात्व, अन्याय व अभक्ष्य का त्यागी हो जाता है। [पृ० ३८, (सम्यक्त्व प्रकरण) "सम्यक्त्व चिन्तामणि", प० पन्नालाल जी साहि० तथा चारित्र निर्माण पृ० ५ विदुषी आ. जिनमति जी]।

इस प्रकार एक देश जिन स्वरूप निर्मल असयत सम्यक्त्वी [वृ० द्र० सं०; प० का० आदि] के यद्यपि अभक्ष्य भक्षण नहीं करता। पर अभक्ष्य भक्षण का त्याग यहां सदोष, सातिचार ही पालता है। अभक्ष्य भक्षण त्याग का निर्दोष व निरतिचार पालन दर्शन आदि प्रतिमाओं में ही सभव है। भक्ष्यस्वरूप भी अन्न पान खाद्य

स्वाद्य का मर्यादा के [काल मर्यादा के] बाहर अभक्ष्यपना हो जाता है। ऐसे अभक्ष्यों का त्याग उस असयत के नही होता। अतः कथंचित् इस अव्रती के इन अभक्ष्यों का भक्षण बन जाता है—इनका तो इसके त्याग नही होता। इस प्रकार स्थूलतः इस चतुर्थ गुणस्थानी के अभक्ष्य भक्षण नही होता, तथापि सूक्ष्मतः देखा जाय तो यह अव्रती कथंचित् अभक्ष्य भक्षण से युक्त हो जाता है। (इसके लिए द्रष्टव्य है लाटीसंहिता ?) मैं मन्दबुद्धि हूं उक्त निर्णय में कही दोष हो तो विद्वान् सूचित करें।

इस प्रकार इन उदाहरणो/प्रकथनो से यह स्पष्ट किया गया है कि अविरत सम्यग्दृष्टि यद्यपि एकदेश संयम (आंशिक) चारित्र से भी युक्त नही होता [चारित्त णत्थि जदो अविरद-अंतेसु ठाणेसु गो० जी०] तथापि वह मिथ्यादृष्टि की कषायो से अनन्तगुणी हीन कषायो से युक्त होता है [धवला पु० ११ वेदनाक्षेत्र विधान अनुयोग द्वार] तथा समस्त कुल क्रियाओं का पालन करता है। वह निशाभक्षी नही होता, प्रतिदिन जिनबिम्ब दर्शन करता है। जल अनछना वह नही पीता। व्यसन सप्त सेवन नहीं करता। क्वचित् कदाचित् परिस्थिति (विवशता) वश एकाध बार का जूआ व्यसनरूप नही कहलाता [प० रतन० मु० व्य० कृति । चरणानु०] तथा अष्टमूल पालन करता है। प्रतिशोध भाव नही रखता। यथा—रावण के द्वारा सीता हरण किए जाने के पश्चात् भी, अनेक बाधाओं का सामना करते हुए राम लंका पहुंच कर भी अपने गुनाहगार ऐसे रावण के प्रति युद्ध या विद्रोह के लिए नही ललकारते, अपितु ऐसा कहते हैं कि "हे दशानन! मेरी जानकी मुझे दे दो, यह राम स्वयं मांगता है।" [देहि दशानन! जनकात्मजां रामो याचते स्वयम्] धन्य है सम्यक्त्व सत्पुरुष राम की क्षमा को। वह तो उत्तर में रावण नही माना तब युद्ध की विवशता-वश अनिवार्यता बनी। इस प्रकार असंयत सम्यक्त्वी अतिमन्दकषायी होता है। उसकी क्रियाएँ दूसरों के लिए प्रायः आदर्श-सी होती हैं। अविरत सम्यक्त्वी बनारसीदास के घर चोर पहुचे तो चोरी का माल गठरी मे भर कर जब चोर ले जाने लगा तो उससे गठरी उठी नहीं तो स्वयं बनारसीदास (जिसके घर में चोरी हो रही है) ने उठकर स्वय गठरी उठवा दी। धन्य हो, ऐसे होते हैं सद्दृष्टि पुरुष। यही सब देख कर श्रीमद् राजचन्द्र ने बनारसीदास को सम्यक्त्वी कहा [श्रीमद्० पृ० ४८०] दौलतराम जी ने ठीक ही कहा है कि गेही पै ग्रह में न रचै, ज्यों जल तै भिन्न कमल है···।

यदि यहां यह प्रश्न किया जाए कि अष्ट मूलगुण का पालन तथा सप्त-व्यसन-त्याग देवों के कहा होता है, जब कि उनमे भी सम्यक्त्वी तो होते हैं? इसका उत्तर यह है कि देवो के मास आदि का आहार ही जब नही है [देवों मांस-आहार तथा मद्य पान मानना देवो का अवर्णवाद है [स० सि० ६/१३] तब फिर मास आदि ८ के त्यागरूप मूलगुण धारण करने की उन्हें जरूरत ही कहां पड़ती है? इसी तरह देवो मे शिकार करना, वेश्या सेवन आदि की भी बात नही है। उनका शरीर भी कवलाहार-रहित तथा सप्तधातु से रहित पवित्र होता है, वह वैक्रियिक शरीर होता है जबकि हमारा शरीर अपवित्र तथा कवलाहारी ऐसा औदारिक शरीर है। फिर देवो के तो वैसे भी हजारों वर्षों तक भूख भी नही [र० क० श्रा० गा० १२८ की टीका सदासुख जी कृत] जब हजारों वर्षों बाद भूख लगती है तथा खाने का भाव आता है तो गले से ही अमृत झर जाता है; जिह्वा झूठी तक नही हो पाती। अतः उनकी व्यवस्था मे हमारी व्यवस्था मिलाना ठीक नही। उनके (देवों के) मधु, मांस, मद्य के आहार या सेवन का प्रश्न ही नही उठता, चाहे वे मिथ्यात्वी हो या सम्यक्त्वी। यथायोग्य नारकी के भी यही बात है। अतः वहाँ अष्टमूल पालन तथा सप्त व्यसन त्याग के विकल्प नहीं है। तिर्यंचों के भी हमारे से तुलना करना उचित नही। क्योंकि पचम गुणस्थानवर्ती तिर्यंच भी छन्ने से जल छान कर पीने से तो रहा (हाथिगन डोयो पानी, सो पीवे गजपति ज्ञानी॥ "पार्श्वपुराण" भूधरदास) तथापि सम्यक्त्वी तिर्यंच भी अन्य जीवो को शिकार कर मार कर नहीं खाता। वह दया भाव रखता है, जिनेन्द्र-वचनो पर श्रद्धान करता है। प्रतिशोध भाव नही रखता, अन्याय नही करता; इत्यादि स्वपर्याय-सम्भव पालनाएँ करता है। इस प्रकार मनुष्यों मे असंयत सम्यग्दृष्टी सर्वथा आचार (आचरण) रहित नहीं होता। वह आचारवान् होता है।

□□

जयधवला पु० १६ का शुद्धिपत्र

—जवाहरलाल जैन/मोतीलाल जैन, भीण्डर

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	२३	संखगातवें	संख्यातवें
४	११	ण्व्विामोह्—	णिव्वामोह्-
४	१२	विशेसाहियं	विसेसाहिय
४	२०	अतः यहाँ	क्योंकि यहाँ
४	२८	इससे प्रायः	यहाँ से लेकर
५	२	पुणे वि	पुणो वि
६	२६	होकर सूक्ष्मसाम्पगायिक	होकर सीधा सूक्ष्मसाम्परायिक
७	४	समयाहियमेत्तपढमट्ठिदीए	समयाहिय आवलियमेत्तपढमट्ठिदीए
७	२०	अधिक प्रथम	अधिक आवली प्रमाण प्रथम
८	७	संषहि	संपहि
८	२२	प्रदेशविन्यासवश	प्रदेशविन्यासविशेष से
९	१	गुणओ	गुणाओ
९	८	ठिदिखडय	ठिदिखंडय
९	२८	उत्कीण	उत्कीर्ण
११	२१	असंख्यातगुणे	असंख्यातगुणे हीन
११	३१	प्रदेशपुंज पल्योपम	प्रदेशपुंज के पल्योपम
१३	२६	जो दा मूल	जो दो मूल
१४	२६	आकृष्टिस्वरुप	अकृष्टिस्वरुप
१८	१०	ग्रत्थविहासण	ग्रत्थविहासणं
२१	१५	गवेसणट्ठ	गवेसट्ठ
२४	७	अणु, भागोदयो	अणुभागोदयो
२४	१०	सरु, वेणेदस्स	सरुवेणेदस्स
२४	११	अवस्सं, भावि	अवस्स-भावि
२४	१७-१८	क्योंकि 'अलद्दी य' ये कर्म क्षयोपशम लब्धि से रहित हैं। अलब्धि का अर्थ है कि यतः इन कर्मों	क्षयोपशम लब्धि का विरह (=अभाव) अलब्धि कहलाता है। यतः इन कर्मों
२५	१	लद्धिसामाण	लद्धिसामण्णं
३२	७	देसाभासय भूदेण	देसामासय भूदेण
३६	३	के वीचारो	के वीचारा
३६	४	के वीचारो	के वीचारा
४०	२५	हुआ। इसमे	हुआ, अतः इसमें
४४	२२	क्योंकि बादर	क्योकि चरम बादर

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४५	४	दोहिं मि	दोहिम्हि
४६	४	सपहि	सपहि
४६	१६	अन्तिम समय से	प्रथम समय से
४९	२३	अन्त में जो दो	बाद मे जो दो
५२	३	हादि ;	होदि,
५२	१४	होता है क्योंकि वहाँ	होता है, और सूक्ष्मसाम्परायिक कृष्टियों का अबन्धक होता है, क्योंकि वहाँ
५२	२३	इसका विभाषा ग्रन्थ	यह विभाषा ग्रन्थ
५२	२५	इसकी गाथा २०६	इसके पूर्व गाथा २०६
५७	१३-१५	त्ति एदं पुण पुच्छासुत्त ।	त्ति एद णज्जदि वायरणसुत्त त्ति एदं पुण पुच्छासुत्त ।
५८	१२	नियम से स्थिति	नियम से सर्वस्थिति
६०	१६	वीरसेन	जिनसेन
६७	२५	अनन्तर कृष्टि	अनन्त कृष्टि
६९	१३	तविरुद्ध	तव्विरुद्ध
६९	३०	अत्यन्त विरुद्ध	विरुद्ध
७१	२६	आगे इसका	आगे इसी का
७२	२३-२४	लिये विभाषा ग्रन्थ	लिए आगे के विभाषा ग्रन्थ
७४	७	असंखेज्जगुणत्त णियम-	असखेज्जगुणत्तणियम-
७७	२२	उदय मे प्राप्त हुए	उदय मे पतित
७८	२	माणासखेज्ण	माणासंखेज्ज
७९	४	आविलय	आवलिय
८०	१५	सविस्से	सव्विस्से
८०	(चरम)	चाहिगे ।	चाहिए ।
८४	१६-१८	जो नियम से उदयावलि मे ... ...रूप से परिणमती है	जो पूर्व प्रविष्ट अर्थात् उदयावली को प्रविष्ट अनन्त अवेद्य मानकृष्टिये हैं; जो कि विवक्षित सग्रहकृष्टि के अधस्तन व उपरिम असंख्यातवे भाग प्रमाण है ऐसी जो हैं, उनमें से प्रत्येक करके सबकी सब, एरएक वेद्यमान मध्यमकृष्टि रूप से परिणमती है ।
८६	५	पविसमाणाणं तक्किट्टीणं	पविसमाणाणतकिट्टीण
८६	१९	एक कृष्टि सदृश	एक कृष्टि के सदृश
८६	२०	घनरुप होकर परिणमती है ।	घन परिणमते हैं ।
८९	२१	तरह से करने के लिए	तरह से स्पष्ट करने के लिए
८९	२१	उदय सम्पत्ति	उदय सम्प्राप्ति

पृष्ठ	पंक्ति	शुद्ध	अशुद्ध
८६	२३	पश्चिम आवली को	पश्चिम आवली के,
८६	२४	विषय के	स्थान के
९२	१०	कधं ? एस्य	कथमेत्थ
९२	२५	क्या उससे उदय का ग्रहण	उससे उदय का ग्रहण कैसे
९९	२६	उदयावलि क्षपक	उदय वाले क्षपक
१०२	११	पयदणाणत्त विहाणं	पयदणाणत्त विहदावणं
१०२	२८	इसलिए इस अपेक्षा प्रकृत में भेद का कथन	इस बात का सहारा लेकर प्रकृत में भेद-रूप कथन का बहिष्कार
१०७	१८	क्रोध संज्वलन और मान	माया संज्वलन और लोभ
१११	२०	एक सूत्र मे	इस सूत्र मे
१११	२२	अश्वकर्णकरण की	अश्वकर्णकरण काल की
११४	१५	उद्देश्य	उद्देश (स्थान)
११४	२५	क्योंकि यहाँ पर	परन्तु यहाँ पर
११४	२५	कारण नहीं है	कारण यह है।
११७	२०	ससय	समय
११९	१८	को प्रतिसमय	को जो कि प्रति समय
११९	१८-१९	सूक्ष्म साम्परायिक स्वरूप अनुभागा कृष्टियों के साथ गलाने वाले	सूक्ष्म कृष्टिस्वरूप अनुभाग के साथ है उन्हें गलाने वाले
१२०	७	कषाये हि	कषायो हि
१२१	२५	असख्यतवें भाग प्रमाण	असंख्यात बहुभाग प्रमाण
१२२	२७-२८	कालप्रमाण शेष काल को	काल के शेष भाग को
१२७	२४	अर्थ के अर्थ का	अर्थ का
१२८	१४	सम्भव उदय	सम्भव एव उदय
१२८	२०	चारित्र मोहनीय की पहले	चारित्र मोहनीय की क्षपणा का पहले
१२९	११	पज्जतेषु	पज्जतेसु
१२९	१८	'कामण'	संकामण
१३२	११	दुपयोगवदुपयोगस्यापि।	दुपयोगस्यापि
१३२	२७-२८	भाव मे ग्रहण करने में प्रवृत्त	रूप उपकार में प्रवृत्त
१३४	२४-२५	पर्याय वृद्धि को प्राप्त हुई है	पर्याय प्रकटित (खिली) हुई है
१३९	१८	पीर समाप्ति	परिसमाप्ति
१४०	१९	प्रकृतियो के बाद ही	प्रकृतियो की
१४०	२०	आठ कषायो की क्षपणा प्रारंभ कर	क्षपणा कर
१४०	२१	करने के बाद ही आठ	करने के पूर्व ही आठ
१४२	२७	१ (९०) १४३ भाग १५	१ (९०) १४३ भाग १४ पृ० २६१
१४२	२७	२ (९१) १४४ भाग ०१५	२ (९१) १४४ भाग १४ पृ० २६३

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१४२	२७	३ (६२) १४५ भाग १५	३ (६२) १४५ भाग १४ पृ० २६५
१४३	२५	लिए सयोगी केवली	लिए तथा सयोगकेवली
१४५	१६	लोहार्या	लोहार्य
१४७	२७	तथा अयोगी केवली	तथा सयोग केवली
१४६	२६	स्वस्थान सयोगी केवली द्वारा	× × ×
१४६	३०	रहते हुए निक्षिप्त	रहते हुए स्वस्थासयोग केवली द्वारा निक्षिप्त
१५०	२८	प्रकृति	प्रवृत्ति
१५१	१८	क्रिया के भेदरूप साधन	रूप भिन्न क्रिया के साधन
१५३	१४	स्थिति सत्कर्म की तत्काल उपलभ्यमान स्थिति के	तत्काल उपलभ्यमान स्थिति सत्कर्म के
१५४	१८	अपेक्षा वृद्धि	अपेक्षा अथवा वृद्धि
१५८	१७	जाते हैं । कितने ही आचार्य कहते हैं :—	जाते हैं ऐसा कितने ही आचार्य कहते है ।
१५६	१७	अनुभाग के वश से	अनुभागघात के वश से
१६०	२०-२१	कपाट समुद्घात में ठहर कर	स्वस्थान केवलिपने में (यानि मूल शरीर मे) ठहर कर
१६०	२२	इसलिए समुद्घात में	समुद्घात में
१६१	२२-२३	एकसमय द्वारा अनुभाग घात	ग्रहणकर अनुभाग घात
१६२	१०	जीगणिरोह	जोगणिरोह
१६४	६	सुहुमणिगाद	सुहुमणिगोद
१६५	८	हाइ—	होइ-
१६७	१८	अपूर्व स्पर्धकों का)	पूर्वस्पर्धकों का)
१६६	२५	असंख्यातगुणहीन	असंख्यातगुणे
१७०	२३	§ ३७० क्यो क	§ ३७० शंका—इसका क्या कारण है ? समाधान—क्योंकि
१७३	१४	समयपुव्व	समयापुव्व
१७४	७	असंखेज्जगुणाए सेढीए ।	असखेज्जगुणहीणाए सेढीए । [कारण देखो—धवल १३/८५, क. पा. सु. पृ. ६०५ तथा ज. ध. १६/१७४ का यहीं पर प्रथम पेरा]
१७४	१५	समय मे पहले की अंतिम कृष्टि से	समय की अन्तिम अपूर्व कृष्टि से
१७४	१७	विशेष मात्र निक्षिप्त करता है ।	विशेष मात्र हीन है।
१७४	१६-२०	असख्यातगुणी श्रेणिरूप से	असंख्यातगुणी हीन श्रेणी रूप से
१७४	२३	असंख्यातगणी श्रेणि	असंख्यातगुणी हीन-श्रेणी
१७५	१७	पाल्योपम	पल्योपम

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१७५	२८	चाहिए, उपरिम	चाहिए, क्योंकि उपरिम
१७७	८	होदि । गयत्थमेदं सुत्तं ।	होदि ।
१७७	९	§ ३८३ संपहि	§ ३८३ गयत्थमेदं सुत्तं । संपहि
१७९	२९	इसलिए इष्ट होने से ध्यान की उत्पत्ति नहीं हो सकती ।	अत. ध्यान की उत्पत्ति नहीं हो सकती, ऐसा अभीष्ट है ।
१८२	२६	द्वारा योग निरोध रूप	द्वारा तथा योगनिरोधरूप
१८६	३१	मोक्ष का अभाव मानने पर मोक्षप्रक्रिया का अवतार करना असमंजस नहीं ठहरेगा ।	यह मोक्ष प्रक्रिया का अवतार असमंजस (असगत या अनुचित) नही है ।
१८७	१८	भी भ्रष्ट पुरुषार्थ को	भी पुरुषार्थ से भ्रष्ट होने यानी पुरुषार्थ से भटकने को
१८७	३१	नाना रूप स्थिति	नाना रूप प्रकृति, स्थिति
१८९	३	चरिमोत्तम-	चरमोत्तम-
१८९	२०	उत्तम चरित्र और उत्तम	तथा चरम उत्तम
१९०	२	निर्वृतीति	निर्वातीति
१९१	६	मोहनीय-क्षयं	मोहनीये क्षयं
१९१	१५-१६	तथा यथोक्त कर्मों के क्षय में हेतुभूत कारणों के द्वारा संसार	तथा कर्मों के क्षय मे हेतु रूप यथोक्त कारणों द्वारा पूर्वोपार्जित कर्मों का क्षपण करने वाले के संसार
१९२	२४	पुग्दलों	पुद्गलों
१९२	२८	कही जाती है ।	मानी जाती है ।
१९४	२२-२४	क्योंकि सांसारिक सुख की प्राप्ति में.......... आकुलता से रहित है ॥३२॥	क्योंकि मुक्त जीव क्रियावान् है जबकि सुषुप्तावस्था में कोई क्रिया नही होती। तथैव मुक्त जीव के सुख का अतिशय (अधिकता) है । जबकि सुषुप्तावस्था में सुख का अतिशय नही है सुषुप्तावस्था मे तो लेशमात्र भी सुख का अनुभव नही होता । [यहाँ संसार सुख तथा मोक्षसुख की तुलना न होकर निद्रावस्था व मोक्षावस्था की तुलना है ।]

उक्त संशोधनो मे से विज्ञ सुधीजन जो उचित लगे उसे ग्रहण कर लें ।

—जवाहरलाल जैन

गतांक से आगे :

श्री शांतिनाथ चरित सम्बन्धी साहित्य

☐ कु० मृदुल कुमारी, बिजनौर

१०. शान्तिनाथ चरित : भाव चन्द्र सूरि—श्री भावचन्द्र सूरि ने इस शान्तिनाथ चरित की रचना संवत् १५३५ मे सरल सस्कृत गद्य में की थी[१]।

भावचन्द्र सूरि पूर्णिमा गच्छ के पार्श्वचन्द्र के प्रशिष्य एवम् जयचन्द के शिष्य थे। ग्रन्थ का प्रमाण ६५०० श्लोक है। इस ग्रन्थ की ग्रन्थकार द्वारा लिखी गई सवत् १५३५ की एक प्रति लाल बाग बम्बई मे एक भडार से मिली है।

इसके छह प्रस्तावों मे भगवान् शांतिनाथ तीर्थंकर के १२ भवो को वर्णन है। वर्णन क्रम मे अनेक उपदेशात्मक कहानियाँ भी आ गई है जिससे ग्रन्थ का आकार बहुत बढ गया है। बीच-बीच में प्रसंगवश ग्रन्थान्तरों से लेकर प्राकृत और सस्कृत पद्यो का उपयोग किया गया है। ग्रथ के समाप्त होते-होते रत्नचूड़ की सक्षिप्त कथा दी गई है[२]।

११. शासनचतुस्त्रिशतिका : मदनकीर्ति अर्हद्दास—मदनकीर्ति वादीन्द्र विशालकीर्ति के शिष्य थे और बहुत विद्वान थे। इनकी 'शासन चतुस्त्रिशतिका' नाम की छोटी-सी रचना है जिसकी पद्य सख्या ३५ है। जो एक प्रकार से तीर्थ क्षेत्रों का स्तवन है, उनमे पोदनपुर के बाहुबली, श्रीपुर के पार्श्वनाथ शख जिनेश्वर, धारा के पार्श्व जिन, दक्षिण के गोम्मट जिन, नागद्रह जिन मेदपार (मेवाड़) के, नागफणि ग्राम के मल्लिजिनेश्वर, मालवा के मगलपुर के अभिनन्दन जिन, पुष्पपुर (पटना) के पुष्पदन्त, पश्चिम समुद्र के चन्द्रप्रभ जिन, नर्मदा नदी के जल से अभिषिक्त शान्तिजिन, पावापुर के वीर जिन, गिरनार के नेमिनाथ, चम्पा के वासुपूज्य, आदि तीर्थों का स्तवन किया गया है। स्तवनों मे अनेक ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख अंकित है और उसके प्रत्येक पद्य के अन्तिम चरण में 'दिग्वाससां शासनम्' वाक्य द्वारा दिगंबर शासन का जयघोष किया है[३]।

१२. शान्तिनाथ स्तोत्र : भट्टारक पद्मनन्दि—१५वी शताब्दी के मुनि पद्मनन्दी भट्टारक प्रभाचन्द्र के पट्टधर विद्वान थे[४]। इनकी जाति ब्राह्मण थी। इनके पट्ट पर प्रतिष्ठित होने का समय पट्टावली में संवत् १३८५ पौष शुक्ला बतलाया गया है। वे उस पट्ट पर सवत् १४७३ तक आसीन रहे। भट्टारक शुभचन्द इनके शिष्य थे। पद्मनन्दी की अनेक रचनायें हैं। जिनमे शान्तिनाथ स्तोत्र प्रमुख है। इस स्तोत्र मे देवपूजा, गुरु तथा सिद्धपूजा का उल्लेख है[५]।

१३. शान्तिनाथ स्तुति : ब्रह्म श्रुतसागर—ब्रह्म श्रुत सागर मूलसघ सरस्वती गच्छ और बलात्कारगण के विद्वान थे। इनके गुरु का नाम विद्यानन्दी था जो भट्टारक पद्मनन्दी के प्रशिष्य और देवेन्द्रकीर्ति के बाद ये सूरत के पट्ट पर आसीन हुए थे[६]।

ब्रह्म श्रुत सागर ने अपनी रचनाओं मे उनका रचनाकाल नही दिया, जिससे यह निश्चित नहीं है कि उन्होंने ग्रन्थों की रचना किस क्रम से की है। परन्तु यह निश्चित कहा जा सकता है कि वे विक्रम की १६वी शती के विद्वान है। इनके गुरु भट्टारक विद्यानन्दी के वि० सं० १४९९ से १५२३ तक ऐसे मूर्तिलेख पाये जाते हैं जिनकी प्रतिष्ठा भट्टारक विद्यानन्दी ने स्वय की है। इससे स्पष्ट है कि विद्यानन्दी के प्रिय शिष्य ब्रह्मश्रुतसागर का भी यही समय है[७]।

ब्रह्मश्रुत सागर द्वारा रचित 'शान्तिनाथ स्तुति' में

नौ पद्य हैं यह स्तवन 'अनेकान्त' वर्ष १२ किरण ६ पृष्ठ २५१ में मुद्रित हुआ है।

१४. शान्तिनाथ पुराण : कवि शाह ठाकुर—खंडेलवाल जाति और लुहाड़िया गोत्र के देव शास्त्र, गुरु भक्त, विद्या विनोदी विद्वान थे। मूल संघ सरस्वती गच्छ के भट्टारक प्रभाचन्द्र, पद्मनन्दी, शुभचन्द्र, जिनचन्द्र, प्रभाचन्द्र चन्द्रकीर्ति और विशालकीर्ति के शिष्य थे[८]।

कवि ने 'शान्तिनाथ पुराण' ग्रन्थ की रचना की, जो अपभ्रंश भाषा की रचना है। इसमे पाँच सन्धियाँ हैं। कवि ने उनमें शान्तिनाथ का जीवन परिचय अंकित किया है। जो चक्रवर्ती कामदेव और तीर्थङ्कर थे। कवि ने यह विक्रम सवत् १६५२ भाद्र शुक्ला पंचमी के दिन चकत्ता वंश जलालुद्दीन अकबर बादशाह के शासनकाल में, ढूढाहड देश के कच्छप वंशी राजा मानसिंह के राज्य में लुवाइणपुर में समाप्त किया। उस समय मानसिंह की राजधानी आमेर थी[९]।

१५. शान्तिनाथ पुराण : भट्टारक श्री भूषण—यह काष्ठा संघ नन्दि, तटगच्छ और विद्यागण में प्रसिद्ध होने वाले रामसेन, नेमिसेन, लक्ष्मीसेन, धर्मसेन, विमलसेन, विशालकीर्ति और विश्वसेन आदि भट्टारकों की परम्परा में होने वाले भट्टारक विद्याभूषण के पट्टधर थे[१०]।

भट्टारक श्री भूषण ने 'शान्तिनाथ पुराण' में भगवान् शान्तिनाथ का जीवन अंकित किया है जिसकी पद्य संख्या ४०२५ बतलाई गई है। प्रशस्ति में कवि ने अपनी पट्ट परम्परा के भट्टारकों का उल्लेख किया है। कवि श्री भूषण ने इस ग्रन्थ को संवत् १६५९ में मृगशिरा के महीने की त्रयोदशी को सौजित्र में नेमिनाथ के समीप पूरा किया है[११]।

इसके अतिरिक्त शान्तिनाथ विषयक अन्य रचनाएँ, ज्ञानसागर (संवत् ६५१७) अचेलगच्छ के उदय सागर (ग्रंथाग्र ७२००) वत्सराज (हीरा० हस० जामनगर १९१४ प्रकाशित) हर्ष भूषण गणि, कनकप्रभ ग्रन्थाग्र ४८५) रत्नशेखर सूरि (ग्रन्थाग्र ७०००) भट्टारक शान्तिकीर्ति, गुणसेन, ब्रह्मदेव, ब्रह्म जयसागर और अजितप्रभ सूरि की मिलती है[१२]।

धर्मचन्द्र गणि ने 'शान्तिनाथ राज्याभिषेक' और हर्षप्रमोद के शिष्य आनन्दप्रमोद ने 'शान्तिनाथ विवाह' नामक रचनाएँ भी लिखी हैं। मेघविजय गणि (१८वीं शती) का शांतिनाथ चरित काव्य उपलब्ध है जो नैषधीय चरित के पादों के आधार पर शान्तिनाथ का जीवन चरित प्रस्तुत करना है[१३]।

महाकवि असग की अन्य कृति 'लघु शान्तिनाथ पुराण' भी मिलती है जिसमें १२ सर्ग है। यह लगता है कि कवि के १६ सर्गात्मक शान्तिपुराण का लघुरूप है[१४]।

सन्दर्भ

१. निज रत्न कोश—पृष्ठ ३१९।

२. जैन साहित्य का वृहत् इतिहास भाग ६, पृ. ११०।

३. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास भाग २, पृ. ४०४।

४. श्री मत्प्रभाचन्द मुनीन्द्र पट्टे,
शश्वत प्रतिष्ठा प्रतिभागरिष्ठः।
विशुद्ध सिद्धांत रहस्य रत्नरत्नाकरानन्दतु पद्मनदी॥
—शुभचन्द पट्टावली

५. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास भाग २, पृ. ५०८-५०९

६. मल्लिभूषण के द्वारा प्रतिष्ठित पद्मावती की सवत् १५४४ की एक मूर्ति जो सूरत के बड़े मन्दिर मे विराजमान है।

७. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास भाग 2, पृ. ५३७।

८. वही—पृ० ५३९।

९. वही—पृ० ५३९।

१०. शान्तिनाथ पुराण : श्री भूषण (कवि प्रशस्ति पद्य ४६२-४६३)।

११. जिन रत्नकोश पृ० ३८०-३८१।

१२. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास पृ. ११० भाग ६।

१३. जिन रत्नकोश पृ० ३३६।

"बिना सुगंधि फूल का मूल्य नहीं"

□ श्री प्रेमचन्द जैन

सुन्दर से सुन्दर पुष्प को मनुष्य देखता है, तोडता है, फेंक देता हैं। अगर उसमे सुगन्धि हो तो जितनी अधिक खुशबू होगी उतना अधिक प्यार पुष्प को मिलता है. उसी प्रकार हमारे जीवन में चातुर्य, रूप, धन, ऐश्वर्य सब होने पर भी आन्तरिक प्यार नही मिलता, अगर स्वयं में चरित्र की सुगन्धि न हो। आज भी महाव्रती साधु को संसार मस्तक झुकाकर नमन करता है, चरित्रहीन दोषी मनुष्य घृणा का पात्र बनता है चाहे वह राजा भी क्यों न हो।

"राजा पुजे राज्य मे, पण्डित पुजे जहान।"

धन, बल, वैभव के मद में चूर मदोन्मत्त मनुष्य को भय व लाभ के कारण, उसमे आश्रय प्राप्त जन ऊपरी सम्मान भले ही प्रदर्शित करते हों मगर अन्दर से उसके प्रति घृणा का भाव ही रहता है। स्वार्थवश उसका गुणगान भले ही करे मगर फिर भी अन्तरग में उसकी निन्दा ही करते हैं। उसे यहाँ भी आत्मीय सम्मान प्राप्त नहीं होता, मरकर भी सुगति प्राप्त न कर पाप की भट्टी में ही जलता है। नरक की यातना भोगनी पड़ती है। क्रोध, मान, माया, लोभ से रहित विवेकवान श्रावक का छोटे-बड़े सभी जनमानस आदर व प्रशंसा करते हैं और उसके सद्गुणों से शिक्षा लेकर उसी मार्ग पर अग्रसर होते हैं।

"ज्ञानी मगन विषय सुखमाहीं, ये विपरीत सम्भवे नाहीं।"

फिर भी न जाने क्यो मोह के वशीभूत ये प्राणी मदांध होकर उन्मत्त की भांति क्रियाएँ करता है, भोगो में लिप्त होकर अपने को महान प्रदर्शित करने का छल करता है, दानवीर का मुखौटा लगाकर, लोभ कषाय से न बचकर उल्टा मानकषाय से ग्रसित होकर पथभ्रष्ट होता है। अपने रूप, फन, विद्या, कुल, सम्पदा के झूठे भ्रम में अपनी नेतागीरी, अपना प्रताप सिद्ध करने की वृथा चेष्टा करता है, जिसके परिणामस्वरूप सबके द्वारा घृणा का पात्र बनता है। ऊपर से उसकी प्रशंसा करने वाले भी उससे नफरत करते हैं, और उसके व्यवहार से अपने को सावधान रखते हैं।

जरा हम भी सोचें कि हम किस श्रेणी में आते हैं, हममें भी ये विकार छुपे तो नहीं हैं। क्या हम निष्कपट भाव से भगवान के दर्शन करके अपने में उन गुणों की झलक देखते हैं या देखने का प्रयास करते हैं, और वीतरागी बनकर आत्मकल्याण करते हैं।

"तुम निरखत-२ मुझको मिलीं, मेरी सम्पति आज
कहाँ चक्री की सम्पदा कहाँ स्वर्ग साम्राज्य।"

सोचें! क्या हमने अपनी नाशवान सम्पत्ति का दूसरे के कल्याण में व्यय करके अपने को परिग्रह के पाप से मुक्त किया? या अहंकार के वशीभूत होकर मानकषाय के पहाड़ पर चढ़कर, तापग्रसित होते रहे।

"होत तीन गति द्रव्य की दान, भोग और नाश,
दान भोग जो न करें, तो निश्चय होय विनाश।"

क्या हम शुद्ध प्रासुक, स्वास्थ्यवर्धक आहार ग्रहण करते हैं या मांसाहारी, शराबी, हीन चारित्र, दोषी व्यक्ति के सम्पर्क में आया भोजन खाते हैं या स्वयं इस दोषी प्रवृति मे लिप्त हैं।

"जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन।
जैसा पीये पानी, वैसी बोले वाणी॥"

झूठे दिखावे में, विवाह आदि के अवसर पर, धर्म का दिखावा करके दान के नाम पर अपार धन व्यय करके अपना बड़प्पन प्रदर्शित करते हैं या कभी दीन-दुखी पर, विपदाग्रस्त अबलाओं पर अन्तरग में करुणा उत्पन्न करके उनका कष्ट निवारण कर अन्तरंग शान्ति प्राप्त कर, मनुष्य जन्म सार्थक करते है।

क्या हमने किसी जीर्ण मन्दिर का जीर्णोद्धार, या दुःखी बेटी का विवाह सस्कार या साधनविहीन अभावग्रस्त भाई को प्यार से उसके कष्ट निवारण हेतु भी कुछ व्यय करके सन्तोष किया।

क्या हमने अपने नेतागीरी प्रदर्शित करने को, किसी पद की प्राप्ति के लिए, पाप के साधन अपना कर, प्राणी हिंसा, समाज का विघटन, राष्ट्र की हानि, विश्व का

(शेष पृ० २९ पर)

जो हमें पसन्द न आया

☐ पद्मचन्द्र शास्त्री सं० 'अनेकान्त'

मासिक पत्रिका 'तीर्थंकर' अगस्त ९२ के अंक को हमने बड़े कराह मे पढा और कई पाठकों ने भी हमारा ध्यान इसमें छपी 'अनुत्तर योगी तीर्थंकर महावीर' (उपन्यास) के खण्ड ५ के लिए लिखित सामग्री की ओर खींचा। उन्होने कहा—इसकी अश्लीलता-पोषक भाषा का 'तीर्थंकर' जैसी पत्रिका मे प्रकाशन सर्वथा अयोग्य है। कइयो ने तो पत्रिका के अश्लील पेजों को ही फाड़ फेंका। नारी जाति के प्रति तो उनकी स्वाभाविक लज्जा को बेनकाब करना नारी-जाति के प्रति नारो जाति का घोर अपमान है। नारियो को इस प्रसंग से पीडा और घृणा हुई है। 'तीर्थंकर' के अगस्त ९२ के अंकमे छपी उक्त सामग्री श्वेताम्बर सम्प्रदाय से सबंधित है।

उक्त विषय को श्वेताम्बर सम्प्रदाय देखे कि तीर्थंकर में पृष्ठ ३० पर छपे भगवन् के कथनानुसार—क्या, महाशतक श्रमणोपासक रेवती का प्यार, आलिगन और चुम्बन पाने के लिए रत्नप्रभा पृथ्वी के लोलुच्चय नरक मे ८४,००० वर्ष तक रेवती की नारकीय यातना का सहभागी बना और रेवती ने वैतरणी के तट पर मिलकर उसे अपने चुम्बन और आलिगन से तार दिया या भगवान के वचन झूठे हुए ? जब कि गणधर श्री सुधर्मा जी ने 'उवासगदसाओ' सूत्र (आगम) में महाशतक के सौधर्म कल्प के अरुणावतसक विमान मे देव होने की बात कही है—नरक में जाने या चुम्बन आदि की बात नही कही। क्या स्वर्ग नरक मे कोई भेद नही ?

"तएणं से महासयए समणोवासए वहूहि सील जाव भावेत्ता बीसं बासाइ समणोवासग परियाय पाउणित्ता एक्कारस उवासग पडिमाओ सम्म काएण फासित्ता मासियाए सलेहणाए अप्पाणं झूसित्ता सट्ठि भत्ताइं अणसणाए छेदेत्ता आलोइय पडिक्कंते समाहिपत्ते कालमासे काल किच्चा सोहम्मे कप्पे अरुणव डिसए विमाणे देवत्ताए उववन्ने।"—७/८/२६६

आगमिक-प्रसंग से भाषा की कामोत्तेजक अश्लोलता भी विचारणीय बन रही है। भले ही कामी लोगों का मानना हो सकता है कि—"जब सिनेमा दूरदर्शन और वीडियो आदि अनेक तंत्र खुले रूप में व्यभिचार को सभ्याचार सिद्ध करने में लगे है, सरकार भी ब्रह्मचर्य का प्रचार न करके कामासक्ति-पूरक निरोध, माला और आप्रेशन आदि सेवन पर जोर दे व्यभिचार को सभ्याचार बनाने का मार्ग खोल रही है, तब यदि कोई उपन्यास लेखक अपने उपन्यास में किसी तथ्य के तल तक पहुचने का प्रयत्न करता है तो वह क्या बुरा करता है। विभिन्न स्रोतो से स्व-अनुभूत और अननुभूत को साक्षात् मे उपस्थित करना तो लेखक की सिद्ध-लेखन कला है। उसे सम्मान ही मिलना चाहिए।" पर हम किसी उपन्यास आदि को केन्द्र मानकर उस पर विचार करने मे अभ्यस्त नही। हम तो आगम-प्रसंग को आगमरूप में उपस्थित करने और धार्मिकता, नैतिकता-पोषक तंत्रो को श्लाघनीय स्थिति मे रखने के पक्षपाती हैं। हमें अश्लील-साहित्य से अरुचि है। यदि उक्त उपन्यास मे रेवती द्वारा प्रकट की गई, वात्स्यायन-कामसूत्र वर्णित जैसी घृणित कामचेष्टाएँ आगम-वर्णित हों तो उन्हें सम्मान देने, न देने पर विचार हो सकता हो। पर, हमने आगम मे ऐसा पढ़ा नही। वहाँ तो साधारण तौर पर अंकित है कि—

"काम के वश हुई वह रेवती गृहपत्नी अपने केशों को वखेर कर उत्तरीय (दुपट्टा) को उतार कर जहाँ पोषधशाला थी वहाँ महाशतक श्रमणोपासक के पास गई और मोह तथा उन्मादवर्धक स्त्री भावों को दिखाती हुई बोली—हे महाशतक श्रमणोपासक धर्म, पुण्य स्वर्ग, मोक्ष इच्छुक, धर्मकांक्षक, धर्मपिपासु, यदि तू मेरे साथ उदार विषयरूपी सुख नही भोगता है तो तुझे धर्म पुण्य, स्वर्ग मोक्ष से क्या लाभ होगा।"

"तए णं सा रेवई गाहावइणी मत्ता लुलिया विइण-केसी उत्तरिज्जयं विकड्ढमाणी २ जेणेव पोसहसाला जेणेव महासवए समणोवासए तेणेव उवागच्छइ, २ त्ता मोहुम्माय जणणाइं सिंगरिहाइं इत्थिभावाइं उवदंसेमाणी २ महासययं समणोवासयं एवं वयासी। 'हं भो महासयया समणोवासया, धम्मकामया पुण्णकामया सग्गकामया मोक्ख-कामया धम्मकंखिया ४, धम्मपिवासिया ४, किणं तुब्भं, देवाणुप्पिया धम्मेण वा पुण्णेण वा सग्गेण वा मोक्खेण वा जणं तुमं मए सद्धि उरालाइ जाव भुंजमाणे नो विहरसि ?"

—२/८/२४६

हमारे आचार्यों ने नारियों के विषय मे वैराग्य उत्पन्न कराने हेतु वस्तुस्थिति दर्शाने निमित्त उनके निंद्य अंगों का वर्णन मात्र किया है, जिसे परम्परित जैनाचार्यों द्वारा वैराग्य उत्पादन की दृष्टि से मान्य किया जाता रहा है उनमे कही भी खुले और वीभत्स रूप मे संभोग-चेष्टा को नही दर्शाया गया जैसा तीर्थंकर के उक्त अंक मे। इसे पढ़कर तो विषयलोलुपियों को वैराग्य और महाशतक के दृढ़त्व के पाठ के स्थान पर संभोग के नए-नए आयाम ही मिलेंगे और उनकी कामोत्तेजना बढ़ने की ही अधिक सम्भावना है। यह सर्वथा ही सभ्योचित भाषा नही 'तीर्थंकर' का अपमान है।

प्रारम्भ मे सपादक तीर्थंकर ने लिखा है—'खयाल रहे: यह वही उपन्यास है, जिसे लेकर आचार्य मुनि श्री विद्यानन्द जी ने कहा था—यह 'रामचरित-मानस' की तरह लोक-प्रिय होगा।' आचार्य श्री तुलसी ने कहा था कि 'स्थायीमूल्य प्राप्त करेगा'.........और पं० जगन्मोहन लाल शास्त्री ने इसमे 'जैन-मान्यताओं का पग-पग पर दर्शन किया।'

सो हमें इसमें ऐतराज न होगा। यदि उक्त आचार्यों व मनीषियो की सम्मतियाँ (उक्त तीर्थंकर के मात्र पृष्ठ २४-२५ की ही) भाषा, भावभंगिमा, चेष्टा आदि के प्रांजल होने की पुष्टि मे लिखकर मँगा, तीर्थङ्कर मे छाप दी जाँय—हम उन पर भी विचार करेंगे।

हमारी समझ से तो उक्त महामनीषी ही क्या? कोई भी दिगम्बर, श्वेताम्बर साधु-साध्वी श्रावक और श्राविका आगम परिप्रेक्ष्य मे ही नही, अपितु साधारण रूप मे भी ऐसी संभोग चेष्टा दर्शक घृणित भाषा को कही, कभी भी प्रशस्त नही कहेंगे। क्या, उन्हे अपने निर्मल ब्रह्मचर्य में दोष लगाना है जो ऐसी महती भूल करे। हाँ, तीर्थङ्कर नामक जैसी पत्रिका मे इसका प्रकाशन लज्जास्पद और अकीर्ति का सूचक अवश्य है।

इस उपन्यास के 'रामचरित-मानस' सम लोक-प्रिय होने की कल्पना 'मानस' का घोर अपमान करना होगा, कहाँ वह धार्मिक अपूर्व ग्रन्थ और कहाँ मिथ्या कल्पनाओं की अश्लील यह उडान? इसमे जैन-मान्यताओं के पग-पग दर्शन होने की कल्पना भी भ्रान्त है। हाँ, यह अश्लील जगत मे स्थायी मूल्य प्राप्त करने की क्षमता रखता हो तो बात दूसरी है। पाठक उक्त 'तीर्थङ्कर' पढ़ें और विचारें।

(पृ० २८ का शेषांश)

अकल्याण कर भयंकर पाप का संचय तो नहीं कर लिया। जरा सोचें-विचारें, अपने भविष्य की चिंता करें कहीं ऐसा न हो "बासी टुकड़े खाते है, कल उपवास करेंगे" पूर्व संचित पुण्य से प्राप्त सामग्री का उपभोग कर आगामी जीवन मे पुण्य विहीन होकर विपदा और दरिद्रता का भार ढोने की तैयारी मे है। "जैसी करनी वैसी भरनी, निश्चय नही तो करकर देख।"

हमारा कर्त्तव्य है कि समय रहते चेत जायें, झूठे प्रशंसा के प्रपंच मे अपने ऐश्वर्य, शक्ति को लुटाकर दरिद्री बनने की अपेक्षा, वीतराग जिनेन्द्र भगवान के मार्ग पर चलकर स्व व पर के कल्याण की ओर अग्रसर हो, पर की निन्दा, स्वयं की प्रशंसा से बचें। देव, शास्त्र, गुरु की विनय करे, अपनी नाशवान चंचला लक्ष्मी को परोपकार विद्या प्रचार, शास्त्रों के उद्धार, समाज और राष्ट्र के हित मे व्यय कर, अपने चरित्र को समान्नत कर वीरोचित, क्षत्रियोचित, दोषों का निवारण कर, उत्थान का मार्ग अपनाएँ व अपने को आदर्श बनाकर वीर प्रभु की संतान कहलाने का गौरव प्राप्त कर समाज व राष्ट्र का कल्याण करें। हम भी सुगन्धित पुष्प की अपनी सुगन्ध फैलाकर विश्व को सुगन्धित करें, प्रभु हमे सन्मति प्रदान करें।

—भगवान महावीर अहिंसा केन्द्र
अहिंसा स्थल, महरौली

विचारणार्थ :

दिल की बात दिल से कहो—और रो लिए !

☐ पद्मचन्द्र शास्त्री सं० अनेकान्त

१. हम कोरी चर्चा नहीं, चिन्तन चाहते हैं :

सम्यग्दर्शन, आत्मदर्शन और आत्मानुभव की चर्चा मात्र मे जैसा सुख है वैसा सुख और कहाँ ? इस चर्चा मे बोलने या सुनने के सिवाय अन्य कुछ करना-धरना नही होता। बोलने वाला बोलता है और सुनने वाला सुनता है—लेना देना कुछ नहो। भला, भव्य होने का इससे सरल और सबल प्रमाण अन्य क्या हो सकता है जहां आत्मा दिख जाय और जिसमे परिग्रह-संचय तो हो और तप-त्याग और चारित्र-धारण करने जैसा अन्य कोई व्यायाम न करना पड़े और स्व-समय में आने के लिए कुन्द-कुन्द के बताए मार्ग— चरित्तदसणणाणट्ठिउ तं हि ससमयं जाण'—से भी छुटकारा मिला रहे—यानी मात्र सम्यग्दर्शन मे ही स्व-समय सिमिट बैठे। ठीक ही है—'तत्प्रति प्रीतिचित्तेन येन वार्तापि हि श्रुता। निश्चितं स भवेद्भव्यः भाविनिर्वाण भाजनम्।'- का इससे सरल और सीधा क्या उपयोग होगा ?

गत अंक में हमने स्व-समय और पर-समय के अन्तर्गत आचार्य कुन्दकुन्द के 'पुग्गलकम्मपदेसट्ठिय च जाण पर-समयं' इस मूल को उद्धृत करते हुए लिखा था कि 'जब तक यह जीव आत्मगुणघातक (घातिया) पौद्गलिक द्रव्य-कर्मप्रदेशो में स्थित है—उनसे बँधा है, तब तक यह जीव पूर्णकाल पर-समयरूप है। मोह-क्षय के बाद केवलज्ञानी मे ही स्व-समय जैसा व्यपदेश किया जा सकता है और वह अवस्था चारित्र के धारण किये बिना नही होती।'

उक्त गाथा के 'कम्मपदेसट्ठिय' शब्द से घातिया कर्म प्रदेशों से बंध को प्राप्त—उनमें स्थित ऐसा अर्थ लेना चाहिए मात्र उपयोग के लगाने जैसा अर्थ ही नहीं लेना चाहिए। क्योंकि स्थूल रीति से उपयोग के बारह भेद हैं—चार दर्शनोपयोग और आठ ज्ञानोपयोग। इन बारह उपयोगों में से केवलदर्शनोपयोग और केवलज्ञानोपयोग ये दो ही ऐसे हैं जिनकी प्रदेशो मे गति है—छद्मस्थ के शेष सभी उपयोग प्रदेश ग्राहक नही। एतावता प्रसग में 'पदेस' शब्द की सार्थकता समझ—पर मे उपयोग लगाने वाला मात्र, पर-समय है ऐसा अर्थ न लेकर 'कर्मप्रदेशों मे बधे आत्मा को पर-समय कहा है, ऐसा अर्थ लेना चाहिए। यह बात दूसरी है कि पर से उपयोग हटाना क्रमशः मोक्ष-मार्ग है।

रयणसार गाथा १४० मे स्पष्ट कहा है कि बहिरात्मा और अन्तरात्मा दोनों पर-समय हैं और परम-आत्मा स्व-समय है—**'बहिरंतरप्पभेयं पर समयं भण्णए जिणिदेहि। परमप्पो सगसमय तब्भेयं जाण गुणठाणे।।'** इसी को पंचास्तिकाय मे ऐसे कहा है—'जीवो सहावणियदो अणियदगुण पज्जओध पर-समओ।।१५५।। उक्त दोनो उद्धरण मान्य आचार्य के है। यदि जीव गुण और पर्याय दोनों में नियत नही—अनियत है तब भी वह पर-समय ही है। आज जो लोग मात्र गुणों की बात कर पर्याय को स्वभाव न मान उसका तिरस्कार करने का उपदेश दे रहे है क्या वे 'गुणपर्ययवद्द्रव्यं' को झुठला नही रहे ? क्या, यह सम्भव और जैन को मान्य है कि केवल गुण ही द्रव्य हो और पर्याय का लोप हो जाय ? यदि उनकी मान्यता इकतर्फा है तो हमें 'पज्जयमूढो हि पर-समओ' का अर्थ भी यही इष्ट होगा कि जो पर्याय के विषय में मूढ़ है—उसको नहीं जानता—सही नहीं मानता, वह पर-समय है। यदि पर्याय सर्वथा विनाशीक है तो 'सिद्ध' भी तो एक पर्याय है। क्या, किसी जैन को यह मान्य होगा कि वह पर्याय भी नाश हो जाती है ? फिर कोरा निश्चय वालो को तो यह भी सोचना होगा कि निश्चय से शुद्ध में (सर्वथा असम्भव) अशुद्ध पर्याय कैसे सम्भव हुई जो उससे मुक्ति का मार्ग बताने का मिथ्या चलन चल पड़ा ? क्या, यह

सब चलन लोगों को कोरी चर्चाओं मे फँसा कर, खाओ-पिओ और मौज करो जैसा नही ?

ऐसे ही जब हम आत्मानुभव पर विचार करते हैं तब हमारे चिंतन मे सम्यग्दर्शन के दो भेद आते है—सराग-सम्यग्दर्शन और वीतराग सम्यग्दर्शन। विचार आता है कि जिन सम्यग्दृष्टी जीवों को आत्मानुभव होता है उनके उक्त दोनों मे से कौन-सा सम्यग्दर्शन होता है ? रागी में सम्यग्दर्शन हो इसमे तो बाधा नही पर,रागी के आत्मानुभव हो यह नही जँचता। (आज तो रागी भी आत्मानुभव होना कहते है) प्रश्न होता है कि यदि रागी को आत्मानुभव होता है तो वह अखण्ड आत्मा के किसी खण्ड का या अखण्ड आत्मा का ? अखण्ड का खण्ड हो नही सकता। आत्मा के टुकड़े मानना पड़ेगे, जो उनको इष्ट नही। हाँ, अखण्ड आत्मा का अनुभव होता हो तब बात दूसरी। भला, जब ससारी राग अवस्था मे ही सम्पूर्ण आत्मा का अनुभव होने लगे तब कौन मूढ़ होगा जो मोक्ष के लिए चारित्र धारण का कष्ट उठायेगा। घर में रहो, परिग्रह इकट्ठा करो, मजा-मौज करो और आत्मानुभव का आनद लो। शायद आज मात्र सम्यग्दर्शन आत्मानुभव हो जाना जैसे प्रचार का लक्ष्य भी यही है कुन्दाकुन्दाचार्य 'चरित्तदसणणाणट्ठिउ' मे चारित्र आदि तीनो मे स्थिति को स्व-समय कह रहे हैं और लोग अंसम्यग्दर्शन मात्र मे आत्मानुभव हो जाने का उपदेश दे रहे है।

जो लोग ध्यान से आत्मानुभव का बतलाते है वे सोचें कि चारो ध्यानो मे से किस ध्यान से आत्मानुभव होता है। धर्म ध्यान के तो सभी भेद विकल्पात्मक हैं सो क्या विकल्पात्मक से निर्विकल्प आत्मरूप का अनुभव सम्भव है। शुक्ल ध्यानो मे आदि के ध्यान श्रुतकेवली के होते है। क्या छद्मस्थ मे अन्त के शुक्ल ध्यान सम्भव है जो अरूपी आत्मा का अनुभव करा सकें। फिर ये भी सोचें कि आत्मानुभव प्रत्यक्ष हो या परोक्ष ? इन्द्रियाधीन होने से परोक्ष ज्ञान की तो वहां होना सम्भव ही नही। आत्म-प्रत्यक्ष तो ज्ञान मात्र का विषय है ऐसे मे आत्मानुभव होना छद्मस्थ मे कैसे माना जाने लगा ? फिर आत्मानुभव तो चारित्र का विषय है।

दर-असल बात ऐसी होनी चाहिए कि सम्यग्दृष्टी को जो अनुभव होता हैं वह आत्मानुभव नहीं, अपितु वह अनुभव, मात्र तत्त्वार्थ श्रद्धान से उत्पन्न स्व-पर भेद विज्ञान (होने) रूप होता है—सम्यग्दृष्टि भिन्न-भिन्न तत्त्वों में आपा या एकत्वरूप श्रद्धान नहीं करता यही उसका तत्त्वानुभवरूप श्रद्धान सम्यग्दर्शन है और इसी के सहारे वह आगे बढता है। इसे आत्मानुभव के नाम से प्रचारित करने से तो मोक्षमार्ग और चारित्र धारण का सफाया ही होता जा रहा है—घर मे ही आत्मा दिख जाय तो चारित्र की आवश्यकता ही कहाँ ? जैसा कि अब हो रहा है।

एक बात और ! स्मरण रहे कि जैनेतर ग्रन्थ 'मनुस्मृति' के छठवें अध्याय मे सम्यग्दर्शन की महिमा में एक श्लोक आया है—'सम्यग्दर्शन सम्पन्नः कर्मभिर्ननिबध्यते। दर्शनेनविहीनस्तु ससार प्रतिपद्यते ॥७४॥' इसमें सम्यग्दर्शन का अर्थ 'ब्रह्मसाक्षात्कारवान्' किया है और हिन्दुओं की श्रुति भी है—'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे'—फलतः ब्रह्म-साक्षात्कार उनकी दृष्टि से ठीक हो सकता है। क्योंकि वहां ब्रह्म को सर्वव्यापक और प्राणी को ब्रह्म का अंश स्वीकार किया गया है—वहाँ ब्रह्म अखण्ड होते हुए भी खण्डो में बँटा है और ब्रह्म का अंश होने व ब्रह्म के खण्डों मे बँटा होने से जीव को ब्रह्म का साक्षात्कार हो सकना सम्भव है पर, जैनियो में तो अरूपी और अखण्ड आत्मा का साक्षात्कार या अनुभव केवलज्ञान गम्य ही है। इसे विचारें, हमे कोई आग्रह नही। हम तो जैनियो मे प्रचारित की जाने वाली—छद्मस्थ में आत्मानुभव होने की बात को अजैनो की देन होने पर विचार कर रहे है।

२. उभय-परिग्रह का त्याग आवश्यक :

संसारी जीव की अनादि कालीन प्रवृत्ति बहिर्मुखी है—वह बाह्य पदार्थों की ओर दौड़ रहा है—उनमे मोहित हो रहा है। फलतः—उसका संसार (भ्रमण) बढता जा रहा है। जब यह अपने स्वरूप को पहिचाने—बहिर्मुखपने को त्याग कर अन्तर्मुख हो—अपने में झांके और शुद्ध-अशुद्ध पर्यायो को निश्चय-व्यवहार दोनों नयों

मे तोले तब इसका उद्धार सम्भव हो—कोरे एक नय को सम्यक् और दूसरे को असम्यक् मानना भ्रान्ति है। नय दोनों ही अपनी-अपनी अपेक्षा लिए सम्यक् हैं यदि सम्यक् नहीं तो नय ही नहीं—कुनय है। अन्तर्मुख और बहिर्मुख की पुष्टि को लोग कछुए के दृष्टान्त से करते हैं। अर्थात् जब तक कछुआ अपना मुख बाहर निकाले रहता है तब तक उसे कौवों की चोचों के प्रहार का भय रहता है और जब अपने को खोल में समेट लेता है तब उसे कौओ का भय नही रहता। ठीक ऐसे ही जब यह जीव अपनी प्रवृत्ति बाह्य (जो अपने नही हैं, उन) में करता है तब उन पदार्थों के संयोग-वियोग मे सुखी-दुखी जैसी दोनों अवस्थाओं में झूलता है और जब बाह्य को छोड अपने मे आ जाता है तब स्वभाव में होने से इसकी झूलन मिट जाती है—सुखी हो जाता है। अतः बहिर्मुखपन को छोड़ अन्तर्मुख होने का प्रयत्न करना चाहिए।

हमने देखा है, सुना है कि कई लोग अन्तर्मुख होने की प्रेरणा देते हैं, पर बहिर्मुखता से मुड़ने को मुख्यता नही देते। उनका ऐसा करना गलत है। मानो, जैसे आप कमरे के बाहर खड़े है और आपको भीतर आना है तो क्या, आप बाहर को बिना छोड़े भीतर प्रवेश पा सकेंगे? कदापि नहीं। प्रवेश तभी सम्भव है जब बाहर का छूटना और अन्दर का आना दोनो साथ साथ चलें। जितना बाहर छूटता जायगा उतना अन्दर नजदीक आता जाएगा। प्रसंग मे बाहर छोड़ने का अर्थ भी मोह को छोड़ना है। और जब बाह्य से मोह छूटेगा तब अन्दर सहज में आता जाएगा। और इस अन्दर आने की पहिचान का पैमाना होगा बाहर का छूट जाना। ऐसा होता सम्भव नही कि कोई अन्दर होकर भी बाहर का जोडता रहे। जिसकी बाहर की जोडने की तमन्ना प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो और वह कहे कि मैं भीतर झांक रहा हूं—सर्वथा धोका है। हाँ, यह भी ठीक है कि बाहर की क्रिया होने पर भी यदा-कदा अंतरंग भाव निर्मल न भी हो। इसीलिए तो कहा है—'बाहर-भीतर एक।'

परिग्रह के बाह्य और अंतरंग भेद ही इसीलिए किये हैं कि दोनों का त्याग किया जाय। यदि अन्तरंग भाव मात्र ही परिग्रह होता तो वे बाह्य को परिग्रह न कहते और न बाह्य दिगम्बरत्व का निर्देश देते। फलतः—फलित है कि मोह का अभाव करना चाहिए पर, यह भी सम्भव नही कि बाह्य दिगम्बरत्व के बिना मुक्ति हो। आप यह तो कहते हैं—'भरत जी घर ही मे वैरागी' पर, आप यह नही कहते कि भरत महाराज छह खण्डों के भोग भोगते वैरागी भाव मात्र से—बिना दिगम्बर वेष धारण के ही मुक्ति पा गए। कहते यही है कि—उभय परिग्रह त्याग से ही मुक्ति होती है। बहिर्मुख से मुह मोड़े बिना अन्तर्मुख होने जैसी बात कोरा स्वप्न है। अतः दोनो की साथ-साथ संभाल करनी चाहिए। खेद है कि लोग बाह्य को छोड़े बिना अन्तर्मुख के स्वप्न देखने में लगे हैं।

जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिउ तं हि ससमयं जाण।
पुग्गलकम्मपदेसट्ठियं च जाण पर-समयं ॥स० सार २॥
बहिरंतरप्पभेयं पर-समयं भण्णए जिणिदेहिं।
परमप्पो सग-समयं तब्भेयं जाण गुणठाणे ॥रयण० १४०॥

संचयित-ज्ञानकण

—पर-पदार्थ के साथ यावत् संबंध है तावत् ही संसार है। अपनी भूल ही से तो यह जगत् है। भूल मिटाना धर्म है।

—हमारी तो सम्मति यह है जो ऐसा अभ्यास करो जो यह बाह्य पदार्थ ज्ञेयरूप ही प्रतिभासे। अन्य की कथा तो छोड़ो, जिसने मोक्ष मार्ग दिखाया है वह भी ज्ञेय रूप से ज्ञान में आवे।

—परिग्रह लेने में दुःख, देने में दुःख, भोगने में दुःख, रक्षा में दुःख, धरने में दुःख, रुलने में दुःख। धिक् इस दुःखमय परिग्रह को।

—कर्म की गति विचित्र है यह मानना ठीक नहीं। यह सब विकारी आत्मद्रव्य का ही विकार है। स्व-परिणामों द्वारा अर्जित संसार को पर का बताना महान् अन्याय है।

—संसार का अन्त करने के लिए आत्मद्रव्य को पृथक् करने की चेष्टा करनी ही उचित है।

—संकल्प विकल्प को परम्परा ही तो हमें जगत् में भ्रमण करा रही है। जब तक इसका प्रभुत्व रहेगा, हमें इनकी प्रजा होकर ही निर्वाह करना होगा।

—विश्व की अशान्ति देख अशान्त न होना। यहाँ यही होता है। लवण सर्वाङ्ग क्षारमय होता है।

—जहाँ राग है वहीं रोग है। उन महापुरुषों का समागम करो जिनका राग-द्वेष कम हो गया है।

—निरन्तर राग-द्वेष की परिणति दूर करने में प्रयत्नशील रहो। लोभी-त्यागी से निर्लोभग्रहस्थ अच्छा है।

—उदय काल में अज्ञानी के राग-बुद्धि होती है और ज्ञानी के विराग-बुद्धि होती है।

—ज्ञानी के इच्छा नहीं है सोई निष्परिग्रही है—उदय आए कूं अनासक्त भया भोगे हैं।

—ज्ञानियों के वचन

(सौजन्य : श्री शान्तीलाल जैन कागजी)

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

कागज प्राप्ति :—श्रीमती अंगूरी देवी जैन, धर्मपत्नी श्री शान्तिलाल जैन कागजी, नई दिल्ली-२ के सौजन्य से

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ६.००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५.००

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३.००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द।

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : स० पं० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ५

Basic Tenents of Jainijm : By Shri Dashrath Jain Advocate.

Jaina Bibliography : Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References.) In two Vol.

Volume I contains 1 to 1044 pages, volume II contains 1045 to 1918 pages size crown octavo.

Huge cost is involved in its publication. But in order to provide it to each library, its library edition is made available only in 600/- for one set of 2 volume. 600-00

सम्पादन परामर्शदाता : श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री

प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीरसेवामन्दिर के लिए मुद्रित, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५३

प्रिन्टेड

पत्रिका बुक-पैकिट